प्रेमचंद

क़लम का सिपाही

लेखक की कुछ और रचनाएँ

उपन्यास

वीज

नागफनी का देश

हाथी के दाँत

भटियाली

जंगल

सुख-दुख

आलोचना

नयी समीक्षा

सहचिन्तन

आधुनिक भावबोध की संज्ञा

ललित लेख

रम्या

बतरस

कहानी संग्रह

इतिहास

कस्बे का एक दिन

भोर से पहले

कठघरे

गीली मिट्टी

चित्रफलक

अनुवाद

अग्निदीक्षा

आदिविद्रोही

रवीन्द्र निबंधमाला

हैमलेट

समर गाथा

यात्रा

सुबह के रंग

प्रेमचंद

कलम का सिपाही

अमृतराय

हंस प्रकाशन
इलाहाबाद

देश की जवान पीढ़ी को

चित्र-सूची

१.	लमही की वह कोठरी जिसमें जन्म हुआ	पृष्ठ १२ के सामने
२.	लमही का एक दृश्य	पृष्ठ १३ के सामने
३.	लमही में प्रेमचंद का बनवाया मकान	पृष्ठ १३ के सामने
४.	मुंशी दयानरायन निगम	पृष्ठ ७० के सामने
५.	उर्दू हस्तलिपि	पृष्ठ ७१ के सामने
६.	प्रेमचंद १९०७	पृष्ठ ९० के सामने
७.	प्रेमचंद १९२१	पृष्ठ ९० के सामने
८.	हिन्दी हस्तलिपि	पृष्ठ ९१ के सामने
९.	छोटे भाई महताब, दोनों लड़के श्रीपत - अमृत और बेटी कमला	पृष्ठ १५० के सामने
१०.	अंग्रेजी हस्तलिपि	पृष्ठ १५१ के सामने
११.	शिवरानी देवी १९६२	पृष्ठ २२० के सामने
१२.	प्रेमचंद १९२४	पृष्ठ ३१४ के सामने

१३. प्रेमचंद १९२५ पृष्ठ ३५० के सामने
१४. प्रेमचंद सपत्नीक पृष्ठ ४०८ के सामने
१५. प्रेमचंद परिवार-सहित पृष्ठ ४०९ के सामने
१६. प्रेमचंद, जैनेन्द्रकुमार, ऋषभचरण जैन पृष्ठ ४४८ के सामने
१७. अजंता सिनेटोन के साथ अनुबंध पर
हस्ताक्षर करते हुए पृष्ठ ५४० के सामने
१८. शुभलक्ष्मी : सेवासदन की सुमन पृष्ठ ५४१ के सामने
१९. अंतिम बीमारी पृष्ठ ६०४ के सामने

भूमिका

पाँच साल के अपने परिश्रम का यह फल आपके हाथों में देते हुए मुझे बड़ी खुशी हो रही है।

यह काम अब से बहुत पहले होना चाहिए था (जब कि उनका आँखों-देखा हाल कहनेवाले कुछ और लोग मिल जाते) और अच्छा होता अगर दूसरे किसी ने किया होता। लेकिन पता नहीं क्यों जीवनी लिखने से हमारे लोग कतराते हैं। सभी उन्नत देशों में यह विधा बहुत आगे बढ़ी हुई है, पर हमारी भाषा इसमें बिलकुल कंगाल है। या तो हम जानते ही नहीं कि अच्छी :जीवनी होती क्या है, या कुछ इस तरह की गाँठ हमारे लिखनेवालों के मन में पड़ी हुई है कि जीवनी साहित्य की कोई सृजनात्मक विधा नहीं है — या फिर भय, कोरा भय, पथ की दुर्गमता का। जो भी बात हो, यह एक अटल सच्चाई है कि हमारे यहाँ जीवनियों का एक सिरे से अकाल है, जब कि

योरप की जबानों में यह चीज आसमान पर पहुँची हुई है। कोई बड़ा साहित्यकार नहीं है, कलाकार नहीं है, वैज्ञानिक नहीं है, जननायक नहीं है, जिसकी कई-कई जीवनियाँ, एक से एक अच्छी, न हों। स्टिफ़न ज़्वाइग जितना अपनी कहानियों के बल पर जिन्दा रहेगा, उतना ही बाल्ज़ाक की अपनी जीवनी के बल पर जिन्दा रहेगा। आन्द्रे मोरुआ की लिखी हुई शेली की जीवनी 'एरियल' किसने नहीं पढ़ी ? अर्विग स्टोन की लिखी हुई वैन गो की जीवनी 'लस्ट फ़ॉर लाइफ़' किसने नहीं पढ़ी ? एमिल लुडविग का नाम किसने नहीं सुना जो सिर्फ़ अपनी जीवनियों के बल पर योरप के साहित्य में अपनी एक ख़ास जगह बनाये हुए है ? हर साल सैकड़ों, हज़ारों की तादाद में जीवनियाँ निकलती आती हैं। एक ही आदमी की पच्चीसों जीवनियाँ मिल सकती हैं। अच्छी से अच्छी प्रतिभाएँ उनको लिखती हैं, पढ़नेवाले उपन्यासों से भी ज़्यादा चाव से उनको पढ़ते हैं। लेकिन हमारा तो ढंग ही निराला है। हमारे यहाँ तो अभी बेचारी जीवनी अछूत की तरह ड्योढ़ी के उस पार खड़ी है — अन्दर आने की मनाही है !

इन पाँच वर्षों में मेरे कितने ही शुभचिन्तकों ने मुझसे पूछा होगा — अमृत जी, आप अपनी कोई चीज नहीं लिख रहे हैं ?

कभी तो मुझे झुँझलाहट भी महसूस हुई, लेकिन अकसर मैं मुस्कराकर रह गया। मैं कहना चाहता था कि यह मेरी ही चीज़ है जो मैं लिख रहा हूँ, कि यह भी एक उपन्यास ही है जिसका नायक प्रेमचंद नाम का एक आदमी है, फ़र्क़ बस इतना ही है कि यह आदमी मेरे दिमाग़ की उपज नहीं है, हाड़-मांस का एक पुतला है जो इस धरती पर डोल चुका है और समय की पगडंडी पर अपने पैरों के कुछ निशान छोड़ गया है, उसको मारने-जिलाने की, जैसे मन चाहे तोड़ने-मरोड़ने की आज़ादी मुझे नहीं है, घटना-प्रसंगों का आविष्कार करने की छूट भी मुझे नहीं है, कितने ही मोटे-मोटे रस्सों से मैं अच्छी तरह (या बुरी तरह) खूँटे से बँधा हुआ हूँ। लेकिन मुझे उसकी शिकायत नहीं है क्योंकि मैं जानता हूँ कि पूर्ण स्वच्छन्दता उपन्यास की कहानी कहते समय भी नहीं रहती; वहाँ भी कहानी कहनेवाला जीवन के खूँटे से, प्रतीति के खूँटे से बँधा

ही रहता है। एक न एक संयम-अनुशासन हर सृजन के साथ लगा हुआ है। लेकिन सृजन के सुख में उससे कोई बाधा नहीं उपस्थिति होती क्योंकि, जहाँ तक मैं समझ पाया हूँ, सृजन का असल सुख इसमें नहीं है कि कथाकार अपने कल्पना-लोक में अबाध विचरण कर सके बल्कि इसमें कि वह जड़ वास्तविकता को अपनी कल्पना से स्फूर्त और स्पंदित कर सके; मूक-बधिर तथ्यों को वाणी दे सके; जीवन के सन्दर्भ में अपने चरित्रों को देख सके, पहचान सके, खोल सके। वह सुख मुझे यहाँ भी मिला और भरपूर मिला।

सच तो यह है कि यह काम हाथ में लेते ही यही चीज़ मेरे लिए पहली चुनौती बनी। वह चीज क्या है, उसका पता लगाओ, जिससे यह अति-सामान्य जीवन एक विशेष व्यक्ति का जीवन बनता है। कोई चमक-दमक यहाँ नहीं है, न कोई नाटकीय तत्व, न कोई रोचक जीवन-प्रसंग, न प्रेम और साहस के वैसे कोई प्रकरण — नितान्त बँधा-टका जीवन एक ग़रीब स्कूल मास्टर का या वैसे ही ग़रीब लेखक-संपादक का। फिर भी कुछ तो है, जो विशेष है। वह क्या है? उसी को जीवन के सन्दर्भ में देख सकने और दिखा सकने में मुझको रचनाकार का सच्चा सुख मिला है।

किताब लिखनी जब शुरूहुई तब कितनी ही बार मेरे हाथ-पैर फूल गये। मैं समझ ही न पाता था कि मैं इसमें लिखूँगा क्या, किताब आगे बढ़े तो कैसे बढ़े। लेकिन जब इसी पीड़ा और उद्वेग में से अचानक यह गुर मेरे हाथ लगा कि इस व्यक्ति के जीवन को उसके देश और समाज के जीवन से जोड़कर तो देखो, तब जैसे सारे बंद दरवाजे यकबयक खुल गये और इस अति-सामान्य जीवन को एक नया आशय, एक नयी अर्थवत्ता मिल गयी। उसी को दिखाने का यत्न मैंने किया है। सफलता मुझे मिली या नहीं मिली या कितनी मिली, इसका निर्णय तो आप करेंगे। हाँ, यह मै जरूर कहना चाहता हूँ कि इस काम को इतनी देर से शुरू करने के पीछे जहाँ मेरी अपनी मजबूरियाँ रही हैं वहाँ यह भी एक बड़ा कारण रहा है कि मैं तभी इस काम को उठाना चाहता था जब मुझे अपने तईं यह विश्वास हो कि मै अलग हटकर, थोड़ा निरपेक्ष होकर इस व्यक्ति को देख सकता हूँ।

बहुत बार लेखक की अपनी डायरियों और जर्नलों से जीवनो-कार को बहुत मदद मिल जाया करती है। प्रेमचंद को डायरी या जर्नल लिखने की आदत न थी। इस तरह जीवनी की सामग्री का एक बड़ा कोष एक सिरे से ख़त्म हो गया।

दूसरा एक कोष पत्रों का होता है। वह भी बहुत कुछ नष्ट हो गया, क्योंकि पत्रों को सँभालकर रखने की आदत न इधर मुंशीजी को थी न उधर दूसरों को। तो भी जो कुछ चिट्ठियाँ भाग्यवश बची रह गयीं, जिनमें सबसे बड़ा खज़ाना 'ज़माना' के सम्पादक मुंशी दयानरायन निगम को लिखी हुई चिट्ठियों का है (जिसके मिलने की दिलचस्प कहानी मैंने यथास्थान लिखी है), उनका मैंने पूरा-पूरा इस्तेमाल किया है।

चिट्ठियों के अलावा, मुझे सबसे ज्यादा मदद लोगों के संस्मरणों से मिली है — संस्मरण जो पुस्तक रूप में प्रकाशित है या पत्र-पत्रिकाओं में बिखरे हुए हैं या आकाशवाणी से जब-तब प्रसारित किये गये। उन सब बधुओं के प्रति मैं अपना आभार प्रकट करता हूँ। और आभार प्रकट करता हूँ भाई कैलाशनाथ श्रीवास्तव के प्रति जिनकी निष्ठा और लगन से ही मुंशीजी की खोयी हुई सर्विस-बुक मिली, जिससे मुझे अपने काम में बहुत मदद मिली। इतना ही नहीं गोरखपुर के जूनियर ट्रेनिंग कालेज (प्रेमचंद के समय के नार्मल स्कूल) के प्रधान आचार्य की हैसियत से कैलाशनाथ जी ने प्रेमचंद की स्मृति को जीवित रखने के लिए बहुत कुछ किया जो सबके लिए निश्छल सेवा और लगन का एक आदर्श प्रस्तुत करता है। उन्होंने, मेरे संकेत पर, पुराने रजिस्टरों की मदद से, प्रेमचंद के छात्रों को प्रश्न-तालिका भेजकर उनके बयान मँगाये। उनमें से बहुतेरे अब इस दुनिया में नहीं हैं; लेकिन जो हैं उन्होंने बड़ी मुस्तैदी से अपने बयान भेजे, जिनसे मुशीजी के गोरखपुर-कालीन जीवन के संबंध में कुछ बड़े उपयोगी और प्रामाणिक तथ्य मिले। मैं उन सबके प्रति अपना आभार प्रकट करता हूँ।

श्री मुरारीलाल जी केडिया के प्रति भी मैं अपना आभार प्रकट करता हूँ जिनके निजी संग्रह रामरत्न पुस्तकालय में मुझे प्रेमचन्द की कुछ पाण्डुलिपियाँ और इण्टर-बी० ए० आदि परीक्षाओं के सर्टिफ़िकेट देखने को मिले।

उर्दू पत्रिकाओं मे खोयी हुई मुंशी जी की कहानियाँ और लेखों के संकलन में मुझे प्रोफ़ेसर एहतेशाम हुसेन और डाक्टर क़मर रईस से जो मदद मिली, उसके लिए मैं उनके प्रति भी अपना आभार प्रकट करता हूँ।

बंधुवर मदन गोपाल का भी मैं आभारी हूँ जिनके द्वारा संगृहीत प्रेमचंद के पत्रों का भी मैंने इस पुस्तक में उपयोग किया है।

कहना न होगा कि मुझे अपने काम में सबसे ज़्यादा मदद माता शिवरानी देवी से मिली है, उनकी पुस्तक से और उनकी सदेह उपस्थिति से; लेकिन इसके लिए मैं उनका आभार मानूँ ऐसी धृष्ठता मुझसे न होगी। सब कुछ तो उन्हीं का है।

हाँ, अपने गुरुदेव प्रोफ़ेसर सतीशचन्द्र देब और भाई महादेव साहा का आभार भी मुझे जरूर मानना चाहिए। उनका अंकुश न होता तो इस काम में अभी और भी शायद कुछ देर लगती। उनकी चिट्ठियाँ और बातें मुझे बराबर बहुत बल देती रही हैं।

और भी कितने ही बंधुओं ने कितने ही रूपों में मुझको उपकृत किया है। मैं उन सबका हृदय से आभारी हूँ।

— अमृतराय

प्रेमचन्द

क़लम का सिपाही

दक्षिण के एक हिन्दी-प्रेमी, चन्द्रहासन, प्रेमचंद से मिलने काशी आये। पता लगाकर शाम के वक्त उनके मकान पर पहुँचे। बाहर थोड़ी देर ठहरकर खाँ-खूँ करने पर भी कोई नज़र न आया तो दरवाज़े पर आये और झाँककर भीतर कमरे में देखा। एक आदमी, जिसका चेहरा बड़ी-बड़ी मूँछों में खोया हुआ-सा था, फ़र्श पर बैठकर तन्मय भाव से कुछ लिख रहा था। आगंतुक ने सोचा, प्रेमचंदजी शायद इसी आदमी को बोलकर लिखाते होंगे। आगे बढ़कर कहा — मैं प्रेमचंदजी से मिलना चाहता हूँ। उस आदमी ने झट नज़र उठाकर ताज्जुब से आगंतुक की ओर देखा, क़लम रख दिया, और ठहाका लगाकर हँसते हुए कहा— खड़े-खड़े मुलाक़ात करेंगे क्या! बैठिए और मुलाक़ात कीजिए ....

बस्ती के ताराशंकर 'नाशाद' मुंशीजी से मिलने लखनऊ पहुँचे। उन दिनों वह अमीनुद्दौला पार्क के सामने एक मकान में रहते थे। मकान के नीचे ही 'नाशाद' साहब को एक आदमी मिला, धोती-बनियान पहने। 'नाशाद' ने उससे पूछा—मुंशी प्रेमचंद कहाँ रहते हैं, आप बतला सकते हैं? उस आदमी ने कहा — चलिए, मैं आपको उनसे मिला दूँ।

वह आदमी आगे-आगे चला, 'नाशाद' पीछे-पीछे। ऊपर पहुँचकर उस आदमी ने 'नाशाद' को बैठने के लिए कहा और अंदर चला गया। ज़रा देर बाद कुर्ता पहनकर निकला और बोला — अब आप प्रेमचंद से बात कर रहे हैं ....

पटने में एक साहित्यिक गोष्ठी है। मुंशीजी को उसका सभापति बनाया गया है। आज वह पटना आनेवाले हैं। बहुत-से लोग उनके स्वागत को स्टेशन पर पहुँचे हुए हैं लेकिन मज़े की बात यह है कि उनमें से किसी ने उनको पहले देखा नहीं है, बस एक तसवीर देखी है, उसी का सहारा है।

एक्सप्रेस आयी। देख लिया। कहीं नहीं।

पंजाब मेल आयी। देख लिया। कहीं नहीं।

इतवार की शाम को बैठक थी और सबेरे छः बजे के क़रीब एक और एक्सप्रेस आती थी। अब बस यही आखिरी आसरा था।

ट्रेन आयी, लगी और चली गयी। सैकड़ों आदमी उतरे और चढ़े पर प्रेमचंद नहीं आये, नहीं आये। गोष्ठीवालों के प्राण नहों में समा गये—अब कहाँ जायेंगे, कैसे लोगों को मुँह दिखायेंगे।

उदास, क्षुब्ध, मुसाफ़िरखाने की तरफ़ बढ़े। देखा, सीढ़ी के पास एक अधेड़ सज्जन, जिनके बाल कुछ सफ़ेद हो चले थे और जो सफ़र की थकावट से कुछ खिन्न-से हो रहे थे, गुमसुम खड़े हैं और कुली उनका ट्रंक सर पर और बिस्तर हाथ में लिये पूछ रहा है — बाबू, कहाँ चलें ?

इस मुसाफ़िर को उन लोगों ने कल रात ही को पंजाब मेल से उतरते देखा था, मगर पहचानते कैसे ....

कोई विशेषता जो नहीं है उसमें।

अपने आसपास ऐसा एक भी चिह्न वह नहीं रखना चाहता जिससे पता चले कि वह दूसरे साधारण जनों से जरा भी अलग है। कोई तिलक-त्रिपुण्ड से अपने विशेषत्व की घोषणा करता है, कोई रेशम के कुर्ते और उत्तरीय के बीच झाँकनेवाले अपने ऐश्वर्य से, कोई अपनी साज-सज्जा के अनोखेपन से, कोई अपनी किसी खास अदा या ढब से, यहाँ तक कि एक यत्न-साधित, सतर्क सरलता भी होती है जो स्वयं एक प्रदर्शन या आडम्बर बन जाती है, शायद सबसे अधिक विरक्तिकर — देखो इतना बड़ा इतना नामी आदमी होकर भी मैं कितनी सादगी से रहता हूँ! प्रेमचंद की सरलता सहज है। उसमें कुछ तो इस देश की पुरानी मिट्टी का संस्कार है, कुछ उसका नैसर्गिक शील है, संकोच है, कुछ उसकी गहरी जीवनदृष्टि है और कुछ उसका सच्चा आत्मगौरव है जो किसी तरह के आत्म-प्रदर्शन या विज्ञापन को उसके नजदीक घटिया बना देता है। नहीं, वह कस्तूरी मृग नहीं है जिसे अपने भीतर की कस्तूरी का पता न हो। उसे पता है कि उसके भीतर ऐसा भी कुछ है जो मूल्यवान है, उसका अपना है, नितान्त अपना, मौलिक, विशेष। वही उसका मोती है, मानिक है। कोई इस मोती-मानिक को उसके उपयुक्त रत्नजटित-मंजूषा में रखता है, यह आदमी उसे टीन के बकस में रखता है — इस-लिए नहीं कि वह उसकी क़दर कम करता है बल्कि इसलिए कि

बहुत ज्यादा करता है। टीन के बकस में वह मोती ज्यादा सुरक्षित है। वहाँ से कौन उसे चुरा सकता है, किसका ध्यान जायेगा उस पर! इसीलिए तो उटंगी धोती और मैली-सी एक फतुही पहने, तीसरे दर्जे के मुसाफ़िरख़ाने में बैठा हुआ-सा, टीन के बकस में अपना वह मोती जतन से छिपाये वह इतनी बेफ़िक्री से आगे-पीछे, दायें-बायें, सबका नाम-गाम पूछता है, उनके सुख-दुख, हारी-बेगारी, सूखे-बूड़े, रोज़ी-रोज़गार की बातें करता है और कोई हँसी की बात हो तो इतने ज़ोर से ठहाका लगाता है कि आसपास बैठे हुए लोग चौंक पड़ते हैं और दीवारें हिल जाती हैं। शायद उसकी इस बेलौस हँसी में कहीं एक हल्की-सी चुहल भी छिपी हुई है — देखा, कैसा बुद्धू बनाया इन सबों को! कोई भाँप भी नहीं सका कि मेरे पास इस टीन के बकस में ऐसा एक मोती भी था जिससे दुनिया ख़रीदी जा सकती थी!

उसके ख़मीर में बच्चों जैसी शरारत का भी ख़ासा एक पुट है, जो अक्सर उसके लिखने में उभर आता है, इसलिए कभी-कभी लगता है कि अपनी इस सादगी में शायद उसे लुका-छिपी के खेल का भी कुछ मज़ा मिलता है!

जिस नितान्त साधारण, बँधी-टकी दिनचर्या से उसकी ज़िन्दगी का साँचा बना था उसको देखते हुए शायद उस मोती के पानी को, उसकी चमक को बराबर बनाये रखने का दूसरा कोई उपाय भी न था। यह गहरी निश्छल सादगी शायद एक कवच थी जो प्रकृति ने स्वयं उसको बनाकर दिया था ताकि उस मोती की चमक कभी मन्द न हो — वैसे ही जैसे बादाम की मीठी गिरी को बनाये रखने के लिए उस पर एक कड़ा खोल चढ़ाना पड़ा।

ज़रा देखिए यह अंदाज़ जिसमें मुंशी जी अपने एक दोस्त को अपने हालात नोट करा रहे हैं —

'तारीख़ पैदाइश संवत् १९३७। बाप का नाम मुंशी अजायबलाल। सुकूनत मौज़ा मढ़वाँ, लमही, मुत्तसिल पांडेपुर, बनारस। इब्तदाअन् आठ साल तक फ़ारसी पढ़ी, फिर अंग्रेज़ी शुरू की। बनारस के कालेजिएट स्कूल से एण्ट्रैन्स पास किया। वालिद का इंतक़ाल पन्द्रह साल की उम्र में हो गया, वालिदा सातवें साल गुज़र चुकी थीं। फिर तालीम के सीग़े में मुलाज़िमत की। सन् १९०१ में लिटररी ज़िन्दगी शुरू की ....' फिर

छः सतरें इसके बारे में कि कब कौन किताब लिखी, क़िस्सा खतम पैसा हज़म ! और जब आत्मकथा लिखने पर आये तो पहले सब को आगाह कर दिया —

'मेरा जीवन सपाट, समतल मैदान है, जिसमें कहीं-कहीं गढ़े तो हैं, पर टीलों, पर्वतों, घने जंगलों, गहरी घाटियों और खंडहरों का स्थान नहीं है। जो सज्जन पहाड़ों की सैर के शौक़ीन हैं उन्हें तो यहाँ निराशा ही होगी।'

यानी कि जिसे आना हो, समझ-बूझकर आये !

और सच तो यह है कि अगर ऐसी कुछ बात ही न आ पड़ती तो शायद उस व्यक्ति ने अपने बारे में इतना भी न लिखा होता। कोई पूछता तो शायद वह कह देता : मेरी ज़िन्दगी में ऐसा है ही क्या जो मैं किसी को सुनाऊँ। बिलकुल सपाट, समतल ज़िन्दगी है, वैसी ही जैसी देश के और करोड़ों लोग जीते हैं। एक सीधा-सादा, गृहस्थी के पचड़ों में फँसा हुआ, तंगदस्त मुदर्रिस, जो सारी ज़िन्दगी क़लम घिसता रहा, इस उम्मीद में कि कुछ आसूदा हो सकेगा मगर न हो सका। उसमें क्या है जो मैं किसी को सुनाऊँ। मैं तो नदी किनारे खड़ा हुआ नरकुल हूँ, हवा के थपेड़ों से मेरे अन्दर भी आवाज़ पैदा हो जाती है। बस इतनी-सी बात है। मेरे पास अपना कुछ नहीं है, जो कुछ है उन हवाओं का है जो मेरे भीतर बजीं। मेरी कहानी तो बस उन हवाओं की कहानी है, उन्हें जाकर पकड़ो, मुझे क्यों तंग करते हो !

१

बनारस से आज़मगढ़ जानेवाली सड़क पर, शहर से क़रीब चार मील दूर, एक छोटा-सा गाँव है, लमही, मौज़ा मढ़वाँ। पन्द्रह-बीस घर कुर्मियों के, दो-एक कुम्हार, एकाध ठाकुर, तीन-चार मुसलमान (जिनमें पुरुषों में मथुरा और स्त्रियों में रमदेई, सुनरी और कौसिलिया-जैसे नाम हैं!) और नौ-दस घर कायस्थों के — यही इस गाँव की कुल आबादी है।

यों तो इक्का-दुक्का कायस्थ भी अपने हाथ से हल चला लेते हैं लेकिन बस इक्का-दुक्का। खेती-किसानी कुर्मियों का काम है। कायस्थों की शान में इससे बट्टा लगता है। वे यहाँ के अकेले पढ़े-लिखे लोग हैं और अपनी इसी क़ाबलियत के बल पर अभी कुछ बरस पहले तक गाँव पर राज करते रहे हैं। मगर, अब कुछ तो कुर्मियों मे शिक्षा के साथ अपने अधिकारों की चेतना जागने के कारण और कुछ कायस्थों की आपसी फूट के कारण, उनके राज्य की चूलें हिल गयी हैं और उनका दबदबा काफ़ी कम हो गया है। ताहम आज भी सबसे ज्यादा पढ़ा-लिखा वर्ग कायस्थों का ही है। उनमे वकील हैं, मुख्तार हैं, पेशकार और अहलमद हैं, मुहर्रिर हैं, स्टाम्पफ़रोश हैं, पटवारी है, स्कूल के मुदर्रिस हैं। कहना न होगा कि उन्होंने भी जमाने के साथ तरक़्क़ी की है, क्योंकि एक वक़्त था कि उनमें यहाँ-वहाँ बस एक-दो डाकमुंशी और ज्यादातर डाकिये थे।

मगर वह पुरानी बात है।

सुनते हैं कि अब से कोई दो सौ बरस पहले एक कोई लाला टीकाराम थे। वह क्या थे, कहाँ थे, कहाँ जिये, कहाँ मरे — यह सब कुछ भी ठीक नहीं मालूम। लेकिन संभव है कि वह लमही के पास ऐरे नामक गाँव के रहे हों क्योंकि इतना मालूम है कि उनकी तीसरी पुश्त मे मुंशी गुरसहाय लाल पटवारी होकर ऐरे से लमही आये।

लाला टीकाराम के दो बेटे थे, लाला मनियार सिंह और लाला महराज सिंह। मनियार सिंह शायद लावल्द मर गये। महराज सिंह के दो बेटे हुए (बेटियाँ कितनी हुईं नहीं मालूम क्योंकि बेटियों के बारे में शजरा ख़ामोश है!) — राम

लाल और मैकू लाल। मैकू लाल के छः बेटे हुए जिनमें से चौथे गुरसहाय लाल थे। यही गुरसहाय लाल पटवारी मुकर्रर होकर लमही आये। उनके साथ ही उनके भतीजे हरनारायन लाल आये और फिर इन्हीं दो लोगों से वह सारे कायस्थ घराने पैदा हुए जो इस वक्त लमही में मौजूद हैं।

मुंशी गुरसहाय लाल के चार बेटे हुए — कौलेश्वर लाल, महाबीर लाल, अजायब लाल और उदितनरायन लाल।

मुंशीजी ठेठ कायस्थ और ठेठ पटवारी आदमी थे। पढ़े-लिखे उतना ही थे जितना कि पटवारी के लिए ज़रूरी था मगर चालबाजी में किसी से जौ भर घट-कर न थे। आने के साथ ही उन्होंने अपना मकान बनवाने के लिए गाँव के एक छोर पर जमीन हासिल की और एक बड़ा-सा कच्चा मकान बनवाया।

पटवारी में अगर अक़ल हुई तो उसे गाँव का राजा ही समझना चाहिए एक तरह से — जैसे चाहे स्याह-सफ़ेद करे, कोई उसका हाथ पकड़नेवाला नहीं! धीरे-धीरे मुंशी गुरसहाय लाल के पास साठ बीघे की अपनी आराज़ी हो गयी जो उन्होंने अपने दूसरे बेटे महाबीर लाल के नाम लिखवा दी। यों भी घर में खाने-पीने की कमी न थी। पीने की बात कहना ज़रूरी है क्योंकि मुंशी गुरसहाय लाल बहुत लती पीनेवाले थे। पैसा जरूरत भर घर में था ही, गाँव में ही होली थी, दो आने की एक बोतल मिलती थी, और वही दो आने का सेर भर कलिया।

पैसा तो उन्होंने ठर्रे की उन बोतलों में शायद कुछ खास नहीं उड़ाया लेकिन, हाँ, नशे की हालत में वह अपनी बीवी की कुटम्मस अक्सर किया करते थे जैसा कि शराबी आम तौर पर करते हैं।

लड़कों को अपनी माँ के साथ बाप का यह बुरा बर्ताव बहुत खलता लेकिन भीतर ही भीतर सुलगकर बुझ जाते। एक महाबीर ही ऐसे थे जिनमें इतना दम-खम था कि चाहते तो एक बार पिल पड़ते। अपने नाम के अनुरूप वही अपने सब भाइयों में सबसे हट्टे-कट्टे, लंबे-तड़ंगे, हैकल जवान थे। उनके बारे में कहा जाता है कि जब गाँव में कोई बैल नाथना होता और कोई उसको बस में न कर पाता तो महाबीर का आवाहन किया जाता। महाबीर फ़ौरन धोती का फेंटा कसकर कमर में बाँधते हुए मौक़े पर पहुँच जाते। पाँच-सात दस मिनट तक बैल से उनकी कुश्ती होती, फिर वह बैल को ज़मीन पर गिराकर उसके ऊपर चढ़ बैठते और चढ़े बैठे रहते जब तक कि उसको नाथने की क्रिया पूरी न हो जाती, मजाल थी कि मिनक जाय!

यह भी कुछ उनके नाम का ही प्रताप था कि महाबीर अपनी माँ के अनन्य भक्त थे। अजायब लाल भी अपनी माँ को प्यार करते ही होंगे लेकिन वह शरीर से और फलतः मन से भी दुर्बल थे। महाबीर अक्खड़ किसान थे, शरीर और मन दोनों से मज़बूत। शायद इसीलिए बाप ने अपनी कुल साठ बीघे आराज़ी महाबीर

के ही नाम लिखवायी थी, क्योंकि जोरू और ज़मीन के बारे में मशहूर है कि ये दोनों उसी आदमी के पास रहती है जिसका शरीर ताक़तवर और लाठी मज़बूत होती है।

महाबीर लाल अपने बाप के चहेते थे सही, लेकिन जब मुंशी गुरसहाय लाल अपनी बीवी को पीट चलते और वह बेचारी बेज़बान गाय की तरह चुपचाप पिटती रहती तो महाबीर से अपनी माँ की यह दुर्दशा देखी न जाती और वह गुस्से से काँपते हुए जाकर दोनों हाथों से अपने बाप की गर्दन दबोच लेते और दाँत पीसकर कहते — मन करता है ....

मगर खैर, वैसी कोई दुर्घटना नहीं हुई और मुंशी गुरसहाय लाल जब भी मरे अपनी मौत मरे। लेकिन हाँ, महाबीर उनको पकड़कर बाहर घसीट ज़रूर ले जाते। आये दिन यह नाटक घर में हुआ करता लेकिन मारपीट बन्द नहीं हुई और इसी तरह पटवारगिरी करते, ठर्रा पीते और बीवी को धुनकते हुए मुंशी गुरसहाय लाल पचपन-साठ की उम्र तक जिये।

और जब वह मरे तो पट्टीदारों ने, खासकर मुंशी हरनरायन लाल ने, जो अपने चाचा के साथ ही ऐरे से लमही आये थे और जिन्हें शायद मन ही मन इस बात का मलाल था कि पटवारगिरी खुद उनको क्यों नहीं मिली (जिसके तुफ़ैल में आज यह साठ बीघे आराजी महाबीर लाल के नाम लिखी हुई थी और जो ग़रीब की आँखों में काँटे की तरह गड़ रही थी) महाबीर लाल को पट्टी पढ़ाना शुरू किया कि अगर तुम अपनी ज़मीन से इस्तीफ़ा दे दो तो आज अपने बाप की जगह पटवारी बन सकते हो।

महाबीर लाल के बड़े भाई कौलेश्वर लाल तीस बरस के होकर पहले ही इस दुनिया से सिधार चुके थे और पटवारगिरी के सीग़े मे उन दिनों ऐसा कुछ क़ायदा था कि बेटा अगर पटवारियान पास हो तो बाप की गद्दी पर पहला हक़ उसी का होता था। महाबीर लाल यों ही कुछ सटर पटर पढ़े थे और पटवारियान पास करना तो दूर रहा, उसके पास फटके तक नहीं थे। लेकिन पट्टीदारों ने जब पट्टी पढ़ायी तो महाबीर लाल को, जिनकी अक़्ल भी उतनी ही मोटी थी, यह बात जँच गयी और फिर उन्होंने किसी से पूछा न जाँचा, गये और अपनी साठ बीघे ज़मीन से इस्तीफ़ा दे आये। मुंशी हरनरायन लाल की आँख का काँटा दूर हो गया। पटवारगिरी न मिलनी थी न मिली।

अब चारों भाइयों के बीच बस छः बीघा ज़मीन बची जो मुंशी गुरसहाय लाल अपने पोते यानी महाबीर के बेटे बलदेव लाल के नाम अलग से लिख गये थे। खेती-किसानी के नाम से पूरे खानदान में अब बस इतनी ही ज़मीन बच रही थी। सब लड़के खेती से लग जायँ, यह शायद मुंशी गुरसहाय लाल का मंशा भी न था।

कायस्थ की जात नौकरी के लिए है। और फिर पैसा भी तो नौकरी में ही मिलता है, खेती में तो बस ग़ल्ला हाथ आता है। खेती के लायक शरीर भी भगवान ने एक को ही दिया था, महाबीर को। तो फिर ठीक है, एक बेटा खेती करेगा, बाकी तीनों नौकरी करेंगे। दोनों हाथ मे लड्डू रहेगा। अनाज भी इफ़रात पैदा होगा और पैसा भी इफरात आयेगा।

महाबीर खेती में लग गये और बाक़ी तीनों यानी कौलेश्वर, अजायब और उदितनरायन ने इतना पढ़ लिया कि नौकरी कर सकें, थोड़ी-सी उर्दू-फ़ारसी और थोड़ी-सी अँग्रेज़ी।

यह एक संयोग ही था कि भाइयों में सबसे बड़े कौलेश्वर लाल डाकमुंशी बने। फिर क्या कहना था, कुछ रोज़ बाद उन्होंने अजायब लाल को भी डाकमुंशी बनवा दिया। फिर अजायब लाल ने वही नेकी अपने छोटे उदितनरायन के साथ की, और इस तरह तीनों भाई देखते-देखते डाकमुंशी बन गये। कहना मुश्किल है कि क्यों सब भाइयों को एक के बाद एक डाकमुंशियाने का ही छुतहा रोग लगा। कुछ तो शायद इसलिए कि इस काम में दूसरे किसी महकमे से कम घिसाई करनी पड़ती थी और कुछ शायद इसलिए कि यह काम साफ़-सुथरा था। ऊपरी आमदनी की गुंजाइश तो नहीं के बराबर थी मगर इज़्ज़त काफ़ी थी। आँख-कान जो भी समझिये, डाकमुंशी गाँव का एक ख़ास आदमी था। उसी की मार्फ़त गाँववालों का सम्बन्ध बाहर की दुनिया से रहता था। कमाने के लिए लोग बाहर जाते ही रहते। कभी उनकी चिट्ठी आती और जब बहुत दिन न आती तो यहाँ से उनको चिट्ठी भेजनी होती। कभी कुछ रुपया मनिआर्डर से आता। डाकमुंशी इस सब का हाकिम था और जहाँ अब से सौ बरस पहले सारे गाँव में दो ही चार आदमी अपने दस्तख़त बना सकते रहे हों, डाकमुंशी का काम लिफ़ाफ़ा-पोस्टकार्ड बाँटने से ही ख़त्म न हो जाता था, बहुत बार चिट्ठियाँ भी उसी को लिखनी पड़ती थीं। भलमंसी का यही तक़ाज़ा था और इसके एवज़ में गाँव के लोग थोड़ा-बहुत जौ-मटर, साग-सब्ज़ी, रस-गुड़ भी पहुँचा दिया करते थे।

मुंशी अजायबलाल ने यों भी तबीयत नेक पायी थी। लीक पकड़कर चलनेवाले आदमी थे लेकिन उस लीक पर अगर उनकी ज़ात से किसी का कुछ भला होता हो तो उसमें कभी पीछे न रहते। घर-बाहर सब जगह वह अपनी बिसात भर दूसरों की मदद करते। वैसे बिसात ही कितनी थी, दस रुपये पर नौकर हुए थे, चालीस तक पहुँचते-पहुँचते रिटायर हो गये।

उनके बड़े भाई कौलेश्वर लाल जवानी में ही मर गये थे। उनकी विधवा स्त्री अपने बच्चे को लेकर बहुत दिन घर पर ही रहीं। लेकिन फिर उनके साथ भी वही हुआ जो सच या झूठ हमारे समाज में प्रायः हर विधवा युवती के साथ होता है। रिश्ते के एक भतीजे को लेकर उनकी बदनामी हुई, महाबीर लाल की पत्नी ने

अभूतपूर्व मनोयोग से अपनी जेठानी के चारित्रिक स्खलन का अनुसंधान और प्रचार किया — यहाँ तक कि बेचारी गाँव छोड़कर चुनार चली गयीं और वहाँ दो-एक सेठों की लड़कियों को पढ़ाकर (थोड़ी-बहुत कैथी वह जानती थीं) अपनी जिन्दगी के दिन काटने लगीं।

उनके लड़के मोतीलाल को भी अपने पिता की ही आयु मिली। वह भी अपनी स्त्री की गोद मे एक साल का बेटा और तीन लड़कियाँ छोड़कर तीस बरस की ही उमर मे इस दुनिया से उठ गये। मुंशी अजायब लाल ने अपनी उस छोटी कमाई में से बरसों अपनी इस भतीज-बहू को पाँच रुपया महीना दिया। इसी तरह अपने चाचा ईश्वरी लाल की विधवा स्त्री को भी, जिन्हें सब करियई चाची कहते थे, उन्होंने आजीवन दो रुपया महीना दिया।

उनके छोटे भाई उदित नरायन लाल, जिन्हे मुंशी अजायब लाल ने ही डाकमुंशी बनवाया था, डाकखाने का रुपया ग़बन करने के जुर्म में पकड़े गये। उनको छुड़ाने के लिए बहुत कोशिश-पैरवी हुई मगर बेकार, और उन्हें सात बरस की सजा हो गयी। सरकारी रक़म, एक हजार रुपया, बड़ी-बड़ी मुशकिलों से घरवालों ने भरी। अब सवाल उनके बाल-बच्चों की परवरिश का था। मुंशी अजायब लाल इसमें भी सबसे आगे-आगे रहे। उदित नरायन के घर में उनकी पत्नी थी, एक लड़का था और दो लड़कियाँ। लड़का जगत नरायन सबसे बड़ा था और बिलकुल आवारा था। घर से भाग गया और सदा के लिए लापता हो गया। बड़ी लड़की की शादी उदित नरायन कर चुके थे; वह अपने घर रहती थी। छोटी लड़की अभी छोटी थी। उदित नरायन सज़ा काटकर घर आये जरूर लेकिन शर्म के मारे उनकी आँख न उठती थी और फिर जो वह गायब हुए तो ऐसे कि दुबारा किसी ने उनका मुँह न देखा। उनके बाल-बच्चों की देख-रेख मुंशी अजायब लाल ने जिन्दगी भर की; छोटी लड़की का ब्याह भी उन्हीं ने किया।

उनके व्यक्तित्व में असाधारण कुछ भी न था, बस इतना था कि आदमी भले थे, छल-कपट से दूर रहते थे। उनके माँ-बाप के बारे में जो कुछ पता चलता है उससे मालूम होता है कि उनकी प्रकृति में अपने पिता से अधिक अपनी माँ का अंश था जो कि एक शान्त, साध्वी स्त्री थीं। उन्होंने कभी अपनी पत्नी के साथ वैसा दुर्व्यवहार नहीं किया जैसा उनके पिता अपनी पत्नी के साथ आये दिन किया करते थे। मामूली पढ़े-लिखे आदमी थे। गीता और शास्त्र भी देखे थे। पर धार्मिक अनुष्ठानों में उन्हे ज्यादा विश्वास न था। कहते थे, उनमें ढोंग ज़्यादा है, तत्व कम। धर्म का मतलब वह सदाचार समझते थे, जिसे उन्होंने शक्ति भर अपने जीवन मे बरता। कभी किसी से झगड़े नहीं, हाँ छोटा-मोटा भला बहुतों का किया। अपने नातेदारों में जगदम्बा के पिता बृजकिशोर लाल और बिन्देसरी के पिता रजपाल लाल को अपनी कोशिश से चिट्ठीरसाँ बनवाया और ज़रूरत पड़ने पर लोगों को

रुपये-पैसे देने में भी अपनी औक़ात भर कंजूसी नहीं की। हमेशा नजर नीची करके चले : गाँव की बहू-बेटियों को अपनी बहू-बेटी समझा। कभी किसी झगड़े में अगर लोगों ने उनको पंच बनाया तो बिना इसका या उसका मुँह देखे अपनी बेलौस राय दी। और वैसा ही आदर भी उनको अपने समाज में मिला।

संयोग से पत्नी भी उनको अपने अनुरूप ही मिलीं। देखने मे जितनी सुन्दर, स्वभाव की उतनी ही कोमल। सुन्दर इतनी कि शायद इतनी सुन्दर स्त्री परिवार, में फिर कभी नहीं आयी — खूब गोरी, मँझोला क़द, भरा हुआ छरहरा शरीर आँखें बड़ी नहीं पर सुन्दर, उठी हुई सुडौल नाक, लंबे-लंबे बाल, मीठी आवाज़। काशी विश्वविद्यालय के पास एक गाँव है करौनी, वहीं की लड़की थीं। पिता शायद किसी ज़मीन्दार के कारिन्दा थे। सुन्दर, गोरे, तगड़े। लेकिन बस यह शरीर ही था उनके पास जो कारिन्दा बनने के योग्य था, आत्मा बिल्कुल दूसरे ही साँचे में ढली थी। जिस कारिन्दे की तबीयत में नेकी हो, शराफ़त हो, सच्चाई हो, घुलावट हो, वह भी कोई कारिन्दा है ! इतना ही नहीं, उनके बारे में यह भी सुना जाता है कि वह साहित्यिक रुचि के आदमी थे और शायद कुछ किताबें भी उन्होंने लिखीं जिन्हें दुनिया की रोशनी देखना नसीब न हुआ। कहते हैं कि उनकी बेटी आनन्दी ने अपना रूप-रंग-स्वभाव सब कुछ उन्हीं से पाया था। उन्हें कभी किसी से झगड़ा करते नहीं देखा गया और न वह दूसरी औरतों की तरह इधर की बात उधर लगाने में या टोले-पड़ोसवालों की निन्दा में ही रस लेती थीं। शीलवती, घरेलू स्त्री थीं, अपने पति के समान ही सदा हर किसी की सहायता के लिए तत्पर। खुद भी मामूली ही पढी-लिखी थीं, बस थोड़ी-सी कैथी, पर उतनी उन्होंने अपनी भतीज-बहू को भी सिखला दी।

घर के काम-काज में वह ज़रूर यकता थीं। खाना बहुत अच्छा पकाती थीं और सीने-पिरोने में भी बेजोड़ थीं। उनके हाथ की बखिया में जो सफ़ाई थी, वह तो फिर देखी ही नहीं गयी।

लेकिन एक दुख उनको बड़ा था : उनके बच्चे नहीं जीते थे। दो लड़कियाँ हुईं और दोनों जाती रहीं। तब लमही की औरतों ने शोर मचाया कि आनन्दी का अपने मैके जाना ठीक नहीं है, वहाँ भूत लगते हैं !

अब यह चाहे भूत की बात हो चाहे मात्र संयोग, तीसरी लड़की जो आनन्दी को लमही मे पैदा हुई, जिसका नाम सुग्गी रखा गया, वह ज़िन्दा रही और उसके छः-सात बरस बाद लमही के उसी कच्चे पुश्तैनी मकान में जो मुंशी गुरसहाय लाल ने बनवाया था, सावन बदी १० संवत् १९३७, शनिवार ३१ जुलाई सन् १८८० को उस लड़के का जन्म हुआ जिसे बाद को दुनिया ने प्रेमचंद के नाम से जाना। लड़का खूब ही गोरा-चिट्टा था। सब बहुत खुश थे। पिता ने हुलसकर उसका नाम रखा धनपत और ताऊ ने नवाब।

बस एक बात खटक रही थी : लड़का तेतर था यानी तीन लड़कियों की पीठ पर हुआ था, और ऐसी संतान के बारे में लोगों का विश्वास है कि वह माँ-बाप में से किसी एक को खाये बिना नहीं रहती ! नवाब ने ऐसी बुभुक्षा का तत्काल कोई परिचय तो नहीं दिया लेकिन इसमें सन्देह नही कि यह भी प्रकृति का एक अच्छा व्यंग्य था। जिस लड़के को आगे चलकर आजीवन समाज की मुर्दा रूढ़ियों से जूझना था, वह स्वयं एक मुर्दा रूढ़ि की छाया में पैदा हुआ !

२

बेचारी माँ दो लड़कियाँ गँवा चुकी थी और अब बस यही दो बच्चे थे, सुग्गी और नवाब। सुग्गी नवाब से छः-सात साल बड़ी थी। उसको भी माँ कुछ कम प्यार नहीं करती थी, लेकिन नवाब में तो जैसे उसके प्राण ही बसते थे। कुछ तो शायद इसलिए भी कि वह सबसे छोटा था और लड़का था। माँ को हरदम यही डर लगा रहता कि कोई उसके बेटे को नज़र लगा देगा, कुछ जादू-टोना कर देगा। लड़का चंचल था भी, जिसे 'टोनहा' कहते हैं, हरदम झाड़-फूंक करवाती रहती, राई-नोन से नज़र उतरवाती रहती — और डिठौना तो नवाब को पाँच-छः साल की उम्र तक लगाया जाता रहा। माँ का बस चलता तो वह कभी बेटे को अपने आँचल से अलग न होने देती।

इस तरह बचपन के कुछ वर्ष, माँ के प्यार की शीतल छाँह में बहुत ही मधुर बीते। माँ के लाड़ले थे और शरारत कहिए या चुहल, उनकी घुट्टी में पड़ी थी। आये दिन कुछ-न-कुछ हुआ करता और घर पर उलाहना पहुँचता। एक रोज़ ऐसा हुआ कि लड़के नाई-नाई खेल रहे थे। नवाब को शरारत सूझी, उसने ललान के ही एक लड़के रामू की हजामत बनाते-बनाते बाँस की कमानी से उसका कान काट लिया। कान कटा तो खैर नहीं, मगर खून ज़रूर भलभल भलभल बहने लगा। रामू रोता-पीटता अपनी माँ के पास पहुँचा। माँ ने बेटे के कान से खून बहते देखा तो आगबबूला हो गयी और एक हाथ से रामू को पकड़े भनकती-पटकती नवाब की माँ के पास उलाहना देने पहुँची। नवाब ने जैसे ही उसकी आवाज़ सुनी, खिड़की के पास दुबक गया। माँ ने दुबकते हुए उसको देख लिया और पकड़कर चार झापड़ रसीद किये। पूछा — रामू का कान तूने क्यों काटा? नवाब ने निहायत भोलेपन से जवाब दिया — पता नहीं कैसे कट गया, मैं तो उसकी हजामत बना रहा था!

फ़सल के दिनों में किसी के खेत में घुसकर ऊख तोड़ लाना, मटर उखाड़ लाना — यह तो रोज़ की बात थी। इसके लिए खेतवालों की गाली भी खानी पड़ती थी, लेकिन लगता है कि उन गालियों से ऊख और मीठी, मटर और मुलायम हो जाती थी! लमही चूँकि सदा से बहुत ग़रीब गाँव रहा है, इसलिए कोई इस
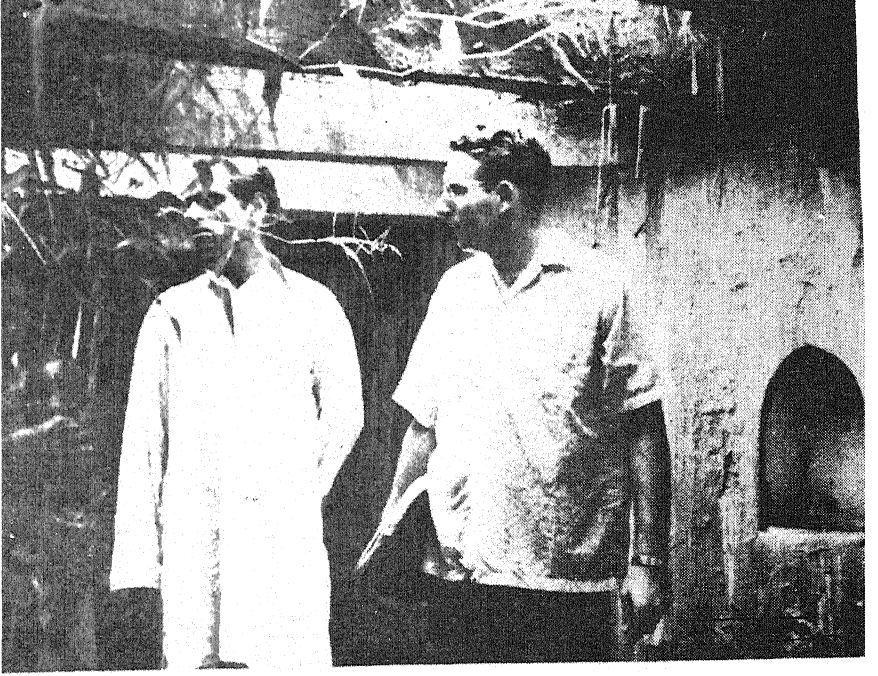
लमही की कोठरी जिसमें जन्म हुआ;
हिन्दी कवि त्रिलोचन और चेक विद्वान् स्मेकल खड़े हैं।

लमही का एक दृश्य
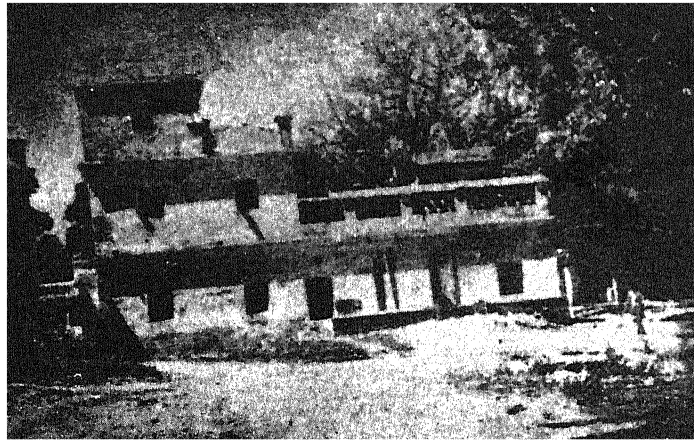
प्रेमचंद का अपना बनवाया मकान

चीज़ को दरगुजर भी न करता था और अक्सर इस बात का उलाहना आता। घर में डाँट-फटकार भी होती लेकिन एक-दो रोज के बाद फिर वही रंग-ढंग।

ढेला चलाने मे भी नवाब बहुत मीर थे, टिकोरे पेड़ मे आते और उनकी चाँदमारी शुरू हो जाती। ऐसा ताककर निशाना मारते कि दो-तीन ढेलों मे आम ज़मीन पर नजर आता। पेड़ का रखवाला चिल्लाता ही रह जाता और नवाब की मण्डली आम बिन-बटोरकर चम्पत हो जाती। और सबसे ज़्यादा मज़ा तो निशानेबाज़ी में तब आता जब आम पकना शुरू हो जाते। तेज़ आँखें सब आम के पेड़ों को ताके रहतीं और जहाँ किसी डाल में कोई कोंपल दिखा नहीं कि ढेलेबाजी शुरू। मजाल है कि दो-तीन चक्कों मे वह नीचे न आ जाय। रखवाला चिल्लाता है तो चिल्लाने दो, गाली देता है, देने दो, हमे आम से मतलब है कि उसकी गाली से! जब तक अपना लाठी-डण्डा लेकर वह आयेगा, हम कही के कहीं होंगे! अपनी मण्डली मे नवाब का निशाना मशहूर था, इस मामले में वह अपनी टोली के सारे लड़कों का सरताज था। आज तक लोग उसका बखान करते है — वैसे ही जैसे उसके गुल्ली-डण्डे का। सुनते हैं उसका टोल अच्छी तरह जमकर बैठ जाता था तो गुल्ली डेढ़ सौ गज़ की ख़बर लेती थी। लेकिन वह ज़रा बाद की बात है, अभी तो हाथ में इतना दम भी नहीं था।

घर के सामने, जहाँ अब मुंशीजी का बनवाया हुआ अपना मकान है, एक बहुत ही पुराना, बहुत ही बड़ा इमली का पेड़ था। उसके नीचे लाला (महाबीर लाल) की मड़ैया तो थी ही, खेलने के लिए भी खूब जगह थी, साफ़-सुथरी। वहाँ इमली के चियों और महुए के कोइनों से खेल होता और कबड्डी की पाली जमती।

इसी तरह बचपन के सुहाने दिन बीत रहे थे, कभी लमही में तो कभी पिता के साथ कहीं और। उस कहीं और में ही एक जगह कजाकी नाम का एक डाक-हरकारा उसकी ज़िन्दगी में आया और हमेशा के लिए अपनी याद और अपना दाग़ छोड़ गया —

● मेरी बाल स्मृतियों में कजाकी एक न मिटनेवाला व्यक्ति है। आज चालीस साल गुज़र गये (कहानी सन् १९२६ में लमही में बैठकर लिखी जा रही है जब कि मुदर्रिसी के तेईस तूफ़ानी सालों की बेतहाशा भागमभाग के बाद लेखक उस ज़िन्दगी को अलविदा कहकर फिर अपने बचपन के परिवेश में लौट आया है, कुछ सुस्ता रहा है और पुरानी स्मृतियाँ धीमी-धीमी बयार की तरह आकर उसको सहला रही है) लेकिन कज़ाकी की मूर्ति अभी तक आँखों के सामने नाच रही है। मै उन दिनों अपने पिता के साथ आज़मगढ़ की एक तहसील मे था। कज़ाकी जात का पासी था, बड़ा ही हँसमुख, बड़ा ही साहसी, बड़ा ही ज़िन्दादिल। वह रोज़ शाम को डाक का थैला लेकर आता, रात भर रहता और सबेरे डाक लेकर चला

जाता। शाम को फिर उधर से डाक लेकर आ जाता। ज्योंही चार बजते, मैं व्याकुल होकर, सड़क पर आकर खडा हो जाता और थोड़ी देर मे कज़ाकी कंधे पर बल्लम रखे, उसकी झुनझुनी बजाता, दूर से दौड़ता हुआ आता दिखलायी देता। वह साँवले रंग का, गठीला, लंबा जवान था। शरीर ऐसा साँचे में ढला हुआ कि चतुर मूर्तिकार भी उसमें कोई दोष न निकाल सकता था। उसकी छोटी-छोटी मूँछें उसके सुडौल चेहरे पर बहुत ही अच्छी मालूम होती। मुझे देखकर वह और तेज़ दौड़ने लगता, उसकी झुनझुनी और ज़ोर से बजने लगती और मेरे हृदय में और ज़ोर से खुशी की धड़कन होने लगती। हर्षातिरेक में मैं दौड़ पड़ता और एक क्षण में कज़ाकी का कन्धा मेरा सिंहासन बन जाता।.... संसार मेरी आँखों मे तुच्छ हो जाता और जब कज़ाकी मुझे कंधे पर लिये हुए दौड़ने लगता, तब तो ऐसा मालूम होता मानों मैं हवा के घोड़े पर उड़ा जा रहा हूँ।

थैला रखते ही वह हम लोगों को लेकर किसी मैदान में निकल जाता, कभी हमारे साथ खेलता, कभी बिरहे गाकर सुनाता और कभी कहानियाँ सुनाता। उसे चोरी और डाके, मारपीट, भूत-प्रेत की सैंकड़ों कहानियाँ याद थीं।.... उसकी कहानियों के चोर और डाकू सच्चे योद्धा होते थे जो अमीरों को लूटकर दीन-दुखी प्राणियों का पालन करते थे .... ●

उस वक़्त नवाब क़रीब छः साल के थे। आठवें साल मे उनकी पढ़ाई शुरू हो गयी थी, ठीक वही पढ़ाई जिसका कायस्थ घरानों में चलन था, उर्दू-फ़ारसी। लमही से मील सवा मील की दूरी पर एक गाँव है लालपुर। वहीं एक मौलवी साहब रहते थे जो पेशे से तो दर्ज़ी थे मगर मदरसा भी लगाते थे।

मुंशी जी ने अपनी एक कहानी 'चोरी' में उस ज़माने को खूब डूब-डूबकर याद किया है —

● हाय बचपन, तेरी याद नहीं भूलती! वह कच्चा, टूटा घर, वह पुआल का बिछौना, वह नंगे बदन, नंगे पाँव खेतों में घूमना, आम के पेड़ों पर चढ़ना — सारी बातें आँखों के सामने फिर रही हैं। चमरौधे जूते पहनकर उस वक़्त जितनी खुशी होती थी, अब फ़्लेक्स के बूटों से भी नहीं होती, गरम पनुए रस में जो मज़ा था वह अब गुलाब के शर्बत में भी नहीं, चबेने और कच्चे बेरों में जो रस था वह अब अंगूर और खीरमोहन में भी नहीं मिलता।

मैं अपने चचेरे भाई हलधर[1] के साथ दूसरे गाँव में एक मौलवी साहब के

---

१. असल नाम बलभद्र। महाबीर लाल के छोटे लड़के, बलदेव लाल के छोटे भाई। जवानी में ही मर गये। मसूढ़े में सुपारी फँस गयी। वही नासूर बन गयी।

यहाँ पढने जाया करता था। मेरी उम्र आठ साल थी, हलधर (वह अब स्वर्ग में निवास कर रहे हैं) मुझसे दो साल जेठे थे। हम दोनों प्रातःकाल बासी रोटियाँ खा, दोपहर के लिए मटर और जौ का चबेना लेकर चल देते थे। फिर तो सारा दिन अपना था। मौलवी साहब के यहाँ कोई हाज़िरी का रजिस्टर तो था नहीं और न ग़ैरहाज़िरी का जुर्माना ही देना पड़ता था। फिर डर किस बात का। कभी तो थाने के सामने खड़े सिपाहियों की क़वायद देखते, कभी किसी भालू या बन्दर नचाने वाले मदारी के पीछे-पीछे घूमने में दिन काट देते, कभी रेलवे स्टेशन की ओर निकल जाते और गाड़ियों की बहार देखते। गाड़ियों के समय का जितना ज्ञान हमको था उतना शायद टाइम टेबिल को भी न था। रास्ते मे शहर के एक महाजन ने एक बाग़ लगवाना शुरू किया था, वहाँ एक कुआँ खुद रहा था। वह भी हमारे लिए दिलचस्प तमाशा था। बूढ़ा माली हमे अपनी झोपड़ी में बड़े प्रेम से बैठाता था। हम उससे झगड़-झगड़कर उसका काम करते। कहीं बाल्टी लिये पौदों को सींच रहे है, कहीं खुरपी से क्यारियाँ गोड़ रहे हैं, कही कैंची से बेलों की पत्तियाँ छाँट रहे है। उन कामों में कितना आनन्द था। माली बाल-प्रकृति का पण्डित था, हमसे काम लेता पर इस तरह मानों हमारे ऊपर कोई एहसान कर रहा है। जितना काम वह दिन भर मे करता, हम घण्टे भर मे निबटा देते।

कभी-कभी हम हफ़्तों ग़ैरहाज़िर रहते पर मौलवी साहब से ऐसा बहाना कर देते कि उनकी चढ़ी हुई त्योरियाँ उतर जातीं। उतनी कल्पना-शक्ति आज होती तो ऐसा उपन्यास लिख मारता कि लोग चकित रह जाते। अब तो यह हाल है कि बहुत सिर खपाने के बाद कोई कहानी सूझती है। ख़ैर, हमारे मौलवी साहब दर्ज़ी थे। मौलवीगीरी केवल शौक़ से करते थे। हम दोनों भाई अपने गाँव के कुर्मी-कुम्हारों से उनकी खूब बड़ाई करते थे या कहिए कि हम मौलवी साहब के सफ़री एजेण्ट थे। हमारे उद्योग से जब मौलवी साहब को कुछ काम मिल जाता तो हम फूले नहीं समाते। जिस दिन कोई अच्छा बहाना न सूझता, मौलवी साहब के लिए कोई-न-कोई सौग़ात ले जाते। कभी सेर-आध सेर फलियाँ तोड़ लीं तो कभी दस-पाँच ऊख, कभी जौ या गेहूँ की हरी-हरी बालें ले लीं। इन सौग़ातों को देखते ही मौलवी साहब का क्रोध शान्त हो जाता। जब इन चीजों की फ़सल न होती तो हम सज़ा से बचने का कोई और ही उपाय सोचते। मौलवी साहब को चिड़ियों का शौक़ था। मकतब मे श्यामा, बुलबुल, दहियल और चण्डूलों के पिंजरे लटकते रहते थे। हमें सबक़ याद हो या न हो पर चिड़ियों को याद हो जाते थे। हमारे साथ ही वह भी पढ़ा करती थीं। इन चिड़ियों के लिए बेसन पीसने में हम लोग खूब उत्साह दिखलाते थे। मौलवी साहब सब लड़कों को पतिंगे पकड़ लाने की ताकीद करते रहते थे। इन चिड़ियों को पतिंगों से विशेष रुचि

थी। कभी-कभी हमारी बला पतिंगों के ही सिर चली जाती थी। उनका बलिदान करके हम मौलवी साहब के रौद्र रूप को प्रसन्न कर लिया करते थे।●

भगवान को प्रसाद चढ़ाये बिना कब वरदान मिला है और गुरु की सेवा किये बिना कब किसे विद्या आयी है। पुराना क़ायदा तो कम से कम यही था। और भी बहुत-सी ख़िदमतें अंजाम देनी होती होंगी, मसलन् बकरी के वास्ते हरी-हरी पत्तियाँ तोड़ लाना, बाजार जाकर सौदा-सुलुफ़ ले आना — और हुक़्क़ा तर करने का तो जैसे ज़िक्र ही बेकार है, उसके बिना कभी किसी को कुछ भी आया है!

पढाई का तरीका वही पुराना रहा होगा जो कि बाद के तमाम नये प्रयोगों के बावजूद शायद सबसे अच्छा था, यानी रटन्त। गणित के मास्टर साहब पहाड़ा रटाते थे और दर्जे भर के लड़के झूम-झूमकर समवेत गायन की तरह पहाड़े रटते थे — सात के सात, सात दुनी चौदह, सात तियाँ इक्कीस .... संस्कृत के पण्डित जी गच्छति गच्छतः गच्छन्ति, रामः रामौ रामाः रटाते थे और मौलवी साहब आमदनामा लेकर माज़ी और मजहूल, हाल और मुस्तक़बिल, अम्र और निही के तमाम सीग़ों में सैकड़ों मजदरों और मुज़ारों की गिरदान करवाते थे — आमद आमदन्द आमदी आमदेद आमदम आमदेम। गोयद गोयन्द गोयी गोयेद गोयम गोयेम। (क्या अजब कि यह चीज मौलवी साहब के दहियलों और चण्डूलों की ज़बान पर लड़कों से पहले चढ़ जाती थी!) जब आमदनामा पक्का हो जाता तब सादी के गुलिस्ताँ-बोस्ताँ और करीमा-मुक़ीमा की बारी आती। फ़ारसी पढ़ाने का यह क़ायदा आज सैकड़ों साल से दुनिया में चल रहा है। नबाब ने भी इसी क़ायदे से फ़ारसी पढ़ी और चुहलबाजियाँ तो जो होनी थीं, होती रहीं, ताहम ऐसा लगता है कि मौलवी साहब ने नवाब की फ़ारसी की जड़ काफ़ी मज़बूत कर दी। उर्दू के बारे में कहा जाता है कि उर्दू पढ़ायी नहीं जाती, घलुए मे आती है; पढ़ायी तो फ़ारसी जाती है। जो भी बात हो, इसमें शक नहीं कि इन मौलवी साहब ने उनकी फ़ारसी की बुनियाद ख़ूब पक्की कर दी थी, कि उस पर यह महल खड़ा हो सका। प्राइवेट तौर पर जब इण्टर और बी० ए० करने की नौबत आयी उस वक़्त नवाब राय को यह तय करने में एक मिनट नहीं लगा कि एक विषय ज़रूर फ़ारसी होना चाहिए।

इस तरह थोड़ा-बहुत पढ़ते और सारे दिन मटरगश्ती करते, खेलते-कूदते, मज़े में दिन बीत रहे थे।

और इन्हीं दिनों की बात है कि उन्होंने और हलधर (बलभद्र) ने मिल-कर घर से एक रुपया उड़ाया था। अब ज़रा उसकी दास्तान उन्हीं से सुनिए :

● .... मुँह-हाथ धोकर हम दोनों घर आये और डरते-डरते अन्दर क़दम

रखा। अगर कहीं इस वक्त तलाशी की नौबत आयी तो फिर भगवान ही मालिक है। लेकिन सब लोग अपना-अपना काम कर रहे थे। कोई हमसे न बोला। हमने नाश्ता भी न किया, चबेना भी न लिया, किताब बगल में दबायी और मदरसे का रास्ता लिया।

बरसात के दिन थे। आकाश पर बादल छाये हुए थे। हम दोनों खुश-खुश मकतब चले जा रहे थे .... हज़ारों मंसूबे बाँधते थे, हज़ारों हवाई क़िले बनाते थे। यह अवसर बड़े भाग्य से मिला था। इसलिए रुपये को इस तरह खर्च करना चाहते थे कि ज़्यादा से ज़्यादा दिनों तक चल सके। उन दिनों पाँच आने सेर बहुत अच्छी मिठाई मिलती थी और शायद आध सेर मिठाई में हम दोनों अफर जाते लेकिन यह ख़याल हुआ कि मिठाई खायेंगे तो रुपया आज ही ग़ायब हो जायगा। कोई सस्ती चीज़ खानी चाहिए जिसमें मजा भी आये पेट भी भरे और पैसे भी कम ख़र्च हों। आख़िर अमरूदों पर हमारी नज़र गयी। हम दोनों राज़ी हो गये। दो पैसे के अमरूद लिये। सस्ता समय था, बड़े-बड़े बारह अमरूद मिले, हम दोनों के कुर्तो के दामन भर गये। जब हलधर ने खटकिन के हाथ में रुपया रखा तो उसने सन्देह से देखकर पूछा — रुपया कहाँ पाया लाला ? चुरा तो नहीं लाये ?

जवाब हमारे पास तैयार था। ज़्यादा नहीं तो दो-तीन किताबें पढ़ ही चुके थे। विद्या का कुछ-कुछ असर हो चला था। मैंने झट से कहा — मौलवी साहब की फ़ीस देनी है। घर में पैसे न थे तो चाचा जी ने रुपया दे दिया। ●

मदरसे पहुँचे।

● हम अभी सबक़ पढ़ ही रहे थे कि मालूम हुआ आज तालाब का मेला है, दोपहर से छुट्टी हो जायगी। मौलवी साहब मेले में बुलबुल उड़ाने जायेंगे। यह खबर सुनते ही हमारी खुशी का ठिकाना न रहा। बारह आने तो बैंक में जमा ही कर चुके थे, साढ़े तीन आने में मेला देखने की ठहरी। खूब बहार रहेगी। मजे से रेवड़ियाँ खायँगे, गोलगप्पे उड़ायेंगे, झूले पर चढ़ेंगे और शाम को घर पहुँचेंगे। लेकिन मौलवी साहब ने एक कड़ी शर्त यह लगा दी थी कि सब लड़के छुट्टी के पहले अपना-अपना सबक़ सुना दें। जो सबक़ न सुना सकेगा, उसे छुट्टी न मिलेगी। नतीजा यह हुआ कि मुझे तो छुट्टी मिल गयी पर हलधर क़ैद कर लिये गये। और कई लड़कों ने भी सबक़ सुना दिये थे, वे सभी मेला देखने चल पडे। मैं भी उनके साथ हो लिया। पैसे मेरे ही पास थे इसलिए मैंने हलधर को साथ लेने का इन्तज़ार न किया। तय हो गया था कि वह छुट्टी पाते ही मेले में आ जायँ और दोनों साथ-साथ मेला देखें। मैंने वचन दिया था कि जब तक वह न आयेंगे एक पैसा भी खर्च न करूँगा लेकिन क्या मालूम था कि दुर्भाग्य कुछ और ही लीला रच रहा है। मुझे मेला पहुँचे एक घण्टे से ज़्यादा गुजर गया, पर हलधर का कहीं पता नहीं। क्या अभी तक मौलवी साहब ने छुट्टी नहीं दी, या रास्ता भूल गये ? आँखें फाड़-

फाड़कर सड़क की ओर देखता था। अकेले मेला देखने में जी भी नहीं लगता था। यह संशय भी हो रहा था कि कहीं चोरी खुल तो नहीं गयी और चाचाजी हलधर को पकड़कर घर तो नहीं ले गये। आखिर जब शाम हो गयी तो मैंने कुछ रेवड़ियाँ खायीं और हलधर के हिस्से के पैसे जेब में रखकर धीरे-धीरे घर चला। रास्ते मे खयाल आया, मकतब होता चलूँ। शायद हलधर अभी वहीं हों, मगर वहाँ सन्नाटा था। हाँ, एक लड़का खेलता हुआ मिला। उसने मुझे देखते ही ज़ोर से क़हक़हा मारा और बोला — बचा, घर जाओ तो, कैसी मार पड़ती है! तुम्हारे चचा आये थे। हलधर को मारते-मारते ले गये हैं। अजी, ऐसा तानकर घूँसा मारा कि मियाँ हलधर मुँह के बल गिर पड़े। यहाँ से घसीटते ले गये हैं। तुमने मौलवी साहब की तनख्वाह दे दी थी, वह भी ले ली। अभी कोई बहाना सोच लो, नहीं तो बेभाव की पड़ेगी।

मेरी सिट्टी-पिट्टी भूल गयी, बदन का लहू सूख गया। वही हुआ जिसका मुझे शक हो रहा था। पैर मन-मन भर के हो गये। घर की ओर एक-एक क़दम चलना मुश्किल हो गया! देवी-देवताओं के जितने नाम याद थे, सभी की मानता मानी — किसी को लड्डू, किसी को पेड़े, किसी को बताशे। गाँव के पास पहुँचा तो गाँव के डीह का सुमिरन किया क्योंकि अपने हल्क़े मे डीह ही की इच्छा सर्व-प्रधान होती है।

यह सब कुछ किया लेकिन ज्यों-ज्यों निकट आता दिल की धड़कन बढ़ती जाती थी। घटाएँ उमड़ी आती थीं। मालूम होता था आसमान फटकर गिरा ही चाहता है। देखता था — लोग अपने-अपने काम को छोड़-छोड़ भागे जा रहे हैं, गोरू भी पूँछ उठाये घर की ओर उछलते-कूदते चले जाते हैं। चिड़ियाँ अपने घोंसलों की ओर उड़ी चली आती थीं, लेकिन मैं उसी मन्द गति से चला जाता था, मानो पैरों में शक्ति नहीं। जी चाहता था, ज़ोर का बुखार चढ़ आये, या कहीं चोट लग जाय, लेकिन कहने से धोबी गधे पर नहीं चढ़ता। बुलाने से मौत भी नहीं आती, बीमारी का तो कहना ही क्या। कुछ न हुआ और धीरे-धीरे चलने पर भी घर सामने आ ही गया। अब क्या हो? हमारे द्वार पर इमली का एक घना वृक्ष था, मैं उसी की आड़ में छिप गया कि ज़रा और अँधेरा हो जाय तो चुपके से घुस जाऊँ और अम्मा के कमरे में चारपाई के नीचे बैठूँ। जब सब लोग सो जायँगे तो अम्माँ से सारी कथा कह सुनाऊँगा। अम्माँ कभी नहीं मारतीं। ज़रा उनके सामने झूठ-मूठ रोऊँगा तो वह और भी पिघल जायँगी। रात कट जाने पर फिर कौन पूछता है। सुबह तक सबका गुस्सा ठण्डा हो जायगा। अगर ये मंसूबे पूरे हो जाते तो इसमें सन्देह नहीं कि मै बेदाग़ बच जाता। लेकिन वहाँ तो विधाता को कुछ और ही मंज़ूर था। मुझे एक लड़के ने देख लिया और मेरे नाम की रट लगाते हुए सीधे मेरे घर में भागा। अब मेरे

लिए कोई आशा न रही । लाचार घर मे दाख़िल हुआ तो सहसा मुँह से एक चीख़ निकल गयी, जैसे मार खाया हुआ कुत्ता किसी को अपनी ओर आता देखकर भय से चिल्लाने लगता है । बरोठे में पिता जी बैठे थे । पिता जी का स्वास्थ्य इन दिनों कुछ ख़राब हो गया था । छुट्टी लेकर घर आये हुए थे । यह तो नहीं कह सकता कि उन्हे शिकायत क्या थी पर वह मूँग की दाल खाते थे और सन्ध्या समय शीशे के गिलास मे एक बोतल मे से कुछ उँडेल-उँडेलकर पीते थे । शायद यह किसी तजुर्बेकार हकीम की बतायी हुई दवा थी । दवाएँ सब बसानेवाली और कड़वी होती है । यह दवा भी बुरी ही थी, पर पिता जी न जाने क्यों इस दवा को खूब मजा ले-लेकर पीते थे । हम जो दवा पीते है तो आँखें बन्द करके एक ही घूंट में गटक जाते है, पर शायद इस दवा का असर धीरे-धीरे पीने में ही होता हो । पिता जी के पास गाँव के दो-तीन और कभी-कभी चार-पाँच और रोगी भी जमा हो जाते, और घण्टों दवा पीते रहते थे । रोगियों की मण्डली जमा थी, मुझे देखते ही पिता जी ने लाल-लाल आँखें करके पूछा — कहाँ थे अब तक ?

मैंने दबी ज़बान से कहा — कहीं तो नहीं ।

'अब चोरी की आदत सीख रहा है ? बोल, तूने रुपया चुराया कि नहीं ?'

मेरी जबान बन्द हो गयी । सामने नंगी तलवार नाच रही थी : शब्द भी निकलते हुए डरता था ।

पिता जी ने जोर से डाँटकर पूछा — बोलता क्यों नहीं ? तूने रुपया चुराया कि नहीं ?

मैंने जान पर खेलकर कहा — मैंने कहाँ ....

मुँह से पूरी बात भी न निकल पायी थी कि पिता जी विकराल रूप धारण किये, दाँत पीसते, झपटकर उठे और हाथ उठाये मेरी ओर चले । मैं जोर से चिल्लाकर रोने लगा — ऐसा चिल्लाया कि पिता जी भी सहम गये । उनका हाथ उठा ही रह गया । शायद समझे कि जब अभी से इसका यह हाल है तब तमाचा पड़ जाने पर कही इसकी जान न निकल जाय । मैंने जो देखा कि मेरी हिकमत काम कर गयी, तो और भी गला फाड़-फाड़कर रोने लगा । इतने मे मण्डली के दो-तीन आदमियों ने पिताजी को पकड़ लिया और मेरी ओर इशारा किया कि भाग जा ! बच्चे बहुधा ऐसे मौके पर और भी मचल जाते है, और व्यर्थ मार खा जाते है । मैंने बुद्धिमानी से काम लिया ।

लेकिन अन्दर का दृश्य इससे कहीं भयंकर था । मेरा तो खून सर्द हो गया । हलधर के दोनों हाथ एक खम्भे से बँधे थे, सारी देह धूल-धूसरित हो रही थी, और वह अभी तक सिसक रहे थे । शायद वह आँगन भर में लोटे थे । ऐसा मालूम हुआ कि सारा आँगन उनके आँसुओं से भीग गया है । चाची हलधर को

डाँट रही थीं, और अम्माँ बैठी मसाला पीस रही थीं। सबसे पहले मुझ पर चाची की निगाह पड़ी। बोलीं — लो, वह भी आ गया। क्यों रे, रुपया तूने चुराया था कि इसने ?

मैने निःशंक होकर कहा — हलधर ने।

अम्माँ बोलीं — अगर उसी ने चुराया था, तो तूने घर आकर किसी से कहा क्यों नहीं ?

अब झूठ बोले बग़ैर बचना मुश्किल था। मैं तो समझता हूँ कि जब आदमी को जान का खतरा हो, तो झूठ बोलना क्षम्य है। हलधर मार खाने के आदी थे, दो-चार घूँसे और पड़ने से उनका कुछ न बिगड़ सकता था। मैने मार कभी न खायी थी। मेरा तो दो ही चार घूँसों में काम तमाम हो जाता। फिर हलधर ने भी तो अपने को बचाने के लिए मुझे फँसाने की चेष्टा की थी। नहीं तो चाची मुझसे यह क्यों पूछतीं — रुपया तूने चुराया या हलधर ने ? किसी भी सिद्धान्त से मेरा झूठ बोलना इस समय स्तुत्य नहीं, तो क्षम्य ज़रूर था। मैंने छूटते ही कहा — हलधर कहते थे किसी से बताया, तो मार ही डालूंगा।

अम्माँ — देखा, वही बात निकली न ! मै तो कहती ही थी कि बच्चा की ऐसी आदत नहीं, पैसा तो हाथ से छूता ही नहीं लेकिन सब लोग मुझी को उल्लू बनाने लगे।

हल० — मैने तुमसे कब कहा था कि बतलाओगे, तो मारूँगा ?

मैं — वहीं तालाब के किनारे तो ! ●

थोड़ी-सी पढ़ाई थी, ढेरों उछलकूद। चिबिल्लेपन की इन्तहा नहीं। कभी बन्दर-भालू का नाच है तो कभी आपस में ही घुड़दौड़ हो रही है। रामू, रघुनाथ, पिरथी, पदारथ, बाँगुर, गोबर्द्धन और और भी न जाने कितने, पूरी फ़ौज थी। तीन महीने मुतवातिर आमों की ढेलेबाज़ी चलती। इतने कच्चे आम खाये जाते कि फ़सल भर चोपी लग-लगकर मुँह फदका रहता। आम में जाली पड़ जाती तो फिर पना भी शुरू हो जाता। किसी के यहाँ से नमक आता, किसी के यहाँ से ज़ीरा, किसी के यहाँ से हींग, किसी के यहाँ से नयी हँडिया के लिए पैसा। फिर कोई हँडिया लाने चला जाता, बाक़ी लोग बाँस की पत्ती बटोरने में लग जाते। पास ही बँसवारी थी। फिर आग सुलगायी जाती, आम भूने जाते। पना बनाने का पूरा एक शास्त्र था और इस शास्त्र के दो ही एक आचार्य थे। उनमें नवाब नहीं थे। पर हाँ, हिस्सा लेने में सबसे आगे रहते थे। यह तो गर्मी का नक़्शा था। जाड़े के दिनों में ढेरों ऊख तोड़ लाये। उसी में यह भी बाज़ी लगी हुई है कि ऊख की चेप कौन सबसे बड़ी निकाल सकता है। कभी कोल्हाड़े में चले गये जहाँ गुड़ बन रहा होता, वहाँ पत्तुए रस से (जो खोई को फिर से पानी में भिगोकर तैयार किया जाता है) तबीयत तर की या कच्चा गुड़ लेकर दाँत से उसके

लड़ने का मजा देखा। गुड़ से मुंशीजी को बेहद प्रेम है। गुड़ मिठाइयों का बादशाह है। सारी जिन्दगी गुड़ का यह प्रेम इसी तरह बना रहा। खाने के साथ थोड़ा-सा गुड़ ज़रूरी था।

गुड़ की चोरी का एक निहायत दिलचस्प क़िस्सा, अपने बचपन का, मुंशीजी ने 'होली की छुट्टी' में सुनाया है —

'अम्माँ तीन महीने के लिए अपने मैके या मेरी ननिहाल गयी थीं, और मैंने तीन महीने में एक मन गुड़ का सफाया कर दिया था। यही गुड़ के दिन थे। नाना बीमार थे, अम्माँ को बुला भेजा था। मेरा इम्तिहान पास था, इसलिए मैं उनके साथ न जा सका .... जाते वक़्त उन्होंने एक मन गुड़ लेकर एक मटके में रखा और उसके मुँह पर एक सकोरा रखकर मिट्टी से बन्द कर दिया। मुझे सख्त ताकीद कर दी कि मटका न खोलना। मेरे लिए थोड़ा गुड़ एक हाँड़ी में रख दिया था। वह हाँड़ी मैंने एक हफ्ते में सफ़ाचट कर दी। सुबह को दूध के साथ गुड, दोपहर को रोटियों के साथ गुड़, तीसरे पहर दानों के साथ गुड़, रात को फिर दूध के साथ गुड़। यहाँ तक जायज़ खर्च था, जिस पर अम्माँ को भी कोई एतराज़ न हो सकता। मगर स्कूल से बार-बार पानी पीने के बहाने घर में आता और दो-एक पिण्डियाँ निकालकर खा लेता। उसकी बजट में कहाँ गुंजाइश थी। और मुझे गुड़ का कुछ ऐसा चस्का पड़ गया कि हर वक़्त वही नशा सवार रहता। मेरा घर में आना गुड़ के सिर शामत आना था। एक हफ़्ते में हाँड़ी ने जवाब दे दिया। मगर मटका खोलने की सख्त मनाही थी और अम्माँ के घर आने में अभी पौने तीन महीने बाक़ी थे। एक दिन तो मैंने बड़ी मुश्किल से जैसे-तैसे सब्र किया लेकिन दूसरे दिन एक आह के साथ सब्र जाता रहा और मटके की एक मीठी चितवन के साथ होश रुखसत हो गया।'

फिर तो इस दो अंगुल की जीभ ने क्या-क्या नाच नचाया है —

'अपने को कोसता, धिक्कारता — गुड़ तो खा रहे हो मगर बरसात में सारा शरीर सड़ जायगा, गंधक का मलहम लगाये घूमोगे, कोई तुम्हारे पास बैठना भी न पसन्द करेगा! क़समे खाता, विद्या की, माँ की, स्वर्गीय पिता की, गऊ की, ईश्वर की ....'

कुछ भी काम न आया, तो 'बड़े भक्तिभाव से ईश्वर से प्रार्थना की — भगवान्, यह मेरा चंचल लोभी मन मुझे परीशान कर रहा है, मुझे शक्ति दो कि उसको वश मे रख सकूँ। मुझे अष्टधात की लगाम दो जो उसके मुँह मे डाल दूँ!'

मगर सब बेसूद। कोठरी में ताला लगाकर एक बार उसकी चाभी दीवार की संधि में डाल दी जाती है और दूसरी बार कुएँ मे फेंक दी जाती है, मगर तब भी रिहाई नहीं मिलती और वह मन भर का मटका पेट में समा जाता है!

इस तरह की दिलचस्पियों की नवाब को कुछ कमी न थी। कभी दो-चार

लोग जाकर पोखरी से मछली मार लाये और भूनकर खा गये । और कभी इमली के नीचे चटाचट गोली की चोटें होतीं, चिये से ताक-जूस, चित-पट होता जो कि तक़दीर के चित-पट से रत्ती भर घटकर नहीं था क्योंकि उसमे भी बाजाब्ता खज़ाने जीते और हारे जाते, कोई दरिद्र हो जाता, कोई मालामाल हो जाता — मतलब यह कि दिलचस्पी के सामानों की कुछ कमी न थी, और हाँ, रात को दादी से कहानी सुनी जाती और झगड़ा होता कि कहानी कहते समय दादी का मुँह भैया (बलभद्र) की तरफ़ क्यों हो जाता है ।

इस तरह माँ और दादी के लाड़-प्यार में लिपटे हुए दिन बड़ी मस्ती में बीत रहे थे जब कि आसमान से इस बच्चे का इतना सुख न देखा गया और उसी साल माँ ने बिस्तर पकड़ लिया । मुंशी अजायब लाल की ही तरह वह भी संग्रहणी की पुरानी मरीज़ थीं । इस बार का हमला जानलेवा साबित हुआ । मुशी अजायब लाल उन दिनों इलाहाबाद में थे और वहीं नवाब की माँ बीमार पड़ीं । छः महीने बीमार रहीं । नवाब तब आठवें साल में चल रहा था और उसकी बहन सुग्गी चौदह-पन्द्रह की थी । उसी साल उसका ब्याह मिर्ज़ापुर के पास लहौली नाम के गाँव में हुआ था । गौना भी हो गया था । माँ के मरने के आठ-दस रोज़ पहले आयीं । दादी भी आयीं जो कि लमही में रहती थीं । नवाब माँ के सिरहाने बैठा पंखा झलता रहता और उसके चचेरे बड़े भाई बलदेव लाल, जो बीस बरस के नौजवान थे और एक अँग्रेज़ के यहाँ टेनिस की गोली उठाने पर नौकर थे, दवा-दारू के इंतज़ाम में रहते । काफ़ी इलाज हुआ लेकिन व्यर्थ ।

नवाब के आठवें साल में वह चल बसीं और उसी दिन वह नवाब जिसे माँ पान के पत्ते की तरह फेरती थी, डिठौना लगाकर घर से निकलने देती थी और आँचल में छिपाये फिरती थी, कभी सर्दी से, कभी गर्मी से और कभी सिहानेवालों की डीठ से, देखते-देखते सयाना हो गया । अब उसके सर पर तपता हुआ नीला आकाश था, नीचे जलती हुई भूरी धरती थी, पैरों में जूते न थे, बदन पर साबित कपड़े न थे, इसलिए नहीं कि यकबयक पैसे का टोटा पड़ गया बल्कि इसलिए कि इन सब बातों की फ़िक्र रखनेवाली माँ की आँखें मुँद गयी थीं । बाप यों भी कब माँ की जगह ले पाता है, उस पर से वह काम के बोझ से दबे रहते । उनके पैर में चक्कर तो जैसे था ही, हर साल दो साल छः महीने में उनका तबादला होता रहता, कभी बाँदा तो कभी बस्ती, कभी गोरखपुर तो कभी कानपुर, कभी इलाहाबाद तो कभी लखनऊ, कभी जीयनपुर तो कभी बड़हलगंज, किसी एक जगह जमकर रहने न पाते, ऊपर से काम का बोझ, खासी परेशान ज़िन्दगी थी । बेटे को उनके साथ की, उनकी दोस्ती की भी ज़रूरत हो सकती है — इसके लिए न तो उनके पास समझ थी और न समय । 'कज़ाकी' में लेखक ने शायद अपनी ही बात बच्चे के मुँह से कहलवायी है —

'बाबूजी बड़े गुस्सेवर थे। उन्हे काम बहुत करना पड़ता था, इसी से बात-बात पर झुँझला पड़ते थे। मैं तो उनके सामने कभी आता ही न था, वह भी मुझे कभी प्यार न करते थे। घर मे वह केवल दो बार घण्टे-घण्टे भर के लिए भोजन करने आते थे, बाक़ी सारे दिन दफ़्तर मे लिखा करते थे। उन्होंने बार-बार एक सहकारी के लिए अफ़सरों से विनय की थी, पर इसका कुछ असर न हुआ था। यहाँ तक कि तातील के दिन भी बाबूजी दफ्तर ही मे रहते थे। .... बाबूजी मुझे प्यार तो कभी न करते थे, पर पैसे खूब देते थे। शायद अपने काम में व्यस्त रहने के कारण, मुझसे पिण्ड छुड़ाने के लिए इसी नुस्खे को सबसे आसान समझते थे।' प्यार, दोस्ती, संग-साथ नवाब को जो कुछ मिलता अपनी माँ से मिलता, भले पैसे का नाम सुनते ही उनकी त्योरियाँ बदल जाती हों। सो माँ अब नहीं रही। माँ जैसा ही कुछ प्यार बड़ी बहन से मिलता था, वह अपने घर चली गयी। नवाब की दुनिया घर के नाते सूनी हो गयी। पिताजी का तो वही हाल था। थके-माँदे शाम को घर लौटते और बोतल लेकर बैठ जाते। पीते अपनी मात्रा भर ही थे, मगर हर शाम पीते थे। एक छोटी-सी गिलसिया थी, वही उनका नपना था।

सूनी दुनिया में बराबर कौन रह सकता है। ज़िन्दगी खुद उसे भरने का उपाय कर देती है, जैसे कि हर घाव वह भर देती है। बुड्ढे स्मृतियों की बैसाखी लेकर चलने लगते हैं और गुजरे वक़्तों के प्रेत आकर उनकी दुनिया को भर देते हैं। नवाब तो अभी बच्चा था, बहुत ही शरीर, बहुत ही खिलंडरा, और सारी ज़िन्दगी उसके सामने पड़ी थी।

पत्नी के मरने के कुछ ही दिन बाद मुशी अजायब लाल बीमार पड़े। ठीक होने भी न पाये थे कि फिर तबादले का हुक्म आया। नयी जगह, सूने घर में नवाब को ले जाना पागलपन होता, इसलिए नवाब को फिर लमही में ही रखने की ठहरी। इलाहाबाद से चलने लगे तो उन्होंने बलदेव से भी साथ आने को कहा। पर बलदेव साथ नहीं आये। कुछ ही वक़्त बाद उनके साहब की, जो डाक-तार विभाग का कोई बड़ा अफ़सर था, इन्दौर की बदली हुई। वह बलदेव लाल को भी, जो मुंशी अजायब लाल के चले जाने के बाद उसी के यहाँ रहते थे, अपने साथ इन्दौर लेता गया और उन्हे तार का लाइन्समैन बनवा दिया। वह पन्द्रह बरस इन्दौर में रहे आये और घर का मुँह नहीं देखा। बाद को अपने छोटे भाई बलभद्र को भी उन्होंने अपने पास बुलाकर अपने ही समान लाइन्समैन बनवा दिया पर बलभद्र कच्ची उम्र में ही चल बसे।

नवाब की अब फिर अपनी वही पुरानी दुनिया थी — वही मौलवी साहब और वही खेत-मैदान, ऊख-मटर, आम-इमली, दौड़-भाग, गुल्ली-गोली। फ़र्क़ बस इतना था कि सर पर अब और भी कोई न था, माँ तो कभी किसी काम के

लिए रोकती भी थीं, डाँटती भी थीं, दादी तो बस लाड़ करती थीं, कुछ तो शायद इसलिए भी कि माँ अभी हाल मे ही मरी थी, उस ग़म को बच्चा अगर खेल-कूद में भूल जाये ....

लिहाजा जैसे-जैसे समय बीतता गया, उम्र के साथ-साथ आवारागर्दी भी बढती गयी। दो बरस बाद पिता ने फिर ब्याह कर लिया था, लेकिन उससे नवाब का अकेलापन न घटना था न घटा और वह अलग अपनी दुनिया मे घूमता रहा, खेलता रहा, दादी से कहानी सुनता रहा। किसी कदर वह एक जंगली पौदे की बाढ़ थी, बिलकुल निर्बाध, उन्मुक्त। इसे उसका अच्छा पहलू कह सकते हैं। लेकिन कुछ बुरा पहलू भी था — बारह-तेरह बरस की उम्र तक पहुँचते-पहुँचते उसे सिगरेट-बीडी का चस्का लग चुका था और अपने ही शब्दों में 'उन बातों का ज्ञान हो गया था जो कि बच्चों के लिए घातक हैं।' बिना माँ के बच्चे का ऐसा ही हाल होता है। न हो, तो अचरज की बात है। पता नहीं माँ का प्यार किस रहस्यपूर्ण ढंग से बच्चे का परिष्कार किया करता है। दोनों में से किसी को पता नहीं चलता पर वह छाया अपना काम करती रहती है। वह प्यार छिन जाये, सर पर से वह हाथ हट जाये तो एक ऐसी कमी महसूस होती है जो बच्चे को अन्दर से तोड़ देती है। और उसके साथ ही बहुत से साँचे, बहुत-सी मूर्तियाँ टूट जाती है जिनको बनाने मे बरसों लगे थे।

यह कमी कितनी गहरी, कितनी तड़पानेवाली रही होगी जो सारी जिन्दगी यह आदमी उससे उबर नहीं सका और वह टीस बराबर पहाड़ों से टकरानेवाली सारस की आवाज़ की तरह उसकी नसों मे गूँजती रही। बार-बार उसने ऐसे पात्रों की सृष्टि की जिनकी माँ सात-आठ साल की ही उम्र में जाती रही और फिर दुनिया सूनी हो गयी। 'कर्मभूमि' मे अमरकान्त कहता है —

'ज़िन्दगी की वह उम्र जब इंसान को मुहब्बत की सबसे ज़्यादा ज़रूरत होती है, बचपन है। उस वक़्त पौदे को तरी मिल जाय तो जिन्दगी भर के लिए उसकी जड़ें मज़बूत हो जाती है। उस वक़्त खूराक न पाकर उसकी ज़िन्दगी खुश्क हो जाती है। मेरी माँ का उसी ज़माने में देहान्त हुआ और तब से मेरी रूह को खूराक नहीं मिली। वही भूख मेरी ज़िन्दगी है।'

दूसरी माँ के आ जाने से बात कुछ नहीं बदली, उलटे उसका अकेलापन और बढ़ गया क्योंकि अब वह दादी के साथ लमही में नहीं बल्कि अपनी नयी माँ के साथ गोरखपुर मे रह रहा था और पिता को बेटे की ओर ध्यान देने का और भी कम समय मिल रहा था। शायद अपनी कुछ उसी मनोदशा को उन्होंने 'कर्मभूमि' में यों व्यक्त किया है —

'समरकान्त ने मित्रों के कहने-सुनने से दूसरा विवाह कर लिया था। उस सात साल के बालक ने नयी माँ का बड़े प्रेम से स्वागत किया, लेकिन उसे जल्द

मालूम हो गया कि उसकी नयी माँ उसकी जिद और शरारतों को उस क्षमादृष्टि से नही देखती जैसे उसकी माँ देखती थी। वह अपनी माँ का अकेला लाड़ला था। बड़ा ज़िद्दी, बड़ा नटखट। जो बात मुँह से निकल जाती, उसे पूरा करके ही छोडता। नयी माताजी बात-बात पर डाँटती थीं। यहाँ तक कि उसे माता से द्वेष हो गया। जिस बात को वह मना करती, उसे अदबदाकर करता। पिता से भी ढीठ हो गया। पिता और पुत्र मे स्नेह का बन्धन न रहा।'

यह मनःस्थिति ठीक वह थी जिसमे नवाब के बिलकुल बहक जाने का पूरा सामान था, लेकिन प्रकृति जैसे अपने और तमाम जंगली फूल-पौदों को नष्ट होने से बचाती है जिनकी सेवा-टहल के लिए कोई माली नहीं होता, उसी तरह इस आवारा छोकरे को भी बचा रही थी। उसको बचाने के लिए उसने ढंग भी ऐसा ही अख्तियार किया जो उसकी प्रतिभा के अनुकूल था।

बस एक हल्का-सा मोड़ दे दिया। आवारागर्दी अब भी चल रही थी — मगर मोटी-मोटी किताबों के पन्ने मे, जिनका रस छन-छनकर उसके भीतर के किस्सागो को खूराक पहुँचा रहा था। जो भूख उसके भीतर न जाने कब से, शायद जन्म से ही पल रही थी, जिसे दादी की कहानियों ने और उकसा दिया था, अब नवाब खुद उसके लिए खूराक जुटा रहा था — और इस तरह फिर वह आवारागर्दी आवारागर्दी न रह गयी। गुल्ली-डण्डे और मटरगश्ती की जगह तलिस्म और ऐयारी की मोटी-मोटी किताबों ने ले ली, ऐसी कि 'पूरी एन्सा-इक्लोपीडिया समझ लीजिए। एक आदमी तो अपने साठ वर्ष के जीवन मे उनकी नक़ल भी करना चाहे तो नही कर सकता, रचना तो दूर की बात है।' यह मौलाना फैजी के 'तलिस्म होशरुबा' की तारीफ़ है जिसके पचीसों हज़ार पन्ने तेरह साल के नवाब ने दो-तीन बरस के दौरान मे पढे और और भी न जाने कितना कुछ चाट डाला जैसे रेनाल्ड की 'मिस्ट्रीज़ ऑफ द कोर्ट ऑफ़ लण्डन' की पचीसों किताबों के उर्दू तर्जुमे, मौलाना सज्जाद हुसेन की हास्य-कृतियाँ, 'उमरावजान अदा' के लेखक मिर्ज़ा रुसवा और रतननाथ सरशार के ढेरों क़िस्से। उपन्यास खत्म हो गये तो पुराणों की बारी आयी। नवलकिशोर प्रेस ने बहुत से पुराणों के उर्दू अनुवाद छापे थे, उन पर टूट पड़े।

कोई पूछे कि इतनी सब किताबें इस लड़के को मिलती कहाँ थीं ?

'रेती पर एक बुकसेलर बुद्धिलाल नाम का रहता था। मै उसकी दुकान पर जा बैठता था और उसके स्टाक से उपन्यास ले-लेकर पढता था। मगर दुकान पर सारे दिन तो बैठ न सकता था, इसलिए मै उसकी दुकान से अंग्रेज़ी पुस्तकों की कुजियाँ और नोट्स लेकर अपने स्कूल के लड़कों के हाथ बेचा करता था और उसके मुआवजे में दुकान से उपन्यास घर लाकर पढ़ता था। दो-तीन वर्षों में मैंने सैकड़ों ही उपन्यास पढ़ डाले होंगे।'

ग़रज कि बाद मे, बहुत बाद में, कुछ दोस्तों ने उन्हें किताबी कीड़ा का जो लक़ब दिया था उसका यह पूर्वाभास था। इससे हल्का एक पूर्वाभास तो अब से तीन बरस पहले मिला, जब पिता जी की शादी के मौके पर नवाब ने लोगों की दिल-बस्तगी के लिए या बैतबाजी की प्रतियोगिता मे, जो कि कायस्थों की शादी मे न तब कोई अनहोनी चीज थी न अब है, इतनी ग़जले सुनायी थी कि घराती-बराती सब दंग रह गये। उस वक्त नवाब मिशन स्कूल मे आठवीं जमात में पढते थे जो तीसरा दर्जा कहलाता था। लेकिन गोरखपुर वह शायद उसके भी दो बरस पहले पहुँच गये थे और उनकी अंग्रेजी पढाई रावत पाठशाला में शुरू हुई। उन दिनों उनकी नयी माँ के भाई विजयबहादुर भी वहीं रहते थे। उनसे नवाब की बहुत बनती थी, उम्र भी लगभग एक ही थी। अक्सर दोनों बालेमियाँ के मैदान में निकल जाते और पतंगों के पेंच देखते। नयी माँ का पहला बच्चा गुलाब तब डेढ-दो साल का था और मुमकिन है कि उसकी आमद ने घर से नवाब का लगाव और कम कर दिया हो। यहीं लगभग दो बरस बाद उनके दूसरे बच्चे महताब का जन्म हुआ।

जहाँ तक नवाब की बात है, उसको घर से यों ही बहुत कम मतलब था और अब तो उसके पास होश उड़ा देनेवाले तलिस्मों की अलग अपनी एक दुनिया थी, और हातिमताई और चहार दरवेश जैसे संगी-साथी थे जिनके संग-संग वह कभी भेस बदलकर अँधेरे तहखानों में घुसता था और अक्सर जंगलों व रेगिस्तानों में भटकता फिरता था।

पढ़ाई का यह हाल था तो कैसे मुमकिन था कि कुछ लिखने का भी खयाल नवाब के दिल मे न आता, जब कि बीज पहले से ही मौजूद था। लेकिन बड़े आश्चर्य की और काफ़ी गहरे आशय की बात है कि तेरह साल का नवाब जब लिखने बैठा तो उसने तलिस्म और ऐयारी की राह नहीं पकड़ी, बावजूद उन सैकड़ों किताबों के जिन्हें वह घोलकर पी चुका था और जो निश्चय ही उसके दिमाग पर छायी रही होंगी। कोई ताक़त जो खुद उससे बड़ी थी उसका हाथ पकडकर उसे सामाजिकता के उस रास्ते पर ले गयी जिसे भविष्य में उसका अपना ख़ास रास्ता बनना था, जिसे अपने पैरों से रौद-रौदकर उसने पक्का किया, जिस पर उसके पैरों के गहरे निशान है जो जल्दी मिटनेवाले नही है। शुरू की कुछ कहानियों में सामाजिकता के साथ-साथ कहानी के ढाँचे में यह तलिस्मी-ऐयारी रंग भी थोड़ा-बहुत बोला मगर उसकी पहली रचना, जो उसका परिचय-पत्र था, इस चीज़ से कतई पाक है।

वह रचना, उसकी पहली रचना, जिसे शायद चिराग़ अली के सिपुर्द कर दिया गया, अपने तरह की एक बेजोड़ चीज़ थी जिस पर शायद किसी अच्छे लेखक को भी शर्म न आती। उसके रचे जाने की कहानी खुद मुंशी जी ने बहुत रस ले-लेकर कही है —

● मेरे एक नाते के मामू[1] कभी-कभी हमारे यहाँ आया करते थे। अधेड़ हो गये थे लेकिन अभी तक बिन-ब्याहे थे। पास मे थोड़ी-सी जमीन थी, मकान था, लेकिन घरनी के बिना सब कुछ सूना था। इसीलिए घर पर जी न लगता था, नातेदारियों में घूमा करते थे और सबसे यही आशा रखते थे कि कोई उनका ब्याह करा दे। इसके लिए सौ दो सौ ख़र्च करने को भी तैयार थे। क्यों उनका विवाह नहीं हुआ, यह आश्चर्य था। अच्छे ख़ासे हृष्ट-पुष्ट आदमी थे, बड़ी-बड़ी मूँछें, औसत क़द, साँवला रंग। गाँजा पीते थे, इससे आँखें लाल रहती थीं। अपने ढंग के धर्मनिष्ठ भी थे। शिवजी को रोज़ाना जल चढ़ाते थे और मांस-मछली नहीं खाते थे।

आखिर एक बार उन्होंने भी वही किया जो बिन-ब्याहे लोग अक्सर किया करते हैं — एक चमारिन के नयन-बाणों से घायल हो गये। वह उनके यहाँ गोबर पाथने, बैलों को सानी-पानी देने और इसी तरह के दूसरे फुटकर कामों के लिए नौकर थी। जवान थी, छबीली थी, मामू साहब का तृषित हृदय मीठे जल की धारा देखते ही फिसल पड़ा। बातों-बातों मे उससे छेड़-छाड़ करने लगे। वह इनके मन का भाव ताड़ गयी, ऐसी अल्हड़ न थी, और नख़रे करने लगी। केशों मे तेल भी पड़ने लगा, चाहे सरसों का ही क्यों न हो। आँखों में काजल भी चमका, ओठों पर मिस्सी भी आयी और काम मे ढिलाई भी शुरू हुई। कभी दोपहर को आयी और झलक दिखाकर चली गयी, कभी साँझ को आयी और एक तीर चलाकर चली गयी। बैलों को सानी-पानी मामू साहब खुद दे देते, गोबर दूसरे उठा ले जाते। युवती से बिगड़ते क्योंकर, वहाँ तो अब प्रेम का उदय हो गया था। होली में उसे प्रथानुसार एक साड़ी दी, मगर अब की गजी की साड़ी न थी, ख़ूबसूरत-सी सवा दो रुपये की चुँदरी थी। होली की त्योहारी भी मामूल से चौगुनी कर दी और यह सिलसिला यहाँ तक बढ़ा कि वह चमारिन ही घर की मालकिन हो गयी।

एक दिन संध्या समय चमारों ने आपस मे पंचायत की। 'बड़े आदमी है तो हुआ करें, क्या किसी की इज्जत लेंगे? एक इन लाला के बाप थे कि कभी किसी मेहरिया की ओर आँख उठाकर न देखा (हालाँकि यह सरासर गलत था) और एक यह है कि नीच जात की बहू-बेटियों पर भी डोरे डालतें हैं।' समझाने-बुझाने का मौक़ा न था। 'समझाने से लाला मानेंगे तो नहीं, उलटे और कोई मामला खड़ा कर देंगे। इनके कलम घुमाने की तो देर है!' इसलिए निश्चय हुआ कि लाला साहब को ऐसा सबक़ देना चाहिए कि हमेशा के लिए याद हो जाय।

---

१. नाम छिपा गये है। सुनते है कि यह मुशी रूपनारायन नाम के एक सज्जन थे, विजयबहादुर के फुफेरे भाई।

इज्जत का बदला खून से ही चुकता है, लेकिन मरम्मत से भी कुछ उसकी पुरौती हो ही सकती है।

दूसरे दिन शाम को जब चम्पा मामू साहब के घर आयी तो उन्होंने अन्दर का द्वार बन्द कर दिया। महीनों के असमंजस, हिचक और धार्मिक संघर्ष के बाद आज मामू साहब ने अपने प्रेम को व्यावहारिक रूप देने का निश्चय किया था। चाहे कुछ हो जाय, कुल-मरजाद रहे या जाय, बाप-दादा का नाम डूबे या उतराय !

उधर चमारों का जत्था ताक मे था ही। इधर किवाड बन्द हुए, उधर उन्होंने खटखटाना शुरू किया। पहले तो मामू साहब ने समझा, कोई असामी मिलने आया होगा, किवाड़ बन्द पाकर लौट जायगा, लेकिन जब आदमियों का शोर-गुल सुना तो घबड़ाये। जाकर किवाड़ों की दराज से झाँका, कोई बीस-पच्चीस चमार लाठियाँ लिये, द्वार रोके खडे किवाड़ों को तोड़ने की कोशिश कर रहे थे। अब करें तो क्या करें, भागने का कोई रास्ता नही, चम्पा को कही छिपा नही सकते। समझ गये कि शामत आ गयी। आशिक़ी इतनी जल्द गुल खिलायेगी यह क्या जानते थे, नही इस चमारिन पर दिल को आने ही क्यों देते। उधर चम्पा इन्हीं को कोस रही थी — तुम्हारा क्या बिगड़ेगा, मेरी तो इज्जत लुट गयी। घरवाले मूड ही काटकर छोडेंगे। कहती थी, अभी किवाड न बन्द करो, हाथ-पाँव जोड़ती थी, मगर तुम्हारे सिर पर तो भूत सवार था। लगी मुँह में कालिख कि नही ?

मामू साहब बेचारे इस कूचे में कभी न आये थे। कोई पक्का खिलाड़ी होता तो सौ उपाय निकाल लेता, लेकिन मामू साहब की तो जैसे सिट्टी-पिट्टी भूल गयी। बरौठे मे थरथर काँपते हनुमान चालीसा का पाठ करते हुए खड़े थे। कुछ न सूझता था।

और उधर द्वार पर कोलाहल बढ़ता जा रहा था, यहाँ तक कि सारा गाँव जमा हो गया। बाम्हन, ठाकुर, कायस्थ, सभी तमाशा देखने और हाथ की खुजली मिटाने आ पहुँचे। इससे ज्यादा मनोरंजक और स्फूर्तिवर्द्धक तमाशा और क्या होगा कि एक मर्द और एक औरत को साथ घर मे बंद पाया जाय ! बढई बुलाया गया, किवाड़ फाड़े गये और मामू साहब भूसे की कोठरी में छिपे हुए मिले। चम्पा आँगन मे खड़ी रो रही थी। द्वार खुलते ही भागी। कोई उससे नहीं बोला। मामू साहब भागकर कहाँ जाते ? वह जानते थे उनके लिए भागने का रास्ता नही है। मार खाने के लिए तैयार बैठे थे। मार पड़ने लगी और बेभाव की पड़ने लगी। जिसके हाथ जो कुछ लगा — जूता, छड़ी, छाता, लात, घूँसा, सभी अस्त्र चले। यहाँ तक कि मामू साहब बेहोश हो गये और लोगों ने उन्हें मुर्दा समझकर छोड़ दिया। अब इतनी दुर्गति के बाद वह बच भी गये तो गाँव मे नहीं रह सकते और उनकी ज़मीन पट्टीदारों के हाथ आयेगी !

एक महीने तक तो वह हल्दी और गुड़ पीते रहे। ज्योंही चलने-फिरने लायक़

हुए, हमारे यहाँ आये । अपने गाँववालों पर डाके का इस्तगासा दायर करना चाहते थे ।

अगर उन्होंने कुछ दीनता दिखायी होती तो शायद मुझे हमदर्दी हो जाती, लेकिन उनका वही दमखम था । मुझे खेलते या उपन्यास पढते देखकर बिगडना और रोब जमाना और पिताजी से शिकायत करने की धमकी देना, यह अब मैं क्यों सहने लगा ? अब तो मेरे पास उन्हे नीचा दिखाने के लिए काफी मसाला था ।

आखिर एक दिन मैने यह सारी दुर्घटना नाटक के रूप मे लिख डाली और अपने मित्रों को सुनायी । सब के सब खूब हँसे । मेरा साहस बढा । मैने उसे साफ़-साफ लिखकर वह कापी मामू साहब के सिरहाने रख दी और स्कूल चला गया । ●

फिर भला मामू साहब कैसे टिक जाते, अपना बोरिया-बक़चा उठाया और चलते बने ।

नवाब तब तक शरीर से दुर्बल थे और अब शायद पहली बार उन्हे अपने भीतर की इस नयी शक्ति की चेतना हुई जो मारपीट कर सकने से कहीं ज़्यादा भयंकर थी ! जो काम लाठी-डडे से नही हो सकता वह काम यह क़लम कर सकता है ! मै कमज़ोर हूँ तो क्या, यह एक बड़ा हथियार मुझे मिल गया ! अब कोई मुझे सताकर तो देखे मै उसकी कैसी मिट्टी पलीद करता हूँ ! ऐसी मार मारूँगा कि पानी भी माँगते नही बनेगा !

किसी की खिल्ली उड़ाकर उसका पानी जितनी अच्छी तरह उतारा जा सकता है उतना किसी और तरह नहीं ।

यह एक अच्छी चीज़ मिली । मै क्या जानता था । अब मैं इसी को अपनी ढाल-तलवार बनाऊँगा !

यह नवाब के साहित्यिक जीवन का पहला पाठ था, जिसे वह कभी नहीं भूला । और न शायद एक बार मामू साहब की छीछालेदर करने से उसका जी भरा क्योंकि चालीस बरस बाद 'गोदान' की सिलिया और मातादीन के रूप में चम्पा और मामू साहब फिर जी उठे ।

इससे बिलकुल अलग इसी ज़माने का एक स्मरणीय जीवन-अनुभव वह है जिसकी कहानी उन्होंने बरसों बाद, बड़ी हसरत के साथ 'रामलीला' में कही । कहते हैं —

● इधर एक मुद्दत से रामलीला देखने नहीं गया । बन्दरों के भद्दे चेहरे लगाये, आधी टाँगों का पाजामा और काले रंग का ऊँचा कुर्ता पहने आदमियों को दौड़ते, हू हू करते देखकर अब हँसी आती है .... लेकिन एक ज़माना वह था जब मुझे भी रामलीला मे आनन्द आता था । आनन्द तो बहुत हल्का शब्द है, उसे उन्माद कहना

चाहिए । संयोगवश उन दिनों मेरे घर से बहुत थोडी दूरी पर रामलीला का मैदान था (शायद बाले मियाँ या लाल डिग्गी का मैदान — अ०) और जिस घर मे लीला-पात्रों का रूप-रग भरा जाता था, वह तो मेरे घर से बिलकुल मिला हुआ था । दो बजे दिन से पात्रो की सजावट होने लगती थी .... उनकी देह मे रामरज पीसकर पोती जाती, मुँह मे पाउडर लगाया जाता ओर पाउडर के ऊपर लाल, हरे, नीले रंग की बुँदकियाँ लगायी जाती थीं । सारा माथा, भवे, गाल, ठोढ़ी बुँदकियों से रच उठती थी । एक ही आदमी इस काम मे कुशल था । वही बारी-बारी से तीनों पात्रों का शृङ्गार करता था । रंग की प्यालियों मे पानी लाना, रामरज पीसना, पंखा झलना मेरा काम था ।

निषाद-नौका-लीला का दिन था । मै दो बार लडकों के बहकाने मे आकर गुल्ली-डंडा खेलने लगा था । शृङ्गार देखने न गया । विमान भी निकला, पर मैंने खेलना न छोड़ा । मुझे अपना दाँव लेना था । अपना दाँव छोड़ने के लिए उससे कहीं बढ़कर आत्मत्याग की जरूरत थी जितना मै कर सकता था । अगर दाँव देना होता तो मै कब का भाग खड़ा होता, लेकिन पदाने मे कुछ और ही बात होती है । ख़ैर दाँव पूरा हुआ । अगर मै चाहता तो धाँधली करके दस-पाँच मिनट और पदा सकता था, इसकी काफी गुजाइश थी, लेकिन अब इसका मौका न था । मैं सीधे नाले की तरफ़ दौडा । विमान जल-तट पर पहुँच चुका था । मैंने दूर से देखा — मल्लाह किश्ती लिये आ रहा है । दौड़ा, लेकिन आदमियों की भीड़ मे दौड़ना कठिन था । आखिर जब मै भीड़ हटाता, प्राणपण से आगे बढ़ता घाट पर पहुँचा, तो निषाद अपनी नौका खोल चुका था । रामचन्द्र पर मेरी कितनी श्रद्धा थी । अपने पाठ की चिन्ता न करके उन्हे पढ़ा दिया करता था, जिसमे वह फेल न हो जायँ । मुझसे उम्र ज़्यादा होने पर भी वह नीची कक्षा में पढ़ते थे । लेकिन वही रामचन्द्र नौका पर बैठे इस तरह मुँह फेरे चले जाते थे मानों मुझसे जान-पहचान ही नही । नक़ल मे भी असल की कुछ न कुछ बू आ ही जाती है ।

रामलीला समाप्त हो गयी थी । राजगद्दी होनेवाली थी, पर न जाने क्यों देर हो रही थी । शायद चन्दा कम वसूल हुआ था । रामचन्द्र की इन दिनों कोई बात भी न पूछता था । न घर ही जाने की छुट्टी मिलती थी, न भोजन का ही प्रबन्ध होता था । चौधरी साहब के यहाँ से एक सीधा कोई तीन बजे दिन को मिलता था, बाकी सारे दिन कोई पानी को भी नहीं पूछता । लेकिन मेरी श्रद्धा अभी तक ज्यों की त्यों थी । मेरी दृष्टि मे वह अब भी रामचन्द्र ही थे । घर पर मुझे खाने की जो कोई चीज़ मिलती, वह लेकर रामचन्द्र को दे आता । उन्हे खिलाने में मुझे जितना आनन्द मिलता था, उतना आप खा जाने में कभी न मिलता । कोई मिठाई या फल पाते ही बेतहाशा चौपाल की ओर दौड़ता ।

चलते समय भी रामचन्द्र जी को कुछ नहीं मिला, जब कि आबादीजान तवायफ़ को खुदा जाने क्या-क्या मिला था।

मेरे पास दो आने पैसे पड़े हुए थे। मैने पैसे उठा लिये और जाकर शरमाते-शरमाते रामचन्द्र को दे दिये। उन पैसों को देखकर रामचन्द्र को जितना हर्ष हुआ, वह मेरे लिए आशातीत था। टूट पडे, मानों प्यासे को पानी मिल गया।

वही दो आने पैसे लेकर तीनों मूर्तियाँ बिदा हुई। केवल मै ही उनके साथ क़स्बे के बाहर तक पहुँचाने आया। ●

बचपन की अबोध ममता और वैसी ही अबोध कातरता ....

लेकिन अब हम उस दौर की चौखट पर पहुँच गये है जब कि नवाब का बचपन, अपनी कडवी-मीठी स्मृतियों के साथ, बडी तेजी से पीछे छूटता जा रहा है। अभी उसकी उम्र चौदह साल है, बचपन के बीत जाने की उम्र नही है, केवल वयः सधि है। पर यह सब अब थोडे दिनों का खेल है। माँ को मरे छः साल बीत चुके है। इस बीच उसने बहुत कुछ देखा है, सहा है, सीखा है और अकाल प्रौढ़ता, जो कुछ तो उसकी प्रतिभा का ऋण-शोध है और कुछ उसकी परिस्थितियों का, उसका दरवाज़ा खटखटा रही है।

इस बार मुंशी अजायबलाल गोरखपुर मे बहुत लंबे टिक गये थे, इतना शायद इसके पहले और कही भी रहने का मौक़ा नही मिला था, लगभग चार साल। इस बीच नवाब ने मिशन स्कूल से आठवाँ दर्जा ज्यों-त्यों पास कर लिया था। ज़हीन थे मगर स्कूली किताबों में जी न लगता था क्योंकि तलिस्मी कहानियों की वजह से होश उड़ा रहता था और जो मजा हातिमताई की संगत में था वह भला मास्टर साहब की संगत मे कहाँ। लस्टम-पस्टम पास हो जाते थे लेकिन हाँ, हिसाब एक मुस्तक़िल हौआ था जिसके नाम से गरीब का हलक़ सूखता था।

ख़ैर, तो नवाब ने आठवाँ पास कर लिया और तभी मुंशी अजायबलाल की बदली जमनिया की हो गयी। उनकी सेहत पिछले दिनों बहुत गिर गयी थी और बराबर गिरती जा रही थी। दूसरी पत्नी से उनका पहला लड़का गुलाब तब दो-तीन साल का था। और दूसरा, महताब, हाल में ही पैदा हुआ था। नवाब को अब नवें दर्जे मे नाम लिखाना था जो कि बनारस में ही संभव था। पिताजी ने पूछा, कितना खर्चा लगेगा? नवाब ने कहा — पाँच रुपया दे दिया कीजियेगा। .... मगर पाँच रुपये मे भला क्या होता। बड़ी मुश्किल का सामना था। तो भी पढ़ने की धुन बराबर बनी हुई थी —

● पाँव में जूते न थे। देह पर साबित कपड़े न थे। मँहगी अलग — दस सेर के जौ थे। स्कूल से साढ़े तीन बजे छुट्टी मिलती थी। काशी के क्वीन्स कालेज में पढ़ता था। हेडमास्टर ने फ़ीस माफ़ कर दी थी। इम्तहान सिर पर था और

मैं बाँस के फाटक पर एक लड़के को पढ़ाने जाता था। जाड़ों के दिन थे। चार बजे पहुँचता था। पढ़ाकर छः बजे छुट्टी पाता। वहाँ से मेरा घर देहात में पाँच मील पर था। तेज चलने पर भी आठ बजे से पहले घर न पहुँच सकता। और प्रातःकाल आठ ही बजे फिर घर से चलना पडता था, नहीं वक़्त पर स्कूल न पहुँचता। रात को खाना खाकर कुप्पी के सामने पढ़ने बैठता और न जाने कब सो जाता। फिर भी हिम्मत बाँधे हुए था। ●

अब तक बचपन मर चुका था — यानी लड़के के कंधे पर शादी का जुआ रखने का वक़्त आ गया था। पिता लडके को अँधरा के पुल का बारह आनेवाला चमरौधा जूता और चार आने गज का नया कपड़ा न पहना सके, लेकिन उसकी शादी तो कर ही सकता है! पन्द्रह बरस तब शादी के लिए ऐसी कम उम्र भी न समझी जाती थी। गाँव मे न जाने कितने थे जिनकी शादी इसी उम्र में हुई थी, मुंशी अजायबलाल कैसे अपने बेटे की न करते, लोग नाम न धरते! सेहत भी ठीक न चल रही थी, अपने जीते जी लडके को खूँटे से बाँध देने का ख़याल भी मुमकिन है दिल मे रहा हो। सम्भव है पत्नी ने बार-बार आग्रह किया हो कि लडका अब सयाना हुआ, उसका ब्याह कर देना चाहिए। बहू घर में ले आने का मोह किसे नहीं होता। पूरब में जल्दी ब्याह कर देने का चलन भी है। पक्की बात इतनी ही है कि यह शादी लगायी नवाब के नाना साहब ने थी, नाना साहब यानी मुंशी अजायब लाल के नये ससुर साहब। यह भी मुमकिन है कि नाना साहब ने अपने किसी मित्र का भला करने के विचार से या अन्य किसी कारण से यह सम्बन्ध स्थिर किया हो। जो भी बात रही हो, यह विवाह बस्ती जिले की मेंहदावल तहसील मे बस्ती शहर से दस मील दूर रमवापुर सरकारी गाँव के एक छोटे-मोटे जमींदार के घर ठीक हुआ। बडे आदमी हैं! लड़की बहुत अच्छी है। सब बहुत खुश थे, नवाब सबसे ज्यादा। मारे उत्साह के, मण्डप छाने के लिए बाँस भी खुद उसी ने काटे। खुशी उसके भीतर छलकी पड़ रही थी और शायद बाँस की जड़ पर कुल्हाड़ी चलाते समय वह कुछ गुनगुना भी रहा था। पिछले बरसों में उसने जो सैकड़ों किताबे पढ़ी थीं उनमे कितने ही शाही लकड़हारे आये थे, अपनी प्रेमिका की तलाश में भिखमंगों का भेस बनाये जंगलों और रेगिस्तानों की खाक छानते हुए सुन्दर राजकुमार आये थे, एक से एक सुन्दरी राजकुमारियाँ आयी थीं जिनके आगे चाँद भी शरमाता था। वही सब चीजें उसने पढ़ी थीं, वही तसवीर उसके मन मे थी। उसका दिल किलोलें कर रहा था और हवा में जंगली गुलाबों की और रातरानी की खुशबू थी। नही, अब वह ऐसा नादान नहीं था, उसे सब पता था कि शादी क्या चीज़ होती है, कितनी रंगीन, कैसी खूबसूरत। उसने अपनी इतिहास की किताबों में, और अपने राजा-रानी के क़िस्सों में पढ़ा था कैसे एक सुन्दरी की चितवन पर सल्तनतें लुट गयीं, खून की नदियाँ बह गयीं, इसी बात के लिए कि शहज़ादा उस माहे-जबीं से, उस

चन्द्रमुखी से शादी करना चाहता था। उसके तमाम सपने, जिन पर पिछले साल-डेढ़ साल में जमाने की थोड़ी-बहुत धूल पड़ गयी थी, एक बार फिर जवान हो गये और उसके हाथ की कुल्हाड़ी और भी तेजी से चलने लगी।

शादी हुई, शादी मे खूब चुहलबाज़ी भी हुई, नंगे-नंगे मजाक़ भी हुए जो अक्सर इस मौके पर होते है, खासकर पूरब मे, और नवाब ने खूब रस ले-लेकर तुर्की-ब-तुर्की उनका जवाब भी दिया, फिर बिदाई हुई और नवाब (!) अपनी शीरीं अपनी लैला को ऊँटगाड़ी पर बिठाकर (हाँ, ऊँटगाड़ी! नियति कभी अधूरा व्यंग्य नहीं करती!) अपने घर ले चला। घर पहुँचकर उसने अपनी बीवी की सूरत जो देखी तो उसका खून सूख गया। उम्र मे वह नवाब से ज़्यादा थी, मगर वह तो ऐसी कोई बात नहीं, लैला भी तो मजनूँ से बड़ी थी! काली थी, मगर सुनते हैं, लैला भी तो काली थी!

मगर किस्सा और चीज है, जिन्दगी और चीज। यथार्थ का यह एक और गहरा धक्का था जो नवाब को लगा। देखते ही शकल से नफरत हो गयी — भद्दी, थुलथुल, फूहड। इतना ही नहीं, उनके चेहरे पर चेचक के गहरे-गहरे दाग़ थे और एक टाँग कुछ छोटी थी जिसके कारण ग़रीब को भचककर चलना पड़ता था। महीने मे एकाध बार हबुआती भी ज़रूर थीं, जब उन पर भूत-प्रेत आते थे। सुनते है दिमाग़ मे कुछ खलल भी था क्योंकि लडाई होने पर अपने पति से कहती थीं — हम तुम्हे गदहा छानने के पगहे से बँधवाकर मँगवा लेंगे! ऐसे-ऐसे जादू टोने हैं हमारे पास!

नाना साहब ने पन्द्रह साल के इस खूबसूरत नवाब के लिए ऐसी उम्र मे ज़्यादा, काली, भद्दी, थुलथुल, चेचक-रू, अफ़ीम खानेवाली, भचककर चलनेवाली औरत ही क्यों चुनी, यह रहस्य उनके साथ ही चला गया। लेकिन इसमें शक नहीं कि जिस जिसने देखा उसके मुँह से एक सर्द आह निकल गयी। कहाँ नवाब, कहाँ यह औरत का कार्टून! यहाँ तक कि मुशी अजायब लाल से भी नहीं रहा गया और उन्होंने हिम्मत बटोरकर अपनी पत्नी से कह दिया — लालाजी ने मेरे लड़के को कुएँ में ढकेल दिया। मेरा गुलाब-सा लड़का और उसकी यह बीवी! मैं तो उसकी दूसरी शादी करूँगा। पत्नी ने कहा — देखा जायगा।.... और उनके लिए बात वहीं खत्म हो गयी। लेकिन नवाब के लिए बात इतनी आसानी से कैसे ख़त्म होती। वह तो गाँठ जोड़कर उन्हें अपने साथ लाया था।

पर वही गाँठ अब चुनरी से छूटकर दिल में आ लगी थी। कौन जाने उस गाँठ मे दो-एक गिरह सास-बहू के झगड़ों ने भी डाल दी हो जो आये दिन होते रहते थे। मुमकिन है नवाब जैसा आदमी उस स्त्री के साथ भी निबाह कर ले जाता, लेकिन वह खुद अपनी लाश ढोने जैसी बात होती, और अब जब कि थोड़ा

निर्वैयक्तिक ढंग से विचार कर सकना सम्भव है, यह शायद अच्छा ही हुआ कि मन और शरीर से इतनी बेमेल स्त्री के साथ निबाह करने का मौका नहीं आया। जिन्दा वह बहुत बाद तक रही, नवाब ने जब दूसरी शादी की तब तक उन्हे इस घर मे दस बरस हो चुके थे, लेकिन नवाब का शायद कभी उनसे कोई संबंध नहीं रहा। वह कभी लमही रहती और कभी अपने मैके चली जातीं। पर नवाब को किसी बात से कोई मतलब न था। तीन-चार बरस तो वह ज़्यादातर लमही में ही रहीं पर जब नवाब ने अपनी नौकरी की जिन्दगी शुरू की और उन्हे अपने साथ नहीं ले गये तो वह भी मेहदावल चली गयीं और अधिकतर वहीं रहने लगीं। कभी-कभी लमही भी आ जाती थीं। कई बार इस बात की कोशिश हुई कि नवाब उन्हे अपने पास बुलाकर रखें। शायद इसी सिलसिले में एक बार यह बात भी उड़ी कि उन्हे लड़का हुआ है जिसका नाम उनके घरवालों ने रामयाद राय रखा है — कितना ठेठ मुशियाना नाम पर कितना सार्थक ! मुमकिन है, यह बात सिर्फ इसलिए उड़ायी गयी हो कि नवाब पर और भी कुछ दबाव पड़े। लेकिन अगर यह बात सच भी हो कि वह स्त्री जानकी मैया के समान ही निर्दोष थी तो भी शायद इस मामले में प्रेमचन्द को मर्यादा पुरुषोत्तम रामचन्द्र के समान दोषी ठहराना भी अन्याय हो क्योंकि यह प्रसंग केवल दुःख का है — उस पुरानी, सामंती विवाह-प्रणाली का और उससे भी अधिक उस व्यक्ति या उन व्यक्तियों का जिन्होंने यह अनमेल सम्बन्ध स्थिर किया या उसके लिए सहमति दी। मुंशी अजायब लाल भी उसके नैतिक दायित्व से बच नहीं सके। बुढ़ौती मे यह एक जबर्दस्त धक्का उनको लगा और कुछ अजब नही कि उसने उनके अंत को और पास ला दिया हो क्योंकि वह नवाब की शादी के डेढ बरस के भीतर ही, कई महीने की बीमारी के बाद, इस दुनिया से छप्पन बरस की अवस्था मे सिधार गये, जब कि उनके पिता छिहत्तर बरस की आयु पाकर मरे थे और उनकी माँ भी अभी केवल चार-पाँच बरस पहले मरी थी।

नवाब नवीं में थे जब उनका ब्याह हुआ। अगले साल यानी १८९७ में उन्हें मैट्रिक का इम्तहान देना था। लेकिन उसी साल पिता बीमार पड़े और इस दुनिया से उठ गये। नतीजा यह हुआ कि नवाब उस साल इम्तहान नहीं दे पाये। उसके अगले साल नवाब ने मैट्रिक का इम्तहान दिया। सेकंड डिवीज़न में पास हुए। जो भी मजबूरियाँ नवाब की रही हों, सेकंड क्लास का नतीजा यह हुआ कि क्वीन्स कालेज में उसका प्रवेश पाना एक समस्या बन गया क्योंकि प्रवेश तो चाहे मिल भी जाता पर फ़ीस नियम के अनुसार केवल अव्वल दर्जेवालों की ही माफ़ हो सकती थी और फ़ीस देकर पढ़ने की स्थिति नवाब की नहीं थी।

● संयोग से उसी साल हिन्दू कालेज खुल गया। मैंने इस नये कालेज में पढ़ने

का निश्चय किया। प्रिन्सिपल थे मिस्टर रिचर्डसन। उनके मकान पर गया। वह पूरे हिन्दुस्तानी वेश मे थे। कुर्ता और धोती पहने, फ़र्श पर बैठे कुछ लिख रहे थे मगर मिज़ाज को तबदील करना इतना आसान न था। मेरी प्रार्थना सुन-कर — आधी ही कहने पाया था — बोले कि घर पर मै कालेज की बातचीत नहीं करता, कालेज में आओ। ख़ैर, कालेज में गया। मुलाक़ात तो हुई पर निराशा-जनक। फ़ीस माफ़ न हो सकती थी। अब क्या करूँ ? अगर प्रतिष्ठित सिफ़ारिशें ला सकता तो शायद मेरी प्रार्थना पर कुछ विचार होता, लेकिन देहाती युवक को शहर में जानता ही कौन था ?

रोज घर से चलता कि कहीं से सिफ़ारिश लाऊँ पर बारह मील की मंज़िल पारकर शाम को घर लौट आता। किससे कहूँ, कोई अपना पुछत्तर न था।

कई दिनों के बाद एक सिफ़ारिश मिली। एक ठाकुर इन्द्रनारायण सिंह हिन्दू कालेज की प्रबन्धकारिणी सभा मे थे। उनसे जाकर रोया। उन्हे मुझ पर दया आ गयी, सिफारिशी चिट्ठी दे दी। उस समय मेरे आनन्द की सीमा न थी। खुश होता हुआ घर आया। दूसरे दिन प्रिन्सिपल ने मेरी तरफ़ तीव्र नेत्रों से देखकर पूछा — इतने दिनों कहाँ थे ?

— बीमार हो गया था।

— क्या बीमारी थी ?

मैं इस प्रश्न के लिए तैयार न था। अगर ज्वर बताता हूँ तो शायद साहब मुझे झूठा समझे। ज्वर मेरी समझ में हल्की-सी चीज थी जिसके लिए इतनी लम्बी ग़ैरहाज़िरी अनावश्यक थी। कोई ऐसी बीमारी बतानी चाहिए जो अपनी कष्ट-साध्यता के कारण दया को भी उभारे। उस वक़्त मुझे और किसी बीमारी का नाम याद न आया। ठाकुर इन्द्रनारायण सिंह से जब मैं सिफ़ारिश के लिए मिला तो उन्होंने अपने दिल की धड़कन की बीमारी की चर्चा की थी। वह शब्द मुझे याद आ गया। मैंने कहा — पैलपिटेशन ऑफ़ हार्ट सर !

साहब ने विस्मित होकर मेरी ओर देखा और कहा — अब तुम बिलकुल अच्छे हो ?

— जी हाँ।

— अच्छा प्रवेशपत्र भरकर लाओ।

मैंने समझा, बेड़ा पार हुआ,। फ़ार्म लिया, ख़ानापूरी की और पेश कर दिया। उस समय साहब कोई क्लास ले रहे थे। तीन बजे मुझे फ़ार्म वापस मिला। उस पर लिखा था — इसकी योग्यता की जाँच की जाय।

यह नयी समस्या उपस्थित हुई। मेरा दिल बैठ गया। अँग्रेज़ी के सिवा और किसी विषय में पास होने की मुझे आशा न थी, और बीजगणित और रेखागणित से तो रूह काँपती थी। जो कुछ याद था वह भी भूल-भाल गया था लेकिन दूसरा

उपाय ही क्या था। भाग्य का भरोसा करके क्लास में गया और अपना फ़ार्म दिखाया। प्रोफेसर साहब बगाली थे। अंग्रेजी पढ़ा रहे थे। वाशिंग्टन इर्विग का रिप वान विकिल था। मै पीछे की कतार मे जाकर बैठ गया और दो ही चार मिनट मे मुझे ज्ञात हो गया कि प्रोफ़ेसर साहब अपने विषय के ज्ञाता है। घण्टा समाप्त होने पर उन्होंने आज के पाठ पर मुझसे कई प्रश्न किये और मेरे फार्म पर 'संतोषजनक' लिख दिया।

दूसरा घण्टा बीजगणित का था, इसके प्रोफ़ेसर भी बंगाली थे। मैंने अपना फ़ार्म दिखाया। नयी संस्थाओं मे प्रायः वही छात्र आते है जिन्हे कहीं जगह नही मिलती। यहाँ भी वही हाल था। क्लासों मे अयोग्य छात्र भरे हुए थे। पहले रेले मे जो आया, वह भर्ती हो गया। भूख में साग-पात सभी रुचिकर होता है। अब पेट भर गया था। छात्र चुन-चुनकर लिये जाते थे। इन प्रोफेसर साहब ने गणित मे मेरी परीक्षा ली और फ़ेल हो गया। फार्म पर गणित के ख़ाने में 'असन्तोषजनक' लिख दिया।

मै इतना हताश हुआ कि फार्म लेकर फिर प्रिन्सिपल के पास न गया। सीधा घर चला गया। गणित मेरे लिए गौरीशंकर की चोटी थी। कभी उस पर न चढ़ सका ....

खैर, मैं निराश होकर घर तो लौट आया लेकिन पढ़ने की लालसा अभी तक बनी हुई थी। घर बैठकर क्या करता? किसी तरह गणित को सुधारूँ और कालेज मे भर्ती हो जाऊँ, यही धुन थी। इसके लिए शहर मे रहना ज़रूरी था।

संयोग से एक वकील साहब के लड़के को पढ़ाने का काम मिल गया। पाँच रुपया वेतन ठहरा। मैंने दो रुपये मे अपना गुज़र करके तीन रुपये घर पर देने का निश्चय किया। वकील साहब के अस्तबल के ऊपर एक छोटी-सी कच्ची कोठरी थी। उसी मे रहने की आज्ञा ले ली। एक टाट का टुकड़ा बिछा दिया, बाजार से एक छोटा-सा लैम्प लाया और शहर मे रहने लगा। घर से कुछ बर्तन भी लाया। एक वक़्त खिचड़ी पका लेता और बर्तन धो-माँजकर लायब्रेरी चला जाता। गणित तो बहाना था, उपन्यास आदि पढ़ा करता। पंडित रतननाथ दर का 'फ़साना आज़ाद' उन्हीं दिनों पढ़ा। 'चन्द्रकान्ता सन्तति' भी पढ़ी। बंकिम बाबू के उर्दू अनुवाद, जितने पुस्तकालय मे मिले, सब पढ़ डाले।

जिन वकील साहब के लड़कों को पढ़ाता था, उनके साले मेरे साथ मैट्रिक्यु-लेशन मे पढते थे। उन्हीं की सिफ़ारिश से मुझे यह पद मिला था। उनसे दोस्ती थी, इसलिए जब ज़रूरत होती, पैसे उधार ले लिया करता था। वेतन मिलने पर हिसाब हो जाता था। कभी दो रुपये हाथ आते, कभी तीन। जिस दिन वेतन के दो-तीन रुपये मिलते मेरा संयम हाथ से निकल जाता। प्यासी तृष्णा हलवाई की दूकान पर खींच ले जाती। दो-तीन आने पैसे खाकर ही उठता। उसी दिन घर

जाता और ढाई रुपये दे आता। दूसरे दिन से फिर उधार लेना शुरू कर देता। लेकिन कभी-कभी उधार माँगने मे भी संकोच होता और दिन का दिन निराहार व्रत रखना पड़ जाता।

इस तरह चार-पाँच महीने बीते। इस बीच एक बजाज से दो-ढाई रुपये के कपड़े लिये थे। रोज़ उधर से निकलता था। उसे मुझ पर विश्वास हो गया था। जब महीने दो महीने निकल गये और मै रुपये न चुका सका तो मैने उधर से निकलना ही छोड़ दिया। चक्कर देकर निकल जाता। तीन साल के बाद उसके रुपये अदा कर सका। उसी ज़माने मे शहर का एक बेलदार मुझसे कुछ हिन्दी पढ़ने आया करता था। .... एक बार मैंने उससे भी आठ आने पैसे उधार लिये थे। वह पैसे उसने मुझसे मेरे घर, गाँव में जाकर पाँच साल बाद वसूल किये। मेरी अब भी पढने की इच्छा थी लेकिन दिन-दिन निराश होता जाता था। जी चाहता था, कहीं नौकरी कर लूँ। पर नौकरी कैसे मिलती है और कहाँ मिलती है, यह न जानता था।

जाड़ों के दिन थे। पास एक कौड़ी न थी। दो दिन एक-एक पैसे का चबेना खाकर काटे थे। मेरे महाजन ने उधार देने से इनकार कर दिया था या संकोचवश मै उससे माँग न सका था। चिराग़ जल चुके थे। मैं एक बुकसेलर की दुकान पर एक किताब बेचने गया। चक्रवर्ती गणित की कुंजी थी। दो साल हुए ख़रीदी थी। अब तक उसे बडे जतन से रखे हुए था, पर आज चारों ओर से निराश होकर, मैंने उसे बेचने का निश्चय किया। किताब दो रुपये की थी, लेकिन एक पर सौदा ठीक हुआ। मैं रुपया लेकर दूकान से उतरा ही था कि एक बड़ी-बड़ी मूँछोंवाले सौम्य पुरुष ने, जो उस दुकान पर बैठे हुए थे, मुझसे पूछा — कहाँ पढ़ते हो? ●

तक़दीर का खेल भी अजब अनोखा है। कहाँ तो कैसे-कैसे पापड़ बेल रहे थे, अगले वक़्त की रोटी का ठिकाना नही था, और कहाँ अब परोसी हुई थाली सामने रक्खी थी।

सवाल पूछने वाले सज्जन चुनार के एक छोटे-से मिशन स्कूल के हेडमास्टर थे। उन्हे मैट्रिक पास एक मास्टर की तलाश थी। वेतन था अठारह रुपाया। कहने भर की देर थी, नवाब ने लपककर मंजूर कर लिया। जैसे दिन उसने देखे थे उनके सामने नवाब का यह कहना कुछ ग़लत नहीं था कि 'अठारह रुपये उस समय मेरी निराश व्यथित कल्पना की ऊँची से ऊँची उड़ान से भी ऊपर थे।'

यह सन्' १८९९ की बात है। पिता को मरे भी अब दो बरस हो रहा था। घर पर बस उनकी नयी माँ (जिन्हे वह चाची कहते थे) और उनका एक तीन साल का बच्चा था — बड़ा बच्चा, गुलाब, दो-ढाई बरस पहले जाता रहा था। खेती अव्वल तो थी ही कितनी और फिर खानेवाले भी कुछ कम न थे। घर में भूनी भाँग नहीं थी और कमानेवाला अकेला नवाब। अपनी नयी माँ से उसे बहुत सुख नहीं मिला, यह और बात है, लेकिन अब जब कि पिता की आँखें मुँद गयी थीं, उनकी परवरिश

की, अपनी बिसात भर उनको आराम से रखने की जिम्मेदारी उसी की थी।

नवाब ने अगले ही रोज जाकर सब कुछ पक्का कर लिया और तीन-चार रोज के भीतर चुनार पहुँच गया, जो कि बनारस से चालीस मील दूर, मिर्जापुर के पास एक कस्बा है।

छोटी-सी खामोश जगह थी। नये-नये पहुँचे थे। मिजाज मे कुछ शर्मीलापन भी था ही। पढने का चस्का लग ही चुका था। किसी से ज़्यादा कुछ मतलब न रखते थे, बस अपने काम से काम।

साथ में चाची के छोटे, सौतेले भाई विजयबहादुर भी थे। अपनी बहन के साथ ही वह भी आ गये थे और फिर यहीं रह गये। उम्र मे वह नवाब से चार-पाँच साल छोटे थे, पर दोनों में बहुत बनती थी क्योंकि विजय बहादुर भी बहुत नेक, मिलनसार और मुहब्बती तबियत के आदमी थे। ज़्यादा दिन जिन्दा नहीं रहे पर जब तक रहे नवाब के साथ ही रहे। जहाँ-जहाँ नवाब का तबादला हुआ वहाँ-वहाँ विजय बहादुर उनके साथ गये।

वेतन से पूरा न पडता था इसलिए नवाब ने पाँच रुपये का एक ट्यूशन भी कर लिया था। लड़का घर आकर पढ जाता था। उस छोटी-सी जगह मे नवाब की अँग्रेजी बहुत मशहूर हो गयी थी।

नवाब को अपने पढने-पढाने से फुर्सत न मिलती थी, घर का इंतजाम विजय बहादुर के जिम्मे था। पैसे जो मिलते थे वह महीने के शुरू मे ही खर्च हो जाते थे। फिर उधार पर चलता था। बोर्डिंग हाउस का बनिया था, उसी से रसद उधार ली जाती।

तभी की बात है, एक बार नवाब विजयबहादुर के साथ घर आये, यानी लमही। जाड़े के दिन थे। चार-पाँच दिन घर रहे। चलने लगे तो रास्ते के लिए चाची से रुपये माँगे। चाची ने कहा — रुपये सब खर्च हो गये।

बड़ी मुश्किल थी। गाँव मे उधार लेते भी तो किससे? लिहाजा मजबूर होकर अपना गरम कोट बेचने की ठानी।

गाड़ी के बहुत पहले दोनों गाँव से चल दिये और शहर आकर नवाब ने अपना कोट दो रुपये में बेचा, जो कि एक साल पहले बड़ी मुश्किलों से बनवाया था! सूती पहनकर उस गरम कोट को बड़े जतन से रखा था। और वह दो रुपये मे बिक गया।

इस सबके बावजूद जिन्दगी जैसी कुछ थी, बहुत अच्छी थी।

एक रोज स्कूल की टीम का फुटबाल मैच मिलिटरी के गोरों की एक टीम से हुआ। गोरे शायद हार गये। स्कूल के लड़कों ने जोर-जोर से हिप हिप हुर्रे का नारा लगाना शुरू किया। गोरे खिसियाये हुए तो थे ही, यह चीज़ उनको कटे पर नमक छिड़कने जैसी मालूम हुई। इन काले आदमियों की यह मजाल! एक गोरे ने किसी खिलाड़ी को बूट से ठोकर मार दी। मैच देखनेवालों मे नवाब भी

था। गोरे को बूट चलाते भी उसने देखा। जिस्म बहुत मजबूत नहीं था तो क्या, दिल तो मजबूत था, और फिर अपने ही मैदान पर खेल हो रहा था। चढ़ती जवानी की उम्र, नवाब का खून खौल पड़ा — इसकी यह हिम्मत ! सिर्फ़ इसलिए कि हम काले है, हिन्दोस्तानी है ! फिर क्या था, उसने आव देखा न ताव, झपटकर मैदान मे गड़ी हुई एक झण्डी उखाड ली और बेतहाशा उन पर पिल पड़ा। लड़कों ने जो उसको आगे-आगे देखा तो खेलनेवाले और तमाशाई सब मैदान में कूद पडे और उन गोरों की ऐसी पिटाई की कि उन्हे छठी का दूध याद आ गया, सारी अकड़फूं धरी रह गयी !

मैदान जब ख़ाली हुआ तो स्कूलवालों को सबसे ज़्यादा ताज्जुब इस बात का हुआ कि इस मार्के में पहल उस शर्मीले नौजवान मुदर्रिस ने की थी जिसे खेलने से बहुत कम मतलब था और जो हमेशा अपनी किस्से-कहानी की किताबों मे डूबा रहता था।

लेकिन उससे भी ज्यादा ताज्जुब इस शर्मीले, घरघुसने नौजवान की दिलेरी पर उस वक़्त होता है, जब साठ-पैंसठ बरस पहले के चुनार का नक्शा आँखों के सामने आता है। उग्र ने जो हिन्दी के जाने-माने लेखक है और चुनार के ही रहनेवाले थे, ' अपनी खबर ' मे उस वक़्त के चुनार कीयह एक हल्की-सी झलक दीहै—

' उन दिनों क़िलों की क़द्र थी, अतः चुनार मे अंग्रेज़ आये। जब मैं पाँच-सात साल का था तब चुनार के क़िले मे गोरा-तोपख़ाना पल्टन रहती थी। बहुत दिनों तक चुनार मे रिटायर्ड गोरे सपरिवार रहा करते थे। लोअर लाइन्स नामक अपनी एक बस्ती उन्होंने कालों के क़स्बे की पिछली सीमा पर बसा रखी थी। .... सन् १६०५ में चुनार की पाँच-सात हज़ार की आबादी के सिरहाने दो-दो गिरजाघर थे। एक परेड ग्राउन्ड की कब्रगाह के पास जर्मन मिशनरियों का रोमन कैथलिक चर्च और दूसरा प्रोटेस्टैट चर्च शहर के बीच मे था। ईसाई या अंग्रेज़ों की संख्या शहर मे चाहे जितनी रही हो, पर उनका प्रभाव कितना था, इसकी सूचना ये चर्च देते थे। मेरे स्वर्गीय पिता जिस मंदिर मे पूजन किया करते थे उसके चबूतरे पर खड़े होकर पाँच-सात की वय मे, मैने गोरे सोल्जरो के तोपखाने की मार्च मजे में देखी थी। क़िले के परेड ग्राउन्ड तक ये गोरे सिपाही मार्च करते हुए अक्सर जाया करते थे। मैदान मे मिलिटरी बैण्डवालों की परेड तो मुझे आज भी भूली नहीं है। कई प्रकार के बाजेवाले, सभी गोरे, ड्रम — ओह ! — कितना बडा ! इन बैण्डवाले सिपाहियों के बीच मे बाघम्बर धारण किये, हाथ में गदा-जैसी कोई वस्तु हिलाता चलता था एक नाटा, गुट्ठल, सचमुच व्याघ्रमुख कोई दैत्यदेही गोरा ! तब चुनारवालों को ये गोरे महाकाल के दामाद दसवें ग्रह जैसे लगते थे। अकसर लोग इनकी छाया से भी दूर भागते थे। लोअर लाइन्स से गुजरने वाले ग़रीब ग्रामीण चुनारियों को ये रिटायर्ड या सिपाही गोरे कारण-अकारण बेंतों से बुरी

तरह सिटोह दिया करते थे। औरतें तो लोअर लाइन्स मे जाने की हिमाक़त कर ही नही सकती थी । गरगो नदी पार से शहर को विविध वस्तु बेचने आनेवाली अहीरिनों, कोरिनों, चमारिनों को अक्सर उन्मत्त गोरे दौड़ा लेते थे, रगड-सगड़ देते थे पशुवत् — रेप ....'

झगडा मोल लेना ठीक बात नही है । अपने काम से काम रखना चाहिए । लेकिन आँखों के आगे सरीहन् बेइंसाफ़ी हो रही हो तो इंसान चुप भी कैसे रहे। जुल्म देखकर उस आदमी को जैसे फिर किसी बात का होश नही रह जाता था और तैश खाकर तिलमिलाकर कूद पड़ने के अलावा फिर और कुछ न सूझता ।

और यही चीज साल बीतने के पहले, पाँच ही छः महीने बाद, मुशीजी के वहाँ से उखड़ जाने का कारण बनी। सुनते है कि वहाँ, उसी स्कूल मे, एक कोई इब्ने अली नाम के मौलवी साहब थे । स्कूल के अधिकारी उनके साथ कोई बेइं-साफ़ी कर रहे थे जो मुशीजी को बर्दाश्त नहीं हुई । उन्होंने बेधड़क मौलवी साहब का साथ दिया, खुले आम, जमकर । बात बढ़ी । मुंशीजी भी मौलवी साहब के साथ निकाल दिये गये ।

३

चुनार के मिशन स्कूल से निकलकर मुंशीजी, जिनकी उम्र उस समय बीस साल थी, साल भर के अन्दर ही फिर बनारस पहुँचे और किसी नये काम की तलाश शुरू हुई।

क्वीन्स कालेज मे बेकन साहब प्रिन्सिपल थे। शिक्षा-विभाग में बड़ा असर रखते थे, एक ग़रीब नौजवान को हीले से लगाना उनके लिए मुशकिल बात न थी। नवाब के बारे मे उनका खयाल भी अच्छा था। सीधा, सच्चा, जहीन, मेहनती लड़का है। मगर बहुत गरीब है।

बेकन साहब ने यहाँ-वहाँ दो-एक ख़त लिखे और मुंशीजी की नियुक्ति २ जुलाई १९०० को बहराइच के जिला स्कूल मे पाँचवें मास्टर के पद पर हुई। वेतन बीस रुपये महीना। सरकारी नौकरी का सिलसिला शुरू हुआ। चुनार की मास्टरी, मुदर्रिसी के इस लंबे ड्रामे का रिहर्सल थी।

बहराइच मे मुंशीजी को ज़्यादा दिन नहीं रहना पड़ा। ढाई महीने बाद ही उनकी बदली परताबगढ़ के लिए हो गयी। २१ सितम्बर से उन्होंने परताबगढ़ के जिला स्कूल में फ़र्स्ट एडीशनल मास्टर का काम सम्हाला। वेतन वही बीस जो कि घर की जरूरतों के लिए काफ़ी न था। रुपया बराबर घर भेजना पड़ता था। चाची अपने बेटे के साथ वही रहती थीं। परताबगढ में उन लोगों को अपने साथ रखने का सवाल नहीं पैदा होता था क्योंकि मुंशीजी खुद ताले के ठाकुर साहब की हवेली के एक कमरे मे रहते थे, उनके दो लड़कों को पढ़ाते थे और उन्हीं के यहाँ रहते थे। ट्यूशन से अब भी छुटकारा न था। लेकिन यह ट्यूशन और ट्यूशनों जैसा न था क्योंकि ताला के वह ठाकुर साहब बिलकुल घर के लड़के की तरह उनको मानते थे। और उनका भी संबंध अपने शिष्यों से गुरु-शिष्य का न होकर दोस्ती का ही ज़्यादा था। इस तरह परताबगढ़ मे मुंशीजी की जिन्दगी काफ़ी इत्मीनान से गुज़र रही थी। न कही जाते थे न आते थे। घर से स्कूल और स्कूल से घर।

मिलने-जुलनेवालों में पहला नंबर बाबू राधाकृष्ण का था, जो आगे चलकर अवध चीफ़ कोर्ट के जज हुए। उनसे मुंशीजी की बहुत बनती थी। बराबर अपनी नयी चीजें उन्हे सुनाते थे। बाबू राधाकृष्ण साहित्यरसिक तो जैसे थे ही, खुद भी शेर कह लेते थे।

पण्डित जयराम शास्त्री संस्कृत के पण्डित थे, वहीं ठाकुर साहब की हवेली पर वह भी रहते थे, बराबर का साथ था पर सांस्कृतिक पृष्ठभूमि बिल्कुल भिन्न होने के कारण उनके साथ मुंशीजी की मैत्री साहित्यिक मैत्री का रूप न ले पाती थी, जैसी कि बाबू राधाकृष्ण के साथ थी।

अपना खाना मुशीजी कभी खुद ही पका लेते थे, मगर ज्यादातर तो लडकों के साथ हवेली पर ही उनका खाना भी होता।

पढना-लिखना, यही उनकी जिन्दगी थी। और पढने से ज़्यादा वह लिखते थे। अक्सर रात को बड़ी देर तक लिखते रह जाते।

लड़कों की और उनकी उम्र मे बहुत ज्यादा फ़र्क न था, पर लड़के उनका बड़ा अदब करते और वह भी उनको बड़ी मुहब्बत से पढाते, खासकर अँग्रेजी और उर्दू। लड़कों से ज्यादा मेहनत न करवाते।

परताबगढ का पानी भी उनको रास आ गया था। जब तक रहे एक बार भी बीमार नहीं पड़े। प्रसन्न थे, संतुष्ट थे, लिखने-पढ़ने में दिन बीत रहे थे।

लेकिन अब यह सिर्फ गोरखपुर-जैसा पढने का चस्का न था बल्कि एक ऐसे आदमी का पढ़ना था जो कि अपने भीतर एक नयी थरथरी महसूस कर रहा था। अब से सात बरस पहले तेरह साल के एक लड़के ने अपने किसी मामा से बदला लेने के लिए उनकी छीछालेदर को नाटक की शकल दी थी। बात आयी-गयी हो गयी थी। लेकिन अब वह अपनी रगों मे एक नयी ही सुरसुराहट ओर अपने दिल मे एक नयी ही तड़प महसूस कर रहा था जो अपने लिए जबान माँगती थी। मगर वह जबान उस चीज़ को दे तो कैसे दे ?

पिछले बरसों में उसने न जाने कितना कुछ पढा था लेकिन उसमें ज्यादातर राजा-रानी के क़िस्से थे, तलिस्म और ऐयारी के क़िस्से थे। पढने मे वह बहुत अच्छे लगते थे मगर लिखना वह कुछ और चाहता था। उस तरह के किस्से फिर से लिखकर क्या होगा। ठीक है उनसे दिलबहलाव होता है मगर सवाल यह है कि हम आख़िर कब तक इसी तरह दिलबहलाव करते रहेंगे। इस तरह तो इतिहास के पन्नों से हमारा नाम भी मिट जायगा। जरा अपने समाज की हालत भी तो देखो — कैसी मुर्दे की नींद सो रहा है ! उसका दिल बहलाने की जरूरत है कि झकझोरकर उसको जगाने की ? न जाने कब से सो रहा है इसी तरह। क्या क़यामत तक सोता रहेगा ! यह तो मौत है सरासर ! अगर कुछ लिखना ही है तो ऐसा कुछ लिखो जिससे यह मौत और ग़फलत की नींद कुछ टूटे, यह मुर्दनी कुछ दूर हो। कितनी बुरी हालत है हमारे हिन्दू समाज की। आदमी को आदमी नहीं समझा जाता। एक आदमी के छू जाने से दूसरे आदमी की जात चली जाती है। यह क्या जिन्दा क़ौमों के लक्षण हैं ?

यह सब इन्हीं बड़े-बड़े तिलकधारी ब्राह्मणों की, पुजारियों, महन्तों, मठाधीशों

की कारस्तानी है। कहने को चतुर्वेदी है, त्रिवेदी है, यह है, वह है, लेकिन हैं निरे लिख लोढ़ा पढ पत्थर, एक वेद की भी शकल जो उन्होंने देखी हो, बस अपने तर माल से काम, हलुआ पूरी उडाये जाओ, चैन की बंसी बजाये जाओ ! भाँग-बूटी छानो, जितनी मन चाहे शराब लुंढाओ, सुन्दर-सुन्दर रमणियों को लेकर विहार करो, मंदिर के भीतर रंडी-पतुरिया नचाओ — इससे बडी भक्ति, धर्म, उपासना और क्या है ! पतुरिया नचाने से भगवान भरस्ट नहीं होते, चमार-पासी उनका दर्शन कर ले तो भगवान भरस्ट हो जाते है। वैसे कहने को वह पतितपावन है ! महंतजी की तिजोरी मे बंद !

छोड़ो न मरदूद पडों-महंतों को, एक नजर इस ग़रीब औरत जात पर भी तो डालो। क्या मट्टी पलीद की है बेचारियों की ! कहने को कह दिया — जहाँ नारियों की पूजा होती है वहाँ देवता वास करते है लेकिन कोई पूछे कि आपने किसी तरह का कोई अधिकार नारियों को दिया ? बराबरी का दर्जा न देते लेकिन कुछ तो ऐसे अधिकार देते कि नारी पुरुष के अत्याचारों से अपनी रक्षा कर सकती। वह सब कुछ नहीं। उसकी सच्ची स्थिति दासी के अलावा और कुछ नही है। स्वामी अच्छा मिला तो वाह-वाह, बुरा मिला तो रोये अपनी तक़दीर को ! कुछ कर नहीं सकती। हर हालत में वह किसी न किसी पुरुष की आश्रिता है, अपने पैरों पर खडे होने का उसको अधिकार नहीं है। शिक्षा का भी अधिकार उसे नहीं है — पुरुष की बराबरी जो करने लग जायगी ! शूद्र और नारी के कान में वेद का स्वर पड़ने से पातक लगता है ! उसे अशिक्षित रक्खो, निपट असहाय रक्खो, घर की चहारदीवारी में बन्द करके रक्खो। उसका उपयोग इतना ही है कि वह भोग्या है, रमणी है, और अगर इससे बढकर कोई उपयोग है तो यही कि वह जननी है। वह एक खेत है जिससे सन्तान की, पुरुष की सम्पत्ति के उत्तराधिकारी की प्राप्ति होती है ! उसका अपना कोई स्वतन्त्र व्यक्तित्व नही है, उसकी अपनी किसी इच्छा को समाज मान्यता देने के लिए तैयार नही है, इसीलिए तो कन्या और गौ का स्थान एक है — चाहे जिसके साथ बाँध दो ! पाँच साल की लड़की का ब्याह पचास साल के बुड्ढे के साथ हो सकता है। लड़की ने पति का मुँह भी न देखा हो तो क्या, ब्याह का मतलब भी वह न समझती हो तो क्या, पति के मरने पर (या उसके द्वारा छोड़ दिये जाने पर) जब वह एक बार विधवा हो गयी तो हो गयी, उसका कोई उपचार नही है। उसे फिर विधवा के समान ही सारी जिन्दगी रहना है यानी अपनी सारी प्राकृतिक इच्छाओं को मारकर मुर्दे की तरह जिन्दा रहना है। ऐसा ही समाज का विधान है और उसमे किसी प्रकार की छूट नहीं है। अगर कभी किसी समय वह कमज़ोरी दिखलाती है यानी प्रकृति के तक़ाज़ों के आगे झुकने पर मजबूर होती है — किसी आदमी से प्यार करने लगती है या गर्भवती हो जाती है या किसी के साथ भाग जाती है — तो फिर समाज उसका मुँह भी देखना पाप समझता है।

फिर वह समाज के लिए मरे के समान है और बहुत बार तो मौत के घाट उतार भी दी जाती है। उस दण्ड-व्यवस्था मे रत्ती भर क्षमा नही है। .... ऐसा सब अप्राकृतिक विधान न होता तो छिपे-छिपे समाज मे इतना सब पाप पनपता कैसे! कितनी ही विधवाएँ और समाज की सतायी हुई स्त्रियाँ कोठों पर पहुँच जाती है। समाज यह सब अपनी आँखों के आगे होते देखता है लेकिन तो भी उसके कान पर जूँ नहीं रेंगती। अपनी जिम्मेदारियों की तरफ़ से कितना बेखबर लेकिन बेकसों को सताने के लिए कितना शेर! करेगा-धरेगा कुछ नही लेकिन किसी से कोई गलती हो भर जाय, कच्चा ही चबा जायगा! विधवाओं पर तो उसकी विशेष कृपा है— उस दुखियारी स्त्री की दूसरी बहनें ही उस पर चौकीदारी करती है और ग़रीब औरत अगर कहीं दुर्भाग्य से अपनी लीक से जौ भर भी डिग गयी तो फिर उसकी खैरियत नही। पहले तो वह औरतें ही उसे अपने तानों से छेद-छेदकर मार डालेंगी और अगर इतने से वह नहीं मरी तो फिर उसका और कुछ उपाय किया जायगा।

इस तरह की कितनी कहानियाँ नवाब की आँखों के आगे से गुजर चुकी थीं और हर बार गुस्से से उसकी आँखें जलने लगी थीं। वही सब अनमेल ब्याह की कहानियाँ, विधवा स्त्री की दुर्दशा की कहानियाँ, समाज को खोखला करनेवाली लेन-देन और दूसरी कुरीतियों की कहानियाँ — जिनके चलते कितने ही गरीब माँ-बाप अपनी बेटो के हाथ पीले भी नही कर पाते और इसी दुःख मे घुल-घुलकर मर जाते है — अब उसके भीतर मचल रही थीं। रास्ता नया था। वह समझ न पाता था किधर बढ़े, कैसे बढे। लेकिन वही उसके भीतर की माँग थी। महज दिलबहलाव की चीजें वह नही लिखेगा। वह ऐसी कहानियाँ लिखेगा जिन्हें पढकर इस मुर्दा समाज में कुछ हरकत पैदा हो। क़िस्सागोई का फ़न वह उन पुरानी किताबों से सीखेगा मगर बात अपनी कहेगा। देश की बड़ी-बड़ी बातें वह क्या जाने मगर औरत जात के साथ, नीच कहलानेवाली जातों के साथ जो बेइंसाफ़ियाँ उसकी आँखों के सामने होती है, ज़माने के मक्कार, धोखेबाज, लोभी, लंपट, दुराचारी लोगों की जिस तरह समाज में तूती बोलती हैं, उन सब की तरफ़ से वह कैसे आँखें मूँद ले।

आर्य समाज का इस समय काफ़ी दौरदौरा था। प्रचारक लोग घूमते रहते। जगह-जगह सभाएँ होतीं, जल्से होते, सनातनी पंडितों से शास्त्रार्थ होते। बाल-विवाह की बुराइयाँ बतलायी जातीं, अनमेल ब्याह की खराबियाँ बतलायी जातीं, विधवा-विवाह के शास्त्रीय प्रमाण जुटाये जाते, क़रारदाद की निन्दा की जाती। यह सवाल बिलकुल दूसरा है कि इन बातों में कितना हिस्सा ज़बानी जमाखर्च था और कितने पर खुद अगुआ लोग अमल करने को तैयार थे। बातें ज़्यादा थीं, अमल कम। जो लोग मंच पर खड़े होकर धुँआधार व्याख्यान देते थे और शादी में लेन-देन की प्रथा को बुरा कहते थे, खुद चोरी-चोरी वही काम करते थे, लेते भी

थे और देते भी थे। विधवाओं की दुर्दशा पर आठ-आठ आँसू रोते थे लेकिन खुद इसके लिए तैयार न थे कि किसी विधवा से ब्याह कर लें या अपने बेटे का ब्याह कर दें या कि अपनी विधवा बेटी का ब्याह फिर से करने का साहस अपने भीतर पा सकें। होता ज़्यादातर वही था जो सदा से होता आया था, मगर बातें बड़ी-बडी होती थी। यही चीज घुन की तरह आर्य समाज के आन्दोलन को खा गयी और सनातन धर्म की चूलें न हिलीं। लेकिन फिर भी यह एक नयी जागृति थी, इक्का-दुक्का आदर्शवादी कभी कुछ कर भी गुज़रता था। ऐसी हालत मे फिर भला कैसे मुमकिन था कि नौजवान मुंशीजी का मन इस नयी जागृति की ओर न खिंचता। खुद अपनी जिन्दगी मे उसने जो कुछ भोगा था, गाँव-घर टोले-पडोस में इस तरह के जो किस्से होते देखे थे सुने थे, उस सबके आधार पर वह इस नयी चीज़ की तरफ झुका और सच्चे मन से झुका। अच्छे बुरे तो हर आन्दोलन मे होते हैं, इसके लिए किसी आन्दोलन को जिम्मेदार नहीं ठहराया जा सकता। बातों के शेर ज़्यादा होते हैं, जिन्दगी मे उस चीज को बरतने वाले मुट्ठी भर। यह तो हमेशा का किस्सा है। हर आन्दोलन मे यही होता है। देखना यह है कि जो कुछ ये लोग कहते है, उसमे सार है या नही। दूर जाने की क्या ज़रूरत है, सबसे पहले तो खुद उसकी ज़िन्दगी मे उनका प्रमाण मौजूद था। आखिर क्या पड़ी थी मुशी अजायब लाल को जो बेटी-बेटे के रहते हुए बुढ़ौती मे जाकर दुबारा ब्याह किया? सेहत भी आपकी माशा अल्ला थी, रोज गिलसिया भर दारू न चढ़ाते तो चलना-फिरना दूभर हो जाता, लेकिन शादी करने से बाज़ न आये। ताज्जुब है अज़ीज़ों में किसी ने समझाया भी नहीं कि भैया यह क्या करते हो, क्यों अपने गले की यह फाँसी मोल लेत हो। भगवान के दिये तुम्हारे दो बच्चे है, अब तुम्हे और क्या चाहिए? राम का नाम लो और इस हरकत से बाज़ आओ, इसमे सिवाय ख्वारी के और कुछ तुम्हे हाथ न लगेगा। न किसी ने समझाया न खुद आपको अक़्ल आयी। अजी छोड़ो भी, ऐसी भी क्या हवस कि उस पर इंसान क़ाबू न रख सके। उम्र भी तो आपकी मुलाहिज़ा फ़रमाइए, पचास साल का आपका सिन है और आप चले है फिर ब्याह रचाने! है कुछ इन्तहा इस अहमक़पने की! जरा कोई पूछे उनसे, आपसे तो दो बरस भी बीवी के बिना नहीं रहा गया और आप जाकर एक नयी बीवी ब्याह लाये, समाज ने ज़रा भी कनौतियाँ नही खड़ी कीं, लेकिन अगर किसी औरत ने ऐसी ही उम्र में पहुँचकर दुबारा शादी की होती तो आपका समाज उसे जिन्दा रहने देता? इस उम्र की बात तो जाने दीजिए, आप तो भरी जवानी में बेवा लड़की को शादी नहीं करने देते। उसे सयम का पाठ पढ़ाते हैं। सारा संयम, सारा इन्द्रिय-निग्रह उसी के लिए है, आपके लिए कुछ नहीं है? भूख बस आपको लगती है, औरत को भूख नहीं लगती? आपसे तो उस बुढ़ौती में भी दो बरस नहीं रहा गया और जवान औरत सारी ज़िन्दगी अपनी पहाड़ जैसी जवानी लिये बैठी रहे। वह

क्या काठ की बनी है, पत्थर की बनी है ! मगर खैर, आपको किसी ने ब्याह करने से रोका नही और आपने ब्याह किया । लेकिन हुआ वही जो होना था । आप खुद तो सिधार गये लेकिन मेरे पैर मे सदा के लिए चक्की बाँध गये । सदा-सदा के लिए मै खूँटे से बँध गया । क्या-क्या तमन्नाएँ थी, घूमने की, फिरने की, दुनिया देखने की — सब धरी की धरी रह गयीं । अभी एक ही पैर में चक्की थी, दूसरा पैर आजाद था । लेकिन वह भी आपसे न देखा गया, दूसरे पैर की चक्की का भी इन्तजाम आप खुद ही कर गये । बतलाइए नवी मे पढ़ता था मै, क्या जल्दी थी मेरी शादी की ? वह भी कोई शादी की उम्र है ? और शादी भी कैसी औरत से ! रूप-रंग, शिक्षा-सस्कार — हर चीज से कोरी । कोई उसके साथ निबाह करे भी तो कैसे । लड़ाका ऊपर से । जिन्दगी नास हो गयी । जो उम्र दुनिया देखने मे, जिन्दगी के नये तजुर्बे हासिल करने में खर्च होनी चाहिए थी, वह बैल की तरह काम करने मे, घर के आये दिन के झगड़े चुकाने मे खर्च हो गयी । एक दिन के लिए मैने नही जाना कि जिन्दगी मे सुकून या इत्मीनान किस चीज को कहते है ।

यह ठीक है कि उसकी तबीयत बहुत घुमक्कड़ नही थी लेकिन तो भी कुछ न कुछ घूमने-फिरने की इच्छा तो हर आदमी के दिल मे होती है । और जब वह चीज उतनी भी न मिली तो उसका दर्द, उसकी खीझ होनी स्वाभाविक थी । और शायद जिन्दगी भर बनी रही — बावजूद इसके कि धीरे-धीरे, वक़्त बीतने के साथ-साथ, परीशानियों के भँवर में पड़कर घर पर बने रहना उसका अभ्यास और उसके स्वास्थ्य की विवशता बन गयी । इस चीज का एक हल्का-सा परिचय उस ख़त से मिलता है जो उन्होंने १२ दिसंबर सन् २६ को अपने एक नौजवान भतीजे रामजी के पास भेजा था । रामजी डाकख़ाने में काम करते थे । वह उनकी नौकरी के शुरू-शुरू के दिन थे । ऐसा कुछ मौक़ा आया कि उनके महकमे के लोग अपने कुछ आदमियों को काम के सिलसिले में देश के बाहर भेजना चाहते थे । कोई जबर्दस्ती न थी । कोई अगर जाना चाहे तो जा सकता था । रामजी खुद कुछ तय न कर पाते थे, लिहाजा उन्होंने मशविरे के लिए आपके पास लिखा । उसका जवाब देते हुए आपने अंग्रेज़ी मे लिखा — तुम्हारा खत पाकर खुशी हुई । काम के सिलसिले में तुम बाहर जाने के लिए नाम लिखाओ, इसमे मुझे कोई आपत्ति नहीं है । शर्त यही है कि इससे तुम्हारी तरक़्क़ी के रास्ते खुलते हों । खाने और मकान के साथ साठ रुपये महीने बुरा नही है । तुम अगर पाँच बरस भी रह गये तो क़रीब तीन हज़ार रुपये बचा लोगे, जिसकी यहाँ कोई उम्मीद नही है । इसके अलावा यह भी है कि तुम्हे नये-नये देश और नये-नये लोगों को देखने के मौके मिलेंगे और तुम जब घर लौटोगे तो ज़िन्दगी की एक ज़्यादा अच्छी समय के मालिक होगे । ....

रामजी गये नहीं, घर के लोगों ने जाने नहीं दिया, लेकिन आज भी ज़िक्र निकलने पर उनको मुंशीजी के ख़त का यही जुमला बार-बार याद आता है और

बड़ी हसरत के साथ याद आता है। वही हसरत शायद मुंशीजी के दिल मे थी जब कि उन्होंने वह बात लिखी थी, कुछ ऐसी बात कि बेटे, मै तो कही जा-आ न सका लेकिन अगर तुमको इस चीज़ का मौक़ा मिल रहा हो तो उसे हाथ से मत जाने दो !

मतलब यह कि आर्यसमाज जिन बुराइयों के खिलाफ़ लड़ रहा था — जैसा भी लड़ रहा था — उन सब बुराइयों का भुगतान वह खुद अपनी ज़िन्दगी में कर रहा था। बाप ने बुढ़ौती मे ब्याह किया और अपनी बेवा छोड गये, एक लड़के के साथ, जिनकी परवरिश की ज़िम्मेंदारी उसे ढोनी पडी और ऐसी उम्र में ढोनी पड़ी जब कि हर शख्स कुलाँचें लगाना चाहता है। खुद उसकी शादी बचपन मे कर दी गयी, एक निहायत अनमेल, फूहड़ शादी जिसको निबाहने की जिम्मेदारी और निबाह न पाने की ख़लिश उसे झेलनी पड़ी। वह तो खुद एक ज़िन्दा मिसाल था हिन्दू समाज की जहालत का। लिहाज़ा आर्यसमाज मे उसकी दिलचस्पी पूरी थी। जल्सों में तो ख़ैर जाते ही थे, शायद वह आर्यसमाज के बाज़ाब्ता सदस्य भी थे। परताबगढ़ का हाल तो पक्का नहीं मालूम लेकिन इसके कुछ ही साल बाद हमीरपुर मे वह आर्यसमाज के बाकायदा मेम्बर थे। ६ फरवरी १९१३ को मझ-गवाँ से मुंशी दयानरायन निगम को भेजे गये एक खत मे और बहुत-सी बातों के साथ उन्होंने लिखा था — अब रहा रुपयों का ज़िक्र। मुझे इस वक़्त चन्दाँ ज़रूरत नहीं है। मगर मेरे ज़िम्मे हमीरपुर आर्यसमाज के दस रुपये बाक़ी हैं। बार-बार तक़ाज़ा हुआ है मगर अपनी तिही-दस्ती ने इजाज़त न दी कि अदा कर दूँ। आप अगर afford कर सकें तो बराहेरास्त मेरे नाम से हमीरपूर आर्यसमाज के सेक्रेटरी के नाम दस रुपये का मनीआर्डर कर दें। .... यहाँ अब जलसा भी अनक़रीब होनेवाला है। ....

जिस जलसे का इस ख़त में ज़िक्र है, शायद उसी में मौलवी महेश प्रसाद को जाने का और मुंशी प्रेमचंद से पहली बार मिलने का इत्तफ़ाक हुआ था। वह लिखते है : 'सन् १९१२ में प्रेमचंदजी हमीरपूर ज़िले में शिक्षा विभाग के सब-डिप्टी-इंसपेक्टर थे। महोबा में रहते थे। मुझे ठीक याद नहीं कि मई का महीना था या जून का जब कि मुझे आर्यसमाज के एक प्रचारक के रूप में महोबा जाना पड़ा था। उस समय मुझे उन्हीं के यहाँ ठहरना पड़ा था। उनके ज़रिए ही मुझे ईसाइयों के उस काम के बारे में बहुत कुछ जानकारी हासिल हुई थी जो कि उस समय महोबे मे ही नहीं बल्कि हमीरपूर ज़िले मे भी हो रहा था। उन्होंने बताया था कि हमारी सामाजिक बुराइयों का ही फल है कि महोबा और बुन्देलखण्ड की दूसरी जगहों में हिन्दुओं के अनेक लड़की-लड़के ईसाइयों के घरों में पहुँच गये है।'

मुंशीजी के लिए यह सिर्फ कहने की एक बात न थी बल्कि सीने पर बैठा हुआ एक बोझ था और उन्होंने इन्हीं दिनों 'खून सफेद' नाम की कहानी लिखी। कहानी

यह है कि जादोराय का लड़का साधो परिस्थिति के चक्र में पड़कर पादरियों के साथ चला जाता है। कई बरस उन्ही के साथ रहता है। वह लोग उसको ईसाई बना लेते हैं। फिर एक रोज उसको अपने घर की, अपने माँ-बाप की सुध आती है और वह किसी दूर-दराज जगह से अपने घर पहुँचता है। माँ-बाप तो अब भी उसके माँ-बाप है लेकिन बीच मे बिरादरी आकर खडी हो गयी है जो दुबारा हिन्दू बन जाने के बाद भी पूरी तरह उसको अपने बीच लेने के लिए तैयार नही है। नतीजा होता है कि वह शाप के-से स्वर में यह कहता हुआ कि 'जिनका खून सफेद है, उनके बीच मे रहना व्यर्थ है!' फिर वही चला जाता है जहाँ से आया था। कहानी कुछ खास अच्छी नही है लेकिन हाँ, उससे इस बात का पता जरूर चलता है कि मुंशीजी का मन किस तरह बन रहा था। मन की इस बनावट में आर्यसमाज के अलावा कुछ हाथ शायद उस सोशल रिफ़ार्म लीग का भी था जो रानाडे और गोखले के नेतृत्व में काफ़ी महत्वपूर्ण काम कर रही थी। उसका भी उद्देश्य सामाजिक कुरीतियों को दूर करना था, वही कुरीतियाँ जिनके चलते उसके पैरों मे चक्की के ये मोटे-मोटे पाट बँध गये थे, वर्ना वह भी चिड़ियों की तरह आजाद होता!

नहीं तो वह यहाँ परतावगढ मे पडा था और वहाँ घर पर लमही में उसकी दूसरी माँ, पिता की बुढ़ौती की शादी की बेवा, और खुद उसकी बीवी बैठी थी जिससे उसकी शादी पन्द्रह साल की उम्र में हुई थी। उनकी परवरिश की ज़िम्मेदारी पूरी थी लेकिन सुख एक भी नहीं, उल्टे आये दिन की कलह। चलो उस सबसे तो बचा हुआ हूँ यहाँ पर! पढ़ता हूँ, पढाता हूँ, जो जी में आता है दो अच्चर गोद लेता हूँ। मेरे सुख के लिए यही बहुत काफ़ी है। लेकिन यह सब मन को बहलाने की बातें हैं। असल चीज़ यह है कि उसको अपनी ज़िन्दगी उखड़ी हुई मालूम होती थी और अब वह यह भी समझने लगा था कि इसकी ज़िम्मेदारी किसी एक व्यक्ति पर नही बल्कि समाज के पिछड़ेपन और उसकी कुरीतियों पर है। इसके लिए अपनी ताक़त भर कुछ न कुछ करना होगा। किसी के हाथ में कोई हथियार है, किसी के हाथ मे कोई। कुछ लोग व्याख्यान देने में निपुण होते हैं, वह घूम-घूमकर अपने व्याख्यानों से लोगों को जगाते फिरते हैं। कुछ लोग संगठन करने की कला जानते हैं, वह इस बिखरे हुए समाज को संगठन की डोर मे बाँधकर लोगों के दिमागों के बन्द खिड़की-दरवाजे खोलते है। मुझसे वह चीजें नहीं बन सकतीं। पर मेरे हाथ में क़लम है। लोग क़िस्से-कहानियाँ पढ़ना भी बहुत पसन्द करते हैं। मैं अपने क़िस्सों-कहानियों से लोगों को उनके समाज के असली रूप को उनकी आँखों के सामने लाऊँगा और उन्हे सोचने के लिए मजबूर करूँगा। इतना अगर मैं कर सका तो समझूँगा कि मेरी ज़िन्दगी अकारथ नही गयी। अपनी क़ौम की, जाति की, देश की सेवा करने से बड़ी बात और क्या है। जीने को तो सभी जीते हैं, कोई आराम से कोई तकलीफ़ से। कोई शाही टुकड़े खाता है, कमख़ाब पहनता है

और महलों में रहता है। कोई जौ की रोटी और बथुए का साग खाकर और फटी मिर्जई पहनकर अपनी चूती हुई मड़ैया में अपनी ज़िन्दगी के दिन गुज़ार देता है। वह सबकी अपनी-अपनी बात है, दुनिया को उस सबसे कुछ सरोकार नही। जो मालदार है वह किसी का घर नही भर देता और जो दरिद्र है वह किसी का कुछ छीन नहीं लेता। दुनिया तो सिर्फ एक बात जानती है, उसी एक काँटे से वह सबको तोलती है — उसकी ख़ातिर कौन कितना जिया या नहीं जिया। अपने लिए तो जानवर भी जी लेता है, जो दूसरों के लिए जिये, वही असल आदमी है। करोड़पती मर जाता है, कुत्ता भी नहीं भूँकता। और ज़िन्दगी भर चीथड़ा लगाकर घूमनेवाले सच्चे वैरागी की समाधि पर लोग सिजदे करते है, फूल और बताशे चढ़ाते है। दुनिया अपने ऊपर की गयी भलाई को कभी नही भूलती। और फिर यह तो किसी पर भलाई करने की बात नहीं है। जिस मिट्टी मे मेरा जन्म हुआ उसका झाड़-झंखाड़ साफ़ करने की जिम्मेदारी मेरी भी तो है। न सही मै कहीं का महात्मा लेकिन अपनी बिसात भर काम तो हर शख्स कर सकता है। सेतुबंध बनाते समय वह गिलहरी जो अपने मुँह में एक तिनका लेकर पहुँची थी, भगवान रामचन्द्र ने उसकी भी कुछ कम क़द्र न की थी। आराम और आसाइश की ज़िन्दगी पा लेना मुश्किल हो सकता है लेकिन नामुमकिन नहीं है। मगर सबसे बड़ा सवाल तो यह है कि आराम और आसाइश लेकर आदमी करे भी क्या? उस रास्ते तो जो गया खो गया। मै उस रास्ते नहीं जाऊँगा। सच कहता हूँ, वैसी कोई तमन्ना मेरे दिल में नहीं है। मेरे लिए तो यही अपनी सीधी-सादी ज़िन्दगी सबसे अच्छी है, न ऊधो के लेने मे न माधो के देने मे, न दुनिया की हाय-हाय से कोई मतलब। अपने घर बैठो, मोटा-झोटा जो मिल जाय खा लो और कोने में बैठकर अपना काम करो। इससे अच्छा कुछ भी नही है।

बहुत लोगों से मिलने-जुलने की आदत उसे कभी न थी। किताबें ही उसकी सबसे अच्छी साथी थीं। जो वक़्त पढ़ाने से बचता वह अपने पढ़ने और लिखने में ख़र्च होता। लेकिन अब एक फ़िक्र उसे सताने लगी थी — यही कि अब उसे ट्रेनिंग पास कर लेना चाहिए। ज़िन्दगी भर अब यही मास्टरी करनी है, ट्रेनिग हासिल किये बिना काम न चलेगा। बहुत अच्छा होता कि सारा समय लिखने-पढ़ने को दिया जा सकता लेकिन सिर्फ़ किताबें लिखकर तो रोटी नहीं चल सकती। उसके लिए तो कुछ-न-कुछ करना ही होगा। और जब कुछ-न-कुछ करना ही है तो फिर उसमे सबसे अच्छी यही मास्टरी है। और मास्टरी के लिए ट्रेनिग ऐन जरूरी है। उस वक़्त सूबे का सबसे पहला और अकेला ट्रेनिंग कालेज इलाहाबाद मे था। परतावगढ़ खुद इलाहाबाद ज़िले की तहसील था और दोनों के बीच सिर्फ़ बत्तीस मील की दूरी थी। लिहाज़ा नवाब ने इलाहाबाद जाकर ट्रेनिग लेने का निश्चय किया और लगभग दो बरस परतावगढ़ मे रहने के बाद महकमे से दो

साल की छुट्टी लेकर इलाहाबाद पहुँचा और ६ जुलाई १९०२ को ट्रेनिंग कालेज की प्रेपेरेटरी क्लास मे दाखिल हुआ। एण्ट्रेन्स पास लोग एक साल इसी क्लास मे पढते थे और दूसरे साल जूनियर क्लास मे। जूनियर और सीनियर क्लास के प्युपिल टीचर साथ-साथ पढते थे। नाटे क़द (पाँच फुट चार इंच) और इकहरे जिस्म का यह चौड़ी-चौड़ी हड्डियोंवाला मजबूत नौजवान जल्दी ही सबकी नजरों पर चढ गया। उसकी वेशभूषा बहुत सादी थी यानी पाजामा और अचकन या खुले गले का लंबा कोट, सर पर साफ़ा। और जिस तरह वेशभूपा सादी थी उसी तरह उसकी आदते और उसका स्वभाव भी सीधा-सच्चा और बनावट से परे था। उसकी आवाज बुलन्द थी और शरीर में बल की भी कमी न थी — पंजा खोलने पर उँगलियों को मोड़ना मामूली आदमी के लिए आसान बात न थी। खामखाह किसी से दबना भी उसने न सीखा था लेकिन इस सबके बावजूद वह सबसे बहुत झुककर, अदब के साथ, और मुहब्बत से मिलता। होस्टल में लड़ना-झगड़ना तो दरकिनार उसको कभी किसी से असभ्य या रूखे ढंग से बात करते भी नही देखा गया। नौकरों के साथ भी वह बहुत अच्छी तरह पेश आता था।

पढ़ने का उसको मर्ज था और पढते-लिखते वक्त वह अकसर अपना कमरा भीतर से बन्द कर लिया करता था। खेलकूद में भी वह जी खोलकर हिस्सा लेता था लेकिन उसके असल प्राण अपने लिखने-पढ़ने मे बसते थे।

और इन्हीं दिनों उनका एक छोटा उपन्यास 'असरारे मआबिद' (देवस्थान रहस्य) बनारस के एक साप्ताहिक उर्दू पत्र 'आवाजए खल्क़' मे ८ अक्तूबर १९०३ से धारावाहिक छपना शुरू हुआ। और इसे एक अनोखा संयोग ही कहना चाहिए कि जिस ८ अक्तूबर को उनकी पहली रचना रोशनी मे आयी, उसी ८ अक्तूबर को तैंतीस साल बाद उनकी आँखें इस दुनिया की रोशनी पर बंद हुई !

इस उपन्यास में एक महन्त जी और उनके चेले-चपाटों की पोल खोली गयी है। नाच-गाने की महफ़िल जमी हुई है।

● रात का वक़्त। अभी इस काली बला की पहली ही मंजिल है। दूर से मीठे सुरों की आवाज़ सुनायी पड़ती है। मालूम होता है कि कोई कोकिल-कण्ठी, गौर-वर्णा, सुन्दरी प्रेमिका खूब दिल तोड़-तोड़कर गा रही है (रँगीले बलम काहे करो चतुराई) दर्शकों को भाव बता-बताकर लुभा रही है। तारीफ़ों की बौछार हो रही है, सदक़ों की भरमार हो रही है। वाह-वाह की सदा बुलन्द है, हर शख्स का दिल खुर्सन्द[1] है। महफ़िल के लोग संगीत की शराब से मखमूर है, जलसे के श्रीमंत अंगूरी शराब से चूर है। महफ़िल का चिराग़ दिल की तड़प के मारे बेक़रार है, परवाना उस पर जान से निसार है। तमाम नेचर मदहोश है, दीवार भी हमातन-

---

१ आनन्दित

गोश[1] है ।

यह आवाज़ श्री महादेव लिंगेश्वरनाथ के मंदिर से आ रही है ।

इस वक्त श्रीमान् बाबा त्रिलोकीनाथ माथे पर लाल चंदन का टीका लगाये, पीले रेशम की भड़कीली मिर्जई डाटे बैठे है । गले में अनमोल मोतियों की एक मोहनमाला पडी हुई है । सिर पर एक जड़ाऊ टोपी अजीब शान से रखी हुई है । उनके खूनी दाँतों ने बेचारे बेगुनाह पान के बीड़ों का खून इतना ज़्यादा किया है कि खून की लाली क़ातिलों के गले का हार होकर बार-बार उनकी तरफ़ उँगली दिखा रही है और चूँकि ये जल्लादी दाँत खून करने के आदी हो गये है, उन्हें बिना किसी बेगुनाह के खून से हाथ रँगे चैन नहीं .... यह जो आप महंतजी के माथे पर लाल निशान देख रहे है, यह चंदन के निशान नहीं, बल्कि इस बात को सिद्ध कर रहे है कि हज़रत ने न्याय और धर्म का खून कर डाला है । आप जो इनके गले में मोहन-माला देख रहे है, यह असल मे लोभ का फंदा है जो आपको खूब कसकर जकड़े हुए है । सिर पर तिरछी रखी हुई टोपी आपकी अक़्ल के तिरछेपन को ज़ाहिर कर रही है । आपके शरीर पर रंग-बिरंगी मिर्जई नही है, बल्कि अंधविश्वासियों को सब्ज बाग़ दिखाने का यंत्र है जो आपके हृदय के अंधकार और भीतरी कालेपन के ऊपर पर्दे की तरह पड़ा हुआ है, या बुद्धूओं को लाल दरवाजा दिखाने का औज़ार है जो भीतर की कालिमा को संन्यास और वैराग्य के पर्दे मे छिपा रहा है, या धोखे की टट्टी है जो भक्तों को जाल में फँसाने के लिए फैलायी गयी है । ●

पूत के पाँव पालने मे, मुंशीजी का भरपूर रंग इसी पहली चीज में मौजूद है — वही पैनी सामाजिक दृष्टि, वही बात कहने का फड़कता हुआ अंदाज़ । सरशार को मुंशीजी जिस तरह घोलकर पी गये थे, वही अब उनके लिखने में उतर आया था । सरशार के क़िस्से जिस तरह गली-कूचे, मेले-ठेले, यहाँ-वहाँ, सब जगह रुकते-ठहरते और उनकी तसवीर उतारते हुए चलते हैं, वही चीज़ यहाँ है, समाज के विभिन्न अंगों की वही सजीव, चित्रमय पकड़, अंतर इतना ही है (और वह बड़ा अंतर है) कि मुंशीजी मे विद्रोही तत्व अधिक है । मगर ढंग उन्होंने सोलहों आने सरशार का ही अपनाया है ।

यह देखिए औरतों की एक टोली शिवरात्रि के मेले में जा रही है —

● तमाम औरतें कपड़े-लत्ते से लैस है, नाक-चोटी से दुरुस्त, ज़ेवरों से गोंडनी की तरह लदी हुई, मारे जेवरों के जिस्म पर तिल रखने की जगह नहीं । आज वह क़ीमती जोड़े निकाले गये है जो धराऊँ कहलाते है और जो शादी-ब्याह के वक़्त बड़े ठाट-बाट से पहने जाते हैं । उनमे हरेक बेजोड़ है, कोई छाँटने क़ाबिल नहीं ।

कस्तूरी मे बसी हुई चोटियाँ, जो स्नान करने के बाद कंधों पर बिखेर दी गयी है, उनकी सुन्दरता को और भी बढ़ाती है। हरेक स्त्री के सुन्दर और सुकुमार हाथो मे एक बहुत अच्छा पीतल का कमण्डल लटक रहा है जिसमे पूजा का सामान है।

ये चचल जवान औरते आपस मे हँसती-बोलती, दिल्लगी-मजाक करती चली जा रही थी। आपस मे छेड-छाड़ भी होती थी, बोली-ठोली भी मारी जाती थी, सख्त बातें भी कही जाती थी, ताने-तिश्ने की भी नौबत आ जाती थी, फिर मिलाप हो जाता था। इसी बीच एक बुड्ढे महाशय मिले। उनकी चाल-ढाल उन तीखे बुड्ढों सी थी जो आजकल लखनऊ मे खाक छानते फिरते है या उन मुहम्मदशाही नौजवान आशिकमिज़ाजों की-सी जो गलियों में नज़रे लड़ाया करते थे। सफ़ेद दाढ़ी लहरें मारती हुई। एक कुबानुमा टोपी सर पर, कामदानी का अँगरखा बदन पर। आपने जो इन परियों को देखा तो आँखों मे दीदार का शौक़ पैदा हुआ और मुँह मे पानी भर आया .... ●

कहीं तालाब किनारे रंगीन तबीयत के नौजवान आँखे सेक रहे है, कहीं भँगेड़ियों की टोली बैठी है, भंग घोटी जा रही है और भंग की शान मे कसीदे पढ़े जा रहे है, कही तवायफ महंत जी को चपतिया रही है और कहीं उसके हवाली-मवाली उसके सिर चखौतियाँ कर रहे है, कही धूर्त स्वामीजी सुनार के बेटे को वशीकरण का जंतर-मंतर दे रहे है और कही उस तवायफ़ के हवाली-मवाली उसके नक़ली कण्ठे को असली करके बेचने की तिकड़म में लगे है, कहीं मियाँ-बीवी में तकरार हो रही है और बीवी मियाँ के साथ न जाने के लिए तरह-तरह के छल-छंद कर रही है, कहीं टोले-पड़ोस की औरते झूठमूठ टेसुए बहा रही है — सब कुछ बेहद जानदार, बेहद दिलचस्प, और उन सब पर इत्मीनान के साथ रुकता-ठहरता क़िस्सा बिलकुल सरशार के रंग में आगे बढता है। कथानक ढीला है या कमज़ोर है इसकी मुंशीजी को रत्ती भर चिन्ता नहीं है।

४

अप्रैल १९०४ में मुंशीजी ने ट्रेनिंग का इम्तहान अव्वल दर्जे मे पास कर लिया —हाँ, गणित न पढ़ा सकने की बात इस सर्टिफिकेट में भी दर्ज कर दी गयी !

लगभग उन्हीं दिनों 'धनपत राय श्रीवास्तव्य' ने उर्दू और हिन्दी की स्पेशल वर्नाक्यूलर परीक्षा भी पास की ।

और शायद इन्हीं दिनों मुंशीजी की चिट्ठी-चपाती मुंशी दयानरायन निगम के साथ शुरू हुई जिन्होंने हाल मे ही 'जमाना' शुरू किया था । उनको लिखने-वालों की तलाश थी, इनको अपने लिए किसी पत्र की जिसमें वह बँधकर लिख सकें । धीरे-धीरे इस सम्बन्ध ने एक बड़ी गहरी दोस्ती का रूप ले लिया जो मरते दम तक चली । लेकिन अभी तो बस ख़त-किताबत तक बात थी, शकल भी शायद एक दूसरे की उन्होंने न देखी थी ।

'आवाजए ख़ल्क़' में अभी यह क़िस्सा छप ही रहा था कि मुंशीजी के लिए ट्रेनिग का सिलसिला ख़त्म करके वापस परताबगढ़ जाने का वक़्त आ गया । ३० अप्रैल १९०४ को मुंशीजी अपनी जगह पर लौट गये । लेकिन नौ महीने बाद ही ट्रेनिंग कालेज के प्रिन्सिपल केम्प्स्टर ने, जो इस शान्त, परिश्रमी, मीठे और मिलन-सार नौजवान से बहुत खुश था, मुंशीजी को ट्रेनिंग कालेज से लगे हुए माडल स्कूल का हेडमास्टर बनाकर फिर इलाहाबाद बुला लिया । पचीस साल के नौजवान के लिए माडल स्कूल की हेडमास्टरी कोई छोटी चीज़ न थी । माडल स्कूल सचमुच माडल स्कूल था — लड़कों के खेलने-कूदने, पढ़ने-लिखने के सरंजाम के ख़याल से भी और पढ़ाई के स्टैण्डर्ड के ख़याल से भी । पढ़ाई को आसान और दिलचस्प बनाने के लिए नयी से नयी तरकीबें जो विलायत में ईजाद होतीं उनको यहाँ अमल मे लाने की कोशिश की जाती । और मुंशीजी ने बड़ी उमंग और बड़ी तनदिही से उस भरोसे को सच करके दिखाया जो केम्प्स्टर ने उनके प्रति दिखलाया था ।

लेकिन मुंशीजी को अभी यहाँ मुश्किल से तीन महीने हुए थे कि मई १९०५ मे उनका तबादला कानपुर के लिए हो गया — उसी पचीस रुपये पर, डिस्ट्रिक्ट स्कूल में आठवें मास्टर के पद पर । मगर ख़ैर, नौकरी के यह सब सिलसिले तो चलते ही रहे, नवाब का लिखना भी अपनी सम गति से बराबर चलता रहा ।

अपनी ज़िन्दगी का खाका अब उसकी आँखों के सामने साफ़ था। उसी हद तक यह भी साफ़ था कि लिखने का काम भी, चाहे कम चाहे ज़्यादा, बराबर दिनचर्या के रूप मे चलना चाहिए। खाना-पीना, सोना-जागना, जिन्दगी के और सब काम जब बिला नागा होते है तब लिखने के काम मे ही नागा क्यो हो — इस अनुशासन की डोर मे अपने को बाँधना अब उसने शुरू कर दिया था। और जैसे-जैसे दिन गुजरते गये वैसे-वैसे यह अनुशासन और पक्का होता गया। अच्छा ही हुआ कि वह मुहूर्त देखकर लिखने के लिए बैठनेवालों मे न था वर्ना तो उसकी जिन्दगी जैसी थी शायद कभी वह शुभ मुहूर्त उसकी ज़िन्दगी मे न आता क्योंकि परीशानियों से छुट्टी तो उसको एक दिन के लिए भी नहीं मिली। चाँद-सूरज जाड़ा-गरमी-बरसात — प्रकृति मे ऐसी कौन सी चीज़ है जिसका वक़्त बँधा हुआ नही है ? तो फिर आदमी भी कैसे इस नियम से बच सकता है, आखिर वह भी तो इसी ख़ाक का पुतला है। लिखना अगर महज दिमाग़ की खुजली मिटाना नहीं है बल्कि जिन्दगी है तो उसे भी जिन्दगी के तमाम और रमझल्लों के बीच ज़िन्दा रहना होगा। इसकी तदबीर करनी होगी। इसके लिए अपने आपसे लड़ना होगा। दिमाग़ को दिल को इस बात की ट्रेनिंग देनी होगी। आसान काम नहीं है यह। इत्मीनान जिन्दगी में कहाँ है : इत्मीनान तो बस मौत मे है। मास्टरी उसकी जीविका थी और लिखना उसका जीवन। जीविका जब यह नहीं भी रही तब भी जीवन अपनी उसी धीर-गम्भीर चाल से चलता रहा क्योंकि वही, एकमात्र वही, उसकी खुशी थी, उसका सुख, उसका संतोष, उसकी सार्थकता। बहुत से दूसरे सुविधा-सम्पन्न लिखनेवालों की तरह उसने कभी जीवन और कला को दो अलग-अलग खानों में बाँटकर नहीं रक्खा। शायद यही उसकी कमज़ोरी थी और यही उसकी सबसे बड़ी ताक़त। उसने ज़िन्दगी मे बहुत दुःख देखा था और शायद उस दुःख को सह सकने के लिए ही प्रकृति ने उसे उन्मुक्त हँसी का कवच दे दिया था। यह कवच उसके पास न होता तो वह कबका टूटकर ख़त्म हो गया होता। क्या थी उसकी जिन्दगी — उलझे हुए धागे का एक गोला। माँ कबकी सिधार गयी, बाप का साया सर से उठे भी छः सात साल हो गये। घर पर सौतेली माँ और उनका बेटा और एक अपनी बीबी, बदशकल, फूहड़, झगड़ालू। सास-बहू के आये दिन के झगड़े, फूलना-गूलना। आराम एक नहीं और मुसीबतों का एक दफ़्तर सर पर। पच्चीस रुपये तनख्वाह में से दस-बारह रुपये अपने पास रखकर बाक़ी घर रवाना कर देने पड़ते। न खाने का सुख न पहनने का, लेकिन कभी तेवर मैला न हुआ। इतना ही नहीं, दर्द जितना ही बढ़ता था, हँसी उतनी ही बुलन्द से बुलन्दतर होती जाती थी। यहाँ तक कि ट्रेनिंग कालेज के उनके सहपाठी बाबू लालकिशन साहब के अल्फ़ाज़ में 'आपकी और स्वर्गीय बाबू गिरिजाकिशोर साहब असिस्टेण्ट कमिश्नर आबकारी की वजह से हमारा छोटा-सा लाफ़िंग क्लब बन गया था, जिसका रोज़ाना इजलास

मेरे ही कमरे में हुआ करता था। उसमे शायद और भी दो-एक साहब थे लेकिन इस वक़्त खयाल नहीं आता। बहरहाल, उनमे सभी हँसनेवाले थे मगर धनपत-राय गज़ब करते थे। जब हँसते तो खूब हँसते और क़हकहे पर क़हक़हा लगाते चले जाते .... ' नहीं, यह बनी हुई, खोखली हँसी न थी। खोखली हँसी फ़ौरन पकड़ मे आ जाती है, वह खुद अपने खोखलेपन का ढिंढोरा पीटती चलती है। उसमे सच्चे-झूठे की तमीज करना इतना मुशकिल काम नहीं है। चाँदी की तरह खनकती हुई, ठनकती हुई हँसी यह जिसमे चेहरे पर खून छलक आता है और आँखों के आस-पास झुरियाँ पड़ जाती है झूठी नहीं हो सकती।

लेकिन वह नादान बच्चे की हँसी भी नहीं है जो दुनिया के दुख-दर्द का, सर्दी-गर्मी का हाल नहीं जानता। वह एक ग़म उठाये हुए बालिग़ आदमी की हँसी है जिसने दुनिया में बहुत कुछ देखा है, बहुत कुछ सहा है और जानता है कि एक मुक़ाम पर पहुँचकर रोना और हँसना एक हो जाता है। मगर बालिग आदमी ही की तरह उसे इस बात का भी पता है कि जहाँ खुद अपनी तकलीफ़ में आदमी का हँसना अच्छा मालूम होता है वहाँ दूसरे की तकलीफ़ मे उससे कुछ और ही उम्मीद की जाती है। तब वह हँसता नहीं, हमदर्दी करता है और अपनी सकत भर उस दूसरे आदमी की मदद के लिए दौड़ता है। एक उसकी निजी ज़िन्दगी है दूसरी उसकी समाजी ज़िन्दगी। दोनों का अपना अलग अख़लाक़, अपनी अलग नैतिकता है। एक जगह टेसुए ढरकाना बे-महल है तो दूसरी जगह हँसना बे-महल है। ठीक कहा रहीम ने, अपने मन की बिथा मन मे ही रखो, क्या होगा दूसरे से कहकर कोई बाँट तो लेगा नहीं, उल्टे सब हँसेंगे। तो मैं इसका मौका ही किसी को क्यों दूँ। मुझे कुत्ते ने काटा है जो मै अपने दर्द की रेवड़ी सारे ज़माने मे बाँटता फिरूँ! दूसरे मुझ पर हँस सकें, इसके पहले मैं खुद हँसूँगा और इस ज़ोर से हँसूँगा कि छत गिर पड़ेगी। कितनी अच्छी बात कही है उस अंग्रेज़ कवि ने — हँसो तो सारी दुनिया तुम्हारे साथ हँसती है और रोओ तो अकेले रोओ। लिहाज़ा मैं हँसूँगा ताकि सारी दुनिया मेरे साथ हँस सके — जहाँ तक मेरी अपनी ज़िन्दगी की बात है। लेकिन जहाँ मै समाज का एक अंग हूँ और मेरा दर्द अकेले मेरा नहीं बल्कि समाज के बडे दर्द का ही एक नन्हाँ-सा टुकड़ा है या मैं देखता हूँ कि किसी पर ज़ुल्म हो रहा है वहाँ मै चुप नहीं रह सकता और न हँसकर ही छुट्टी पा सकता हूँ। सही या ग़लत, उसकी यह पुख्ता समझ है कि साहित्य को लिखनेवाले की निजी ज़िन्दगी से नहीं उसकी समाजी ज़िन्दगी से सरोकार होता है। साहित्य के बारे मे उसकी यह समझ पहले रोज़ से लेकर आख़िरी रोज़ तक रही। इसलिए फ़िराक़ गोरखपुरी की बात सुनकर ज़रा भी ताज्जुब नहीं होता कि मुंशी प्रेमचंद को उर्दू ग़ज़लों से कुछ खास मुहब्बत न थी, बल्कि इसी बात को लेकर दोनों दोस्तों में जब-तब चोंचें भी हो जाती थीं। ताहम मुंशीजी अपने इस शायर दोस्त की तमाम दलीलों के बाद भी

अपनी जगह से हिलने को तैयार न थे। जैसा कि उन्होंने बहुत बाद को अपने मित्र, उर्दू के प्रसिद्ध साहित्यकार इम्तयाज अली 'ताज' को १४ सितम्बर १६२० के अपने ख़त मे लिखा था — मै लिटरेचर को मैस्कुलिन देखना चाहता हूँ, फेमिनिज्म, ख्वाह वह किसी सूरत मे हो, मुझे पसन्द नहीं। इसी वजह से मुझे टैगोर की अक्सर नज़्मे नहीं भाती। यह मेरा भीतरी नुक़्स है, क्या करूँ। अशआर[1] भी मुझे वही अपील करते है जिनमे कोई जिद्दत[2] हो। 'ग़ालिब' के रग का मै आशिक हूँ। अज़ीज़ लखनवी के 'गुलकदे' की खूब सैर की थी मगर बदकिस्मती से आज तक एक शेर भी मौजूँ नहीं कर सका। न जी चाहता है। गालिबन शायराना हिस[3] दिल मे है ही नहीं।'

इस खत के कई बरस बाद इन्द्रनाथ मदान के एक सवाल का जवाब देते हुए भी कि बँगला साहित्य क्यों दिल को ज़्यादा छूता है, उन्होंने लगभग यही बात कही थी — उसमे एक स्त्रियोचित गुण पाया जाता है, जिसे मैं अपने स्वभाव के प्रतिकूल पाता हूँ ....

लेकिन उनके मन की यह बनावट कुछ एक दिन की न थी। जबसे लिखना-पढ़ना शुरू किया तभी से यह चीज़ बहुत गहराई से उनके अन्दर घर कर गयी थी और ताजिन्दगी रही। इसीलिए जब 'ज़माना' ने, जिससे उनका बहुत गहरा संबंध शुरू से ही रहा, नवम्बर १६२६ में अपना 'आतिश' नम्बर निकाला तो मुशी जी से नही रहा गया — इसलिए और भी कि वह प्रखर सघर्ष का समय था — और उन्होंने एक बहुत तेज़ शिकायती ख़त अपने दोस्त मुशी दयानरायन निगम को लिखा। ख़त बहुत दिलचस्प है और उससे मुशीजी के मन की बनावट और उनके साहित्यिक रुझान पर बहुत नयी और अछूती रोशनी पड़ती है। खत चूँकि कुछ झगड़े का है इसलिए हमेशा की तरह 'बरादरम' (मेरे भाई) के संबोधन से शुरू न होकर, बहुत बिफरे हुए अंदाज मे इस तरह शुरू होता है —

● मकर्रम-बन्दा जनाब एडीटर साहब ज़माना, तसलीम।

रिसाला ज़माना का माह नवंबर का पर्चा देखकर मेरे दिल मे चन्द ख़यालात पैदा हुए जिन्हें अर्ज़ कर देना मै अपना फ़र्ज समझता हूँ। उम्मीद है कि जनाब को नागवार न होगा। इस ज़माने मे जब कि गूनागूं[4] अखलाकी.[5] सियासी,[6] मआशरती[7] और इक़्तसादी[8] मसायल[9] हमारी तमामतर तवज्जो[10] के मुस्तहक़[11] हैं, मुझे यह देखकर अफ़सोस हुआ कि रिसाला ज़माना का क़रीब-क़रीब एक पूरा नंबर महज़

---

१ शेर का बहुवचन २ मौलिक सूझ ३ संवेदनशीलता ४ तरह तरह की ५ नैतिक ६ राजनीतिक ७ सामाजिक ८ आर्थिक ६ समस्याएँ १० समग्र ध्यान ११ अधिकारी

आतिश के कलाम[१] के तबसरे[२] की नज़र हो गया। मैं आतिश की उस्तादी का क़ायल हूँ। लखनऊ शायरी का मजमूम[३] पहलू आतिश की शायरी मे मुक़ाब्लतन्[४] कम है। मगर फिर भी इतना ज़्यादा है कि बइस्तसना[५] उन हज़रात के जो लखनवी शायरी के रंग मे रँगे हुए हैं और सभी तबाआ[६] को मौजूदा मेयार[७] और जौके सही[८] से गिरा हुआ नज़र आता है।

लिटरेचर का मौजू[९] है तहज़ीब,[१०] अखलाक़,[११] मुशाहिदए जज़बात[१२], इन्कशाफ़े हक़ायक़[१३] और वारदात-ओ-कैफ़ियाते क़ल्ब[१४] का इजहार।[१५] जो शायरी हुस्न व इश्क़ को आईना व शाना,[१६] खंजर व महशर,[१७] बुशरा व खत,[१८] दहन[१९] व कमर के तखैयुल[२०] से मुलव्वस[२१] करती हो वह हरगिज इस क़ाबिल नहीं कि आज हम उसका विर्द[२२] करे। जिनकी उफ्तादे तबीयत[२३] इस रंग की है उन्हे अख्तियार है आतिश या नासिख, रिन्द और अमानत का वज़ीफ़ा पढ़ें। लेकिन ज़माना के मुख्तलिफ़ुत्तबा[२४] नाज़रीन[२५] को इस विर्द और वजीफ़े मे शरीक होने के लिए मजबूर करना कहाँ का इसाफ़ है? मिर्ज़ा जाफ़र अली खाँ साहब ने अपने तबसरे में आतिश के कलाम का इंतखाब पेश किया है मगर इस इंतखाब मे भी बेशतर ऐसे अशआर हैं जिन्हे जौक़े लतीफ़[२६] हरगिज क़ाबिले सताइश[२७] न समझेगा। मुलाहिजा हो—

भर गया दामने नज़्ज़ारा गुले नरगिस से
आँख उठाकर जो कभी तुमने इधर देख लिया।

आँख कि रियायत से नरगिस को लाकर दामने नज्जारा को गुले नरगिस से भर देना, इसमें क्या नुदरते खयाल[२८] है, क्या हक़ीक़त हैं, समझ मे नहीं आता!

कासिदों के पाँव तोड़े बदगुमानी ने मेरे
खत दिया लेकिन न बतलाया निशाने कूए दोस्त।

क्यों नहीं बतलाया? थी आपकी हिमाकत या नहीं? आपको खौफ़ हुआ कहीं माशूक़ क़ासिद[२९] का दम न भरने लगे। वाह रे माशूक़ और वाह रे आशिक़, दोनों जिन्दा दरगोर[३०]। —●

इसी रंग मे यह खत अभी और भी काफ़ी लंबा है लेकिन शायद इतने ही से

---

१ काव्य २ चर्चा ३ बुरा ४ अपेक्षाकृत ५ अलावा ६ तबीयतों ७ समय की कसौटी ८ स्वस्थ रुचि ९ विषय १० संस्कृति ११ नैतिकता १२ भावों की अभिव्यक्ति १३ सत्य का उद्घाटन १४ दिल की हालतों १५ प्रकट करना १६ कंधा १७ क़यामत, प्रलय १८ चेहरे पर मसों का भीगना १९ मुँह २० कल्पना २१ लपेट देती २२ माला जपें २३ तबीयत का रुझान २४ अलग अलग तबीयतों वाले २५ पाठकों २६ सुरुचि २७ स्तुत्य २८ नवीन कल्पना २९ संदेशवाहक ३० क़ब्र में

यह बात साफ़ हो गयी होगी कि साहित्य का मतलब वह क्या समझता है। नाज़-नख़रे, चोंचलेबाजी, सर्द आहों का धुआँ, लफ़्जों की फुलझड़ी, उपमाओं का जमघट, कोरा उक्ति-वैचित्र्य — इन चीजों को वह कभी साहित्य के ऊँचे आसन पर नही बिठाल सका। यह नही कि उनके मज़े से वह बेगाना हो, आखिरकार यही चीजें तो उसकी घुट्टी मे पड़ी थीं। लेकिन नहीं, उन चीजों का जमाना लद गया, अब मुल्क और क़ौम को कुछ दूसरी ही खूराक चाहिए। रंग और चटखारा ले लो उसमे से जितना ले सको, लेकिन बात कहो अपने समाज के दुख-दर्द की, उन भयानक सवालों की जिनकी आग मे तुम्हारी बहनें, तुम्हारे भाई, तुम्हारी कौम जल रही है। बहुत हो चुका आहों का धुआँ, अब इस धुएँ को देखो जो तुम्हारी बेकस बहन, तुम्हारे मजलूम भाई की चिता से उठ रहा है!

'असरारे मआबिदे' तो 'आवाजए ख़ल्क़' मे क्रमशः छप ही रहा था, शायद इन्ही दिनों, परताबगढ़ के इन नौ महीनों मे, मुंशीजी ने अपना अगला उपन्यास 'हमखुर्मा व हमसवाब' लिखा। ३० जनवरी १६०५ को परताबगढ से मुंशी दयानरायन निगम को भेजे खत मे जिस नाविल का ज़िक्र है ('मै बडे इश्तियाक़[1] से मुन्तज़िर[2] हूँ कि आपने मेरा नाविल पढ़ा या नही।') और बीस रोज बाद फिर इलाहाबाद से जिसकी याददेहानी करते हुए उन्होंने अंग्रेजी मे लिखा था —'दो महीने से ज़्यादा हुआ कि मुझे अपने उपन्यास की पाण्डुलिपिआपकेपासअवलोकनार्थ भेजने का सौभाग्य हुआ था इस आशा मे कि आप मेरे लिए एक प्रकाशक जुटाने की कृपा करेंगे। मुझे याद है कि वह दिसम्बर की आठ तारीख़ थी जब कि मैने किताब आपके पास भेजी थी ....' वह उपन्यास शायद 'हमखुर्मा व हमसवाब' ही है।

खुद मुंशीजी ने बहुत बरस बाद, २६ जनवरी १६२१ को, अपने दोस्त इम्तयाज अली 'ताज' को लिखा था — हाँ, हमखुर्मा व हमसवाब और किशना वग़ैरह मेरी इब्तदाई तसानीफ़[3] हैं। पहली किताब तो लखनऊ के नवलकिशोर प्रेस ने शाया की थी, दूसरी किताब बनारस के मेडिकल हाल प्रेस ने। ये ग़ालिबन सन् १६०० की तसानीफ हैं।

इस खत के भी दस-बारह बरस बाद अपनी आत्मकथा 'जीवन-सार' में उन्होंने लिखा — मेरा एक उपन्यास १६०२ में निकला और दूसरा १६०४ में।

१७ जुलाई १६२६ के खत में उन्होंने निगम साहब को लिखा — सन् १६०१ से लिटररी ज़िन्दगी शुरू की। रिसाला 'ज़माना' में लिखता रहा। कई साल तक मुतफ़र्रिक़ मज़ामीन लिखे। सन् १६०४ मे एक हिन्दी नाविल 'प्रेमा' लिखकर इण्डियन प्रेस से शाया कराया।

काफ़ी परस्पर-विरोधी सी बातें है और कुछ अजब नहीं कि मुंशीजी की

---

१ आतुरता २ प्रतीक्षा में ३ आरंभिक रचनाएँ

स्मृति धोखा दे रही हो। 'प्रेमा' पर प्रकाशन का वर्ष १९०७ अंकित है। 'हम-खुर्मा व हमसवाब' पर प्रकाशन-वर्ष अंकित नहीं है। लेकिन, उसका पहला विज्ञापन सितंबर १९०६ के 'जमाना' मे मिलता है और फिर बराबर मिलता है। इससे यह नतीजा निकालना शायद बहुत ग़लत न होगा कि वह किताब सितंबर १९०६ के आसपास निकली होगी। 'किशना' का पहला इश्तहार अगस्त १९०७ में, और समालोचना अक्तूबर-नवंबर १९०७ के 'जमाना' मे मिलती है। 'रूठी रानी' का क़िस्सा अप्रैल से अगस्त १९०७ तक क्रमशः निकला।

गरज कि मुंशीजी ने बँधकर 'जमाना' मे लिखना शुरू कर दिया था और छोटी कहानी तो जैसे उन्होंने सबसे पहले १९०७ मे ही लिखी, लेकिन उसके पहले छोटे-छोटे लेखों और समीक्षाओं का सिलसिला बहुत क़ायदे से चलता रहा।

हकीम बरहम के उपन्यास 'कृष्णकुँवर' की समालोचना करते हुए मुंशीजी ने फ़र्वरी १९०५ के 'ज़माना' में लिखा —

'... उपन्यास अंग्रेजी साहित्य-आलोचकों की राय मे शब्दचित्रों का एक संग्रह होता है।... उपन्यास का क्षेत्र संप्रति बहुत विस्तृत हो गया है। कहीं तो उसमे जिन्दगी के किसी अहम मसले पर बहस की जाती है, जिसकी मुहम्मद अली साहब ने बड़ी कामयाबी के साथ कोशिश की है, कहीं उसमें मानव-स्वभाव की व्याख्या की जाती है, हृदय के भावों, आशाओं और निराशाओं के नक़्शे उतारे जाते हैं, कहीं नैतिक बुराइयों को दूर करने की कोशिश की जाती है। उपन्यासकार कभी मित्र का काम करता है और कभी उपदेशक का, कभी दार्शनिक बनता है कभी आयुर्वेद का पंडित ....'

इसी कसौटी पर मुंशीजी ने हकीम बरहम की खूब मरम्मत की। लेकिन असल मरम्मत तो इलाहाबाद से चलते-चलते अप्रैल १९०५ के 'ज़माना' में 'ख़ान बहादुर शम्सुल उलमा मौलाना मौलवी जकाउल्ला साहब देहलवी' की हुई। उनकी दो बहुत मोटी-मोटी जिल्दें मुंशीजी ने दो ही तीन रोज मे बहुत ग़ौर से, खूब निशान-विशान लगाकर पढ़ डाली और जब देखा कि मौलवी साहब ने सरकार की खुशनूदी लूटने के लिए 'शुरू से लेकर आख़ीर तक एक कवित्त गाया है, जो गद्य में होने से बिल्कुल बदमज़ा हो गया है,' तो फिर अच्छी तरह उसकी ख़बर ली। खुशामदी टट्टुओं-जैसी उनकी एक-एक बात की बखिया उधेड़ी। कांग्रेस पर छींटाकशी करते हुए मौलवी साहब ने लिखा था —

'हिन्दुस्तान के पढ़े-लिखे लोगों ने एक नेशनल कांग्रेस बनायी है जिसमे कभी-कभी पोलिटिकल बहसें बड़े ज़ोर-शोर से होती हैं। यह शास्त्रार्थ, ये बहसें अक्सर विद्यार्थियों के जैसी होती है। ब्रिटिश गवर्नमेंट के ख़िलाफ़ ऐसी बेसिरपैर समस्याएँ भी पेश होती है कि हिन्दुस्तानी फ़ाइनेंस का प्रबन्ध करें और ब्रिटिश गवर्नमेण्ट देश की रक्षा करे। ग़ालिबन ऐसे बेतुके ख़यालात खुद-ब-खुद मुर्दा हो जायँगे या

गवर्नमेण्ट उनको ठण्डा कर देगी।'

मुंशी जी कब मौलवी साहब की इन बेतुकी बातों की ताब ला सकते थे, उन्होंने कांग्रेस की हिमायत मे ईट का जवाब पत्थर से दिया और अपने समर्थन मे 'उर्दू ए मुअल्ला' की एक फारसी तहरीर की नक़ल करके मौलवी साहब को मुँहतोड़ जवाब दिया —

'इण्डियन नेशनल कांग्रेस अकेला ऐसा जरिया है कि जो तमाम हिन्दोस्तानियों का हाल इंगलैंड की पार्लमेण्ट तक कुबूलियत के लिए पहुँचाता है। एक या दो फ़िर्क़ों का रोना-धोना नक्क़ारख़ाने मे तूती की आवाज की तरह होता है। लेकिन वक्त आ गया है कि मुल्क के तमाम बेटे एक होकर एक आवाज से अपने दुख-दर्द की गुहार लगाये, एक ऐसी जबर्दस्त गरज जो सारी दुनिया को घेर ले ... अगर्चे गये साल कांग्रेस की मुराद पूरी नहीं हुई लेकिन इण्डियन नेशनल कांग्रेस ने तहजीब-याफ़्ता दुनिया की नजर मे एक एतबार हासिल कर लिया है और उसके बानियों की कोशिश अकारथ नहीं हुई।'

मौलवी साहब की पेशीनगोई के ख़िलाफ़ जब कांग्रेस की तहरीक ख़त्म नहीं हुई, बल्कि बंगाल से उठनेवाले स्वदेशी आदोलन के रूप मे और आगे बढ़ी तो मुंशीजी, जो अब तक अपना मोर्चा अच्छी तरह सँभाल चुके थे, फ़ौरन स्वदेशी आंदोलन के समर्थन मे दो लेख लेकर आगे आये जिनमे केवल औपचारिकता का निर्वाह नही, एक स्वयंसेवक का सच्चा संकल्प था।

स्वयंसेवक का वही सच्चा संकल्प जो सामाजिक धरातल पर 'हमखुर्मा व हमसवाब' या 'प्रेमा' के नायक अमृतराय में दिखायी देता है जो हिन्दू समाज मे विधवा स्त्री की हीन स्थिति देखकर किसी विधवा स्त्री से विवाह करने का निश्चय करता है और अपनी अनुपम सुन्दरी, शीलवती, गुणवती मँगेतर प्रेमा को छोड़ देता है क्योंकि वह अपनी गिनती उन लोगों मे नहीं करवाना चाहता जो दवा को हाथ में लेकर देखते है मगर मुँह तक नहीं ले जाते, जो 'आँखें रखते है मगर अंधे है, कान रखते हैं मगर बहरे हैं, ज़बान रखते हैं मगर गूँगे हैं।'

'असरारे मआबिद' में कहानी की चाशनी ढीली थी तो यहाँ कड़ी है, खूब कड़ी। घटनाओं का ताना-बाना खूब कसकर बुना गया है। कहानी जहाँ से शुरू हुई थी, वहीं पर आकर खत्म हो जाती है। चक्कर पूरा हो जाता है, सच्चे अर्थों में घटनाचक्र। कहीं से हिल नहीं सकती कहानी — शर्त बस एक ही है कि आप उन तमाम संयोगों पर विश्वास करें जो एक के बाद एक जुटते चले जाते हैं! उनकी वास्तविकता पर आपने सन्देह किया तो इमारत ढह जायगी। लेकिन क्यों करें आप उस पर सन्देह, क्या हक़ है आपको! शाही लकड़हारे की कहानी और तलिस्मे होशरुबा और दास्ताने अमीर हम्ज़ा और रेनाल्ड की हरमसरा और तलिस्मी फ़ानूस पढ़ते वक़्त तो आप सब कुछ भूल जाते है और क़िस्सागो आपको

जिन-जिन गलियों मे घुमाता है, जैसे-जैसे अँधेरे तहख़ानों और तलिस्मी बाग़ों की सैर कराता है, आप मजे के साथ उनकी सैर करते है तो फिर मेरे ही क़िस्से ने आपका क्या बिगाड़ा है !

लिहाज़ा यह है मुंशी नवाबराय का 'हमखुर्मा व हमसवाब' — कील-काँटे से बिल्कुल दुरुस्त ! पहले से एक ढाँचा बना लिया गया और कहानी उसमे बिठा दी गयी। कोई बात नहीं, ढाँचा अगर ज़्यादा चुस्त है और कहानी उसमें ठीक से बैठ नहीं पाती तो यहाँ-वहाँ से चरित्रों को काटा-छाँटा, तोड़ा-मरोड़ा भी जा सकता है, उसी तरह जैसे कभी-कभी अगर बक्सा छोटा हो और सामान ज़्यादा हो तो उस सामान के साथ किया जाता है ! मारना-जिलाना तो अपने हाथ की बात है। मै ख़ुदा हूँ। मैने ही इन आदमियों को पैदा किया है और मै चाहूँ तो उन्हे मार डालूँ, कौन मेरा हाथ पकड़ सकता है !

बाद को मुंशीजी ने ख़ुद इम्तियाज़ अली 'ताज' को लिखा कि 'नौमश्क़ी के सारे आयूब उनमे मौजूद है।' मगर जहाँ नौसिखिएपन के दोष है वहीं उन सब गुणों के सशक्त बीज भी है जो आगे चलकर फूले-फले — जैसे सामाजिक प्रश्नों को उसकी मजबूत पकड़, समाज के विभिन्न वर्गो और समूहों के सोचने-विचारने और बोल-चाल के टुकड़ों को फड़कते हुए अंदाज़ मे पेश करने का उसका तरीक़ा और मुहावरों पर खेलती हुई उसकी जानदार रवाँ-दवाँ भाषा।

यह देखिए टोले-पड़ोस की पंडाइन और चौबाइन और दूसरी खूसट औरतें पूर्णा को, जिसका पति अभी हाल में मरा है, सिखावन देने आयी है —

● पंडाइन (जो बुढ़ापे की वजह से सूखकर छुहारे की तरह हो गयी थी) — क्यों दुलहिन, पंडितजी को गंगालाभ हुए कितने दिन बीते ?

पूर्णा (डरते-डरते) — तीन महीने से कुछ ज़्यादा होता है।

पंडाइन — और अभी से तुम सबके घर आने-जाने लगी ? क्या नाम कि तुम कल सरकार के घर चली गयी थीं, उनकी कुँवारी कन्या के पास दिन भर बैठी रहीं। भला सोचो तो, तुमने अच्छा किया या बुरा। क्या नाम, तुम्हारा और उनका अब क्या साथ ! जब वह तुम्हारी सखी थीं, तब थीं, अब तो तुम विधवा हो गयीं। तुमको कम से कम साल भर तक घर से पाँव बाहर नहीं निकालना चाहिए था। यह नहीं कि तुम दर्शन को न जाओ, अशनान को न जाओ। अशनान-पूजा तो अब तुम्हारा धरम ही है। हाँ, किसी सुहागिन या कुँआरी कन्या के ऊपर तुमको अपना साया नहीं डालना चाहिए।

पंडाइन ख़ामोश हुई तो मुंशी बद्रीप्रसाद की महराजिन फ़रमाने लगीं — क्या बतलाऊँ, बड़ी सरकार और दुलहिन कल खून का घूँट पीकर रह गयीं। बड़ी सरकार तो ईश्वर जाने बिलख-बिलख रो रही थीं कि एक तो बेचारी लड़की के यूँही जान के लाले पड़े है दूसरे अब राँड-बेवा के साथ उठना-बैठना है, नहीं मालूम

ईश्वर क्या करने वाले हैं। छोटी सरकार मारे गुस्से के काँप रही थी। बारे मैंने उसको समझाया कि आज मुआफ़ कीजिए, अभी वह बेचारी बच्चा है, रीत-ब्योहार क्या जाने। सरकार का बेटा जिये, जब बहुत समझाया तब जाकर मानी नहीं तो कहती थी कि मै अभी जाकर खड़े-खड़े निकाल देती हूँ। सो बेटा, अब तुम सुहागिनों और कन्याओं के साथ बैठने जोग नहीं रही। अरे ईश्वर ने तुम पर बिपत डाल दी, अब तुम्हारा धरम यही है कि चुपचाप अपने घर मे पड़ी रहो, जो कुछ मयस्सर हो खाओ-पियो और, सरकार का बेटा जिये, जहाँ तक हो सके धरम का काम करो।

पूर्णा ने चाहा कि अबकी कुछ जवाब दूँ कि चौबाइन साहबा ने नसीहतों का दफ़्तर खोला। यह एक मोटी, भदेसल और अधेड़ औरत थी। बात-बात पर आँखें मीचा करती थी और आवाज़ भी निहायत करख़्त थी — भला उनसे पूछो कि अभी तुम्हारे दूल्हे को उठे तीन महीने भी नहीं बीते और तुमने अभी से आइना-कंघी-चोटी सब करना शुरू कर दिया! क्या नाम कि तुम अब विधवा हो गयी तुमको अब आइने-कंघी से क्या सरोकार ठहरा। क्या नाम कि मैंने हजारों औरतों को देखा है जो पति के मरने के बाद गहना-पाता नहीं पहनतीं, हँसना-बोलना तक छोड़ देती है, न कि आज तो सुहाग उठा और कल सिंगारपटार होने लगा। क्या नाम कि मै लल्ली-पत्ती की बात नहीं जानती, कहूँगी सच चाहे किसी को तीता लगे या मीठा। ●

इन्हीं खूसट बूढ़ियों में से एक की विधवा बहू रामकली है (असरारे मआबिद में इसी नाम की, इसी ढब की एक छोकरी से हम मिल चुके हैं) — सोलह-सत्रह साल की युवती। उसे घर के भीतर बन्द रखा जाता है और हर-हर तरह से उसके ऊपर जकड़बन्दी है। नतीजा होता है कि वह गंगा-स्नान और पूजा-पाठ के बहाने घण्टों-घण्टों घर से बाहर रहती है और राह चलते लोगों से, पनवाड़ियों से नैना लड़ाती है और साधू-महात्माओं की रेल-पेल मे घुसकर भाँग-बूटी छानकर क्या नहीं करती। यही रामकली पूर्णा से बात करते हुए कहती है —

'सुनती हूँ कल हमारी डाइन कई चुड़ैलों के साथ तुमको जलाने गयी थी। मुझे सताने से अभी तक जी नहीं भरा .... यह सब ऐसा दुख देती हैं कि जी चाहता है जहर खा लूँ और अगर यही हाल रहा तो एक न एक दिन यही होना है। नहीं मालूम ईश्वर का क्या बिगाड़ा था कि एक दिन भी ज़िन्दगी का सुख न भोगने पायी! भला तुम तो अपने पति के साथ दो बरस तक रहीं भी, मैंने तो उसका मुँह भी नहीं देखा। जब तमाम औरतों को बनाव-सिंगार किये, हँसी-खुशी चलते-फिरते देखती हूँ तो छाती पर साँप लोटने लगता है। विधवा क्या हो गयी घर भर की लौंडी बना दी गयी। जो काम कोई न करे वह मैं करूँ। उस पर रोज़ उठते जूती, बैठते लात। काजल मत लगाओ, मिस्सी मत लगाओ, बाल मत

गुँथवाओ, रंगीन साड़ियाँ मत पहनो, पान मत खाओ । एक रोज एक गुलाबी साड़ी पहन ली थी तो वह चुड़ैल मारने उठी थी । जी मे तो आया कि सर के बाल नोच लूँ मगर जहर का घूँट पीकर रह गयी । और वह तो वह उसकी बेटियाँ और दूसरी बहुएँ मेरी सूरत से नफ़रत रखती है । सुबह को कोई मेरा मुँह नही देखता । अभी पड़ोस ही मे एक शादी हुई थी । सब की सब गहने से लद-लद गाती-बजाती गयीं, एक मैं ही अभागिनी घर मे पड़ी रोती रही । भला बहन, अब कहाँ तक कोई जब्त करे । आखिर हम भी तो आदमी है, हमारी भी तो जवानी है । दूसरों की खुशी चहल-पहल देख खामखाह दिल मे हौसले होते है । जब भूख लगती है और खाना नहीं मिलता तो चोरी करनी पड़ती है । '

और यह देखिए बनारस की एक तंबोली की दूकान है —

' काठ के जीनेनुमा तख्तों पर सफ़ेद कपड़े पानी से भिगाकर बिछाये हुए थे । उस पर बँगला व देसी व मगही पान बड़ी सफ़ाई से चुने हुए थे । सामने दो बड़े-बड़े चौखटेदार आईने लगे हुए थे और एक छोटी सी चौकी पर खुशबुआत की शीशियाँ और मसालों की डिबियाँ खूबी से सजाकर धरी हुई थीं । तंबोली एक सजीला जवान था । सर पर दुपल्ली टोपी चुनकर तिरछी रखी थी, बदन मे आबे-रवाँ का चुन्नट पड़ा हुआ कुर्ता था । गले मे सोने की तावीजें, आँखों में सुर्मा, माथे पर लाल टीका, होंठ पर पान की लाली .... '

सत्रह साल की युवती विधवा रामकली का एक ठीहा यह भी है ....

नवाब ने अच्छी तरह समझ लिया है कि हिन्दू समाज का सबसे बड़ा अभिशाप निर्दोष निरपराध विधवा स्त्री है जिसे अकारण जीवन भर इतना दुःख उठाना पड़ता है । वह समाज जिसमे इतना अन्याय हो ज़्यादा दिन नहीं चल सकता । यह चीज़ बराबर एक सिल की तरह उसके मन पर बैठी रहती है । जो समाज अकारण किसी को [illegible] और पीड़ा पहुँचा सकता है — एक तरफ़ स्त्रियों को और दूसरी तरफ़ अछूतों को — वह सचमुच अभिशप्त है और अच्छा हो कि कल के मरते आज ही उसका जनाज़ा निकल जाय । लेकिन नहीं, वह खुद भी तो हिन्दू है और कायस्थ है । उर्दू-फ़ारसी उसकी घुट्टी मे पड़ी है । उस साहित्य से उसका गहरा परिचय है । मुसलमानों के बीच वह उठता-बैठता है । उनके आचार-विचार से , रीत-ब्योहार से, तौर-तरीक़ों से उसका अच्छा परिचय है । इसलिए वह जाने या न जाने मन ही मन वह अपने समाज का मिलान मुसलिम समाज से करता रहता है और जितना ही वह मिलान करता है उतना ही उसका मन उदासी से, गुस्से से, चिढ़ से भर उठता है क्योंकि मुसलिम समाज में कहीं ज़्यादा बराबरी है, भाईचारा है, आदमी को आदमी समझा जाता है, समाज में स्त्री की स्थिति अधिक सुदृढ़ है, समाज उसके अधिकारों को मान्यता देता है,

उसका विधान करता है, हिन्दू समाज की तरह सब जबानी जमाखर्च नही है।

समाज के यही सब सवाल, यही सब दर्द और बेचैनी नवाब की इस दौर की चीजों मे नज़र आती है। लेकिन अब तक वह इतना बड़ा हो चुका है कि जानता है सिर्फ़ गुस्से या झुँझलाहट से कुछ न होगा, उसके लिए अपने समाज से बाक़ायदा जंग करनी होगी और यह निरी आकस्मिक बात नही है कि जब वह इस क़िस्से मे अमृतराय और पूर्णा की शादी कराने उठता है तो वह चीज़ बाक़ायदा लड़ाई का रूप ले लेती है।

आज भी विधवा-विवाह आम चीज नहीं है लेकिन अगर कोई करना ही चाहे तो शायद ऐसा न होगा कि धर्मध्वजी लोग उसको मारने के लिए आयें। पर आज से पचास-साठ बरस पहले कुछ अजब नहीं कि ऐसी हालत रही हो।

जहाँ तक नवाब के अपने ब्याह की बात थी, उसमे कुछ रस बाक़ी न था। बस एक रिश्ता था जिसे निबाहा जा रहा था। जब से नवाब इधर परतावगढ और इलाहाबाद मे रह रहे थे तब से साथ रहने के झमेलों से भी छुट्टी थी। दोनों सास-बहू लमही मे रहती थीं और नवाब उनसे अलग-थलग लिखने-पढने मे अपने दिन गुज़ारते थे। छुट्टियों मे घर जाते तो साबक़ा पड़ता। जिन्दगी मे जहर घुल गया था लेकिन फिर भी निबाह किये जा रहे थे और कोई इरादा उस बीवी को छोड़ने और दुबारा घर बसाने का न था। उधर पत्नी भी परित्यक्ता-जैसा जीवन बिता रही थी और शायद इसीलिए सास-बहू के झगड़े और बढ़ गये थे। जिन्दगी जैसे-तैसे घिसट रही थी। लेकिन किसी को पता न था कि नियति उन सबके लिए कैसा जाल रच रही है।

५

यह सन् पाँच की मई है और मुंशीजी इलाहाबाद से तब्दील होकर कानपुर आ गये हैं।

उनके मिज़ाज मे तकल्लुफ़ काफ़ी है लेकिन तबीयत जिससे खुल जाती है, खुल जाती है। मुंशी दयानरायन ने उन्हें अपने यहाँ आकर ठहरने की दावत दी है और मुंशीजी उस दावत को क़बूल करके उन्हीं के हवेली जैसे मकान में, नया चौक मे, रह रहे है। मुशीजी 'ज़माना' परिवार के अपने आदमी है और निगम साहब के दोस्त ही उनके भी दोस्त हैं। पूरा जमघट है। नौबत राय 'नज़र', दुर्गा सहाय 'सरूर', प्यारेलाल 'शाकिर' और और बहुत से लोग जिनके नाम अब खो गये है। हर रोज शाम को महफ़िल जमती थी और हुस्न-ओ-इश्क़ से लेकर शोले बरसाती हुई सियासत तक, दुनिया की हर चीज के बारे में गरम-गरम बहसें होती थीं। सभी नौजवान थे, जोशीले थे, शेर-ओ-शायरी के, लिखने-पढने के शौक़ीन थे। दीन-दुनिया की कोई चीज़ ऐसी न बचती जिस पर खुलकर बाते न होतीं। एक दूसरे की नुक्ताचीनी होती, हँसी-मज़ाक होते, क़हक़हे पर क़हक़हे उड़ते। और सिर्फ़ क़हक़हे न उड़ते, बोतलों के काग भी उड़ते। 'सरूर' और 'नज़र' बाक़ायदा पीनेवालों में थे, नवाब राय भी गाहे-ब-गाहे मुँह जुठार लेते।

मुंशीजी उन लोगों मे से न थे जो चार दोस्तों के बीच भी कट्टर मौलाना की तरह शराब पीने को एक बड़ा गुनाह समझते हुए, मुहर्रमी सूरत बनाये, लबों को सिये बैठे रहते हैं। क्या मसरफ़ ऐसे आदमी का और अगर उसे बातचीत नहीं कर आती और हँसने से जिगर के फटने का अंदेशा रहता है तो वह आये ही क्यों ऐसी महफ़िल मे!

मगर साथ ही मुंशीजी उनमे भी न थे जिन्हें हर वक़्त अपनी ही आवाज सुनना अच्छा मालूम होता है। ऐसा आदमी किसी भी महफ़िल के लिए एक अज़ाब होता है और लोग उसकी सूरत से नफ़रत करने लगते हैं। इसके बर-अक्स मुंशीजी महफ़िल की जान थे। उनसे महफ़िल का रंग उखड़ता नहीं जमता था।

बेशक उनके स्वभाव का एक पहलू ऐसा भी था जो काफ़ी संकोची था, लजीला था। अजनबियों के बीच वह मुशकिल से ज़बान खोल पाते थे। लेकिन दोस्तों के

बीच उनकी कायापलट हो जाती थी। हँसते थे, हँसाते थे, उर्दू-फारसी के शेर और लतीफ़े सुनाते थे, लोगों पर फिकरे कसते थे, लोग उन पर फ़िकरे कसते थे, आपस मे किसी तरह का पर्दा न था। खुली हुई, बेबाक तबीयत पायी थी जो दोस्तों की महफिल मे बैठकर और भी खुल जाती थी।

महफ़िल के रंग मे वहने का यह हाल था कि एक रोज जब कि निगम साहब के यहाँ कुछ खास दोस्त जमा थे और क़रीब ही किसी छत पर ग्रामोफ़ोन मे बर्ट शेपर्ड का मशहूर लाफिग साग I sat in a corner बजने लगा तो कुछ देर तो मुंशीजी खामोश रहे और फिर यह कहकर कि लीजिए मैं भी इसके क़हक़हे मे इसका साथ देता हूँ, क़हकहा मारने लगे और बडी देर तक यों ही हँसते रहे।

हफ़्तों भी नही, चद दिनो के भीतर ये महफ़िले मुंशीजी के खून का ऐसा जुज बनी गयीं कि जव वह गर्मी की छुट्टियों मे अपने घर लमही गये तो इन सोहबतों की याद करके तड़प-तड़प गये, इसलिए और भी कि जिस भी नजर से देखिए, कानपूर की जिन्दगी अगर स्वर्ग थी तो घर की वह जिन्दगी नरक। वहाँ वस स्कूल का काम था और उससे छुट्टी पायी तो दोस्तों की महफ़िल थी, हँसी-मज़ाक था, साहित्य-चर्चा थी, न कोई फ़िक्र थी, न परेशानी। और घर जो आये तो जैसे भिड़ के छत्ते मे हाथ मार दिया, सारी परेशानियाँ जिनसे दूर रहने के कारण नजात मिली हुई थी यकबारगी उनके ऊपर टूट पड़ीं और उन्होंने घबराकर मुंशी दयानरायन को, जो इतने ही दिनों में उनके सबसे अच्छे दोस्त बन चुके थे, एक लंबा ख़त लिखा —

'बरादरम, अपनी बीती किससे कहूँ। जब्त किये-किये कोफ़्त हो रही है। ज्यों-त्यों करके एक अशरा[1] काटा था कि ख़ानगी तरद्दुदात[2] का ताँता बँधा। औरतों ने एक दूसरे को जली-कटी सुनायी। हमारी मखदूमा[3] ने जलभुनकर गले में फाँसी लगायी। माँ ने आधी रात को भाँपा, दौड़ी, उसको रिहा किया। सुबह हुई, मैने ख़बर पायी। भल्लाया, बिगड़ा, सख़्त मलामत की। बीवी साहबा ने अब जिद पकड़ी कि यहाँ न रहूँगी, मैके जाऊँगी। मेरे पास रुपया न था। लाचार खेत का मुनाफ़ा वसूल किया। उनकी रुख़सती की तैयारी की। वह रो-धोकर चली गयी। मैंने पहुँचाना भी न पसन्द किया। आज उनको गये आठ रोज हुए, न ख़त है न पत्तर। मैं उनसे पहले ही खुश न था अब तो सूरत से बेज़ार हूँ। ग़ालिवन् अबकी की जुदाई दायमी साबित हो। खुदा करे ऐसा ही हो। मैं बिला बीवी के रहूँगा। बिल्ली बख़्शे मुर्ग़ा लँडूरा ही रहेगा। उधर ननिहाल से, वालिदा की तरफ़ से ज़िद है कि ब्याह रचे और जरूर रचे। जब कहता हूँ, मै मुफ़लिस हूँ,

---

१ पखवारा २ घरेलू परेशानियाँ ३ स्वामिनी

कगाल हूँ, खाने को मयस्सर नही तो वालिदा साहबा कहती है तुम अपनी रज़ा-मन्दी ज़ाहिर करो, तुमसे एक कौड़ी न माँगी जायगी। सुनता हूँ बीवी हसीन है, बाशऊर है, जेब से खर्चने बग़ैर मिली जाती है, फिर तबीयत क्यों न भुरभुराये और गुदगुदी क्यों न पैदा हो! ईश्वर जानता है दो-तीन दिन उसका ख्वाब भी देख चुका हूँ। बहरहाल अबकी तो गला छुडा ही लूँगा, आइन्दा की बात नारायन के हाथ है। जैसी आपकी सलाह होगी वैसा करूँगा। इस बारे में अभी फिर मशविरा करने की जरूरत बाकी है।'

इसी खत मे अपने घर की और भी जो तस्वीर खींची है, वह भी देखने क़ाबिल है —

'गर्मी की कैफ़ियत न पूछिए। कहलाने को साहिबे-मकान[1] हूँ। और खुदा के फजल से मकान भी सारे गाँव का माबूद[2] है मगर रहने क़ाबिल एक कमरा भी नही। कोठे पर आग बरसती है। बैठा और पसीना चोटी से एड़ी को चला। नीचे के कमरे सब गंदे। परीशान। किसी मे बैल बँधता है, किसी मे उपले जमा है। कही अनाज का ढेर है, किसी मे जाँत, चक्की, ओखली, मूसल वग़ैरह जुलूस-फ़र्मा[3] है। कोई बैठे कहाँ सोये कहाँ। मजबूरन अनाज के घर मे एक चारपाई की जगह निकाल ली है। उसी पर दिन-रात पड़ा रहता हूँ। अकेले घूमने कहाँ जाऊँ। बच्चे तीन-चार दिन के लिये आये है। हमारी मखदूमा को पहुँचाने के लिए बस्ती गये, वहाँ से अपने वालिद के पास चले जायँगे। इस गर्मी मे कैसा पढना कैसा लिखना। सुबह के वक़्त घंटा-आध घंटा वर्क़-गिरदानी[4] कर लेता हूँ, बाकी रात-दिन मै हूँ और चारपाई। सुलक्कड़ बड़ा हूँ मगर नीद भी कुछ मेरे घर की लौंडी नहीं। उस पर तरद्दुद अलग। कहाँ हँसी-मजाक मे दिन कटता था कहाँ चुप की मिठाई या गूँगे का गुड़ खाकर बैठना पडता है। अजब जीक़[5] मे जान मुबतिला है। भाई, जल्दी से छुट्टी कटे और फिर यारों के जलसे और चहचहे-क़हक़हे हों। आये बीस दिन से ज़्यादा गुज़रे मगर क़सम ले लो जो जबान से प्यारा लफ़्ज़ बंबूक़ एक बार भी निकला हो।'

बहुत हसरत से भरा हुआ खत है। कोई छोटी बात नही है यह कि आपके घर की एक स्त्री, जो आपकी स्त्री है, चाहे जैसी भी, गले में फाँसी लगा ले। लेकिन किस तरह से उसको बयान किया है। किसी तरह की हमदर्दी उस औरत को देने के लिए वह तैयार नहीं है। दिल कितना फटा हुआ है जो इस तरह की बात मुमकिन हो सकी! उस रोज विजयबहादुर उनको ले जाकर बस्ती जो पहुँचा आये तो नवाब के लिए वह सचमुच मर गयीं — गो मरीं बहुत बाद मे। खत उनके जाने के आठ रोज़ बाद लिखा जा रहा है। आठ रोज का वक़्त मन की उदासी या

---

१ मकानवाला २ उपास्य देवता ३ भीड़ लगाये ४ पन्ने पलटना ५ झंझट

भारीपन को कम करने के लिए थोड़ा नहीं होता लेकिन तो भी खत से एक बेदर्दी का एहसास होता है जो उनकी पूरी तबीयत से मेल नही खाता, मगर सनद है इस बात की कि यह शादी गरीब के जी पर कितनी भारी हो रही थी।

मुंशीजी और निगम साहब, दोनों एक-दूसरे की तरफ बडी तेजी से खिचे और शायद इसकी एक बड़ी वजह यह थी कि दोनों का स्वभाव एक दूसरे से काफी अलग और कहीं-कहीं विरोधी भी था। मुंशी दयानरायन कील-काँटे से दुरुस्त, दुनियादार आदमी थे, पहलू बचाकर काम करते थे, हर काम मे अपना नफा-नुकसान देख लेते थे। रहने-सहने मे भी साफ़-सुथरे, क़ायदे के आदमी थे, हर तरह से बहुत प्रैक्टिकल। मुंशी धनपतराय बिल्कुल उनके उल्टे थे। रहन-सहन में कतई लापरवाह, न कपड़े की फ़िक्र न लत्ते की, न बालों की फ़िक्र न जूते की। किसी भी हालत मे रह लेते थे और यह चीज़ आदत बन गयी थी। दुनियादारी से भी उन्हे कम ही वास्ता था। जो बात सही थी सही थी और जो ग़लत, ग़लत — दुनियादारी को उसमे बहुत कम दखल था। पहलू बचाकर काम करना सीखा ही नहीं। स्वभाव का यह बुनियादी अन्तर दोनों को काफ़ी अलग-अलग दिशाओं मे ले गया, लेकिन एक चीज़ जो दोनों के मिज़ाज मे यकसाँ मिलती थी वह थी उनकी वजादारी जो कि उस पुराने जमाने की ही एक चीज थी और उसके साथ ही मिट गयी। दोनों अपने स्वभावों की भिन्नता को देखते हुए भी एक-दूसरे की क़ीमत समझते थे, एक-दूसरे की क़द्र करते थे। बात शुरू इसी तरह हुई कि दयानरायन साहब के लिए वह एक नया प्रतिभाशाली लेखक था और मुंशीजी के लिए निगम साहब एक ऐसे पत्र के संपादक थे जो तेजी से अपना स्थान बना रहा था। लेकिन जल्दी ही उसने कुछ और ही शकल अख्तियार कर ली। मुंशीजी ने निगम साहब को बड़े भाई की जगह दी, गो उम्र में मुंशीजी ही बड़े थे। यह बात निगम साहब को काफ़ी अजीब मालूम हुई लेकिन सच पूछिए तो अजीब इसमें कुछ भी नहीं है — मुशीजी को सादी का वह मकूला अभी भूला न था जो उन्होंने अपने बचपन में पढ़ा था, कि उम्र की गिनती सालों से नहीं बल्कि तजुर्बे से होती है। और चूंकि दुनिया के तजुर्बों में वह दयानरायन साहब को अपने से बड़ा समझते थे, इसलिए उम्र में भी अपने से बड़ा मानते थे। और इसीलिए, जैसा कि खुद निगम साहब ने लिखा है, 'बहुत से मामलों में तो जो मेरी राय होती उसी पर वह अमल करते।' सारी जिन्दगी यह सिलसिला चला और निगम साहब ने भी 'उनके किसी मामले मे दखल देने में कभी आगा-पीछा नहीं किया।'

और अब यह एक नया मामला, मुंशीजी की शादी का, दरपेश था।

६

छुट्टियाँ जैसे-तैसे ख़त्म हुईं और नवाब फिर कानपुर पहुँच गया और फिर वही दोस्तों की महफ़िलें, क़हक़हे और चहचहे शुरू हुए जिनके लिए उसका दिल तड़पता था।

लेकिन वह सब महफ़िलें, शेर-ओ-शायरी के चर्चे, बेफ़िक्र कुँआरी ज़िन्दगी की मस्तियाँ जहाँ एक तरफ़ उसकी ज़िन्दगी के सूनेपन को भरती थी वहाँ दूसरी तरफ़ उसे और भी बढा देती थीं। अपना अकेलापन अब उसे खलने लगा था। तबीयत बहुत रंगीन न सही, मगर जवान तो थी। आखिर कब तक वह इसी तरह अपनी ज़िन्दगी की लढ़िया ठेलेगा ? पचीस साल का तो हुआ, घर बसाने की अब और कौन-सी उम्र आयेगी ? या तो फिर उसका ख़याल ही छोड़ दिया जाय, जो कि नवाब के लिए मुमकिन न था। तबीयत ही उसने वैसी न पायी थी। वह घरेलू ढंग का आदमी था और उसकी तमाम परीशानियों के बावजूद उसी में खुश रह सकता था। कुँआरेपन की मस्त, बेफ़िक्र, ग़ैर-जिम्मेदार जिन्दगी के अपने मजे हैं लेकिन वह मजे नवाब के लिए न थे। और फिर पन्द्रह-सोलह साल की उम्र से जिस लड़के के गले मे गिरस्ती का जुआ पड गया हो, वह दूसरा कुछ सोच भी तो नहीं सकता। .... जब तक कि इकबारगी बग़ावत पर न आमादा हो जाय। मगर बग़ावत भी कैसे करे, पहले से भी तो कुछ जिम्मेदारियाँ चली आ रही हैं, माँ की, उनके बच्चे की — उनसे कैसे मुँह फेर ले ? होते हैं, ऐसे भी लोग होते हैं, बहुत होते है, जो दूसरों की चिन्ता नहीं करते, बस अपनी खुशी अपना आराम देखते हैं। मगर नवाब उनमे से न था, न प्रकृति से और न इतने वर्षों के अभ्यास से।

लिहाज़ा जब यह सब खटराग रहना ही है तो इसका सुख भी कुछ क्यों न उठाया जाय। वह तो शादी बुरी हुई, बिलकुल नाकाम रही, बड़ा दुख दिया उसने। लेकिन अब तो ख़ैर उससे नाता टूट गया। अच्छा ही हुआ।

मन थोड़ा हल्का था, मगर कुछ था जो करक रहा था।

कायस्थों मे लड़कियों की कुछ कमी न थी, और नवाब उस वक़्त एक हँसमुख, जिन्दादिल, स्वस्थ और सुन्दर, खाता-कमाता नौजवान था। चाची शादी करने के लिए पीछे पड़ी थीं और जेब से कुछ ख़र्चे बग़ैर एक हसीन और बाशऊर बीवी मिली

जाती थी। नौजवान नवाब उसके सपने भी देखने लगा था। लेकिन फिर आदमी का विवेक भी तो है। कैसे रचा ले वह उस तरह का ब्याह! ऐसी बडी-बडी बातें अभी उसने अपनी किताब मे लिखी और अब अपनी बारी आयी तो भूल जाय उन सब बातों को? नही, उसके लिए तो यही उचित है कि अगर उसे दुबारा शादी करनी ही हो तो किसी विधवा लडकी से करे, वह खुद कहाँ का कुँआरा है! न रहा हो उससे संबंध तो क्या, ब्याह तो हुआ। यही सब बाते सलाह करने की थीं। आखिरकार, मुशी दयानरायन के शब्दो में, 'शादी के बारे मे बड़े सोच-विचार और बहुत कुछ बहस-मुबाहसे के बाद उन्होंने तय किया कि दूसरी शादी की जाय तो किसी विधवा ही से की जाय।' घरवाले, ख़ासकर चाची, विधवा-विवाह के बहुत ख़िलाफ़ थीं। इस तरह की चीज घर मे पहले कभी न हुई थी। बिरादरीवाले क्या कहेगे! नाक कट जायगी! लोग कहेंगे ज़रूर कोई ऐब है लड़के में तभी तो बिरादरी मे कुँआरी लड़की नहीं मिली वर्ना क्यों करता विधवा लड़की से ब्याह! चाची उन दिनों नवाब के साथ ही कानपुर में रह रही थीं और नवाब कुछ दिनों से, नाजुक तबीयत के, लंबे-छरहरे मुशी नौबतराय 'नज़र' और एक महराजिन के साथ दयानरायन साहब के घर के पास ही मकान लेकर रह रहे थे। हर रोज घर में शादी का मसला छिडता और इसी तरह की बातें होतीं। कभी-कभी तो नवाब की तबीयत इतना ज़्यादा भिन्ना जाती कि वह शादी से बाज आने की बात सोचने लगता। लेकिन कुछ तो उम्र का तक़ाजा और कुछ उसकी घरेलू ढंग की तबीयत, शादी कर लेना ही उसने तय किया। लेकिन अपने इस इरादे पर वह अटल था कि विधवा ही से शादी करेगा। दूसरों की मुँह देखी मैं नहीं कर सकता। मुझे जो बात ठीक मालूम होती है, वही मैं करूँगा, जिसे शरीक होना हो, हो; न होना हो, न हो।

तभी संयोग से एक रोज नवाब की नज़र किसी अख़बार मे, शायद बरेली के आर्यसमाजी शंकरलाल श्रोत्रिय के पर्चे में छपे हुए एक इश्तहार पर पडी जिसमें लिखा था कि मौजा सलेमपुर डाकख़ाना कनवार जिला फ़तेहपुर के कोई मुशी देवीप्रसाद अपनी बाल-विधवा कन्या का विवाह करना चाहते हैं और जो सज्जन चाहे इस विषय में उक्त पते पर पत्र-व्यवहार कर सकते है।

नवाब ने फ़ौरन उस पते पर ख़त लिखा। उसके जवाब में ख़त के साथ पचीस-तीस पन्ने का एक किताबचा आया। यह किताबचा अगर और किसी वजह से नहीं तो अपनी लेखन-शैली के कारण एक मार्के का और बहुत दिलचस्प दस्तावेज़ है। लेकिन और भी बड़ी बात यह है कि उससे बहुत मजे की रोशनी उस कायस्थ समाज पर पड़ती है जिसमें नवाब का जन्म हुआ, जिसके बीच वह पला-बढ़ा और जिसके माध्यम से उसने सबसे पहले हिन्दू समाज के मसलों को समझा। जिस समाज के अन्दर से यह दस्ताबेज पैदा हुआ वही नवाबराय का पहला और बुनि-

मुंशी दयानरायन निगम

تاریخ پیدائش سمبت ۱۹۳۷ — باپ کا نام منشی عجائب لال — سکونت

موضع مڑھوا لمہی متصل پانڈے پور — بنارس — ابتداً آٹھ سال تک فارسی پڑھا —

پھر انگریزی شروع کیا — بنارس کے کالجیٹ سکول سے انٹرنس پاس کیا — والد کا

انتقال پندرہ سال کی عمر میں ہو گیا — والدہ سات سال پہلے گذر چکی تھیں —

پھر تعلیم محکمہ میں ملازمت کی — ۱۹۰۱ سے لٹریری زندگی شروع کی — رسالہ زمانہ

میں لکھتا رہا — کئی سال تک متفرق مضامین لکھے — ۱۹۰۴ میں ایک ہندی ناول

پریما لکھ کر ہندی میں ریپبلش کرایا — [illegible] افسانے —

ہندی میں سیوا سدن — پریم آشرم — رنگ بھومی — کایا کلپ چار ناول

उर्दू हस्तलिपि

यादी समाज है। वही उसकी जबान है और वही उसके सोचने-विचारने का ढंग। बाद मे उसकी निगाह भी फैली और उसका समाज भी फैला, ताहम उसकी घुट्टी मे यही समाज था।

किताबचे पर उसका नाम दिया है, 'कायस्थ बाल-विधवा उद्धारक' और उसके नीचे यह इबारत है — मूर्ख गुपनाम द्वारा लिखित जिसको मुशी गजाधर-प्रसाद नायब नाजिर दीवानी ने यूनियन प्रेस, इलाहाबाद में छपवाकर प्रकाशित किया। १९०५।

गुप्त नाम से किताबचे को लिखना और एक अजीज के नाम से उसको छपवाना, यह सब कार्रवाई थी उन्हीं मुशी देवीप्रसाद की जो अपनी बाल-विधवा कन्या शिवरानी का पुनर्विवाह करना चाहते थे। यह मुंशी देवीप्रसाद अपने गाँव के एक बहुत प्रभावशाली व्यक्ति थे। पैसा तो कुछ खास न था मगर इज्जत बहुत थी। दिमाग तो वैसा ही पाया था जैसी कि कायस्थ खोपड़ी मशहूर है मगर साथ ही मिजाज मे कुछ ठाकुरों जैसा अक्खड़पन भी था। दबंग कड़ियल आदमी थे। बहुत शरीफ़, पुराने ढग के वजादार, न तो खुद किसी से बेअदबी करते थे और न किसी की बेअदबी बर्दाश्त करते थे। दोस्ती की टेक निभाना भी जानते थे और दुश्मन को नेस्त-नाबूद करने मे भी पीछे न रहते थे। उनके तीन लडके थे और दो लड़कियाँ। दोनों लडकियों का ब्याह उन्होंने छुटपन में ही, दस-ग्यारह साल की उम्र तक पहुँचते-पहुँचते कर दिया था। क़िस्मत का खेल कुछ ऐसा हुआ कि छोटी लडकी शिवरानी ब्याह के तीन महीने बाद ही विधवा हो गयी। न तो वह पति के घर गयी और न उसने पति का मुँह देखा, मगर फिर भी वह विधवा थी और यह उनकी जिन्दगी का सबसे बड़ा ग़म था। माँ-बाप दोनों अपनी इस बेटी का मुँह देखते और कलेजा थाम लेते थे। आखिरकार बहुत पसोपेश के बाद दोनों ने अपने मन मे इस बात का फैसला कर लिया कि हम अपनी बेटी का ब्याह फिर से करेगे। आज भी यह काम आसान नहीं है, पचपन बरस पहले तो वह बग़ावत से कम न था। लेकिन मुशी देवीप्रसाद अब इस बगावत पर आमादा थे। अपनी बेटी का दुख उनसे देखा न जाता था। होगा समाज का विरोध, डटकर होगा — हो। जो होगा देखा जायगा। एक बार फैसला कर लेने पर पीछे क़दम हटानेवाले आदमी मुशी देवीप्रसाद न थे। बिरादरी का एक-एक आदमी हमें छोड़ दे, तो भी यह ब्याह होगा। और चोरी-छिपे न होगा, इश्तहार बँटवाकर होगा। सब लोग जान जायें कि मुशी देवीप्रसाद अपनी विधवा कन्या का विवाह फिर से कर रहे है।

लेकिन इसके लिए जरूरी था कि सबसे पहले इस काम के लिए फ़िजा तैयार की जाय। मुक़दमे में कूदने के पहले अपने काग़ज़ात सब ठीक कर लेने चाहिए ताकि बाद में बग़लें न झाँकनी पड़ें। इसी ख़याल से यह इश्तहारी पर्चा हिन्दी और

उर्दू मे तैयार किया गया और उसे काफ़ी बड़ी संख्या में छपवाकर दूर-दूर तक भेज दिया गया। जिसे एतराज करना हो, करे; आये हमसे बहस करे, या तो वह मुझे क़ायल कर दे कि मै गलत काम कर रहा हूँ या मैं उसे वेद-पुराण और शास्त्रों की नजीर देकर कायल कर दूँगा कि ठीक बात यही है, बाक़ी सब तो पोंगा ब्राह्मणों का खेल है।

किताबचा बिलकुल आर्यसमाजी अन्दाज़ में ओंमतत्सत् के साथ शुरू होता है और उसी रंग में आगे बढ़ता है —

● प्रार्थना-पत्र ख़िदमत में सब भाइयों कायस्थ चित्रगुप्तवंशी के पहुँचकर सुशोभित हो, परमात्मा रोज़-ब-रोज तरक़्क़ी देवे।

दरख़्वास्त वास्ते सुधार करने चाल-चलन ब्योहार जो क़ाबिल सुधार करने के है कि जो न सुधार चाल-चलन करने से महापातक होता है कि सब भाइयों को मालूम है और देखते है शास्त्रोक्त प्रमाण व वेदाज्ञानुसार सब भाइयों के सामने इस पत्र द्वारा प्रकाशित करता हूँ अपने-अपने ज्ञान बुद्धि से ध्यान देकर उनके सुधारने में दिल व जान से मुस्तैद हो जाइए।

हे मेरे प्यारे क़ौमी भाइयो कायस्थ चित्रगुप्त-वंशी जरा ध्यान देकर सुनिए कि पद्म पुराण एक प्राचीन पुराण व मुस्तनिद किताब है जिससे साबित है कि बाबा चित्रगुप्त पुरुशा याने मूरिस आला सब भाइयों के है और जब से सृष्टि की रचना हुई बदर्बार महाराज धर्मराज के न्यायकारी व आमाल नेक व बद जो जैसा काम करता है, तहरीर फरमाया करते हैं वा उसी के मुताबिक़ सज़ा व जजा याने स्वर्ग व नर्क तजवीज फ़र्माते हैं। ....

उन्हीं बाबा चित्रगुप्त जी के पुण्य व प्रताप व आशीर्वाद से सब उनको औलादे कि जिनके संतान व वंश मे सब भाई है वेदविद्या का पठन-पाठन करते रहे, श्रेष्ठ कहलाते रहे व वक़्त महाराज क्षत्रियों के राज्य समय में कायस्थ वंश भाई अपनी वेद विद्या, व बुद्धि की लियाक़त से बड़े-बडे ओहदों पर (न्यायाधीश) व राज्य कार्य के मंत्री व दीवान मुकर्रर होते रहे और राज्य का इन्तिज़ाम माक़ूल करते रहे कि सबसे श्रेष्ठ व लायक़ समझे जाते रहे।

समय के उलट-फेर से कि जमाना तरक्की का हमेशा किसी का एक ही तरह पर नहीं क़ायम रहा है काल चक्र घूमा करता है .... राज्य हाथ से जाता रहा पाप कर्मों का प्रचार होता गया। ●

समाज का बराबर पतन होता गया और उसमे कोई सुधार इसलिए नहीं होता कि लोग बस अपने स्वार्थ के बन्दे हैं, किसी को अपने समाज के भले-बुरे की चिन्ता नहीं है और हैं तो बस लंबी-चौड़ी बातें, कथनी कुछ और करनी कुछ —

'जाबजा शहरों व क़स्बों व नामी मुक़ामात मे क़ौमी सभा व कमेटी व कान्फ्रेन्स

वास्ते धर्म की रक्षा व क़ौमी चाल-चलन व्यौहार व रीति रस्म के दुरुस्ती के लिए शास्त्रोक्त प्रमाण से मुकर्रर फ़रमाया है और वहाँ व्याख्या व लेक्चर धर्म संबंधी दिये जाते हैं। और उस जलसा सभा मे सब भाई बैठकर सुनते हैं और सत्य-सत्य कहते है हाँ मे हाँ गला मिलाते है और उन व्याख्यानों के अमल करने का न व्याख्यान देनेवालों के दिलों पर असर रहता है न व्याख्यान सुननेवाले के दिल पर असर पहुँचता है। यह तो मशहूर बात है कि जब तक कोई नसीहत याने उपदेश देनेवाला उस नसीहत व उपदेश का आमिल न होगा तब तक करनेवाला सुनने-वाले के असर दिल पर नहीं पहुँचता कि अमल करे वह यह कहता है कि खुदरा फ़जीहत व दीगराँ नसीहत करते है। बस हे मेरे प्यारे भाइयो जब सभा विसर्जन करके श्रोता वक्ता भाई साहेबान बाहर तशरीफ़ लाये तो न उस व्याख्यान की सुध है न उसके ध्यान की खबर हैं ....'

और आख़िरकार इस सबका वही नतीजा हुआ जो होना था, सारी शेखी किरकिरी हो गयी, अब —

'न वह बूट जूता है न कोट पतलून है न गुलूबंद है न टोपी पेटारीदार दस्तार है बल्कि ख्यार है पैरों मे ख़ार है जामाज़ीस्त से बेज़ार है घर की हालत कहना अनुचित प्रमात्मा रक्षपाल है धिक्कार धिक्कार आख थू आख थू आख थू घमण्ड पर है ....'

इतनी लानत-मलामत के बाद जो कि सब पेशबन्दी है, किताबचा असल बात पर आता है —

● हे मेरे सजातीय भाई कायस्थ चित्रगुप्त वंशी क्या आप लोग अपने-अपने प्रत्यक्ष नेत्रों से यह देखते होंगे कि जिन कन्याओं का विवाह हो गया है और दिरा-गमन याने गौना नही हुआ पति याने शौहर उनका मर गया है तो वह बाल-विधवा बेचारी नाकर्दे गुनाह अपनी-अपनी जिन्दगी किस-किस मुसीबत से काटती हैं....दूसरे वह कन्याएँ कि जिनका विवाह और दिरागमन दोनों हो गया है बहुत ही थोड़े दिन के बाद पति उनके मर गये हैं। कुछ भी ज़िन्दगी का लुत्फ़ नहीं उठाया यहाँ तक कि सन्तान उत्पन्न होने की नौबत नही। तो उन बेचारियों की मुसीबत कहने में नही आ सकती है। उनका घर मे रहना माइका क्या ससुराल दोनों ही जगह के सहकुटुम्बी माता व पिता व भ्राता सब पर पहाड़ का ऐसा बोझ भार सिर पर मालूम होता है। ग़रज़ कि दोनों किसिम के बाल-विधवा कन्या कि जिनका विवाह मात्र हुआ है दिरागमन नहीं हुआ और शास्त्र के अनुसार उनका कन्यात्व नष्ट नहीं हुआ वह मिसिल क्वाँरी कन्या के हैं। .... हे मेरे भाइयो जाँच करने से मालूम हुआ है व देखने में आया है .... कि उन कन्याओं दोनों किसिम की कि कुछ तो मुसीबत खाने-पीने से कुछ सतसंग पाकर कुछ काम के वश होकर कि कामदेव बड़ा बली शैतान है मतिभ्रम कर देता है कि बड़े-बड़े मुनियों और महात्मा के हृदय में क्षोभ

कर दिया है और भला इन अबलाओं की क्या गिनती है व्यभिचार करने लगती है याने बहुतों का कस्बी हो जाना और बहुतों का घर ही मे बदचलन हो जाना व बहुतों का अन्य पुरुष विरुद्ध वर्ण याने दूसरे जात के साथ निकल जाना बहुतों के हमल-हराम रह जाना व उसका इसकात हमल कराना बालक का मारना वगैरा वगैरा कहाँ तक कहा जावै बडे-बड़े घोर पाप होते है व हो गये कि सुनि अघ नर्कहु नाक सकोरी। संसार मे रूसियाही बल्कि पुश्तों तक का ऐसा दाग धब्बा लग जाता है कि उसका मिटाना बहुत कठिन हो जाता है। ....

(फर्याद बाल-विधवा कन्याओं की) हे मेरे सजातीय कायस्थ चित्रगुप्तवशी आप लोग गौर करके बिला पक्षपात के इसाफ़ कीजिए कि जब किसी पुरुष की स्त्री मर जाती है तो वह पुरुष दो-दो अथवा तीन-तीन विवाह कर लेने का अधिकारी होता है और हम बाल-विधवाओं ने जो पति के पास तक नही गयी है और पति का मुँह तक नहीं देखा है पुनर्विवाह हमारे करने मे आप लोग लज्जा व घृणा करते हो .... क्या पुरुष को काम प्रबल अधिक सताता है और हम काम को जीते हुए है! हे भाइयो, हम स्त्रियों का नाम ही कामिनी है। वैदक शास्त्र से ज़ाहिर है कि पुरुष से दुगुण अधिक काम अग्नि स्त्री के होती है ... ●

इसके बाद फिर ऋग्वेद, यजुर्वेद, वशिष्ठस्मृति, नारदस्मृति, प्रजापतिस्मृति, कात्यायनस्मृति, मनुस्मृति आदि शास्त्रों से प्रमाण जुटाये गये है कि किन-किन दशाओं मे विधवा का पुनर्विवाह सम्भव है उचित है।

नवाब ने इस इश्तहार को पढ़ा तो उसकी तबीयत फड़क उठी: इस सवाल पर खुद उसके विचारों से यह चीज़ कितना मेल खाती थी! उसने फौरन लड़की की फ़ोटो की फरमाइश की।

देहात मे तसवीर उतरवाने का तब कहाँ चलन, मगर खैर मुंशी देवीप्रसाद ने अपनी लड़की की तसवीर उतरवाकर कानपुर भेजी — सीधी-सादी, दुबली-पतली एक देहाती लडकी, बाल बिखरे हुए, माथे पर हल्का-सा घूँघट। गन्दुमी रंग जो नवाब के तपे सोने जैसे रंग के मुकाबले में काफ़ी दबा हुआ था, नाक-नक़्शा भी बहुत मामूली, कोई ख़ास बात नहीं, जब कि नवाब यक़ीनन् दस-पाँच हजार में एक खूबसूरत नौजवान था। लेकिन उसे सुन्दरी की तलाश न थी — उसके नखरे उठाने की सकत भी उसमें कहाँ थी! वह तो एक सीधी-सादी घरेलू लड़की चाहता था जो उसके संग तकलीफ़-आराम झेल सके। यह लड़की, जहाँ तक देखने मे आता था, वैसी ही थी। मुंशी दयानरायन से भी शायद मशविरा हुआ और फिर नवाब ने अपनी रज़ामन्दी लिख भेजी। अब मुंशी देवीप्रसाद ने लड़के को देखने की ख्वाहिश ज़ाहिर की और उसे फ़तेहपुर बुलाया। नवाब पहुँचा। ससुर ने

भी दामाद को पसंद किया। ज्यादा अब तय करने के लिए था भी क्या। लेन-देन की कोई बात ही न थी। शादी उसी दम तय हो गयी। दोनों पक्ष समझ रहे थे कि उन्हे अपनी-अपनी बिरादरी का विरोध सहना पड़ेगा और दोनों तैयार थे।

आखिर १९०६ के फागुन मे शिवरात्रि के रोज शादी हो गयी। नवाब के साथ बारात मे, एक उनके छोटे भाई महताब को छोड़कर और कोई रिश्तेदार न था, बस दो-चार दोस्त और हमजोली जिनमे मुशी दयानरायन खास थे।

७

जिन्दगी का एक नया दौर शुरू हुआ। उधर क़ौम की ज़िन्दगी का भी एक नया दौर शुरू हो रहा था। लिहाजा दोस्तों की ये महफ़िलें अब सिर्फ हँसी-मज़ाक या शेर-ओ-शायरी तक सीमित न रह गयीं। पहले भी ऐसी कोई क़ैद न थी, जब-तब राजनीति की गम्भीर चर्चा भी हो जाती थी। लेकिन अब वह रंग ख़ासकर मुंशीजी की वजह से कुछ और ज़्यादा उभरने लगा। दूसरे जहाँ अपनी कविता और साहित्य-चर्चा में ही पूरी तरह रम लेते थे, वहाँ मुशीजी को चैन न आता जब तक कि वह अपने देश की और संसार की घटनाओं से भी पूरी तरह संपर्क मे न रहे। अखबार पढने और बहुत से अखबार पढ़ने का उनका मर्ज पुराना था। और फिर अकसर 'रफ़्तारे जमाना' नाम का स्तम्भ भी लिखते थे। ज़माने की रफ़्तार इस वक़्त सचमुच बहुत तेज थी। देश एक नयी करवट ले रहा था — वैसे ही जैसे अपने छोटे से पैमाने पर खुद मुशीजी की जिन्दगी, उनका दिल-दिमाग़ एक नयी करवट ले रहा था। राष्ट्रीयता की चेतना मे एक नया ज्वार आ रहा था और उस नये ज्वार को जिन लोगों ने अपने ख़ून की गर्मी और रवानी मे सबसे पहले महसूस किया उन्हीं में एक मुंशीजी भी थे।

बात सिर्फ़ इतनी न थी कि उस चेतना का व्यापकतर विस्तार हो रहा था। उससे भी बड़ी बात यह थी कि वह चेतना ही बदलने लगी थी, उसके भीतर एक गुणात्मक परिवर्तन आ रहा था। उसको समझने के लिए उसकी पृष्ठभूमि को थोड़ा-सा समझ लेना ज़रूरी है।

१८५७ का विद्रोह अपने ही आन्तरिक विरोधों के कारण असफल रहा और अपने ही खून मे डूब गया। क़रीब पच्चीस बरस के लिए लगभग पूरी तरह सन्नाटा छाया रहा। वहाबियों के आन्दोलन की तरह छिटपुट कुछ कोशिशें यहाँ-वहाँ हुईं लेकिन ब्रिटिश साम्राज्य का पंजा ज़रा भी ढीला न हो सका। लेकिन आदमी भले न बोल सकें, प्रकृति ने बोलकर बतलाया कि यह सिलसिला ग़लत है और चलनेवाला नहीं है कि एक देश के रहनेवाले दूसरे देश के रहनेवालों पर राज करें। अकालों का ताँता लग गया। करोड़ों लोग भूख से मर गये और मरते रहे और सरकार अपनी टीमटाम में रुपया पानी की तरह बहाती रही। असंभव था

कि ऐसी हालत मे देश की आत्मा क्षुब्ध न होती और ढंग से जिन्दा रहने की कोई तदबीर न करती ।

१८७३ मे आनन्दमोहन बसु, सुरेन्द्रनाथ बैनर्जी और इटली के स्वातन्त्र्य-युद्ध के नेता मैजिनी व गैरीबाल्डी के जीवनीकार योगेन्द्र विद्याभूषण ने मिलकर इण्डियन एसोसिएशन की स्थापना की। समय की माँग के रूप में ही उसका जन्म हुआ था, इसलिए स्वाभाविक था कि उसकी ताक़त तेजी से बढ़ती । और वह बढ़ी । बंगाल के अनेक देशप्रेमी उसकी ओर खिंचे । १८८२ में बंकिम का 'आनन्दमठ' प्रकाशित हुआ जिसने आगे चलकर देश को उसका वन्देमातरम् गान दिया ।

इण्डियन एसोसिएशन का जोर इतनी तेजी से बढ़ रहा था कि राज्य के गोरे अधिकारी चिन्तित हो उठे । सवाल पैदा हुआ कि कैसे उसका सामना किया जाय । एक रास्ता तो कठोर दमन का था । लेकिन १८५७ के बाद फिर इतनी जल्दी दमन का वह रास्ता अख्तियार करने में अधिकारियों की तबीयत कतरा रही थी। नतीजा हुआ कि राष्ट्र की शक्ति को बाँटने और उसे शासकों की सुविधानुसार मर्यादित रखने के विचार से, अंग्रेज सरकार के परामर्श से सन् १८८५ मे इण्डियन नेशनल कांग्रेस का जन्म हुआ । और वह काम काग्रेस ने अपने आरम्भिक कई वर्षो तक किया भी, जिस लीक पर उसे चलाया गया उसी लीक पर चली । लेकिन यह सदा न तो हो सकता था और न हुआ, क्योंकि देश की चेतना जब एक बार अपनी यात्रा आरम्भ करती है तो सदा मेड़ बचाकर ही नहीं चला करती । लेकिन उस बात को अभी कुछ देर है । अभी तो देखने की चीज़ एक ही है । एक अत्यन्त प्राचीन, इतिहास, दर्शन और संस्कृति की गौरवशाली परम्परावाला देश, जो इस समय पराजित था, अपमानित था, तिरस्कृत था, वंचित था, अपने को फिर से पहचान रहा था, अपना भविष्य खोज रहा था । अपनी इस खोज में वह कभी इस और कभी उस दरवाजे को खटखटा रहा था । देश की बन्दी किन्तु अपराजेय आत्मा अपने को वाणी देने के लिए छटपटा रही थी ।

इस समय जो कुछ हो रहा था, सबका सन्दर्भ यही था । अपनी शक्ति को पहचानो, अपने प्राचीन गौरव को पहचानो । तुम्हारे पास ऐसा भी कुछ है जो किसी के पास नहीं है । तुम किसी से घटकर नहीं हो । आत्मविश्वास से बढ़कर दूसरी कोई शक्ति संसार में नहीं है । तुम्हारी देह श्रृंखलित है तो क्या, तुम्हारी आत्मा मुक्त है । देह तो छीज जाती है, झर जाती है—असल चीज आत्मा है । आत्मा अजर है । आत्मा अमर है । आग उसे जला नही सकती, शस्त्र उसे काट नहीं सकते । देह तो जीर्ण वस्त्र के समान है । मनुष्य जिस प्रकार जीर्ण वस्त्र त्यागकर नया वस्त्र धारण कर लेता है, उसी प्रकार आत्मा एक देह को छोड़कर दूसरा देह धारण कर लेती है । फिर मृत्यु का क्या भय और पराजय कैसी । देखो अपने दर्शन

को और अपने इतिहास को। न जाने कैसे-कैसे पराक्रमी विजेता इस भारतभूमि मे आये और काल के गर्त में समा गये, लेकिन भारत आज भी जीवित है।

विवेकानन्द ने जब १८९३ मे अमरीका जाकर सर्व-धर्म-सम्मेलन मे सब को परास्त किया और भारत की दृप्त आत्मा को वाणी दी तो भारतवासियों की छाती गर्व से फूल उठी, उनका खून कुछ और तेजी से दौडने लगा, आँखे चमकने लगीं। बिलकुल जादू का-सा असर हुआ। देखते-देखते विवेकानन्द के लेख और भाषण देश की स्वाधीनता चाहनेवाले हर युवक के लिए एक नयी गीता बन गये। देश के मुरझाये हुए प्राण लहलहा उठे। हीनता की ग्रन्थि कटी। आत्मगौरव लहरे मारने लगा।

उधर कांग्रेस गोखले, दादाभाई नौरोजी, मदनमोहन मालवीय और फ़ीरोज-शाह मेहता जैसे लोगों के नेतृत्व में अपनी बँधी लीक पर चली जा रही थी। जन-आन्दोलन से उसका कोई संबंध न था। साल मे एक बार अधिवेशन करके सर-कार से अपना कुछ दुखड़ा रो दिया जाता और कुछ समाज-सुधार की बात कर ली जाती और लगे हाथ बहुत दबे स्वर मे कुछ यह याचना भी कर दी जाती कि राज्य-संचालन मे भी योग देने का कुछ अवसर भारतीयों को दिया जाय। और फिर सब अपने-अपने घर चले जाते, साल भर के लिए छुट्टी हो जाती। काग्रेस के जन्म से लेकर १९०५ तक की काग्रेस कार्रवाइयों का सार देते हुए काग्रेस के अधिकारी इतिहासकार पट्टाभि सीतारमैया स्वयं कांग्रेस के इतिहास मे लिखते है —

'.... काग्रेस प्रस्तावों पर जो भाषण होते उनकी और अध्यक्ष के भाषणों की टेक यह होती कि अंग्रेज़ जाति मूलतः न्यायप्रिय और भली है और अगर उसे स्थिति का ठीक-ठीक पता बराबर मिलता रहे तो वह कभी सत्य और न्याय के रास्ते से विमुख नही हो सकती; कि असल कठिनाई अंग्रेज को लेकर नही, बल्कि एंग्लो-इंडियन को लेकर है; कि बुराई व्यक्ति में नहीं व्यवस्था में है; कि काग्रेस बुनि-यादी तौर पर ब्रिटिश राजसिंहासन के प्रति वफादार है, उसका झगड़ा तो हिन्दो-स्तानी नौकरशाही से है, कि इंगलैंड का संविधान (संसार के) सभी स्थानों के जनतंत्रात्मक अधिकारों का आश्रय-स्थल है और इंगलैंड की पार्लियामेन्ट संसार भर के जनतन्त्रों की माँ है ; कि ब्रिटेन का संविधान सब संविधानों से श्रेष्ठ है ; कि काग्रेस राजद्रोहात्मक या बाग़ी संस्था नहीं है ; कि भारतीय राजनीतिज्ञों का काम स्वभावतः सरकार की बात को जनता तक और जनता की बात को सरकार तक पहुँचाना है ; कि भारतीयों को राज्य-संचालन के काम में योग देने का इससे अधिक अवसर देना चाहिए .... '

स्पष्ट है कि देश के भीतर जितना क्षोभ और जितना उत्साह संचित हो रहा था उसको समेटने के लिए इतना काफ़ी न था। ऐसे ही समय में भारतीय राजनीति

मे बाल गंगाधर तिलक का उदय हु
हुआ। यों तो कांग्रेस की राजनीति मे गोखले और तिलक दोनों का आगमन सन् १८८९ मे एक साथ ही हुआ था, और जैसा कि तिलक ने गोखले की अन्त्येष्टि के समय कहा था, गोखले को राजनीति मे ले आने के पीछे स्वयं तिलक का भी हाथ था। लेकिन इस समय की काग्रेसी राजनीति के साथ ज़्यादा मेल खाने के कारण गोखले की स्थिति कांग्रेस संगठन मे सुदृढ़ हो गयी और तिलक बाहर-बाहर जनता मे काम करते रहे और अपनी जन-राजनीति की सम्भावनाओं को टटोलते रहे। और जैसे ही उनकी शक्ति कुछ बढ़ी वैसे ही उनकी सबसे पहली टक्कर गोखले से हुई। वास्तव में गोखले और तिलक की टक्कर और बातों के साथ-साथ एक मन की दो वृत्तियों की टक्कर भी है। देश को उसका प्राप्य कैसे मिलेगा, क्रान्ति से, विद्रोह से, जन-आन्दोलन से या सुलह-समझौते से ? पहला महत्व किस चीज का है, समाज-सुधार का या स्वराज्य का ?

यह सवाल बहुत तीखे रूप मे पहली बार पूना के काग्रेस अधिवेशन में सन् १८९५ मे उठा, और संभवतः तिलक की ही क्रियाशीलता से। लेकिन सच तो यह है कि इस सवाल की जड़ें काग्रेस के जन्म मे ही थीं। ऐलेन आक्टेवियन ह्यूम ने उसकी परिकल्पना समाज-सुधार की एक सस्था के रूप मे ही की थी लेकिन पीछे लॉर्ड डफ़रिन के कहने पर उसे राजनीतिक रूप दिया गया क्योंकि शायद इसी में उसकी उपयोगिता देखी गयी। संयुक्त प्रान्त के गवर्नर सर ऑकलैण्ड कॉलविन को संभवतः इस तथ्य का पता नही था जब उन्होंने कहा कि कांग्रेस को समाजसुधार तक ही अपने को सीमित रखना चाहिए। इससे प्रकट है कि काग्रेस के लिए यह प्रश्न नया नहीं था।

गोखले आदि नरमदली लोग राजनीति की बात भी दबे स्वर मे कर लेते थे लेकिन उनका आग्रह समाज-सुधार पर था। इसी सन्दर्भ मे वह लोग अंग्रेज़ी शिक्षा-दीक्षा इत्यादि का भी बहुत गुणगान करते रहते थे। तिलक को इस राजनीति से मौलिक विरोध था। बाल-विवाह को रोकने के लिए जब एज ऑफ़ कन्सेण्ट बिल आया, १८९१ के आसपास, तो तिलक ने डटकर उसका विरोध किया। इसकी वजह से लोगों को उनके बारे मे काफ़ी ग़लतफ़हमी भी हुई और यह समझा गया कि समाज-सुधार के मामले मे तिलक का दृष्टिकोण कट्टर सनातनी हिन्दू का है। लेकिन बात यह न थी। उनके विरोध का कारण यह न था कि वह बाल-विवाह के पोषक थे बल्कि यह था कि यह सब काम खुद हम भारतीयों के करने के है, अंग्रेज शासकों को इस सबसे क्या मतलब। हमे जो ठीक समझ मे आयेगा हम करेंगे। अभी उनसे हमारा कहना बस इतना है कि आप शासन हमारे हाथ में दीजिए। असल प्रश्न स्वराज्य का है। इस प्रश्न को दूसरे प्रश्नों के साथ उलझाइए मत। असल सवाल, आज़ादी का सवाल, पीछे न पड़ जाय इसीलिए तिलक का कहना था

कि इन सब सवालों को उठाने का वक्त यह नहीं है। अंग्रेज पहले यहाँ से जायँ और सत्ता हमारे हाथ मे आये फिर हम, लोगों को शिक्षित करके और जरूरी क़ानून बनाकर, अपनी सामाजिक और आर्थिक बुराइयाँ दूर कर लेंगे। उधर शासकों की दिलचस्पी इन बातों मे शायद इसीलिए थी कि इस तरह स्वराज्य का आन्दोलन पीछे पड़ जायगा। तिलक ने इस बात को समझा।

यह नहीं कि तिलक अंग्रेजी शिक्षा-दीक्षा के महत्व को न समझते हों या उसे कम करके आँकते हों। अंग्रेज़ों के सपर्क से जो नयी रोशनी हिन्दुस्तान को मिली उसको भी वह समझते थे। अपने सार्वजनिक जीवन के पहले ग्यारह वर्ष तिलक ने देश मे अंग्रेज़ी शिक्षा के प्रसार मे लगाये। इस बात को भी वह अच्छी तरह समझते थे कि देश की स्वतन्त्रता अंग्रेज़ी शिक्षा के प्रसार से ही आयेगी। इतना ही नहीं, उनका और उनके सहकर्मी विष्णुशास्त्री चिपलूणकर का विश्वास था कि 'अंग्रेज़ी भाषा शेरनी के दूध की तरह बहुत पौष्टिक आहार है।' निस्संदेह तिलक भारतीय धर्म, संस्कृति और परम्पराओं के बहुत बड़े पोषक थे मगर इसके साथ ही साथ वह यह भी समझते थे कि अंग्रेजी के आहार पर पलकर देश ज़्यादा तेज़ी से स्वाधीनता की ओर बढ सकेगा। स्वराज्य की कल्पना भारतीयों के मन में बन सकी, इसके पीछे भी वह प्रभाव है जो अंग्रेजों के इतिहास और गण-तान्त्रिक चिन्तन ने जाने या अनजाने उनके ऊपर डाला है। तिलक सच्चे मन से उस बात पर विश्वास करते थे जो मैकाले ने कही थी —

'.... यह हो सकता है कि हमारी प्रणाली के अन्तर्गत रहकर भारतीय जनता का मन इतना विकास कर जाय कि उस प्रणाली से आगे निकल जाय, वह प्रणाली फिर उसे अपने भीतर आबद्ध न रख सके ... कि यूरोपीय ज्ञान में दीक्षित होकर वह लोग कभी आगे चलकर यूरोपीय ढंग के आईन-क़ानून, दस्तूर और रिवाजों की माँग करने लग जायँ। ऐसा दिन कभी आयेगा या नहीं, मै नहीं जानता। लेकिन इतना मैं जानता हूँ कि ऐसा कोई काम मैं नहीं करूँगा जिससे वह दिन न आये या उसके आने में देर लगे। जब भी वह दिन आयेगा, अंग्रेज़ जाति के इतिहास का सबसे गौरवशाली दिन होगा।'

लेकिन इसके बाद भी तिलक का दृढ़ विश्वास था कि असल चीज़ राजनीतिक दासता से मुक्त होना है, स्वराज्य पाना है, बाक़ी सब चीजें उसके बाद आती है। इसलिए राजनीतिक स्वाधीनता की बात प्रखर स्वर मे करनी चाहिए। समाज-सुधार फ़िलहाल स्थगित रखे जा सकते है। कम से कम अंग्रेज शासकों से बात करने की चीज़ वह नहीं है। उनके साथ उसकी बात करना उनके जाल में फँसना है। और गोखले जैसे नरमदली लोग यही करते थे। समाज-सुधार की बातें तो वह बहुत जोर-शोर से करते थे, राजनीतिक स्वाधीनता के प्रश्न पर मिनमिनाते थे। इसी जगह पर उनसे तिलक का मुख्य संघर्ष था।

दोनों के इस मौलिक विरोध को गाधीजी ने बहुत अच्छी तरह समझा था और उन्होंने जिस प्रकार उसकी व्याख्या की है उसको देखना बहुत उपयोगी होगा, विशेषतः इसलिए कि गोखले और तिलक की नीतियों का परस्पर विरोध भारतीय राजनीति के एक पूरे युग को समझने की कुंजी है।

१८९६ मे जब गाधीजी पूना गये और दक्षिण अफ्रीका के भारतीयों की समस्या पर एक सभा बुलाना चाहते थे तो उसके प्रसंग मे वह लोकमान्य तिलक से और फिर उनके कहने पर गोखले से मिले। गांधीजी पर उन दोनों के व्यक्तित्व का सस्कार जिस रूप मे पड़ा वह उनको और स्वयं गांधीजी को समझने के लिए काफ़ी रोचक और महत्वपूर्ण है।

तिलक उन्हे हिमालय के शिखर जैसे लगे, महान्, उत्तुग, पर पास तक पहुँचना दुस्साध्य और गोखले पवित्र गंगा जैसे जिसमे इत्मीनान से डुबकी लगायी जा सकती है —

'तिलक और गोखले दोनों महाराष्ट्र के थे, दोनों ब्राह्मण थे, दोनों चितपावन ब्राह्मण थे। दोनों ने जीवन मे बडे-बडे त्याग किये थे। लेकिन दोनों के स्वभाव मे बड़ा विशाल अन्तर था। उस समय की प्रचलित शब्दावली मे गोखले नरमदली थे और तिलक गरमदली। गोखले की योजना थी, वर्तमान संविधान में सुधार करना; तिलक की योजना थी, उसका पुनर्निर्माण करना। गोखले को अनिवार्यतः नौकरशाही के साथ मिलकर काम करना होता था, तिलक को अनिवार्यतः उससे लड़ना पड़ता था। गोखले का सिद्धान्त था सहयोग, जहाँ तक संभव हो, और विरोध जहाँ आवश्यक हो, तिलक की नीति बाधा खड़ी करने की ओर झुकी हुई थी। गोखले को सबसे बड़ी चिन्ता शासन और उसके सुधार की थी, तिलक का सबसे बड़ा ध्येय था राष्ट्र और उसका निर्माण। गोखले का आदर्श था प्रेम और त्याग; तिलक का, सेवा और कष्ट-सहन। गोखले की कार्य-प्रणाली ऐसी थी जो विदेशी का हृदय जीतकर उसे अपनी ओर कर लेना चाहती थी; तिलक की ऐसी जो उसे बिल्कुल हटा ही देना चाहती थी। गोखले दूसरों की सहायता पर निर्भर करते थे; तिलक केवल अपनी शक्ति पर। गोखले उच्च वर्गो और बुद्धिजीवियों की ओर ताकते थे; तिलक साधारण जनता की ओर जिसकी संख्या करोड़ों मे थी। गोखले का अखाड़ा धारासभा थी; तिलक का मंच गाँव का मण्डप था। गोखले की अभिव्यक्ति का माध्यम अंग्रेजी थी; तिलक की, मराठी। गोखले का लक्ष्य था स्वायत्त शासन जिसके लिए भारतीयों को अंग्रेजों की बतायी हुई कसौटी पर खरे उतरकर अपनी योग्यता प्रमाणित करनी थी; तिलक का लक्ष्य था स्वराज्य जो हर भारतीय का जन्मसिद्ध अधिकार है और जो वह लेकर रहेगा, जिसके रास्ते मे वह विदेशी सत्ता की किसी बाधा को स्वीकार न करेगा। गोखले अपने युग के साथ थे; तिलक, बहुत आगे।'

गांधीजी तिलक के व्यक्तित्व के साथ शायद पूरा न्याय नही कर पाये और गोखले की ओर उनका हलका-सा पक्षपात लगता है, जो कि शायद स्वयं उनके मन के झुकाव को व्यक्त करता है, पर तो भी इतना तो प्रकट ही है कि तिलक ने भारतीय राजनीति मे एक नया स्वर लेकर प्रवेश किया। स्पष्ट है कि इस प्रकार की प्रखर राजनीति की कल्पना जन-आन्दोलन के बिना नही की जा सकती थी। इसीलिए हम देखते है कि तिलक ने आरम्भ से ही जनता को जगाना और संगठित करना आरम्भ किया। इसके लिए धर्म को भी वाहन बनाने मे उन्हे कोई आपत्ति न हुई। १८९४ मे उन्होंने गणपति उत्सव को एक विराट् सार्वजनिक अनुष्ठान का रूप दिया, जो तब से बराबर उसी प्रकार महाराष्ट्र में मनाया जाता है। उसका कलेवर धार्मिक है और आत्मा राष्ट्रीय।

लेकिन उतने से ही तिलक को संतोष न हुआ। उसके अगले ही वर्ष से उन्होने शिवाजी उत्सव की भो स्थापना कर दी। शिवाजी को मात्र एक हिन्दू के रूप में देखना उसके साथ अन्याय करना है। वह एक वीर मराठा था जिसने मुगल बादशाह औरगज़ेब से लोहा लेकर सफलतापूर्वक अपने राज्य की स्वाधीनता की रक्षा की। इस प्रसंग मे यह बात फिर आकस्मिक नहीं रह जाती कि शिवाजी की सेना मे मुसलमान भी थे और न यही कि शिवाजी-उत्सव मे मुसलमान मराठे भी हिस्सा लेते हैं। कुछ भी हो, जन-नेता तिलक के लिए यह असम्भव था कि वह शिवाजी को केन्द्र बनाकर किसी उत्सव की बात न सोचते जब कि उनके सामने अपने देशवालों को जगाने और अन्याय व अत्याचार के खिलाफ़ उनको संगठित करने का प्रश्न था। स्वाधीनता के आन्दोलन की ये महत्वपूर्ण कड़ियाँ थीं।

इधर कांग्रेस के भीतर तिलक और गोखले के नेतृत्व में दो विरोधी प्रवृत्तियों का आपस मे संघर्ष चल रहा था, उधर भारत की विद्रोही आत्मा गुप्त षड्यन्त्रकारी राजनीति के रूप मे भी प्रस्फुटित या विस्फोटित हो रही थी जिसका सूत्रपात महाराष्ट्र के चापेकर बंधुओं ने किया। १८९७ में उन्हे फाँसी दी गयी। लेकिन यह तो अग्नियुग का प्रारम्भ था जिसके ये दो पहले शहीद थे। इस वर्ष तिलक पर पहली बार राजद्रोह का मुक़दमा चला और उन्हे डेढ़ साल का कठोर दण्ड मिला। पर वह साल भर का दण्ड भोगकर ही बाहर आ गये। समय से पहले की इस रिहाई का कारण था वह आवेदनपत्र जो मैक्समुलर, सर विलियम हण्टर, सर रिचर्ड गार्थ, मि० विलियम केन, दादाभाई नौरोजी और रमेशचन्द्र दत्त के हस्ताक्षर से सरकार के पास भेजा गया था। पर छूटते समय ही तिलक ने कह दिया था कि यह छः महीने की छूट अगली बार मेरे दण्ड में जोड़ दी जाय, अगर उसका अवसर आये। और यही हुआ। १९०८ मे जब उन्हे माण्डले भेजा गया तो ये छः महीने सजा में जोड़ दिये गये। यह सब इस बात की सूचना थी कि भारतीय राजनीति अब एक नये युग में प्रवेश कर रही थी। कांग्रेस के भीतर भी और कांग्रेस के बाहर भी।

कांग्रेस के भीतर गोखले के नरमपंथी दल के मुक़ाबले मे तिलक का एक्सट्रीमिस्ट या नैशनलिस्ट दल बडी तेजी से जोर पकड़ता जा रहा था। रैण्ड और एयर्स्ट हत्याकाण्ड के प्रसंग मे गोखले ने सरकार से जो माफ़ी माँगी उसके पीछे चाहे जैसी सदाशयता रही हो, उसने जनता मे उनकी लोकप्रियता को जबर्दस्त धक्का पहुँचाया और इसी अनुपात मे तिलक और उनके नैशनलिस्ट दल का प्रभाव बढ़ने का यह एक और तात्कालिक कारण हुआ। इसके साथ-साथ महाराष्ट्र से ही वह आग भी चली जो चापेकर बंधुओं ने लगायी थी और जिसने बंगाल पहुँचकर एक पूरे अग्नियुग की सृष्टि की। १६०२ और १६०५ के बीच बंगाल मे बहुत-सी गुप्त समितियाँ बनीं। और जब १६०५ में कर्जन ने राष्ट्रीयता की इसी बढती हुई लहर को रोकने के लिए बंगाल को दो टुकड़ों में बाँटने का, बंगभंग का प्रस्ताव रखा, तब तो जैसे देश मे आग ही लग गयी। एक तरफ़ स्वदेशी का शान्तिपूर्ण आन्दोलन शुरू हुआ और दूसरी तरफ़ जगह-जगह क्रान्तिकारियों की सरगर्मियाँ दिखायी देने लगीं।

देश मे आगे जो शान्तिपूर्ण राष्ट्रीय आन्दोलन चलनेवाला था, बंगाल का स्वदेशी आन्दोलन उसकी पूर्वपीठिका थी। उसने सारे देश को लेकर झकझोर दिया और उसी से देश को वह सब राजनीतिक अस्त्र मिले जिनका उपयोग राष्ट्रीय आन्दोलन ने आगे चलकर किया, जिन्हें गांधीजी ने इसी स्वदेशी आन्दोलन से लेकर अपने ढंग पर विकसित किया। ये राजनीतिक अस्त्र थे — स्वदेशी वस्तुओं को अपनाना और विलायती का बहिष्कार; निष्क्रिय प्रतिरोध और असहयोग; सरकारी विद्यालयों का बहिष्कार और उनके स्थान पर राष्ट्रीय विद्यालयों की स्थापना; सरकारी अदालतों का बहिष्कार और उनके स्थान पर आपस में अपने पंच और मुखियों के जरिये अपने झगड़ों को निपटाना।

ग़रज़ कि राष्ट्रीय आन्दोलन ने एक नयी करवट ले ली थी और अब उसे वापस उस बँधी-टकी लीक पर ले चलना संभव न था जैसा कि नरमपंथी चाहते थे।

उसी वर्ष, १६०५ में, बनारस के कांग्रेस अधिवेशन में ही यह बात अच्छी तरह दिखायी दे गयी। कांग्रेस संगठन के भीतर नरमपंथियों का ही जोर था जो इस बात से सिद्ध था कि उस वर्ष कांग्रेस का सभापतित्व गोखले ने किया। पर गोखले के साथ न्याय करने के लिए यह बतलाना जरूरी है कि उन्होंने अपने अध्यक्षीय भाषण मे निर्भीकता और सच्चाई से लार्ड लिटन के उस गुप्त पत्र का उद्धरण दिया जिसमे लिटन ने ऐसी बातें लिखी थी जिनसे गोखले की अपनी नीति को चोट पहुँचती थी और तिलक की नीति को बल मिलता था। लिटन ने लिखा था —

'हम सब इस बात को जानते हैं कि ये माँगें और ये उम्मीदें न कभी पूरी हो सकती है और न होंगी। हमे इन दो मे से कोई एक रास्ता अपने लिए चुनना

था — या तो उनका (हिन्दुस्तान के नेटिवों का) दमन करना, या उन्हे धोखा देना और हमने बाद वाला रास्ता ही चुना है जिसको सच्चाई से कोई मतलब नहीं .... मै गुप्त रूप से यह पत्र लिख रहा हूँ, इसलिए मुझे यह कहने मे भी संकोच नही है कि मेरी समझ मे इंगलैण्ड की सरकार और भारत सरकार दोनों ही अब तक इस अभियोग का कोई सतोषजनक उत्तर नही दे सकी है कि उन्होने अपने हर वायदे को तोड़ने मे अपनी शक्ति भर कोई कसर उठा नही रखी । '

स्पष्ट है कि ऐसी परिस्थिति में जो जनता राष्ट्रीय आन्दोलन की ओर झुक रही थी उसका बहुत बड़ा बहुमत तिलक के साथ आता जा रहा था जो इस बात से सिद्ध था कि स्टेशन पर गोखले के स्वागत को गिने-चुने लोग पहुँचे थे और तिलक के स्वागत को लोग ऐसे टूटे कि स्टेशन पर तिल धरने को जगह न रही। और वहीं गाडी से उतरते ही तिलक ने अपना नया नारा दिया जो फौरन लोगों की जबान पर चढ गया — लड़ो — भीख मत माँगो !

लाला लाजपतराय ने अपनी पुस्तक ' यग इंडिया ' मे लिखा है कि बनारस मे ही तिलक ने ' निष्क्रिय प्रतिरोध ' की अपनी नीति प्रस्तुत की थी । और उसके अगले वर्ष कलकत्ता के अधिवेशन मे उन्होंने अपनी उस नीति की और भी विशद व्याख्या की, जिस रूप मे वह बाद को जानी और समझी और बरती गयी ।

तिलक के राजनीतिक जीवन में बनारस का कांग्रेस अधिवेशन एक बड़ी मंज़िल है । इसके पहले अमरीका के थोरो और रूस के टाल्सटाय जैसे विचारक एक निराकार सिद्धान्त के रूप मे निष्क्रिय प्रतिरोध की बात कह चुके थे लेकिन तिलक के पहले शायद किसी ने उसको इस तरह व्यावहारिकरूप देकर एक राजनीतिक अस्त्र की तरह जनता के हाथ में नहीं पकड़ाया था । इसी अस्त्र का उपयोग गांधीजी ने १९२० के बाद कई बार अलग-अलग नामों से किया ।

बहरहाल, राष्ट्रीय आन्दोलन अपनी लीक से हटकर एक दूसरे, अधिक सप्राण, रास्ते पर चल पडा था और उसका प्रभाव कांग्रेस के संगठन पर भी, बावजूद उस पर माडरेटों के आधिपत्य के, पड़े बिना न रहा। १९०६ में कलकत्ता कांग्रेस के अधिवेशन के मंच से कांग्रेस के इतिहास में पहली बार स्वराज्य की मॉग की घोषणा हुई । माडरेटों के लिए यह एक बड़ी हार थी — इसलिए और भी कि उनकी चाल को विफल करके तिलक की यह जीत हुई । कलकत्ता काग्रेस के अध्यक्ष पद के लिए अधिकांश प्रदेशों से तिलक का ही नाम आ रहा था । लेकिन माडरेट किसी तरह इस बात को सह न सके तो उन्होंने तिलक के नाम को पीछे डालने के लिए एक ऐसे व्यक्ति का नाम सामने रक्खा जो अपनी सेवाओं और अपने वय दोनों ही दृष्टियों से सबका आदरणीय था — दादाभाई नौरोजी । माडरेट उनको अपना आदमी समझते थे और बहुत हद तक वह थे भी । लेकिन वह अनुभवी नेता भी थे और हवा का रुख़ पहचानते थे । लिहाज़ा उन्होंने पूरी

तरह तिलक के कार्यक्रम का साथ दिया और उन्हीं के सभापतित्व में स्वराज्य की माँग कांग्रेस के मंच से पहली बार घोषित हुई। कांग्रेस के लिए उस समय यह एक बहुत बडा, बहुत ऐतिहासिक क़दम था।

सरकार ने भी इस नयी स्थिति को समझा और उसका मुकाबला करने के लिए दमन की नीति का सहारा लिया। पुलिस का अत्याचार बहुत बढ गया। पंजाब में लाला लाजपतराय को गिरफ्तार कर लिया गया।

कलकत्ते के बाद कांग्रेस का अगला अधिवेशन नागपुर मे होने की बात स्थिर पायी थी। नागपुर तिलक का गढ था। नरमदली इस बात से बहुत डरे। वहाँ तो फिर तिलक की ही तूती बोलेगी और अध्यक्ष बनने से भी उनको न रोका जा सकेगा। लिहाजा नरमदलियों के नेता सर फीरोज़ शाह मेहता ने, जिन्हे १६०५ मे कर्जन ने 'सर' का खिताब दिया था, तिकड़म करके अगले अधिवेशन का स्थान नागपुर से हटाकर सूरत करवा दिया। गरमदली इस बात पर बहुत नाराज हुए और ऐसी कुछ स्थिति पैदा हो गयी कि वह लोग कांग्रेस से अलग हो जायँगे। लेकिन तिलक को यह बात मंजूर न थी कि कांग्रेस के भीतर फूट पैदा हो। लिहाजा आगे चलकर गरम दल के लोग इस आधार पर समझौता करने के लिए राज़ी हो गये कि अगर लाला लाजपतराय को, जो सूरत अधिवेशन के पहले जेल से रिहा हो गये थे, सभापति बनाया जाय तो हम लोग अधिवेशन में सम्मिलित होंगे। यह प्रस्ताव रखने के पीछे उनका स्पष्ट उद्देश्य यही था कि इस तरह हम कांग्रेस की ओर से देश के एक विद्रोही नेता का सम्मान कर सकेंगे जो अभी-अभी जेल से छूटकर आ रहा है। नरमदलियों ने ऊपर से तो हामी भरी लेकिन भीतर ही भीतर अपनी चाल खेलते रहे क्योंकि वह किसी भी हालत मे लाला लाजपतराय को सभापति बनाने के लिए तैयार न थे। उन्हे डर लगता था कि ऐसा करने से सरकार बहुत नाराज हो जायेगी।

आख़िरकार अधिवेशन जुटा, नरमदली, गरमदली सभी उसमें शरीक हुए। गोखले भी, तिलक भी। लेकिन तभी नरमदल वालों ने क्या किया कि कांग्रेस संगठन के भीतर अपने प्रभुत्व के बल पर उन्होंने गरमदल के साथ अपने समझौते को भुलाकर सभापति के आसन पर बंगाल के प्रसिद्ध सरकार-परस्त नरमदली नेता रासबिहारी घोष को बैठा दिया। यह चीज गरमदल वालों की सहनशक्ति के बाहर हो गयी। तिलक ने अपना नाम सभापति के पास भेजा कि उन्हें सभा की कार्रवाई शुरू होने के पहले सभापति के चुनाव के सम्बन्ध में कुछ कहने का अवसर दिया जाय। सभापति ने इस पर कोई ध्यान नहीं दिया। आख़िरकार तिलक ने दूसरा कोई रास्ता न देख जबरन मंच पर जा पहुँचने का फ़ैसला किया। मंच पर उनका पहुँचना था और सभापति का उनको बोलने से रोकना था कि जोरों से मारपीट शुरू हो गयी। और फिर वह अधिवेशन जैसा हुआ वैसा न

हुआ। गरमदल और नरमदल वही से बिलकुल अलग हो गये, दोनों का एक दूसरे से फिर कोई संबंध न रहा।

सरकार भी भारतीय राजनीति के इस बराबर गाढे होते हुए विद्रोही रंग को देख रही थी। दमन की चक्की और तेज हो गयी। नये-नये क़ानून बन गये। नवंबर १९०७ में Prevention of Seditious Meetings Act लागू किया गया। लगभग इसी समय बगाल में १८१८ का तीन आईन (रूल III) पुनरुज्जीवित कर दिया गया और उसके अन्तर्गत बंगाल के स्वदेशी आन्दोलन के नेता श्यामसुन्दर चक्रवर्ती, कृष्णकुमार मित्र, शचीन्द्रप्रसाद बसु, अश्विनीकुमार दत्त, जनता की ओर से राजा की उपाधि पाये हुए राजा सुबोध मल्लिक इत्यादि को पकड़ लिया गया और बिना उन पर मुकदमा चलाये उन्हे निर्वासित कर दिया गया।

लेकिन जैसा कि रमेशचन्द्र दत्त ने कहा था, ' राजद्रोह उत्पन्न करने का इससे अच्छा कोई उपाय नहीं है कि पत्रों और सभाओं में होने वाले स्वतन्त्र विचार-विमर्श पर रोक लगा दी जाय, ' वही हुआ, उग्र तत्व और प्रबल होते गये। इधर कांग्रेस के भीतर गरमदल का ज़ोर बराबर बढ़ता जा रहा था और उधर सन् १९०७ और सन् १९१० के बीच क्रान्तिकारियों की सरगर्मियों मे एक ज्वार-सा आया हुआ था। १९०८ मे कलकत्ते में अलीपुर षड्यंत्र केस हुआ जिसमें बारीन घोष और दूसरे क्रान्तिकारी पकड़े और निर्वासित किये गये। बंगाल के गवर्नर की हत्या की चेष्टा हुई। कलकत्ते के पुलिस मजिस्ट्रेट किंग्सफ़र्ड की हत्या की चेष्टा हुई। चन्द्रनगर के मेयर की हत्या की चेष्टा हुई। इसी तरह के और भी कई काण्ड हुए। राजनीतिक डकैतियाँ भी शुरू हो गयीं।

वही कलकत्ते का किंग्सफ़र्ड जब तबदील होकर मुज़फ़्फ़रपुर आया तो ३० अप्रैल १९०८ को प्रफुल्ल चाकी (उम्र १७ साल) और खुदीराम बोस (उम्र १५ साल) ने मिलकर उसकी हत्या की चेष्टा की। उन्होंने किंग्सफर्ड पर बम तो फेंका लेकिन वह बच गया और उसकी जगह मिसेज़ और मिस केनेडी नाम की दो अंग्रेज स्त्रियाँ, माँ-बेटी, मारी गयीं। प्रफुल्ल चाकी ने वही अपने आपको गोली मार ली। खुदीराम बोस भाग निकला और अगले दिन मुज़फ़्फ़रपुर से चौबीस मील की दूरी पर पकड़ा गया। ११ अगस्त १९०८ को उसे फाँसी दे दी गयी। पन्द्रह साल के उस वीर बालक को इस तरह फाँसी पर झूलते देखकर सारा देश सिहर उठा। घर-घर खुदीराम की पूजा होने लगी। अंग्रेजों की न्यायपरता और भारत के प्रति उनकी मंगलकामना के जो रंगमहल नरमदली राजनीतिज्ञों ने इतने बरसों में इतने जतन से खड़े किये थे सब देखते-देखते खुदीराम के खून में डूब गये।

अब दोनों पक्ष आमने-सामने खड़े थे — सरकार हर तरह से कुचलने का पक्का इरादा लेकर और विप्लवी वीर सर हथेली पर लिये, शहादत का जाम

पिये हुए सब कुछ झेलने को तैयार।

३० अगस्त १९०८ को श्री अरविन्द ने, जिनके नाम की उस समय सारे देश में तूती बोल रही थी, अपनी पत्नी को यह पत्र लिखा जो विप्लवकारियों की तत्कालीन मनःस्थिति का परिचय देता है —

' ... मेरा .... पागलपन यह है कि जहाँ दूसरे लोग स्वदेश को एक जड़ वस्तु मानते हैं, कुछ खेत-मैदान, जंगल-पहाड़-नदी, वहाँ मैं उसको माँ के रूप में देखता हूँ; वैसी ही मैं उसकी भक्ति करता हूँ, पूजा करता हूँ। माँ की छाती पर बैठकर अगर कोई राक्षस उसका रक्तपान करता हो तो उस समय बेटे का क्या कर्तव्य है ? निश्चिंत होकर आहार करता बैठे, स्त्री-पुत्र के संग आमोद करे या माँ को बचाने के लिए दौड़े ?'

यह आग बराबर जोर पकड़ती जा रही थी। आये दिन यहाँ-वहाँ बम के धड़ाके होते थे। राष्ट्रीय समाचार पत्र — जिनमे तिलक के 'केसरी', अरविन्द घोष के 'वन्देमातरम' और विवेकानन्द के अनुज भूपेन्द्रनाथ दत्त के 'युगान्तर' का विशेष स्थान था — अलग आग उगलते रहते थे। सरकार के लिए बड़ी विस्फोटक स्थिति का सामना था। दमन की चक्की और भी तेज़ हुई। जून ८, १९०८ को एक्सप्लोसिव सब्सटैंसेज (विस्फोटक द्रव्य) ऐक्ट और न्यूज़पेपर (इनसाइटमेण्ट टु ऑफ़ेन्सेज़) ऐक्ट लागू किये गये। प्रेस ऐक्ट की मार से कोई न बच सका और उसके अन्तर्गत सन् १० और सन् १९ के बीच साढ़े तीन सौ प्रेस, तीन सौ अखबार और पाँच सौ से ऊपर किताबें जब्त की गयीं। दमन की यह चक्की इतनी तेज़ चली कि भारत-मंत्री लॉर्ड मॉर्ले तक उसे पचा न सके और उन्होंने वाइसराय मिण्टो को इस चीज़ के बारे में ख़त लिखा। मगर साथ ही यह भी लिखना न भूले कि आप वहाँ मौक़े पर मौजूद हैं, स्थिति को ज्यादा समझ सकते है, मैं तो बस एक नेक सलाह दे रहा हूँ। जिसकी ज़रूरत न तो बड़े लाट मिण्टो को थी और न बंबई के छोटे लाट सैण्डहर्स्ट को, जो सचमुच स्थिति को समझ रहे थे ! फिर भला कैसे सम्भव था कि उनकी तलवार कांग्रेस के भीतर और बाहर उग्र तत्वों के सबसे बड़े नेता तिलक पर न गिरती ! १३ जुलाई १९०८ को बंबई के हाईकोर्ट मे उन पर राजद्रोह का मुकदमा चलना शुरू हुआ और उन्हें जल्दी से जल्दी हिन्दुस्तानी जूरी के फ़ैसले के ख़िलाफ़ केवल अंग्रेज़ जूरी के फ़ैसले के जोर पर छः साल का दण्ड देकर चुपके-चुपके माण्डले (बर्मा) भेज दिया गया। उसके साथ भारतीय राजनीति का एक अत्यन्त महत्वपूर्ण युग समाप्त हुआ। पर तिलक को और उनके काम को भूलना तो दूर रहा जनता ने उन्हें अपने हृदय में और भी गहरे बिठाल लिया। तिलक के दण्ड के विरोध में बंबई के मज़दूरों की ज़बर्दस्त हड़ताल हुई जो इस बात की भी सूचना देती थी कि मजदूर सिर्फ़ अपनी पगार की ही बात नहीं समझता, देश की आज़ादी

की बात भी समझता है ।

तिलक छः बरस बाद माण्डले से लौटकर आये और फिर अपने उसी पुराने उत्साह से देश के काम मे जुट गये । बहुत कुछ उन्होंने किया जिसे देश सदा याद रखेगा लेकिन इसमे सन्देह नही कि भारत की स्वाधीनता की राजनीति को उनकी सबसे बड़ी देन उनका माण्डले जाने से पहले का युग है क्योंकि इसी युग मे और विशेष रूप से सन् १९०५ और १९०८ के बीच बंगभंग और स्वदेशी के आन्दोलन की पृष्ठभूमि मे राष्ट्रीय आन्दोलन को अपना स्पष्ट रूप मिला और उसे यह रूप देने मे जिस एक व्यक्ति की देन सबसे बड़ी है उसका नाम है बाल गगाधर तिलक ।

भारतीय राजनीति के रंगमंच पर आकर तिलक ने कुछ ही बरसों में यह जो विस्फोटक स्थिति पैदा कर दी थी उसका मुक़ाबला अंग्रेज सरकार अपनी दुरंगी नीति से कर रही थी । उग्र विद्रोही तत्वों को कुचलने के लिए तो उसके पास डंडा-गोली थी जिसका उपयोग वह इधर बरसों से कर रही थी । लेकिन उससे काम पूरा होते न देख उन्होंने नरमदलवालों और विधानवादी तत्वों को फुसलाने के लिए वैधानिक अधिकारों की मृगमरीचिका दिखलानी आरम्भ की। १९०९ मे मिण्टो-मॉर्ले रिफ़ार्म्स प्रस्ताव के रूप मे आये । उन्हे देखकर नरमदल-वाले बगलें बजाने लगे क्योंकि उनके नज़दीक यह उनकी वैधानिक नीति की विजय थी । जैसे डूबते को सहारा मिला और वह लोग बहुत जोर-शोर से ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत औपनिवेशिक स्वराज्य की बात करने लगे । जब ये रिफ़ार्म्स २५ दिसंबर १९१० को लागू किये गये तब तिलक माण्डले मे थे । लेकिन देश की चेतना को वह जैसा बनाकर गये थे, साधारण जनता उसके जाल मे नहीं फँसी । तिलक ने जो शिक्षा दी थी वह भारतीय जनता के अन्तस्तल मे बहुत गरेह जाकर बैठ गयी थी । उसे कभी भुलाया न जा सका ।

८

देश की जवान पीढ़ी ने, वह चाहे कांग्रेस के भीतर हो चाहे कांग्रेस के बाहर, क्रान्तिकारियों के प्रभाव में, एक सिरे से लेकर दूसरे सिरे तक तिलक का असर लिया क्योंकि वह आवाज़ किसी एक व्यक्ति की नहीं हमारी बलवान होती हुई राष्ट्रीयता की आवाज़ थी, युग की आवाज़ थी।

कानपुर के एक कोने में बैठकर मास्टरी करते हुए मुंशीजी ने भी इस आवाज़ को सुना और समझा। मई सन् १९०५ और जून १९०९ के बीच का सवा चार साल का ज़माना मुंशीजी ने कानपुर में ही गुज़ारा। इसी बीच विचारों की यह आँधी तिलक के साथ आयी और उन्हीं के साथ चली गयी।

समाज-सुधार से राजनीतिक सत्ता, स्वराज्य-चेतना के विकास की दृष्टि से यह एक बड़ी छलाँग थी। व्यावहारिक राजनीति से दूर अपने कोने में बैठे हुए ज़िला स्कूल कानपुर के एक आठवें मास्टर ने भी तिलक के साथ-साथ, स्वदेशी आन्दोलन के साथ-साथ यह छलाँग लगायी।

लेकिन यह रास्ता एक छलाँग में तय होनेवाला नहीं था। क़िस्से-कहानी में उस चीज़ को आते-आते दो बरस का वक़्त लग गया। हाँ, छोटे-छोटे लेखों में, पुस्तक समीक्षाओं में यह नयी कसमसाहट बराबर बोल रही थी।

वैसे मुंशीजी के विचारों की पहली सीमा आर्यसमाज है जिसमें आगे चलकर कुछ रंग शायद गोखले और रानाडे की सोशल रिफ़ार्म्स लीग का भी घुल गया था।

यों तो तिलक को अपना राजनीतिक गुरु मान लेने के बाद भी मन की दूसरी वृत्ति के रूप में गोखले का असर बहुत बाद तक, शायद ताज़िन्दगी, बना रहा। गांधी में तिलक और गोखले का अद्‌भुत समन्वय मिलता ही था। पर इसमें कोई सन्देह नहीं कि मुंशीजी ने देशप्रेम की राजनीति का पहला सबक़ तिलक से न लेकर गोखले से लिया। नवंबर-दिसंबर १९०५ के 'ज़माना' में उन्होंने एक लेख गोखले पर लिखा। उसमें इस प्रकार गोखले के एक भाषण का उद्धरण दिया गया है—

'वर्तमान शासनप्रणाली का यह परिणाम हो रहा है कि हमारी शारीरिक और मानसिक शक्ति दिन-ब-दिन छीजती जा रही है। हम दैन्य और अपमान का जीवन स्वीकार करने को बाध्य किये जाते हैं। पग-पग पर हमको इस बात की याद

दिलायी जाती है कि हम एक दलित जाति के जन हैं। हमारी स्वाधीनता का गला बेदर्दी से घोंटा जा रहा है, और यह सब केवल इसलिए कि वर्तमान शासन-व्यवस्था की नीव और मजबूत हो जाय। इंगलैण्ड का हर एक युवक जिसको ईश्वर ने बुद्धि और उत्साह के गुण प्रदान किये है, आशा करता है कि मै भी किसी न किसी दिन राष्ट्ररूपी जहाज का कप्तान बनूंगा, मैं भी किसी न किसी दिन ग्लैडस्टन का पद और नेलसन का यश प्राप्त करूँगा। .... हमारे देश के अभागे नौजवान ऐसे उत्साहवर्द्धक स्वप्न नहीं देख सकते। .... वर्तमान शासन-प्रणाली के रहते यह सम्भव नहीं कि हम उस ऊँचाई तक पहुँच सके जिसकी शक्ति और योग्यता प्रकृति ने हमे प्रदान की है। वह नैतिक बल जो प्रत्येक स्वाधीन जाति का विशेष गुण है, हममे लुप्त होता जा रहा है। अन्त में इस स्थिति का शोचनीय परिणाम यही होगा कि हमारी शासन-प्रबन्ध और युद्ध की योग्यता अव्यवहारवश नष्ट हो जायगी और हमारी जाति का इतना अधःपतन हो जायगा कि हम लकड़ी काटने और पानी भरने के सिवा और किसी काम के न रह जायँगे।'

इसी लेख मे एक जगह वह गोखले की राजनीति को इन शब्दों मे पेश करते है जिससे खुद उनके मन का झुकाव व्यक्त होता है —

'आप जैसे विद्वान् और बहुज्ञ व्यक्ति से यह बात छिपी नहीं थी कि विदेशी सरकार सदा जनता की सहानुभूति से वंचित और ग़लतफ़हमियों का शिकार बनी रहती है। उसको एक-एक क़दम ऊँचा-नीचा देखकर धरना होता है। इसी दृष्टि से आपने कभी सरकार को जनसाधारण की निगाह में गिराने या दोषी बनाने की चेष्टा नहीं की, बल्कि जब कभी मौक़ा मिला बडे गर्व से उन बडे-बड़े लाभों की चर्चा की जो अंग्रेजी राज्य की बदौलत हमें प्राप्त है। ....'

लेकिन अंग्रेजी राज्य से प्राप्त होनेवाले बड़े-बडे लाभों में आस्था ज़्यादा दिन न रह सकी। वक़्त की रफ़्तार तेज हो गयी थी और शान्तिकाल समाप्त हो गया था जब इस तरह की शिष्टाचार की बातें आपस में चल सकती थीं। अब तो समर सम्मुख था। उग्र राष्ट्रीयता की लहर आयी हुई थी जो हर रोज़ उग्रतर होती जाती थी। और गोरी सत्ता उसे कुचलने के लिए सब कुछ करने को तैयार थी, कुछ परवाह नहीं उसे कि कितना खून बहता है, कितने नौजवान फाँसी चढ़ते हैं, कितने कालेपानी जाते है, कितने घर बरबाद होते है।

क्या गुनाह है बेचारों का, यही न कि वह अपने देश को आज़ाद देखना चाहते हैं ? यह तो कोई गुनाह नहीं है। सभी देश आज़ाद होना चाहते है। कौन चाहता है कि यहाँ आकर विदेशी राज करें। आयरलैण्डवाले तो कितने ही मामलों में अंग्रेज़ों से इतने मिलते-जुलते हैं कि हम-तुम तो उन्हें अंग्रेज़ों से

अलग करके पहचान भी न सकें लेकिन उन्हें भी इंगलैण्डवालों की सरपरस्ती मंज़ूर नही हुई। वह भी अपने मुल्क की आजादी के लिए लड़ रहे हैं। इटली-वाले अलग अपनी आजादी के लिए लड़ रहे हैं। अमरीका के अंग्रेज तो यहीं से जाकर बसे थे वहाँ लेकिन जब उनकी अलग क़ौम बन गयी तो फिर उन्होंने भी इन्हे मारकर अपने यहाँ से निकाला या नहीं। रूस मे भी तो इसी तरह का गुप्त क्रान्तिकारी आन्दोलन है, वह नहीं चाहते ज़ार का अत्याचारी शासन। कितनी अच्छी बात कही है तिलक ने, 'स्वराज्य मेरा जन्मसिद्ध अधिकार है और मै उसे लेकर रहूँगा।' कौन होते है आप यह कहनेवाले कि हम अपने देश की ज़िम्मेदारी सँभालने के क़ाबिल हुए या नहीं ? न होंगे तो देखी जायगी, जो पड़ेगी हम पर हम भुगत लेंगे, आपसे कहने न जायँगे ! मगर नही, यह सब तो कहने की बातें है, मालिक और गुलाम के रिश्ते मे ऐसा कहीं नहीं होता और कभी नही हुआ कि मालिक ने एक रोज़ गुलाम को इस क़ाबिल समझकर कि वह अपनी ज़िम्मेदारी खुद सँभाल सकता है ताक़त उसके हाथ में खुद से सौप दी हो। मालिक तो हमेशा गुलाम को नाकारा समझता है — क्योंकि इसी में उसका फ़ायदा है। वह इतिहास का विद्यार्थी था और इतिहास में इस तरह की कोई नजीर नही मिलती। मालिक की निगाह में गुलाम क़यामत के रोज़ तक इस क़ाबिल न होगा कि उसे खुद उसके भरोसे छोड़ दिया जाय। तो इसका मतलब है कि हम क़यामत के रोज़ तक गुलाम रहेगे ? और अगर हमें यह दलील मंज़ूर न हो और हम आपसे कहे कि आप हमको हमारे हाल पर छोड़ दीजिए तो इसका जवाब आपके पास है फाँसी और कालापानी ! तभी तो आपने इस तरह जल्लादी पर कमर बाँधी है। हुकूमत करनेवाले सब एक-से होते हैं। गोखले ने खामखाह आस लगा रक्खी है उनसे। कुछ होने-जाने वाला नही है। तिलक का रास्ता ही ठीक है। बात समझ मे आती है। आजादी हमेशा लड़कर ली जाती है, भीख माँगने से आज़ादी नहीं मिला करती। माँग तो रहे है भीख इतने दिनों से, मिला कुछ ! किसी को मिली है कि आप ही को मिलेगी ? कुर्बानी दरकार है उसके लिए। यह तो लड़ाई है बाक़ायदा। इसमे कहाँ का रहम और कहाँ की मुरौवत। सब बच्चों को बहलाने की बातें हैं। जिस दिन मुल्क कुर्बानी के रास्ते पर चल पड़ेगा, आजादी रखी हुई है ....

और मुंशीजी ने सन् १९०७ में अपनी पहली छोटी कहानी लिखी, बिलकुल पहली — दुनिया का सबसे अनमोल रतन। क्या है दुनिया का सबसे अनमोल रतन ? एक फाँसी पाने वाले पिता के आँसू ? नहीं। अपने पति के साथ चिता पर भस्म हो जानेवाली एक सती स्त्री की खाक ? नहीं। 'खून की वह आखिरी बूँद जो देश की आज़ादी के लिए गिरे, वही दुनिया का सबसे अनमोल रतन है।'

ऐसी ही कहानी 'शेख़ मखमूर' है जो इन्हीं दिनों मुंशीजी की क़लम से

निकली । बाहर का एक राजा हमला करके किसी देश को जीत लेता है । पराजित देश का राजा जब मरने लगता है तो अपना ताज और अपनी तलवार अपने बेटे को सौंप जाता है और वसीयत करता है —

'.... यह मुल्क तुम्हारा है, यह ताज तुम्हारा है, यह रिआया तुम्हारी है । तुम इन्हे अपने कब्जे मे लाने की मरते दम तक कोशिश करते रहना और अगर तुम्हारी तमाम कोशिशें नाकाम हो जायँ और तुम्हें भी यही बेसरोसामानी की मौत नसीब हो तो यही वसीयत तुम अपने बेटे से कर देना और यह ताज जो उसकी अमानत होगी, उसके सिपुर्द कर देना ।'

पन्द्रह साल के लड़के खुदीराम को जब फाँसी दी गयी और किसी तरह का लिहाज उसकी उम्र का नही किया गया तो सारा देश जैसे कराह उठा एक बार । सब को यही लगा कि जैसे उन्ही का बेटा उन्हीं का भाई चढ़ गया फाँसी पर । किसी को रहम न आया उसकी कच्ची उम्र पर ! और बातें इतनी-इतनी अंग्रेजों के इंसाफ़ की ! सब वही हाथी के दाँत — खाने के और दिखाने के और । जब तक अपने ऊपर आँच नही आती तब तक हम बड़े इंसाफवाले हैं लेकिन जहाँ बात कुछ भी इधर से उधर हुई, फिर कहाँ का इसाफ़ और कहाँ का क्या । तब तो फिर एक ही इसाफ है कि तलवार उठाओ और एक-एक का सर धड़ से जुदा कर दो । पहले भी यही हुआ है, अब भी यही हो रहा है । होने में कोई बुराई नहीं है, जहाँ जंग का ऐलान हो दो क़ौमों के बीच वहाँ दूसरी किसी चीज़ की उम्मीद भी न करनी चाहिए । कौन करता है कुछ और उम्मीद, हम तो उनसे शिकायत भी नही करते । शिकायत तो हमे अपने ही लोगों से है, क्यों बरग़लाते है वह दूसरों को, बेबुनियाद बातें कह-कहकर ?

मुशीजी बेतरह बिफरे हुए थे और जैसा कि निगम साहब कहते है —

'प्रेमचंद का राजनीतिक झुकाव गरम दल की तरफ था । अहमदाबाद कांग्रेस देखने हम लोग साथ ही साथ गये और एक ही जगह ठहरे लेकिन वह मिस्टर तिलक के तरफ़दार थे और मैं मिस्टर गोखले और सर फ़ीरोज़ शाह का हामी था । हर वक़्त बहस रहती थी मगर दोनों अपनी जगह क़ायम रहे । छोटे-मोटे सुधारों को वह काफ़ी न समझते थे और मिण्टो-मॉर्ले और मॉण्टेग्यू-चेम्सफोर्ड की स्कीम से आश्वस्त न थे ।'

इसका कारण भी निगम साहब बतलाते है —

'प्रेमचंद नाबराबर की लड़ाई मे समझौते के ख़याल को शुबहे की नज़र से देखते थे । उनका ख़याल था कि कड़ी जद्दोजहद के बग़ैर कुछ हासिल न होगा और वह इसके लिए अवाम को जल्द से जल्द तैयार करने की तरफ़ थे । उनका ख़याल था कि हुकूमत से सख्त टक्कर लिये बग़ैर काम न चलेगा । ....'

काग्रेस के भीतर तिलक का आन्दोलन और काग्रेस के बाहर क्रान्तिकारियों की सरगर्मियाँ और उन दोनों पर चलनेवाला सरकार का कठोर, नृशंस दमन रोज-ब-रोज मुंशीजी के मन को विद्रोही बनाता जा रहा था और जब ११ अगस्त १९०८ को खुदीराम को फाँसी हो गयी तो उनके दिल से समझौते की बात, किसी तरह के समझौते की बात, हमेशा के लिए रुखसत हो गयी। उस दिन के बाद से उनके और सरकार के बीच खुदीराम की लाश थी। इस बहादुर लड़के की शहीदाना मौत हमेशा के लिए मुशीजी के दिल मे घर कर गयी और वह कभी सरकार को इस बच्चे के खून के लिए माफ़ नही कर सके। बड़ी गहरी चोट लगी दिल को लेकिन गर्व भी कम न हुआ और मुशीजी जो कभी किसी की तसवीर-वसवीर घर मे नहीं टॉगा करते थे, जाकर खुदीराम की एक तसवीर ले आये और बड़े प्रेम से अपने कमरे मे उसे टाँग लिया। होकर ऐसे एक बाग़ी की तसवीर घर मे टाँगना उनके हक़ मे बुरा हो सकता है, इसका पता भी उनको होगा ही, ताहम वह तसवीर खरीदकर घर आयी और बेझिझक टाँगी गयी। इस तरह एक देशभक्त नौजवान ने एक बहादुर शहीद की मौत पर श्रद्धा के दो फूल चढाये। वह रास्ता शायद कभी मुशीजी को सही नहीं मालूम हुआ लेकिन उससे क्या।

इस सिलसिले मे यह भी ध्यान देने की बात है कि मुंशीजी भले क्रान्तिकारी आन्दोलन मे शरीक न हों और उस रास्ते को सही न समझते हों लेकिन वह भी उन्हीं विवेकानन्द और मैज़िनी और गैरीबाल्डी की तरफ़ झुक रहे थे जिनकी तरफ़ क्रान्तिकारी नौजवानों की वह पीढ़ी झुक रही थी।

जुलाई १९०७ मे गैरीबाल्डी का एक छोटा-सा जीवनचरित्र उन्होंने 'ज़माना' मे लिखा, वही 'जोजेफ़ गैरीबाल्डी जिसने इटली को गुलामी के गढ़े से निकाला' और जो 'इतिहास के उन इने-गिने महापुरुषों में है जो अपनी निस्स्वार्थ और साहसभरी देशभक्ति के कारण सारी दुनिया का उपकार करनेवाले माने गये है।' बहादुरी के कारनामों से भरी हुई उसकी रोमाचकारी ज़िन्दगी का बखान करने के बाद मुशीजी ने एक जगह पर लिखा —

'सच है, स्वदेश की सेवा सहज काम नही है। उसके लिए ऊँचा हौसला, फ़ौलाद की दृढता, दिन-रात मरने-पिसने का अभ्यास और हर समय जान हथेली पर लिये रहने की जरूरत है। जब तक ये गुण अपने स्वभाव में न समा जायँ, स्वदेश-सेवा का व्रत ज़बानी ढकोसला है।'

मैजिनी की ज़िन्दगी के हालात को नवाब ने क़िस्से की शकल मे पेश किया और 'इश्क़े दुनिया और हुब्बे वतन' के नाम से उसकी कहानी अप्रैल १९०८ के 'ज़माना' में लिखी। कहानी के रूप में वह चीज़ कुछ खास उतर न सकी मगर हाँ, लिखनेवाले ने अपने हृदय के भाव, प्रेम और श्रद्धा के, उसमें अच्छी तरह

उँडेल दिये। अपने देश की आजादी के लिए उसने अपनी मुहब्बत कुर्बान कर दी, यही सारी कहानी है मगर इसको लिखनेवाले ने बहुत जोश के साथ लिखा है —

'मैज़िनी अपने ख़यालों मे डूबा हुआ है — आह, बदनसीब कौम ! ऐ मजलूम इटली ! क्या तेरी किस्मतें कभी न सुधरेंगी, क्या तेरे सैकड़ों सपूतों का खून जरा भी रंग न लायगा, क्या तेरे हजारहा जलावतन, देश के निकाले हुए जाँनिसारों की आहों मे जरा भी तासीर नही ! क्या तू अन्याय और दासता के जाल मे हमेशा गिरफ़्तार रहेगी ! शायद तुझमें अभी सुधरने की, स्वाधीन बनने की योग्यता नहीं आयी। शायद तेरी किस्मत में कुछ दिनों और जिल्लत और ख्वारी झेलनी लिखी है।'

कहने की जरूरत नही कि इटली महज एक बहाना है, बात वह अपने ही देश की कर रहा है। और उसी रौ में कर रहा है जिसमें देश की वह तमाम नौजवान पीढ़ी कर रही थी जिसने विद्रोह और विप्लव का रास्ता अपनाया था।

इस पीढी ने विवेकानन्द से कितना मनोबल पाया यह सब जानते है। और मुशीजी जो कि उसी उग्र राष्ट्रीयता के साथ बह रहे थे और हिन्दू जाति के उत्कर्ष का स्वप्न देखते हुए इस ओर आये थे, कैसे संभव था कि वह जोरों के साथ विवेकानन्द की ओर न खिचते। कई रूपों मे विवेकानन्द उन्हे अपनी तरफ़ खींचते थे। एक तो सच्चे हिन्दू का रूप, ऐसा हिन्दू जिसके मन में यह लालसा है कि 'आज की धन और बल से हीन हिन्दू जाति फिर पूर्वकाल की सबल, समृद्ध और आत्मगौरव-शालिनी आर्य जाति बने।'

दूसरा रूप एक अच्छे देशसेवी, जनसेवी का था —

'१८९७ ई० का साल सारे हिन्दुस्तान के लिए बड़ा मनहूस था। कितने ही स्थानों मे प्लेग का प्रकोप था और अकाल भी पड़ रहा था। लोग भूख और रोग से काल का ग्रास बनने लगे। देशवासियों को इस विपत्ति में देखकर स्वामीजी कैसे चुप बैठ सकते थे। आपने लाहौरवाले भाषण में कहा था — साधारण मनुष्य का धर्म यही है कि साधु-संन्यासियों और दीन-दुखियों को भरपेट भोजन कराये। मनुष्य का हृदय ईश्वर का सब से बड़ा मन्दिर है और इसी मन्दिर में उसकी आराधना करनी होगी। फलतः आपने बड़ी सरगर्मी से खैरातखाने खोलना शुरू किये। स्वामी राम-कृष्ण ने देशसेवाव्रती संन्यासियों की एक छोटी-सी मण्डली बना दी थी। यह सब स्वामीजी के निरीक्षण में तन-मन से दीन-दुखियों की सेवा में लग गये। .... वेदान्त के प्रचार के लिए, जगह-जगह विद्यालय भी स्थापित किये गये। कई अनाथालय भी खुले ....'

तीसरा रूप एक सतेज स्वाधीनता-प्रेमी का है। मुशीजी ने विवेकानन्द के किसी भाषण का यह टुकड़ा नक़ल किया —

'मेरे नौजवान दोस्तो, बलवान् बनो ! तुम्हारे लिए मेरी यही सलाह है।

तुम भगवद्गीता के स्वाध्याय की अपेक्षा फुटबाल खेलकर कहीं अधिक सुगमता से मुक्ति प्राप्त कर सकते हो। जब तुम्हारी रगें और पुट्ठे अधिक दृढ़ होंगे तो तुम भगवद्गीता के उपदेशों पर अधिक अच्छी तरह चल सकते हो। गीता का उपदेश कायरों को नहीं दिया गया था, अर्जुन को दिया गया था जो बड़ा शूरवीर, पराक्रमी और क्षत्रिय-शिरोमणि था।'

फिर एक दूसरे व्याख्यान का यह टुकड़ा पेश करते हैं —

'यह समय आनन्द में भी आँसू बहाने का नहीं। हम रो तो बहुत चुके। .... इस कोमलता ने हमें इस हद तक पहुँचा दिया है कि हम रुई का गाला बन गये हैं। अब हमारे देश और जाति को जिन चीज़ों की जरूरत है वह है — लोहे के हाथ-पैर और फ़ौलाद के-से पुट्ठे और वह दृढ़ संकल्प शक्ति जिसे दुनिया की कोई चीज़ नहीं रोक सकती, जो प्रकृति के रहस्यों की हद तक पहुँच जाती है और अपने लक्ष्य से कभी विमुख नहीं होती चाहे उसे समुद्र की तह में जाना या मृत्यु का सामना क्यों न करना पड़े।'

सामाजिक सुधारों के बारे में विवेकानन्द के दृष्टिकोण का उल्लेख करते हुए उन्होंने जो बात लिखी है वह इस प्रश्न पर खुद उनके विचारों की उस नयी कड़ी का आभास देती है जो पिछले दो-चार वर्षों में जुडी है। लिखते है —

'स्वामीजी [illegible] सुधारों के [illegible]र्थक थे पर उसकी वर्तमान गति से सहमत न थे। उस समय समाज-सुधार के जो यत्न किये जाते थे वह प्रायः उच्च ओर शिक्षित वर्ग से ही संबंध रखते थे। पर्दे की रस्म, विधवा-विवाह, जाति-बंधन — यही इस समय की सबसे बड़ी सामाजिक समस्याएँ है जिनमें सुधार होना बहुत ही ज़रूरी है और सभी शिक्षित वर्ग से संबंध रखती हैं। स्वामी जी का आदर्श बहुत ऊँचा था — अर्थात् निम्न श्रेणीवालों को ऊपर उठाना, उन्हें शिक्षा देना और अपनाना। यह लोग हिन्दू जाति की जड़ हैं और शिक्षित वर्ग उसकी शाखाएँ! केवल डालियों को सीचने से पेड़ पुष्ट नही हो सकता। उसे हरा-भरा बनाना हो तो जड़ को सींचना होगा।'

चेतना की यह एक नयी ही गहराई है और उस गम्भीर मानसिक क्रान्ति का पता देती है जिसके बीच से मुंशीजी पिछले दिनों गुज़रे थे। देश मे उस समय चारों तरफ जो उथल-पुथल मची हुई थी और राष्ट्रीय आन्दोलन को लोकमान्य तिलक से जो नेतृत्व मिल रहा था उसमें मुशीजी ने अपने विचारों की यात्रा मे काफ़ी लबा सफ़र तय किया था।

सब बेकार की बातें है, सत्ता पर जब आँच आती है सब एक बराबर हो जाते है। सीधी बात तिलक कहता है, देश को लड़ने के लिए तैयार करो।

मगर यह तो कहो — देश कौन है? यह मुट्ठी भर पढ़े-लिखे लोग या वह करोड़ों छोटे लोग? असल देश वही निम्न श्रेणी है। वही तो जड़ है, शिक्षित वर्ग

तो उसकी शाखा है । केवल डालियों को सीचने से पेड़ पुष्ट नहीं हो सकता । उसे हरा-भरा बनाना हो तो जड़ को सीचना होगा ।

बाद मे जो कुछ हुआ उसका अकुर यही था, चेतना का यह क्रान्तिकारी स्तर ।

सचमुच बडे अच्छे मुहूर्त मे कानपुर आये थे जो चार बरस से ऊपर इस सुहाने वातावरण मे रहने को मिल गया । लिखने-पढने की ऐसी अच्छी फिजा बडी क़िस्मत से मिलती है ।

सबसे पहले तो मुंशीजी की एक ज़ोरदार झड़प गोरखपुर के हकीम बरहम से हो गयी । हुआ यह कि चकबस्त ने शरर और सरशार का एक मार्का लिखा था जिसमे दोनों बडे कथाकारों के गुण-दोष पर विचार था । मगर वह चीज कुछ इस क़दर फैली और कुछ ऐसा ज़बर्दस्त असर उसने पढनेवालों पर डाला कि शरर के (जो ख़ास इस्लामी रंग में लिखते थे) चाहनेवालों और सरशार के चाहनेवालों के दो अलग गिरोह-जैसे हो गये और चकबस्त की छेड़ी हुई उस बहस से और भी बहुत-सी शाख़े फूट निकली । हकीम बरहम ने शरर की तरफ़दारी करते हुए 'उर्दूए मुअल्ला' मे सरशार की खूब ले-दे की । मुंशीजी ने जो वह चीज पढी तो उनसे अपने उस्ताद की यह तौहीन बर्दाश्त न हुई और वह भी ताल ठोंककर सरशार की तरफ़ से अखाडे मे कूद पड़े । उसी पर्चे मे हकीम साहब को जवाब देते हुए मुंशीजी ने लिखा —

'हम हकीम साहब के कहने से इस बात को मान लेते है कि हज़रत शरर अरबी के फ़ाजिल, फ़ारसी के बहुत बड़े आलिम और अपने वक़्त के बहुत बडे विद्वान् है .... बेचारा सरशार फ़ारसी में कच्चा और अरबी मे नादान बच्चा है .... मगर उससे हमको क्या बहस । हम सिर्फ़ यह देखना चाहते है कि कहानी लिखने के मैदान मे किसका क़लम उड़ानें भरता है ....'

फिर मुशीजी ने उपन्यास की कसौटी क़ायम की कि वह अपने ज़माने की तसवीर होता है और लिखा —

'इस कसौटी को अपने सामने रखकर अगर सरशार के क़िस्सों को देखिए तो ऐसी कौन-सी खूबी है जो इनमे भरपूर नहीं । सच तो यह है कि उनकी सब किताबें अपने ज़माने की सच्ची तसवीरें है .... सांस्कृतिक जीवन का कोई ऐसा पहलू नहीं जिस पर सरशार की ज़बान ने अपने निराले ढग से फूल न बरसाये हों । यहाँ तक कि मदारियों के खेल, भाँड़ों की नक़लें, बाज़ारू शराब पिलाने-वालियों के नख़रे और ऐसी ही बेशुमार बातों की छोटी-छोटी बारीकियों मे भी अद्भुत चित्रकार का कौशल दिखाया है ....'

हकीम बरहम साहब के इस अभियोग का जवाब देते हुए कि सरशार के उपन्यासों में न कोई उद्देश्य है न कोई विचार, मुशीजी ने लिखा —

● जितना ही इस पर ग़ौर करते हैं उतनी ही उलझन मालूम होती है कि इस बात पर हँसें या गम्भीरता से उसका जवाब दें। सरशार ने उन सामाजिक रोगों के उपचार का बीड़ा उठाया था जिनके पंजे में फँसकर समाज की जान निकली जा रही थी और दूसरे अनुभवी वैद्यों और हकीमों की तरह उसने भी कड़वी बदमजा दवाएँ शक्कर और मिश्री में घोलकर पिलायीं। जिन लोगों के पास आँख है वह जानते हैं कि बीमारियों की रोकथाम का कोई साधन ऐसा उपयोगी और असरदार नहीं है जितना कि दिल्लगी का कोड़ा और सरशार ने बड़ी बेरहमी से ऐसे कोड़े लगाये हैं .... सरशार की बेधड़क ठिठोली डिकेन्स के गम्भीर व्यंग से अधिक प्रभावशाली है। ....

मगर ग़ालिबन हकीम साहब ऐसे निष्कर्षों या नतीजों को नतीजा न समझेंगे। उनके नजदीक उस नाविल के शीशे में निष्कर्ष, उद्देश्य और विचार भरे होते हैं जिस पर इस तरह का कोई लेबुल लगा होता है — 'इस उपन्यास में पर्दे के बुरे नतीजे दिखाये गये हैं। या इस उपन्यास में यह सिद्ध किया गया है कि मर्ज़ी के खिलाफ़ शादियों का हमेशा बुरा नतीजा होता है।' .... गोया उपन्यास न हुए कोई दर्शन की किताब हुई जिसमे किसी न किसी थ्योरी को स्थापित करना जरूरी है .... मजा तो जब है कि नतीजा ऊपर से नीचे तक भरा हो और ऐसे सरल, अनायास ढंग से कि पाठक के दिलों में खुब जाय। ●

और फिर साहित्य के एक बडे सिद्धान्त की स्थापना की —

'मनुष्य की भावनाओं और स्थितियों व प्रकृति के दृश्यों और संसार के चमत्कारों की तसवीर खीचना स्वयं एक निष्कर्ष या नतीजा है।'

हकीम साहब के इस अभियोग का जवाब देते हुए कि सरशार के सब पात्र लखनऊ ही के स्त्री-पुरुष है, मुंशीजी ने कहा —

● इसमें हर्ज ही क्या है? एक शहर तो क्या एक मुहल्ले और एक परिवार में अलग-अलग स्वभावों और तौर-तरीकों के लोग हो सकते है और एक सचमुच कला का धनी उपन्यासकार उन्हीं की रोज़मर्रा जिन्दगी में जादू का-सा असर पैदा कर सकता है .... एक ख़ास जगह के दृश्यों और संस्कृति का विस्तृत चित्र दिखाना कहीं ज्यादा अच्छा है बजाय इसके कि सारी दुनिया के भौगोलिक नक्शे दिखाये जायँ।

मगर इसका हमेशा खयाल रखना चाहिए कि उपन्यास लिखने की सफलता यही नहीं है कि पात्रों मे केवल विशेषताएँ पैदा कर दी जायँ, सच्ची कारीगरी तो इसमे है कि पात्रों में जान डाल दी जाय, उनकी ज़बान से जो शब्द निकलें वह खुद-ब-खुद निकलें, निकाले न जायँ, जो काम वह करें, खुद करें, उनके हाथ-पाँव मरोड़कर ज़बर्दस्ती उनसे कोई काम न कराया जाय। इस कसौटी पर सरशार के पात्रों को कसिए तो वह आम तौर पर खरे निकलेंगे। उनमे वही चलत-फिरत है जो जीते-जागते आदमियों में हुआ करती है। उनमें वही छेड़छाड़, वही हँसी-

मजाक, वही गुपचुप इशारे, वही गुल-गपाड़े होते हैं जो हम अपनी बेतकल्लुफी की मजलिसो मे किया करते है। उनकी एक-एक बात से हमको हमदर्दी हो जाती है। वह हमको हॅसाते है, रुलाते है, चिढ़ाते है, सताते है। उनके क़हक़हे की आवाज़े हमारे कान मे आती है, हमारे दिल मे गुदगुदी पैदा होती है और हम खुद-ब-खुद खिलखिला पड़ते है। उनके रोने की दिल हिला देनेवाली आवाजे हम सुनते है और हमारी आँखो मे बरबस आँसू भर आते है.... और पात्रों को जाने दीजिए, सरशार का खोजी ही एक ऐसी अमर सृष्टि है जो दुनिया की किसी जबान मे उसकी जबर्दस्त शोहरत का सिक्का बिठाने के लिए काफ़ी है। माशा-अल्लाह, कैसा हँसता-बोलता आदमी है। सुबह हुई, आप उठे, अफीम घोली, हुक़्के का दम लगाया, दाढ़ी फटकारी और अपने भुजदंड को देखते, अकड़ते, अपने ज़ोम में मस्त चले जा रहे है। ज्यों ही रास्ते में किसी चन्द्रवदना सुन्दरी को धीमे-धीमे आते देखा, वही आपकी बॉछें खिल गयीं। जरा और अकड़ गये। उसने जो कही आपके रंग-ढग पर मुस्करा दिया तो आप फूल गये। गुमान हुआ मुझ पर रीझ गयी। फौरन मूछों पर ताव दिया और मुस्कराकर तीखी-बाँकी चितवनों से आसपास के लोगों को देखने लगे, कि पाँव मे ठोकर लगी और चारों खाने चित्त। यारों ने क़हकहा लगाया मगर क्या मजाल कि हज़रत के चेहरे पर जरा भी मैल आने पाये। गर्द झाड़ी, उठ खडे हुए और बस 'ओ गीदी' का नारा लगाया, क़रौली म्यान से निकल पड़ी और चारों तरफ़ सुथराव हो गया, सर धड़ों से अलग नजर आने लगे और लाशे फड़कने लगी। शाबाश खोजी! तुझको खुदा हमेशा जिन्दा सलामत रक्खे, तेरे एहसानों से एक दुनिया का सर झुका हुआ है।... ●

अपने एक इतने बड़े उस्ताद पर कोई अनाप-शनाप तोहमत लगाये, यह भला मुंशीजी बर्दाश्त कर सकते थे? अपनी पूरी ताक़त और जोश से वह हकीम साहब के ऊपर पिल पड़े और मारते-मारते उनको बेदम कर दिया। सरशार की रक्षा करने मे मुशीजी खुद अपने साहित्यिक आदर्शो की रक्षा कर रहे है जिनको वह मज़बूती के साथ पकड़ चुके है।

जीवन के प्रति ऐसी ही प्रौढ़ दृष्टि इन मोतियों में नज़र आती है जो मुंशीजी ने 'विदुर नीति' की समालोचना करते हुए उसमें से चुनकर पेश किये। कहना न होगा कि विदुर नीति की ये सूक्तियाँ शायद मुंशीजी की अपनी उपलब्धि, अपनी आचार-संहिता भी हैं, वर्ना इन्हीं मोतियों पर उनकी नज़र क्यों ठहरती —

● विद्वान् उसी को कह सकते है जो संसार के व्यापार में लिप्त रहने पर भी ऐन्द्रिक इच्छाओं और धन-सम्पदा से ऊँचा स्थान सदाचार को देता हो। जो व्यक्ति अपना अनमोल समय व्यर्थ नहीं गॅवाता और विचारों पर जिसको अधिकार होता है उसे विद्वान् कहते है। पण्डित और बुद्धिमान् वही है जो संसार की

आपद-विपद से ऐसा ही निश्चिन्त रहे जैसे नदी अपने मे कंकड़-पत्थर फेंके जाने से रहती है।

मनुष्य के शरीर से खून निकालने के लिए दो नश्तर है जिनमें से पहला नश्तर तो कंगाल को अकूत संपत्ति की लालसा है और दूसरा है कमजोरी के बावजूद दूसरों पर गुस्सा करना।

इन दो व्यक्तियों को कमर में पत्थर बाँधकर नदी में डुबो देना चाहिए — एक तो ऐसे धनवान को जो अपने धन मे अधिकारी व्यक्तियों को सम्मिलित न करे और दूसरे ऐसे कंगाल को जो गरीबी के बावजूद परमेश्वर की उपासना न करे।

दो आदमी ऐसे आफत के परकाले होते है कि सूरज के लंबे-चौड़े घेरे को भी चीर-फाड़कर ऊपर दाखिल हो सकते है — पहला तो प्राणायाम करने वाला सन्यासी है और दूसरा लड़ाई के मैदान में बहादुरी के साथ दुश्मन का मुक़ाबला करके शहीद हो जानेवाला वीर।

जिस तरह शहद की मक्खी फूल को बनाये रखकर उसमे से सिर्फ़ शहद ले लिया करती है उसी तरह राजा को चाहिए कि प्रजा की स्थिति को बनाये रखकर उससे कर वसूल करे।

सदाचार से सद्गुणों की, अध्ययन से ज्ञान की, अच्छे आचरण से सौन्दर्य की, नेक आचरण से परिवार की, नाप-तोल से ग़ल्ले की, फेरने से घोड़े की, देखभाल से जानवरों की और सादे कपड़ों से स्त्री के सतीत्व की रक्षा होती है। ●

फुटकर लेख तो इस तरह के बने ही, दो लंबे क़िस्से भी इस बीच छपे। एक तो राजपूताने की कहानी थी 'रूठी रानी' जो अप्रैल से अगस्त १९०७ तक 'ज़माना' मे धारावाहिक रूप से निकली, और दूसरी 'किशना' लगभग इन्हीं दिनों किताब की सूरत मे बनारस के मेडिकल हाल प्रेस से छपी।

अक्तूबर १९०७ के अंक मे उसकी समालोचना करते हुए नौबत राय 'नज़र' ने लिखा —

'यह एक उपन्यास है और हमारे सोशल रिफ़ार्म से ताल्लुक़ रखता है ... उन्होंने औरतों मे ज़ेवर के फ़िज़ूल शौक़ की अच्छी चिथाड़ की है, गोया यह एक ऐसी औरत की लाइफ़ है जिसे ज़ेवरों का शौक़ नही बल्कि सनक थी ... साथ ही शादी-ब्याह की कुछ रस्मों का भी ख़ाका उड़ाया गया है, ख़ासकर क़रार-दाद और उसका सख्ती से वसूल करना। ... किताब में जो भाषा इस्तेमाल की गयी है वह मुशी साहब की प्रांजल लेखन शैली से बहुत कम मिलती है। शायद यह भाषा इसलिए इस्तेमाल की गयी है कि जिन लोगों का सुधार अभीष्ट है, उनके लिए रोचक हो। .... यह एक ऐसा उपन्यास है जिसमें कोई हीरो या हीरोइन नहीं है और उसे उपन्यास कहना कठिन है। दरअसल यह उपन्यास है भी नहीं बल्कि स्त्रियों

की एक कुत्सित प्रवृत्ति का खाका उड़ाया गया है जिसे अंग्रेजी में कैरिकेचर कहते हैं ... '

'किशना' निकलने के साल भर बाद 'दुनिया का सबसे अनमोल रतन' और दूसरी चार कहानियों का संग्रह 'सोजे वतन' के नाम से निकला। '

और उसके छः आठ महीने बाद १० जून १९०९ को कूच का परवाना आ गया।

कानपुर छूटने का मुशीजी को रंज था। यारों की यह सोहबते फिर कहाँ मिलेंगी। यह हरदम का साथ उठना-बैठना, साहित्य की और राजनीति की बातें, तरह-तरह के मंसूबे। इस जिन्दगी का मज़ा ही और था। लगता था कि सचमुच जिन्दा है। अब पता नहीं, वहाँ क्या हाल रहे। महोबा तो जंगल है। बुदेलखण्ड का पहाड़ी इलाक़ा। पढ़े-लिखे आदमी की सूरत देखने को तरस जाऊँगा।

मगर ख़ैर, इलाज भी क्या है। सरकारी नौकरी मे तबादला तो एक जरूरी शर्त है। हमीरपुर फिर भी कानपुर से उतना दूर नही है। हाँ, रेल नही है, मगर उससे क्या।

नौकरी करनी है तो फिरना पड़ेगा। और फिर यह तो तरक्की हुई है, अच्छी खासी तरक़्क़ी — तीस रुपये से पचास रुपये। मगर हाँ, बैठने को न मिलेगा वहाँ भी। पैर मे चक्कर रहेगा हरदम।

इन्हीं दिनों कभी इलाहाबाद चले आने की सूरत एक बार बनी थो। इण्डियन प्रेस के बाबू चिन्तामणि घोष उर्दू का एक रिसाला निकालना चाहते थे। उसी की एडिटरी के सिलसिले मे। चिन्तामणि बाबू ने मुशीजी को बुलाया। मुंशीजी आये। बातें हुईं। मुशीजी ने उसका नाम 'फ़िरदौस' तजवीज़ किया। कुछ लोगों से रचनाएँ भी मँगा लीं। मगर दोस्तों ने नौकरी छोड़कर जाने की सलाह न दी। आख़िरकार बात ख़त्म हो गयी, और बाद को प्यारेलाल 'शाकिर' ने कई बरस तक उसी रिसाले को 'अदीब' के नाम से निकाला।

और मुशीजी तो अब हमीरपुर जा रहे थे।

स्कूलों के मुआइने का काम था, वही उनके जाने-पहचाने देहाती मदरसे —

'एक पेड़ के नीचे, जिसके इधर-उधर कूड़ा-करकट पडा हुआ है और जहाँ शायद वर्षो से झाड़ू नहीं दी गयी, एक फटे-पुराने टाट पर बीस-पच्चीस लड़के बैठे ऊँघ रहे हैं। सामने एक टूटी हुई कुर्सी और पुरानी मेज है। उस पर जनाब मास्टर साहब बैठे हुए है। लड़के झूम-झूम कर पहाड़े रट रहे हैं। शायद किसी के बदन पर साबित कुर्ता न होगा। धोती जाँघ के ऊपर बँधी हुई, टोपी मैली-कुचैली, शकलें भूखी, चेहरे बुझे हुए! यह आर्यावर्त का मदरसा है जहाँ किसी ज़माने में तक्षशिला और नालंदा के विद्यापीठ थे ...'

मुंशीजी खुद ऐसे मदरसों में पढ़ चुके है और अपने आसपास बराबर देखते

रहे हैं । अपनी ठेठ किसान बुद्धि से उनके बारे मे सोचा भी है । हमीरपुर के लिए रवाना होने के ठीक पहले 'संयुक्त प्रान्त मे आरम्भिक शिक्षा' के नाम से उन्होंने एक बडी गहरी सूझ-बूझ का लेख पूरी निर्भीकता से लिखा, बिना इस बात की रत्ती भर चिन्ता किये कि वह खुद इसी सीगे में सरकारी मुलाजिम थे और उनके बड़े हाकिम लोग नाराज हो जायँगे । इस लेख मे उन्होंने अपने अनुभवों को निचोड़कर रख दिया, कठिनाइयाँ भी बतलायीं और उनके बारे में अपने सुझाव भी दिये और जहाँ खरी-खरी सुनाने की बात थी, वहाँ खरी-खरी सुनायी —

'हमारी आरम्भिक शिक्षा के सुधार और उन्नति के लिए सबसे बड़ी जरूरत योग्य शिक्षकों की है । और योग्य आदमी आठ रुपये या नौ रुपये माहवार के वेतन पर दुनिया के पर्दे में कहीं नही मिल सकते । जिस आदमी को पेट की फ़िक्र से आजादी ही नसीब न होगी वह तालीम की तरफ़ क्या खाक ध्यान देगा ? .... जब सरकारी मदरसों का यह हाल है तो इमदादी मदरसों का जिक्र क्या ! उनमें कम-से-कम तीन चौथाई ऐसे है जिन्हे सरकार चार रुपये माहवार इमदाद देती है और उसमें एक आना मनीआर्डर का महसूल कट जाता है । तीन रुपये पन्द्रह आने मे कौन महीना भर दर्दसरी गवारा करेगा ! शहरों मे कहारों की तनख्वाहें छः और सात रुपये माहवार है, बल्कि अक्सर तो इससे भी ज़्यादा । मामूली मज़दूर चार आने पैसे रोज़ कमा लेता है । मगर ग़रीब मुदर्रिस इनसे भी ज़लील समझा जाता है ।'

काम का बोझ मुदर्रिसों पर बहुत है, मदरसों के लिए घर नहीं है, पाठ्यक्रम ग़लत है, उसमें किसानों की खास अपनी जरूरतों का खयाल नही रक्खा गया है, शिक्षा पर पैसा खर्च करने में सरकार बेहद कंजूसी से काम लेती है, सब कुछ कह डाला और सीधे-सीधे अपने हुक्काम पर चोट की । ज़रा हिम्मत तो देखिए इस सब-डिप्टी-इंसपेक्टर की जो अपने डायरेक्टरों तक पर हाथ साफ़ करने से बाज़ नहीं आता —

'कुछ तो रुपयों की कमी है और कुछ बेजा खर्च । कभी-कभी सरकार ने दो-चार लाख ज़्यादा दिया भी तो वह इन्सपेक्टर और डायरेक्टरों और मैं और तू के बाँट-बखरे में पड़ जाता है और मुदर्रिस ज्यों का त्यों भूखा रह जाता है .... दुर्भाग्य से, सरकार का खयाल है कि मुआइना ज़्यादा होना चाहिए चाहे तालीम हो या न हो । मुआइने पर रुपया खर्च किया जाता है मगर तालीम की ख़बर नहीं ली जाती .... गवर्नमेण्ट कब यह समझेगी कि मुआइना कभी तालीम की जगह नहीं ले सकता ।'

और वही मुआइने का काम अब मुंशीजी के सिपुर्द किया जा रहा था । यों मुशीजी की नजर से देखिए तो यह काम वैसा कुछ बुरा न था ।

अक्सर घोड़े पर या बैलगाडी पर जाना होता। और जब वह तीस साल का गोरा-चिट्टा, चौड़ा-चकला जवान — चौडी-चौडी कलाइयाँ, चौडा सीना, बडी-बड़ी मूँछें— सर पर साफ़ा बाँधे निकलता तो ऐसा मालूम होता कि कोई राजकुमार या पुलिस का बडा हाकिम जा रहा है। अर्दली साथ होता, खाना पकानेवाला साथ होता। जिस गाँव के स्कूल का मुआइना होता वहाँ पहुँचते ही मौसम के हिसाब से कहीं किसी मैदान में या अमराई मे रावटी लग जाती और देखते-देखते गाँव भर में ख़बर फैल जाती कि निसपिट्टर साहब आये है! अनपढ देहाती, आज से पचास बरस पहले की बात, अंग्रेज़ी अमलदारी का जमाना, सब दौड़-दौड़कर सलाम-जुहार करने लगते। खाने-पीने का इंतजाम होने लगता। कोई दूध लाता कोई दही, कोई आटा कोई दाल कोई घी। आन की आन मे सब प्रबन्ध हो जाता और महराज खाना पकाने में जुट जाता।

आखिर को वह एक अफ़सर थे (स्कूलों के सब-डिप्टी-इंसपेक्टर!) और जितने बड़े अफसर थे उससे बडा गाँववाले उनको समझते थे। स्कूल का मुआइना करने आये थे। क़लम से कही कुछ ऐसी-वैसी बात घसीट दें तो! इसलिए हर तरह से उनको ख़ुश करने की तदबीर की जाती, जो मुशीजी के दिल पर भारी भी गुज़रती। एक दस्तूर यह भी था कि नयी किसी जगह पहुँचने पर वहाँ के सम्मानित लोग दही-अच्छत से उनका टीका करते। टीका तो नवाब करवा लेते। पान दिया जाता, पान भी खा लेते, सबसे गले मिलते। मगर जब रुपया देने की बारी आती तो साफ़ इन्कार कर देते।

यह सब चीज़ें उन्हे पसन्द न थीं। न तो उनकी तबीयत हाकिमाना थी और न वह चाहते थे कि कोई उनको हाकिम समझे। बराबरी के दर्जे पर सबसे मिलना ही उनके जी को भाता था। मगर तो भी हर जगह का दस्तूर-क़ायदा भी एक चीज़ होती है। उससे पूरी तरह बग़ावत करना आसान नही होता और यों भी बग़ावत से ज़्यादा समझौते का रास्ता उन्हे पसंद था। लिहाजा उन्होंने समझौता कर लिया था। टीका करवा लेते थे, रसद-पानी की चीज़ें भी लेते थे मगर रुपया न लेते थे। अर्दली-महाराज को जो कुछ दस्तूरी मिलती हो उस पर कोई रोक-टोक न थी।

यही हाल उस सब अनाज और दूध-घी का भी था जो महोबे में घर पर पहुँचता था। देहात का इलाक़ा, हाकिम को ख़ुश करने के लिए डाली लगाने का दस्तूर न जाने कब से चला आता था। बड़ी जगह में सिर्फ़ बड़े लोगों को डाली लगायी जाती है, छोटी जगह में छोटे लोगों को भी डाली लगायी जाती है। लिहाज़ा जब यह चीज़ शुरू हुई तो मुंशीजी ने इसका विरोध किया लेकिन फिर लोगों ने समझाया कि यहाँ का यही दस्तूर है। अपने बाद आने-वालों के लिए आप क्यों मुशकिल खड़ी करते हैं? इस दलील के आगे

मुंशीजी ने हार मान ली, मगर इतना कहा कि इन चीज़ों का इस्तेमाल मैं नहीं मेरे नौकर करेंगे।

इस्तेमाल कोई करे, देनेवाले तो यह जानते थे कि वह मुंशी धनपतराय को दे रहे हैं।

ग़रज कि काम बुरा नहीं था, काफ़ी इज़्ज़त थी, ले-लपक थी और तनख्वाह में चाहे भले कुल बीस रुपये की ही बढती हुई हो, पर रुतबे मे तो बढ़ती ही बढ़ती थी। कानपुर मे वह एक मामूली-सा मुदर्रिस था, यहाँ पर वह एक हाकिम था जिसके आगे-पीछे लोग हाथ बाँधे घूमते रहते थे।

मगर इससे भी बड़ा लाभ इस नौकरी में यह था कि घूमने को खूब मिलता था। बुंदेलखण्ड का इलाक़ा यों भी बहुत खूबसूरत है। तमाम नदी, जंगल, पहाड़—यू० पी० जैसे सपाट समतल मैदान नही। अपने घोडे या बैलगाड़ी में एक से एक बीहड़ जगह उसको जाना होता मगर उतना ही ज़्यादा वह अपने देश को देख रहा था, जिसका मौक़ा अब तक कम मिला था। और यह देखना सिर्फ नदी-पहाड़ का देखना न था, बल्कि उस ख़ित्ते की पूरी ज़िन्दगी को देखना था, उसका सुख, उसका दुख, उसकी गरीबी, उसकी बहादुरी — सभी कुछ।

अपने उन दौरों में, जो अक्सर इकबारगी डेढ-डेढ दो-दो महीने के हो जाते थे, इस गाँव से उस गाँव, उसे क़िस्सा कहने वालों से वहाँ की प्रचलित लोक-कथाएँ और अल्हैतों से आल्हा सुनने का भी मौका मिलता जो कि ख़ास बुंदेलखण्ड की चीज़ है। उसके लिए यह एक बहुत नायाब मौका था जिसका फ़ायदा वह भरपूर उठा रहा था। मुआइने का काम तो नामचार का था, चंद मिनटों में खत्म हो जाता। और कभी किसी स्कूल की बुरी रिपोर्ट उन्होंने नहीं लिखी। अक्सर तो खुद उन मास्टरों से ही कह देते कि आप ही अपनी रिपोर्ट तैयार कर दीजिए। दो-एक बार उनकी पत्नी ने इसके बारे मे उनसे कहा भी तो हँसकर बोले — क्या करूँ, मै जो सही-सही मुआइना करता हूँ तो मुदर्रिस लोग लड़कों के सामने पर्चा छोड़ आते है। इसलिए अब तो यह काम मै उन्हीं पर छोड़ देता हूँ, कम से कम यह तकलीफ़ तो उन्हे न उठानी पड़े! वह बेचारे खुश भी रहते है और मुआइने की अच्छी रिपोर्ट होने पर उनकी तरक्क़ियाँ भी होती हैं।

इस पर उनकी पत्नी ने कहा — तो फिर आपको रखने की जरूरत ही सरकार को क्या थी?

बोले — वह अपना काम करती है, मै अपना काम करता हूँ। क्या ये बड़े-बड़े अफ़सर सब देवता हैं?

काफ़ी उल्टी-पुल्टी सी दलील थी मगर भला चाहे बुरा यही उनका तरीक़ा था और इस तरीक़े से उन्हे अपने अफ़सरों की आँखों में सुर्खरूई भले न मिली हो पर अपने मातहतों का प्रेम और भाईचारा तो ज़रूर मिला और खूब मिला।

कौन ऐसे अफ़सर से खुश न होगा जो कभी किसी स्कूल के बारे में कोई बुरी रिपोर्ट नही लिखता ?

ग़रज कि मुआइने का काम तो सिर्फ खानापूरी के लिए किया जाता और बाक़ी सारा वक़्त किस्सागो नवाब राय का होता।

लेकिन इस बात मे एक ही बुराई थी कि अक्सर दो-दो महीने के लिए बीवी घर मे बिलकुल अकेली छूट जाती। इस दिक्क़त को दूर करने के लिए उन्होंने चाहा कि वह भी दौरे पर उसके साथ चला करे। समझाया भी — वहाँ मेरी रावटी लगी रहती है, तुम उसी मे बैठकर आराम से पढती रहना। महराज खाना पकाने के लिए साथ रहता ही है। और फिर मै ही कौन दिन भर मुआइना करता रहता हूँ। ज्यादा से ज्यादा घटे भर। फिर शाम को हम लोग पहाड़ घूमने निकल जाया करेंगे।

बीवी की समझ मे बात न आयी। बोलीं — कौन हिन्दुस्तानी अपनी बीवी को लेकर दौरे पर घूमता है। एक तमाशा-सा हो जायगा।

नवाब ने कहा — क्यों, इसमे तमाशे की क्या बात है ? मुझे तो इसमे कुछ भी तमाशा-सा नही मालूम होता। अंग्रेजों को नही देखती, कितने आराम से रहते है।

शिवरानी देवी ने कहा — रहते होंगे पर हम तो अंग्रेज नहीं हैं।

नवाब ने इस पर कुछ चिढकर कहा — फ़िजूल बात है ! मैं चाहता हूँ कि तुम अपने दिमाग से उन सब पुरानी बातों को निकाल दो पर तुम हो कि उन्हें पकड़े बैठी हो।

पर्दा छोड़ने की बात इसके पहले भी घर मे उठ चुकी थी। मगर बेसूद।

मुंशीजी को हमीरपुर आये चार-पाँच महीने हो चुके थे। मुआइने के सिल-सिले मे वह कुलपहाड़ नाम के क़स्बे मे गये हुए थे जब कि —

● एक दिन मैं रात को अपनी रावटी मे बैठा हुआ था कि मेरे नाम ज़िला-धीश का परवाना पहुँचा कि मुझसे तुरंत मिलो। जाड़ों के दिन थे। साहब दौरे पर थे। मैंने बैलगाडी जुतवायी और रातों-रात तीस-चालीस मील तय करके दूसरे दिन साहब से मिला। साहब के सामने 'सोजे वतन' की एक प्रति रखी हुई थी। मेरा माथा ठनका। उस वक़्त मैं नवाब राय के नाम से लिखा करता था। मुझे इसका कुछ-कुछ पता मिल चुका था कि खुफिया पुलिस इस किताब के लेखक की खोज मे है। समझ गया, उन लोगों ने मुझे खोज निकाला और उसी की जवाबदेही करने के लिए मुझे बुलाया गया है।

साहब ने मुझसे पूछा — यह पुस्तक तुमने लिखी है ?

मैंने स्वीकार किया।

साहब ने मुझसे एक-एक कहानी का आशय पूछा और अंत में बिगड़कर बोले — तुम्हारी कहानियों में ' सिडीशन ' भरा हुआ है। अपने भाग्य को बखानो कि अंग्रेजी अमलदारी में हो। मुग़लों का राज्य होता तो तुम्हारे दोनों हाथ काट लिये जाते। तुम्हारी कहानियाँ एकांगी है, तुमने अंग्रेजी सरकार की तौहीन की है, आदि। फ़ैसला यह हुआ कि मैं ' सोज़े वतन ' की सारी प्रतियाँ सरकार के हवाले कर दूँ और साहब की अनुमति के बिना कभी कुछ न लिखूँ। मैंने समझा, चलो सस्ते छूटे। एक हज़ार प्रतियाँ छपी थीं। अभी मुशकिल से तीन सौ बिकी थी। शेष सात सौ प्रतियाँ मैंने जमाना कार्यालय से मँगवाकर साहब की सेवा मे हाजिर कर दी।

मैंने समझा था बला टल गयी, किन्तु अधिकारियों को इतनी आसानी से सन्तोष न हो सका। मुझे बाद को मालूम हुआ कि साहब ने इस विषय मे जिले के अन्य कर्मचारियों से परामर्श किया। सुपरिंटेंडेंट पुलिस, दो डिप्टी-कलेक्टर और डिप्टी-इंसपेक्टर — जिनका मैं मातहत था — मेरी तक़दीर का फ़ैसला करने बैठे। एक डिप्टी-कलेक्टर साहब ने गल्पों से उद्धरण निकालकर सिद्ध किया कि इनमे आदि से अंत तक सिडीशन के सिवा और कुछ नहीं है। और सिडीशन भी साधारण नहीं बल्कि संक्रामक! पुलिस के देवता ने कहा — ऐसे ख़तरनाक आदमी को जरूर सख्त सज़ा देनी चाहिए। डिप्टी-इंसपेक्टर साहब[1] मुझसे बहुत स्नेह करते थे। उन्होंने मामले को जैसे-तैसे रफ़ा-दफ़ा कराया। ●

इस क़िस्से के कुछ ही हफ़्ते बाद मुंशीजी को अपने किसी काम से कानपुर जाने की जरूरत पड़ी (इसी बीच हमीरपुर और कानपुर के बीच रेल भी खुल गयी थी) और वहाँ इत्तफ़ाक़ से बाजार मे उनकी मुलाकात मुशी प्यारेलाल ' शाकिर ' से हो गयी। शाकिर साहब उस मुलाक़ात के बारे में लिखते हैं —

● ....एक घंटे तक साथ रहा। इसी एक घंटे में दुनिया भर की बातें हो गयीं। मैंने ' सोज़े वतन ' के बारे में कैफियत दर्याफ़्त की तो कहा, ' क्या कहूँ, बड़ी मुशकिल मे फँस गया था। वह तो ख़ैरियत गुजरी कि किताबें देकर पीछा छूट गया वर्ना जान पर आ बनी थी। इसके बाद ' जान बची लाखों पाये ' कहकर बड़े जोर का क़हकहा लगाया। फिर कहने लगे कि ' जानते हो यह बला कैसे नाजिल हुई ? ' मैंने कहा कि नहीं तो फिर एक क़हकहा लगाया और इसके बाद बोले — ' मुशी दयानरायन निगम के यहाँ से किताब शाया हुई थी। मालूम नहीं क्या वजह हुई कि किताब पर प्रिंटर-पब्लिशर का नाम नहीं था। जाहिर है कि ऐसी ग़लती जान-बूझकर नहीं हुआ करती मगर सुनता कौन है, जाँच-पड़ताल हुई तो इसी सिलसिले में मेरा नाम भी खुल गया। खुद ही सोचो, एक सरकारी मुलाजिम और ' सोज़े वतन ' जैसी

---

१. पण्डित राजनारायण मिश्र।

बागी किताब का लेखक । तौबा तौबा ! ! वह तो अच्छा हुआ कि किताबों पर बला टल गयी वर्ना क्या अजब था कि माण्डले की हवा खानी पड़ती । इतना कहकर फिर ऐसा जोर का क़हक़हा लगाया कि बाजारवाले भी हक्का-बक्का हो गये । ●

जाहिर है कि उस किस्से की कोई गहरी छाया उनके मन पर न थी । एक झोंका था जो आया और निकल गया । और उसके साथ ही कुछ खेल का-सा मजा, कुछ यह बात कि जो खेल मै खेल रहा हूँ उसमे यह सब तो होना ही है । मैंने अपना काम किया । किताब लिखी । उन्होंने अपना काम किया । किताब जब्त की । अब फिर मुझे अपना काम करना है । उसकी तदबीर करनी होगी — क्योंकि एक बेकार की पख लग गयी है कि जो कुछ लिखूँ वह पहले कलेक्टर साहब को दिखाऊँ । इस तरह तो हो चुका ! लेकिन अगर आप चाहते ही है कि चूहे-बिल्ली का खेल हो तो यही सही । फिर उसमे ईमानदारी और बेईमानी का क्या सवाल ? क्यों नहीं मैं आजादी से अपने दिल की बात कह सकता ? क्यो मानूँ आपका यह नाजायज हुक्म ? नाजायज तो है ही सरासर । जो वतन की आजादी आपको अच्छी मालूम होती है, उसी की बात मै अपनी कौम के लिए करूँ तो आप मेरी गर्दन काटने के लिए तैयार है ! यह तो फिर लडाई है सरासर ! इसमे झूठ-सच को क्या दखल । अंग्रेजी की वह कहावत है न — लडाई और मुहब्बत मे सब कुछ जायज़ होता है ।

लिहाजा पहला काम तो नवाब ने यह किया कि 'सोजे वतन' की कुछ ही कापियाँ कलेक्टर साहब के हवाले कीं जो आग की नजर कर दी गयी । मगर जो कापियाँ ज़माना के दफ्तर में बच गयी उन पर किसी का ध्यान नहीं गया और वह खुफिया तौर पर बिकती रहीं ।

लेकिन वह जो क़ैद कलेक्टर साहब ने लगा दी थी बुरी थी कि हर चीज जो लिखी जाय, पहले उनको दिखला ली जाय, और इसका कुछ न कुछ हल निकालना ज़रूरी था ।

लिहाज़ा दो ही चार महीने बाद उन्होंने कुलपहाड़ से १३ मई १९१० को मुंशी दयानरायन निगम को लिखा —

'.... नवाब राय तो ग़ालिबन कुछ दिनों के लिए इस जहान से गये । दोबारा याददेहानी हुई है कि तुमने मुआहिदे में गो अख़बारी मज़ामीन नहीं लिखे, मगर इसका मंशा हर क़िस्म की तहरीर से था । गोया मैं कोई मजमून, ख्वाह किसी मज़मून पर — हाथीदाँत पर ही क्यों न हो — लिखूँ, मुझे पहले वह जनाब फ़ैज-मआब[1] कलेक्टर साहब बहादुर की ख़िदमत मे पेश करना पड़ेगा । और मुझे छठे-छमासे लिखना नहीं, यह तो मेरा रोज़ का धंधा ठहरा । हर माह एक मज़मून

---

१ श्रीमान्

जनाबवाला की ख़िदमत में पहुँचेगा तो वह समझेंगे कि मैं अपने फ़राइज़े[1] सरकारी में ख़यानत[2] करता हूँ। और काम मेरे सर थोपा जायगा। इसलिए कुछ दिनों के लिए नवाब राय मरहूम[3] हुए। उनके जानशीं[4] कोई और साहब होंगे। आप मेरा मज़मून किताबत कराने के बाद मुंशी चिराग़ अली को दे दिया करेंगे।'

अब दूसरे नाम की तलाश शुरू हुई।

मुंशी दयानरायन ने 'प्रेमचंद' नाम पेश किया। इसके जवाब में मुंशी नवाब राय ने लिखा —

"प्रेमचंद अच्छा नाम है। मुझे भी पसंद है। अफ़सोस सिर्फ यह है कि पाँच छः साल में 'नवाब राय' को फ़रोग देने की जो मेहनत की गयी, वह सब अकारथ हो गयी। यह हजरत क़िस्मत के हमेशा लँडूरे रहे और शायद रहेंगे। ...."

इस तरह 'नवाबराय' के 'मरहूम' होने के चार-पाँच महीने बाद सन् १९१० के अक्तूबर-नवंबर में आकर 'प्रेमचंद' का जन्म हुआ। इस नये नाम के साथ छपनेवाली पहली कहानी 'बड़े घर की बेटी' है।

इन्हीं दिनों जब इलाहाबाद के एजुकेशनल गज़ट में कुछ लिखने की बात उठी तो मुंशी जी ने निगम साहब को लिखा —

'मेरे लिए कलेक्टर को हर एक मजमून दिखाने की ऐसी पख़ लगी है कि एक मजमून महीनों में लौटकर आता है। .... एजुकेशनल गज़ट में प्रेमचन्द का नाम नहीं देना चाहता। मालूम नहीं यह हज़रत हाथ-पैर सँभालने पर क्या लिखे-पढ़ें। इन्हें क़िस्सागो ही रहने दीजिए। बैठे-बैठे प्रेम और वीर रस के क़िस्से लिखा करें!'

---

१ सरकारी काम २ गड़बड़ी ३ स्वर्गवासी ४ उत्तराधिकारी

६

महोबे की जिन्दगी धीरे-धीरे अपनी सम चाल पर आयी जा रही थी। लेकिन एक चीज थी जो बराबर तकलीफ़ पहुँचा रही थी — घर मे सास-बहू के झगड़े। शिवरानी जब तक अपने मैके मे ही ज़्यादा समय बिताती थीं तब तक और बात थी। चाची ही नवाब का घर सँभालती थीं और जो कुछ स्याह्-सफेद उनकी मे आता था, करती थीं। कोई हाथ पकड़नेवाला न था। गिरस्ती अपने लस्टम-पस्टम ढंग से चल रही थी।

महोबे पहुँचने पर शिवरानी देवी ने भी जब अपने पति के साथ जमकर रहना शुरू किया तो सास-बहू के झगड़े शुरू हुए, वैसे ही जैसे हर घर मे होते हैं — अधिकार के प्रश्न को लेकर। चाची उस घर पर अपना अधिकार समझती थीं, आखिर उन्ही ने बरसों उस घर को सँभाला था, और शिवरानी देवी का भी यह समझना कि उस घर पर, उनके पति के घर पर, पहला अधिकार उन्हीं का है, कुछ ग़लत नहीं था। यानी कि महाभारत के लिए भूमिका पूरी तरह तैयार थी और आये दिन कभी खाने पर से, कभी कपडे पर से, कभी ख़र्चे पर से, महाभारत हुआ करता। जहाँ तक चाची की बात थी, वह घर उनका तो था लेकिन जैसी एकान्त ममता उन्हें नवाब से होनी चाहिए थी वैसी न थी और हो भी कैसे सकती थी। शिवरानी देवी को भला यह बात कैसे बर्दाश्त होती। कमाता तो उसका पति था, पसीना तो उसका गिरता था और उसी के तकलीफ-आराम का ध्यान सबसे बाद को! लकड़ी की तरह सीधी-सपाट, सच्ची, निडर, अक्खड़, हठीली शिवरानी को भला यह चीज कैसे न खलती। दूसरों के और जो लोग सगे होंगे, होंगे, उसके लिए तो सगा एक ही आदमी था। और उसी को जब इतना सब ख़र्च करने के बाद भी अपने ही घर मे आराम न मिल पाता तो शिवरानी आगबबूला हो जाती। किसी की सिधाई का इतना बेजा फ़ायदा? नहीं, मैं तो यह न होने दूँगी! या तो मैं यह सब कुछ ठीक करूँगी और उनको आराम दूँगी या फिर इस घर से कोई मतलब न रखूँगी, लग जाय आग, मेरे बाप का क्या जाता है!

लेकिन चाहे उदासीनता की स्थिति हो चाहे सक्रिय हस्तक्षेप की, गार्हस्थिक

अशान्ति दोनों मे थी क्योंकि असल सवाल एक म्यान मे दो तलवारों का था। दूसरे सब प्रश्न सुलझ सकते थे, सत्ता का प्रश्न तब तक नही सुलझ सकता था जब तक कि एक प्रतिद्वंद्वी हार न मान ले या मैदान छोड़कर भाग न जाय। और शिवरानी जैसी दबंग स्त्री, जिसके भीतर शासन की प्रवृत्ति कूट-कूट कर भरी थी, हार माननेवाली जीव न थी और आये दिन कुछ न कुछ हुआ करता था। इन्ही सब झगड़ों से बचने के लिए प्रेमचंद अब तक बहुत-सी चीजों को दरगुजर करते आये थे लेकिन अब उन्हे भी इन झगड़ों में खिंचकर आना ही पड़ा, जिमि दसनन बिच जीभ बिचारी। घर क्या था, शिकायतों का दफ्तर था। कभी सास बहू की शिकायत करती और कभी बहू सास की, और प्रेमचंद हाँ .... हूँ .... करते हुए दोनों की बात सुन लेते। लेकिन आखिर को आदमी थे, सुनते-सुनते दिमाग खराब हो जाता तो कभी बिफर भी पड़ते लेकिन ऐसे मौक़ों पर अक्सर यह होता कि वह पत्नी का पक्ष न लेकर चाची का पक्ष लेते, इसलिए नही कि न्याय उनकी ओर होता बल्कि इसलिए कि वह बड़ी थीं, असहाय थी, माँ के स्थान पर थीं, और उनके प्रति मुशीजी का उत्तरदायित्व एक विशेष प्रकार का था। लेकिन रानी ने झुकना सीखा ही न था।

इन सब चीज़ों से घर मे जो एक अशान्ति की स्थिति रही आती थी उसकी हलकी-सी झलक झुँझलाहट के रूप में उस खत में मिलती है जो प्रेमचंद ने शायद सन् १२ में मुंशी दयानरायन निगम को लिखा। संदर्भ यह है कि निगम साहब ने अपने एक साप्ताहिक पत्र का नोटिस 'ज़माना' में निकाल दिया है। यही साप्ताहिक पीछे 'आज़ाद' के नाम से निकला। उसकी रूपरेखा के बारे में सलाह देते हुए प्रेमचंद ने लिखा कि आपका हफ्तावार 'कामरेड' के नमूने का होना चाहिए। उसमें शायद बिना कुछ लिये बराबर कोई स्तम्भ लिखने को आमंत्रित किये जाने पर प्रेमचंद ने निगम साहब को लिखा —

'भगवान का नाम लेकर शुरू कीजिए। मुझसे जो मदद होगी, करता रहूँगा। फ़िलहाल मेरी हालत मुझे इजाज़त नहीं देती कि कुछ ईसार[1] कर सकूं। यक़ीन मानिए, आपसे बसिदक़े[2] दिल कहता हूँ कि जब से यहाँ आया हूँ सिर्फ दो सौ रुपये मेरे पास जमा हुए है और वह भी एक सौ रुपया नाविल का मुआवज़ा है और एक सौ रुपये में कोई तीस रुपये इंडियन प्रेस से मिले, शायद तीस या पैंतीस आपने दिये और इसी क़दर एजुकेशनल गज़ट से मिला। मेरी तनख्वाह और भत्ते में कौड़ी की बचत नहीं हुई, हाँ बचत कहिये तो, कमाई कहिये तो, बीवीजान की बरसों की ज़िद थी, रफ़ाए शिकायत[3] के लिए एक कड़ा बनवाया जिसका सदमा अब तक न भूला। इस बिरते पर मैं क्या ईसार करूँ। पचास रुपये तनख्वाह है, दस रुपये का

१ त्याग २ सच्चे दिल से ३ शिकायत दूर करने

औसत और, और खर्च मे बुख्ल[1] से काम लेता हूँ तब भी कभी फ़रागत नहीं नसीब हुई। नही मालूम यहाँ कानपुर के मुक़ाबिले में क्या खर्च बढ़ गया है। वहाँ तीस रुपये मे गुज़र हो जाता था यहाँ उसके दुगने मे भी रोना पडा हुआ है और अब बढे हुए अखराजात[2] को तोड़ना मुझ पर तो नहीं मगर दूसरों पर सितम होगा। ....'

और यह कोई एक दिन की बात न थी। इसकी शिकायत अब से करीब तीन बरस पहले, २० नवम्बर सन् १९०९ के खत मे भी उन्होंने की थी — 'मेरे अखराजात रोज-ब-रोज बढते ही जाते है। अब कानपुर और महोबा दो जगह का खर्च सँभालना पड़ता है।'

मगर खैर, जैसे-जैसे घर का प्रबन्ध शिवरानी अपने हाथ मे करती जा रही थीं, वैसे-वैसे पैसों की बर्बादी भी कम होने लगी थी और उसी हद तक प्रेमचद की परेशानी भी। और एक रोज़ तो वह बिलकुल अचम्भे मे पड गये जब उनकी बीवी ने बैलगाड़ी खरीदने के लिए अपने सन्दूक से पूरे डेढ सौ रुपये निकालकर दे दिये। प्रेमचंद ने खुश होते हुए कहा — चलो बेड़ा पार हुआ। इसमें गाड़ी और बैल सब आ जायँगे।

● दिन भर मे दूसरे रोज गाडी और बैल दोनों आ गये। मुझसे बोले — एक बात तुम मेरी मान जाओ, कल चलो चरखारी मे मेला है, देख आयें।

मैंने कहा — चलिए।

हम सब मिलाकर दस आदमी चले। हम सब बैलगाड़ी से गये, खुद घोडे से गये।

वहाँ जाकर खेमा लगवाया। राजा साहब के आदमियों को मालूम हुआ कि डिप्टी साहब आये है तो रसद उनके यहाँ से आयी। खैर, शाम को खाना बना। चपरासी महराज था, उसने खाना बनाया। सब लोगों के खा चुकने पर मेला देखने की ठहरी। मै और मेरी एक सहेली तो जनाने हिस्से मे गये, आप लोग मर्दाने में गये। सर्कस वहाँ बहुत अच्छा होता था। मगर मैं तो दो ढाई घण्टे में ही घबरा गयी। मै अपनी सहेली को लेकर डेरे पर चली आयी। आप लौटे कोई डेढ़ बजे। ●

इसके बाद वह लोग बरसों वहाँ रहे और कई बार मेला देखने की बात आयी, लेकिन पत्नी का मन उससे उचाट हो गया था। लिहाज़ा मुंशीजी अकेले ही चले जाते। मगर जाते और जाना पसन्द करते।

जंगल-पहाड़ की सैर रानी को भी पसन्द थी और अब तो घर में अपनी बैलगाड़ी थी, फिर क्या बात है। नवाब और रानी दोनों अपनी बैलगाड़ी पर सवार होकर किसी तरफ़ निकल जाते। दिन भर वहीं फिरते रहते। इसी तरह दिन बीत जाता। पति-पत्नी को साथ रहने का सुख ज़िन्दगी में पहली बार मिल रहा था।

---

१ कंजूसी　　२ खर्चों

महोबा प्रवास के इन्ही आरम्भिक दिनों मे शिवरानी देवी को उनकी पहली सन्तान हुई, लड़की, जो दस महीने की होकर नहीं रही।

ऐसे दुःख तो ज़िन्दगी के साथ लगे है, बाकी आराम था। चाची ज्यादातर अपने भाई के पास कानपुर ही रहने लगी थी। मुंशीजी वही रुपये भेज देते थे। घर मे काफ़ी शान्ति थी। सेहत भी, मुशीजी की, अच्छी थी। कोई तकलीफ़ न थी।

और सबसे बड़ी बात तो यह थी कि लिखने का काम बराबर चल रहा था। दौरों के सिलसिले मे महीनों यहाँ-वहाँ घूमना जहाँ शरीर के लिए एक कठिन परीक्षा थी, वहाँ लिखने के लिए नयी-नयी सामग्री का एक अक्षय भाण्डार — और ढेरों समय।

अकबर की शायरी पर मुशीजी जान देते थे। आने के कुछ ही महीने बाद एक लंबे मजमून मे उन्होंने अकबर को खूब-खूब सराहा —

● आज की उर्दू शायरी एक अजीब कशमकश मे गिरफ्तार है .... दाग़ और हाली के असर मे उर्दू शायरों के दो परस्पर-विरोधी स्कूल क़ायम हुए जो कई लिहाज़ से 'दरबारी' और 'मुल्की' के नाम से पुकारे जा सकते है। इन दोनों सम्प्रदायों मे दो ध्रुवों की दूरी है। एक ने पुरानेपन की क़सम खा ली है और दूसरे है कि नयी-नयी बातों और आज़ादी पर मिटे हुए है ....

खुशी की बात है कि इन दोनों सम्प्रदायों के बीच कुछ ऐसे कवि भी है जिन्होंने भाषा और कविता पर पूर्ण अधिकार रखने के साथ-साथ युग की आवश्यकताओं को भी अच्छी तरह अनुभव कर लिया है और उनमें हम जनाब खान बहादुर सैयद अकबर हुसेन साहब जज इलाहाबाद का दर्जा बहुत ऊँचा पाते है। आपने युग के विचारों और आवश्यकताओं का सही अंदाज़ा कर लिया है। .... इसी वजह से आपकी शायरी मौजूदा कसौटी पर खरी उतरती है। उसमे बात कहने के एशियाई ढंग मे पश्चिमी विचारों के सुन्दरतम नमूने मिलते है .... ●

रोज़मर्रा की बातचीत में गालियाँ बकने और शादी-ब्याह के मौक़ों पर गालियाँ गाने-गवाने के रिवाज को लेकर, जिससे अपने समाज मे उनका अच्छा परिचय था, मुशीजी ने इन्ही दिनों एक ज़बर्दस्त फड़कता हुआ लेख लिखा —

● हम बात-बात पर गालियाँ बकते है और हमारी गालियाँ सारी दुनिया की गालियों से निराली, घृणित और गंदी होती है .... जिन गालियों का जवाब किसी दूसरी क़ौम का आदमी तलवार और पिस्तौल से देगा उससे कई गुना घृणित और गंदी गालियाँ हम इस कान से सुनकर उस कान उड़ा देते है .... हमारी गालियों से माँ, बहन, बीवी, भाई, कोई नही बचता। ....

यों तो गालियाँ बकना हमारा सिंगार है मगर खासतौर पर ज़बर्दस्त गुस्से की हालत में हमारी ज़बान के पर लग जाते है। गुस्से की घटा सर पर मँडलायी

और मुँह से गालियाँ मूसलाधार मेह की तरह बरसने लगीं। अपने दुश्मन या विरोधी को दूर से खड़े खरी-खोटी सुना रहे है, आस्तीनें चढ़ाते है, पैंतरे बदलते है, आँखे लाल-पीली करते है और सारा जोश चन्द नापाक गालियों पर खत्म हो जाता है। विरोधी की सत्तर पुश्तों को ज़बान की गंदगी से लथपथ कर देते है। .... इससे बढ़कर हमारे जातीय कमीनेपन और नामर्दी का सबूत नही मिल सकता कि जिन गालियों को सुनकर हमारे खून मे जोश आ जाना चाहिए, उन गालियों को हम दूध की तरह पी जाते है। ... ●

दुहत्तड़ लगाये हैं मगर क्या खूब मज़ा ले-लेकर —

'गुस्से की हालत मे जबान की यह रवानी औरतों में ज़्यादा रंग दिखाती है ... क्या-क्या गंदगियाँ उनकी जबान से निकलती हैं कि तौबा। जिन शब्दों की याद एक लज्जाशील स्त्री के गालों को लाज से लाल कर देगी, वे शब्द इन औरतों की ज़बान से बेधड़क और मोटरकार की रवानी के साथ निकलते है। अब्बासी और दुलरिया ज़रा पुरज़ोर लहजे मे विचारों का आदान-प्रदान कर रही है। अब्बासी दुलरिया के बेटे को चबा जाती है। दुलरिया उसके शौहर को कच्चा खा जाती है। तब अब्बासी उसके दामाद को निगल लेती है। इसके जवाब मे दुलरिया उसके दामाद को देवी की भेंट चढ़ा देती है। अब्बासी झुँझलाकर दुलरिया के बूढ़े दादा की लंबी दाढ़ी को जलाकर ख़ाक कर देती है... दुलरिया जामे से बाहर होकर अब्बासी के सातों पुश्त के मुँह पर तारकोल लपेट देती है ....

शादी-ब्याह के मौक़े का यह सीन देखिए —

'बारात दरवाजे पर आयी और गालियों से उसका स्वागत किया गया ... ज्यों ही खाने का वक़्त आया, लोग हाथ-पाँव धो-धोकर पत्तलों पर कढी-भात खाने बैठे कि चारों तरफ़ से गालियों की बौछार होने लगी और गालियाँ भी ऐसी-वैसी नहीं, पँचमेल, कि शैतान सुने तो जहन्नुम से निकल भागे। लोग सपड़-सपड़ भात खा रहे हैं, ढोल-मजीरे बज रहे हैं, वाह-वाह मची है, और गालियाँ गायी जा रही है, गोया पेट भरने के लिए भात के अलावा गालियाँ खाना भी ज़रूरी है। और है भी ऐसा ही। लोग ऐसे शौक़ से गालियाँ सुनते हैं कि शायद रामायण, महाभारत और सत्यनारायण की कथा भी न सुनी होगी। मुस्कराते है, मुग्ध होकर गर्दन हिलाते है और एक दूसरे का नाम गंदगी में लिथेड़े जाने के लिए पेश करते है। जिन महाशयों के नाम इस तरह पेश होते है वे इसे अपना सौभाग्य समझते है। और दावत ख़त्म होने के बाद कितने ही ऐसे लोग बच रहते है कि जिनके दिल में गालियाँ खाने की हवस बाक़ी रहती है। खुशनसीब है वह आदमी जो इस वक़्त गालियाँ खाता है ! ...'

'जलवए ईसार' नाम का उपन्यास (जो हिन्दी में बहुत साल बाद 'वरदान' के नाम से आया) कानपुर ही में लिखना शुरू कर दिया था। उस पर भी काम

बराबर चल रहा था। गन्दी, फ़ोहश बातें बकने की हमारी आदत का जिक्र यहाँ भी आया, होली के हुड़दंग के सिलसिले मे —

● परसों शाम ही से गाँव मे चहल-पहल मचने लगी। नौजवानों का एक दल हाथ मे डफ़ लिये, फ़ोहश बातें बकता हुआ दरवाजों-दरवाज़ों फेरी लगाने लगा। मुझे मालूम न था कि आज यहाँ इतनी गालियाँ खानी पड़ेंगी। लज्जाहीन शब्द उनके मुँह से इस तरह बेधड़क निकलते थे जैसे फूल झड़ते हों! ....

यहाँ से छुट्टी पाकर पुरुष मण्डली देवी जी के चबूतरे की ओर बढ़ी और यह न समझना यहाँ देवी जी की प्रतिष्ठा की गयी होगी। आज वे भी गालियाँ सुनना पसंद करती है। छोटे-बड़े सब उन्हें गन्दी-गन्दी गालियाँ सुना रहे थे। .... आज के रोज़ ईश्वर को गाली देना भी माफ़ है, माँ-बहनों की तो कोई गिनती नहीं! .... ●

मगर गालियाँ तो सिर्फ़ एक क़िस्म है जहालत की। और भी बहुत तरह की जहालत देखने में आती है। और फिर भूख है, बीमारी है।

'जलवए ईसार' १९१२ में प्रकाशित हुआ। ४ मार्च १९१४ को मुंशी जी ने निगम साहब को लिखा था — 'मुझे अभी तक यह इत्मीनान नहीं हुआ कि कौन-सा तर्ज़े तहरीर[1] अख्तियार करूँ। कभी तो बंकिम की नक़ल करता हूँ, कभी आज़ाद के पीछे चलता हूँ। आजकल काउण्ट टाल्सटाय के किस्से पढ़ रहा हूँ। तब से कुछ उसी रंग की तरफ तबीयत माइल[2] है। यह अपनी कमजोरी है और क्या।'

'जलवए ईसार' मे बराबर बंकिम का रंग मिलता है, लेकिन खुद अपने रंग की तलाश भी मौजूद है। पहली बार, अपने घर से दूर, बुन्देलखण्ड के देहात में मुंशी जी की कथाकार दृष्टि अपनी गाँवों की तरफ़ जाती है, जहाँ हिन्दुस्तान बसता है, उसकी भूख और गरीबी की तरफ़, अशिक्षा और अंधविश्वास की तरफ़।

कथा की नायिका विरजन मझगवाँ से (जो हमीरपुर का ही एक क़स्बा है) चिट्ठी लिखती है —

● क्या सुनती थी और क्या देखती हूँ। टूटे-फूटे फूस के झोपड़े, मिट्टी की दीवारें, घरों के सामने कूड़े-करकट के बड़े-बड़े ढेर, कीचड़ मे लिपटी हुई भैंसें, दुर्बल गायें — जी चाहता है कि कहीं चली जाऊँ। आदमियों को देखो तो उनकी शोचनीय दशा है। हड्डियाँ निकली हुई हैं। वे विपत्ति की मूर्तियाँ और दरिद्रता के जीवनचरित्र है। किसी के शरीर पर एक बेफटा वस्त्र नहीं है और कैसे भाग्यहीन कि रात-दिन पसीना बहाने पर भी कभी भरपेट रोटियाँ नहीं मिलती।

हमारे घर के पिछवाड़े एक गड्ढा है। माधवी खेलती थी। पाँव फिसला तो पानी में गिर पड़ी। यहाँ किंवदन्ती है कि गड्ढे मे चुड़ैलें नहाने आया करती है और वे अकारण राह चलनेवालों से छेड़छाड़ किया करती हैं। इसी तरह दरवाज़े

---

१. लेखन शैली २. झुकी हुई

पर एक पीपल का पेड़ है। वह भूतों का अड्डा है। गड्ढे का तो भय नहीं है परन्तु इस पीपल का त्रास सारे गाँव के हृदय पर ऐसा छाया हुआ है कि सूर्यास्त ही से रास्ता बन्द हो जाता है। बच्चे और औरतें तो उधर पैर ही नहीं रखतीं। हाँ, अकेले-दुकेले मर्द कभी-कभी चले जाते है पर वे भी घबराये हुए !

.... किसी भूत के विषय मे कहा जाता है कि वह सिर पर चढता है तो महीनों नही उतरता और कोई दो-एक दिन मे पूजा लेकर अलग हो जाता है। गाँववालों मे इन विषयों पर इस तरह बातचीत होती है मानो ये आँखों-देखी घटनाएँ हैं। यहाँ तक सुना गया है कि चुड़ैलें दाना-पानी माँगने भी आया करती है। उनकी साड़ी प्रायः बगुले के पंख की तरह सफेद होती है और वे बाते कुछ-कुछ नाक से करती हैं। ....

.... भूतों के मान और प्रतिष्ठा का अनुमान बड़ी चतुराई से किया गया है। जोगी बाबा आधी रात को काली कमरिया ओढे, खड़ाऊँ पर सवार, गाँव के चारों ओर घूमा करते है और भूले-भटके पथिकों को मार्ग बताते है। साल में एक बार उनकी पूजा होती है। वह अब भूतों मे नही, बल्कि देवताओं मे गिने जाते हैं।

.... इनके विपरीत, धोबी बाबा से गाँव भर थर्राता है। जिस पेड़ पर उनका डेरा है, उधर से अगर कोई दिया जलने के बाद निकल जाय तो उसकी ख़ैरियत नहीं। उन्हे भगाने के लिए दो बोतल दारू काफी है। उनका पुजारी मंगल के दिन उस पेड़ के नीचे गाँजा और चरस रख आता है। एक लाला साहब भी भूत बन बैठे हैं। यह महाशय पटवारी थे। उन्हे कई पंडित आसामियों ने मार डाला था। उनकी पकड़ ऐसी गहरी है कि प्राण लिये बिना नहीं छोड़ती। कोई पटवारी यहाँ एक वर्ष से अधिक नहीं जीता। गाँव से थोड़ी दूर पर एक पेड़ है। उस पर एक मौलवी साहब निवास करते है। वह बेचारे किसी को नहीं छेड़ते। हाँ, वृहस्पति के रोज़ पूजा न पहुँचायी जाय तो बच्चों को छेड़ते है।

यहाँ न देवी है न देवता। भूतों का ही साम्राज्य है। ●

इसी क़िस्म की एक और जहालत की तस्वीर विरजन देती है —

'कल यहाँ देवी जी की पूजा थी। हल, चक्की, पुर, चूल्हे सब बन्द थे। देवी जी की ऐसी ही आज्ञा है। उनकी आज्ञा का उल्लंघन कौन करे ? हुक्का-पानी बन्द हो जाय। साल भर मे यही एक दिन है जिसे गाँववाले भी छुट्टी का समझते है। वर्ना होली-दीवाली भी रोज़ के ज़रूरी कामों को नहीं रोक सकतीं। बकरा चढ़ा, हवन हुआ। सत्तू खिलाया गया। अब गाँव के बच्चे-बच्चे को पूर्ण विश्वास है कि प्लेग का आगमन यहाँ न होगा। यह सब तमाशा देखकर सोयी थी। लगभग बारह बजे होंगे कि सैकड़ों आदमी हाथ में मशालें लिये, शोर मचाते निकले और सारे गाँव का घेरा किया। इसका यह मतलब था कि इस सीमा के

भीतर बीमारी पैर न रख सकेगी। घेरे के समाप्त होने पर कई लोग दूसरे गाँव की सीमा में घुस गये और थोड़े फूल, पान, चावल, लौंग आदि चीज़ें ज़मीन पर रख आये। यानी अपने गाँव की बला दूसरे गाँव के सिर डाल आये। जब ये लोग अपना काम खतम करके वहाँ से चलने लगे तो उस गाँववालों को सुनगुन मिल गयी। सैकड़ों आदमी लाठियाँ लेकर चढ़ दौड़े। दोनों पक्षवालों में खूब मार-पीट हुई। इस समय गाँव के कई लोग हल्दी पी रहे है।'

भूख, ग़रीबी, बीमारी और जहालत का यही गड्ढा है जिसमें से हिन्दुस्तान के गाँवों को निकलना है। इसकी चेतना पहली बार प्रेमचंद को 'जलवए ईसार' मे आकर हुई और सुवामा का यही बेटा प्रतापचन्द, जो देवी अष्टभुजा के वरदान से उसको प्राप्त हुआ था, विरजन को न पाने पर संन्यासी बनकर बाबाजी के नाम से देशसेवा के इसी महायज्ञ मे कूद पड़ता है और गाँव-गाँव अलख जगाता घूमता है।

छोटी कहानियों का सिलसिला भी मज़े मे चल रहा था। इसी बीच उर्दू प्रेम-पचीसी की तमाम कहानियाँ लिखी गयीं जिनमे आल्हा, रानी सारंधा, राजा हरदौल-जैसी रजपूती वीरता की कहानियाँ भी हैं जो मुंशीजी को स्थानीय लोक-कथाओं से मिली होंगी।

यह सब तो ठीक था लेकिन एक कमी थी जो रह-रहकर मन को कचोटती थी।

१८ मार्च १९१० को उन्होंने महोबे से निगम साहब को लिखा था — 'जी चाहता है नये-नये वाक़यात पर कुछ नोटिस लिखा करूँ। मगर वाक़यात का इल्म मुझे उस वक़्त होता है जब वह अखबारात में निकल चुकते है और उनके देर-अज़-वक़्त[1] हो जाने का खौफ़ रहता है।'

१३ अक्तूबर १९१५ को फिर बस्ती से लिखा था — 'जब तक करेण्ट अफ़ेयर्स से लगाव न रहे किसी मज़मून पर लिखने की तहरीक[2] नहीं होती और मज़मून भी मुश्किल से सूझता है।'

यह चीज़ उस आदमी के मन की बनावट का पता देती है। उसका मन ऐसा नहीं बना था कि वह सबसे अलग अपने कोने मे बैठकर कहानियाँ लिखता रहे। यह ठीक है कि उसे अलग अपने कोने में बैठना भी अच्छा लगता है और कहानियाँ लिखना भी अच्छा लगता है लेकिन उसको चैन नही आता जब तक उसे बराबर इस बात का पता न हो कि दुनिया में कहाँ क्या हो रहा है।

तिलक की गिरफ्तारी के बाद सन् १९०८ से लेकर सन् १४ तक भारतीय राजनीति मे बहुत सन्नाटा छाया रहा। कांग्रेस फिर बहुत कुछ अपने उसी पुराने नरमदली ढर्रे पर लौट आयी थी। ताहम पता तो होना चाहिए कि देश मे विदेश मे क्या हो रहा है। सक्रिय राजनीति में उसने जीवन भर कभी कोई हिस्सा नहीं

---

१. समय से पिछड़ जाने २ प्रेरणा।

लिया, कोई पद नहीं सँभाला, लेकिन राजनीति का मतलब जहाँ पद और प्रभुत्व के लिए जोड़-तोड़ नहीं बल्कि आज़ादी की और इंसान की बेहतरी की लड़ाई है, चाहे अपने देश मे चाहे दुनिया के किसी कोने मे, उसमें शुरू से उसकी दिलचस्पी रही और गहरी दिलचस्पी रही और मरते दम तक रही। अपने जीवन मे वह एक दिन के लिए भी उस तरह का 'विशुद्ध कलाकार' नहीं रहा जो इन सब बातों की ओर से वीतराग होकर, उदासीन रहकर, अपनी कला की साधना करता है। कोई उसकी यह आन, उसका यह ढंग पसन्द करे या न करे, मगर वह है। साहित्य उसके लिए देशसेवा है, लोकसेवा है। दोनों में कोई अंतर नहीं है और न दोनों के बीच कोई खाई या पर्दा है।

इसीलिए अखबार पढ़ने का उसको बहुत चाव है और एक अख़बार से उसका काम नहीं चलता। खुद एक अख़बार से ज़्यादा मँगाने की उसकी बिसात नहीं है, इसलिए वह जहाँ भी रहता है, किसी क्लब या वाचनालय की तलाश मे रहता है जहाँ जाकर चार-छः अखबार पढ सके। इलाहाबाद भी आता है तो पैदल या एक आना इक्के का देकर कटरा से दो मील दूर भारती भवन जाता है।

ऐसे आदमी के लिए यह पूरी सज़ा है कि उसे महोबे और बस्ती-जैसी बीहड़ जगहों मे पटका जाय और दूर-दूर देहातों में भटकना पड़े जहाँ डाक की भी सुविधा नहीं है। न अखबार ही पढ़ने को मिलते हैं और न ऐसी संगत ही मिलती है कि बातचीत करके वह कुछ पा सके। और भी खलने की वजह यह है कि वह 'रफ़्तारे ज़माना' जैसा कालम लिखते रहना चाहता है जो कि फ़िलहाल छूट गया है। महज़ क़िस्सागो बनने से उसकी तबीयत नहीं भरती, वह अखबारनवीस भी बनना चाहता है। ४ मई १९१३ को मुंशीजी ने महोबे से निगम साहब को लिखा — 'देश रोज़ाना मेरे नाम जारी हो गया है। मैंने उसका नामानिगार[1] बनना मंज़ूर कर लिया है। मुआवजे की बातचीत हो रही है।' नहीं, उसके मन मे ऐसा कोई भाव नही है कि अखबारनवीसी घटिया काम है।

वह अंधा हुआ जा रहा है। नहीं, यह चीज़ नहीं चल सकती, एक मिनट नहीं चल सकती। कुछ न कुछ इंतजाम करना ही होगा। और मुंशीजी फ़ौरन उसके इंतज़ाम में लग जाते हैं। खुद को तकलीफ़ देते है, अपने दोस्तों के पीछे पड़ते हैं मगर जैसे भी हो उस चीज़ का इंतजाम करके ही दम लेते है।

ज़रा एक नजर डालिये इन खतों पर जो अपनी कहानी आप कह रहे है।

१३ मई १९१० को उन्होंने महोबा के एक छोटे-से कस्बे कुलपहाड़ से लिखा —

'मैंने मखज़न माँगा था, वह आपने न भेजा। कोई नाविल गुदड़ी बाज़ार से

---

१ संवाददाता

लिया हो तो वह भी बैरंग भेजिए। इलाहाबाद की लाइब्रेरी की निस्बत दर्याफ़्त किया, मगर वह आउट स्टेशन में किताबें नहीं भेजते। अब की इलाहाबाद जाऊँगा तो अपने खुसरजादे[1] को अपना क़ायम मुक़ाम[2] बना आऊँगा। वह अपने नाम से किताबें लेकर मेरे पास भेज दिया करेंगे।'

फिर एक खत मे लिखा —

'अब रिसालों और अख़बारों का ज़िक्र। आप मुझे माडर्न रिव्यू, लीडर और हिन्दोस्तान न दीजिए। माडर्न रिव्यू मैं मँगाऊँगा। हमदर्द अब अनक़रीब आने ही लगेगा। बस कोई एक उर्दू पर्चा मसलन वकील या वतन मुझे और मिलना चाहिए। हिन्दुस्तान मैं आज मँगाता हूँ। इतना काफ़ी हो जायगा।'

सन् १४ मे बस्ती से लिखा —

'लीडर मेरे पास एक भी नहीं आया। मालूम नहीं क्या हुआ। मैंने बंगाली जारी कराया है। शायद दो-तीन दिन बाद जारी हो जाये। अब यहाँ मुझे माडर्न रिव्यू, इंडियन रिव्यू वगैरह मिल जाया करेंगे क्योंकि पंडित मन्नन द्विवेदी डुमरियागंज के तहसीलदार हैं।'

फिर ४ सितंबर १९१४ को वहीं बस्ती से लिखा —

'आज स्टेट्समैन के लिए लिख दिया है और अब मैं डाक का बेहतर इंतजाम रखूँगा ताकि आजाद के लिए बामौक़ा नोटिस लिख सकूँ। .... लीडर का इंतज़ाम जो आपने किया है, एक मामूली अख़बारख्वाँ[3] के लिए तो अच्छा है मगर जिसे अख़बारनवीसी भी करनी पड़े उसके लिए ज्यादा कारआमद[4] नहीं है। इसलिए स्टेट्समैन के जारी हो जाने पर उसे बंद करना पड़ेगा। आप मेरे पास पन्द्रह रुपये भेज दें तो ऐन नवाजिश[5] हो। उसमे मैं स्टेट्समैन मँगा लूँगा। और माह सितंबर की तनख्वाह भी महसूब[6] हो जायगी। नये-नये इंतजाम की वजह से मैं यहाँ तंगदस्त हो गया। चारपाइयां बनवानी पड़ीं। अभी जानवर नहीं लिया मगर उसके लिए रुपये की दिन-रात फ़िक्र है। खुद सैनाटोजन का इस्तेमाल कर रहा हूँ जो शायद यह शीशी खत्म हो जाने पर मुश्किल से मिल सकेगी। बस्ती में अभी किसी से शनासाई[7] नहीं। बस डिप्टी इंसपेक्टर को जानता हूँ। और डुमरियागंज में पं० मन्नन द्विवेदी तहसीलदार से वाक़फ़ियत हो गयी है। प्रताप की बदौलत। अभी तक यह नहीं तय कर सका कि डुमरियागंज मे क़याम करूँ या बस्ती मे।'

तय करने मे जो दिक़्क़त हो रही है वह शायद इसीलिए कि रहना तो शायद बस्ती मे ज़्यादा अच्छा होगा क्योंकि वह डुमरियागंज से बडी जगह है मगर डुमरियागंज में अखबारों का और शायद कुछ किताबों का भी ज़्यादा सुभीता रहेगा!

---

१. साले २. प्रतिनिधि ३. अख़बार पढ़नेवाले ४ उपयोगी ५ कृपा ६ हिसाब में वसूल ७ परिचय

जो भी हो, इस बात से इनकार करना मुश्किल है कि बीहड से बीहड जगह में भी बैठकर, जहाँ न तो डाक का सुभीता है न रौशनखयाल लोगो की सोहबत, सेहत से मजबूर तेली के बैल की तरह चक्की में जुते होने के बावजूद उसने एक जिन्दा आदमी की तरह जीने और काम की तदबीर निकाल ली।

सादा तबीयत का आदमी, जिसके भीतर कही कोई उलझाव नही है, जिस चीज़ को पकडता है, इसी एकाग्र भाव से, ऐसी ही एकान्त निष्ठा से। स्वराज्य की बात ने, तिलक की बात ने बहुत मजबूती से उसके दिल को पकड लिया है।

यो आदमी भी वह चीमड है, जैसे ताँत चीमड होता है। जिन्दगी पर उसकी पकड मजबूत है और उसकी कलाइयाँ खूब चौडी है। पैदा जरूर खेतिहर के घर नही हुआ लेकिन मन का साँचा वही है। कैसी भी कडी धरती हो वह उसे फोडे बिना नही रह सकता।

शक्ति असीम नही है, पर उसको केन्द्रित करना जानता है। बिखराव नही है।

दौरे पर हो चाहे घर पर, लिखना नही रुकता। पहले बद कमरे में लिखने का अभ्यास था, अब खुली रावटी में लिखने का अभ्यास डाल लिया है। जिस दिन नही लिख पाते, जी उदास रहता है, कि जैसे एक दिन व्यर्थ गया। कर्म ही जीवन का एकमात्र सच्चा सुख है। जो समय सरकारी ड्यूटी का नही है वह समय उनका अपना है, नितात अपना, यानी अपने घरवालो और अपने साहित्य का। रस्मी भेंट-मुलाकात के लिए यहाँ-वहाँ जाने की अतिरिक्त सामाजिकता उनके अन्दर न थी। समय भी नही मिलता था, प्रवृत्ति भी नही थी। दो-एक दोस्त-अहबाब सदा रहे जिनके साथ हर वक्त का उठना-बैठना था, जो उनकी तकलीफ-आराम में साथ देते थे लेकिन बस वही। जिस चीज को हम अपने सभ्य समाज में सोशल लाइफ या क्लब लाइफ कहते है उससे प्रेमचद का कोई नाता न था। अपने अफसरो तक के यहाँ जाने की मुशीजी को फुर्सत न थी।

प्रेमचद को महोबे में रहते चार बरस पूरे हो रहे थे। तभी उनकी तन्दुरुस्ती को एक जबर्दस्त धक्का लगा जिससे वह हिल उठे और जो सच पूछिए तो सारी जिन्दगी उबर नही सके —

● मैं हमीरपुर ही में था कि मुझे पेचिश की शिकायत हो गयी। गर्मी के दिनो में देहातों में कोई हरी तरकारी मिलती न थी। एक बार कई दिन तक लगातार सूखी घुइयाँ खानी पडी। यो मैं घुइयो को बिच्छू समझता हूँ और तब भी समझता था लेकिन न जाने क्योकर यह धारणा मन में हो गयी कि अजवाइन से घुइयाँ का बादीपन जाता रहता है। खूब अजवाइन डलवाकर खा लिया करता। दस-बारह दिन तक किसी तरह का कष्ट न हुआ। मैंने समझा शायद बुन्देलखण्ड की पहाड़ी जलवायु ने मेरा दुर्बल पाचनशक्ति को तीव्र कर दिया, लेकिन एक

दिन पेट में दर्द शुरू हुआ और सारे दिन मै मछली की भाँति तडपता रहा। फकियाँ खायी, मगर दर्द कम न हुआ। दूसरे दिन से पेचिश हो गयी, मल के साथ आँव आने लगा लेकिन दर्द जाता रहा।

एक महीना बीत चुका था। मैं एक कस्बे में पहुँचा तो वहाँ के थानेदार साहब ने मुझसे थाने ही में ठहरने और भोजन करने का आग्रह किया। कई दिन से मूँग की दाल खाते और पथ्य करते-करते ऊब उठा था। सोचा, क्या हर्ज है आज यही ठहरो, भोजन तो स्वादिष्ट मिलेगा। थाने ही में अड्डा जमा दिया। दरोगा जी ने जमीकन्द का सालन पकवाया, पकौडियाँ, दही-बडे, पुलाव। मैने एहतियात से खाया — जमीकन्द तो मैंने केवल दो फाँके खायी — लेकिन खा-पीकर जब थाने के सामने दरोगा जी के फूस के बँगले में लेटा तो दो-ढाई घटे के बाद पेट में फिर दर्द होने लगा। सारी रात और अगले दिन भर कराहता रहा। सोडे की दो बोतलें पीने के बाद कै हुई तो जाकर चैन मिला। मुझे विश्वास हो गया, यह जमीकन्द की कारस्तानी है। घुइयाँ से पहले ही मेरी कुट्टी हो चुकी थी, अब जमीकन्द से भी बैर हो गया। तब से इन दोनो चीजो की सूरत देखकर मै काँप जाता हूँ। दर्द तो फिर जाता रहा, पर पेचिश ने अड्डा जमा लिया। पेट में चौबीसो घण्टे तनाव बना रहता, अफरा हुआ करता। सयम के साथ चार-पाँच मील टहलने जाता, व्यायाम करता, पथ्य से भोजन करता, कोई न कोई औषध भी खाया करता किन्तु पेचिश टलने का नाम न लेती थी और देह भी घुलती जाती थी। कई बार कानपुर आकर दवा करायी, एक बार महीने भर प्रयाग में डाक्टरी और आयुर्वेद की औषधियो का सेवन किया, पर कोई फायदा नही। ●

इन दिनो स्वास्थ्य कितनी तेजी से गिर रहा था इसका कुछ अनुमान उस समय की चिट्ठियो से होता है।

६ फरवरी १६१३ को उन्होने शायद पहली बार अपने स्वास्थ्य के बारे में मुशी दयानरायन को लिखा था और सिर्फ इतना लिखा था कि 'सेहत अलबत्ता बहुत अच्छी नही है।'

चार ही महीने बाद ७ जून को उन्होने लिखा — 'मै अपनी हालत खराब होने के बाइस[1] बिलकुल अपाहिज हो गया हूँ। मेदा ज़रा सही हो जाये तो फिर कुछ काम करूँ। कानपुर मेरे प्रोग्राम में शामिल है और गालिबन बनारस जाने से कब्ल अगर आप मेरी रिहाइश का कोई इतजाम कर सके तो मैं कानपुर ही में अपना मुआलिजा[2] कराऊँ।'

२२ मार्च १६१४ के पत्र में देखिए एक अन्य सदर्भ में कितनी निराशा बोल

---

१ कारण • २ इलाज

रही है — 'मिस्टर सरन के घर मे बच्चा पैदा हुआ है। खुशी की बात है। ईश्वर उसे जिन्दा रक्खे। मेरी न पूछिए। अहबाब फले-फूले, मेरी खुशी के लिए इतना काफी है। ज्यादा की जरूरत नही है। उन्ही के बच्चो को प्यार करके अपनी हवस मिटा लूँगा।'

इसके पीछे निश्चय ही शरीर के अशक्त होते चले जाने की निराशा है, सन्तान-हीन होने की निराशा नही है। क्योकि अब से आठ-दस महीने पहले १९१३ में उनकी दूसरी बेटी कमला का जन्म हो चुका था।

ठीक दो महीने बाद २२ मई १९१४ के पत्र में यह टुकडा देखने के काबिल है — ' इधर १५ साल की मुलाजमत। कुछ दिन और जिन्दा रहूँ तो Invalid पेंशन का हकदार हो जाऊँ '

और उसके भी बारह रोज बाद ३ जून को उन्होने लिखा — 'गालिबन्, १५ तक मै यहाँ से रुखसत हो जाऊँगा। सेहत की हालत मुझे मजबूर कर रही है। आप मुझे देखे तो गालिबन् पहचान न सकेगे। हाजमे मे फितूर आ गया है। जोफ[1] दिन-दिन बढता जाता है।'

महोबे का आखिरी साल-डेढ साल बुरा गुजरा। पेचिश ने दम निकाल लिया। कहाँ वह खूबसूरत, बाँका जवान जो महोबे आया था, चमकती हुई नीली आँखे, गोरा गुलाबी रग, चौडा सीना, मजबूत हाथ-पैर, ऊपर को उठी हुई नुकीली मूँछे, सर पर राजपूती साफा — और कहाँ यह दुर्बल रोगी आदमी जो अब यहाँ से जाने की तैयारी कर रहा था और दरख्वास्तें दे रहा था कि उसे कही और भेजा जाय, और सबसे अच्छा हो कि रुहेलखण्ड भेजा जाय जहाँ का पानी, उसने सुन रक्खा था, अच्छा है।

बात कुछ की कुछ हो गयी थी। जवान आदमी देखते-देखते बुड्ढा हो गया था, कल्ले बैठ गये थे, आँखे गड्ढो में धँस गयी थी, पतली-सी लबी गर्दन निकल आयी थी, रग पीला पड गया था, हाथ-पैर सीक जैसे हो गये थे, तनी हुई मूँछे झुक गयी थी, साफ-शफ्फाफ नीली आँखो में जर्दी घुल गयी थी। पहले कपडे बदन पर चुस्त बैठते थे, अब ऐसे लगते थे कि जैसे खूँटी पर टँगे हो। कभी की एक बुलन्द इमारत ढह पडी थी।

और जहाँ देह इस तरह घुल रही हो, छीज रही हो, वहाँ मन भी कब स्वस्थ रह पाता है। दिल-दिमाग की हालत भी उसी तरह गिरी हुई थी। अपने कलम के जोर से दुनिया को फतेह करने के, मुल्क को आजाद करने के, सितारो को तोड-कर फूलो की तरह बिखेर देने के हौसले, जो जबान पर भले न आये हो मगर दिल में जरूर कही थे, अब पस्त थे। जहाँ पहले जोश था, उमग थी, उत्साह था,

---

१ कमजोरी

आशा थी, वहाँ अब सब तरफ मुर्दनी छायी थी और जिधर नजर जाती थी नाउम्मीदी का डेरा था। लिखना-पढना भी ठप-सा था।

जहाँ पहले आसमान को गुँजा देनेवाला ठहाका लगता था वहाँ अब एक फीकी-सी सहमी हुई मुस्कराहट आकर रह जाती थी। मन की कली कुम्हला गयी थी।

गुस्से का उबाल पहले भी किसी बात पर आ जाता था लेकिन वह दूध का उबाल था जिसके लिए पानी का एक छींटा काफी होता है। अब एक बच्चे या बीमार जैसी बेसब्री, झुँझलाहट और चिडचिडापन पहली बार उसके स्वभाव में आ रहा था। वह जेहनी कैफियत जो हर चीज को हँसी-खुशी झेल लेती थी, जो उसने इतनी मुश्किलो के बीच होकर पायी थी, अब हाथ से छूट रही थी और मुशी जी उसे बरकरार रखने के लिए जी तोडकर अपने आप से लड रहे थे। बहुत कडा इम्तहान था।

इन्ही दिनो उर्दू 'प्रेम पचीसी' के प्रकाशन का विचार उनके मन मे आया। जिस खत मे उन्होने पहली बार लिखा था कि ' सेहत अलबत्ता बहुत अच्छी नही है ' उसी खत मे ६ फरवरी १९१३ को उन्होने मझगवाँ से निगम साहब को लिखा था—

" मुझे यह सुनकर बडी खुशी हुई कि आपका मशीन प्रेस अब अनकरीब जम जायगा। जिल्दसाजी, कुतुबफरोशी की शाखें भी कायम होगी। ईश्वर आपकी कोशिशो को सरसब्ज करे। मजबूर हूँ कि मुझे to fall back upon का कोई सहारा नही है। बस किराये का टट्टू हूँ। प्रेम पचीसी इस प्रेस का पहला काम होगा। अपने तई मुबारकबाद देता हूँ। बीस किस्सो से जायद हो गये है, दो अभी 'हमदर्द' के दफ्तर में पडे हुए है। मालूम नही ' हमदर्द ' खुलेगा भी या ठण्डा पड गया। बहरहाल दो-तीन माह में पच्चीस किस्से जरूर हो जायँगे। हाँ, किताब किसी कदर जखीम हो जायगी। चार सौ सुफहे से किसी तरह कम न होगी। मिस्तर उन्नीस सतरी रहना चाहिए और साइज 'जमाना' के दो बरस कब्ल के साइज के बराबर। कातिब खुशखत हो। मैं मजामीन की तरतीब दे दूँगा और जहाँ कही छापे की गलतियाँ हो गयी है उनकी इसलाह भी कर दूँगा। मगर मेरे पास सब पर्चे मौजूद नही है। अक्सर गायब हो गये है। इसलिए जरूरत होगी कि मेरे पास सब पर्चे मौजूद हो जायँ। बहरलाल जिस वक्त फैसला हो जाय मैं यहाँ से उन चन्द किस्सो की कापी भेज दूँगा जो मेरे पास मौजूद है। दीबाचा आप लिखेंगे या आप जिसे मुनासिब समझे उससे लिखवाइएगा। खर्च और नफे में मुझे निस्फ का शरीक समझिए। नफे का जिक्र ही क्या, खर्च में आधे का साझेदार हूँ। "

यह खास बात है उनकी, दिमाग जिधर चल पडता है, चल पडता है। कुछ तो यह उमग कि निगम साहब का प्रेस आ गया है, जो एक तरह से अपने घर का ही प्रेस है, और अब कहानी-सग्रह छप जायगा। ' जमाना ' में ये कहानियाँ निकली

थी तो पढनेवालो ने बहुत पसन्द किया था, लेकिन जरूरत है कि किताबी सूरत में उन्हे लोगो के सामने पेश किया जाय। बहुत जमाने से कोई सग्रह नही निकला, और एक जो पाँच कहानियो का चार बरस पहले निकला भी था, वह भी जब्त हो गया और जलाकर खाक कर दिया गया। एक मतलब में यह उनका पहला कहानी-सग्रह होगा, पच्चीस कहानियो का, जो लोगो के सामने पहुँचेगा। इसमे अब देर न होनी चाहिए।

नये लेखक की इसी अधीरता में उन्होने अपने पहले ही खत में सब बातें लिख मारी और अपने स्वभाव की सहज एकाग्रता के साथ उसी की तैयारी में लग गये।

महीने भर बाद लिखा — 'प्रेम (पचीसी) के किस्से २१ आपके यहाँ छप गये है, २ हमदर्द के यहाँ है। वह दोनो आज मँगवाये लेता हूँ। तब दो की कमी रह जायगी और यह दो किताबत के पूरे होने तक बन जायँगे। तरतीब क्योकर दूँ। अबवाब[1] की सूरत में नही आते वर्ना मैने चाहा था कि शुजाअत[2], खुददारी[3], ईसार[4] वगैरह के उनवान[5] से तरतीब दूँ।'

वीरता, स्वाभिमान, त्याग — इन्ही की तो जरूरत है देश को और उसका मन महोबे की मिट्टी में ऐसी ही कहानियाँ ढूँढ रहा था जो पढनेवाले के भीतर इन गुणो को विकसित कर सके। उसके मिजाज में एक तरफ बुड्ढो-जैसा ठहराव है और दूसरी तरफ बच्चो-जैसी उतावली। बीच की हालत उसके लिए नही है। जो भी काम वह हाथ में लेता है, इसी तरह हाथ धोकर उसके पीछे पडता है। कहानियाँ लिखते वक्त जैसे प्लाट के नये-नये पहलू, बातचीत के नये-नये टुकडे, दृश्य के नये-नये रग बडी तेजी से उसके दिमाग में आते है, इतनी तेजी से कि कलम साथ नही दे पाता, उसी तरह दूसरी सब बातो में।

किताब छपना तो दूर रहा, अभी प्रेस में भी नही दी गयी, प्रेस कापी भी अभी तैयार नही हुई, यहाँ तक कि प्रेस भी अभी नही जमा, लेकिन इसी खत मे वह इतना और जोडना जरूरी समझता है — 'यह बहुत अच्छा होगा कि किताब पब्लिक में आने से पहले खास-खास अहले कलम[6] के पास इजहारे राय के लिए भेजी जाय और यही राये इश्तहार का काम दे।'

लेकिन किताब को जल्द से जल्द छपाने की जितनी बेताबी लेखक को है उतनी अगर छापनेवाले को न हो तो कोई ताज्जुब की बात नही है। मुमकिन है कि दया-नरायन साहब की तरफ से कुछ सुस्ती भी हुई हो। लेकिन मुशीजी एक बार चल पडे तो फिर सुस्ती की ताब नही ला सकते। डाकमुशी का बेटा है, डाक के हर-कारो के बीच पलकर बडा हुआ है, जल्द से जल्द सब खतो को ठिकाने लगाकर अपने घर पहुँचकर आराम करना चाहता है। और जितनी ही तेज उसके पैरो की

---

१ परिच्छेद २ वीरता ३ स्वाभिमान ४ त्याग ५ शीर्षक ६ लेखको

चाल है, उतनी ही तेजी वह हर काम में चाहता है। नही मिलती, तो भुँभलाता है।

१० दिसम्बर १९१३ तक किताब के बस साढे चार फर्मे हो पाये थे। इसकी थोडी-सी भुँभलाहट इस वाक्य में दिखायी देती है — 'कागज़ के लिए मैं बहुत जल्द रुपया भेजता हूँ। अब जो कुछ ताख़ीर होगी उसका इलजाम मेरे ऊपर न रहेगा।'

और फिर हल्की-सी शिकायत — 'गालिबन कागज़ के एकजाई इन्तजाम न होने के बाइस किताब पचरगी हो गयी है। कोई मुज़ायका नही। टाइटिल पेज ख़ूबसूरत होना चाहिए। बस।'

मगर जिस भी वजह से हो किताब के छपने में देर पर देर हो रही थी और उसी अनुपात में मुशीजी की भुँभलाहट बढती जाती थी। २० फरवरी १९१४ को उन्होने बाँदा ज़िले में सरीला नाम के कस्बे से बहुत ही खीभकर लिखा — '. मालूम नही मेरी किताब की किताबत हो रही है या नही। बराहे करम उसमें लग्गा लगाइए और धन्ना देने की जरूरत हो तो मुत्तला फरमाइए ताकि किताब के शाया होने की उम्मीद को दिल से निकाल दूँ, क्योकि मुझे उस भलेमानस की तरह, जो आपके दफ्तर से अपनी किताब छपवाकर उठा था, इतनी फ़ुर्सत कहाँ है। दिन गुजरते जाते है। अगर किताब उस वक्त निकली जब लोगो को यह ख़याल भी न रहेगा कि प्रेमचद कौन है तो उसके निकलने से क्या फायदा ?'

ताहम किताब न निकली और मुशीजी के हमीरपुर से निकलने का वक्त आ पहुँचा। सेहत जिस तेजी से गिर रही थी, हमीरपुर मे अब रहना खतरे से ख़ाली नही था। २२ मई १९१४ को उन्होने निगम साहब को लिखा — ' काश मैं किसी तरह कानपुर तबदील होकर आ सकता। तबादले की दरख्वास्त तो दी है मगर मालूम नही कहाँ फेका जाऊँ '

कानपुर का तबादला नामुमकिन समझकर शायद उन्होने दर्खास्त में अपनी पसद रुहेलखड के लिए जाहिर की। लेकिन तबादला जब हुआ तो न कानपुर मिला न रुहेलखण्ड, वह 'पटका गया बस्ती के जिले में और इलाका वह मिला जो नैपाल की तराई है।'

ताड से गिरा खजूर में अटका। काम वही दौरो का, वेतन वही साठ। जगह-जगह का खाना, जगह-जगह का पानी। पेचिश और बढ गयी। और उसके साथ ही नाउम्मीदी, अपने जीने की तरफ से। फायदा भी क्या इस तरह जिन्दा रहने से। इससे तो अच्छा है कि इस सरकारी नौकरी को छोडकर कही किसी अख़बार में काम किया जाय या किसी प्राइवेट स्कूल में मुर्दारिसी की जाय। यह ठीक है कि सरकारी नौकरी के अपने भी बहुत से फायदे है। बँधी हुई तनख्वाह मिलती है और वक्त पर मिलती है। बेफिक्री रहती है। लेकिन अब यह जो सबसे बड़ी फिक्र अपनी जान की लग गयी है ...

इसी हैस-बैस में जान पडी थी, क्या करें क्या न करे। एक मन कहता था, छोडछाडकर भागो, जहाँ सीग समाये, यहाँ तो बेमौत मर जाओगे। दूसरा मन, जो अँधेरे में कूदते डरता था, पैरो को बाँध देता था।

बहुत बार जी होता था कि जाकर 'जमाना' में काम करने लगे, लेकिन उसकी अपनी दिक्कते थी। वह अलग एक कहानी है।

दूसरे पर्चो पर भी खयाल जाता था और मुमकिन है दयानरायन साहब को उन्होने लिखा भी हो कि नजर रखिएगा और मुझको बताइएगा।

निगम साहब ने उन्ही दिनो शायद 'अवध अखबार' की बात छेडी। उसका जवाब देते हुए मुशीजी ने लिखा —

' पहले अवध अखबार वाला मामला। क्या जवाब दूँ। माली पहलू यह है कि यहाँ नेट आमदनी अस्सी रुपये से किसी तरह ज्यादा नही है। दौरे का खर्च और मुलाजिमो की तनख्वाह इसमे शामिल नही है। करीब-करीब यही हालत वहाँ भी होगी। और मसारिफ बदस्तूर। मगर काम में बडा फर्क है। यहाँ बहुत आजादी है, बावजूद गुलामी के, चूँकि कोई अफसर सर पर नही रहता और न कोई जवाबदेही है। इसलिए आजादी-सी मालूम होती है। १० बजे से ५ बजे की हाजिरी, दिमागी काम, रोजाना अखबार — जी काँप जाता है। हिम्मत नही पडती। यहाँ लिटररी काम ब-मजला तफरीह[१] है, वहाँ पर मआशा[२] हो जायगा। .. '

इसी तरह का एक प्रस्ताव सन् १४ के आखीर में आया जब कि मुशीजी बस्ती में थे, अपने काम से बेजार और अपनी जिन्दगी से बेजार।

कोई पडित विश्वनाथ जी दैनिक पत्र निकालनेवाले थे। उसके बारे में प्रेमचद ने १० नवम्बर १९१४ को निगम साहब को लिखा —

' मैं अपनी मौजूदा हालत के एतबार से रोजाना अखबार के लायक किसी तरह नही हूँ। . मेरे लिए तो अब यही मुनासिब है कि किसी प्राइवेट स्कूल की मास्टरी कर लूँ, जहाँ से माहवार मिले। इसी के साथ-साथ 'जमाना' और 'आजाद' की खिदमत करूँ। इस तरह मुझे साठ-सत्तर रुपये माहवार का औसत पडता जाये। इससे ज्यादा की ख्वाहिश नही और न इससे ज्यादा पा सकता हूँ। खामखाह तकदीर से क्यो लडूँ। कुछ किताबे लिखूँगा, कुछ अपनी किताबे छपवाऊँगा। पाँच सौ मेरी कमाई है, उसे इन्ही कामो में सर्फ करूँगा और बिल आखिर जब लिटररी शोहरत हासिल कर सकूँगा तो कोई माहवार रिसाला निकालकर गुजर करूँगा। और अगर इसके पहले ही हयात[३] ने जवाब दे दिया तो फिर राम-नाम सत्त है!'

---

१ दिलबहलाव की चीज २ जीविका ३ जिन्दगी

फिर बडे हसरत भरे लहजे मे —

' . . . क्या कहूँ आपने मुझे उछालने मे कोई कसर नही रक्खी। खूब उछाला। मगर मै ही किस्मत का अधा हूँ कि उछलकर परवाज[1] नही कर सकता बल्कि नीचे गिरने के लिए डरता हूँ वर्ना शिवव्रतलाल बर्मन की तरह चैन से जिन्दगी बसर करता। हकीकत यह है कि सेहत बडी चीज है, जिसने इसकी कद्र न की उसके लिए बजुज रोने और सर धुनने के और कोई इलाज नही है। सारी दुनिया को सैनाटोजन फायदा करती है, मुझे इससे कुछ न हुआ। आपने चार-पाँच मील हवा खाने की सलाह दी है, उसकी तामील कर रहा हूँ। पाँच दिन से लगातार तीन-चार मील घूमता हूँ। उम्मीद है कि तबीयत टिचन होगी। कोई प्राइवेट स्कूल की मुदर्रिसी का चर्चा हो तो मेरा खयाल रखियेगा क्योकि मै अब इससे बेजार हो गया हूँ। '

तबीयत के 'टिचन' यानी बिलकुल ठीक होने की उम्मीद गलत साबित हुई और प्रेमचद को मजबूर होकर अपने इलाज के लिए एक महीने को इलाहाबाद जाना पडा जहाँ उनके ससुर साहब ने उनका इलाज कराया। लेकिन जब उससे कोई फायदा न हुआ तो उन्होने अपने ससुर साहब के ही जोर देने पर चार महीने की छुट्टी की दरखास्त दी।

बडी-बडी मुश्किलो से आधी तनख्वाह पर छुट्टी मजूर हुई।

मुशीजी ने निगम साहब को लिखा —

' कल से मै आजाद हो गया मगर असबाब वगैरह यही पडा हुआ है। उसे लेकर मजबूरन बनारस जाना पडता है। बर्तन वगैरह गुड्स से भेजूँ तो टूटने-फूटने का डर रहता है। गालिबन दो या तीन दिन बनारस में लगेगे। उसके बाद कानपुर आ जाऊँगा मगर इरादा मुस्तकिल तौर पर बनारस में रहने का है। . '

बस्ती से चलते-चलते उन्होने एक बहुत सुन्दर कहानी 'मरहम' के नाम से लिखी, जिसका परिवेश बुन्देलखण्ड का है। उसके बाद तो फिर छ महीने पूरे के पूरे बीमारी की नजर हो गये, लिखना-पढना बिलकुल बन्द रहा।

इलाज के लिए सबसे पहले वह कानपुर पहुँचे। बीवी अपने मैके थी, चाची लमही में। निगम साहब के पास ही घर लिया और इलाज चलने लगा। खुद ही दही जमाते थे और उसका मट्ठा निकालकर पीते थे। वही मुख्य आहार था। लेकिन कोई फायदा न हुआ, तब वह लखनऊ मेडिकल कालेज गये, कुछ दिन वहाँ भी इलाज कराया लेकिन जब कोई लाभ होता न दिखायी दिया तो बनारस चले आये और एक हकीम का इलाज शुरू हुआ। हकीम के इलाज से तीन-चार महीने में कुछ फायदा तो मालूम हुआ पर बीमारी जड से न गयी।

---

१ उडना

बस्ती आने के खयाल से उन्हे डर मालूम हो रहा था। मन दूसरी-दूसरी चीजो में आश्रय खोज रहा था।

एक रोज उन्होने अपनी पत्नी से कहा — मेरी इच्छा होती है कि नौकरी छोड-छाडकर कही एकान्त में बैठकर लिखता-पढता। क्या करूँ, मेरा दुर्भाग्य है कि मेरे पास थोडी-सी जमीन भी नही। मेरे पास दस बीघे भी जमीन होती तो मै अपने खाने भर का गल्ला पैदा कर लेता और चुपचाप एकान्त में बैठकर साहित्य की सेवा करता।

पत्नी ने स्त्री की सहज व्यवहार-बुद्धि से उत्तर दिया — दस बीघे जमीन में आप क्या सोना उपजा लेते ? . अभी आप दो महीने नौकरी छोडकर बैठ जायँ तो हाय-तोबा मच जाय। आठ साल काम करते हो गये। आपने सौ रुपये साल बचाये होते तो आठ सौ रुपये होते। मन की मिठाई खाना एक बात है काम ठीक-ठीक चलाना दूसरी।

ताहम बस्ती जाने के खयाल से डर मालूम होता था।

और तब उन्होने उस सूत्र को एक बार फिर पकडने का निश्चय किया जो इससे पहले भी बहुत बार हाथ में आया था और छूट गया था या छोड दिया गया था — सूत्र जो उनकी जिन्दगी को बाँधनेवाला एक बडा मजबूत धागा था, उनके जीवन का एक पुराना स्वप्न जिसकी छाया मे विश्राम करना उन्हे बहुत अच्छा मालूम होता था, पर जब आगे चलकर एक दिन वह सपना सच हुआ तो फिर विश्राम नही मिला।

१०

. और उन्होने ३० अप्रैल १९१५ को बनारस से लिखा —

'क्या जमाना की मौजूदा हालत इस काबिल है कि कोई शख्स उसे लेकर ६००) रुपये आपके नजर करने के बाद १२००) रुपये दीगर मसारिफ, मसलन् तनख्वाह मैनेजर, किराया मकान, गुजराना एडीटर और तनख्वाह चपरासी वगैरह के लिए निकाल सके ? आप बराय मेहरबानी तहरीर फरमाइए कि कण्ट्रैक्ट जिस तारीख से शुरू होगा उस तारीख से आप अपने कट्रैक्टर पर कौन-कौन-सी जिम्मेदारियाँ आयद करेगे। मैने अभी नौकरी पर जाने का कोई इरादा नही किया। दो माह की रुखसत और ले ली है। अगर कण्ट्रैक्ट की सूरत निकल आये तो मै फौरन साल भर की रुखसत बेतनख्वाह की दर्ख्वास्त भेजकर साल भर तकदीर आजमाई करना चाहता हूँ।'

'जमाना' को अपने हाथ मे लेकर चलाने की यह एक नयी योजना थी जो इस वक्त उन्हे सूझ रही थी और वह इस बार अंतिम बार एक गम्भीर प्रयत्न करके देख लेना चाहते थे। विशेषकर इसलिए कि उनकी बीमारी पूरी तरह ठीक न हुई थी और सारी कोशिश-पैरवी के बावजूद वह फिर बस्ती में ही पटके जानेवाले थे जहाँ जाने के खयाल से ही उन्हे डर मालूम होता था।

'जमाना' का कलमदान सँभालने की बात पहली बार जून १९०५ मे उठी थी जब कि मुशी जी ने निगम साहब को लिखा था —

'अधबीच में छोडनेवाले और होगे। यहाँ तो जब एक बार बाँह पकडी तो जिन्दगी पार लगा दी। नौबतराय न आये। क्या जहाँ मुर्गा न होगा वहाँ सुबह न होगी ? एडीटोरियल मैं सब कर लूँगा। खतो-किताबत जो मुआमले की है, मैं कर लूँगा। खास एडीटर की तवज्जो के काबिल जो खुतूत होगे वह खिदमते शरीफ में पेश होगे। और काम करने का बदोबस्त होना जरूरी है। लेबिल छपा लेगे। आने का वक्त आयेगा तो मशविरा हो रहेगा। जान गाढे में न डालो। हिम्मते मर्दां, मददे खुदा, हिम्मते एडिटराँ मददे दोस्ता। हाँ, यह एलान करना जरूरी होगा कि नवाब राय स्टाफ में दाखिल हो गये।'

अगले महीने मुंशीजी कानपुर आ गये थे और १९०९ के जून महीने तक

इसका कोई सवाल ही न था क्योकि स्कूल में मास्टरी करते हुए वह, दयानरायन निगम के शब्दो में, बे-जाब्ता तौर पर जमाना के असिस्टेण्ट एडीटर का काम करते रहे।

फिर जैसे ही उनका तबादला हमीरपुर के लिए हुआ और जमाना के साथ उनका सबध वैसा गहरा और रोजमर्रा का नही रह गया, उनके मन की भूख बेहद तेज हो गयी थी और जब निगम साहब ने अपना साप्ताहिक पत्र 'आजाद' निकाला तो उसके सिलसिले में प्रेमचद ने लिखा था —

'छ माह अखबार की हालत देखकर बाद को फैसला कर सकूँगा कि मेरे लिए कौन-सा रास्ता ज्यादा सीधा है। यहाँ से रुखसत लेकर चला आऊँगा। क्या अजब है, मै अखबार को चला सकूँ। अगर छ माह के बाद अखबार कुछ दे निकला तो मै हाथ-पैर फैलाऊँगा वर्ना अपना-सा मुँह लेकर अपने पुराने ढच्चर पर चलूँगा। मगर साठ रुपये से कम पर मेरा गुजारा नही हो सकता। यह साफगोई आपको अपना दोस्त, हमदर्द और भाई समझकर करता हूँ। मै काम से जी नही चुराता, न इस कदर मुतालबा चाहता हूँ गोया मैं कही का बडा मुशी-विकार हूँ। नही, सिर्फ गुजारा चाहता हूँ, और गुजारा साठ रुपये से कम में नही हो सकता। ... मै काम करने के लिए तैयार हूँ, ऊपर लिखी हुई शर्तों पर और उस हालत में जब कि माली हालत मुस्तकिल हो। और मै किराये का टट्टू बनकर काम न करूँगा बल्कि सच्चे जोश से।'

निगम साहब की अपनी मजबूरियाँ थी और कोई ठीक आश्वासन मुशी जी को न मिल सका। ताहम उन्होने हिम्मत न हारी थी और ३० नवम्बर १६०६ को हमीरपुर से ही लिखा था — 'वीकली के मुताल्लिक मेरा ख़याल अब भी है, मगर मेरा ख़याल है कि मैं मआश की फिक्र से आजाद होकर ज्यादा काम कर सकता हूँ।'

कितना नाजुक इशारा है कि आप जीविका की कुछ व्यवस्था कर दे तो मै आ जाऊँ। उस ओर से तब भी कोई आश्वासन न आया मगर मुशी जी इतनी जल्दी हार माननेवाले न थे।

१८ मार्च १६१० को उन्होने लिखा था — '. . बहरहाल मैंने मुसम्मम[1] इरादा किया है कि जुलाई और अगस्त में रुखसत लूँ और अपनी अख़बारी काबलियत को आजमाऊँ। आइन्दा जैसा ईश्वर चाहे।'

पता नही वह छुट्टी लेकर कानपुर गये या नही लेकिन इतना तो साफ है कि वहाँ ठहरने की कोई सूरत नही बनी।

'आजाद' को निकलते अब पाँच महीने हो गये थे और मुशीजी शुरू से ही

---

१ पक्का

उसमें लिख रहे थे। २ मई १९१३ को उन्होने निगम साहब को तकाजे का एक खत लिखा था —

'आज मै आपसे कुछ मुआमले की बातचीत करने की आजादी चाहता हूँ। आजाद को शाया हुए तकरीबन पाँच महीने हुए। आप छ महीने की मुद्दत को अखबार की कामयाबी के लिए काफी खयाल करते थे। वह मुद्दत अब करीब है। मुझे यकीन है कि आजाद अब चल निकला। मैं अव्वल से और अब तक हस्बे औकात[1] और फुर्सत आज़ाद के लिए थोडा-बहुत लिखता रहा हूँ। मगर आप जानते है यह माद्दियात[2] का जमाना है। हर एक इसान अपनी मेहनत का कुछ न कुछ नतीजा जरूर चाहता है। खुसूसन ऐसी हालत में जब कि मेरी सेहत भी अच्छी नही है। कुछ अमली नतीजे की तरगीब[3] नफ्स[4] के लिए बहुत कारगर साबित होती है।'

इसी सिलसिले में वह इस बात का सकेत भी दे जाते है कि उनकी तबीयत सरकारी मुलाज़िमत से क्यो भागती है —

'मैं किताबी कीडा मशहूर हूँ और मेरा तबई मैलान[5] जैसा है उससे उम्मीद नही है कि मै सरकारी मुलाजिमत में कभी कारगुजार कहला सकूँ। मेरा शुमार अब तक दर्जए सोम[6] के आदमियो में रहा है और आइन्दा रहेगा।'

लेकिन यहाँ पर वह कुछ और बात कह रहे है, बडे व्यावहारिक आदमी की तरह अपने पारिश्रमिक का तकाजा —

' . मेरी अश्कशोई[7] होनी लाजिमी है। अगर इधर से नही तो किसी और तरफ से सही, कुछ माली फायदा होना चाहिए। इसीलिए मेरी आपसे दरख्वास्त है कि आप अज राहे करम[8] जितने मजामीन या नोट शाया करें उनकी उजरत[9] किसी एक शरह[10] से मसलन् आठ आने फी कालम मुकर्रर फर्मा दीजिए। मेरा खयाल है कि यह आजाद पर कोई नाकाबिले बर्दाश्त बार न होगा, क्योकि मैं किसी हफ्ते में भी चार कालम से ज्यादा नही लिख सकूँगा और आजाद को ज्यादा से ज्यादा सिर्फ दस रुपये मेरी नजर करने पडेंगे। मुझे उम्मीद है कि आप इसे मेरी जानिब से भी सख्ती न खयाल फर्मायेगे। मैं चाहता था कि यह तहरीक[11] आपकी जानिब[12] से होती मगर एक ही बात है। अगर आप इसे पसन्द न फर्माये तो कोई मुज़ायका नही, मैं हस्बे दस्तूर, औकात और फुर्सत के लिहाज से कुछ न कुछ कलमी खिदमत करता रहूँगा मगर शायद दोस्ताना बेगार समझकर। मै जानता हूँ कि आप तिही-दस्त है, माली हालत अच्छी नही मगर ऐसा क्यो हो। और

---

१ यथासमय २ भौतिकता ३ प्रेरणा ४ आत्मा ५ दिली रुझान
६ तीसरे दर्जे ७ आँसू पोछना ८ कृपया ९ पारिश्रमिक १० दर
११ सुझाव १२ ओर

अख़बार नफा कर रहे है, आप क्यो नुकसान उठाये, बेजरूरत और बेनतीजा ईसार क्यों करे। इस बेतकल्लुफी के लिए मुझे मुआफ फर्माइएगा। और अगर तजवीज पसन्द आये ता सिर्फ कनाये[१] से इसका जिक्र कीजिए वर्ना बा मन ओ तू[२] यह जिक्र यही ख़त्म हो जाना चाहिए।'

तकाजा भी है और किसी कदर सख़्ती से तकाजा है क्योकि पैसे का अभाव निरन्तर दबा रहा है लेकिन वजादारी को हाथ से नही जाने देते।

एक रोज बाद जब निगम साहब का जवाब आया तो मुशी जी को फौरन महसूस हुआ कि दोस्त का दिल दुखाकर मैंने अच्छा नही किया और उन्होने माफीनामे के तौर पर उसी दिन लिखा — 'मुझे यह सुनकर सख़्त मलाल हुआ कि अभी तक आजाद अपने पैरो पर खडे होने के काबिल नही हुआ। यही फर्ज करके मैंने कल आपको एक शिकायतनामा लिखा है जिस पर अब नादिम[३] हूँ।' कैसी भी बनावट मुशीजी के लिए बिरानी चीज है। न तो उन्हे शिकायतनामा लिखते देर लगती है और न उसके अगले ही रोज माफीनामा लिखते।

देखिए एक तरफ पारिश्रमिक का तकाजा और दूसरी तरफ दोस्ती की वजादारी कितने सहज रूप से घुल-मिलकर ७ जून १९१३ के पत्र में सामने आती है —

'मैंने अपने परसोवाले ख़त में कुछ अतियाए[४] आजाद का जिक्र किया है। मई और जून में कुल चौबीस कालम हुए। अब शायद जून में कुछ न लिखूँगा क्योकि हाजमा निहायत कमजोर हो गया है और एक घण्टे भी बैठना दुश्वार है। अगर मऊदा शरह[५] रखिए तो आठ मुबल्लिगात[६] होते है। अगर आप बगैर बहुत ज्यादा तरद्दुद के एक तीन-चार रुपये की वाच और साढे चार रुपये का जूता भिजवा सकें तो आपका बहुत ममनून[७] होऊँगा। एक ही पार्सल में दोनो आ सकते है। मेरा जूता छोटक ने ले लिया है और मैं बरहना-पा[८] हूँ। मगर यह सब उसी हालत में कि आपको तरद्दुद या परीशानी न हो वर्ना नक्द हू हुरमत हू[९] सही। और क्या लिखूं। जूते का न० ७×४ है।'

जिस भोलेपन के साथ जूते और घडी का जिक्र आया है उसने बात की शकल ही बदल दी है। और तबीयत की इसी सादगी का एक पहलू यह है कि कभी छोटक उनका जूता डटाकर चलते बनते है और कभी विजयबहादुर उनका कोट, और कभी, इस घटना के लगभग बीस बरस बाद, शिवरानी देवी उनको रुपये देती है जाकर अपने लिए कपडा खरीदने को और वह उस रुपये को ले जाकर प्रेस के मजदूरो में बाँट देते है और खाली हाथ घर लौटने पर बीवी की डाँट खाते है।

---

१ इशारे २ आपके और मेरे बीच ३ लज्जित ४ पुरस्कार ५ स्वीकृत दर ६ रुपये ७ कृतज्ञ ८ नगे पाँव ९ नकद ज्यादा अच्छा है (कहावत)

तबीयत की यह सादगी, यह भोलापन सच्चा है इसीलिए उनकी और निगम साहब की तीस-इकतीस बरस की दोस्ती में कभी फर्क नही पडा बावजूद इसके कि रगड के कई मौके आये जैसे कि किन्ही दो व्यक्तियो के बीच आते है।

ऐसा एक मौका वह था जब कि शायद १९१४ के आरम्भ में, जिस समय उर्दू 'प्रेमपचीसी' छप रही थी और मुशी जी का तबादला बस्ती के लिए अभी नही हुआ था, वह छुट्टी लेकर निगम साहब के यहाँ काम करने पहुँचे। इरादा शायद यह था कि आज़माकर देखा जाय। दौरे की नौकरी में सेहत बराबर गिरती जा रही थी, कैसे इस भाग-दौड से नजात मिले कि घर पर रोटी खा सकें।

लिहाजा वह कानपुर पहुँचे, कुछ हफ्ते काम किया और छुट्टी जब खत्म हुई तो हमीरपुर लौट गये। निगम साहब को यह बात बुरी लगी, उन्होने शायद समझ लिया था कि मुशी जी मुस्तकिल तौर पर काम करने के लिए आ गये। कुछ अजब नही कि मुशी जी ने जोश में आकर इस तरह का कुछ आभास निगम साहब को दिया भी हो, और जब उनके दूसरे मन ने मामले के व्यावहारिक पहलू पर गौर किया हो तो वह भाग खडे हुए हो। बहरहाल, दोस्तो में थोडी रंजिश हुई। निगम साहब ने बिफरकर एक तेज-सा खत लिखा। मुशी जी ने ठडे पानी का छीटा मारते हुए अपनी सफाई दी —

'अताबनामा[1], जिसे आपका इनायतनामा[2] कहना चाहिए, वसूल हुआ। कई दिन हो गये, सोचता रहा किन लफ्जो में जवाब दूँ, कैसे गुस्सा ठण्डा करूँ। कुछ अकल ने काम न किया। न शेर-ओ-शायरी से मस[3] है कि दो-चार बढिया शेर चस्पाँ कर दूं। बिलआखिर दिल ने यही फैसला किया कि तुम खतावार[4] हो। मिज़ाजे यार में जो कुछ आवे, कहने दो और जबान बन्द किये सुन जाओ। यह कहना कि मैं बेखता[5] हूँ, गालिबन आपके नजदीक कोई मानी नही रखता क्योकि आपका गुरूर है कि आपके चद अजीज भी मुलाजिमे सरकार है और आप कवाइद[6] से वाकिफ[7] है। मगर मुआफ कीजिएगा अगर मैं अर्ज़ करूँ कि आपने अपनी उम्र का सबसे बेशबहा[8] हिस्सा मेरी तरह सरकारी मुलाजिमत में सर्फ किया होता तो आप इतनी बेखौफी से यह अल्फाज़ न लिखते। मैंने रुखसत लेने में कोई दकीका[9] नही छोडा। दो दर्खास्ते दी, तार दिया। दर्खास्तें दोनो बाद अज वक्त[10] दी गयी और दोनो मेरे पास रक्खी हुई है। बेशक मैंने मेडिकल सर्टिफिकेट देने की कोशिश नही की लेकिन मुझे वहाँ उसके मिलने की उम्मीद भी न थी। यह इलजाम कि दर्खास्ते क्यो बाद अज वक्त दी गयी मेरे सर ज्यादा से ज्यादा १० से है क्योकि मेरे पहले हफ्तए कयामे कानपुर में तो आपने रोजाना वगैरह का कोई डाइरेक्ट तज-

---

१ क्रोध का पत्र २ कृपापत्र ३ भेंट ४ दोषी ५ निर्दोष ६ नियमो ७ परिचित ८ अनमोल ९ उठा नही रखा १० देर से

फिरा[1] नही किया। जिक्र किया तब जब मेरी रुखसत खत्म होने को आयी, और फैसला उस वक्त हुआ जब कुल तीन दिन रह गये। ऐसी हालत में मेरे जैसे जराये[2] का आदमी बजुज इसके और क्या कर सकता था कि रुखसत लेने की कोशिश बहद्दे इमकान[3] करे और न मिल सके तो मजबूरन व लाचारन अपनी नौकरी पर वापस आ जाये। आप ही फर्माइए, मुझे क्या गरज पडी थी, क्या दबाव था कि मैं पहले काम शुरू कर देता और तब भाग खडा होता ? आपने मेरा गला नही दबाया था और न दबा सकते थे। आपने मुझे किसी सैक्रिफाइस पर मजबूर नही किया, न मैने कोई सैक्रिफाइस की। मेरा माली फायदा था। फिर ऐसा कौन अम्र[4] था जो मेरी बेदिली[5] का बाइस[6] होता ? हमीरपुर में मैं ऐसे वक्त पहुँचा जब मेरी रुखसत तमाम होनेवाली थी। मैं १३ की शाम को चला और इतवार का दिन। डिप्टी इसपेक्टर दौरे पर। गरज हमीरपुर में ऐसा कोई शख्स न था जिससे मै सलाह-मशविरा ले सकता क्योकि हमीरपुर में मेरे जाननेवाले गिनती के आदमी भी नही हैं। यहाँ भागा, और चार्ज लेने मे तब भी एक दिन की देर हो गयी जिसका जवाब मुझको देना पडा। यह है मेरा बयान हलफी।'

और अब मुशीजी उस बात पर आते है जो कि शायद उनके चले आने या भाग निकलने का असली कारण हो —

'अब दूसरे पहलू पर नजर कीजिए। आपको मेरे भाग निकलने पर नाराज होने की जरूरत नही है क्योकि जैसा अखबार आप चाहते है वह कम तनख्वाह और सफो में निकल सकता है और निकल रहा है। एक मामूली सेहत और मामूली लियाकत का आदमी ऐसा अखबार निकाल सकता है जिसमें बहुत-सा ओरिजिनल न लिखना पडे। '

अच्छा तो यह बात है! मुशीजी ने दोस्ती का हक अदा किया है — जो काम कम पैसो में हो सकता है उसके लिए दोस्त पर ज्यादा खर्च का बोझ क्यो डालो ? फिर इसी रौ में २२ मई १९१४ को उन्होने हमीरपुर से कुछ खानगी बातो का हवाला देने के बाद लिखा था —

'अब रही जमाना का कलमदान सँभालने की बात। उर्दू की हवा आजकल बिगडी हुई है। अखबारनवीसी बहुत मुश्किल हो गयी है। जितने मौजूदा रिसाले हैं उनमें किसी को फरोग[7] नही है। सब कुत्ते की जिन्दगी जीते हैं। इन हालात में क्या हौसला हो। इधर १५ साल की मुलाजमत। कुछ दिन और जिन्दा रहूँ तो Invalid पेंशन का हकदार हो जाऊँ। मेरे लिए यही लाइन सबसे अच्छी है, और मुझे यही पड़ा रहने दीजिए। यहाँ आफियत[8] है और गोशानशीनी[9] में ज्यादा काने[10]

---

१ जिक्र, चर्चा २ साधन ३ सामर्थ्य भर ४ बात ५ अनिच्छा
६ कारण ७ उन्नति ८ शान्ति ९ एकान्तवास १० सतुष्ट

रहूँगा। इसी हालत में कुछ तसनीफ[1] का काम भी कर सकता हूँ। अखबार या रिसाला लेकर मैं तसनीफ का काम कुछ न कर सकूँगा। अभी रोज घटा भर लिटरेरी काम करना अच्छा मालूम होता है, लेकिन दिन भर इसी शक्ल में कैसे रहूँगा।'

३ जून १९१४ को, जब कि स्वास्थ्य बहुत गिर चुका है और वह एक तरफ तबादले की कोशिश कर रहे है और दूसरी तरफ छुट्टी की दर्खास्त दिये बैठे है, उन्होने साल भर गुजर जाने पर फिर घडी की फरमाइश की मगर उसी खूबसूरती के साथ —

'अगर आप हिसाबे दोस्ताँ के तौर पर मुझे एक वाच इनायत कर सके तो आजाद की यादगार रहेगी। मगर वह वाच नही जिसके साथ तीन रुपये में सोलह चीजे मिलती है। मजबूत घडी हो जो ज्यादा नही तो तीन-चार साल तक तो साथ दे।'

दोस्ताने के यह तकाजे चलते रहे, कभी थोडा मनमुटाव भी हो गया लेकिन गाँठ नही पडी। झगडे को पोसना न इन्हे आता था न उन्हे, और दोस्ती की नीव पक्की थी।

मुशीजी को गुस्सा आते देर न लगती थी, लेकिन उतरते और भी कम देर लगती थी। मिजाज में एक अक्खडपन सदा से था, और साफगोई की आदत थी। कोई बात नागवार मालूम होती तो फौरन एक खर्रा लिख मारते, लेकिन बस एक नर्म-से खत या एक नर्म-सी बात की देर थी और वह पानी-पानी हो जाते।

२२ मई १९१४ के खत के सात-आठ महीने बाद जब दिसम्बर-जनवरी में छ महीने की छुट्टी लेने की नौबत आयी, तो मुशीजी एक बार फिर अपने उसी पुराने सपने की खोज में कानपुर पहुँचे। लेकिन व्यर्थ।

कानपुर से लौटने पर उन्होने निगम साहब को लिखा —

'आप मेरे यहाँ चले आने से कुछ तरद्दुद में तो नही पडे? बात यह है कि मैने जमाना की मौजूदा हालत को देखकर उस पर ज्यादा बोझ डालना मुनासिब नही समझा। मेरा खयाल था कि उसकी माली हालत में कुछ एस्तहकाम[2] आया होगा मगर जनवरी नबर ने मुझे वहाँ और ज्यादा नही रहने दिया। मेरे चले आने से अगर ज्यादा नही तो तीन सौ रुपये साल की बचत तो हो गयी. '

और अब पत्र को ठेके पर लेकर चलाने की यह अतिम योजना निगम साहब की ओर से पेश हुई।

मुशीजी ने बस्ती पहुँचकर जवाब दिया — 'शरीकदार तो बनने के लिए मै बना रहूँ, मगर जब तक आप नही बनाते, नही बनता। यह शबोरोज[3] की गुलामी किसे पसद है, मगर मआश[4] की सूरत भी तो होना जरूरी है। '

और पन्द्रह रोज बाद, १० अगस्त १९१५ को, एक लबे खत में तफसील से

---

१ लिखने २ स्थिरता ३ दिन-रात ४ जीविका

अपनी शर्तें लिखकर भेजी जिनका साराश यह था कि माली ज़िम्मेदारी सब बद-स्तूर निगम साहब की रहेगी, मुशीजी बिना कुछ लिये-दिये काम करेंगे, जब तक कि जमाना कुछ देने काबिल नही हो जाता। मुशीजी ने लिखा —

'मैंने माली जिम्मेदारियाँ सब आप पर रक्खी है। इसके वजूह[1] सुनिए। मेरे पास इन छ माह की रुखसत के बाद आठ सौ रुपये है। तीन सौ रुपये मैंने तीन असामियो को अठारह फी सदी सूद पर कर्ज दे दिये है। मेरा नकदी सर-माया इस वक्त कुल पाँच सौ रुपया है। इसे मैं उस वक्त तक के लिए खुरश[2] का वसीला[3] समझता हूँ जब तक कि ज़माना से मुझे कोई फायदा न हो — और कौन जानता है उस मुबारक वक्त के लिए कितने दिनो तक इतजार करना पडे।'

गरीब ने अपना सारा कच्चा चिट्ठा खोलकर रख दिया, एक तरह से अपना सभी कुछ दाँव पर लगा दिया, ताहम साझेदारी न हो सकी।

आखिरकार मुशीजी ने झुँझलाकर पहली सितबर को लिखा —

'मैं जो आजिज हूँ, वह मातहती से। काम ऐसा करना चाहता हूँ जिसमें बजुज़ मेरी तबीयत के और किसी का तकाजा न हो। अगर जी में आवे तो रात-दिन करता रहूँ, जी चाहे तो थोडा ही करूँ और यह सिर्फ मालिकाना हैसियत में हो सकता है। साल भर तक ठेके पर काम करना और वह भी हस्बे शराइत[4], और फराइज़[5] का बोझ गले पडा हो — मुशकिल है।'

इस पर शायद निगम साहब ने भी कुछ कहा होगा। उसका जवाब देते हुए मुशीजी ने १४ सितबर १९१५ को लिखा —

'आपने मेरी निस्बत जो कुछ फर्माया है, वह बावजूद सही होने के हमदर्दी से खाली है। हरेक काम जो आप छेडना चाहते है उसमें रुपये की जरूरत पहले ही पडती है। रुपया न आपके पास है न मेरे पास, बताइए काम क्योकर चले। एटर-प्राइज़ खाली जेब से या महज हवाई बातो पर तो नही हो सकती। आप यह तसलीम करेंगे कि इसान को इत्तफाकी[6] जरूरियात के लिए पसमाँदा[7] रखना चाहिए। मेरे पास बस इतना ही है, इतना सरमाया नही जिससे कोई तिजारती मसूबा बाँधा जाय। बस आप मुझसे ईसार[8] का तकाजा करते है। मैं अपने को इस काबिल पाता नही। मेरे पास साठ रुपये माहवार का खर्च लगा हुआ है। वह किसी तरह गला नही छोड सकता। आप कोई ऐसी सूरत बताइए जिससे मै अपनी रोटी हासिल करते हुए एटरप्राइज़ खर्च कर सकूँ ....। मै तो अब की ही रुखसत लेकर आपके यहाँ गया था, मगर रग अच्छा न देखा, माली मुश्किलात नजर आयी। इस वजह से खामखाह उलझना फिजूल समझा। अगर अब आपकी माली हालत

---

१ कारण २ खाने ३ साधन ४ शर्तों के अनुसार ५ दायित्व ६ आकस्मिक ७ बचत ८ त्याग

बमुकाबले साबिक[1] बेहतर हो गयी है तो आप मुझे बुलाइए, मैं हाज़िर हूँगा और बाहमी मशविरे से कोई सूरत निकालेंगे।'

मगर कहाँ, थोडा मनमुटाव जरूर हो गया, सूरत आखीर तक कोई न निकली और सपना सपना ही रह गया।

मुशीजी ने मुदर्रिसी का जुआ गले में डालने के लिए कधे फिर ढीले छोड दिये। और अगर इस लाइन में रहना है तो अपनी काबलियत यानी क्वालिफिकेशन बढाना जरूरी है। २६ जून १९१५ के इस पत्र की पक्ति-पक्ति मे देखिए कैसी निराशा बोल रही है, और उदासी —

'मैने इमसाल इटरमीडिएट का इरादा किया है। मुझे जिन्दगी के तजुर्बे से मालूम होता है कि किसी लिटरेरी लाइन में बगैर ग्रेजुएट हुए कोई उम्मीद नही। इतने दिन किस्सा-कहानी-मजामीन लिखता रहा, लेकिन आज बेरोजगार हो जाऊँ तो कोई ऐसा रिसाला या अखबार नही है जो कलील[2] मुआवजे[3] पर भी मेरा निबाह कर सके। दस-ग्यारह साल तक मैंने रियाजत[4] की मगर कभी फैज[5] न पहुँचा। दो-चार आदमियो के वाह-वाह से जी खुश होता है। मगर महज इतना ही काफी नही है। अब इसी तरह मौके और फुर्सत के लिहाज से कुछ थोडा-बहुत लिटरेरी काम करता रहूँगा, ज्यादा सरगर्मी बाकी नही है। तीन साल की मामूली मेहनत में ग्रेजुएट हो सकता हूँ। बुढापे में आराम मिलने का सहारा हो जायगा, हालाँकि मेरे लिए बुढापे का जिक्र ही फिजूल है, मैं किस बूढे से कम हूँ!'

अब यह बात बिलकुल साफ थी कि नौकरी से छुटकारा मिलना फिलहाल मुमकिन नही। रहना इसी में है।

बस्ती के इलाके से डर मालूम होता था। उससे भी ज्यादा डर मुआइने की नौकरी से लगता था।

मुशी जी ने इलाहाबाद जाकर डाइरेक्टर से मुलाकात की और कहा — बस्ती की आबहवा मेरे माफिक नही है।

डाइरेक्टर ने झल्लाकर कहा — तुम्हे न महोबा की आबहवा पसद न बस्ती की, किस जहन्नुम में भेज दूँ! .. तुम्हारी मास्टरी की जगह चालीस की है, मजूर है?

मुशीजी से यकायक कोई जवाब न बन पडा, पूरे बीस रुपये का घाटा उठाने की सकत न थी। बोले — मुझे सोचने के लिए थोडा वक्त दीजिए।

घर आकर बीवी से राय-बात हुई। तय पाया कि मजूरी लिख दो, लेकिन साथ ही यह गुजारिश कि तनख्वाह पचास दी जाये। मुशी जी ने यही बात लिख दी।

और निगम साहब को इत्तिला दी —

---

१ पहले की अपेक्षा २ थोड़े ३ वेतन ४ अभ्यास ५ लाभ

'कल बस्ती जा रहा हूँ। देखूँ डाइरेक्टर साहब कब तक मास्टरी पर वापस भेजते हैं। बहरहाल, इससे अब तग आ गया हूँ और मास्टरी को इस जिन्दगी पर तर्जीह[1] देता हूँ। सिर्फ तनख्वाह की कमी को शिकायत अलबत्ता है। अगर मुझे पचास रुपये देगा तो बखुशी चला जाऊँगा।'

पचास तो उसने दे दिये, मगर रक्खा वही बस्ती में। चलो, यह भी गनीमत है। घर की रोटी तो मिलेगी खाने को। तनख्वाह भी डेढ महीने बाद फिर साठ हो गयी।

इस बार घर लिया पुरानी बस्ती में, तीन कोठरियो का, कच्चा, खपरैल का घर। किराया चार रुपये महीना। बहुत ही गरीब मुसलमानो की बस्ती थी। जिधर नजर जाती थी वैसे ही उजडे-उजडे कच्चे मकान थे। हर तरफ गरीबी मुँह बाये खडी थी। गलियो में मुर्गियाँ कुडकुडाती फिरती थी।

स्कूल था पक्केपूर। इक्के का किराया एक तरफ का इकन्नी लगता था। दोनो तरफ का दो आना पैसा घर से लेकर रवाना होते थे, और तरकारी-भाजी-मछली के पैसे अलग। छोटीवाली गिरई मछली खाने का जरूरी हिस्सा बन गयी थी। स्कूल से लौटते वक्त रोज खुद ही यह सब सौदा-सुलुफ करते आते। अक्सर टहलते हुए ही घर पहुँच जाते। घर में उन दिनो पति-पत्नी के अलावा एक दो साल की बेटी थी (बडी बेटी नौ-दस महीने की होकर जाती रही थी) और छोटे भाई महताब, जो झाँसी की अपनी पढाई बीच में ही खत्म करके अब फिर बस्ती से इण्ट्रेंस का इम्तहान देने की तैयारी कर रहे थे। चाची लमही रहती थी जहाँ हर महीने उनको दस रुपये भेज दिये जाते थे।

स्कूल के हेडमास्टर भीखनलाल बहुत जालिम मशहूर थे। ज़रा-सी भी ढिलाई उन्हें मजूर न थी। मास्टरो के सर पर एक तलवार-सी लटकती रहती हरदम। मगर मुशी जी बेखौफ अपने तरीके से काम करते रहते।

पढाने का उनका तरीका भीखनलाल को पसद हो या न हो, लडको को बहुत पसद था, जैसा कि वही बस्ती में उनके एक छात्र मुहम्मद इसहाक खाँ ने बतलाया। मुशी जी उनके दर्जे को उर्दू और अग्रेजी पढाते थे। उनके क्लास में जी कभी न ऊबता। यह नही कि कोर्स की पढाई न होती थी, उससे छुटकारा कहाँ, खास बात यही थी कि मुशी जी बीच-बीच में लतीफे भी सुनाते जाते थे। मजे में पैर उठाकर, पलथी मारकर कुर्सी पर बैठ जाते और खूब रस लेकर पढाते। जहाँ उन्हें लगता कि लडके अब कुछ ऊब रहे होगे, बस एक चुटकुला छोड देते और लडके बेतहाशा हँसने लगते। लुत्फ की बात यह थी कि मुशी जी खुद भी पूरी बेबाकी से उस हँसी में शरीक रहते। डिसिप्लिन के खयाल से शायद यह तरीका बहुत ठीक नही था और कुछ अजब नही कि भीखनलाल

१ एक से दूसरे को अच्छा या बढकर समझना

को नागवार भी गुजरता हो, लेकिन मुशी जी को इसमें कोई बुराई नज़र न आती। कोई जरूरी बात है कि पढाई को ज्यादा से ज्यादा नीरस बना दिया जाय ? उनके लडके जी लगाकर पढते थे, हाजिरी उनके यहाँ सबसे अच्छी होती थी, नतीजा अच्छा होता था, और क्या चाहिए। पढाने का ढग वही सही है जिसमें लडके शौक से और दिलचस्पी से पढे। अनुशासन की उनके यहाँ भी कमी न थी — पर वह अनुशासन बेत का नही प्रेम का था, जो कम कठोर नही होता।

मुशी जी के प्राण अपने लडको में बसते थे। अपने और लडको के बीच उन्होने कभी दीवार नही खडी की। उनका सारा वक्त लडको का था। इसी प्रेम की डोर से उन्होने हर लडके को अपने सग बॉध लिया था।

पढना-पढाना और अपना लिखना, यही उनकी सारी जिन्दगी थी, एकदम बँधी-टकी, पूर्ण सयत। खेल-कूद से उन्हे मतलब न था, हाँ मैच देखना अच्छा लगता, खासकर फुटबाल का। डिबेट और ड्रामा वगैरह मे दिलचस्पी लेते, मगर बहुत पेश-पेश न रहते। ज्यादा न उलझना चाहिए इनमें, बहुत वक्त खानेवाली चीजे है। और वक्त की कमी मुस्तकिल थी। पढने-पढाने से जो वक्त बचता वह उनके कलम का था। इसीलिए मास्टरो के आपसी रगडो-झगडो से उन्हे सरोकार न रहता और न तरक्की-तनज्जुली की अनत चर्चाओ में ही कुछ खास रस मिलता। खाली घण्टो में वह शायद ही कभी टीचर्स रूम में मिलते, एक और बडा-सा कमरा था, कॉमन रूम, जहाँ एक लबी-चौडी मेज पर ढेरो पत्र-पत्रिकाएँ पडी रहती। वही चुपचाप बैठे उनके पन्ने पलटते रहते। और जब दोस्तो की सोहबत में आते तो हँसी का एक झरना साथ लिये हुए।

यहाँ पर मुशी जी के एक साथी मौलवी अब्दुस्सत्तार थे। उन्होने भी आगे चलकर नौकरी से इस्तीफा दे दिया था — खिलाफत आन्दोलन के सिलसिले में। वह अभी जिन्दा है और उनका बयान काफी गहरे पैठकर मुशी जी को उजागर करता है —

'दुनिया में ऐसे भी वाकयात पेश आते है जिनकी याद बाकी रह जाती है। शायद सन् १५-१६ की बात है, मै गवर्नमेण्ट हाई स्कूल बस्ती में टीचर था। अचानक स्टाफ में एक नये फर्द[1] का इजाफा हुआ। बद गले का कोट और पाजामा जो न बहुत ढीला न तग, सर पर साफा बॉधे एक हँसमुख चेहरा नमूदार[2] हुआ। यह साहब उस वक्त धनपत राय थे और बाद को प्रेमचद के नाम से आसमाने शोहरत[3] पर आफताब[4] बनकर चमके। उनकी शख्सियत में ऐसी जाजबीयत[5] थी कि ख्वाहमख्वाह दिल खिचा जाता था और यही वजह है कि कितने आये और कितने गये मगर उनकी तसवीर अब तक मेरे दिमाग के सामने उसी तरह मौजूद है गोया

---

१ व्यक्ति २ प्रकट ३ प्रसिद्धि के आकाश ४ सूरज ५ आकर्षण

कि वह अभी कल का वाकया है। मेरा उनका साथ स्कूल में साल डेढ साल रहा होगा। जिस कदर ज़माना गुज़रता गया वह कशिश[1] जो उस शख्सियत के लिए मेरे दिल में पैदा हुई थी, बढती ही गयी। वह आम तौर पर कम-सुखन[2] कम-आमेज[3] देर-आशना[4] थे मगर उनके चेहरे में एक अजीब बात थी। इतहाई सजीदगी और शराफत के बावजूद वह हमेशा हँसते रहते थे। गमो-रज या फिक्रो-अदोह[5] को मैंने कभी उनके करीब नही देखा। ऐसा मालूम होता था कि यह एक ऐसा बालिग-नजर और बुलन्द-खयाल इसान है जिसने दुनिया को 'क्या दुनिया और क्या दुनिया का खसारा[6], क्या पिद्दी और क्या पिद्दी का शोरबा' समझ रक्खा था। अपनी खुददारी और देर-शनासी के बावजूद जो उनसे मिलता था उससे बडे अखलाक[7] और खन्दापेशानी[8] के साथ पेश आते थे और हर मिलनेवाला उनसे हददर्जा मुतास्सिर[9] होता था। इन्तहा दर्जे के नेक थे। किसी के मुआमले में दखलदाज[10] होना उसी तरह उनकी फितरत[11] के खिलाफ था जिस तरह बेकार बैठना, गप लडाना या और तरीको से वक्त जाया[12] करना। उनके नजदीक जिन्दगी के हर लमहे की कीमत थी। अपनी ड्यूटी बडी तनदिही[13] और फर्ज-शनासी[14] से अजाम देते थे और उससे फारिग होते ही खामोशी से कुछ लिखने-पढने में लग जाते थे। अगर्चे उनकी नस्र-निगारी[15] उस वक्त भी मशहूर हो चुकी थी मगर उन्होने कभी अपनी ज़बान से उसका तजकिरा नही किया और न किसी इशारे-कनाये से ज़ाहिर होने देते थे कि वह फने अदब[16] में कोई खास दस्तगाह[17] रखते है। खाकसारी और मुनकसिर-उल-मिजाजी[18] उनकी तीनत[19] थी। उनसे मिलने और उनके साथ रहने से एक ऐसे इसान का तखैयुल[20] कायम होता था जो अपनी ज़िन्दगी किसी बुलन्द नजरिये के लिए वक्फ[21] कर चुका हो और जिसकी तकमील[22] के लिए हयात का एक-एक लमहा कीमती समझकर मुकम्मल[23] इनहमाक[24] और पूरी लगन के साथ मसरूफे-कार[25] हो। जमाने ने यह बात बाद को साबित की जो हममें से बहुत से लोग उसी वक्त समझ चुके थे कि वह एक अजीमुश्शान[26] इसान होगे।'

स्कूल छूटते ही मुशी जी अपना झोला लिये हुए रवाना हो जाते और रास्ते में सब्जीमण्डी से फल-तरकारी, अडा-मछली-पान, ज़रूरत की सब चीज़े खरीदते हुए घर जा पहुँचते। यह रोज का धधा था और उनका मनपसद काम। अपने

---

१ आकर्षण २ कम बोलनेवाले ३ कम मिलनेवाले ४ देर में हिलने-मिलनेवाले ५ चिन्ता-दुःख ६ नुकसान ७ सज्जनता ८ हँसमुखपन ९ प्रभावित १० हस्तक्षेप करना ११ प्रकृति १२ बर्बाद १३ परिश्रम १४ कर्तव्यबोध १५ गद्य-लेखन १६ साहित्य-कला १७ स्थान १८ विनयशीलता १९ स्वभाव २० कल्पना २१ समर्पित २२ पूर्ति २३ पूरी २४ लगन २५ काम में लगा हुआ २६ गौरवशाली

घर का काम करने में शर्म कैसी ? शर्म दूसरे का मुहताज बनने में है। अपने बच्चों में भी वह यही बात डालने की कोशिश करते थे। अपने छोटे-मोटे कामो के लिए किसी का अपने नौकरो के भरोसे बैठना उन्हे फूटी आँख न सुहाता था। अपने जीवन के अंतिम अध्याय में जिस समय मुशी जी बबई में थे, और उनके लडके इलाहाबाद में रहकर पढ रहे थे, उनमें कुछ दिखावटी ठाट-बाट की शानजमाऊ प्रवृत्ति देखकर मुशीजी ने एक बार काफी झिडकी के स्वर में बबई से लिखा था — Don't try to play the big man's son (यह दिखलाने की कोशिश मत करो कि तुम बडे रईसजादे हो .)

इन्ही बस्ती के दिनो की दो-तीन मनोरजक घटनाएँ शिवरानी देवी ने बयान की है जो मुशी जी के व्यक्तित्व पर अच्छी रोशनी डालती है। पहली घटना स्कूल के जालिम हेडमास्टर भीखनलाल साहब से ताल्लुक रखती है जिनसे लोग थरथर काँपते थे।

● एक दिन की बात है। कुआर का महीना था। हथिया बरस रहा था। मकान गिर रहे थे। रह-रहकर हुम्म की आवाज सुनायी पडती। हम चार आदमी साथ ही एक मकान में बैठे थे कि मकान गिरेगा तो फिर जो कुछ होगा हम साथ ही खतरा उठायेगे। दूसरे रोज किसी तरह पानी निकला। आप स्कूल गये।

हेडमास्टर बोला — कल आप क्यो नही आये ?

— साहब, उधर पानी बहुत तेज था।

— क्या आप नमक थे जो गल जाते ?

— मै नमक तो नही था, हाँ, मेरे पडोस के मकान गिर रहे थे, मुमकिन है, मेरा मकान भी गिर पडता।

— क्या आप रहकर उसे गिरने से रोक लेते ?

— रोक तो नही सकता था, हाँ, साथ मर सकता था। ●

ऐसे बेहूदा सवालो का जवाब जिस तरह देना चाहिए था, उसी तरह मुशी जी ने उनका जवाब दिया। होगा जो होगा।

लेकिन अपने दैनिक आचरण में यह आदमी बहुत-सी बातो में दब्बू भी कहा जा सकता है।

● एक बार की बात है, मै बस्ती जा रही थी। आप बीमार ही थे। रात का समय था। पेट भारी था। हम तीन आदमी थे। गाडी में भीड़ बहुत थी। उनके लिए मैने बिस्तर लगा दिया। वे लेटे हुए थे। लडकी भी सोयी हुई थी। दो मुसाफिर आये। बोले — औरो को बैठने की जगह नही, पर ये सो रहे है !

मैने कहा—तुम भी कही बैठ जाओ।

— उनको उठा दो।

— उनकी तबीयत अच्छी नही है।

— जब तबीयत ठीक नही थी तो चले क्यो थे ?

— बकबक मत करो ।

— गाडी का किराया तुम्ही ने दिया है ?

— अच्छा, जहाँ तुम्हे जगह मिले वहाँ बैठो ।

— इन्हे उठाकर बैठेंगे ।

— उठाओ, मैं जरा देखूं तो !

वह आगे बढा । मुझे क्रोध आया । मैंने कहा — खबरदार, अगर आगे हाथ बढे तो गाडी के नीचे झोक दूँगी !

हम दोनो की बातो से उनकी नीद खुल गयी और उन्होने हडबडाकर उठना चाहा । मैंने कहा — आप क्यो उठते है ?

आप बोले — उठ जाने दो, क्यो लडाई करती हो ?

मैंने कहा — इन गधो से सीधे काम न चलेगा। ये इसान नही, हैवान है। ये जोर दिखाना चाहते है, मै इन्हे झोक दूँगी !

जब उन लोगो ने मुझे क्रोध में देखा तो दबकर खडे रहे । वे लोग कई स्टेशन तक खडे-खडे ही गये । जब वे गाडी से उतर गये तो मुझसे बोले — तुम बडी दिलेर हो। मेरी हिम्मत इस तरह धमकी देने की न पडती ●

जो कि बिलकुल सही बात है । शरीर कमजोर था, गम खाकर झगडा बचा जाना ही ठीक समझते थे । लेकिन वहाँ नही जहाँ अपनी इज्जत पर, आबरू पर, मरजाद पर हमला हो रहा हो। जैसी कि एक घटना वही बस्ती में लगभग उन्ही दिनो हुई। इस बार सफर रेल का न होकर स्टीमर का था। शिवरानी देवी लिखती है —

● एक बार की बात है, मै बस्ती से इलाहाबाद जा रही थी। मेरी गोद में बेटी कमला सवा साल की थी । सरजू पार करना था। स्टीमर में हम बैठे थे । ऊँची बेंच पर आप थे। नीचे उनके पैरो के पास मैं थी। वे लडकी को लेकर ऊँची बेंच पर थे। किसी महाशय से बाते कर रहे थे। इतने में बीस-पच्चीस वर्ष का एक नवयुवक आया । वह जैसे-जैसे मेरी तरफ बढ रहा था, वैसे-वैसे मै आपके पैर के पास खिसकती जा रही थी । अब मैने देखा तो वह बिलकुल करीब था । आपका पैर दबाकर मै बोली — आप इस बदमाश को देख नही रहे है, मेरी तरफ बढा आ रहा है ।

उस बदमाश की हरकत देखकर आपको भी क्रोध आया। बच्ची को मेरी गोद में देकर उसकी गर्दन पकडकर काफी दूर तक ले गये। बोले—सरजू मे झोक दूँ ?

युवक — मैंने क्या गुनाह किया है ? मैं तो खडा था।

'खडे होने की वहाँ गुजाइश थी, जहाँ तुम खडे थे ? स्त्रियों के सिर पर खडे होते हो ? अगर दुबारा जबान निकाली तो अभी झोक दूँगा सरजू में।'

उन्हे अत्यन्त क्रोध में जान, हाथ पकडकर खीच लायी। उस समय आप क्रोध के मारे काँप भी रहे थे। ●

सफर की ये दोनो घटनाएँ परस्पर-विरोधी सी जान पडती है। मगर है नही, गौर से देखने पर। पहली बार उनका नैतिक पक्ष दुर्बल था क्योकि उन्ह सचमुच लेटने का हक नही था, दूसरी बार उनका नैतिक पक्ष सबल था क्योकि स्पष्ट ही वह बदमाश उनकी पत्नी को छेड रहा था और प्रतिकार जरूरी था, औरत की आबरू मर्द की धरोहर होती है। उसमें फिर आगा-पीछा कैसा ?

महोबे में सेहत जो टूटी तो टूटी ही रह गयी। बस्ती का यह दो साल का रहना लबी-लबी छुट्टियो और इलाज में ही निकल गया। जब से दौरो को छोड-कर स्कूल मे आ गये थे, तबीयत कुछ सँभली जरूर थी लेकिन कुछ ही। लिखना-पढना बन्द-सा था। इन दो सालो में मुशकिल से आधा दर्जन कहानियाँ लिख पाये थे, पर हाँ उनमे से दो उनकी बेहतरीन कहानियो मे से है — 'मरहम' जो हिन्दी में 'विस्मृति' के नाम से छपी है और 'पचायत' जिसका नाम आचार्य द्विवेदी ने 'सरस्वती' में कहानी छापते समय बदलकर 'पच परमेश्वर' कर दिया था।

सेहत की ऐसी हालत में इण्टरमीडिएट का इम्तहान भी बडा जानलेवा था। तो भी इम्तहान तो देना ही था — उसके बगैर आगे की सब राहे बद थी।

टूटता हुआ शरीर, पैसे की तगी, बाल-बच्चे, फिक्रें मारे डालती थी। हर तरफ हाथ-पैर मार रहे थे। जब कुछ न हुआ तो लाटरियो में भी कई बार किस्मत आजमायी — और शायद अपने उन्ही नाकाम तजुर्बो की कहानी बरसो बाद खूब चटखारे ले-लेकर 'लाटरी' में सुनायी।

जब उसमें भी तकदीर न खुली तो मुशी जी का खयाल एक और स्कीम की तरफ गया, जिधर यो शायद न जाता — गवर्नरो की चौसठपेजी जीवनियाँ लिखने की तरफ।

कुछ हेठा-सा ही काम था, अग्रेज गवर्नरो की जीवनियाँ लिखना, लेकिन जैसा कहते है, मजबूरी का नाम सब्र है।

मन की बहुत गिरी-पडी हालत में मुशी जी ने १६ दिसबर १९१५ को निगम साहब को लिखा — 'हम लोग बखैरियत है। चाची बनारस, बाकी तीन आदमी यहाँ। बाल-बच्चे न हुए, न उम्मीद न आरजू। जिम्मेदारियो के खयाल से तबीयत घबराती है। मैं समझ ही नही सकता कि अगर आज मेरे दो-तीन लडके होते तो उन्हे क्या खिलाता और कैसे रखता .

ताहम जिन्दगी के तकाजो से छुटकारा कहाँ, मुशी जी एफ० ए० के इम्त-हान की तैयारी में लगे थे। आसान परीक्षा नही थी यह। चित्त को एकाग्र कर पाना स्वय एक परीक्षा थी। दियासलाई-लालटेन बराबर सिरहाने रखी रहती,

रातो को जाग-जागकर मुशी जी छत्तीस साल की उम्र में इण्टर का अपना कोर्स पूरा करने में लगे रहते।

मार्च १९१६ में उन्होने अग्रेज़ी साहित्य, फारसी, तर्कशास्त्र और आधुनिक इतिहास में इण्टर की परीक्षा दी और सेकड डिवीजन में पास हो गये। इण्ट्रैन्स के पूरे अठारह बरस बाद।

अपनी इसी दिमागी परेशानी और छटपटाहट की हालत में मुशी जी का ध्यान पहली बार बहुत जोरो के साथ हिन्दी की ओर गया। उर्दू अख़बारो से आमदनी कुछ ख़ास नही थी, किताबो का हाल भी बुरा था। 'जलवए ईसार' से साल भर में तीस रुपये मिलते थे और 'प्रेम पचीसी' छपकर तैयार होते-होते महायुद्ध शुरू हो गया था जब कि मुशी जी के शब्दो में, जग की धुन में शायद ही किसी को किस्से-कहानी का शौक हो। और मुशीजी का यह डर बिलकुल सही निकला।

उर्दू की यह हालत कुछ आज की नही थी, एक अर्से से मुशी जी देखते आ रहे थे, और जाने-अनजाने हिन्दी की तरफ उनका झुकाव बढता जा रहा था। ६ फर्वरी १९१३ को उन्होने निगम साहब को लिखा था—'आप मुझे अपने हिन्दी डिपार्टमेण्ट का एडीटर समझिए। मै अख़बारात और रिसालो से मुनासिब और दिलचस्प तर्जुमे कर दिया करूँगा। कही-कही उन पर नोट और तनकीद लिखूँगा। हिन्दी शोअरा की दिलचस्प और मुख्तसर सवानेहउम्रियो का सिलसिला भी दूँगा।'

भारतेन्दु, केशव, बिहारी वाले लेख, जिनसे इन कवियो के जीवन और साहित्य का परिचय मिलता है, इसी सिलसिले की कड़ियाँ है।

कालिदास की कविता पर एक लबा लेख (जो 'ऋतु सहार' के मुशी प्यारेलाल शाकिर-कृत उर्दू पद्यानुवाद 'अकसीरे सुख़न' की भूमिका है) और 'मेघदूत' और 'विक्रमोर्वशी' के उर्दू पद्यानुवादो की लबी समीक्षाएँ भी इसी समय, इसी प्रवाह में लिखी गयी और इन सबका उद्देश्य एक ही है—हिन्दी-सस्कृत की परम्परा से उर्दू पाठको को परिचित कराना। मुशी जी इसकी सख्त जरूरत समझते है क्योकि उनका दृढ विश्वास है कि उर्दू का पौदा तब तक यहाँ नही लहलहा सकता जब तक वह इसी देश की मिट्टी से, हवा-पानी से अपनी ख़ूराक लेना नही सीखता। कहते है—

● अब इस बात को सिद्ध करने के लिए ज्यादा दलीलो की जरूरत नही है कि वह नशे-का सा असर जो सस्कृत कविता हमारे दिलो पर पैदा करती है, किसी दूसरी भाषा की कविता की सामर्थ्य से परे है, विशेषतया उर्दू कविता के, जिसकी उपमा उन पौधो से दी जा सकती है जो अक्सर बागो में बनावटी जिन्दगी बसर करते नज़र आते है—मुर्झाये हुए पत्ते, निर्जीव पीला रग, सिमटी हुई शाखें, न फल न फूल। फारस का पौधा हिन्दोस्तान में लगाया गया, न वह

जमीन न वह आबहवा, देखने से आँखो को ताजगी होती है न दिल को खुशी। ..
देखिए कालिदास वर्षा ऋतु में शहद की मक्खियो का शहद जमा करना किस नर्मी और खूबसूरती से दिखाता है —

तलाशे शह्‌द में है मक्खियाँ सुबुक परवाज़
मगर मिजाज में ये सादगी के है अदाज
कि नाचते कही आते है जब नजर ताऊस
फिजाए दश्त में फैलाये बाल-ओ-पर ताऊस
तराने गाती हुई जब करीब आती है
कँवल के फूलो के धोखे में बैठ जाती है
महक रही है हवा केतकी के फूलो से
बसी हुई है सबा केतकी के फूलो से
हर एक रविश पे है जमघट परीजमालो का
अजब बनाव है फूलो के गहनेवालो का
चमन मे करती हुई सुब्हदम गुल अफशानी
लचक लचक के है पौदो को दे रही पानी
कही कदम के दरख्तो पर छा रही है बहार
हरे हरे किसी जानिब है नीम के अशजार

सरो, शमशाद, और सनोवर के मुकाबले में कदम्ब और नीम और केतकी कैसे अपने जान पडते है। ●

और फिर अगस्त १६१४ के अपने इसी लेख के अत में मुशी जी ने लिखा — काश उर्दू के कवि मौलाना शरर की तरह समझते कि इन कविताओ की नयी उपमाएँ और नयी बदिशे उर्दू लिटरेचर के लिए अग्रेजी और फारसी लिटरेचर की लेखन-शैली से अधिक उपयुक्त है तो आज उर्दू शायरी को इतने ताने न मिलते और उसे इतना बुरा-भला न कहा जाता।'

यही वह जमाना है जब मुशीजी की जान-पहचान 'प्रताप' की बदौलत पडित मन्नन द्विवेदी गजपुरी से हुई। धीरे-धीरे इस जान-पहचान ने आत्मीयता का रूप ले लिया और कुछ अजब नही कि मुशी जी को हिन्दी की ओर खीचने में गजपुरी जी का भी काफी हाथ रहा हो। वैसे मुशी जी खुद ही परिस्थितियो से विवश होकर हिन्दी की ओर आ रहे थे। २२ मई १६१४ को उन्होने निगम साहब को लिखा ही था जैसा कि हम पहले देख चुके है —

'उर्दू की हवा आजकल बिगडी हुई है। अखबारनवीसी बहुत मुशकिल हो गयी है। जितने मौजूदा रिसाले है उनमें किसी को फरोग नही है, सब कुत्ते की जिन्दगी जीते है।'

फिर ४ सितबर १६१४ को लिखा —

'प्रताप के इसरार से मजबूर होकर एक मुख्तसर-सा किस्सा हिन्दी मे उसके विजयदशमी नबर के लिए लिखा है। हिन्दी लिखनी तो आती नही मगर कुछ कलम तोड-मोड दिया है।'

साल भर और गुजरा और १ सितबर १९१५ को मुशी जी ने जैसे अपने निश्चय की सूचना निगम साहब को देते हुए लिखा —

'अब हिन्दी लिखने की मश्क भी कर रहा हूँ। उर्दू में अब गुजर नही है। यह मालूम होता है कि बाल मुकुन्द गुप्त मरहूम की तरह मै भी हिन्दी लिखने में जिन्दगी सर्फ कर दूँगा। उर्दूनवीसी में किस हिन्दू को फैज हुआ है जो मुझे हो जायगा।'

काहे की ठेस लग गयी थी मुशीजी को जो यह आखिरी जुमला उनके कलम की नोक पर उतर आया ? कही हिन्दुत्व की इस विशेष गध के पीछे उनके तत्कालीन आर्यसमाजी मन का सस्कार तो नही है ?

'सोजे वतन' (१९०८) देशप्रेम का पहला उबाल था। उसकी पृष्ठभूमि में बग-भग विरोधी स्वदेशी आन्दोलन था जिसने हिन्दुओ और मुसलमानो दोनो को अपनी तरफ खीचा था।

१९१२ में 'जल्वए ईसार' आया जब कि मुशी जी हमीरपुर में थे और बाकायदा आर्यसमाज के सदस्य थे। राष्ट्रीयता की भावना उसमें भी लहरें मार रही है पर वह हिन्दू राष्ट्रीयता है। तब तक के विकास की शायद वही सीमा-रेखा है। बहुत से लोग तो अत तक उस रेखा को नही लाँघ सके। मुशी जी ने लाँघा और अच्छी तरह लाँघा लेकिन आगे चलकर। अभी तो 'जल्वए ईसार' के बालाजी की पूरी कल्पना एक हिन्दू सन्यासी की है जिसके समस्त सस्कार, आचार-विचार हिन्दू है, यहाँ तक कि गोरक्षा भी मौजूद है — वैसे ही जैसे तिलक भी गोहत्या-निरोधिनी-सभा बनाना नही भूले।

लेकिन यहाँ पर यह भी याद रखना ठीक होगा कि 'सोजे वतन' और 'जल्वए ईसार' के बीच मिण्टो-मॉर्ले रिफार्म्स है जिन्होने पृथक् निर्वाचन के सिद्धान्त को मान्यता देकर, हिन्दुओ और मुसलमानो को भारतीय राजनीति मे पहली बार स्पष्ट रूप से दो शिविरो में बाँट दिया।

बगाल में तो वोट नही भूमि ही बाँट दी गयी थी, पर तो भी दिलो को नही बाँटा जा सका और बगाल के सयुक्त हृदय ने विद्रोह कर दिया।

इस बार वैसा कुछ भी नही हुआ, और होता भी कैसे। १९०७ के सूरत अधिवेशन के बाद काग्रेस पूरी तरह नरमदली लोगो के हाथ में आ गयी। तिलक को १९०८ में पकडकर बर्मा भेज दिया गया। सघर्ष का स्वर दब चला। पहले के सचित वेग से धारा डेढ-दो बरस जैसे-तैसे बहती रही, और फिर रुक गयी . ..

छोटी-छोटी तलैयो में बिखरकर ठहरा हुआ पानी सडने लगा। फिर वह भी

सूख गया और जमीन का सीना दरक गया। गौर करने की बात है कि मिण्टो-मॉर्ले रिफार्म्स जब १९१० में आये तो उनके विरोध में कही कुछ नही हुआ, किसी तरह की कोई हरकत नही हुई, दरार वैसी की वैसी बनी रही।

यही दरार मुशी जी के इस खत में भी बोल रही है जो उन्होने शायद सन् १२-१३ में हमीरपुर से निगम साहब को उनके प्रस्तावित साप्ताहिक 'आजाद' के बारे में लिखा था —

"नाम 'हिन्दू' बहुत मौजूँ था मगर शायद इस नाम का कोई पर्चा पजाब में निकलने लगा है अखबार का नमूना 'कामरेड' ही हो। पॉलिसी हिन्दू। अब मेरा हिन्दुस्तानी कौम पर एतकाद नही रहा और उसकी कोशिश फिजूल है . "

लेकिन न्याय कर सकने के लिए यह भी समझना जरूरी है कि यह मन की केवल एक वृत्ति है, सहज अविवेकी प्रतिक्रिया किसी एक सामाजिक स्थिति की; वह मुशी जी का सपूर्ण मन नही है। होता तो आगे का इतिहास कुछ और ही होता। और तो और, मौलाना मुहम्मद अली और उनके 'हमदर्द' के साथ मुशी जी का जो आत्मीय सबध इन्ही दिनो स्थापित हुआ, वह भी शायद न हो पाता। मौलाना मुहम्मद अली सन् १४ में नजरबद किये गये। उसके पहले मुशी जी की बराबर उनसे खत-किताबत रही। मौलाना उनकी कहानियाँ बहुत पसद करते और हर कहानी के लिए एक गिन्नी मखमल की डिबिया में रखकर मुशी जी की नजर करते।

इनसे जाहिर है कि यह 'हिन्दूपन' मुशी जी के मन की केवल एक वृत्ति थी, एक उलझी हुई परिस्थिति की छाया — कुछ वैसी ही चीज जैसी, सुनते हैं, उनकी कहानियाँ पढकर प्रसिद्ध इस्लामी विचारक और इतिहासकार मौलाना शिबली नोमानी के साथ होती थी जो एक तरफ तो उन कहानियो को पढकर सिर धुनते थे और दूसरी तरफ बहुत उदास होकर कहते थे — हिन्दोस्तान के पाँच करोड मुसलमानो में कोई ऐसा क्यो नही है जो प्रेमचद की जबान लिख सके

११

अगस्त की अठारह तारीख, शाम के पाँच बजे, बीमारी से टूटे हुए लागर प्रेमचद, अपनी खटिया-मचिया, बर्तन-भाँडे समेत, अपनी तीन बरस की बेटी कमला और पत्नी के साथ बस्ती से गोरखपुर पहुँचे।

क्वार्टर एक रोज बाद खाली होने वाला था। लिहाज़ा उनका अपना इरादा अगले रोज ही रवाना होने का था। सफर के नाम से यो ही उनकी जान पर बनती थी और फिर इस वक्त तो बाल-बच्चो के साथ पूरी गिरस्ती समेत सफर था।

लेकिन बीवी सब तैयारी कर चुकी थी और उन्हे उसो रोज रवाना हो जाना पडा। पर दिल में बराबर डर लगा हुआ था कि रात को कही कोई बात न हो।

और वही हुआ जिसका डर था। वही, उसी बरामदे में, जहाँ उस रात उन्हे ठहराया गया था उनके बडे लडके धुन्नू (श्रीपत) के आगमन की तैयारी हो गयी। रात का वक्त, नयी जगह, न किसी से जान न पहचान, न दाई का पता न डाक्टर का, खासी मुसीबत का सामना था — लेकिन जिस अपनपौ से दूसरे मास्टर लोग पेश आये, उसके कारण कोई तकलीफ नही हुई और सब कुछ बहुत आसानी से हो गया। एक साहब ने बडी मुहब्बत से उन्हे ले जाकर खुद अपने घर में ठहरा दिया था। नयी जगह के इस पहले ही परिचय से मुशी जी का मन कृतज्ञता से भर उठा। धीरे-धीरे मुशी जी पर यह बात खुली कि इस अपनपौ के पीछे जहाँ सब लोगो का एक साथ रहना-सहना था वहाँ हेडमास्टर बेचनलाल का व्यक्तित्व भी था।

बेचनलाल उतने ही स्नेही थे जितने बस्ती के भीखनलाल रूखे। बेचनलाल को सबके साथ घुलमिलकर रहना अच्छा लगता था, भीखनलाल अपने और मातहतो के बीच एक दीवार खडी रखते। दिल जैसा भी हो, अफसरियत उनमें कूट-कूटकर भरी थी। एक ही मत्र उन्होने सीखा था जीवन में — कठोर अनुशासन। हरदम उसी का डण्डा घुमाया करते। बेचनलाल दिल के नेक भी थे और मुँह के मीठे भी। अनुशासन का हाल उन्हे बस इतना पता था कि सब को जी लगाकर काम करना चाहिए, ड्यूटी में कोताही न करनी चाहिए — और विश्वास करते थे कि ऐसा ही होता होगा। अगर और किसी कारण से नही तो उनके इसी सरल विश्वास के कारण लोग काफी जी लगाकर काम करते भी थे।

मुशी जी की नियुक्ति बेचनलाल के नीचे, सेकड मास्टर के रूप में साठ रुपये पर हुई थी। खुली तबीयत के एक आदमी को अपने ही जैसा दूसरा मिल गया। और दोनो की चूल शुरू से ही अच्छी बैठ गयी। उन्ही की कृपा से छ महीने के अन्दर ही दस रुपये की तरक्की भी हो गयी — इलाहाबाद से एक महीने की फर्स्ट एड की ट्रेनिंग लेकर लौटने पर, जिस के लिए बेचनलाल साहब ने मुशी जी को चुना और उनकी बीवी की बीमारी के बावजूद, जिद करके भेजा। इसके बाद साल-डेढ साल और बीतने पर मुशी जी को बोर्डिंग हाउस का सुपरिण्टेण्डेण्ट बना दिया गया। उससे और भी पन्द्रह रुपये महीने की तरक्की मिल गयी।

मुशी जी खुश थे, काफी खुश। हेडमास्टर नेक। साथी मास्टरो में भाई-चारा। लडके स्नेही, आज्ञाकारी। और फिर जगह भी कितनी अच्छी थी। आने के साथ जी को भा गयी थी। छ महीने पहले जब एक बार एक दिन के लिये आये थे तब भी मन ललचा उठा था।

पुरानी बस्ती के उस गुजान मुहल्ले के बाद पचीसो एकड जमीन में फैला हुआ यह नार्मल स्कूल चीज ही और थी। एक तरफ ईदगाह का बडा-सा मैदान, दूसरी तरफ कलक्टर साहब का बँगला। मगर सब दूर-दूर। स्कूल का अपना अहाता पचीसो एकड का था। स्कूल, बोर्डिंग सब कुछ उसी के अन्दर। कहाँ मिलती है ऐसी जगह। साँस लेते दम घुटता था वहाँ — सँकरी-सँकरी सी गलियाँ, गिरते-पडते पुराने मकान, एक पर एक चढे हुए। और अब ? पूरी बादशाहत समझो। जितनी चाहो खुली हवा, मस्त धूप। वाकई बडी सेहतमद जगह है। बच्चो को खेलने-कूदने का भी बडा आराम है। किसी बात का डर नही। चोर-चहरी से भी नजात मिली। अलग ही एक छोटी-सी दुनिया है। शहर के पास भी और दूर भी। जाना हो तो उर्दू बाजार मुश्किल से दो फर्लांग और न जाना हो तो कभी न जाइए, हमें मतलब ही क्या बाकी दुनिया से।

गोरखपुर उसके लिए नयी जगह नही है। यहाँ के एक-एक गली कूचे से वह परिचित है। बचपन के कई बरस उसने यहाँ बिताये है। आवारागर्दी भी खूब की है। तलिस्मे होशरुबा और हरमसरा के किस्से भी यही पढे और सुने हैं। बाले मियाँ के मैदान में पतगो का लडना भी घण्टो यही देखा है और तरस-तरसकर रह गया क्योकि खुद पतग उडाने के लिए पास में पैसे नही थे। जिन्दगी की पहली सिगरेट भी तेरह साल की उम्र में उसने यही पी है। बाजारू लडको के साथ गन्दी बातचीत के मजे भी उसने शायद यही पहली बार उठाये हो। अंग्रेजी पढाई भी उसकी यही शुरू हुई थी — रावत पाठशाला में। रावत पाठशाला नार्मल स्कूल से लगा हुआ है। लेकिन तब यह नार्मल स्कूल नही था। तब तो यहाँ बस एक बीहड मैदान था। रात को इधर से निकलते डर लगता था। किसी पेड पर कोई भूत रहता था

किसी पर कोई ब्रह्मपिशाच — और किसी पर कोई चुडैल । रात को इधर से कोई निकलता थोडे ही था । हाँ, दिन की धमाचौकडी के लिए यह मैदान अच्छा था ।

गोरखपुर के साथ उसकी न जाने कितनी कडवी-मीठी स्मृतियाँ जुडी है । यही से आठवी पास करके वह अपने पिता के साथ बनारस गया था । फिर नवी में उसका नाम लिखाया गया । फिर उसकी शादी कर दी गयी । फिर पिता जी नही रहे । और भी न जाने क्या-क्या हुआ । अब फिर घूम-फिरकर वह इसी गोरखपुर में आ गया है । अच्छी-बुरी बहुत-सी स्मृतियाँ है पर उसको अच्छा लग रहा है यहाँ आकर, बहुत अच्छा लग रहा है । शरीर और मन दोनो से कुछ हलका ।

हाँ, घर में जरूर आये दिन बीवी की खटपट चाची से हो जाया करती है । कभी चाची मुँह में अपनी गुडगुडी दबाये आकर बहू का रोना रोने लगती है कभी बीवी नाराज होकर कोपभवन में जा बैठती है । हर रोज कुछ-न-कुछ लगा रहता है । बडी साँसत में जान फँसी है । सब कुछ तो करके हार गया । कभी एक की बात ठीक मालूम होती है और कभी दूसरे की । अकल चकरा जाती है । इन लोगो को तो वकील होना चाहिए था — कितनी खूबसूरती से अपना मुकदमा पेश करती है ! समझ में नही आता किसका न्याय है और किसका अन्याय । कभी एक को समझाता हूँ कभी दूसरे को मगर कोई जैसे अपनी जगह से हिलने को तैयार नही है । आपने समझा बातकी सफाई हो गयी, उधर फिर कोई नया झगडा तैयार । क्या करे आदमी ऐसी हालत में । कोई तदबीर काम नही करती । बहुत बार वह चाची के पच्छ को गलत जानकर भी उन्ही का साथ देता है, अगर और किसी लिए नही तो सिर्फ इसलिए कि वह बडी है, बुड्ढी है और बुड्ढो के स्वभाव में हठ की मात्रा अकसर बढ जाया करती है । लेकिन उस सबसे भी बात कुछ बनती नही । दिल जब दोनो तरफ से फट गया हो ।

लेकिन वह भी तो अब पुरानी बात हो गयी है । इन झगडो को झेलते-झेलते अब वह थेथर हो गया है । वह भी एक स्थितप्रज्ञता है अपने ढग की । जीने का कुछ तो उपाय करना होगा — या डूब मरे इसी दलदल में ? चाची जैसी है, हैं । अब उन्हे बदला नही जा सकता । लेकिन बीवी का मिजाज बदलना भी तो खेल नही है । वह घमण्डी है, गुस्सैल है, मुँहफट है । न होती तो ज्यादा अच्छा होता लेकिन ऐसा फरिश्ता कहाँ मिलता है । ऐब तो सभी में होते है । शासनप्रियता जरूरत से ज्यादा है इसके स्वभाव में । उधर चाची अपना एक भी अधिकार छोडने को तैयार नही है । सारे झगडो की जड यही है । खूब समझता है वह इस बात को, लेकिन करे क्या ? बहू अपने घर में अधिकार कैसे न जमाये । जो कुछ वह करती है सब इसीलिए न कि घर की व्यवस्था ठीक हो जाय और हरदम की पैसे की चिन्ता से छुटकारा मिले ? अच्छा ही है, नही तो आदमी इसी में दफन होकर रह जाय । कुछ काम कर सकने के लिए जरूरी है कि रोज-रोज़ के खर्चों की चिन्ता से

आदमी को मुक्ति मिल जाय। मन ही मन वह बहुत ऋणी है अपनी पत्नी का। लेकिन खूबसूरती सब को साथ लेकर निवाह करने में है। इसीलिए समय बीतने के साथ-साथ वह इन झगडो से अब बिलकुल अलग-थलग रहने लगा है। तो भी इसान ही है। मिजाज उसका भी तेज है। गुस्सा जल्द आ जाता है। कभी झुँझना भी पडता है, बरस भी पडता है। और फिर अपने काम में जुट जाता है। वही उसको असल मुक्ति है, निर्वाण है। कर्म ही जीवन का सच्चा उल्लास है, यह सत्य उसके भीतर बहुत पहले से बैठ चुका है। सुखी रहना चाहते हो तो डटकर काम करो, दिन-रात काम करो। इसलिए सास-बहू के ये झगडे अब उसको बहुत नही छूते।

लेकिन एक रोज़ उन्हे चाची पर सचमुच गुस्सा आया। महताब स्कूल लीविंग के इम्तहान में दूसरी बार फेल होने के बाद टाइपिंग और बुककीपिंग सीखने एक साल के लिए लखनऊ चले गये थे। मुशी जी हमेशा की तरह वहाँ भी उनको बराबर खर्च भेजते रहे।

साल भर बाद जब टाइपिंग सीखकर गोरखपुर लौटे तो एक रोज मुशी जी को चाची की बातचीत में कुछ इस तरह का रुख-तेवर दिखायी दिया, ऐसी कुछ गध मिली कि जैसे उनके खयाल में वह अब अपने छोटे भाई की कमाई में हिस्सा बँटाने का इरादा रखते हो! इस पर मुशी जी गुस्से से पागल हो गये और उनकी जोरदार झडप चाची से हुई। यह उनके ज़िन्दगी भर के किये-धरे पर पानी फेरने की बात थी, बडा ही क्रूर आघात जिसे वह सह नही सके किसी तरह और उन्होने उसी गुस्से की हालत में आकर अपनी पत्नी से कहा — जिस दिन मुझे दूसरे की कमाई खानी पडेगी, मै जहर खा लूँगा!

अक्सर बातो को हँसकर टाल देने की आदत पड गयी थी — जिन्दा रहने की शर्त थी वह — लेकिन यह तो मर्म पर आघात करने वाली बात थी। आघात हुआ। प्रतिक्रिया हुई। बरस पडे। शान्त हो गये। गाँठ मन में नही पडी। भाई के प्रति स्नेह और दायित्वबोध उसी प्रकार बना रहा। और महताब की भी अपनी भावज से भले न बनी हो पर भाई की अवज्ञा उन्होने भी नही की और मन का एक स्तर था जहाँ अन्त तक वह सहज स्नेह बना रहा।

२० मार्च १९१७ के अपने पत्र में मुशी जी ने निगम साहब को लिखा —

'बाबू महताब राय लखनऊ से टाइप सीखकर आ गये है। आप इन्हे वहाँ किसी मिल या फर्म में इण्ट्रोड्यूस करा सकते है? अगर ऐसा हो सके तो मुझ पर खास इनायत होगी।'

वह तो नही हो सका पर बस्ती में ही बन्दोबस्त के महकमे में उन्हें काम मिल गया। लेकिन साल भर बाद जब इस काम के खत्म होने की सूरत पैदा हुई तो, मियाँ की दौड मसजिद तक, मुशी जी ने फिर निगम साहब को याद किया —

'छोटक हफ्ते-अशरे[1] में या ज्यादा से ज्यादा एक माह में तखफीफ[2] में आ जायँगे। बन्दोबस्त का काम फिलहाल बन्द किया जा रहा है। मुझे उनकी फिक्र लगी हुई है। अगर आप उनके लिए कोई काम दिलाने में मेरी मदद कर सकें तो ऐन एहसान हो। मेरे और कौन से दोस्त है जिनसे इनकी सिफारिश करूँ। बस्ती में टाइपिस्ट थे, पैंतीस रुपये पाते थे। कानपुर के किसी कारखाने में अगर आपकी सिफारिश कारगर हो सके तो इन्हे बाद तखफीफ वहाँ भेज दूँ। या बार के मुताल्लिक कोई ऐसा काम हो जिसमें हिन्दोस्तान के बाहर न जाना पडे तो भी कोई उज्र नही है।'

सोलहो आने गृहस्थ, मुशी जी को घर में एक-एक की फिक्र रहती थी।

पत्नी जब गोरखपुर पहुँचने के साथ ही, बच्चे की पैदाइश के बाद बीमार पडी और ऐसी बीमार पडी कि बिस्तर से लग गयी, और बच्चे को दूध पिलाने तक से मजबूर हो गयी, इतनी कि इस काम के लिए एक दाई रखनी पडी, उस वक्त मुशी जी ने घर के भीतरी काम भी तमाम अपने ऊपर ओढ लिये। बच्चो को सुलाना-जगाना, नहलाना-धुलाना, खिलाना-पिलाना, सभी काम उनके थे। और माथे पर शिकन नही, न कोई झिझक। बीच में कभी घण्टा खाली होता तो घर आकर देख-सुन जाते। कभी बच्चे को लिये हुए स्कूल पहुँच जाते, जहाँ लडके उनके हाथ से बच्चे को लेकर खुद खेलाने लग जाते। सब कुछ अत्यन्त सहज भाव से।

कहने का मतलब यह कि गृहस्थी की इस सब खटर-पटर हारी-बीमारी और घरेलू झगडे-तकरार के होते हुए मुशी जी को अपने भीतर ज्यादा खुशी मिल रही है, जैसी कि इधर एक अर्से से नही मिली।

उन्हे अपनी जिन्दगी का नक्शा कुछ सुधरता हुआ नजर आता है। एक तो सेहत पहले से कुछ अच्छी है, जो कि एक बडी बात है। स्कूल का वातावरण अधिक अनुकूल है। महावीरप्रसाद पोद्दार से मुलाकात हो चुकी है और उनके माध्यम से एक नयी भाषा, हिन्दी का दरवाजा उनके लिए खुल रहा है। प्रेमचद को उससे बडी-बडी उम्मीदे है। उर्दू जैसा हाल यहाँ नही है जहाँ किताब खुद अपने पैसे से छपानी पडती थी और बिक्री की भयानक सुस्ती को देखकर बार-बार पूछना पडता था, किताब कुछ बिक रही या महज दीमको की खूराक बन रही है। साल में दो सौ प्रतियाँ बिक गयी तो समझिए कमाल हो गया। हिन्दी की हालत शायद इतनी खराब नही है वर्ना प्रकाशक उनके पीछे इतना क्यो पडता। शेख़ सादी पर एक छोटी-सी किताब लिखकर वह दे चुके है। टाल्सटाय की कहानियो का अनुवाद दे चुके है। हिन्दी प्रेमपचीसी छप रही है। बिकती होगी, तभी तो छापता है। अब नये नाविल के लिए जान को पडा है।

अच्छा लगता है मुशी जी को यह सब, और क्यो न अच्छा लगे। लेखक को

---

१ पखवारे २ छँटनी

कमला
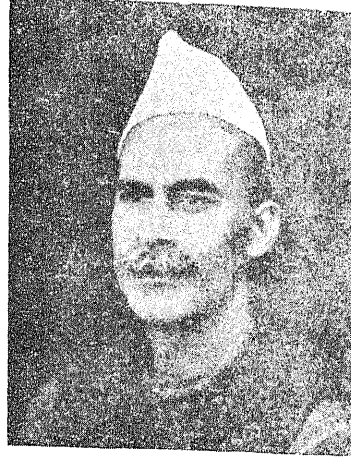
महताब राय

श्रीपत राय

अमृत राय

with this problem & have only such members as believed in a common language. It should have brought out a magazine in a common language in different scripts. It would have been a real service. At present its activities are communal and it has failed to justify its existence.

Certainly Hindustani is not a literary language in form and magnificence & grandeur. Literary language is supposed to be something apart from the spoken language. I believe in our literary expression coming as near as possible to spoken speech. At least in drama, story & novel we can write in popular language, including biography and travel, and these branches comprise three fourths of literature & that which really matters. Your science & philosophy may be written in Sanskrit or Prakrit. I don't care. As Galsworthy says "to drag Hindi to its ancient moorings is the vain effort to turn the river's flow to its source"

About the books I have asked my son to give you an account with whom he deposited the books. You may not be aware, my both children are at Kayastha Pathshala Intermediate School and lodging in the same building as Hindustani Academy. But they are shy extremely which they seem to have inherited from me supposing I am their father. His name is Sripat Rai. If you can send for him and ask an explanation he will tell you what became of the books.

Lekhak Sangha. Its only fruitful activity is in my opinion cooperative publication, so that every author contributing to its membership may be assured a royalty of 30 to 40%. The Hindi market is so dull and authors are so anxious to get their books published that they will come to any compromise with the publishers. If they stick to their terms & publishers refuse to publish their books, the poor fellow will be nowhere. The analogy is that

अंग्रेजी हस्तलिपि

इससे ज्यादा और चाहिए भी क्या — दिल में लिखने की उमग है, कलम तेजी से चल रहा है, छापनेवाला पैसे लिये दरवाजे पर बैठा है, कीर्ति एक भाषा की सीमा को लाँघकर दूसरी भाषाओ में पहुँच रही है। हिन्दी तो है ही, मराठी में प्रेमपचीसी छप रही है। पत्रो में कहानियो के अनुवाद गुजराती में भी छपने लगे है। कितनी ही तो बातें है जिनसे मन में उभार आता है।

और सबसे बडी बात तो यह कि राष्ट्रीय जीवन में एक नया उभार आ रहा है। बहुत दिनो की पस्ती और मुर्दनी के बाद। कैसा विचित्र सयोग है कि यह उनके स्वास्थ्य की गिरावट और राष्ट्रीय आन्दोलन की गिरावट का समय लगभग एक ही है और अब फिर एक नयी जागृति आ रही है जिसे मुशी जी फौरन अपने खून की रवानी मे महसूस करते है। इस वक्त उनकी तबीयत में जो उभार है उसमें निश्चय ही कुछ हाथ देश की इस जागृति का भी है।

उसकी तबीयत ही कुछ ऐसी बनी है। सबसे अलग-अलग व्यक्ति की अपनी छोटी-सी दुनिया मे रहना उसने सीखा ही नही। पुराना गृहस्थ आदमी है। गृहस्थी में, गृहस्थी का होकर रहना ही उसे आता है। उसकी सब झझटें, सब जिम्मेदारियाँ, सब परेशानियाँ उसे मजूर है, अकेले रहना मजूर नही भले उसमें कितनी ही बेफिक्री हो।

देश भी उसके लिए एक बडे परिवार जैसा ही है। उसका हर सुख-दुख उसका अपना सुख-दुख है। जो सहज आत्मीयता की डोर उसे अपने परिवार से बाँधती है, वही उसे इस बडे परिवार से बाँधती है।

वह भूगोल का विद्यार्थी है। भूगोल उसने बरसो पढा है, पढाया है। भारत का मानचित्र न जाने कब से उसकी आँखो के सामने घूमता रहा है। नदी, पहाड सब उसे पता है। मातृभूमि को माँ के रूप में उसने पूजा है जो कि उसके भीतर का गहरा भारतीय सस्कार है, हिन्दू सस्कार है, स्वदेशी और अग्नियुग का सस्कार है, तिलक और बकिम का सस्कार है। लेकिन अपने जीवन-अनुभव से वह यह भी जानता है कि हवाई देश-प्रेम काफी नही है। देश का असल मतलब है देश का आदमी, उसका सुख-दुख। वह इतिहास और समाज-शास्त्र का भी विद्यार्थी है और उसे पता है कि आजादी के बिना कभी कोई देश उन्नति नही करता। शायद इसीलिए जब आजादी के आन्दोलन मे कुछ जान आती है तो उसके भीतर भी जान आ जाती है और जब उसमें मुर्दनी छा जाती है तो जाने-अनजाने उसके मन पर भी वही मुर्दनी छा जाती है।

साधारणत ऐसे आदमी को सक्रिय राजनीति में होना चाहिए था। आन्दोलनकर्ता के रूप में, सगठनकर्ता के रूप में। लेकिन मुशीजी को अपनी कमजोरियाँ भी मालूम है।

सबसे बडी कमज़ोरी है कच्ची गृहस्थी — दो छोटे-छोटे बच्चे, पत्नी, चाची और उनका बेटा, जिन सबका वह अकेला अवलब है। और दूसरी बडी कमजोरी

है उसका अपना स्वभाव। राजनीति के धुरधरो के बीच वह खप नही सकता। बडे अखाडेबाज होते है सब। वह अलग ही एक दुनिया है। उस गरीब की तो उसमें मट्टी पलीद हो जायेगी। उसमें वही जा सकता है जिसे उन सब दाँव-पेच में रस मिलता हो। आजादी की लडाई तो कही पीछे छूट जाती है, पद की लालसा ही मुख्य हो जाती है। और फिर आये दिन के छोटे-छोटे झगडे और गुटबन्दी — नही, उस दलदल से दूर ही रहना ठीक है। दूर रहकर आदमी ज्यादा अच्छी तरह चीज़ को देख सकता है और ज्यादा बेलाग ढग से बात कर सकता है।

यह ठीक है कि घटनाएँ उसको आन्दोलित करती है। इसका मतलब है कि वह यत्न करे तो अपनी उसी गहरी अनुभूति से दूसरो को भी आन्दोलित कर सकता है — लेकिन गले के जोर से नही, कलम के जोर से।

मच पर जाते उसे डर लगता है और भाषण देने के खयाल से ही उसकी रूह फना हो जाती है। ज़िन्दगी भर उसकी यह कमजोरी बनी रही, और इस कमजोरी का एहसास बना रहा और उसने बराबर अपने बेटो को इस ओर से सावधान किया। यह नही कि जरूरत पडने पर वह बोल नही सकता था या उसका गला फँस जाता था। पर हाँ, उलझन जरूर खासी मालूम होती थी। वह खूब जानता है कि मच उसके लिए नही है। मगर उससे क्या, कलम तो है उसके हाथ में। उससे बढकर क्या चीज है। उसकी सबसे बडी ताकत यही कलम है। इतिहास के पन्ने पलटो तो पता चले कलम क्या कर सकता है।

इस तरह यह विरोधाभास सामने आता है कि एक तरफ समसामयिक राजनीति में उसकी दिलचस्पी और जानकारी तो इतनी है कि अच्छे-अच्छे राजनीतिज्ञो की क्या होगी, लेकिन, दूसरी तरफ, जिसे सक्रिय राजनीति कहा जाता है उससे दूर का भी सबध उसका नही है। और अगर सबध है तो इतना ही कि वह मीटिंगो में चला जाता है, कभी काग्रेस के दफ्तर चला जाता है, लिखने-पढने का कुछ काम हुआ तो उसे कर देता है। इससे ज्यादा मतलब वह नही रखता। पर उसकी दिलचस्पी गहरी है जो उसके साहित्य में बोलती है। अपने साहित्य के माध्यम से वह अपना श्रेष्ठतम अश देश की स्वाधीनता और उसके भविष्य को देता है।

सूरत अधिवेशन (१६०७) में गरमदल तिलक के नेतृत्व में, काग्रेस से अलग हुआ। काग्रेस पूरी तरह गोखले और फीरोजशाह मेहता के हाथो में आ गयी और उसकी राजनीति फिर अपने उसी पुराने ढर्रे पर चलने लगी। तिलक अपने साथ जो ज्वार लाये थे वह धीरे-धीरे उतर चला। सन् १६०८ में तिलक को छ साल के लिए माण्डले भेज दिया गया। सन् ११ में पचम जार्ज के राज्याभिषेक का दरबार हुआ और उसमें बगभग की योजना को रद्द करने की घोषणा हुई। उससे बगाल के क्रान्तिकारी आन्दालन की तेजी भी कुछ समय के लिए समाप्त हो गयी।

सन् १४ आते-आते देश पूरी तरह निष्प्राण हो चुका था।

जुलाई १६१४ में महायुद्ध छिडा। नवबर में जर्मन सेनाएँ फ्रास के दरवाजे पर थी। इगलैण्ड-फ्रास के लिए जीवन-मरण का सकट उपस्थित था। ऐसे समय में हिन्दुस्तान के बडे लाट हार्डिज ने बडी हिम्मत करके हिन्दुस्तान से अपनी गोरी और काली फौजे हटायी और उन्हे योरोप के मोर्चा पर भेजा। साथी देशो की प्राणरक्षा हुई।

ऐसी विशेष परिस्थिति में, जो देश के लिए इतनी अनुकूल और गोरी सत्ता के लिए इतनी प्रतिकूल थी, काग्रेस ने एक बार फिर अपने १६१४ के अधिवेशन में ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत औपनिवेशिक स्वायत्त शासन की माँग उठायी। लेकिन जो चीज माँगी गयी और जिस तरह गिडगिडाकर माँगी गयी, दोनो ही से पता चलता है कि सूरत अधिवेशन के बाद की नरमदली राजनीति देश को कितना पीछे ढकेल चुकी थी —

'भारत की जनता ने वर्तमान सकट में जिस गहरी और निष्कपट राजभक्ति का परिचय दिया है उसको देखते हुए यह काग्रेस सरकार से प्रार्थना करती है कि वह इस राजभक्ति को और भी गहरा और दीर्घजीवी करे ताकि वह साम्राज्य की एक स्थायी और महत्वपूर्ण सम्पदा बन सके, और इस हेतु उसका आवेदन है कि हिज मैजेस्टी की भारतीय और अन्य प्रजा के बीच भेद भाव करने वाले खेदजनक नियम हटा लिये जायँ, २५ अगस्त १६११ के फरमान में उल्लिखित प्रान्तीय स्वायत्तशासन प्रदान करने के वचन को पूरा किया जाय और ऐसी सब आवश्यक कार्रवाई की जाय जिससे भारत को साम्राज्य-सघ के एक अग के रूप में मान्यता और तदनुसार सम्पूर्ण अधिकारो के स्वतत्र उपभोग का अवसर मिले।' काग्रेस के प्रामाणिक इतिहास के अनुसार 'यह प्रस्ताव उस समय की राष्ट्रीय आकाक्षाओ का चरम शिखर है।'

पर कितना छोटा कितना नीचा है यह शिखर! तिलक के स्वराज्य से कितनी दूर, जो बख्शीश नही जन्मसिद्ध अधिकार था।

लेकिन वह बात अब तक सात-आठ साल पुरानी हो चुकी है और उन सात-आठ में से छ साल महाराष्ट्र-केसरी माण्डले के कठघरे में बन्द रहा है।

पर थी यह लज्जा की ही बात कि जहाँ गोखले और सुरेन्द्रनाथ बैनर्जी इनाम और बख्शीश की शकल में वह चीज माँग रहे थे वहाँ एक विदेशी स्त्री, ऐनी बेसेण्ट, अधिकार के रूप में उसे माँग रही थी और कह रही थी कि हिन्दुस्तान अपने बेटो के खून का सौदा नही करना चाहता।

प्रेमचद भी इसी बीच इन्तहाई पस्ती के दौर से गुजरे। शरीर, मन, दोनो बिल्कुल टूटे हुए।

•

राष्ट्रीय आन्दोलन की इसी विकट स्थिति में तिलक जून १६१४ में जेल से

छूटकर वापस आये। उनका सतोष इस राजनीति से भला क्या होता, बाहर आने के साथ ही वह अपना होमरूल का आन्दोलन लेकर मैदान में कूद पडे। कुछ अजब नही कि काग्रेस के प्रस्ताव के पीछे, जैसा कुछ भी वह था, तिलक की उपस्थिति भी एक अकुश रही हो।

जो भी हो, इधर तिलक और उधर ऐनी बेसेएट, दोनो होमरूल की आवाज उठा रहे थे। लेकिन बेसेएट के जी में यह भी लगी थी कि काग्रेस फिर बलवान हो जाय। इसके लिए तिलक और गोखले, गरमदल और नरमदल में मेल होना जरूरी था। बेसेएट ने इसकी पूरी कोशिश की, कुछ भी उठा नही रखा, लेकिन दुर्भाग्यवश मेल नही हो सका और इसकी वडी जिम्मेदारी इतिहास गोखले की दुरगी नीति और दोमुँही बातचीत पर रखने के लिए बाध्य है। बात जब खुली, और खुलते उसे देर नही लगी, तो गोखले को बहुत लज्जित होना पडा और सभव है उनके अत को पास लाने में इस धक्के का भी कुछ हाथ हो क्योकि इस काएड के हफ्ते-दस रोज के भीतर ही १६ फर्वरी १६१५ को गोखले का देहान्त हो गया। नवम्बर में फीरोजशाह मेहता भी चल बसे।

देश की अब बडी विचित्र स्थिति थी। काग्रेस देश की सबसे बडी सस्था थी। काग्रेस का सबसे कर्मठ, सबसे बलिष्ठ अग, गरमदल, काग्रेस के बाहर था। नरमदली जो काग्रेस को जैसे-तैसे ढो रहे थे अब अपने दो सबसे बडे नेताओ को खोकर बिलकुल पथहारा हो रहे थे। गाधी का उदय भारतीय राजनीति के आकाश में अभी नही हुआ था। अभी तो हाल ही में वह दक्षिण अफ्रीका से लौटे थे और अपने दीक्षागुरु गोखले के चरणो में बैठकर देश की स्थिति का अध्ययन कर रहे थे।

ऐसे में कौन था जो नेतृत्व तिलक के हाथ में आने से रोक सके लेकिन बाधा यही थी कि वह काग्रेस के बाहर थे और उनके भीतर आने की सूरत नही बन रही थी। तो भी शायद तिलक की उपस्थिति में ही कुछ जादू था क्योकि सूरत के बाद एक बार फिर बबई काग्रेस (१६१५) में जान जैसी जान दिखलायी दी, बावजूद इसके कि वह केवल नरमदली लोगो का अधिवेशन था। लेकिन शायद जनता के वह सब प्रतिनिधि कट्टर नरमदली नही थे क्योकि उसी अधिवेशन में काग्रेस के विधान में ऐसा सशोधन किया गया कि तिलक और उनके गरमदल के लिए भीतर आने का रास्ता खुला।

लेकिन एक शर्त थी — तिलक साल भर के बाद ही काग्रेस की नीति को बदलने के लिए उद्योग कर सकते थे। लिहाजा तिलक और ऐनी बेसेएट ने फिर अपना-अपना होमरूल का आन्दोलन सँभाला। लबी नीद के बाद देश में फिर कुछ हलचल दिखायी दी।

इसी बीच देश ने एक नयी करवट और ली — काग्रेस और मुसलिम लीग

के बीच एका स्थापित करने का प्रयत्न। होमरूल के बढते हुए आन्दोलन की पृष्ठभूमि में शासन-सुधार की बाते सरकार की ओर से भी होने लगी थी। सबको विश्वास था कि लडाई खत्म होने पर इस तरह की कोई न कोई योजना जरूर सामने आयेगी। उसके पहले इधर आपस में एका जरूर हो जाना चाहिए वर्ना किसी को कुछ न मिलेगा।

जमीन इस तरह एकता के लिए काफी तैयार थी। बबई काग्रेस ने पहल की। दोनो सस्थाओ के प्रतिनिधियो का सम्मेलन हुआ। योजना तैयार करने के लिए सयुक्त समिति बनी। अक्तूबर के महीने में कलकत्ते मे उस समिति की बैठक हुई। योजना को अतिम रूप दिया गया।

अगले वर्ष काग्रेस का अधिवेशन लखनऊ में होनेवाला था। उसी में इस योजना को पेश होना था। देश की आँखे उसी पर लगी थी। एक बडी बात होने जा रही थी। सबका जी धडक रहा था। मुशी जी की भी आँखे लखनऊ पर लगी थी। गोरखपुर से बस रात भर का सफर था। एक वक्त वह इन्ही काग्रेस के जलसो के सिलसिले में अहमदाबाद तक का धावा मार चुके थे। बहुत जोर से जी लखनऊ जाने के लिए तडप रहा था मगर राहखर्च कहाँ से आये? सौ-पचास रुपया पास में हो तब कही जाकर यह शौक पूरा हो। ११ दिसम्बर १९१६ को उन्होने निगम साहब को लिखा —

'दिसम्बर में लखनऊ जाने का इरादा तो करता हूँ। देखूँ गैब[1] से मदद मिलती है या नही। इसी के लिए कई रिसालो में लिखा। एक साहब ने तो खबर ली, दूसरे साहब आइन्दा लेगे। हो सकेगा जाऊँगा, नही तो न सही। तकरीर मैं सुनता नही, और तो कोई काम नही। अखबारो में पढ लूँगा। और क्या करूँ। जब शब-ओ-रोज की मेहनत पर यह हाल है तो मालूम होता है इफलास[2] से कभी नजात न होगी।'

बहरहाल जा नही सके।

अधिवेशन असाधारण रूप से सफल रहा। काग्रेस और लीग के बीच समझौता हुआ। गरमदल और नरमदल के बीच समझौता हुआ। मच पर रास बिहारी घोष और सुरेन्द्रनाथ बैनर्जी के साथ तिलक और खापर्डे बैठे थे। यह रास बिहारी घोष वही थे जिन्होने नौ बरस पहले सूरत में तिलक को बोलने का मौका नही दिया था। ऐसे कट्टर विरोधियो को आज एक साथ बैठे देखकर बहुत अच्छा मालूम होता था। मिसेज बेसेण्ट मौजूद थी। मुसलमानो में राजा महमूदाबाद, एजाज रसूल और जिन्ना-जैसे लोग थे। और मौजूद थे मोहनदास करमचद गाधी, जिनकी कीर्ति उनसे पहले ही यहाँ पहुँच चुकी थी।

बिहार के कुछ लोग यही पर गाधी जी से मिले और उनसे चम्पारन के

---

१ अदृष्ट २ गरीबी

किसानो की करुण कथा कही। निलहे साहबो के अत्याचार का कही अत न था। किसानो की हालत गुलामो से बदतर थी। सब जुल्म सहते थे मगर चूँ भी न कर सकते थे। साहब लोग दिनदहाडे मारकर फेक देते थे और कोई उनका हाल पूछनेवाला न था।

आखिरकार गाधीजी चम्पारन पहुँचे और हिन्दुस्तान में सत्याग्रह का पहला प्रयोग आरम्भ हुआ — जो कि असाधारण रूप से सफल रहा।

वहाँ से छुट्टी पाकर गाधी जी ने गुजरात पहुँचकर खेडा के किसानो की लडाई छेड दी।

ये राष्ट्रीय जागरण के नये अध्याय थे — जिन्हे एक आदमी जो राजनीति की दुनिया से दूर था बैठा-बैठा बडे ध्यान से देख रहा था। गाधी जी के आने के साथ प्रेमचद की पैनी आँखे उन पर गड गयी थी। अपने हृदय-स्थित सहज ज्ञान से उन्होने सकेत पा लिया था कि यह आदमी जरूर कुछ करेगा। कुर्सीतोड राज-नीतिज्ञो से कितना भिन्न है यह व्यक्ति जो राजनीति का पहला अर्थ जनसेवा समझता है, दुखी जनो के बीच जाता है, उनकी समस्याओ को समझने की कोशिश करता है, उनके दुख-दर्द में साथ देता है और उन्ही को जगाकर सघर्ष में आगे ले आता है। ऐसे ही देशसेवी महात्मा की कल्पना उन्होने 'जल्वए ईसार' में बालाजी के रूप में की थी। बाला जी विवेकानन्द थे। बाला जी तिलक थे। बाला जी गाधी थे। समय के साथ उनका रूप बदलना जा रहा था क्योकि वास्तव में बात केवल रूप बदलने की थी सारतत्व सबका एक था। उनका दिल गवाही दे रहा था कि इस तरह का काम कभी अकारथ नही जा सकता।

सत्य, अहिंसा, अपरिग्रह के जो आदर्श गाधी जी देश के सामने रख रहे थे वह समग्रत उनके अपने मन के थे क्योकि जिस रास्ते चलकर गाधी जी ने उन्हे पाया था बहुत कुछ उसी रास्ते चलकर प्रेमचद भी उन्हे पा चुके थे। टाल्सटाय की नीतिकथाएँ उन्होंने भी पढी थी, उनका असर अपने लिखने में लिया था और गाधी जी के रग-मच पर आने के पहले उनमें से तेईस कहानियो का भारतीय परिवेश के अनुसार रूपान्तर करके 'प्रेम प्रभाकर' के नाम से छपा चुके थे। इनमें टाल्सटाय की लगभग सभी प्रसिद्ध नीति-कथाएँ आ गयी थी — मनुष्य का जीवन-आधार क्या चीज है ? (दैट व्हेयरबाई मेन लिव) एक चिनगारी घर को जला देती है (नेग्लेक्ट अ फायर ऐंएड इट विल नॉट बी क्वेन्चड) प्रेम में परमेश्वर (व्हेयर लव इज देयर गाड इज आलसो) बाल लीला (चिल्ड्रेन मे बी वाइजर दैन देयर एल्डर्स) एक आदमी को कितनी भूमि चाहिए ? (हाउ मच लैण्ड डज़ ए मैन रिक्वायर ?) अण्डे के बराबर दाना (द ग्रेन दैट वाज लाइक ऐन एग) धर्मपुत्र (द गॉडसन) आदि।

प्रेम, दया, क्षमा, परोपकार, अहिंसा, त्याग, अपरिग्रह, आत्मशुद्धि की शिक्षा

उन्होने भी टाल्सटाय से पायी थी । उसी प्रभाव में 'सेवा-मार्ग' और 'उपदेश' जैसी नीतिकथाएँ भी उन्होने लिखी जिनमे सेवा को ही, परोपकार को ही सबसे बडी सिद्धि बताया गया है ।

मनुष्य में तत्व-वस्तु प्रेम है । प्रेम ही उन्हे जिलाता है । मनुष्य का जीवन-आधार परमात्मा है । प्रेम और परमात्मा मे कोई भेद नही है ।

कोई तुम्हे गाली दे तो सह लो, वह स्वय पछतायेगा । कोई तुम्हारे गाल पर एक चपत मारे तो दूसरा गाल उसके सामने कर दो, वह लज्जित हो जायेगा ।

उत्तम तीर्थयात्रा यही है कि व्यक्ति आजीवन हर प्राणी के साथ प्रेमभाव रखकर हर समय उपकार में तत्पर रहे । प्राणिमात्र पर दया करना ही परमात्मा का दर्शन करना है ।

सबसे बडा धन सतोष-धन है । असल सुख त्याग में है ।

पाप से पाप नष्ट नही होता । घृणा से घृणा और हिंसा से हिंसा का जन्म होता है ।

अपना अन्त करण शुद्ध किये बिना दूसरो का अन्त करण शुद्ध करना असभव है । जिस प्रकार खभे को स्थिर किये बिना छड नही मुड सकती, उसी प्रकार अपना चित्त स्थिर किये बिना दूसरो के चित्त को अपनी ओर मोडना कठिन है। जिस प्रकार मद्धिम आग गीली घास को नही जला सकती, उसी प्रकार जब तक व्यक्ति का अपना चित्त प्रकाशस्वरूप नही हो जाता तब तक वह दूसरे को प्रकाशित नही कर सकता । इसी के भीतर से गाधी-दर्शन की यह आधारशिला निकलती है कि आत्मशुद्धि अपने अधिकारो के सघर्ष का अविभाज्य अग है ।

प्रेमचद के लिये ये कोरे नीतिवाक्य नही है, उनके सत्य को उन्होने अपने चिन्तन-मनन-अनुभव से पुन उपलब्ध किया है । उनकी सच्चाई उनके भीतर गहरे बैठते-बैठते उनकी अपनी जीवनदृष्टि, अपनी आस्था बन गयी है । तभी वह उनके साहित्य में निरन्तर रक्त की भाँति प्रवाहित है । शखनाद, पच परमेश्वर और महातीर्थ जैसी कहानियाँ, जो इसी दौर में लिखी गयी और जिनके पीछे यही जीवनदृष्टि काम कर रही है, मन की गहरी निष्ठा से ही निकल सकती है ।

साहित्य और जीवन के बीच यहाँ खाई या दीवार भी नही है । जीवन नित्य जैसा जिया जाता है वही रसायन क्रिया से साहित्य बन जाता है — प्राण का आवेग लेकर, विवेक की निर्धूम अग्नि में तपकर, स्वप्न को भविष्य बनाकर । ... और साहित्य में जीवन का जो उदात्त स्वरूप चित्रित होता है उसकी अन्विति स्वय अपने जीवन में स्थापित करने की उत्सुकता कृती के मन में होती है । यह नही कि शिक्षा जो भी है सब दूसरो के लिये है । पहले उसे अपने जीवन में चरितार्थ करके दिख-

लाओ। अपना अन्त करण शुद्ध किये बिना दूसरे का अन्त करण शुद्ध करना असभव है। जब तक अपना चित्त प्रकाशस्वरूप नही हो जाता तब तक वह दूसरे को प्रकाशित नही कर सकता। साहित्य के पीछे कृती के जीवन का साक्ष्य साहित्य को शक्ति देता है।

पौ फटने से पहले ही हल-बैल लेकर अपने खेत पर चले जानेवाले किसान का अनुशासित, पर अनुशासन के आडम्बर से मुक्त, जीवन ही उसका जीवन है।

मुँह अँधेरे ही वह उठ जाता है और फारिग होकर घण्टे भर के लिए घूमने चला जाता है — और अब तो अक्सर स्कूल के लबे-चौडे अहाते में ही घूम लेता है। लौटकर आता है तब तक घर के बाकी लोग भी उठ गये रहते है। फिर वह घर के जरूरी काम निपटाता है। नौकर से ज्यादा काम लेना उसे पसद नही है। अपना बिस्तर वह खुद उठा लेता है। अपनी धोती वह खुद छाँट लेता है। बीवी को कभी-कभी नागवार भी गुज़रती है यह बात, लेकिन वह अपनी आदत नही बिगाडना चाहता। उसे भूला नही है कि वह खुद कभी पाँच रुपये का नौकर था। और क्या बुराई है छोटे-मोटे काम अपने हाथ से कर लेने मे। अपने हाथ से पानी लेकर न पीने मे कौन सी नवाबी है यह तो काहिलो की हरकत है। जिस आदमी के हाथ में काम करने से घट्टे न पडे हो उसे खाना खाने का अधिकार नही है — टालसटाय की कहानी के नायक मूर्ख सुमन्त के राज्य में ऐसा ही विधान था और यह बात उसे बहुत पसन्द आयी थी। रत्ती भर शर्म नही है उसे कोई काम करने मे। पत्ती तोडकर बकरी के सामने डाल देता है। गाय की सानी बोर देता है। अपने कमरे मे, बाहर के बरामदे में भाड़ू भी लगा लेता है। चूल्हा जला देता है, क्योकि पत्नी बीमार है और चाची को यह सब काम पसन्द नही है। दूध गरम कर देता है और अक्सर खुद ही बच्चो का मुँह-हाथ धुलाकर उन्हे दूध पिला भी देता है। और फिर हल्का-सा कुछ नाश्ता करके अपने काम पर बैठ जाता है।

लिखने के लिए उन्हे सबेरे का वक्त ही सबसे ज्यादा पसन्द है। स्कूल का समय होने तक इसी तरह बैठे लिखते रहते है, फिर कपडे बदलते है और ठीक वक्त से स्कूल जा पहुँचते है।

वक्त की पाबन्दी उनका मिजाज बन गयी है। यहाँ तो और भी जरूरी है वक्त से पहुँचना — अच्छा उदाहरण रखना चाहिए इन छात्रो के सामने जो अध्यापक भी है और कल के रोज फिर अपने स्कूल वापस पहुँच जायेंगे। उन्हे समझना चाहिए कि वक्त बरबाद करना बहुत बडा गुनाह है। वक्त की पाबन्दी के बिना कभी किसी कौम ने तरक्की नही की।

उनका एक छात्र मजूरुल हक लिखता है — '. आपका नियम था कि स्कूल में आम तौर पर ठीक वक्त पर पहुँच जाते थे। घण्टा बजा

और आप शायराना अदाज में निकले। अक्सर आप खुले सर, बाल बिखरे हुए, और एक कोट, जिसके बटन खुले रहते थे, और धोती पहने एक अजीब अदाज से स्कूल आते थे। लडके जितना उनका अदब करते थे किसी दूसरे का नही करते थे। मेरे दर्जे को वह इतिहास पढाते थे। उनका दस्तूर यह था कि खुद इतिहास की पुस्तक लेकर पढते चले जाते थे। चूँकि लडके मिडिल और ट्रेनिग पास होते थे, इसलिए ज्यादा दिक्कत नही पडती थी। एक घण्टे में जो कुछ पढाना होता पन्द्रह मिनट में पढाकर, इतिहास के बारे मे वह बातें बयान करते जो उस पुस्तक में न होती। नही मालूम उनकी जानकारी कितनी अथाह थी। अक्सर ऐसा होता कि जो कुछ इतिहास की पुस्तक में से पढकर सुनाते उसके खिलाफ इतिहास के दूसरे हवालो से बयान करते। कुछ घटनाओ के बारे में यह भी दिखलाते कि सिर्फ हिन्दू-मुसलमानो में फूट डालने के लिए उनको लिखा गया है। घण्टा खत्म होने के पहले यह भी कह देते कि देखो जो कुछ मैने बयान किया है वह समझने की चीज है, इम्तहान में वही लिखना जो तुम्हारी किताब में है वर्ना फेल हो जाओगे।'

स्कूल की अपनी मजबूरियाँ थी और खतरा भी कम नही था, लेकिन जहाँ तक मुमकिन हो राष्ट्रीय शिक्षा का काम उनसे भी क्यो न लिया जाय। मसलन् एक रोज उन्होने यह भी बतलाया — आज से साठ बरस पहले जब कम ही लोगो की नजर इस चीज पर गयी थी — कि सिराजुद्दौला के समय का ब्लैक-होल का वाकया बिल्कुल मनगढन्त और गलत है। वह एक अग्रेज अफसर की बनायी हुई कहानी है जिसका उद्देश्य केवल यह है कि बगाल पर कब्जा जमाने के लिए उनके पक्ष को नैतिक बल मिल जाय।

गरज कि उनका घण्टा अजीबोगरीब जानकारियो का घण्टा होता। कोर्स की पढाई तक अपने को सीमित रखने का जो तरीका दूसरे मास्टरो का था, वह उनका नही था। और न वह चाहते थे कि लडको को रट्टू तोता बनाकर और किसी तरह इम्तहान पास कराके अपने कर्तव्य की इतिश्री समझ ली जाय। खासकर नार्मल स्कूल के उन बडे-बडे लडको को जो खुद भी मास्टर थे, अच्छे खासे जवान आदमी थे, मुल्क को उनसे उम्मीदें थी। एक गिरे हुए, पराधीन देश को ऊपर उठाना था, आजाद करना था। उनके भीतर वैसी भावना का सचार उनके मास्टर का नही तो और किसका काम है? शिक्षा-सस्थान से नही तो और कहाँ से उन्हे त्याग, साहस, देशप्रेम और देशसेवा का मन्त्र मिलेगा? हमारी जवान पीढी आलसी हो, कायर हो, स्वार्थी हो, विलासी हो तो हम क्या इसकी जिम्मेदारी से बरी हो सकेंगे?

कोई और इन बातो को सोचे या न सोचे, मुशीजी जरूर सोचते है और इसी-लिए उनका पढाने का तरीका दूसरो से काफी अलग है। उनकी शक्ति लड़को को

अलग नोट लिखाने और ब्लैकबोर्ड पर नक्शा बनाने में ख़र्च न होकर उन्हे मन और शरीर से स्वस्थ मनुष्य बनाने में ख़र्च होती थी।

पर वृत्तियो का यह सस्कार गुरु के प्रवचन से अधिक गुरु के आचरण से होता देखा गया है। वही यहाँ भी हुआ। वास्तविक सस्कार लडको ने अपने गुरु के स्वाभिमानी और साहसपूर्ण आचरण का लिया। उसी की स्मृति आज चालीस बरस बाद भी उनके मानस-पटल पर ज्यो की त्यो अकित है।

प्रवचन देना उनके स्वभाव के प्रतिकूल था। उन्हे तो केवल एक सबध का पता था — बराबरी का सबध, मैत्री का सबध। खुली तबीयत के आदमी थे, अपने और लडको के बीच किसी तरह की दूरी उन्हे मजूर न थी। क्या घर में और क्या बाहर, अधिकार जतलाना उन्हे हद दर्जे का छोटापन मालूम होता था। वह अधिकार ही क्या जिसे जतलाना पडे! अधिकार वह जो सहज मिले, अनायास। और वैसा ही स्नेह का अधिकार उन्हे लडको पर था, जैसा दूसरे किसी का न था।

हर वक्त चेहरे पर मुस्कराहट खेलती रहती। घर पर, स्कूल में, सब जगह लडको से बराबरी की सतह पर मिलते। उनकी हँसी-ख़ुशी में शरीक रहते। होली में बहुत बेतकल्लुफी से उनके साथ रग खेलते, ईद में उनसे गले मिलते।

बोर्डिंग हाउस के मुआइने के लिए जब वह अपने चक्कर पर निकलते तो लडको को उनसे डर न लगता, अपनापन मालूम होता, कि जैसे अपने ही घर का कोई बडा आदमी आया हो जिससे अपना सब तकलीफ-आराम कहा जा सकता है।

धीरे-धीरे लडके उनको बहुत ही ज्यादा चाहने लगे और उनका जी करता कि मास्टर साहब हमसे कोई काम ले। मगर मास्टर साहब जिन्हे नौकर तक से काम लेना बहुत पसन्द न था, लडको से भला क्या काम लेते — लेकिन हाँ, एक काम वह ज़रूर दो-एक ख़ास लडको से लेते और बेझिझक लेते। वह था कहानियो को साफ करना। यह उनका बराबर का दस्तूर था। शायद इसी को वह अपनी गुरु-दक्षिणा समझते थे। जो लडका इस काम को जितनी ही ख़ूबी से कर लाता उससे उतना ही ज्यादा ख़ुश रहते। यह एक तरह की रिश्वत थी जिसे लेने में उन्हें दरेग न था।

दर्जे में, दर्जे के बाहर सब जगह सब समय वह आदमी एक-सा ही था — उतना ही सादा, निराडम्बर, स्नेही, खुला हुआ। सख़्त या लगती हुई बात कहना, डाँट-डपट करना, या किसी गलती के लिए कोई कडी सज़ा देना उन्हे बिल्कुल नापसन्द था। भाईचारा और रवादारी ही उनका उसूल था और इन्ही की मदद से वह बराबर अपने दर्जे में और बोर्डिंग हाउस में अनुशासन बनाये रहते थे। क्षमा की शक्ति उनके लिए कोरा नीति-वाक्य न थी। उसमें उनका गहरा विश्वास थ और वह उसे अपने शासन-प्रबध में बराबर बरतते थे। दर्जे में हाजिरी पर भी कोई कडी पाबन्दी न थी, लेकिन यह कुछ उनके व्यक्तित्व और उनके पढाने के रोचक ढग

की विशेषता थी कि उनके दर्जे में उपस्थिति सबसे अच्छी रहती। उनका एक छात्र लिखता है —

'क्लास मे उनके आते ही ऐसी जिन्दादिली पैदा हो जाती थी कि हर एक का ध्यान उनकी तरफ लग जाता। यह जरूरी न था कि जो विषय पढाना है वही पढाया जाय बल्कि जिस विषय की ओर उनका झुकाव या लडको का तकाज़ा हुआ उसी के बारे में बताने लग जाते। अगर क्लास में पढते वक्त कोई हँसी की बात आ गयी तो बेअख्तियार हँसने लगते। उनको किसी का डर नही था। एक बार की बात है कि इन्स्पेक्टर साहब मुआइने के लिए आये। बाबू बेचनलाल साहब हेडमास्टर जो बहुत सीधे आदमी थे, कुछ परेशान-से थे। तमाम लडके भी अपनी-अपनी ड्रेस पहने हुए थे मगर हमारे उस्ताद का वही आलम था — नगे सर, बाल बिखरे हुए, कोट का बटन खुला हुआ। इसपेक्टर साहब क्लास में आये मगर उनका भी कोई असर न हुआ। कुछ अग्रेजी में बातचीत हुई, उसके बाद इस्पेक्टर साहब चले गये।'

तबीयत का ऐसा खुलापन और इतनी बेलौस सादगी ज़रा मुशकिल से देखने में आती है और इसी का जादू था जो तमाम लडको को बेअख्तियार अपनी तरफ खीच लेता था। और बर्ताव में सबके सग निष्पक्ष न्याय। इन्ही गुणो के बल पर मुशीजी ने काफी सफलतापूर्वक पूरे तीन साल तक बोर्डिंग हाउस की सुपरिण्टेण्डेण्टी की, वर्ना उनके बस का रोग न था वह। प्रबन्ध-कौशल में वह ख़ासे कोरे थे। लेकिन जो काम प्रबन्ध-कौशल से नही होता वह सद्भावना से हो जाता है — जो वह छोटे-बडे सबको समान रूप से देते थे।

जोखू उनका अपना नौकर था। था तो बोर्डिंग हाउस का नौकर मगर कुछ पैसो के एवज उनके घर का काम भी करता था।

सुभान मुसलिम मेस का बावर्ची था।

मुहम्मद स्कूल का दफ्तरी था, जिल्दसाजी का काम करता था।

सभी के साथ उनका सलूक एक-सी नर्मी और हमदर्दी का था। अक्सर जरूरत पडने पर रुपयो से भी उनकी मदद करते। मुहम्मद दफ्तरी बहुत दुखी-सा आदमी था जिसकी ज़िन्दगी पर उन्होने एक अच्छी कहानी भी लिखी। ("'दफ्तरी' बिल्कुल लाइफ से लिया गया है। तखय्युल[1] का बहुत कम दखल है।" — इम्तयाज अली 'ताज' को पत्र, २५ सितबर १९१९) दूसरी शादी की थी। आमदनी कम और खानेवाले ज्यादा। ऊपर से बीवी चटोरी, घमण्डी, झगडालू। आये दिन तगदस्ती उसे घेरे रहती। घर में महनामथ मचा रहता। ऐसी हालत में मुशीजी और बहुतो की तरह उसकी भी मदद करते। रुपयो की वापसी के लिए कभी

---

१ कल्पना

तकाजा न करते। तनख्वाह मिलने पर वह खुद से दे जाते तो ले लेते। इस तरह के लेन-देन में पैसे कभी डूब भी जाते। मगर उस वक्त मुशीजी को उन पैसो के डूबने का गम उतना न होता जितना बीवी की नाराजगी और सख्त-सुस्त बातो का डर।

अब तक ज़माने के साथ-साथ उनकी राष्ट्रीय भावना का भी सस्कार हो चुका था, हिन्दू-मुसलिम एकता की बात उनके भीतर काफी गहरी जड जमा चुकी थी। और जिस तरह उनका कोई भी सिद्धान्त मौखिक न रहकर तत्काल उनके आचरण में दिखलायी देता था, वैसे ही इस मामले में भी उन्होने बोर्डिंग हाउस की अपनी तीन साल की अधीक्षकता मे अपनी इस छोटी-सी दुनिया में दोनो जातियो के बीच भाईचारे को मजबूत करने के लिए कुछ भी उठा नही रखा। जैसा कि उनके उस वक्त के एक छात्र मुहम्मद हनीफ खॉ ने अपने बयान में कहा है —

'वह हिन्दू-मुसलिम एत्तहाद के बडे हामी थे। नार्मल स्कूल गोरखपुर में कमोबेश डेढ सौ मुतअल्लिम[1] तालीम हासिल कर रहे थे जिनमें तकरीबन् तीस प्यूपिल टीचर मुसलिम थे। जुलाई सन् १६ से अप्रैल सन् १७ तक पूरे एक साल में एक भी ऐसा वाकया नही आया जिसमें हिन्दू-मुसलिम फीलिंग कायम हो। कभी किसी ने ऐसा मौका पैदा करना चाहा जिससे फिरकेवाराना जजबात[2] मुश्तइल[3] हो तो उसे आप न सिर्फ दबा देते थे बल्कि मुतअल्लिमो के दिलो से इस खयाल को निकाल देने की कोशिश करते थे।'

ऊँच-नीच, हिन्दू-मुसलमान, छूत-छात — इन हिमाकतो से उन्हे कोई मतलब न था। बहुत-से माँ-बाप को इसकी बडी चिन्ता रहती है कि उनके बच्चे अपने जैसो के साथ ही खेले, नीची ज़ात के बच्चो के साथ न खेले और मुसलमानो से तो और भी दूर रहे। कभी गदी आदतें सीख जाने की दलील दी जाती है कभी बीमारियाँ लग जाने की, कभी यह कि नीच कौमवाले टोना-टोटका कर देते हैं, कभी यह कि क्या ठिकाना इन लोगो का, कोई ज़हर-माहुर खिला दे तो

प्रेमचद को इस तरह की बातो से बेहद चिढ थी। उनके यहाँ बच्चो के खेल-कूद पर न उस वक्त कोई पाबन्दी थी और न आगे कभी रही। इतना ही नही कि वह खुद इसी तरह धूल-मिट्टी मे खेलकर बडे हुए थे, बच्चो में इस तरह भेद-भाव करना उनके नजदीक एक भयानक सामाजिक अन्याय था और शायद उनका विश्वास था कि बच्चो के स्वस्थ मानसिक विकास के लिए यह जरूरी भी है कि बच्चे सब साथ खेलें-कूदे, उनके भीतर यह ऊँच-नीच का भाव डालना खुद उनकी मिट्टी खराब करना है।

बेटी का ज्यादा वक्त सुभान के घर पर ही बीतता था। मौका मिलते ही बेटी

---

१ विद्यार्थी २ भावनाएँ ३ भडके

दो-तीन साल के धुन्नू को लेकर सुभान के घर पहुँच जाती और घण्टो वही रही आती। सुभान की बेटी सरिया और बेटे सिराजू से उसकी बडी पक्की दोस्ती थी। मुहम्मद दफ्तरी के बेटे खुद्दन से भी उसकी काफी बनती थी, लेकिन सबसे अच्छा लगता था सुभान के घर। खुद्दन की माँ बहुत चिडचिडी थी। सरिया की माँ ऐसी नही थी और फिर वहाँ पर सरिया थी। उनके साथ घरौंदे बनाने में, गुड्डे-गुडिया का ब्याह रचाने में बडा मजा आता था। घर में बकरियाँ पली थी। उनके बच्चे कैसे प्यारे लगते है। कैसी रेशम जैसी खाल होती है उनकी! उनके कान छूने में कितना मजा आता है!

सरिया की माँ जहाँ सरिया और सिराजू को खाने के लिए रोटी-गुड देती वहाँ बेटी को भी पकडा देती। एक रोज़ बेटी वही रोटी लिये-लिये घर पहुँच गयी। अम्माँ ने देखा तो आगबबूला हो गयी और बेटी को चार-छ झापड रसीद किये। लेकिन दो-चार रोज में बात आयी-गयी हो गयी और फिर वही सिलसिला चल निकला।

घर के सामने सहन था, जिसे अक्सर वह खुद ही रहट्ठे से साफ कर लिया करते थे। आम, नीम, कटहल के कई पेड लगे थे। उन्ही की छाया में दो-चार कुर्सियाँ, दो-एक खाटें पडी रहती। यही उनकी बैठक और आरामगाह सब कुछ थी।

स्कूल से लौटते तो हल्का-सा कुछ नाश्ता करके अक्सर दूसरे-तीसरे साग-सब्जी, सौदा-सुलुफ लेने बाजार चले जाते और वहाँ से लौटते तो फिर उन्ही पेडो के साये में आसन जमाते, अखबार पलटते, पत्र-पत्रिकाएँ देखते, दोस्तो से गप-शप करते और अपने कहकहो से उस जगह को आबाद कर देते। तब तक शाम हो जाती और वह अपने कमरे में कुछ लिखने-पढने चले जाते। फिर खाना खाते और वही सामने थोडा-सा टहलकर दस बजे के लगभग बिस्तरे पर चले जाते। पेट के मरीज़ को रात को ज्यादा देर तक जागना यो भी मना है और फिर उन्हे सबेरे मुँह अँधेरे उठना रहता।

यही उनकी रोज की दिनचर्या थी। एक दिन, फिर दूसरा दिन, फिर .. नितान्त बँधा-टका जीवन, 'कलाकार' का नही किसान का, जिसके हाथ में कुदाल की जगह कलम थी।

इन्ही दिनो एक रोज अचानक उनकी मुलाकात रघुपतिसहाय फिराक से हुई जो आगे चलकर उम्र भर की दोस्ती बन गयी। उसकी दास्तान खुद फिराक साहब की ज़बानी सुनिए—

● आज से पचास-पचपन साल पहले पूरे हिन्दोस्तान में जो लोग उर्दू साहित्य में रुचि रखते थे, उनके पास एक ही मासिक पत्रिका पढने के लिए थी — कानपुर का रिसाला 'ज़माना'। .. पहले-पहल शायद सन् १० में एक कहानी इस रिसाले

में मैने पढी जिसका नाम था 'बडे घर की बेटी'। मेरे घर में, बल्कि मुहल्ले मे इस कहानी की चर्चा थी। पहली बार कोई चीज पढकर मेरी आँखो में आँसू आये थे, तो वह चीज यह कहानी थी। घरेलू जीवन की एक ऐसी जीती-जागती झलक इस कहानी में थी जिसकी मिसाल उस समय तक के उर्दू और हिन्दी साहित्य में कही नही मिलती थी। सबसे बडी बात उस कहानी में यह थी कि वह लडको और लडकियो तक को सोचने पर मजबूर करती थी। उसी समय से मुझे कुछ ऐसा मालूम होने लगा कि प्रेमचद आदमी के रूप में शायद कोई देवता है। अब तो मैं यह सोचता हूँ कि जिस ठेठ मानवता की झलक मुझे इस कहानी में मिली थी उससे देवता और फरिश्ते महरूम है।

मै स्कूल से निकलकर कालेज में जा चुका था, और म्योर कालेज इलाहाबाद में बी० ए० में पढ रहा था। गर्मी की छुट्टियो में मै गोरखपुर आया हुआ था और तीसरे पहर को कायस्थ बैंक की शानदार इमारत में जब मै एक दिन पहुँचा तो मुझे अपने पुराने दोस्त महाबीरप्रसाद पोद्दार वहाँ मिले। बैंक के लबे-चौडे बरामदे में चारपाइयाँ और कुर्सियाँ पडी थी। पोद्दार जी के साथ कोई एक और साहब बैठे हुए थे — गोरा-चिट्टा रग, मियाना कद, बडी-बडी आँखें, घनी-घनी मूँछे, सर के बाल और मूँछे कुछ सुनहरे रग की। घुटने से कुछ ही नीचे आनेवाली धोती और छोटे साइज का कुर्ता पहने हुए थे। मैं पोद्दार जी से बाते करने लगा। उन साहब की तरफ मुखातिब भी न हुआ, न उनका परिचय पोद्दार जी ने कराया।

ओकार प्रेस से मशहूर लोगो के सक्षिप्त जीवनचरित की एक पुस्तकमाला निकल रही थी जिसकी हर किताब का दाम चार आना होता था। इसी पुस्तक-माला की बात चल गयी। मैंने यह राय जाहिर की कि हिन्दोस्तान के मशहूर लोगो के जीवनचरित छापकर इस पुस्तकमाला ने अच्छा काम किया लेकिन अब्राहम लिकन जैसे भारतीय जनता में अपरिचित लोगो का जीवनचरित छापना बिल्कुल बेकार है। मेरी यह बात सुनकर पोद्दार जी के पास जो साहब बैठे हुए थे उन्होने बडे जोर का कहकहा मारा और बिना परिचय हुए ही मुझसे कहने लगे — आखिर लिकन ने क्या कुसूर किया है कि उनको इस पुस्तकमाला में जगह न दी जाय ? ..

फिर प्रेमचद का जिक्र आया और मैं जो कई वर्षो से गहरे तौर पर प्रेमचद की कहानियो से प्रभावित हुआ था, प्रेमचद के प्रति अपनी श्रद्धा और प्रशसा के भाव प्रकट करने लगा। बीच ही में पोद्दार जी ने कुछ रहस्यपूर्ण स्वर में मुझसे पूछा — आप प्रेमचद से मिलेगे ? ... मुझे यह बात इतनी अनहोनी मालूम पड़ी कि उनकी बात का विश्वास ही नही हुआ। मैंने कहा — मैं तो यह भी नही जानता कि प्रेमचद कौन है और कहाँ रहते है। मै उन्हे कैसे देख सकूँगा

मै यह कहना चाहता हूँ कि प्रेमचद के नाम का जो असर मेरी कल्पना पर

था, प्रेमचंद को देखकर उस असर को कुछ ठेस-सी लगी। मै यह समझता था कि इतना महान् लेखक सूरत-शकल और लिबास में इतना सादा और दूसरे आदमियो की तरह का न होगा। मै एक बहुत रोबीले और ठाठ-बाट के आदमी की कल्पना को अपने दिल में पाले हुए था। ●

फिराक के पिता मुशी गोरखप्रसाद 'इबरत' शायर थे, जिले के नामी वकील थे, ढेरो पैसा कमाया और शराब-कबाब में उडाया था।

अपनी दास्तान जारी रखते हुए 'फिराक' कहते है —

● प्रेमचद का घर मेरे लिए दूसरा घर हो गया था। तीसरे पहर को मै रोज ही उनके घर पर पहुँच जाता था। आम तौर से मकान के बाहर सहन मे दो-तीन कुर्सियाँ पडी रहती थी और प्रेमचद एक कुर्सी पर बैठे होते थे, मै भी आकर बैठ जाता था, बाते शुरू हो जाती थी और घटो तक होती रहती थी।

इन बातो के दौरान मुझे अनुभव होने लगा कि प्रेमचद उर्दू कविता से बहुत कम प्रभावित होते थे। वह कुछ ऐसे बने ही थे कि उर्दू गजल की नजाकते और लताफते उनके पल्ले बहुत कम पडती थी। इससे मेरे दिल को चोट लगती थी। वह ऐसे साहित्य के बहुत कम कायल थे जिसमें रूप और प्रेम या ऐन्द्रिक प्रेरणाओ को सबसे बडा महत्व दिया जाता है। स्त्री उनके लिए बहन, बेटी, माँ, पडोसिन, सहकारी, जीवन-साथी, गृहलक्ष्मी, देवी, सब कुछ हो सकती थी, और ऐसी स्त्री के चरित्र भी उनकी रचनाओ में कई एक मिलते है। लेकिन ऐन्द्रिकता के बल पर छा जानेवाली हस्ती के रूप में स्त्री का चरित्र उनकी चेतना में न आ सकता था। प्रेमचद त्यागी या वैरागी आदमी नही थे लेकिन यह भी बात थी कि ऐन्द्रिक प्रेम को वह महत्व नही दे पाते थे। वह शेक्सपियर के सानेटो, उर्दू-फारसी गजलो, शेक्सपियर के अनेक नाटको, यानी कि विश्व-साहित्य के उस हिस्से को जिसमें ऐन्द्रिक प्रेम एक बडी और दैवी शक्ति बन गया है, अपना नही पाते थे। टाल्सटाय के नाविल 'ऐना करेनिना' की वह मुक्त कठ से प्रशसा करते थे। टाल्सटाय के कलम का जादू उन पर चल गया था लेकिन जैसा कि मैंने अपने एक शेर मे कहा है 'बात वो कह ऐ इश्क, कि सुनकर सब कायल हो, कोई न माने' —कुछ इसी तरह की प्रतिक्रिया उन पर 'ऐना करेनिना' पढकर हुई थी।

मै स्वय प्रचण्ड ऐन्द्रिक प्रेरणाओ के ऐसे झक्कडो का शिकार रहा हूँ जो जिन्दगी को जड से उखाड फेंकने की ताकत रखते थे, लेकिन मैं अब इस नतीजे पर पहुँचा हूँ कि ऐन्द्रिकता और जीवन की दूसरी महान् प्रेरणाओ में जब तक मेल नही होगा, ऐन्द्रिक्ता आदमी को ले डूबेगी।

आम तौर से दो-ढाई घटा दिन रहे मैं प्रेमचद के पास आया करता था और जब दिन डूबने को होता तो वह एक बनारसी गमछा हाथ में लेकर रोज पास ही के उर्दू बाजार में तरकारी खरीदने चले जाया करते थे और मै अपने घर लौट

आता था।

प्रेमचद अब कभी-कभी मेरे घर भी आने लगे थे। उनके घर और मेरे घर में कुल दो सौ गज का फासला था, बल्कि मेरे घर से उनका घर दिखायी पडता था। एकाध बार मेरे पिता जी से वह मिले लेकिन यह मुलाकात कुछ रस्मी किस्म की रही। ●

पर फिराक के बडे भाई गनपत सहाय से, जो तपेदिक के शिकार होकर जल्दी ही दुनिया से उठ गये, ज्यादा राह-रस्म थी। मुशी जी गाहे-ब-गाहे उनके पास से मदाम ब्लावाट्स्की और कर्नल ओलकाट की लिखी हुई थियोसोफी की किताबें लाकर पढते थे।

प्रेमचद और फिराक के स्वभाव में अधिकतर बाते बिल्कुल विरोधी थी लेकिन यह चीज उनको एक-दूसरे के पास आने से न रोक सकी बल्कि शायद इस में सहायक ही हुई। जब भी फिराक गोरखपूर में होते उनकी लगभग हर शाम मुशी जी की सोहबत मे बीतती। घटो उनकी बैठक चलती और साहित्य, समाज, राजनीति, सब पर खूब तेज-तेज बाते होती। प्रेमचद की जानकारी इनके बारे में अथाह थी लेकिन फिराक के पास हर सवाल पर एक अछूती मौलिक दृष्टि रहती जो मुशीजी को बहुत आकर्षक लगती।

फिराक ने अभी लिखना शुरू ही किया था लेकिन प्रेमचद को उनकी प्रतिभा पहचानते देर नही लगी और जैसा कि उनका स्वभाव था, वह फिराक को सामने लाने का यत्न करने लगे। निगम साहब को उन्होने लिखा — 'आज की डाक से एक मजमून भेजता हूँ। एक नज्म भी है जो मेरे काबिल दोस्त बाबू रघुपति सहाय ने भगवद्गीता की दसवी मजिल से तर्जुमा की है। गह इमसाल डिप्टी कलेक्टरी में नामजद हो गये है। इल्म-दोस्त आदमी है। शेरो-सुखन का चर्चा पसद है।...हाँ, इस नज्म में कुछ नौमश्की[1] की फरोगुजाश्तें[2] रह गयी है। क्या अच्छा हो कि आप मुशी नौबतराय या किसी दूसरे उस्ताद से इसकी तसहीह[3] करा लें।'

यह दिखाने की या महज रस्मी दिलचस्पी न थी। महीने भर बाद मुशीजी ने निगम साहब को फिर लिखा — 'बाबू रघुपति सहाय आजकल कानवोकेशन के जल्से में गये हुए है। आदमी सुखनफहम[4] है। दिमाग फसलफियाना[5] है। मुस्तैद है। मगर जरा मुतलव्विन[6] है।

अच्छाई-बुराई कुछ भी नजर से छिपती न थी लेकिन निगाह ठहरती अच्छाई पर थी।

---

१ नौसिखियेपन २ भूलें ३ सशोधन ४ साहित्यरसिक ५ दार्शनिक ६ भक्की

नयी प्रतिभा को पहचानने, सँवारने और सामने लाने में मुशीजी ने कभी आलस्य नही किया । आजीवन काम के बोझ से दबे रहे लेकिन जैसे भी हुआ इसके लिए समय निकाला । दर्जनो नयी प्रतिभाओ को सामने लाये (हिन्दी की एक पूरी पीढी उनके हाथ की सँवारी हुई है) जिनमें से अनेक आगे भी साहित्य में चली और जो नही चल सकी वह प्रोत्साहन की कमी नही बल्कि अपनी किसी आन्तरिक दुर्बलता के कारण ।

नये लेखक को सँवारने और आगे लाने की उनकी अपनी ही शैली थी । बडे अनुभव और बडी अन्तर्दृष्टि से अर्जित । वह जानते थे कि नये लेखक को अपनी रचना के प्रति कैसी विशेष ममता, कैसा असाधारण मोह होता है । दुनिया को वह अपने सामने धूल समझता है । आसमान के तारे तोड लाने के मसूबे उसके दिल में होते है । अपनी कम या ज्यादा प्रतिभा के बल पर वह अपना अश्वमेध का घोडा छोडता है । किसकी हिम्मत है जो उसे हाथ भी लगा सके । अपनी आलोचना के प्रति अक्सर वह बहुत असहिष्णु होता है । इतना अहकार ठीक नही । लेकिन उसको दुहत्तड मारकर तोडा नही जा सकता, धीरे-धीरे ही उसका सस्कार सभव है । दुहत्तड मारने में खतरा है क्योकि उसके दो ही नतीजे निकल सकते है — या तो अहकार और भी भयानक रूप ले ले या उस अहकार के साथ-साथ लेखक भी हमेशा के लिए टूट जाय ।

इसलिए फूँक-फूँककर आगे बढना होगा । और मुशीजी ने इसकी एक बिल्कुल मुशियाना तरकीब निकाली । जहाँ प्रतिभा का बीज नजर आता वहाँ पहले खत या पहली मुलाकात में तो वह रचना की दुर्बलताओ को एक सिरे से पी जाते और चार हाथ आगे बढकर तारीफ करते, जो उस नये लेखक को निरस्त्र करने के लिए बहुत काफी होता । धीरे-धीरे, सामीप्य बढने पर, कमजोरियो की तरफ उसका ध्यान दिलाते । लेकिन वह भी ऊँचे आसन पर बैठकर नही, मित्रता के धरातल पर, बराबरी के धरातल पर । बहुतो ने इस बात को लिखा है । लेकिन दूसरो की कौन कहे जब कि खुद अपने बच्चों के साथ, नौकरो के साथ, मातहतो के साथ, सब के साथ उनका यही ढग था । उन्हे शायद दो इसानो के बीच दूसरे किसी सबध का पता ही न था । बडप्पन की भगिमा से अधिक गर्हित उनके समीप और कुछ न था ।

उनके छोटे लडके अमृत ने लिखा है —

● मैं अपनी बात कहता हूँ वह मेरे सबसे प्यारे दोस्त थे । मुझे याद ही नही आता कि उन्होने कभी किसी बात पर एक कडा शब्द भी मुझसे कहा हो । यहाँ तक कि पढने के लिए भी नही । हाँ, अगर इस सिलसिले की कोई बात मुझे याद है तो यही कि एक बार जब मैं छुट्टी का दिन भर गुल्ली-गबाडी में गँवाकर शाम को कमरे में बैठा भूगोल का होमवर्क कर रहा था, जो कि अगले रोज मास्टर साहब को

दिखलाना था, तो उन्होने डाँटकर मुझे कमरे से बाहर कर दिया था और कहा था, जाओ खेलने, शाम को कभी घर में मत रहा करो मुझको अच्छी तरह याद है कि हम लोग बाबू जी के सग खाना खाने के लिए कितना ललकते थे और किसी दिन उनके बगैर न खाते थे, रात दस-दस बजे तक बैठे उनकी राह देखा करते। नीद से आँखे झँपी जाती, कभी-कभी तो हम सो भी जाते, मगर तब भी उनके सग खाना खाने का लोभ सवरण न कर पाते थे। यह बात देखने में छोटी मालूम पडती है मगर इतनी छोटी नही है। बाप-बेटे में इतनी सहज और गहरी मैत्री,बराबर के दोस्त जैसी, कम ही देखने में आती है। हर छोटी-बडी बात में यह मैत्री दिखायी देती है। मुझे याद आता है, सन् ३५ के दिनो की बात है। मेरी उम्र तब चौदह के आसपास थी, इलाहाबाद मे रहता था, हाई स्कूल में पढता था, और प्रेमचद बबई से लौटकर बनारस आ गये थे। मैने तब साल डेढ साल पहले लिखना शुरू ही किया था और अपनी एक कहानी बाबू जी के पास उनकी राय और इसलाह के लिए भेजी। वह कहानी कुछ ऐसी थी जिसमे करुण रस की स्रोतस्विनी बहाने के उद्देश्य से मैंने अपने सभी प्रधान पात्रों को मौत के घाट उतार दिया था। मृत्यु से अधिक करुण तो कोई चीज होती नही, अगर करुण रस का पूर्ण परिपाक करना है तो कहानी में दो-चार मौतें तो होनी ही चाहिए। लिहाजा नायक-नायिका सब मर गये। यहाँ से वहाँ तक लाशे ही लाशे नजर आती थी। बाबूजी ने कहानी पढकर बडे दोस्ताना अदाज में मुझे लिखा कि कहानी तो अच्छी है, बस एक बात है कि इतनी मौते न हो तो अच्छा क्योकि ऐसी कहानियाँ कमजोर मानी जाती है जिनमें लेखक को करुणा पैदा करने के लिए मौत का सहारा लेना पडता है। वैसे मै खुद इसी मर्ज का शिकार हूँ। बाकी सब बहुत ठीक है।

बाकी उसमें था ही क्या, निरी बचकानी कोशिश थी। लेकिन मैंने बहुत सुपीरियर अदाज में उनको जवाब लिखा कि हाँ, जो बात तुम लिखते हो वह आम तौर पर सही हो सकती है लेकिन जहाँ तक इस कहानी का ताल्लुक है, ये मौते बचायी नही जा सकती क्योकि कहानी का यही तर्क है। इसी किस्म की कोई बात मैंने लिख दी जिसके बाद वह चुप हो रहे। और करते भी क्या! ●

छोटे से छोटे लेखक से भी मुशीजी बराबरी की सतह पर आकर ही बात कर सकते थे और उसी की एक छोटी-सी मिसाल है यह कि अपने बेटे मे बात करते समय भी, जिसे अभी कलम पकडने का शऊर भी नही था, उन्होने वह एक छोटा-सा पर उनके मन को किस खूबी के साथ खोल देनेवाला वाक्य लिखना जरूरी समझा — वैसे मैं खुद इसी मर्ज का शिकार हूँ। यह वाक्य लिखते ही जैसे सब दूरियाँ मिट गयी और ऐसा लगा कि वह गले में बाँहें डालकर बात करने लगे। दूसरा ढग उन्हे नही आता था। छोटे-बडे का सबध उनके मिजाज के लिए बनावटी और तकलीफदेह था।

फिराक के साथ भी उनकी ऐसी ही दोस्ती थी और बहुत अच्छी साहित्यिक दोस्ती थी । बहुत खुली हुई । फिराक शायर थे, गजले कहते थे, अपनी और दूसरो की ढेरो गजले सुनाते थे लेकिन मुशी जी उनकी तरफ कम ही पसीजते थे । मन का साँचा ही कुछ ऐसा बन गया था कि अकसर गजलो का जादू उन पर न चलता । आशिकी-माशूकी की गर्म और ठण्डी साँसे, माशूक की एक-एक अदा और अगो के एक-एक मोड को चटखारे ले लेकर बयान करना, हिज्र में आशिक का गरेबाँ चाक करना और छाती कूटना — यह सब मुशी जी को एक आँख न भाता था । हाँ, गालिब की बात और थी । वह कुछ कहता था । उससे दिल को एक नयी गहराई और दिमाग को एक नयी रोशनी मिलती थी । वह इसान को ऊपर उठाता है । साहित्य एक गम्भीर दायित्व का नाम है । टेसुए बहाना साहित्य नही है । वह सिर्फ एक तरह की दिमागी खुजली है । कोई अपनी खुजली मिटाने के लिए लिखना चाहता है, लिखे, उसको अख्तियार है और हम शिकायत भी नही कर सकते । लेकिन फिर उस चीज को वह हमारे सामने क्यो लाता है ? शिकायत हमें इस बात से है । इकबाल को देखो । उसकी शायरी साहित्य है । ऊँचा से ऊँचा साहित्य, जिससे कौमो की तकदीर बना करती है । इकबाल को उन्होने खूब पढा है । इकबाल उन्हे बेहद पसद है । इसीलिए जब उन्हे शायरी की जबान में कुछ कहने की जरूरत पडती है तो वह बडे मजे में अपनी बात की सनद के तौर पर सीधे जाकर इकबाल का कोई फारसी या उर्दू शेर उठा लाते है ।

इसे एक सयोग ही कहना चाहिए कि उधर इकबाल भी प्रेमचद की कहानियो पर इसी तरह जान देते थे । सन् १५ में जब 'प्रेम पचीसी' कानपुर से छपी तो इकबाल ने फौरन उस पर अपनी बहुत अच्छी और लबी सम्मति भेजी जिसे काफी प्रचारित भी किया गया ।

लेकिन फिराक का रग कुछ और था । मुशी जी के मन को जीतने के लिए वह काफी माथापच्ची करते, एक से एक साफ, सुथरी, चुस्त, खूबसूरती से तराशी हुई चीजें सुनाते लेकिन मुशी जी टस से मस न होते । देश और समाज की जिन्दगी से हटकर साहित्य का उनके लिए कोई अर्थ न था । यह अगर उनकी एकागिता थी, तो थी । क्योकि इतनी बात मुशी जी से ज्यादा अच्छी तरह और कोई न जानता था कि उनका लिखना अवकाश को भरने के लिए नही है, उन्हे लिखने के लिए अवकाश पैदा करना पडता था और वह इसी तरह पैदा होता था कि उन्होने अपनी जिन्दगी से और सब बाते काटकर निकाल फेकी थी और एकान्त भाव से साहित्य-रचना में लग गये थे । यह एक गृहस्थ योगी की, साधक की, भक्त की निर्मम कृच्छ्र-साधना थी । साहित्य को किसी महान् व्यावहारिक लक्ष्य से जोडना उनके सम्पूर्ण जीवन की उपलब्धि और आन्तरिक विवशता थी ।

यहाँ गोरखपूर में आकर जमते-जमाते चार छ महीने का समय लगा और

नये साल, १९१७ के पहले महीने में ही उन्होने 'बाजारे हुस्न' तेजी से लिखना शुरू कर दिया। उसी उमग में उन्होने २४ जनवरी १९१७ को निगम साहब को लिखा—' मै आजकल एक किस्सा लिखते-लिखते नाविल लिख चला। कोई सौ सफे तक पहुँच चुका है। इसी वजह से छोटा किस्सा न लिख सका। अब इस नाविल में ऐसा जी लग गया है कि दूसरा काम करने को जी ही नही चाहता। किस्सा दिलचस्प है और मुझे ऐसा खयाल होता है कि मै अबकी बार नाविल-नवीसी में भी कामयाब हो सकूँगा।'

फर्स्ट एड की ट्रेनिंग लेने एक महीने के लिए इलाहाबाद पहुँचे तो वहाँ भी नाविल साथ गया। ४ मार्च को उन्होने वहाँ से लिखा—' लिफाफे के अन्दर वाले खुतूत देखे। खुश हूँ। हालाँकि मेरे पास बहुत किस्सागोई के लिए न दिमाग है न वक्त। आजकल अपना नाविल लिखने में मह्व[1] हूँ। यह खत्म हो जाय तो कुछ और करूँ।'... इसी खत में उन्होने निगम साहब को यह भी सूचना दी कि प्रेमपचीसी का हिन्दी और मराठी एडीशन छप रहा है।

लेखक की खुशी के लिए इससे ज्यादा चाहिए भी क्या।

सच्चे अर्थो में, बरसो की बीमारी और पस्ती के बाद यह उनका नवजीवन है जिसमें वही उल्लास है उमग है उभार है जो कि नये जीवन की पहचान है। भीतर स्फूर्ति इतनी है कि जैसे समा नही पा रही है और वह खुद अपने साथ दौड-सी लगा रहे है।

४ मार्च को उन्होने लिखा था 'आजकल अपना नाविल लिखने मे मह्व हूँ।' फिर सात दिन बाद वही इलाहाबाद से लिखा .. 'नाविल गालिबन् एक माह में पूरा होगा और उम्मीद करता हूँ कि मई में उसे आपके मुआइने के लिए हाजिर कर सकूँगा।...' जो कि बच्चो जैसे उत्साह के अतिरेक में लिखी हुई बात थी क्योकि फिर २३ मार्च को उन्होने अधिक संयत और सुस्थिर होकर लिखा—

'... मेरा नाविल चल रहा है। अब जरा इत्मीनान हो जाये तो खत्म करूँ। तूल हो रहा है। चाहता हूँ कि जल्द अंजाम की तरफ चलूँ।'

आखिरकार ८ अगस्त को उन्होने लिखा—

'. . अपना नाविल खत्म कर रहा हूँ। उसे पहले हिन्दी में तबा[2] कराने का कस्द[3] है। उर्दू में तो पब्लिशर अनका[4] है।

और फिर २९ जनवरी १९१८ को—

'.. अपना नाविल हिन्दी में लिख रहा हूँ। फुर्सत नही मिलती। न कोई तातील ही पडती है। मगर आज इरादा करता हूँ कि साफ करने में हाथ लगा दूँ।'

साल भर के भीतर, शायद आठ या नौ महीने में ही 'सेवासदन' अपने

---

१ विभोर २ प्रकाशित ३ विचार ४ दुर्लभ

मूल उर्दू रूप में तैयार हो गया। मगर प्रकाशक कहाँ। इधर हिन्दी का प्रकाशक तकाजे पर तकाजे कर रहा था। प्रेमचद के लिए यह एक नया ही अनुभव था —

— और उर्दू के अब तक के अनुभव से कितना भिन्न जहाँ कोई छापनेवाला ही न मिलता था और अकसर किताब खुद अपने खर्चे से छपानी पडती थी या पचास रुपये लेकर एक एडीशन का वारा-न्यारा कर देना पडता था! उर्दू प्रेम पचीसी के साथ यही तो हुआ था। बडी-बडी मुशकिलो से, बहुत-बहुत चिरौरी-बिनती के बाद उसका पहला हिस्सा, जिसमें कुल बारह कहानियाँ थी, डेढ बरस में छपकर तैयार हुआ था, सन् १५ के आरम्भ में। दूसरा हिस्सा उसके फौरन बाद आना चाहिए था उसके बिना किताब अधूरी थी। लेकिन कभी यह कभी वह, एक न एक अडचन लगी रही और उसका दूसरा हिस्सा छपकर तैयार हुआ सन् १८ के आरम्भ में, 'बाजारे हुस्न' लिखे जाने के साथ-साथ, उसी एक बरस में जिसमे 'बाजारे हुस्न' लिखा गया जिसके छपने का अभी कही जिक्र न था। और पोद्दार इसी दम उपन्यास की पाण्डुलिपि माँग रहे थे, कितनी जल्दी मिले और वह छपाई शुरू करे। यह एक जी को अच्छी लगनेवाली बात थी। लिहाज़ा जिस रौ में किताब लिखी गयी थी, उसी तेजी से उसका हिन्दीकरण शुरू हुआ।

इस तेज़ी और इस उमग को देखकर धोखा हो सकता है। पर यह जवानी की उमग नही है। अभी पिछले ही साल तो उन्होने लिखा था 'मेरे लिए बुढापे का जिक्र ही फिजूल है। मै किस बूढे से कम हूँ।' तबसे तबीयत सँभली जरूर थी लेकिन ऐसी नही कि चिन्ता के बादल एकदम छँट गये हो और अगर वह इस समय छंटे हुए मालूम होते है तो सिर्फ इसलिए कि वह आपे में नही है, उनके ऊपर अपने काम का भूत सवार है। उपन्यास पूरा होते ही देखिए कितना उदास खत है यह जो उन्होने अप्रैल १९१८ में लिखा था —

' जिन्दगी की उम्मीद यहाँ भी कम है। मगर यह चाहता हूँ कि या तो साथ चलें या खफीफ-सी तकदीम-ओ-ताखीर[1] हो। मै आपका पेशरौ[2] बनना चाहता हूँ। मौत की फिक्र मारे डालती है। कितना चाहता हूँ कि परमात्मा पर भरोसा रखूँ, मगर दिल मूजी है, समझता नही। किसी महात्मा की सोहबत मिले तो शायद रास्ते पर आये। यही फिक्र है कि आज मै मर जाऊँ तो इन बच्चो का पुरसाँहाल कौन होगा। घर में कोई ऐसा नही दोस्तो में अगर है तो आप और नही है तो आप। और न होगा तो मेरे बाद साल-दो साल इन बेकसो की खबर तो ले सकते है। इसी फिक्र में डूबा जाता हूँ। कुछ सरमाया जमा करने की कोशिश करता हूँ मगर कामयाबी नही होती। कभी किसी दूकान को, कभी

---

१ देर-सबेर २ अगुआ

किसी दूसरे कारोबार की नीयत बाँधता हूँ ।'

जो दो-चार हजार रुपये बीवी ने कतर-ब्योंत करके बचा लिये है, वही कुल बिसात है । उसी की बुनियाद पर अपना शेखचिल्ली का महल खडा करना चाहते है । न जाने कहाँ से निहायत रद्दी कागज पर फूहड ढग से छपी हुई एक किताब उन्हे मिल जाती है । उसमें आनन-फानन ढेरो रुपया कमाने की तरकीबे लिखी हुई है । मुशीजी बहुत जतन से उसको रखे हुए है । कभी रुपया सूद पर चलाते है — मगर वह लौटकर नही आता । कभी लाटरी का टिकट खरीदते है — मगर नाम नही निकलता । कभी शेयर खरीदने की बात करते है — मगर भाव ठीक नही बैठता ।

बुढापे का सिलसिला बत्तीस-तैतीस की उम्र में ही शुरू हो गया था । अब तक तो वह न जाने कितना बूढा हो चुका है । जिन्दा कैसे है, यही ताज्जुब है !

मगर एक बात है । बहुत जमाने से बीमारियो और बुढापे के साये में रहते-रहते उसने एक सबक यह जरूर सीख लिया है कि जब जरा-सी बदली छँटे और धूप हो तो उसी को बहार समझना चाहिए । मुशकिल सबक है मगर उम्र सिखा देती है ।

लिहाजा यह जो उमग या तेजी इस वक्त दिखायी देती है, वह कुछ उस बीमार की सी उमग है जो मौत के मुँह से निकलकर आया है और गो बिस्तर उसने अभी नही छोडा है और न मन पर से वह डरावने साये मिटे है तो भी जितनी कुछ राहत उसे मिली है उसी को वह गनीमत समझता है और जो हल्का-सा ठहराव उसकी तबीयत में आया है उसका एक पल भी वह अकारण नही जाने देना चाहता । उसे पता है कि हर साँस और सूरज की हर किरन कितनी अनमोल है ।

'बाजारे हुस्न' का 'सेवा सदन' बनते-बनते गर्मी की छुट्टियाँ आ गयी । इसी बीच छोटे भाई की शादी तय हो गयी थी । पिछले बरसो में कितनी ही बार बात उठकर खत्म हो चुकी थी जो कि ठीक ही था । अब वह हीले से लग गये थे । शादी और हो जाय तो एक बडी जिम्मेदारी सर से उतर जाय ।

२ जून १९१८ को मुंशीजी ने निगम साहब को लिखा —

'मैं २९ मई को शादी से फरागत पा गया । अभी दो-एक रोज की झझट और बाकी है । इसके बाद कलकत्ते जाने का कस्द है । अपने हिन्दी नाविल को प्रेस में देना है ।'

इन्ही सब परीशानियो में इस बार छुट्टियो में कानपुर नही जा पाये । यह एक अनहोनी बात थी ।

गोरखपुर पहुँचकर ६ जुलाई को उन्होने लिखा —

'ऐसी परीशानियो में था कि कानपुर आने का मौका ही न मिला । ११ मई को यहाँ से चला, २७ को बारात के साथ गया, ३० को वापस आया, ११ को कलकत्ते गया, २० को वहाँ से आया । फिर मकान की मरम्मत में फँसा । खपरैल का

घिसा, पुराना, बोसीदा मकान, गिर पडने का अन्देशा था। ऐसी हालत में क्या लिखता। अभी जब से आया हूँ आँखे उठी हुई है, किसी तरह मदरसे जाता हूँ।'

'सेवा सदन' प्रेस में जाते ही मुशी जी को 'बाज़ारे हुस्न' की फिक्र सवार हुई।

लाहौर से जनाब इम्तयाज अली 'ताज' जो बहुत उदार राष्ट्रीय विचारो के आदमी थे और खुद भी अच्छे लेखक थे, 'कहकशाँ' नाम की एक पत्रिका निकालते थे। उनकी अपनी प्रकाशन सस्था भी थी — दारुल इशाअत। मुशी जी 'कहकशाँ' में बराबर लिखते थे और गो उन दोनो की मुलाकात बहुत बाद में जाकर हुई, बरसो बाद, चिट्ठी-पत्री के जरिए दोनो के बीच बहुत पक्का स्नेह-सबध स्थापित हो गया था। उन्हे एक दूसरे को जानते तीन-चार बरस से ऊपर हो गया था जबकि मुशी जी ने बडे हसरत के लहजे में उन्हे २९ जनवरी १९२१ को लिखा —

' क्या आपकी और मेरी मुलाकात न हो सकेगी ? दुनिया में मेरे सिर्फ गिने-गिनाये दोस्त है। आप भी इस निहायत महदूद[1] तादाद के रुक्ने-खास[2] है। मगर अफसोस कि अभी तक सूरत-आशनाई भी नही। और न हो तो अपना फोटो ही भेज दीजिए।'

अब से डेढ बरस पहले एक बार ऐसा हुआ कि प्रेमचद की एक कहानी से 'ताज' की कहानी का विचार टकरा गया। प्रेमचद की कहानी 'कहकशाँ' के लिए आयी और 'ताज' ने उसे पढा तो फिर अपनी कहानी पूरी न कर सके। उसका जिक्र करते हुए मुशी जी ने १४ जुलाई १९१९ को लिखा —

' मजामीन का मुझे अफसोस इसलिए है कि आपका किस्सा अधूरा रह गया और खुशी इसलिए कि हमारे दरमियान कोई रूहानी[3] या बातिनी[4] ताल्लुक जरूर है वर्ना औरो को वही बाते क्यो नही सूझती। पर आप अपना किस्सा तमाम करे। हर गुलेरा रग ओ बू दीगर[5]।'

एक नये लेखक की दिलजोई के लिए इससे ज्यादा क्या कहा जा सकता था। मगर बात इतनी ही न थी। प्रेमचद को सचमुच अपने इस नये दोस्त से हार्दिक स्नेह हो गया था। अपने इसी खत में आगे चलकर वह लिखते है —

'मेरी वजा-ओ-कता[6], शक्ल-ओ-शबाहत[7] के मुताल्लिक आपने जो कयास किया है उससे रूहानी ताल्लुक का गुमान और पुख्ता हो जाता है। बेशक मेरा सिन चालीस साल है। मै बन्द कालर का कोट और सीधा पाजामा पहनता हूँ, और पगडी पहनता हूँ। एक पूरबी आदमी का पहनावा फेल्ट कैप है, आपने पगडी का

---

१ सीमित २ विशिष्ट सदस्य ३ आत्मिक ४ आन्तरिक ५ हर फूल का रग और गध अलग होती है ६ रहन-सहन ७ सूरत-शकल

गुमान क्यो किया ? क्या आपको इलहाम हुआ है ? मै अपने मुसल्लमाँ[1] उसूलो के खिलाफ अपना एक फोटो भी इरसाले खिदमत करता हूँ, इस शर्त पर कि वह बाद मुलाहिजा वापस कर दिया जाय । और या अगर आप बतौर एक दोस्त की याद-गार के रखना चाहे तो उसका किसी आर्टिस्टसे एक बडे पैमाने में बस्ट बनवा ले ।'

यो ही पढने-लिखने के सिलसिले में यह जान-पहचान शुरू हुई लेकिन जल्द ही उसने बहुत अच्छी दोस्ती की शक्ल अख्तियार कर ली । अपने इस नये दोस्त के सुन्दर राष्ट्रीय विचारो और साहित्यिक प्रतिभा दोनो ने मुशीजी को बहुत ज़ोर से अपनी तरफ खीचा । उसकी लिखी कई चीजें मुशीजी की निगाह पर चढ चुकी है और मुशीजी ने बहुत खुलकर उनकी दाद भी दी है — जैसे 'भारतसपूत' जो गाधी जी की जीवनी है, 'अनारकली' जिसे मुशीजी बहुत ऊँचे पाये का नाटक समझते है और जिसे आगे चलकर वैसी ही जगह मिली भी, 'टीन की लैला' और 'नाबीना जवान' जो कि बहुत खूबसूरत कहानियाँ है और बहुत-सी गजले जिनकी तारीफ करते मुशीजी नही थकते ।

मुशीजी को इस समय अपने लिए एक नयी पत्रिका की तलाश भी है जो उनके नजदीक 'ज़माना' की जगह ले सके । देश में इस बीच बहुत कुछ हुआ है और मुशीजी 'जमाना' के नये रग-ढग से बिल्कुल सन्तुष्ट नही हैं । निगम साहब की दोस्ती अपनी जगह, 'जमाना' की पालिसी के साथ चल पाना इन बदले हुए हालात में मुशी जी के लिए मुश्किल हो रहा है । ४ सितबर १६१८ को उन्होंने अपने सहज स्पष्टवादी ढग से निगम साहब को लिखा था — जमाना के लिए बेशक इधर कुछ नही लिख सका । कोर्स का मुतालआ[2] सौहानेरूह[3] है और कुछ यह अम्र[4] भी माने[5] होता है कि जमाना में अब ज़िन्दादिली बाकी नही रही । वह किसी नये रकीब[6] के लिए जगह खाली करता हुआ मालूम होता है । ज़माना में अब दिल नही है, सिर्फ कालिब[7] है ।'

ताज के राष्ट्रीय विचार मुशीजी के समान ही है । उनके पास पत्रिका है । प्रकाशन-सस्था भी है । किताबे भी निकल सकती है वहाँ से । उनका सिलसिला अभी कुछ ठीक जम नही पाया है । अच्छा प्रकाशक कही नजर नही आता । जमाना प्रेस का अनुभव भी बहुत अच्छा नही है । कयामत हो जाती है किताब छपते-छपते । फिर भी अच्छी नही छपती । बिक्री का भी कुछ यो ही सा बन्दोबस्त है । लाहौरवाले किताबे अच्छी छापते है । दारुल इशाअत से मुआमला हो जाय तो क्या कहना ।

लिहाजा २७ जुलाई १६१८ को उन्होने ताज साहब को लिखा —

---

१ पक्के २ अध्ययन ३ घोर मानसिक कष्ट ४ बात ५ बाधक ६ प्रतिद्वन्दी ७ देह

"कब यह मुमकिन हो कि 'कहकशाँ' में मेरा नाविल बित्तरतीब[1] निकल सके। मुमकिन है कि इसके निकलने से पर्चे की इशाअत[2] पर कुछ असर पड़े। यह नाविल कोई तीन सौ सफहात का है। इसके लिखने मे मैंने अपनी कोई कोशिश उठा नही रखी।"

फिर ३ सितबर को लिखा —

' अगर आप इतनी बडी किताब छाप सकें तो मैं साफ करना शुरू करूँ, वर्ना अभी गर्मी की तातील तक मुल्तवी रखूँ। आपको साफ करने की तकलीफ न दूँगा क्योकि साफ करने में अकसर सीन के सीन पलट जाते है। इस किस्से में मैने एक अखलाकी बेशर्मी यानी बाजारे अस्मतफरोशी[3] पर चोट की है।'

फिर २७ मई १६१६ को लिखा —

'. आप इसे हमेशा के लिए चाहते है तो मुझे कोई उज्र नही है। मै उर्दू पब्लिक से वाकिफ हूँ। यहाँ हमेशा के मानी है ज्यादा से ज्यादा तीन एडीशन और वह भी दस सालो में या इससे भी ज्यादा। इसलिए मै ऐसी शर्तें हरगिज़ पेश नही कर सकता जो नामाकूल हो। मेरे खयाल में पहले एडीशन के लिए बीस फी सदी रखें और बकिया दो एडीशनो के लिए दस फी सदी। यानी कुल रकम साढे तीन सौ रुपये होती है। यह हिसाब मैने कुल अमूर[4] को मद्दे नजर रखकर पेश किया है और मुझे यकीन है कि आपको नागवार न होगा।'

प्रेमबत्तीसी भी अब दारुल इशाअत से ही छपेगी। मुशीजी ने २५ सितम्बर १६१६ को लिखा —

'मुझे पचीसी और बत्तीसी के लिए १४ फी सदी का आफर हो चुका है। रवीन्द्र बाबू को मैकमिलन बीस फी सदी देता हे। मै रवीन्द्र बाबू नही हूँ, इसलिए बारह और बीस के दरमियान पन्द्रह पर काने[5] होना चाहता हूँ।'

'बाज़ारे हुस्न' में मुशीजी को अपनी जमीन मिल गयी है। समाज में जितनी बेईमानी है, गदगी है, अन्याय है, ढोग-ढकोसला है, उस पर चोट करने वाले किस्से लिखना ही उनकी अपनी बात होगी।

अन्याय का नाम लेते ही उनका ध्यान सबसे पहले स्त्री जाति पर जाता है। उससे ज्यादा जुल्म का शिकार और कौन है। कहने के लिए औरत मर्द बराबर है। सब ढकोसला है। औरत मर्द के पैर की जूती है। सच बात इतनी ही है। बाकी सब कलई-मुलम्मा है।

मर्द कुछ भी करे, कही आये कही जाये, दिन-रात रण्डी के कोठे पर बैठा रहे, औरत चूँ भी नही कर सकती। औरत ने घर के बाहर पैर निकाला नही कि

---

१ क्रमशः २ प्रचार ३ सतीत्व-विक्रय ४ बातो ५ सतुष्ट

शुबहे ने मर्द का दामन पकडा और उसके दिमाग का पारा चढा — चाहे फिर बेचारी औरत अपना दिल बहलाने के लिए किसी सहेली के घर ही क्यो न गयी हो। मर्द की अदालत में फिर उसकी कोई सुनवाई नही है। जो कुछ भी अनाप-शनाप उसके मुँह में आयेगा, कहेगा — औरत को मुँह खोलने की भी इजाजत नही है। अपनी सफाई में कुछ कहना भी बेअदबी है और इसकी सजा यह है कि उसे आधी रात को बिल्कुल बेसहारा अपने घर से निकाल दिया जाता है, जहाँ जी चाहे जाये, जो जी में आये करे। लेकिन सवाल तो यह है कि कहाँ जाय और क्या करे। कोई उसका पुरसाँहाल नही होता। बदनामी का डर है। वह अपने घर से निकाली हुई, पति-परित्यक्ता कलकिनी जो है। न्याय-अन्याय की छानबीन करने का अवकाश किसे है। कौन है जो उस घडी पल भर को उसका हाथ थाम सके ? और जो ऐसे मे, जीवित रहने के लिए, वह कही कोई बुरा मार्ग पकड ले तो वह कुल-कलकिनी है, कुल-घातिनी है, हरजाई है, रण्डी-बेसवा है

. सब है सब है। जितनी गालियाँ आती हो सब दे डालो। लेकिन उससे कुछ काम नही बनता, रोग भी दूर नही हो सकता, और न इस सच्चाई पर ही पर्दा डाला जा सकता है कि उस गरीब औरत को ऐसी हालत में पहुँचाने की सबसे बडी और सबसे पहली जिम्मेदारी समाज की है।

बहुत बार मुशीजी दालमण्डी होकर गुजरे है और हर बार दोनो तरफ कोठो पर अपना शरीर बेचने के लिए बैठी हुई औरतो को देखकर उनका जी कराह उठा है और हर बार उनके मन मे सवाल पैदा हुआ है — इन औरतो में खुद कोई खोट है जैसे पैसे की हवस या बदचलनी का शौक या बेचारी शिकार है अपनी परिस्थितियो की ? और हरबार उनके मन ने यही कहा है कि नही, इन औरतो में खुद कोई खोट नही है, कमोबेश ये भी वैसी ही है जैसी कि और सब औरते होती है। अच्छे-बुरे कहाँ नही होते। यह तो दुनिया का कायदा है, क्या मर्द क्या औरत। भले घरो में भी बदचलन औरते निकल आती हैं और बाजारू औरतो में भी नेकचलन औरतें पायी जाती है, जो उस काजल की कोठरी में रहते हुए अपने ऊपर दाग नही लगने देती। मनुष्य का स्वभाव सब जगह एक है। वह न तो देवता है और न दानव। वह मनुष्य है। जिसे हम देवता समझते है उसमें भी हजार गदगियाँ हमें मिल सकती है और जिसे हम दानव समझ बैठे है वह भी मौका मिलने पर चरित्र के अकल्पनीय उत्कर्ष का परिचय दे सकता है। सबसे बडी बात यह है कि आदमी परिस्थितियो का दास है। परिस्थितियाँ जो नाच नचाती हैं आदमी नचाता है, जैसा बना देती है आदमी बन जाता है। उनसे लोहा ले सकने वाले आदमी थोडे ही होते है, उनके भरोसे समाज के नियम नही बनाये जा सकते। किसी तरह दिल कबूल नही करता कि ये औरते अपनी खुशी से अपना शरीर बेचती है। कुछ है जिन्होने उसी परिवेश में उसी वातावरण में जन्म

लिया है और दूसरा कुछ देखा ही नही, जाना ही नही। कुछ है जो लेन-देन की कठिनाइयो से वक्त पर शादी न हो पाने के कारण या भरी जवानी में विधवा हो जाने पर फिर सारी जिन्दगी अपनी जवानी का बोझ न ढो सकने के कारण लुच्चे-लफगो के चगुल में फँसकर इस रास्ते आ लगी है। कुछ है जिन्हे शायद जिन्दगी की सिर्फ एक भूल यहाँ ले आयी है — क्योकि समाज मर्द की हजार भूले माफ कर सकता है, औरत की एक भूल नही माफ कर सकता।

बहरहाल जैसे भी आयी हो, उनको इस जहन्नुम से निकालने की कोई तदबीर हो सकती है या नही ?

सुनिए, शरीफ हसन की जबानी मुशीजी क्या कह रहे है —

' इसमें तो कोई बुराई नही कि वह अपने को मुसलमान कहती है, बुराई यह है कि इसलाम भी उन्हे राहे-रास्त[1] पर लाने की कोई कोशिश नही करता। हिन्दुओ की देखादेखी इस्लाम ने भी उन्हे अपने दायरे से ख़ारिज कर दिया है। जो औरत एक बार किसी वजह से गुमराह हो गयी उसकी तरफ से इसलाम हमेशा के लिए अपनी आँखें बन्द कर लेता है। बेशक हमारे मौलाना साहब सब्ज इमामा बाँधे, आँखो में सुरमा लगाये, गेसू सँवारे उनकी मजहबी तसकीन के लिए जा पहुँचते है, उनके दस्तरखान से मीठे लुकमे खाते है, खुशबूदार खमीरे के कश लगाते है और उनके ख़ासदान[2] से मुअत्तर[3] बीडे उडाते है। बस, इसलाम की मजहबी कूवते इसलाह[4] यही तक खत्म हो जाती है। अपने बुरे फेलो[5] पर नादिम होना इन्सानी खास्सा है। ये गुमराह औरतें पेशतर नही तो शराब का नशा उतरने के बाद जरूर अपनी हालत पर अफसोस करती है, लेकिन उस वक्त उनका पछताना बेसूद होता है। उनके गुजरान की इसके सिवा और कोई सूरत नही रहती कि वह अपनी लडकियो से दूसरो को दामे-मोहब्बत[6] में फँसायें। और इस तरह यह सिलसिला हमेशा जारी रहता है। अगर उन लडकियो की जायज तौर पर शादी हो सके और इसके साथ ही उनकी परवरिश की सूरत भी निकल आये तो मेरे खयाल में ज्यादा नही तो ७५ फी सदी तवायफ इसे खुशी से कबूल कर लें। हम चाहे खुद कितने ही गुनहगार हो पर अपनी औलाद को हम नेक और रास्तबाज[7] देखने की तमन्ना रखते है। तवायफो को शहर से खारिज कर देने से उनकी इसलाह नही हो सकती।'

लेकिन शरीफ हसन या तेग अली जैसे सुलझे हुए, उदार विचारो के लोग कम है। बहुमत, क्या हिन्दुओ में और क्या मुसलमानो में, उनका है जो या तो हिन्दू है या मुसलमान, इन्सान नही है, जो इस गभीर सामाजिक और मानवीय प्रश्न

---

१ सीधे रास्ते २ पान का डब्बा ३ सुगधित ४ सुधार की शक्ति ५ कृत्यो ६ प्रेम के जाल ७ सदाचारी

पर भी हिन्दू या मुसलमान की ही भाषा में सोच पाते हैं । उन्हे इसमें एक-दूसरे की राजनीतिक चाले नजर आती है । उनकी इसी जेहनियत की चुटकी लेते हुए तेग अली कहते है —

' आजकल पोलिटिकल मफाद का जोर है, हक और इन्साफ का नाम न लीजिए । अगर आप मुर्दारिस है तो हिन्दू लडको को फेल कीजिए । तहसील-दार है तो हिन्दुओ पर टैक्स लगाइए । मजिस्ट्रेट है तो हिन्दुओ को सजा दीजिए। सब-इसपेक्टर पुलिस है तो हिन्दुओ पर झूठे मुकदमे दायर कीजिए, तहकीकात करने जाइए तो हिन्दुओ के बयान गलत लिखिए । अगर आप चोर है, तो किसी हिन्दू के घर डाका डालिए, अगर आपको हुस्न या इश्क का खब्त है तो किसी हिन्दू नाजनीन को उडाइए, तब आप कौम के खादिम[1], कौम के मुहसिन[2], कौमी किश्ती के नाखुदा[3] सब कुछ है । '

प्रेमचद ने बहुत दुनिया देखी है और उनके पाँव जमीन पर है । उन्हे खूब पता है कि लखनऊ मे काग्रेस-लीग एकता का प्रस्ताव पास करने से एकता न हो जायेगी, वह अलग एक लबा और कठिन सघर्ष है । वर्ना तो यही हालत रहनी है कि एक तरफ हाजी हाशिम कहेगे — ' बिरादराने वतन की यह नयी चाल आप लोगो ने देखी ? वल्लाह, इनको सूझती खूब है ! बगली घूँसे मारना कोई इनसे सीख ले ! ' .

और दूसरी तरफ चिम्मनलाल कहेगे — ' मुझे पालिटिक्स से कोई वास्ता नही है और न मै उसके निकट जाता हूँ । लेकिन मुझे यह कहने में तनिक भी सकोच नही है कि हमारे मुसलिम भाइयो ने हमारी गर्दन बुरी तरह पकडी है । चावलमण्डी और चौक के अधिकाश मकान हिन्दुओ के है । यदि बोर्ड ने यह स्वीकार कर लिया तो हिन्दुओ का मटियामेट हो जायेगा । छिपे-छिपे चोट करना कोई मुसलमानो से सीख ले । '

और समस्या ज्यो की त्यो अपनी जगह पर बनी रहती है ।

वह तो खैर, वैसे भी अपनी जगह पर अटल है जब तक कि समाज के स्तम्भ, जिनके कधो पर हमारा समाज टिका है, वेश्या को मनुष्य न समझ कर पुरुष की अतिरिक्त कामेच्छा के लिए एक गन्दी नाली समझते रहेगे । बहुत सहज ढग से शाकिर बेग कहते है — ' आप जब कोई मकान तामीर करते है तो उसमें बद-ररौ[4] बनाना जरूरी खयाल करते है । अगर बदररौ न हो तो चन्द दिनो में दीवारो की बुनियादें हिल जायँ । इस फिरके को सोसायटी का बदररौ समझना चाहिए और जिस तरह बदररौ मकान के नुमायाँ हिस्से में नही होती बल्कि निगाह से पोशीदा एक गोशे में बनायी जाती है उसी तरह इस फिरके को शहर के

---

१ सेवक २ उपकारक ३ मल्लाह ४ नाली

पुरफिजा मुकामात से हटाकर किसी गोशे में आबाद करना चाहिए।'

मगर वह कोई इलाज नही है। वह फुनगी तोडने जैसी बात है, इलाज तो जड का करना होगा। उस सामाजिक अत्याचार को मिटाना होगा जो कुछ अभागिनो को इस रास्ते ले जाता है, और वह दूषित समाज-व्यवस्था मिटानी होगी जिसमें ये अत्याचार पनपते है, पलते है, बढते है।

असल दोषी है यह महाजनी समाज जिसमें आदमी पैसे की तराजू पर तुलता है और उस पैसे को एकत्र करने के लिए रिश्वतखोरी, सूदखोरी, डाका, खून, सब कुछ नीति-सगत है — शर्त एक ही है कि आदमी पहलू बचाकर काम करे और पकडा न जाय। जो पहलू बचाकर काम करते है उनमें महन्त राम दास जैसे लोग है —

"वह साधुओ की एक गद्दी के महन्त थे। उनके यहाँ सारा कारोबार 'श्री बाँके बिहारी जी' के नाम पर होता था। श्री बाँके बिहारी लेन-देन करते थे और बत्तीस रुपये सैकडे से कम सूद न लेते थे। वही मालगुजारी वसूल करते थे, वही रेहननामे-बैनामे लिखते थे। श्री बाँके बिहारी की रकम दबाने का किसी को साहस न होता था और न अपनी रकम के लिए कोई दूसरा आदमी उनसे कडाई कर सकता था। श्री बाँकेबिहारी जी को रुष्ट करके उस इलाके में रहना कठिन था। महन्त रामदास के यहाँ दस-बीस मोटे-ताजे साधू स्थायी रूप से रहते थे। वह अखाडे में दण्ड पेलते, भैस का ताजा दूध पीते, सध्या को दूधिया भग छानते और गाँजे-चरस की चिलम ता कभी ठण्डी न होने पाती थी। ऐसे बलवान जत्थे के विरुद्ध कौन सर उठाता? महन्त जी का अधिकारियो में खूब मान था। श्री बाँकेबिहारी जी उन्हे खूब मोतीचूर के लड्डू और मोहनभोग खिलाते थे। उनके प्रसाद से कौन इनकार कर सकता था। ठाकुर जी ससार में आकर ससार की रीति पर चलते थे।"

कोई उनका बाल बाँका नही कर सकता। और जो लोग पहलू बचाकर काम करना नही जानते उनका जीवन सुमन के पिता कृष्णचन्द्र की तरह एक ही भूल में बर्बाद हो जाता है।

इससे नतीजा निकला कि धर्म-अधर्म, नीति-अनीति स्वत कोई चीज़ नही है, पैसे और प्रभुत्व के लिए जो कुछ किया जाय सब ठीक है, नीति-सगत है। ऐसा हो यह समाज है।

ठीक इन्ही दिनो, फरवरी १९१९ में, मुशीजी का एक बहुत मार्के का लेख 'दौरे कदीम दौरे जदीद' (पुराना जमाना नया जमाना) के नाम से 'जमाना' में निकला। इस नये जमाने, नयी समाज व्यवस्था की बखिया अच्छी तरह उधेडते हुए मुशीजी ने उसमें लिखा —

'. वह खुद आराम से अपना पेट भरेगी चाहे दुनिया भूखो मरे, खुद हँसेगी चाहे दुनिया खून के आँसू रोये। अगर उसे लाल कपडे पहनने की धुन हो जाये और लाल रग खून से निकलता हो तो उसे दूसरो का खून करने में भी झिझक न

होगी। अगर इसान के दिल का टुकडा उसके शरीर को ताकत पहुँचानेवाला हो तो निश्चय ही हजारो आदमी उसके खजर के नीचे तडपते नजर आयेंगे। स्वार्थपरता उसका धर्म, उसकी पुस्तक, उसका रास्ता सब कुछ है। सारी मानवीय भावनाएँ, सारे नैतिक प्रश्न इस हवस के पुतले के आगे सिर झुका देते है। यह कल और मशीन का युग है और राष्ट्र इस युग की सबसे स्पष्ट अभिव्यक्ति है। यह देव-जैसी मशीन दिन-रात पागलो-जैसी तेजी मगर सिपाहियो जैसी पाबन्दी के साथ चलती रहती है। कोई इसके घेरे में आ जाय, यह उसे देखते-देखते निगल जायेगी, उसे पीस डालेगी। वह किसी पर दया नही करती, किसी के साथ रियायत नही करती। वह एक भीमकाय रोलर है जिसमें व्यापार और प्रभुत्व की दो लाल-लाल आँखें घूर-घूर कर बेखबर लोगो को चेतावनी देती है कि खबरदार, सामने न आना वर्ना पलक झपकते भर में मारे जाओगे '

'व्यापार और कल-कारखानो की उन्नति, तरह-तरह के यत्रो का आविष्कार, जिस पर नये युग को इतना गर्व है' मुशीजी के लिए कोई मतलब नही रखते 'जब कि सिगरेट कौडियो के मोल बिकता है, बटन और टीन के खिलौने मारे-मारे फिरते है मगर दूध और घी, मकई और ज्वार का स्थायी अकाल पडा हुआ है, जब कि देहात उजडते जाते है और शहरो की आबादियाँ बढती जाती है जब कि आदम के बेशुमार बेटे बदबूदार और अँधेरी कोठरियो में जिन्दगी बसर करने के लिए मजबूर है जब कि बडे-बडे व्यावसायिक नगरो में सतीत्व आवारा और परीशान रोता फिरता है (लदन में चालीस हजार से ज्यादा वेश्याएँ है और कलकत्ते में सोलह हजार से ज्यादा) जब कि आजाद मेहनत की रोटी खानेवाले इसान पूँजीपतियो के गुलाम होते जाते है, जब कि महज पैसेवाले व्यापारियो के नफे के लिए खूनी लडाइयो में कूदने से भी लोग बाज नही आते '

लडाई की बात यो ही नही आ गयी है, महाजनी समाज की मानवद्रोहिता की वह अतिम सीमा है और लाखो बेगुनाहो का खून करने वाले महायुद्ध को अभी मुश्किल से दो महीने बीते है।

इन्ही दिनो की एक कहानी 'होली की छुट्टी' में लडाई से लौटा हुआ उनका एक सिपाही कहता है —

' अब इस फौजी जिन्दगी की हालतो पर गौर करता हूँ तो शर्म और अफसोस से मेरा सर झुक जाता है। कितने ही बेगुनाह मेरी राइफल के शिकार हुए। मेरा उन्होने क्या नुकसान किया था ? मेरी उनसे कौन-सी अदावत थी ? मुझे तो जर्मन और आस्ट्रियन सिपाही भी वैसे ही सच्चे, वैसे ही बहादुर, वैसे ही खुशमिजाज, वैसे ही हमदर्द मालूम हुए जैसे फ्रास या इगलैंएड के। हमारी उनसे खूब दोस्ती हो गयी थी, साथ खेलते थे, साथ बैठते थे, यह खयाल ही न आता था कि यह लोग हमारे अपने नही है। मगर फिर भी हम एक दूसरे के खून के प्यासे थे।

किसलिए ? इसीलिए कि बडे-बडे अग्रेज सौदागरो को खतरा था कि कही जर्मनी उनका रोजगार न छीन ले। यह सौदागरो का राज है। हमारी फौजें उन्ही के इशारो पर नाचने वाली कठपुतलियाँ है। जान हम गरीबो की गयी, जेबे गर्म हुई मोटे-मोटे सौदागरो की'

मुशीजी की असल लडाई इन सौदागरो से, इस महाजनी समाज से है और उन्हे इस बात से शिकायत है कि 'उस जहर को, जो समाज-व्यवस्था में घुल गया है, निकालने की कोशिश नही की जाती, सिर्फ उसके ऊपरी प्रभावो, ऊपरी विकृतियो को छिपाने और मिटाने में लोग लगे हुए है। कोढी जिस्म को रगीन कपडो से ढँका जा रहा है।'

जरूरत उस कोढ को दूर करने की है। औरत का अपनी आबरू बेचने के लिए बाजार में बैठना भी इसी कोढ की एक फुसी है मगर क्योकर उम्मीद हो इस फुसी के इलाज की, उसी कोढी समाज से जो 'आत्मा को भी तराजू के पलडो पर तौलता है। उसे जनतत्र कहना गलती है। बराबरी और भाईचारे को उसने पैरो तले इस तरह रौदा है कि अब उसकी शक्ल भी पहचानी नही जाती। इसान की कीमत उसके नजदीक इतनी ही है कि वह एक रुपया कमाने का साधन है। वह कसाई की तरह इसान के गोश्त और खाल का अदाजा करके उसकी कीमत लगाता है।'

क्रूर समाज की चक्की में पिसती हुई मानवता की ऐसी ही आर्त पुकार मुशीजी को विक्टर ह्यूगो की 'ले मिजराब्ल' मे मिली थी जिसे उन्होने 'बाजारे हुस्न' शुरू करने के ठीक पहले पढा था और उसका इतना गहरा असर उनके मन पर हुआ था कि २ जनवरी १९१७ को उन्होने निगम साहब को जैसे बेचैन होकर लिखा — 'पहले यह बताइए कि विक्टर ह्यूगो की मशहूर किताब 'ले मिजराब्ल' का उर्दू तर्जुमा हुआ है या नही। अगर हुआ है तो कहाँ मिल सकता है। अगर नही हुआ है तो मै इस काम में जुटना चाहता हूँ। साल भर का काम है। किसी तरह से पता लगाकर बताइए।'

कथा-बीज उसमें इतना ही है कि ज्याँ वालज्याँ नाम का एक आदमी भूख से पीडित होकर एक बार चोरी करता है। वह एक चोरी उसे हमेशा के लिए चोर बना देती है। कितनी ही बार वह चाहता है कि उस रास्ते को छोडकर भले आदमी की तरह शान्ति से जीवन व्यतीत करे। लेकिन कर नही पाता क्योकि चोर का ठप्पा उसके ऊपर लगा हुआ है और समाज के निर्मम प्रतिशोधात्मक न्याय के प्रतीक के रूप में जावेर निरन्तर किसी क्रूर नियति के समान उसका पीछा कर रहा है।

सुमन की एक भूल भी नियति की छाया की तरह अत तक उसका पीछा करती है और सबसे वज्र निर्मम आघात है वह जो उसे अपनी ही छोटी बहन के

हाथो सहना पडता है जिसकी उजडी हुई जिन्दगी को सँवारने में खुद सुमन का हाथ है। सुमन जीवन से निराश होकर उसका अंत कर देने के लिए गगा जी की ओर बढी जा रही है, जो कि प्रतिकूल समाज के आगे व्यक्ति की अंतिम पराजय है, जबकि अकस्मात् एक चमत्कार की भाँति स्वामी गजानन्द, सुमन के पति जो सुमन के चले जाने के बाद पश्चात्तापवश सन्यासी हो गये थे, अवतरित हो जाते हैं और सुमन को आत्महत्या के मार्ग से विरत करके उसे सेवाधर्म की दीक्षा देते हैं।

अक्सर ऐसी स्थितियो में मुशीजी चमत्कार का आश्रय लेते हैं। उनके कुछ साहित्यप्रेमी बधुओ को बुरी भी लगती है यह चीज। उनमें से एक कोई अबदुल्ला नाम के सज्जन निगम साहब को इसके बारे में लिखते है जिसके उत्तर में मुशीजी ने भगवान् जाने अपने किस अनुभव या प्रमाण के आधार पर (या शायद यह भी उनके भीतर का किसान है) अप्रैल १९१८ के एक पत्र में निगम साहब को लिखा — 'मिस्टर अब्दुल्ला की राय पर अमल करूँगा हालाँकि Supernatural element इन्सान की जिन्दगी में दाखिल है।'

वह हो या न हो, इतना सिद्ध है कि जहाँ जीवन का प्रमाण चुक जाता है वहाँ चमत्कार की शरण लेनी पडती है, जहाँ लेखक समाज के ढाँचे को बदलने में अपने को अक्षम पाता है वहाँ एक न एक आश्रम की स्थापना करके अपना मन तोष पा लेता है।

छपाई में लगभग साल भर का समय लेकर 'सेवासदन' १९१९ के मध्य में प्रकाशित हुआ। 'प्रेमा' के बाद, जो सन् १९०७ में प्रकाशित हुआ था और जिसकी कही कोई चर्चा न हुई थी, मुशीजी का यह पहला उपन्यास था जो हिन्दी में प्रकाशित हो रहा था। मुशीजी को स्वभावत अपनी इस कृति से बडी-बडी आशाएँ थी – और पुस्तक जब निकली तो अच्छा-खासा एक तूफान आ गया। चारो ओर धूम मच गयी। गोरखपुर से निकलने वाले साप्ताहिक पत्र 'स्वदेश' के ८ सितम्बर १९१९ के अंक में पडित पद्मसिह शर्मा और श्री रामदास गौड के सयुक्त हस्ताक्षर से एक समालोचना निकली जिसमें पुस्तक को खूब-खूब सराहा गया। और भी सब तरफ चर्चा हुई। २५अक्तूबर १९१९ को मुशीजी ने सहज उत्साह के ज्वार में निगम साहब को बडे चुलबुले अंदाज में लिखा — "सरस्वती जबान पर नही खोपडी पर सवार हैं। लक्ष्मी दरवाजे पर नही बालाए बाम बैठी हुई है। दाना दिखाता हूँ, बुलाता हूँ, पर उतरने का नाम नही लेती। किस्से मैं शायद लिखूँ या न लिखूँ, आजकल 'बाजारे हुस्न' की सफाई और नये नाविल की तसनीफ में बेहद मसरूफ हूँ। 'बाजारे हुस्न' का गुजराती तर्जुमा शाया हो रहा है। ... हिन्दी में लोग इसे बेहतरीन नाविल खयाल करते है। कहानियो का तर्जुमा बँगला जबान में हो

रहा है। हिन्दी में पब्लिशर खूब है। किताबकी इशाअतमे कोई रुकावट नही हुई।"

साल भर में पहला सस्करण बिक भी गया। ऐसे में मुशीजी के जोशो का क्या कहना। लेकिन एक बात बराबर खल रही थी कि कहाँ तो एक तीसरी ही जबान, गुजराती में, किताब का तर्जुमा निकल रहा है और कहाँ जिस जबान में किताब सबसे पहली लिखी गयी, उसी में छपने का अब तक कोई बदोबस्त नही हो सका। ताज साहब को इसके बारे में लिखे हुए एक साल पूरा हो रहा था और अब तक वह प्रस्ताव पर विचार ही कर रहे थे। आखिरकार मुशीजी ने जैसे भी हो मामला तय करने की गरज से, बहुत दुखी होकर और शायद थोडा झुँझलाकर २२ अप्रैल १९२० को ताज साहब को लिखा —

'... अगर इन सूरतो में कोई पसन्द न हो तो मुझे पहले एडीशन के लिए ढाई सौ रूपये अता[१] फरमाये। हिन्दी में मुझे पाँच सौ मिले थे। गुजराती एडीशन के मुझे सौ रुपये मिले। आप जिस तरह चाहे फैसला करें। ढाई सौ रुपये गालिबन जरूरत से ज्यादा मतालबा[२] नही है। मेरी डेढ साल की मेहनत और खाम फर्साई[३] का नतीजा यह किताब है। अगर यह सब शर्तें आपको नागवार मालूम हो तो अपनी मर्जी के मुताबिक किताब शाया करके मुझे जो चाहे दे दे, मै आपका मशकूर हूँगा। मुझे यह सख्त जिल्लत मालूम होती है कि अपनी किताब के लिए पबलिशरो की खुशामद करता फिरूँ।'

खैर, किताब छपी — लेकिन कोई खास कामयाबी उसे नही मिली। उर्दू-वालो के लिए कोठे की जिन्दगी और उसके मसलो में कोई नयापन नही था। नजीर अहमद, सरशार और मिर्जा रुसवा जैसे लोग उसके बारे में बहुत लिख चुके थे और बहुत अच्छा लिख चुके थे।

---

१ दें २ माँग ३ कलमघिसाई

१२

भारत-मत्री माराटेग्यू ने अपना पद सँभालते ही, २० अगस्त १९१७ को, शासन-सुधार का आश्वासन दिया। तत्काल उसका प्रभाव पडा। होमरूल के लिए 'निष्क्रिय प्रतिरोध' आन्दोलन की जो बात उस समय उठ रही थी वह दब गयी और उसकी जगह यह निश्चय किया गया कि एक डेपुटेशन वाइसराय और भारत-मत्री के पास भेजा जाय जो काग्रेस-लीग योजना के आधार पर उनसे बात करे। प्रसिद्ध लिबरल नेता सी० वाई० चिन्तामणि को इस कमेटी का प्रधान चुना गया। नवम्बर के महीने में यह डेपुटेशन मॉराटेग्यू और चेम्सफर्ड से मिला।

उन दिनो सारे देश में चारो ओर इसी रिफार्म स्कीम की चर्चा थी। मॉराटेग्यू और चेम्सफर्ड सारे देश में घूम-घूमकर विशिष्ट लोगो से मिल रहे थे।

माराटफर्ड रिपोर्ट छपने पर मिसेज बेसेराट ने कहा था कि इस रिफार्म स्कीम का ब्रिटेन की ओर से पेश किया जाना और हिन्दुस्तान का उसे मजूर करना, दोनो ही बातें अशोभन होगी। लेकिन मॉराटेग्यू से मिलने पर उनका विचार बदल गया और वे कुछ दूसरा ही राग गाने लगी।

देशभर के नरमदली उनकी इस बात को दुहराते और बडे व्यथित स्वर में कहते — मिस्टर मॉराटेग्यू बेचारे क्या कर सकते है, अगर एक तरफ यहाँ के गरम-दलवाले और दूसरी तरफ इगलैराड के कट्टरपथी, दोनों ही उनका विरोध करेंगे।

जिसका मतलब था कि रिफार्म स्कीम अपने मूल उद्देश्य में सफल हो रही थी। आखिरकार जून १९१८ में रिफार्म स्कीम अपने अतिम रूप मे देश के सामने आयी — भारत की राष्ट्रीय आकाक्षाओ को बहलाने-फुसलाने की, नरम-दली तत्वो को बढावा देकर राष्ट्रीय आन्दोलन मे फूट डालने की एक छलभरी योजना। ब्रिटिश सरकार की पुरानी दुरगी नीति का एक नया रूप — नरमदल-वालो को उभारो और उग्र राष्ट्रवादियो को सख्ती से कुचलो।

भारतरक्षा कानून, जिसके अन्तर्गत सरकार ने बहुत ही व्यापक अधिकार अपने हाथ में ले लिये थे, जोरो से काम कर रहा था। अखबारो का गला घोटा जा रहा था। सभा-सोसायटी पर रोक लगी थी। लोग सब तरफ जेलो में बन्द किये जा रहे थे। मौलाना मुहम्मद अली और शौकत अली लडाई छिडने के तीन

महीने बाद, अक्तूबर १९१४ से ही जेल में बन्द थे और लडाई खत्म होने के भी बरस भर बाद तक बन्द रहे आये। तिलक और बिपिनचन्द्र पाल के दिल्ली और पजाब-प्रवेश पर रोक लगी हुई थी।

सरकार को अपनी लडाई के लिए चाहिए जवान भी थे, रुपये भी, मगर अपने ढग से। तिलक-जैसे पुराने उग्र राष्ट्रवादी पर उसका विश्वास कर सकना कठिन था। मदद लेते भी डर लगता था। तिलक कठोर व्यावहारिक राजनीतिज्ञ थे और सरकार भी इस बात को समझती थी।

बम्बई के गवर्नर ने जब युद्ध के प्रसग में नेताओ की एक सभा बुलायी तो तिलक भी उसमें गये। पर उन्हे बोलते अभी मुशकिल से दो मिनट हुआ था कि जबरन् चुप करा दिया गया क्योकि उन्होने वहाँ भी भारत के राष्ट्रीय अधिकारो की बात उठायी। ठीक है, हम आप की हर मदद करेगे लेकिन हमें भी तो बदले में दीजिए कुछ! और फिर, जब हमारे जवान आप की पलटन में भर्ती होकर लडेंगे तो उन्हे भी योग्यतानुसार वही रैंक या स्थान मिलना चाहिए जो कि आप अपने सैनिको को देते है। यह तो बिलकुल न्याय की बात है। लेकिन सरकार यह न्याय की बात सुनने के लिए तैयार न थी और तिलक को बैठा दिया गया। वाइसराय ने जब दिल्ली में मीटिग बुलायी और गाधी जी को उसके लिए आमन्त्रित किया तो गाधी जी को पहले उसमें जाने में आपत्ति हुई, केवल इस कारण से नही कि सुना जाता था ब्रिटेन ने रूस से कोई गुप्त सधि की है जिसके अन्तर्गत कुस्तुनतुनिया तुर्की से लेकर रूस को दे देने की बात थी बल्कि इसलिए भी कि तिलक और मिसेज बेसेण्ट जैसे लोगो को नही आमत्रित किया गया था। लेकिन चेम्सफर्ड ने उनको समझा लिया और वह मीटिग में शरीक हुए। तिलक को भी तार देकर दिल्ली बुलाया गया पर तिलक ने जाने से इनकार कर दिया। उनके दिल्ली-प्रवेश पर रोक लगी हुई थी और इस तरह जाना उनके लिए असम्मानजनक था।

अगस्त १९१८ में तिलक पर एक नयी पाबन्दी यह लगा दी गयी कि वह कलेक्टर से इजाजत लिये बगैर, पलटन में भर्ती होने का समर्थन करने के लिए भी कही भाषण न दे सकते थे।

उन्ही दिनो तिलक ने गाधी जी के रवैये से शायद कुछ खिन्न होकर उनके पास पचास हजार रुपये का चेक भेजा था जो कि एक तरह की जमानत थी — अगर आप सरकार से यह आश्वासन लेकर मेरे पास भेज दें कि हिन्दुस्तानियो को भी फौज में कमिशण्ड रैंक मिलेगा तो मै अकेले महाराष्ट्र से पाँच हजार जवान आपको भर्ती करके दूँगा और अगर मैं यह न कर सकूँ तो आप इस रुपये को जब्त कर ले।

लेकिन गाधी जी इसके लिए भी तैयार न थे और उन्होने यह कहकर तिलक का चेक लौटा दिया कि सरकार को बिलकुल शुद्ध मन से सहायता देनी चाहिए,

उसका रूप किसी प्रकार सौदेबाजी का न होना चाहिए। दक्षिण अफ्रीका में, बुअर युद्ध में, सरकार का साथ देने के बाद वहाँ की सरकार ने उनके साथ जो कुछ किया था, उससे भी शिक्षा लेने के लिए गाधी जी तैयार न थे। उनका मोहनाश होने में अभी कुछ देर थी।

बहरहाल सरकार ने अच्छी तरह समझ लिया था कि तिलक को, और तिलक जिनके प्रतीक थे उन्हे, दबाकर रखने में ही साम्राज्य की सुरक्षा है।

इस तरह मुल्क के सामने ब्रिटिश हुकूमत के दो चेहरे आये—एक तो मुस्कराता हुआ, चिकना-चिकना, शराफत का पुतला, रिफार्म स्कीम का चेहरा और दूसरा लाल-लाल आँखे निकाले, गुस्से में बिफरा हुआ, रौलट ऐक्ट का चेहरा .

मुशीजी व्यावहारिक राजनीति के क्षेत्र से बिलकुल अलग अपने एक कोने में बैठे हुए ख़ामोशी से काम कर रहे थे — लेकिन आँख-कान खूब-खूब खुले हुए, देश-विदेश की हर बडी घटना के प्रति असाधारणरूप से सजग। और उनके जैसे अलग-थलग एक व्यक्ति के आचरण का समाज पर तत्काल कोई प्रभाव पडता हो या न पडता हो, उनकी दृष्टि में यह बात अपने आप में महत्व रखती थी कि व्यक्ति जिसको सत्य और न्याय समझता है उसके लिए अपनी आवाज उठाता है, भले वह आवाज कितनी ही अकेली हो, कितनी ही कमजोर हो। महत्व इस बात का नही है कि उस आवाज में दम था या नही और दुनिया उससे हिली या नही हिली। महत्व इस बात का है कि एक आदमी ने, चाहे वह कितना ही छोटा क्यो न हो, सच को सच और झूठ को झूठ, न्याय को न्याय और अन्याय को अन्याय कहा।

एक से दो और दो से चार आवाजे पैदा हो जाती है, वैसे ही जैसे ताल में कंकड फेंकने पर एक से दो और दो से चार लहरें पैदा हो जाती है।

वह भी न हो तो भी दूसरो का मुँह जोहकर अपनी आवाज को गले में न फँसने दो क्योकि अपने उस अकेलेपन में भी उस आवाज़ का साकेतिक महत्व रहेगा और जिस सकेतलिपि को एक पीढी नही पढ पाती, उसे आनेवाली पीढियाँ पढती है।

यह विचार उनकी एक दिन की उपलब्धि नही है। अब से कोई चार बरस पहले उन्होने इसी आशय की एक कहानी 'एक ही आवाज' लिखी थी जो कहानी के रूप में कमजोर है लेकिन जिसकी आधारशिला यह सत्य एक बडा सत्य है।

सरकारी नौकरी अब दिनोदिन दुर्वह होती जा रही थी। चारो तरफ हाथ-पैर मार रहे थे कि दूसरी कोई नौकरी मिल जाय तो इसको छोड दे। उनके दोस्त निगम साहब की मॉडरेट राजनीति अब तक उन्हे सरकार से पूरा-पूरा सहयोग करने की ओर ले जा चुकी थी और लडाई के ज़माने में जब सूबे की सरकार ने 'वॉर जर्नल' (जगी अख़बार) जारी किया तो निगम साहब को भी उसकी कमेटी

का मेम्बर बनाया। मुदर्रिसी छोडने और अखबार का काम करने की बात अब तक बीसियो बार मुशीजी उनसे कर चुके थे। लिहाजा निगम साहब के दिल में खयाल आया कि अगर मुशी जी उस अखबार के उर्दू सस्करण की जिम्मेदारी लेने को तैयार हो तो उन्हे वहाँ लाने की कोशिश की जाय।

मुशीजी ने उनके इस प्रस्ताव के जवाब में ६ जुलाई १९१८ को लिखा —

'अब मै सरकारी अखबारनवीस क्या बनूंगा। अगर अखबारनवीस बनना तकदीर में है तो गैर-सरकारी, आजाद अखबारनवीस होऊँगा। जग के मुताल्लिक मजामीन लिखने की भी इस वक्त मुझे फुर्सत नही है। बस इसी अपनी रफ्तारे-कदीम[1] पर चलूगा। बी० ए० करके किसी प्राइवेट स्कूल की हेडमास्टरी और एक अच्छे अखबार की एडीटरी और कुछ और पबलिक काम। यही मेराजे-ज़िन्दगी[2] है। अखबार मजदूरो-किसानो का हामी[3] और मुआविन[4] होगा।'

जाहिर है कि ऐसा आदमी सरकारी अखबार के बहुत काम का नही था। उधर निगम साहब की उन दिनो वही दुनिया थी। दिन-रात हुक्काम के सग का उठना-बैठना था। इन्ही दिनो एक बार ऐसा हुआ कि निगम साहब ने अपनी बडी लडकी की शादी में अपने कुछ अग्रेज दोस्तो को भी दावत दी। मुशीजी को यह बात इतनी काफी नागवार हुई कि उन्होने निगम साहब को लिखा कि आपने अग्रेजो को अपने यहाँ क्यो बुलाया। जब वह लोग हमको काला आदमी समझते हैं और हमारी छाया से भागते है तो हमें भी चाहिए कि उनको अपने से कतई दूर रक्खे।

गरज कि दोनो मित्र दो विरोधी दिशाओ में एक दूसरे से काफी दूर जा पडे थे और उनके बीच एक खाई खिचती चली आ रही लेकिन थी दोनो अगले वक्तो के वजादार आदमी थे और दोस्ती की बुनियादें बहुत पक्की थी, इसलिए कुछ खास बिगडा नही। पर अब व्ह पुरानी बात भी न थी।

अपनी किन्ही झझटो में निगम साहब को जवाब देने में कुछ देर हो गयी, लेकिन उन्होने शायद एक बार फिर गौर कर लेने के लिए मुशीजी से कहा। उसके जवाब में मुशीजी ने अपने इनकार को दोहराते हुए लिखा —

● भाईजान, तसलीम। हजार-हज़ार शुक्रिया। भला मुझ गरीब मुदर्रिस की याद अभी तक हुजूर के दिल में बाकी तो है। यह आपकी खता नही। जमाने की हवा से आप भी नही बच सकते। और न मुझे इसका दावा है। मसब[5] और सरवत[6] का हक अव्वल है और जो महज दोस्त है और कुछ नही, उनका सानी[7]! शिकायत करे, वह गँवार। बुरा न मानिएगा।

वॉर जर्नल के मुताल्लिक। मुझे यहाँ मय मकान के सौ रुपये मिलते है,

---

१ पुरानी रफ्तार २ जीवन-शिखर ३ समर्थक ४ सहयोगी
५ पद ६ वैभव ७ गौण

इलाहाबाद में एक सौ बीस पर जाना मेरे लिए बेसूद है । और मै बदकिस्मती से इसे कौमी काम नही समझता । मुझे इस काम से मुआफ रखिए । ●

असल बात यही है, मुशीजी इसे कौमी काम नही समझते । लेकिन एक दोस्त उसी सब में लगा हुआ है, इसलिए इतने लट्ठमार ढग से इस बात को कहने में जी कतराता है, लिहाजा मुशीजी इधर-उधर से बहाने खोज कर लाते है । लेकिन फिर डर मालूम होता है कि निगम साहब कही तनख्वाह को बढाने की बात न कहे, फिर क्या होगा ? चुनाचे वह हिम्मत करके अगले ही जुमले में वह बात कह देता है जो अब तक उसके गले में फँस रही थी । किसी तरह यह किस्सा खत्म हो । बहरहाल, मुशीजी ने इसी खत में यह भी लिखा कि 'हाँ, मैने उसमानिया युनिवर्सिटी में दरख्वास्त दी है । अगर आप मिस्टर हैदरी पर मेरी बाबत कोई असर डाल सके तो यह आपकी दोस्त-नवाजी होगी, हालाँकि मुझे उम्मीद नही है कि हैदराबाद में मेरा कोई पुरसाँ[1] होगा ।'

उर्दू लेक्चरर की जगह थी । मगर हुआ वही जो होना था । सर अकबर हैदरी सरकार के नामी खैरख्वाहो में थे, प्रेमचद के लिए वहाँ कहाँ गुजाइश थी जहाँ दर्शनशास्त्र के विभाग में नियुक्ति के लिए सारी कोशिश-पैरवी के बावजूद इकबाल की दाल नही गली गो उस वक्त वह अपनी शोहरत की चोटी पर थे ।

आजकल अखबार रूस की खबरो से भरे रहते है और कैसी-कैसी भयानक खबरे ! लगता है कि न जाने कहाँ के खूँखार वहशी आ मरे है वहाँ ! सब कुछ तहस-नहस कर डाला । खून की नदियाँ बहा दी । एक से एक रोगटे खडे कर देनेवाली कहानियाँ और तसवीरे ।

सब पता है मुशीजी को । तर्क उनके पास नहीं है पर उनका दिल कहता है कि सब मनगढन्त बाते है । कही आसमान से थोडे ही टपके है बोलशेविक, उसी धरती के तो बेटे है । मगर कैसे भाये उनका राज उन लोगों को जो कल तक खुद राजा थे और ये लोग जो आज गद्दी पर बैठे हुए है कल तक उनके गुलाम थे, रिआया थे, जिन्हे वह सरे-बाजार कोडे मारते थे । खूब गहरा हल चला, नीचे की मिट्टी ऊपर आ गयी । इसी को भूकम्प भी कहते है ।

वैसी ही कुछ चीज यहाँ भी खौल रही है, पक रही है भूमि के गर्भ में ! और लोग उसे बहलाना चाहते है रिफार्म स्कीम से !

मगर मुशीजी तो पूरी तरह उसी भूडोल के साथ है । छोटे-मोटे सुधारो से उनका काम नही चलने का । फर्वरी १९१९ के उसी लेख में, जिसका जिक्र ऊपर आ चुका है, मुशीजी की नजर इस नये जमाने के उस एक रौशन पहलू पर भी जाती है 'जो उन काले दागो को किसी हद तक ढँक देता है ।' वह रौशन पहलू

---

१ पुछत्तर

है 'बेजबानो की ताकत का जाहिर होना।' 'अब एक फाकाकश मजदूर भी अपनी अहमियत समझने लगा है और धन-दौलत की ड्योढी पर सर झुकाना पसद नही करता। . वह भी अच्छे मकानो में रहना चाहता है, अच्छे खाने खाना चाहता है और मनोरजन के लिए अवकाश की माँग करता है। वह पूँजी का दुश्मन है, व्यक्तिगत सपत्ति की जड खोदनेवाला और व्यापारियो की जत्थेबदी का हत्यारा। सब की एकता उसका जेहाद का नारा है। वह ऊँच-नीच को मिटाकर सारी ज़मीन को समतल बनाने की कोशिश करता है। वह ऐसी राज्य-व्यवस्था स्थापित करना चाहता है जो धनोपार्जन के समस्त साधन अपने हाथ में रक्खे और हर व्यक्ति को उसकी मेहनत और योग्यता के अनुसार बराबर बांटे। वह जमीन्दारो को एक गदी और बेकार चीज समझता है और उनकी सम्पत्ति को उनके कब्जे से निकालकर जनता के कब्जे में रखना चाहता है।'

और यह दूसरो की आग मे हाथ सेंकने की बात नही है, अपने देश के लिए भी उन्हे इसी आग की, इसी भूडोल की तडप है। 'स्वराज्य' की लफ्जी फुलझडी से बहल जानेवाले वह नही है, उनके सवाल धरती से उठते है और धरती की करवट ही उनका जवाब दे सकती है—

● हमारे स्वराज्य के नेताओ में वकील और जमीन्दार ही सबसे ज्यादा है। हमारी कौंसिलो में भी यही दो समुदाय आगे-आगे दिखायी पडते है। मगर कितने शर्म और अफसोस की बात है कि उन दोनो में से एक भी जनता का हमदर्द नही। वे अपने ही स्वार्थ और प्रभुत्व की धुन में मस्त है। वह अधिकार और शासन की माँग करते है और धन और वैभव के इच्छुक है, जनता की भलाई के नही। आप स्वराज्य की हाँक लगाइए, सेल्फ गवर्नमेण्ट की माँग कीजिए, कौसिलो को विस्तार देने की माँग कीजिए, उपाधियो के लिए हाथ फैलाइए, जनता को इन चीजो से कोई मतलब नही है, बल्कि अगर कोई अलौकिक शक्ति उसे मुखर बना सके तो वह आज जोरदार आवाज में, शख बजाकर आपकी इन माँगो का विरोध करेगी। कोई कारण नही है कि वह दूसरे देश के हाकिमो के मुकाबले में आपकी हुकूमत को ज्यादा पसद करे। जो रैयत अपने अत्याचारी और लालची जमीन्दार के मुँह में दबी हुई है, जिन अधिकार-सम्पन्न लोगो के अत्याचार और बेगार से उसका हृदय छलनी हो रहा है, उनको हाकिम के रूप में देखने की कोई इच्छा उसे नही हो सकती।

इसकी क्या जमानत है कि आपके पजे में आकर उनकी हालत और भी बुरी न हो जायेगी? आपने अब तक इसका कोई सबूत नही दिया कि आप उनकी भलाई चाहनेवाले है। अगर कोई सबूत दिया है तो उनकी बुराई चाहने का, स्वार्थ का, लोभ का, कमीनेपन का। आप स्वराज्य की कल्पना का मज़ा ले-लेकर खूब फूले और बगले बजायें मगर अधिकारो के साथ-साथ कर्तव्यो का ध्यान रखना

भी जरूरी है। जाहिल रईसो या जमीन्दारो से हमें शिकायत नही। उनकी आँखे उस वक्त खुलेगी जब उनकी गर्दनें जनता के हाथो में होगी और वह बेबस निगाहो से इधर-उधर ताक रहे होगे। शिकायत हमें उन लोगो से है जो पढे-लिखे है और जमीन्दार हैं, वकील हैं और जमीन्दार है। वह अपने दल से पूछे कि वह प्रजा के साथ अपना कर्तव्य पूरा कर रहे है? उनका दिल साफ कहेगा कि तुम इस तराजू पर तौले गये और ओछे निकले।

आनेवाला जमाना अब किसानो और मजदूरो का है। दुनिया की रफ्तार इसका साफ सबूत दे रही है। हिन्दुस्तान इस हवा से बेअसर नही रह सकता। हिमालय की चोटियाँ उसे इस हमले से नही बचा सकती। . जनता की इस ठहरी हुई हालत से धोखे में न आइए। इनकलाब के पहले कौन जानता था कि रूस की पीडित जनता में इतनी ताकत छिपी हुई है?.... ●

और इसके करीब दस महीने बाद २१ दिसम्बर १९१९ को, मुशीजो ने निगम साहब को लिखा था —

'. मैंने अभी तक करेण्ट पालिटिक्स पर कुछ नही लिखा। मुझे जमाना की पॉलिसी पर नजर डालते हुए कुछ लिखना मुनासिब नही मालूम होता। पीस डिक्लेरेशन का तो अमदन् जिक्र न करूँगा लेकिन रिफार्म स्कीम का जिक्र न करना गैर-मुमकिन है। और स्कीम या ऐक्ट के मुताल्लिक मैं मिस्टर चिन्तामणि वगैरहुम से मुत्तफिक[1] नही हूँ। मेरे खयाल में मोतदिल[2] पार्टी इस वक्त जरूरत से ज्यादा मगरूर और नाजाँ[3] है हालाँकि इसलाहो[4] में अगर कोई खूबी है तो सिर्फ यह कि तालीमयाफ्ता जमात को कुछ आसानियाँ ज्यादा मिल जायँगी और जिस तरह यह जमात वकील बनकर रिआया का खून पी रही है, उसी तरह आइन्दा यह हाकिम होकर रिआया का गला काटेगी। इसके सिवा और कोई जदीद[5] अख्तियार नही दिया गया। जो अख्तियारात दिये गये है उनमें भी इतनी शर्तें लगा दी गयी है कि उनका देना न देना बराबर हो गया है। ऐसी हालत में मैं जमाना में क्या लिखूंगा। मैं अब करीब-करीब बोल्शेविस्ट उसूलो का कायल हो गया हूँ।'

फिजूल पेचीदगियो में पडने की उन्हे आदत नही। ढेरो दूध में से तोला भर मक्खन निकलता है। कौन पीता बैठे उतना सब दूध? मक्खन ले लिया, काफी है।

बाकी बातो से उन्हे बहस नही। होगा जो होगा। कोई किताब थोडे ही लिखनी है बोल्शेविज्म पर। मोटी-मोटी बातें समझ ली, बहुत है।

यही कि दुनिया दो हिस्सो में बँटी हुई है। करोडो नगे-भूखे और मुट्ठीभर मालदार, जो उन करोडो का खून पीकर ही मोटे हुए है।

---

१ सहमत २ मॉडरेट ३ घमण्ड में चूर ४ सुधारों ५ नया

यह अन्याय अब नही चल सकता। झूठ है, जिसका जैसा भाग्य, भगवान ने जिसको जैसा बनाया भगवान ने सबको बराबर बनाया है। यह ऊँच-नीच, गरीब-अमीर की दीवारे हमने खुद खीची है। और हमी अब उनको मिटायेगे। अपने पौरुख से, अपना खून-पसीना बहाकर। रूस में यही हुआ है। दूसरा कुछ नही हुआ। यही बोल्शेविज्म है।

जगल में आग लग जाती है। नदी में बाढ आ जाती है। भूडोल मे पहाड मिट्टी में मिल जाते है और मिट्टी में से पानी निकल आना है। बोल्शेविज्म भी मुशी जी के लिए कुछ ऐसी ही चीज है — सदियो से दबी-पिसी जनता की बगावत बहुत हो ली अंधेरगर्दी, रोज-रोज की हारी-बेगारी, जाफा-बेदखली। क्यो सहे किसी की धौस। जमीन उसकी जो उसे जोते।

ऐसी कोई नयी बात भी नही है इसमें। नया इतना ही है कि उखडी-उखडी सी एक बात जो दबी-सहमी उनके सीने में कही पडी थी, उसे किसी देश के लोगो ने पूरा करके दिखा दिया। मन के फीके रग चटक हो गये और पहली बार उन्होने समझा कि किसान वक्त पडने पर बगावत भी कर सकता है। अगर रूस में कर सकता है तो यहाँ भी कर सकता है। जरूरत सिर्फ इस बात की है कि उन्हे तैयार किया जाय, जगाया जाय — वैसे ही जैसे वहाँवालो ने जगाया, टाल्सटाय ने, दोस्तोवेस्की ने, तुर्गनेव ने, चेखोव ने, गोर्की ने। और मुशीजी को अब दूसरी ही हैरानी थी कि अब तक मेरी समझ में यह बात क्यो नही आयी। कैसा हो जाता है कभी-कभी कि आँख के सामने पडी हुई चीज नजर नही आती! बरसो भटका मैं इधर-उधर, कभी दो रोज़ इसके पीछे तो चार रोज उसके पीछे, समझ में ही न आता था कि अपने लिए कौन-सा रास्ता अख्तियार करूँ और इतना बडा-सा चौडा-सा रास्ता जो मेरी आँख के सामने था वह मुझे दिखा ही नही। शुरू से मैं उन्ही के बीच रहा, पला, बढा, उठा-बैठा, बोला-बतियाया। खुद हल नही जोता तो क्या, उनका राई-रत्ती हाल तो जानता हूँ। क्या खाते है, क्या पहनते है, क्या ओढते है, क्या बिछाते है, क्या सोचते है, क्या कहते है, कैसे कहते है, सब कुछ तो मैने देखा है, सुना है। चौपाल में बैठकर चिलम पीते, अलाव के गिर्द बैठकर घण्टो आलू-मटर भूनकर खाते और जाने कहाँ-कहाँ को बातें करते, कोल्हाडे में ऊख का रस पेरते, आम-महुआ बीनते, करवी काटते, गैया को सानी बोरते, मोट छीनते, हल जोतते, खेत हेगाते, बीज छिडकते, धान काटते, दँवाते, ओसाते — हर समय तो मैंने उन्हे देखा है, उनसे बाते की है और वैसे नही जैसे शहरी बाबू करते है। मैं कहाँ का शहरी बाबू हूँ। मैं तो खुद किसान हूँ। उनका कौन-सा दुख-दर्द ऐसा है जो मैंने एक न एक कुर्मी के घर में नही देखा। फिर मुझे क्यो नही दिखायी दिया कि मेरी असल जमीन कौन-सी है? क्यो भटकता रहा मैं इधर-उधर? कोई बडा किस्सा किसानो की जिन्दगी को लेकर मैंने क्यो नही लिखा? आधी उम्र निकल

गयी और जो जमीन खास मेरे जोतने की थी, उसे मैंन जोता ही नही '

और 'बाजारे हुस्न' ख़त्म होने के तीन महीने के भीतर २ मई १९१८ को मुशी जी ने, 'प्रेमाश्रम' के मूल उर्दू रूप 'गोशए आफ़ियत' पर काम शुरू कर दिया।

अलाव को घेरकर किसान बैठ गये और बातें होने लगी — अपने दुख-दर्द की, हारी-बेगारी की, जाफा-बेदखली की, रिश्वत और घूस की। कितना सहज ढग है उनका जैसे जिन्दगी खुद-ब-खुद बोल रही हो, कुम्हार अपने चाक पर बैठा गीली मिट्टी से खेल रहा हो, मछली पानी में तैर रही हो, शेर जगल में विचर रहा हो .

इन्ही दिनो फर्वरी १९१९ में रौलट बिल धारा सभा में पेश हुआ। अग्रेज सरकार को बिना शर्त सहायता देने का यह अच्छा पुरस्कार गाधी जी को मिला। वह तिलमिला उठे और उन्होने तत्काल अपने इस निश्चय की सूचना दी कि वह उसके विरुद्ध सत्याग्रह करेंगे। फिर अपने दौरे पर निकले। हर जगह उन्हे जनता का विराट समर्थन प्राप्त हुआ। ऐसा क्योकर सभव हुआ जब कि गाधी जी देश के लिए अभी काफी नये थे? इसका उत्तर अग्रेज सरकार के ही इन शब्दो में मिलता है — 'मिस्टर गाधी को सब जगह एक बहुत ऊँचे आदर्शो का और पूर्णात निस्स्वार्थ टाल्सटाय-भक्त समझा जाता है। दक्षिण अफ्रीका के हिन्दुस्तानियो के लिए उन्होने जो कुछ किया था उसके कारण, तभी से, उन्हे वह सब परपरागत आदर और भक्ति अपने देशवासियो की ओर से मिली जो पूरबवाले सदा से अपने साधु-सन्तो को देते आये है जिनके त्याग और साधना में उन्हे पूरा विश्वास है। जहाँ तक गाधी की बात है, उनकी शक्ति इसलिए और बढ जाती है कि उनके प्रशसक किसी एक धर्म या सम्प्रदाय के मानने वाले नही है। जब से उन्होने अहमदाबाद में रहना शुरू किया है, वह बराबर तरह-तरह के सामाजिक कार्यो में सक्रिय योग देते है। जिस तत्परता से वह किसी भी ऐसे व्यक्ति या समूह का पक्ष लेकर जिसे वह पीडित समझते है, लडने को तैयार रहते है, उसके कारण देशवासी उन्हें बहुत चाहने लगे है। बम्बई प्रदेश के बहुत से हिस्सो में देहाती और शहरी लोगो के बीच उनका प्रभाव सदेह से परे है और उन्हे इतने गहरे आदर और सम्मान की दृष्टि से देखा जाता है कि उसको भक्ति कहा जा सकता है। आत्मिक बल को भौतिक शक्ति से बडा मानते हुए मिस्टर गाधी ने अच्छी तरह समझ लिया कि उन्हे कर्तव्यवश रौलट ऐक्ट के विरुद्ध अपने उस अस्त्र, निष्क्रिय प्रतिरोध, का प्रयोग करना चाहिए जिसका इतना सफल प्रयोग उन्होने दक्षिण अफ्रीका में किया था। २४ फर्वरी को घोषित किया गया कि अगर बिल पास हुए, तो वह निष्क्रिय प्रतिरोध या सत्याग्रह के आन्दोलन का नेतृत्व करेंगे। इस घोषणा को सरकार ने और बहुत-से भारतीय राजनीतिज्ञो ने बहुत गभीर रूप में ग्रहण किया। लेजिस्लेटिव कौंसिल के कुछ नरमदली सदस्यो ने ऐसा कदम उठाने के नतीजो के बारे में खुले आम अपनी

आशका व्यक्त की । मिसेज बेसेएट ने, जिन्हे भारतीयो के मानस की बहुत अच्छी समझ है, बहुत गभीर शब्दो मे मिस्टर गाधी को चेतावनी भी दी कि जिस तरह के आन्दोलन की बात उनके मन में है उसके फलस्वरूप ऐसी बहुत-सी शक्तियो को खुल खेलने का अवसर मिलेगा जिनसे असीम क्षति पहुँचने की आशका है ।'

लेकिन गाधी जी को अपने ऊपर पूरा विश्वास था और उन्होने देशव्यापी हडताल के लिए ३० मार्च की तारीख़ नियत की जो कि बाद को बदलकर ६ अप्रैल कर दी गयी, जिस परिवर्तन की सूचना दिल्ली को समय से न मिल सकी। अत दिल्लो में उसी रोज हडताल हुई और जुलूस निकले — और गोली भी चली । उसके अगले रोज जो जुलूस निकला उसका नेतृत्व स्वामी श्रद्धानन्द कर रहे थे । कुछ गोरे सिपाहियो ने गोली चलाने की धमकी दी तो स्वामी जी अपना सीना खोलकर खडे हो गये . आन्दोलन का यह एक नया स्तर था । इसके बारे में सरकारी प्रकाशन 'इण्डिया १६१६' लिखता है — इस आम हलचल की एक खास बात यह थी कि हिन्दुओं और मुसलमानो में अनोखा भाईचारा दिखलायी दिया . हिन्दू खुले आम मुसलमानो के हाथ से और मुसलमान हिन्दुओ के हाथ से पानी लेकर पी रहे थे । हिन्दू-मुसलिम एकता इन जुलूसो का मुख्य नारा था। यह हाल था इस भाईचारे का कि हिन्दू नेताओ को मसजिदो तक में जाकर भाषण देने की आजादी मिल गयी थी ।' सारा देश उस समय जैसे एक बारूद-खाना बना हुआ था जिसको विस्फोट के लिए बस एक चिनगारी की जरूरत थी। ऐसे में गाधीजी का अन्दोलन अधिकारियो के लिए निश्चय ही डरने की चीज थी और उन्हे सबसे ज्यादा डर था पजाब को लेकर क्योकि वही भारतीय सेना का मेरुदण्ड था ।

उन दिनो वहाँ पर सर माइकेल ओ' डायर का राज था जो एक मशहूर जल्लाद था । राष्ट्रीयता की आग का पजाब में दाखिल होना उसे किसी तरह गवारा न था । इधर काग्रेस ने अपने उस वर्ष के अधिवेशन के लिए अमृतसर को ही चुना था । दोनो फरीको के बीच यह एक तरह की चुनौती थी ।

ऐसी विस्फोटक स्थिति में दूसरा क्या होता — जनता में जबर्दस्त बगावत की आग भडकी, कुछ हिंसात्मक कार्रवाइयाँ भी यहाँ-वहाँ हुईं और सरकार तो जैसे अपने होश-हवास ही खो बैठी ।

और इसी सिलसिले की आखिरी कडी थी १३ अप्रैल १६१६ का जलियाँ-वाला बाग का हत्याकाण्ड जिसने १८५७ के विद्रोह की याद को ताज़ा कर दिया।

मार्शल लॉ लगा हुआ था । उसकी अवज्ञा करके अमृतसर के एक बाग में, जिसका एक ही, छोटा-सा रास्ता था, बीस हज़ार लोगो की मीटिंग हो रही थी जब कि जेनरल डायर ने पचास गोरो और सौ हिन्दुस्तानी सिपाहियो की गारद के साथ वहाँ पहुँचकर मीटिंग को फ़ौरन बर्खास्त करने का हुक्म दिया और उस

पूरे बीस हजार के मजमे को बाग के उस अकेले छोटे-से रास्ते से बाहर निकल जाने के लिए दो मिनट का वक्त दिया। . और फिर गोलियाँ चलना शुरू हुई। कुल सोलह सौ राउण्ड गोलियाँ चली — और अगर इससे ज्यादा नही चली तो सिर्फ इसलिए कि थी नही। चद मिनटो में जमीन लाशो से पट गयी — और घायलो से, जिनकी मरहम-पट्टी का तो जिक्र ही क्या, उनके पास कोई पहुँच भी न सकता था। और वह लोग एक बूंद पानी तक के लिए तडप-तडपकर मर गये। जैसा कि बाद में जेनरल डायर ने हण्टर कमेटी के सामने कहा — मारना ही उनका उद्देश्य था। उसने कहा — 'शहर फौज के कब्जे में आ गया था और मैंने सबेरे ही मुनादी करवा दी थी कि किसी तरह की सभा न हो। लोगो ने जब इस तरह खुले आम मेरी हुक्मउदूली की तो मैंने तय किया कि इन लोगो को इस बार सबक सिखाना चाहिए ताकि पीछे वह लोग मेरे ऊपर हँस न सके। अगर मेरे पास और गोली होती तो मैंने और भी देर तक चलायी होती। मैने सोलह सौ राउण्ड ही चलाये क्योंकि इससे ज्यादा मेरे पास थे नही।'

सबक सिखाने की यह क्रिया बहुत दिनो तक चलती रही। नये-नये तरीके सोचकर लोगो को दण्ड दिया गया। पानी की सप्लाई काट दी गयी। बिजली की सप्लाई काट दी गयी। खुले आम सडको पर बाजारो मे लोगो को कोडे मारे गये। कही-कही चौराहो पर टिकटियाँ भी खडी हो गयी। लोगो को पेट के बल घिसटाया गया। क्या नही हुआ उस समय। छोटे-मोटे फोजी अफसरो ने अपनी तरफ से और भी तरह-तरह की नयी सजाएँ ईजाद की हर बात की छूट थी, जो चाहे करो और ऐसा करो कि फिर भूलकर सर उठाने की हिम्मत ये लोग न करे।

ऊपर से मजा यह कि एक शब्द अखबार में नही निकल सकता था। महीनो तक किसी को कुछ पता न चल सका। मुशीजी उन दिनो इलाहाबाद में बी० ए० का इम्तहान दे रहे थे। पर कही से कुछ सुनगुन उन्हे मिल गयी थी। गोरखपुर लौटकर १९ अप्रैल १९१९ के अपने खत में उन्होने ताज साहब को लिखा — खुदा करे लाहौर में अमन हो। फिर ३० जुलाई के खत में — शुक्र है कि पजाब में अब सुकून हुआ।

बस। इतना ही। क्या कहे और। जबान पर बदिश है। मगर जी सुलग रहा है और जजीर को झटककर तोड देने का इरादा और पक्का हो रहा है।

धिक्कार है मन की इस कमजोरी पर। इतनी जरा-सी बात के लिए साहस नही बटोर पाता। अब तो नही सही जाती यह जिल्लत। अपमान की भी कोई सीमा होती है। आदमी को किरिच के जोर पर मजबूर करना कि वह कीडे-मकोडो की तरह पेट के बल रेगे!

दिल में गुस्सा है, तिलमिलाहट है, एक विप्लव है जो न जाने कब से अदर ही अदर पकता रहा है, उस सबको भी वाणी देना जरूरी है। और उसे वाणी मिलती

है बाप-बेटे मनोहर और बलराज के रूप में। दोनो बला के अक्खड है, दिलेर है, जान पर खेल जाना उनके लिए कोई चीज नही है। बलराज में अगर जवानी के खून की गर्मी है तो मनोहर में घनघोर निराशा के भीतर से निकलनेवाला साहस जिसका कही ओर-छोर नही है। वह क्या समझते है जमीदार को या उसके गुर्गों को। उन्हे तो बस अपने लाठी-गँडासे का भरोसा है।

लेकिन कादिर बिलकुल उनका उलटा है, शान्ति की साकार प्रतिमा। उसके हृदय में किसी के लिए कोई राग-द्वेष नही है।

और सच्चाई यह है कि ये दोनो मुशीजी के ही चित्त की दो विरोधी वृत्तियाँ है, जिनमें बराबर महाभारत चला करता है।

लेकिन उनसे भी बडी सच्चाई है जुल्म की वह चक्की जिसमें किसान हरदम पिसता रहता है —

● जिस तरह सूरज डूबने पर एक विशेषप्रकार के जीवधारी, जो न पशु है न पक्षी, जीविका की खोज में निकल पडते है और अपनी लबी कतारो से आसमान को छा लेते है, उसी तरह कातिक का आरम्भ होते ही एक अन्य प्रकार के जन्तु देहातो में निकल पडते है और अपने खेमो तथा छोलदारियो से समस्त ग्राम-मण्डल को उज्ज्वल कर देते है। उनके उठते ही भूकम्प-सा आ जाता है और लोग भय से प्राण छिपाने लगते है।

अधिकारी वर्ग और उनके कर्मचारी विरहिणी की भाँति इस सुख काल के दिन गिना करते है। शहरो में तो उनकी दाल नही गलती, या गलती है तो बहुत कम। वहाँ हर चीज के लिए उन्हे जेब में हाथ डालना पडता है मगर देहातो में जेब की जगह उनका हाथ अपने सोटे पर होता है या किसी दीन किसान की गर्दन पर। जिस घी-दूध, साग-भाजी, मास-मछली आदि के लिए शहर में तरसते थे, जिनका स्वप्न मे भी दर्शन नही होता था, उन पदार्थों की यहाँ केवल जिह्वा और बाहु के बल से रेल-पेल हो जाती है। जितना खा सकते है, खाते है, बारबार खाते है, और जो नही खा सकते वह घर भेजते है। घी से भरे हुए कनस्तर, दूध से भरे हुए मटके, उपले और लकडी, घास और चारे से लदी हुई गाडियाँ शहरो में आने लगती है। घरवाले हर्ष से फूले नही समाते, अपने भाग्य को सराहते है, क्योकि अब दु ख के दिन गये और सुख के दिन आये। देहातवालो के लिए वह बडे सकट के दिन होते है, उनकी शामत आ जाती है, मार खाते है, बेगार में पकडे जाते है, दासत्व के दारुण निर्दय आघातो से आत्मा का भी ह्रास हो जाता है। ●

खेती पर निर्वाह करना कठिन हो गया है। कोई एक जून चबेना खाता है तो दूसरी जून रोटी-साग। किसी को वह भी नही मिल पाता। वह चुटकी भर सत्तू फाँककर रह जाता है। गाँव में सुक्खू चौधरी को छोडकर और किसी के घर दोनों बेला चूल्हा नही जलता। जमीन की बरक्कत उठ गयी है। जहाँ बीघा

पीछे बीस-बीस मन होते थे वहाँ अब चार-पाँच मन से आगे नही जाता।

तो भी अपनी धरती उससे छोडी नही जाती। यह ठीक है कि लडाई के दिनो में कुछ कल-कारखाने खुले है और उनमें मजूरो की माँग है, लेकिन ..

इन्ही दिनो की एक कहानी 'बलिदान' का गिरधारी अपने खेत छूट जाने पर उसी के गम में बिना कुछ कहे-सुने मर जाता है और भूत बनकर अपने उन्ही खेतो के गिर्द मँडराता रहता है। निश्चय ही कुछ अतिप्राकृत-सा एक गुण है धरती के प्रति किसान के इस लगाव में, और शायद इसीलिए जहाँ दूसरे सन्दर्भो में अलौकिक तत्व का समावेश खल जाता है, इस कहानी में न सिर्फ यह कि नही खलता, वही चीज इस सुन्दर कहानी की जान है। बडा दर्द है अपनी धरती के प्रति गिरधारी की इस वासना में — 'अँधेरा होते ही वह मेड पर आकर बैठ जाता है और कभी रात को उधर से उसके रोने की आवाज सुनायी देती है। वह किसी से बोलता नही, किसी को छेडता नही। उसे केवल अपने खेतो को देखकर सतोष होता है।' उसकी व्यथा की यह निशब्दता ही काव्य का सत्य बनकर एक विचित्र कोमल पर ओजस्वी भाषा में बोलने लगती है, जो गिरधारी की भाषा नही गाधी की भाषा है।

और फिर किसान की मरजाद का सवाल —

'गिरधारी को गायब हुए छ महीने बीत चुके है। उसका बडा लडका अब एक ईंट के भट्ठे पर काम करता है, बीस रुपया महीना घर आता है। अब वह कमीज और अग्रेजी जूता पहनता है, घर में दोनो जून तरकारी पकती है और जौ के बदले गेहूँ खाया जाता है लेकिन गाँव में उसका कुछ भी आदर नही। वह अब मजूरा है। सुभागी अब पराये गाँव में आये हुए कुत्ते की भाँति दुबकती फिरती है। वह अब मजूर की माँ है।'

दूसरा रास्ता बलराज का है, हिम्मत और मर्दानगी से अपनी जमीन पर डटे रहने का। अपनी लाठी का भरोसा करो, दुनिया को देखो, कहाँ जा रही है—

'तुम लोग तो ऐसी हँसी उडाते हो मानो कास्तकार कुछ होता ही नही, वह जमीन्दार की बेगार ही भरने के लिए बनाया गया है। लेकिन मेरे पास जो अखबार आता है उसमें लिखा है कि रूस देश में कास्तकारो ही का राज है, वह जो चाहते है, करते है। उसी के पास कोई और देश बलगारी है। वहाँ अभी हाल की बात है, कास्तकारो ने राजा को गद्दी से उतार दिया है और अब किसानो और मजदूरो की पचायत राज करती है।'

इस नये तरह के पचायती राज को दुनिया में कायम हुए अभी मुशकिल से आठ-दस महीने हुए है और मुशीजी की आँखे उस पर जमी हुई है। यह क्रान्ति की आग है, विद्रोह की आग है। दूर है तो क्या, आँच मिल रही है। एक नयी दुनिया की बुनियाद पड़ रही है जो साम्य की दुनिया होगी, भाईचारे की दुनिया होगी,

जिसमें कोई गरीबो का खून पीकर मोटा न हो सकेगा। हवा आजादी का तराना गा रही है। सर पर आजादी का सूरज चमक रहा है। उसमें रोशनी भी है और गर्मी भी। धौस सहने के दिन गये।

ऊपरी नजर से देखने पर बलराज और गिरधारी एक दूसरे के परिपथी जान पडते है, एक की वृत्ति कठोर है दूसरे की कोमल। पर साहित्य उस रस का नाम है जिसमें कठोर और कोमल सब कुछ आकर एक हो जाता है और अनेक बार कठोर उपादानो से कोमल की और कोमल उपादानो से कठोर की अभिव्यजना होती है। तो भी चित्त की वृत्तियाँ दो है और दोनो विरोधी वृत्तियाँ है — एक हिंसा की दूसरी अहिंसा की, एक जो उन्हे रूस की क्रान्ति की ओर खीचती है और दूसरी जो गाधी जी की ओर खीचती है। जीवन का प्रमाण एक ओर खीचता है, आदर्श की कल्पना दूसरी ओर। द्वन्द्व है, दुबिधा है।

नवम्बर १६१८ में युद्ध का अत हुआ और देश भर में विजय का उत्सव मनाया गया। गोरखपुर में सदर तहसील के छात्रो को खेलकूद के लिए नार्मल स्कूल में बुलाया गया था। और भी कुछ कार्यक्रम था।

मुशीजी के भीतर विद्रोह पनप रहा था। होगी यह जिसकी विजय होगी। हमको तो कोई विजय मिली नही, तो हम क्यो इस उत्सव में जाये। उँह, होगा जो होगा। रानी रूठेगी अपना सुहाग लेगी! मैं नही जाता। और मुशीजी उसमें नही गये। शिक्षा-सचालक मैकेन्जी साहब ने, जो उस समय वही मौजूद थे, (सभवत कलक्टर साहब के बँगले से) आते समय मुशीजी को बाहर बैठ-कर काम करते देखा था। लिहाज़ा उन्होने हेडमास्टर बेचनलाल से लिखित जवाब माँगा कि मुशीजी उस जलसे में क्यो नही शरीक हुए। बेचनलाल की तो घिग्घी बँध गयी लेकिन अगले रोज जब मुशीजी को इसका पता चला तो उन्होने अपनी तरफ से एक लिखित बयान दिया और बेचनलाल साहब पर जोर डाला कि आप इसे ऊपर बढाइए। मगर बेचनलाल मुशीजी के शुभचिन्तक थे, उन्होने मसले को वही खत्म कर दिया।

गोरेशाही के आतक से यहाँ पर यह उनकी पहली टक्कर थी।

दूसरी टक्कर भी जल्दी ही हुई जो आनन-फानन नार्मल स्कूल के लिए एक कहानी बन गयी और उस समय के लोगो को आज तक याद है। जैसा कि हर दन्त-कथा के साथ होता है, किस्सा बयान करने वाले की कल्पना का रग उसमें जुडता चलता है और धीरे-धीरे जितने मुँह उतनी बातें हो जाती है। उनमें से दो बयान नीचे दर्ज किये जाते है।

ग्राम परदहा, मुहम्मदाबाद, आज़मगढ के सुदामा सिंह कहते है —

"एक दिन प्रात अग्रेज़ कलक्टर दो कुत्तो के साथ हाथ में हण्टर लिये

आवेश में आपके क्वार्टर पर आकर, पैर पटककर बोला — 'तेरी गाय नित्य मेरे बँगले में जाकर नुकसान करती है। मै उसको शूट कर दूँगा।' आपने आगे बढकर तडपकर कहा — 'साँड नही है, यह प्रेमचद की गाय है। मजिस्ट्रेटी का अभिमान दूर कर दूँगा।''

साँड नही है कहने का सकेत शायद यह है कि साहब एक साँड को इसके पहले गोली मार चुका था।

अब सुनिए जामिनपुर, आज़मगढ के मुमताज अहमद क्या कहते है —

'सडक के एक ओर प्रेमचद जी का निवासस्थान था और सामने दूसरी ओर जिलाधीश का बँगला था। प्रेमचद की गाय एक दिन सडक पार करके जिलाधीश के बॅगले के अहाते में घुस गयी जिस पर क्रुद्ध होकर उन्होने गोली मारने के लिए उसका पीछा किया। गाय ने अपने सरक्षक प्रेमचद जी के शरीर की ओट में शरण ली जो अपने द्वार पर पेड के नीचे कुछ पढने में तल्लीन थे। जिलाधीश महोदय पिस्तौल लिये प्रेमचद जी के सम्मुख उपस्थित हो गये '

सब के पास इस किस्से के बारे में अपनी एक अलग दास्तान है। पर एक बात सबमें समान है और वही महत्व की है — मुशीजी की गाय कलक्टर के हाते में गयी और इस मामले को लेकर कलक्टर से उनकी जोरदार झडप हुई जिसमें मुशीजी रत्ती भर नही दबे।

याद रखने की बातें यहाँ दो ही है — एक तो यह कि मुशीजी अभी बाकायदा सरकारी नौकर थे और दूसरी यह कि यह किस्सा जलियाँवाला बाग के समय का है।

लेकिन इतने ही से बस नही हुआ, अभी एक टक्कर होनी बाकी थी। उसके बारे में उस वक्त के एक प्यूपिल टीचर मुहम्मद हनीफ खाँ का बयान यह है —

● बडे खुददार[1] थे। अपनी इज्जत और शान के पूरे महाफिज[2] थे। अपनी खुददारी कायम रखने के लिए बडी से बडी कुर्बानी देने के लिए तैयार रहते। जैल[3] के वाकये से यह नतीजा आसानी से अख्ज[4] किया जा सकता है। कलक्टर साहब के बँगले और अहाता नार्मल स्कूल के दरमियान एक पुख़्ता सडक है। कलक्टर साहब रोजाना शाम को चार बजे के बाद नार्मल स्कूल की इसी सडक पर, जो हाता नार्मल स्कूल के दक्खिन-पूरब से उत्तर-पच्छिम को होती हुई शहर को चली गयी है, चहलकदमी करते हुए गुजरते थे। सडक के दक्खिन तरफ सेकेंड मास्टर मुंशी प्रेमचद का क्वार्टर था। मास्टर साहब चार बजे के बाद अपने बरामदे में बैठे किस्सा-नवीसी में मशगूल रहते। एक रोज कलक्टर साहब ने मास्टर साहब को आवाज देकर हाथ के इशारे से बुलाया। जब वह आ गये तो साहब ने कहा —

---

१ स्वाभिमानी २ रक्षक ३ नीचे ४ निकाला

मैं रोजाना इस वक्त टहलने आया करता हूँ, आप मुझे सलाम करने के लिए कभी नही आते ?

मास्टर साहब ने जवाब दिया — मैं अपने काम मे मशगूल रहता हूँ। यह मेरी कोई ड्यूटी नही कि हर किसी को जो सडक से गुजर रहा हो, ख्वाह वह हुकूमत के अफसर ही क्यो न हो, सलाम करता फिरूँ।

इस पर कलक्टर साहब ने मास्टर साहब पर खफा होकर कुछ कल्मए-नासजा[1] उनकी शान में इस्तेमाल किया। मास्टर साहब ने कहा — आप जल्द से जल्द इस हाते से निकल जायँ वर्ना प्यूपिल टीचरो को खबर हो जायेगी तो वह नतीजे को सोचे बगैर आपकी बुरी तरह मरम्मत कर देगे। इतना सुनते ही कलक्टर साहब सर पर पैर रखकर भागे। जनाब बेचनलाल साहब हेडमास्टर नार्मल स्कूल बहुत खौफजदा[2] हुए और मुशी प्रेमचद से कहा कि कलक्टर जिले का बहुत बडा पावर होता है, उसके अख्तियारात लामहदूद[3] होते है, वह आपका स्कूल फुँकवा सकता है। मास्टर साहब ने कहा — आप डरिए, मै क्यो डरने लगा जब कि मैं बरसरे-हक[4] हूँ। वह रात में इस ताजा मामले पर गौर करते रहे। दूसरे ही दिन आपने एक दावा कलक्टर साहब के खिलाफ अदालत दीवानी में अर्जानी-उल हैसियत[5] का दायर किया। आनन-फानन मे इस मामले की सारे शहर में शोहरत मच गयी। एक हफ्ते तक सेशन जज गोरखपुर और दीगर रऊसा-ए-शहर[6] की मीटिंग होती रही। मुतजिकरा-बाला[7] अफसरो और रऊसा-ए-शहर की कोशिश बलीग[8] से दोनो मुअज्जिज[9] फरीकैन[10] के दरमियान मसालहत[11] हो गयी।●

हो सकता है, कल्पना ने यहाँ भी कुछ न कुछ अपना नमक-मिर्च लगाया हो, लेकिन शायद यह वही घटना है जिसे शिवरानी देवी ने इस तरह बयान किया है—

● जाडे के दिन थे। स्कूल का इसपेक्टर मुआइना करने आया था। एक रोज तो इसपेक्टर के साथ रहकर आपने स्कूल दिखा दिया, दूसरे रोज लडको को गेंद खिलाना था। उस दिन आप नही गये। छुट्टी होने पर आप घर चले आये। आराम-कुर्सी पर लेटे दरवाजे पर आप अखबार पढ रहे थे। सामने ही से इसपेक्टर अपनी मोटर पर जा रहा था। वह आशा करता था कि आप उठकर सलाम करेंगे लेकिन आप उठे भी नही। इस पर कुछ दूर जाने के बाद इसपेक्टर ने गाडी रोककर अपने अर्दली को भेजा। अर्दली जब आया तो आप गये।

'कहिए क्या है ?'

---

१ अनुचित शब्द २ भयभीत ३ असीम ४ न्याय पर ५ मानहानि ६ शहर के रईसो ७ उपरोक्त ८ ज़बर्दस्त कोशिश ९ प्रतिष्ठित १० पार्टियो ११ समझौता

इसपेक्टर — तुम बडे मगरूर हो। तुम्हारा अफसर दरवाजे से निकल जाता है, उठकर सलाम भी नही करते ?

'मै जब स्कूल में जाता हूँ तब नौकर हूँ। बाद में मै भी अपने घर का बादशाह हूँ।'

इसपेक्टर चला गया। आपने अपने मित्रो से राय ली कि इस पर मानहानि का केस चलाना चाहिए। मित्रो ने सलाह दी, जाने दीजिए, आप भी उसे मगरूर कह सकते थे। हटाइए इस बात को।●

स्मरण रहे कि यह वही दब्बू आदमी है जो अब से कुछ बरस पहले एक बार रेल के तीसरे दर्जे के डिब्बे में कुछ बीमारी की हालत में आँख मूँदे लेटा-लेटा अपनी पत्नी को किसी उजड्ड आदमी से झगडा करते सुनता रहा था और खुद कुछ करना तो दूर की बात है उसके कान पर जूँ भी न रेंगी थी . लेकिन वह और बात थी। छोटी बात थी। कोई आदमी मुझको नही लेटने देना चाहता और मैं उठकर बैठ ही गया तो मेरी कौन सी जात चली गयी। लेकिन यह तो बिलकुल दूसरी ही बात थी — एक हिन्दुस्तानी की मरजाद का सवाल था। वैसी ही बात थी जैसी बीस बरस पहले एक बार चुनार में पेश आयी थी जब कि उसने फुटबाल के मैदान में आगे बढकर हदबदी की झडियाँ उखाडकर गोरो की टीम पर हल्ला बोल दिया था तब उसकी नयी जवानी थी, अब वह अधेड था, लेकिन किन्ही-किन्ही बातो के लिए अब भी खून में गर्मी बाकी थी।

वही जो 'प्रेमाश्रम' के मनोहर का हाल है। बलराज जब अपनी जवानी के जोश में बहुत लडने-भिडने की बाते करता है तो मनोहर उसको झिडकता है लेकिन जब एक बार जमीन्दार के कारिन्दा गौस खाँ के शह देने पर फैजू मनोहर की बीवी बिलसिया पर हाथ उठा देता है और वह धक्का खाकर गिर पडती है, तब उस किसान के लिए यह एक मरजाद का सवाल बन जाता है।

मन का तार कितनी अच्छी तरह मिला हुआ है। मनोहर के मन के भीतर पैठना उनके लिए खुद अपने मन के भीतर पैठना है।

●फैजू ने बिलासी की गर्दन पकडी और उसे इतने जोर से झोका दिया कि वह दो कदम पर जाकर गिरी। उसकी आँखें तिलमिला गयी, मूर्छा-सी आ गयी। एक क्षण वह वही अचेत पडी रही, तब उठी और लँगडाती हुई उन पुरुषो से अपमान-कथा कहने चली जो उसके मान और मर्यादा के रक्षक थे।

उसे उस समय परिणाम और फल की लेशमात्र भी चिन्ता न थी। कौन मरेगा ? किसका घर मिट्टी में मिलेगा ? यह बातें उसके ध्यान में भी न आती थी। वह सकल्प-विकल्प के बन्धन से मुक्त हो गयी थी। ....

लेकिन जब वह उस गाँव के पास पहुँची और धान के लहराते हुए खेत दिखायी देने लगे तो पहली बार उसके मन में यह प्रश्न उठा कि इसका फल क्या होगा।

. मेरा रोना सुनते ही दोनो भभक उठेंगे, जान पर खेल जायेंगे, तब ? किन्तु आहत हृदय ने उत्तर दिया, क्या हानि है ! लडकों के लिए आदमी क्यो झीकता है ? पति के लिए क्यो रोता है ? इसी दिन के लिए तो ?

तब भी जब वह अपने खेतो के डाँडे पर पहुँची, मनोहर और बलराज नजर आने लगे, तब उसके पैर आप ही रुकने लगे । यहाँ तक कि जब वह उनके पास पहुँची तब परिणाम-चिन्ता ने उसे परास्त कर दिया । ... वह खेत के किनारे खडी हो गयी और मुँह ढाँककर रोने लगी ।

बलराज ने सशक होकर पूछा — अम्माँ, क्या है ? रोती क्यो है ? क्या हुआ ? यह सारा कपडा कैसे लहूलुहान हो गया ?

बिलासी ने सिसकते हुए कहा — फैजू और गौस खाँ हमारी सब गाय-भैसे कानीहौद हाँक ले गये ।

बलराज — क्यो ? क्या उनकी सीर में पडी थी ?

बिलासी — नही, कहते थे कि चरावर में चराने की मनाही हो गयी !

बलराज ने देखा कि माँ की आँखे झुकी हुई है और मुख पर मर्माघात की आभा झलक रही है । कुछ और पूछने की हिम्मत न पडी । आँखें लाल हो गयी । कधे पर लट्ठ रख लिया और मनोहर से बोला, मैं जरा गाँव तक जाता हूँ ।

मनोहर — क्या काम है ?

बलराज — फैजू और गौस खाँ से दो-दो बाते करनी है ।

मनोहर — ऐसी बाते करने का यह मौका नही । अभी जाओगे तो बात बढेगी और कुछ हाथ भी न लगेगा । चार आदमी तुम्ही को बुरा कहेंगे । अपमान का बदला इस तरह नही लिया जाता ।

मनोहर ऐसे उद्दीप्त उत्साह से अपने काम में लगा हुआ था मानो उसकी जवानी लौट आयी हो । धान के पूलो के ढेर लगते जाते थे । न आगे ताकता था न पीछे, न किसी से कुछ बोलता था, न किसी की कुछ सुनता था, न हाथ थकते थे न कमर दुखती थी । बलराज ने चिलम भरकर रख दी । तम्बाकू रखे-रखे जल गया । बिलासी खाँड का रस घोलकर सामने लायी । उसने उसकी ओर देखा तक नही, कुत्ता पी गया । कुआर की धूप थी, देह से चिनगारियाँ निकलती थी, पसीने की धारे बहती थी मगर वह सिर तक न उठाता था । बलराज कभी खेत में आता, कभी पेड के नीचे जा बैठता, कभी चिलम पीता । एक ही आग दोनो के सीने में जल रही थी, एक ओर सुलगती हुई दूसरी ओर दहकती हुई ।

साँझ हो गयी । तीनो ने धान के गट्ठे गाडी पर लादे और लखनपुर चले । बलराज गाडी हाँकता था और मनोहर पीछे-पीछे ऊँचे स्वर से एक बिरहा गाता हुआ चला आता था । राह में कल्लू अहीर मिला, बोला — मनोहर काका आज बडे मगन हो ....

कादिर के दरवाजे एक पचायत सी बैठी हुई थी। लेकिन मनोहर पचायत में न जाकर सीधे घर गया और जाते ही जाते भोजन माँगा। बहू ने रसोई तैयार कर रखी थी। इच्छापूर्ण भोजन करके नारियल पीने लगा। थोडी देर मे बलराज भी पचायत से लौटा। मनोहर ने पूछा — कहो क्या हुआ ?

बलराज — कुछ नही, यह सलाह हुई कि खाँ साहब को कुछ नजर-वजर देकर मना लिया जाय। अदालत से सब लोग घबडाते है।

मनोहर — यह तो मै पहले ही समझ गया था। अच्छा जाकर चटपट खा-पी लो। आज मै तुम्हारे साथ रखवाली करने चलूँगा। आँख लग जाय तो जगा लेना।

एक घटे के बाद दोनो खेत की ओर चलने को तैयार हुए।

मनोहर ने पूछा — कुल्हाडा खूब चलता है न ?

बलराज — हाँ, आज ही तो रगडा है।

मनोहर — तो उसे ले लो।

बलराज — मेरा तो कलेजा थरथर काँप रहा है।

मनोहर — काँपने दो। तुम्हारे साथ मै भी तो रहूँगा। तुम दो-एक हाथ चलाके वहाँ से लबे हो जाना। और सब मै देख लूँगा। इस तरह आके सो रहना जैसे कुछ जानते ही नही। कोई कितना ही पूछे, डरावे-धमकावे मुँह मत खोलना। मै अकेले ही जाता मुदा एक तो मुझे अच्छी तरह सूझता नही, कई दिनो से रतौंधी होती है, दूसरे हाथो में अब वह बल नही कि एक चोट में वारा-न्यारा हो जाय।

मनोहर यह बाते ऐसी सहजता से कह रहा था मानो कोई साधारण घरेलू बातचीत हो।

खेत में पहुँचकर दोनो मचान पर लेटे। अमावस की रात थी। आकाश पर कुछ बादल भी हो आये थे। चारो ओर घोर अधकार छाया हुआ था।

मनोहर तो लेटते ही खर्राटे लेने लगा, लेकिन बलराज पडा-पडा करवटे बदलता रहा।

दो घडी बीतने पर मनोहर जागा, बोला — बलराज, सो गये क्या ?

बलराज — नही, नीद नही आती।

मनोहर — अच्छा तो अब राम का नाम लेकर तैयार हो जाओ। डरने या घबराने की कोई बात नही। अपने मरजाद की रच्छा करना मरदो का काम है। ऐसे अत्याचारो का हम और क्या जवाब दे सकते हैं। बेइज्जत होकर जीने से मर जाना अच्छा है। दिल को खूब सँभालो। अपना काम करके सीधे यहाँ चले आना। अँधेरी रात है। किसी की नजर भी नही पड सकती। थानेदार तुम्हे डरायेंगे लेकिन खबरदार, डरना मत। बस गाँव के लोगो से मेल रखोगे तो कोई

तुम्हारा बाल भी बाँका न कर सकेगा। दुखरन भगत अच्छा आदमी नही है। उससे चौकन्ने रहना। हॉ, कादिर भरोसे का आदमी है। उसकी बातो का बुरा मत मानना। मैं तो फिर लौटकर घर न आऊँगा। तुम्ही घर के मालिक बनोगे। अब वह लडकपन छोड देना, कोई चार बात कहे तो गम खाना। ऐसा कोई काम न करना कि बाप-दादे के नाम को कलक लगे। अपनी घरवाली को सिर मत चढाना, उसे समझाते रहना कि सास के कहने में रहे। मैं तो देखने न आऊँगा, लेकिन इसी तरह घर में रार मचता रहा तो घर मिट्टी में मिल जायगा।

बलराज ने रुँधे स्वर में कहा — दादा, मेरी इतनी बात मानो, इस बखत सबर कर जाओ। मै कल एक-एक की खोपडी तोड़कर रख दूँगा।

मनोहर — हाँ, तुम्हे कोई न मारे तो तुम ससार भर को मार गिराओ! फैजू और कर्तार क्या मिट्टी के लोदे है? गौस खाँ भी पलटन मे रह चुका है। तुम लकडी में उनसे पेश न पा सकोगे। वह देखो हिरना निकल आया। महाबीर जी का नाम लेकर उठ खडे हो। ऐसे कामो में आगा-पीछा अच्छा नही होता। गाँव के बाहर ही बाहर चलना होगा नही तो कुत्ते भूँकेगे और लोग जाग उठेंगे।

बलराज — मेरे तो हाथ-पैर काँप रहे है।

मनोहर — कोई परवाह नही। कुल्हाडी हाथ मे लोगे तो सब ठीक हो जायगा। तुम मेरे बेटे हो, तुम्हारा कलेजा मजबूत है। तुम्हे अभी जो डर लग रहा है वह ताप के पहले का जाडा है। तुमने कुल्हाडा कधे पर रक्खा, महाबीर का नाम लेकर उधर चले तो तुम्हारी आँखो से चिनगारियाँ निकलने लगेगी। सिर पर खून सवार हो जायगा। बाज की तरह शिकार पर झपटोगे। फिर तो मैं तुम्हे मना भी करूँ तो न सुनोगे। वह देखो, सियार बोलने लगे, आधी रात हो गयी। मेरा हाथ पकड लो और आगे-आगे चलो। जय महाबीर की! ●

लिखनेवाले को खुद पता नही होता कि उसके प्रतीक मे, जो वह कथा में चरित्र के रूप में दे रहा है, कैसी-कैसी अर्थव्यजना छिपी रहती है। और प्राणवान् प्रतीक में से, उसकी प्राणवत्ता मे से, बराबर नयी-नयी कोपले फूटती रहती है।

बिलसिया तब केवल बिलसिया नही रह जाती, वह भारतमाता हो जाती है अपमानित, भू-लुठित, उस अत्याचारी व्यवस्था के एक अनुचर के हाथो जो यहाँ से वहाँ तक एक है।

मनोहर और बलराज उसकी मर्यादा की रक्षा करनेवाले दो पुरुष-सिह है, दो पीढियाँ सदियो कुचली हुई भारतीय मानवता की, जो अब अपने हथियारो से लैस होकर उठ रही है — अपने अपमान का बदला चुकाने को।

यह विद्रोह की बेला है और जलियाँवाला बाग की जो आग मुशीजी के सीने में दबी रह गयी थी, जिसके बारे में वह अपने किसी दोस्त को भी नही

लिख सके थे, अब इस रूप में बाहर आयी।

अमृतसर मे ही अधिवेशन करने की टेक काग्रेस ने पूरी कर दिखायी। उसमें शरीक होने की तमन्ना मुशी जी के दिल में भी बहुत थी। लेकिन अपनी सेहत से मजबूर थे। ३० दिसबर १९१९ के अपने खत में उन्होने निगम साहब को लिखा था — 'अमृतसर चलने को तो जी चाहता है। शायद रुपया भी मिल जाये। प्रेम बत्तीसी के गुजराती एडीशन से सौ रुपये का आफर आकर रखा हुआ है। लेकिन तकलीफ का खयाल करके रुक जाता हूँ। पेचिश ने मुझे बिलकुल निकम्मा कर दिया . जब तबीयत ही कसलमन्द[1] रही तो लुत्फ क्या आयेगा, किसी तरह भागने के लिए तबीयत बेताब रहेगी। ऐसी हालत में पडा रहना ही बेहतर है।'

अमृतसर में 'जनता की हिंसा' की निन्दा करने हुए एक प्रस्ताव स्वीकृत हुआ। उस पर बोलते हुए गाधीजी ने कहा — 'इस काग्रेस के सामने इससे अधिक महत्व का दूसरा कोई प्रस्ताव नही है। इसके भीतर जो सच्चाई है उसको हृदय से मान्यता देने और उसके अनुसार आचरण करने में ही भविष्य की सफलता की कुजी है। इसके भीतर जो सनातन सत्य है उसको जिस सीमा तक हम नही देख पाते उस सीमा तक हमारा असफल रहना अनिवार्य है। मैं कहता हूँ कि अगर हमारी ओर से हिंसा न हुई होती तो ये सब झगडे न होते — हमारे पास इसके ढेरो प्रमाण है और मै उन सब को आपके सामने रख सकता हूँ, विरामगाम, अहमदाबाद और बबई का सारा कच्चा चिट्ठा, और उसे देखकर आप अपना सतोष कर सकते है कि हमारे मन में हिंसा की भावना थी और हमारी ओर से हिंसा हुई। मै इस बात को मानता हूँ कि डाक्टर किचलू और डाक्टर सत्यपाल को गिरफ्तार करके, जब कि मै डाक्टर सत्यपाल और स्वामी जी के बुलाने पर, शान्ति स्थापित करने का लक्ष्य लेकर वहाँ जा रहा था, सरकार ने देश को गभीर उत्तेजना का कारण दिया। और फिर सरकार तो जैसे उस समय पागल हो ही गयी, हम भी पागल हो गये। मै कहता हूँ कि पागलपन का जवाब पागलपन से मत दो, समझदारी से दो, और तुम स्थिति को अपने बस में कर लोगे।'

मारकाट का रास्ता जलियाँवाला बाग में जाकर खत्म हुआ। गाधी जी का अहिंसक आन्दोलन चम्पारन और खेडा में अपनी शक्ति को प्रमाणित कर चुका था।

टाल्सटाय के प्रभाव में अन्त करण की शुद्धि के सिद्धान्त की ओर मुशीजी का झुकाव तब तक काफी स्पष्ट आकार ले चुका था। टालसटाय-भक्त गाधी जी, जिन्होने भी टालसटाय की वही और वैसी ही कहानियो का अनुवाद अपनी भाषा

---

१ कष्टमय

गुजराती में किया था, उसी सिद्धान्त को एक अधिक व्यापक धरातल पर, राष्ट्रीय स्तर पर लागू कर रहे थे। मुशीजी को उसे अपनाने में भला क्या मुशकिल होती।

जमाने की हवा के साथ बहते हुए उन्होने भी गाधी जी का भरपूर असर लिया। जो चीज़ उन्हें इस आदमी में सबसे ज्यादा भाती थी और सचमुच मन को छूती थी, वह यह थी कि जहाँ और लोग सिर्फ बाते करते थे वहाँ यह आदमी सचमुच कुछ काम करता था, जनता की सेवा करता था। और जो सच पूछिए तो इसी चीज़ का असर मुशीजी ने लिया, इसी जगह पर आकर वह हृदय से गाधी, कर्मयोगी गाधी के प्रति प्रणत हुए, शेष तो उनकी अपनी प्रकृत भूमि है, अपनी सहज जीवनयात्रा। विचार या दर्शन में उन्हे जो कुछ नया गाधी जी से मिल सकता था उसे वह पहले ही टाल्सटाय से पा चुके थे जब कि भारतीय राज-नीति में अभी गाधी का उदय भी नही हुआ था।

बचपन की किताबो में एक सादी-सी नीति की बानी पढी थी — जहाँ से जो कुछ अच्छा मिले उसे ले लो। जनम भर वह इसको गाँठ बाँधे रहे और जब जिससे जो कुछ मिला उन्होने मुक्त होकर लिया लेकिन वही जिसका साच्य अपने भीतर पाया और उतना ही जितने का साच्य अपने भीतर पाया। बाकी के लिए अपनी आँखें, अपना दिमाग खुला रखा और अपने रास्ते चलते रहे। जैसा कि भगवान् बुद्ध ने जातक की एक कथा में कहा है, विचारो को सिर पर गठरी की तरह लादकर मत चलो... इस समय भी जब कि गाधीजी के अहिंसा के प्रयोग में उनकी विधिवत् आस्था थी, मॉण्टेग्यू-चेम्सफर्ड रिफार्म्स ऐक्ट के सबध में मुशी जी के विचार गाधी जी की अपेक्षा चित्तरजन दास के अधिक निकट थे। और न मुशीजी को इस बात की रत्ती भर चिन्ता थी कि उनके विचार किससे मिलते हैं और किससे नही मिलते। सही-गलत वह जैसे भी है उनके अपने विचार है, बात ख़त्म हुई। लेकिन हाँ, जब कोई नयी बात मिले और वह अपने को सही मालूम हो तो उसे स्वीकार करना चाहिए और जिन्दगी की कसौटी पर परखकर उसे देखना चाहिए। यही विचारो की यात्रा है। यही नवजीवन का कल्प है।

गाधी जी का ही रास्ता ठीक है। अगर और किसी कारण से नही तो सिर्फ इसलिए कि हमारे सामने दूसरा कोई रास्ता नही। साम्राज्य के पास हिंसा की बडी विराट् सगठित शक्ति है। हिंसा के रास्ते हम उससे कैसे पेश पा सकेंगे। कब से तो चल रही है यह कोशिश, निकला कोई नतीजा? न जाने कितने बहादुर नौजवान फाँसी झूल गये, कितने अण्डमन में सड रहे है। मगर सब बेकार।

रूस में यह तरीका कैसे कामयाब हो गया? हो गया, जैसे हो गया, मगर

उससे क्या, हर समय हर जगह एक ही नुस्खा काम नही देता। हर देश का अपना अलग रग-ढग होता है, परपरा, इतिहास, मनोविज्ञान, सब कुछ अलग होता है। उसको समझना जरूरी है वर्ना बस नाकामी हाथ आती है।

हमारा रास्ता वह नही है। हिन्दुस्तान हमेशा से बहुत शान्तिप्रिय देश रहा है और यहाँ पर शान्ति का रास्ता ही हमें अपनी मजिल पर पहुँचा सकता है। नही, यह सिर्फ कहने को बात नही है, गाधी जी करके भी दिखा रहे है। छोडो चपारन को, खेडा को, सारे देश में आज कैसी जागृति दिखायी पड रही है ? गाधी के पहले कभी किसी ने देखी-सुनी थी ऐसी चीज ? यह खुद एक लक्षण है। नयी चीज जरूर है, निहत्थे आदमियो को लेकर मैदान में उतर आना, मगर हँसने की चीज नही है। बडी गहरी सूझ-बूझ है उसके पीछे।

गुलामी का यह ढाँचा आखिर किसके कधो पर खडा है ? हमारे-आपके कधो ही पर तो ? गोरे कितने है इस देश में, हमी-आप तो चलाते है सरकार का काम और अगर हमी असहयोग पर कमर बाँध ले तो कै दिन टिक सकती है यह व्यवस्था ? लकवा मार जायगा सरकार को। कुछ और करने की ज़रूरत नही है, बस असहयोग। अभी लोग ठीक से समझ नही रहे है, बडी ताकत है शाति और अहिंसा के इस अस्त्र में जो गाधी देश की जनता को दे रहे है। कभी अकारथ नही जा सकता यह बलिदान। उनका खून हम नही बहायेंगे, अपना खून बहायेंगे और वह रग लाकर रहेगा। दुनिया में सब जगह हमी जैसे लोग रहते हैं। स्वराज्य की हमारी माँग सत्य और न्याय की माँग है। सब इस बात को समझते है। ब्रिटेनवाले भी समझते है। हमारा आत्म-बलिदान उनकी आत्मा को जगायेगा, क्रियाशील करेगा — उसको जिसे हम दुनिया की मॉरल कॉन्शस कहते है। हर आदमी की रूह में एक हैवान और एक इसान होता है। हिंसा का तरीका उसकी हैवानियत को उभारता है, हमारा तरीका उसकी इंसानियत को उभारेगा। समय की भी बात होती है। दुनिया अब बहुत छोटी हो गयी है, एक की बात फौरन दूसरे के कान तक पहुँचती है। और फिर, यह बात भी अब कायम हो गयी है कि हर देश को आजाद होने का, आजादी माँगने का हक है। एक देश को दूसरे देश पर राज करने का हक नही है।

साल भर पहले सन् १८ के आखिरी दिनो में मुशीजी के काग्रेसी मित्र दशरथ प्रसाद द्विवेदी ने गोरखपुर से ही अपना हिन्दी साप्ताहिक 'स्वदेश' निकाला था। उसके प्रवेशाक का सपादकीय द्विवेदी जी के कहने पर प्रेमचद ने ही लिखा था। लडाई अभी-अभी खत्म हुई थी और उसके नतीजे अपने ढग से निकालते हुए मुंशीजी ने उसके प्रवेशाक में लिखा था —

● .. सचमुच जनता का इतना गौरव इस युद्ध से पहले कभी न था। वास्तव

में इस युद्ध मे अगर किसी की जीत हुई है तो वह है जनता की जीत । इस युद्ध ने जनता के लिए वह कर दिया है जो फ्रास की राज्यक्राति ने भी न किया था ।

इस युद्धरूपी क्षीरसागर को मथने से दूसरा फलरत्न यह निकला है कि अब निर्बल जातियो को शक्तिसम्पन्न जातियो का आहार नही बनने दिया जायगा । अब तक शक्तिशाली जातियाँ निर्बल को अपना खाद्य समझती थी । जिसकी लाठी उसकी भैंस का सिद्धान्त सर्वमान्य था । पोलैण्ड अपनी इच्छा के विरुद्ध जर्मनी, रूस, आस्ट्रिया आदि देशो का ग्रास बना हुआ था । सर्बिया पर आस्ट्रिया के दाँत थे । राज्य-विस्तार की धुन में इस बात की रत्ती भर भी परवाह न की जाती थी कि जिन पर हम अधिकार जमाना चाहते है वास्तव में उनकी अपनी इच्छा क्या है । विजयी राजा अथवा साम्राज्य को अधिकार था कि परास्त देशो के जिस भाग को चाहे हडप बैठे । यहाँ तक धाँधली होती थी कि दहेजो में राष्ट्रो के वारे-न्यारे हो जाते थे । परन्तु अब इस दुरवस्था का सशोधन हो रहा है । अब भविष्य में राष्ट्रो के साथ वस्तुओ या पशुओ के समान व्यवहार नही किया जायगा । प्रत्येक जाति को इस बात का अधिकार होगा कि वह अपने भाग्य का आप निर्णय करे, जिस साम्राज्य के अधीन रहना चाहे रहे और उसकी इच्छा हो तो स्वय अपना राज्य-शासन करे । हम नही कह सकते कि इस प्रथा का क्या फल होगा । सभव है ससार असख्य छोटे-मोटे राज्यो में विभक्त हो जाय पर कुछ भी हो उसका फल इतना अवश्य होगा कि राज्य-विस्तार की कुचेष्टा का लोप हो जायगा । निर्बल जातियाँ भी निश्शक अपना जीवन-निर्वाह कर सकेंगी । ●

गाधी का रास्ता इसी बदले हुए समय का रास्ता है — ऐसे समय का जिसमें एक ओर साम्राज्य की सगठित हिंसा की विराट् शक्ति के मुकाबले में पराधीन देश की हिंसा कमजोर पड जाती है और दूसरी ओर, एक पराधीन देश के आज़ादी माँगनेवाले उद्दाम स्वर के सामने साम्राज्य-सरक्षण का चीत्कार निस्तेज और फीका सुनायी पडता है । यही रणनीति है इस नये तरह के स्वाधीनता सग्राम की — दमन की शक्ति को अपनी अहिंसा से विफल कर दो और आवाहन करो ससार के जन-जन की उस मुक्ति-चेतना का जो इस युग की नयी उपलब्धि है ।

अहिंसा का रास्ता ही ठीक है ।

लखनपुर के किसानों ने हिंसा का रास्ता अपनाया — तो उनका सर्वनाश हो गया और कुछ हाथ न लगा । सब जेल में पडे सडते रहे । सब का घर-बार नष्ट हो गया । मनोहर ने जेल की कोठरी मे ही अपने को फाँसी लगा ली ।

दूसरा रास्ता अहिंसा का है, गाँव की नवरचना का है — प्रेमशकर का रास्ता, प्रेमशकर जो प्रेमचद की गढी हुई मानस-मूर्ति है गाधी की ।

बरसो देश से बाहर रहने के बाद गाधीजी सन् १५ में अपने देश लौटे और तभी उन्होने अहमदाबाद में अपना सत्याग्रह आश्रम स्थापित किया ।

प्रेमशकर भी बरसो देश से बाहर रहने के बाद अपने देश लौटते है और अपना प्रेमाश्रम स्थापित करते है। अन्तर इतना ही है कि गाधीजी अफ्रीका गये थे, प्रेमशकर अमरीका जाते है, जहाँ उन दिनो ज्यादातर क्रान्तिकारी भागकर जाया करते थे। और वह खुद भी ऐसे ही राजद्रोह के प्रसग में भागकर गये थे — 'मैं कालेज से ही स्वराज्य आन्दोलन में अग्रसर हो गया। उन दिनो नेतागण स्वराज्य के नाम से काँपते थे। इस आन्दोलन में प्राय नवयुवक ही सम्मिलित थे। मैंने साल भर बडे उत्साह से काम किया। पुलिस ने मुझे फँसाने का प्रयास करना शुरू किया। मुझे ज्योहो मालूम हुआ कि मुझ पर अभियोग चलाने की तैयारियाँ हो रही है त्योही मैंने जान लेकर भागने में ही कुशल समझी।'

. मगर जब लौटे तो गाधी जा की प्रतिमूर्ति बनकर — क्योकि गाधी की मूर्ति इस बीच मुशीजी के हृदय-आसन पर स्थापित हो चुकी थी। द्वद्व मिट गया है। अब मुशीजी की एकनिष्ठ भक्ति गाधीजी के देशोद्धार आन्दोलन में है। और इस देशोद्धार में छूत-छात और दूसरे सभी अधविश्वासो के खिलाफ लडाई शामिल है — सहकारी खेती का प्रयोग भी उसी का एक जरूरी हिस्सा है।

अग्रेजी साहित्य, फारसी और इतिहास में बी० ए० का इम्तहान अप्रैल १६१६ में देने के बाद मुशीजी एकाग्र मन से उर्दू 'प्रेमाश्रम' पर ही काम करते रहे।

और मन की इस एकाग्रता का यह हाल था कि शायद ही कोई दूसरी चीज लिखी हो। २८ नवबर १६१६ के अपने खत में उन्होने निगम साहब से अपनी इस मजबूरी का जिक्र भी किया था —

' अब कुछ दिनो के लिए छोटे किस्से लिखना बद करके इल्मी मजामीन लिखने की कोशिश करूँगा। दिमाग एक साथ दो मुख्तलिफ प्लाट नही सँभाल सकता। तजुर्बा कर चुका हूँ कि एक ही काम एक वक्त हो सकता है। या तो नाविल लिखूँ या कहानियाँ, नाविल के लिए एक ही प्लाट काफी है और उसका लिखना इतना मुशकिल नही है जितना हर माह में दो-तीन कहानियो का।'

इस एक साल के दौरान में मुशीजी ने शायद एक ही कहानी लिखी 'पशु से मनुष्य' — जो कि सच पूछिए तो 'प्रेमाश्रम' का ही एक टुकडा मालूम होती है। उसके भी नायक प्रेमशकर है जो 'प्रेमाश्रम' के अपने नामरासी भाई की तरह सहकारी खेती का, व्यावहारिक समाजवाद का प्रयोग करते है। एक माली पहले किसी के यहाँ पाँच रुपये पर नौकरी करता है। घर-बारवाला आदमी है, इतने में उसका पेट नही भरता तो वह बाग के आम वगैरह चुराकर बेच देता है। वही आदमी प्रेमशकर के यहाँ पहुँचकर बहुत मेहनती और ईमानदार आदमी बन जाता है।

निष्कर्ष? 'पाँच और पाँच हजार' पचास और पचास हजार का अस्वाभाविक

अतर ही हर पाप की जड है । ऐसे समाज में चोरी-चमारी के लिए आप से आप कोई जगह नही रह जाती जिसमें कोई भी यह नही समझता कि मैं किसी का नौकर हूँ । सबके सब अपने को साझेदार समझते है और जी तोडकर मेहनत करते है। जहाँ कोई मालिक होता है और दूसरा उसका नौकर तो उन दोनो में तुरत द्वेष पैदा हो जाता है। मालिक चाहता है कि इससे जितना काम लेते बने लेना चाहिए। नौकर चाहता है कि मैं कम से कम काम करूँ। काल-चिन्हो से ज्ञात होता है कि यह प्रतिद्वंद्विता अब कुछ ही दिनो की मेहमान है। इसकी जगह अब सहकारिता का आगमन होने वाला है चारो ओर से जनतावाद का घोर नाद हमारे कानो में आ रहा है पर हम ऐसे निश्चिंत है मानो वह साधारण मेघ की गरज है।'

जिस बेडौल ढग से यहाँ शिल्प की मर्यादा को भूलकर कहानी की खूँटी पर विचार टाँगे गये है उसी से यह सिद्ध है कि ये प्रेमशकर के नही प्रेमचद के विचार है और ये विचार इस बुरी तरह उनके मन पर छाये हुए है कि दूसरी सब बाते गौण हो गयी हैं। यह एक नयी उपलब्धि उनको हुई है जिसे वह सबको दिखाना चाहते है, सबके साथ बाँटना चाहते है — कुछ-कुछ वैसे ही जैसे बच्चा नया झुन-झुना मिलने पर उसे टोले-पडोस के अपने हमजोलियो को दिखाने के लिए बेताब रहता है। कोई रोक-टोक मानने के लिए वह तैयार नही है। शिल्प की बाधा कोई बाधा नही है। असल चीज बात है। बात बडी हो तो फिर सब ठीक है।

और बात इतनी बडी है कि उसने मुशीजी को ऊपर से नीचे तक छा लिया है और वह आज के पूरे समाज पर, जिसकी आधार-शिला धन है, एक बडा-सा प्रश्नचिन्ह लगा देते है। धन ही सारी बुराइयो की जड है। उसी ने दो इसानो के बीच यह दीवार खडी की है। वही आदमी को जानवर बना देती है। उसको मिटा दो।

मगर उसके साथ ही, गाधी और टाल्सटाय का इतना गहरा असर मुशीजी के मन पर है कि जादू की छडी घुमाते ही वह सारे पढे-लिखे लोग, वकील-बैरिस्टर, डाक्टर, सरकारी अमले जो इस समाज-व्यवस्था को पूरी तरह स्वीकार करके खुद अर्थ-पिशाच बन चुके है और जिनके बारे में मुशीजी की शकाओ का अत नही है, उनका हृदय-परिवर्तन हो जाता है और वह बहुत नेक, सीधे-सच्चे इसान बन जाते है। उनकी सोयी हुई आत्मा जाग पडती है और फिर मुशीजी उन्ही के मुँह से आज की इस समाज-व्यवस्था की पोल खुलवाते है।

हाकिम ज्वाला सिंह कहते है — यहाँ उसको सफलता होती है जो खुशामदी और चलता हुआ है, जिसे सिद्धान्तो की परवाह नही है। मैंने तो आज तक किसी सहृदय पुरुष को फलते-फूलते नही देखा। बस, शतरजबाजो की चाँदी है।

डाक्टर चोपरा कहते है — बस यहाँ उन लोगो की चाँदी है जिनके कान्शस मुर्दा हो गये है।

बैरिस्टर इर्फान अली कहते है — 'जब वकालत का स्याह जामा पहना

तो उस पर शराफत का सुफेद दाग क्यो लगाये ! जब लूटने पर आये तो दोनो हाथो से क्यो न समेटें ! दिल में दौलत का अरमान क्यो रह जाय । बनियो को लोग ख्वाहमख्वाह लालची कहते है । इस लकब का हक हमको है । दौलत हमारा दीन है, ईमान है । यह न समझिए कि इस पेशे में जो लोग चोटी पर पहुँच गये हैं वह ज्यादा रौशनखयाल है । नही जनाब, वह बगुले भगत है । ऐसे खामोश बैठे रहते है गोया दुनिया से कोई वास्ता ही नही, लेकिन शिकार नजर आते ही आप उनकी झपट और फुर्ती देखकर दग हो जायेंगे ! जिस तरह कसाई बकरे को सिर्फ उसके वजन के एतबार से देखता है उसी तरह हम इसान को महज इस एतबार से देखते है कि वह कहाँ तक आँख का अधा और गाँठ का पूरा है ।'

राय कमलानन्द, जो एक बिल्कुल अपने ढग के, अत्यत प्रबल व्यक्तित्व के, पुराने ताल्लुकेदार है, कौसिल के मेम्बर है और भोग को ही योग समझते है, उनकी अतर्विरोधो से भरी हुई स्थिति की सच्चाई उनके मुँह से इस रूप में वाणी पाती है — ' मुझे खुशामदी टट्टू कहने में अगर किसी को आनन्द मिलता है कहे, मुझे देश और जाति का द्रोही कहने से अगर किसी का पेट भरता है तो मुझे कोई शिकायत नही है, पर मैं अपने स्वभाव को नही बदल सकता । अगर रस्सी तुडाकर मै जगल में अबाध फिर सकूँ तो मैं आज ही खूँटा उखाड फेकूँ । लेकिन जब जानता हूँ कि रस्सी तुडाने पर भी मै बाडे से बाहर नही जा सकता बल्कि ऊपर से और डडे पडेंगे तो फिर खूँटे पर चुपचाप खडा क्यो न रहूँ ? और कुछ नही तो मालिक की कृपा-दृष्टि तो रहेगी ! जब राजसत्ता अधिकारियो के हाथों में है, हमारे असहयोग और असहमति से उसमें कोई परिवर्तन नही हो सकता तो इसकी क्या जरूरत है कि हम व्यर्थ अधिकारियो की टीका-टिप्पणी करने बैठें और उनकी आँखो में खटके । हम काठ के पुतले है, तमाशे दिखाने के लिए खडे किये गये है, इसलिए हमें डोरी के इशारे पर नाचना चाहिए । यह हमारी खामखयाली है कि हम अपने को राष्ट्र का प्रतिनिधि समझते है । जाति हम जैसो को जिनका अस्तित्व ही उसके रक्त पर अवलबित है कभी अपना प्रतिनिधि न बनायेगी । जिस दिन जाति में अपना हानि-लाभ समझने की शक्ति होगी, हम और आप खेतो में कुदाली चलाते नजर आयेंगे ।'

लोभ, स्वार्थ और पाखण्ड का पुतला ज्ञानशकर जो इतना गिर गया है कि जायदाद के पीछे अपने ससुर राय कमलानन्द को जहर देने में भी सकोच नही करता, कहता है — यह जीवन-सग्राम है । यहाँ छल-कपट, दगा-फरेब, सब कुछ उपयुक्त है अगर उससे अपना स्वार्थ सिद्ध होता है । यहाँ छापा मारना, आड से शस्त्र चलाना, विजय-प्राप्ति के साधन है । यहाँ औचित्य-अनौचित्य का निर्णय हमारी सफलता के आधीन है । अगर जीत गये तो सारे धोखे और मुगालते सुअवसर के नाम से पुकारे जाते हैं, हमारी कार्यकुशलता की प्रशसा होती है । हारे तो उन्हें पाप कहा जाता है ।

मरते-मरते कमलानन्द कहते है — इस जायदाद की बदौलत हम और तुम एक-दूसरे के खून के प्यासे हो रहे है। यह इसी जायदाद के, इसी रियासत के करिश्मे है। दुनिया में तमा और हिर्स, कीना और हसद, कुश्त और खून का राज है। भाई भाई का दुश्मन हो रहा है। इसी जमीन के लिए, इसी जायदाद के लिए। यही वह खेत है जहाँ दुनिया एक मैदाने कारजार बनी हुई है। इसी ने इसान को हैवानो से बदतर बना दिया है।

इतने से जी नही भरता तो राय कमलानन्द फिर कहते है — यह जायदाद नही है। इसे रियासत कहना भूल है। यह निरी दलाली है। इस भूमि पर मेरा क्या अधिकार है? मैंने इसे बाहुबल से नही लिया। नवाबो के जमाने में किसी सूबेदार ने इस इलाके की आमदनी वसूल करने के लिए मेरे दादा को नियुक्त किया था। मेरे पिता पर भी नवाबो की कृपादृष्टि बनी रही। इसके बाद अग्रेजो का जमाना आया और यही सिलसिला कायम रहा

पहले उर्दू मसौदे से अनुवाद करते समय मुशीजी ने और सब कुछ तो ज्यो का त्यो रहने दिया लेकिन जब आखीर के टुकडे पर आये तो वह बात गलत मालूम हुई क्योकि अग्रेज़ो ने बहुतो की जमीन्दारियाँ छीन ली थी और फिर अपने नये जमीन्दार पैदा किये थे — अपने पिट्ठुओ में से, जिन्होने गदर और उसके पहले भी उनकी मदद की थी। आज भी राष्ट्रीय आन्दोलन के वही सबसे बडे दुश्मन थे और यह दिखलाना जरूरी था कि इस दुश्मनी की जड कहाँ पर है। लिहाजा मुशीजी ने बाद वाला टुकडा बदल कर यह कर दिया — 'इसके बाद अंग्रेजो का जमाना आया और यह अधिकार पिता जी के हाथ से निकल गया। लेकिन राज-विद्रोह के समय पिता जी ने तन-मन से अग्रेजो की सहायता की। शान्ति स्थापित होने पर हमें वही पुराना अधिकार फिर मिल गया। यही इस रियासत की हकीकत है। हम केवल लगान वसूल करने के लिए रखे गये है। इसी दलाली के लिए हम एक दूसरे के खून से अपने हाथ रँगते है। इसी दीन-हत्या को हम रोब कहते हैं। इसी कारिन्दागरी पर हम फूले नही समाते। सरकार अपना मतलब निकालने के लिए हमें इस इलाके का मालिक कहती है, लेकिन जब साल में दो बार हमसे मालगुजारी वसूल की जाती है तब हम मालिक कहाँ रहे? सब धोखे की टट्टी है। तुम कहोगे यह सब कोरी बकवास है, रियासत इतनी बुरी चीज है तो उसे छोड क्यो नही देते? हा! यही तो रोना है कि इस रियासत ने हमें विलासी, आलसी और अपाहिज बना दिया। हम अब किसी काम के नही रहे। हम पालतू चिडियाँ है, हमारे पख शक्तिहीन हो गये है। हम में अब उडने की सामर्थ्य नही है। हमारी दृष्टि सदैव अपने पिंजरे के कुल्हिये और प्याली पर रहती है।'

ज़मीन किसकी है, इसके बारे में मुशीजी के मन में कोई दुविधा नही है। प्रेमशकर स्पष्ट शब्दो में कहता है — 'ज़मीन उसकी है तो उसको जोते। शासक

को उसकी उपज में भाग लेने का अधिकार इसलिए है कि वह देश में शान्ति और रक्षा की व्यवस्था करता है जिसके बिना खेती हो ही नही सकती। किसी तीसरे वर्ग का समाज में कोई स्थान नही है।'

उसकी इस बात को सुनकर डिप्टी ज्वाला सिह कहते है — 'महाशय, इन विचारो से तो आप देश में क्रान्ति मचा देगे।' जो कि शायद गलत बात नही है क्योकि रूस की बोल्शेविक क्रान्ति के तीन बडे नारो में सबसे बडा नारा यही था — जमीन जोतनेवाले को।

लखनपुर की जमीन्दारी से अपना नाता तोडते हुए प्रेमशकर अपने भाई से कहता है — 'मैं यह सुनना ही नही चाहता कि मैं उस गाँव का जमीन्दार हूँ अपने श्रम की रोटी खाना चाहता हूँ। बीच का दलाल नही बनना चाहता। अगर सरकारी पत्रो में मेरा नाम दर्ज हो गया हो तो मैं इस्तीफा देने को तैयार हूँ।'

प्रेमशकर के यही आदर्श जब ज्ञानशकर के बेटे मायाशकर के आदर्श बन जाते है, जिसके लिए ही ज्ञानशकर सब छल-छन्द करता है, यहाँ तक कि हत्या भी, तब ज्ञानशकर के लिए मर जाने के सिवा दूसरा रास्ता नही बचता और वह गगा में डूबकर आत्मघात कर लेता है।

जमीन किसानो को सौपते हुए मायाशकर कहता है —

'भूमि या तो ईश्वर की है जिसने इसकी सृष्टि की या किसान की जो ईश्वरीय इच्छा के अनुसार इसका उपयोग करता है। राजा देश की रक्षा करता है इसलिए उसे किसानो से कर लेने का अधिकार है चाहे प्रत्यक्ष रूप मे ले या कोई इससे कम आपत्तिजनक व्यवस्था करे। अगर किसी अन्य वर्ग या श्रेणी को मीरास, मिल्कियत, जायदाद, अधिकार के नाम पर किसानो को अपना भोग्य पदार्थ बनाने की स्वच्छन्दता दी जाती है तो इस प्रथा को वर्तमान व्यवस्था का कलक चिन्ह समझना चाहिए।'

जमीन्दार बीच में से हट जाय और जमीन का मालिक खुद जोतनेवाला हो जाय। अपने समय से बहुत आगे बढी हुई बात है। अभी शायद कोई इस रूप में नही सोचता। गाधी जी भी नही। लेकिन प्रेमचद का ऐसा ही कुछ स्वप्न है। उसके लिए उन्हे किसी गुरु की दीक्षा नही चाहिए और न उन्हे जरूरत है किसी नये-पुराने वेद-शास्त्र की सनद की। जिन्दगी की सनद उसके लिए काफी है।

जिन्दगी में जो कुछ देखा है, सुना है, पढा है, सोचा है — वही तो स्वप्न है। कल्पना है। कामना है। उसमें मेरा भी अश है दूसरो का भी। नितान्त मौलिक तो कुछ भी नही है ससार में — एक ब्रह्म को छोडकर। फिर तो जो है, सब किसी न किसी से आविर्भूत है, सब कुछ एक दूसरे से लगा-लिपटा है। वही तो सेतु है, एक मनुष्य और दूसरे मनुष्य के बीच। वही तो एकता की डोर में बाँधता आया है

सब मानवजाति की कल्पनाओ को, प्रयोगो को । एक के अनुभव से दूसरा सीखता है । लेकिन उतना ही जितने का प्रमाण अपने भीतर पाता है ।

इसी तरह तो उसका सौन्दर्यबोध बनता है, विवेक बनता है । वही सबल है । उसी की उँगली पकडकर आदमी अपने जीवन की यात्रा करता है । बहुत-बहुत झटके लगते है इस यात्रा में । न जाने क्या-क्या देखने को मिलता है, कैसे-कैसे दृश्य, एक से एक भयानक, एक से एक सुन्दर । ढोंग-ढकोसले के बीसो रूप, तरह-तरह के अन्याय-अत्याचार । सब देखो । सब सुनो । सब सहेजो । यही तुम्हारा अक्षय कोष है । इसका सौदा किसी कीमत पर न करो । अपनी बुद्धि, अपना विवेक किसी के यहाँ बधक न रखो । और आँख-कान खुले रक्खो । फिर कोई चिन्ता नही । अच्छे-बुरे बहुत से लोग मिलेगे तुम्हे । सबके सग उठो-बैठो । जिससे जो कुछ अपने काम का मिले ले लो, पर भरोसा अपने आँख-कान का करो, अपनी बुद्धि का, अपने विवेक का । और अपनी राह चलो । राह दिखानेवाले भी कम न मिलेंगे, एक से एक पहुँचे हुए साधु-सन्त, फकीर, दरवेश । उनको अपनी राह जाने दो । वह तुम्हारी राह नही है । तुम इसी दुनिया के आदमी हो । स्वागत-सत्कार करो उनका, कुछ दूर साथ हो लेने में भी बुराई नही है, लेकिन फिर अपनी राह पर आ लगो । बस एक बात कभी न भूलो — जीवन से बडी पुस्तक कोई नही है, न कोई वेद न कोई शास्त्र, न कोई साधु न कोई सन्त ।

गाधी बडा आदमी है । देश का दर्द उसके भीतर है । नये तरह का नेता है जो बात से ज्यादा काम पर जोर देता है । देश को जगा रहा है । उसे आत्म-विश्वास दे रहा है । मुल्क की नब्ज पहचानता है । अन्याय के विरुद्ध सिर ऊँचा करके खडे होना सिखला रहा है । प्रतिकार का जहाँ किसी को कोई रास्ता नही मिल रहा था वहाँ एक रास्ता दे रहा है जो एक ख़ास भारतीय रास्ता है और व्यावहारिक रास्ता है ।

गाधी जी के लिए प्रेमचद के मन में गहरी भक्ति है, अचल निष्ठा कर्मपथ पर उनके नेतृत्व में । इतनी कि मुशीजी कभी-कभी सशय में पड जाते है — प्रमाण किसे मानें, जीवन के अपने अनुभव और ज्ञान को या गाधी को ! जबर्दस्त रस्साकशी होती है । आखिरकार समझौता हो जाता है जीवन भी रहेगा, गाधी भी रहेगे । कठोर वास्तविकता की नगी-खुरदुरी जमीन भी रहेगी और उस पर गाधी-दर्शन का चँदोवा भी तना रहेगा । ज़मीन के खुरदुरेपन को ढँकने के लिए कालीन की तरह उसका इस्तेमाल — नही, वह किसी तरह मुमकिन न होगा ।

किसी पाखण्ड से वह समझौता नही करेगा, किसी अन्याय से वह आँख नही चुरायेगा । जिन्दगी की पूरी तसवीर देगा, सच्ची तसवीर देगा । यह उसकी प्रतिश्रुति है अपने प्रति । तत्काल कर्म की एक रूपरेखा गाधी के यहाँ मिलती है । अच्छी है, मन को भाती है और जहाँ तक अपने स्वप्न से उसका मेल खाता है,

गाधी के साथ या उनके पीछे चलने में कोई बुराई नही है, भरोसे का आदमी है। शेष के लिए मै स्वतन्त्र हूँ। मै अपनी राह जाऊँगा, वह अपनी राह जायेंगे।

लेकिन स्थिति का व्यग्य यह है कि समाज की पूरी परिकल्पना तो दूर की बात है, आजादी की, स्वराज्य की उनकी तसवीर भी एक नही है।

जवाहरलाल नेहरू उन दिनो के बारे में अपनी आत्मकथा में लिखते हैं —

'इस तरह हम चल रहे थे, अनिश्चित से, पर अपने भीतर गहरा आवेग लिये हुए। कर्म का उल्लास हमें मजबूती से पकडे था पर अपने लक्ष्य के बारे में स्पष्ट चिन्तन का नितान्त अभाव था। आज बडा अजीब मालूम होता है कि हमने कैसे अपने आन्दोलन के सिद्धान्तपक्ष की ओर से, उसके दर्शन और स्पष्ट लक्ष्य की ओर से इस तरह आँख मूंद रखी थी। यह ठीक है कि स्वराज्य का नाम लेते ही हम सब की सरस्वती जाग उठती थी मगर हममें से शायद हर एक के पास इस शब्द का अपना अलग अर्थ था। ज्यादातर नौजवान इसका मतलब राजनीतिक स्वाधीनता या ऐसा ही कुछ समझते थे, और जनतान्त्रिक ढग की शासनप्रणाली, और यही हम अपने भाषणो में कहा करते थे। हममें से बहुत से यह भी सोचते थे कि इसका एक लाजिमी नतीजा यह होगा कि वह बोझ कुछ कम हो जायगा जिसके नीचे आज मजदूर और किसान पिस रहे हैं। लेकिन यह स्पष्ट था कि हमारे अधिकाश नेताओ के लिए स्वराज्य का मतलब आजादी से कम कोई चीज था। गाधी जी इस चीज़ के बारे में ऐसे अस्पष्ट थे कि क्या कहना और मजा यह कि पसन्द भी न करते थे कि कोई इसके बारे में सफाई से सोचे!'

जो बात सामने आयी दिसम्बर सन् २० में, नागपुर के काग्रेस अधिवेशन में, जब कि असहयोग के प्रस्ताव के सिलसिले में स्वराज्य पर बात हो रही थी। हसरत मोहानी ने जब स्वराज्य को पूर्ण स्वाधीनता के अर्थ में ग्रहण करने के लिए जोर दिया तो गाधीजी ने उन्हे चिडचिडे स्कूलमास्टर की तरह झिडककर चुप कर दिया।

लेकिन इस मामले में तो मुशीजी भी हसरत मोहानी के साथ है। उनके लिए भी 'स्वराज्य' का नाम कोई हैसियत नही रखता। वह कोई जादू की छडी नही है। उनके पास हर चीज की अपनी कसौटी है जिस पर खरे-खोटे की परख होती है और वह अब से करीब दो बरस पहले अपने उस तेज-तर्रार लेख 'पुराना जमाना नया ज़माना' में स्वराज्य की हाँक लगानेवालो से आमने-सामने खडे होकर दो-चार बीहड सवाल पूछ चुके है।

लेकिन वह तो साध्य की बात है, जो कलाकार के स्वप्न-विधायक मन की अपनी चीज है। उसमें कही कोई उलझाव नही है, भ्रान्ति नही है। जीवन भर का अनुभव उसके पीछे है। हाँ, साधन का हाल उसे नही मालूम। वह उसका क्षेत्र भी तो नही है। उसके लिए किसी अच्छे मार्गदर्शक का हाथ पकडना चाहिए। गाधी से अच्छा मार्गदर्शक अब कौन है। इस देश की नाड़ी का उन्हे अद्भुत ज्ञान है।

१३

जलियाँवाला बाग के अत्याचारो और खिलाफत के प्रति अन्याय से सारा देश क्षुब्ध था, हिन्दू-मुसलमान सभी ।

२५ फर्वरी १९२० को मुशी जी ने उर्दू 'प्रेमाश्रम' का लिखना समाप्त किया और १० मार्च को गाधी जी ने एक घोषणापत्र में पहली बार खिलाफत के सवाल को समेटते हुए असहयोग की अपनी योजना का सकेत किया — 'अब एक शब्द इसके बारे में कि अगर हमारी माँगें नही पूरी होती तो हमें क्या करना होगा। बर्बर तरीका तो लडाई का है, फिर वह चाहे खुली लडाई हो चाहे गुप्त । इसको तो हमें काट ही देना होगा, अगर और किसी कारण से नही तो केवल इसलिए कि वह अव्यावहारिक है । अगर मैं सबको इस बात का विश्वास दिला सकता कि यह चीज हमेशा, हर हालत में बुरी होती है तो हमें अपने न्यायोचित उद्देश्यो में और जल्दी सफलता मिलती । हिंसा को तिलाजलि देने वाले किसी व्यक्ति या राष्ट्र में इतनी शक्ति आ जाती है कि फिर कोई उसका सामना नही कर सकता। लेकिन आज हिसा के विरुद्ध मेरा तर्क शुद्ध व्यावहारिकता पर आधारित है — हिंसा बिल्कुल निष्फल है । ऐसी स्थिति में हमारे सामने केवल एक उपचार रह जाता है — असहयोग ।'

देश अहिंसक समर-यात्रा के लिए निकल रहा था ।

लेकिन इस समय भी कुछ लोग ऐसे है, या हम सब के भीतर कोई एक जीव ऐसा है जिसे केवल अपने पेट की चिन्ता है । उसकी मरम्मत करने की जरूरत है और मुशी जी ने पेटू-शिरोमणि पडित मोटेराम शास्त्री को अपने तीर का निशाना बनाते हुए एक बडे मजे का चुटकुला लिखा — 'मनुष्य का परम धर्म' ।

● होली का दिन है । लड्डू के भक्त और रसगुल्ले के प्रेमी पडित मोटेराम शास्त्री अपने आँगन में एक टूटी खाट पर सिर झुकाये, चिन्ता और शोक की मूर्ति बने बैठे है । उनकी सहधर्मिणी उनके निकट बैठी हुई उनकी ओर सच्ची सहवेदना की दृष्टि से ताक रही है और अपनी मृदु वाणी से पति की चिन्ताग्नि को शान्त करने की चेष्टा कर रही है ।

पडित जी बहुत देर तक चिन्ता में डूबे रहने के पश्चात् उदासीन भाव

से बोले — नसीबा ससुरा न जाने कहाँ जाकर सो गया। होली के दिन भी न जागा!

पडिताइन — दिन ही बुरे आ गये हैं। इहाँ तो जौन दिन से तुम्हार हुकुम पावा ओही घडी ते साँझ-सबेरे दोनो जून सूरज नरायन से यही वरदान माँगा करित है कि कहूँ से बुलौवा आवै। सैकडन दिया तुलसी माई का चढावा मुदा सब सोय गये। गाढे परे कोऊ काम नाही आवत है।

पति-पत्नी में ये दर्द-भरी बाते चल ही रही है कि उनके मित्र पडित चिन्तामणि आ जाते है। दोनो मित्र कुछ देर आपस में अपने बाजार की मदी का रोना रोते है, और फिर निश्चय होता है कि गगाजी के घाट पर चलकर व्याख्यान देना चाहिए, शायद इसी तरह कुछ डौल बैठ जाय। दोनो ब्राह्मण देवता घाट पर पहुँचते है और तब पडित मोटेराम न्याय और मीमासा की शैली में, वेद और शास्त्रो के प्रमाण सहित व्याख्यान देकर सिद्ध करते है कि मुख ही शरीर का श्रेष्ठतम अग है, क्योकि ब्रह्मा के मुख से ही ब्राह्मण की उत्पत्ति हुई और उस मुख को सुख पहुँचाना ही मनुष्य का परम धर्म है। सो कैसे हो, इसके बारे में पडित मोटेराम ने कहा —

'मुख को सुख देने के लिए हमारा परम कर्तव्य है कि हम उत्तम से उत्तम मिष्ठ पाको का सेवन करे और करायें। मेरा अपना विचार है कि यदि आपके थाल में जौनपुर की इमरतियाँ, आगरे के मोतीचूर, मथुरा के पेडे, बनारस की कलाकन्द, लखनऊ के रसगुल्ले, अयोध्या की गुलाबजामुन और दिल्ली का हलुआ सोहन हो तो वह ईश्वर-भोग के योग्य है। देवतागण उस पर मुग्ध हो जायेंगे और जो साहसी पराक्रमी जीव ऐसे स्वादिष्ट थाल ब्राह्मणो को जिमायेगा उसे सदेह स्वर्गधाम प्राप्त होगा।'

असहयोग की तैयारी हो रही थी लेकिन उसका रूप क्या हो — इसकी तसवीर अभी साफ न थी। और जो तसवीर अभी तक सामने आयी थी उससे लोकमान्य तिलक को सतोष न था लेकिन उन्होने गाधीजी को आश्वासन दे दिया था कि मैं उसके विरोध में कुछ न करूँगा, और अगर आप इसमें देश को अपने साथ ले जा पाते है तो मैं भी आपके साथ हूँ।

देश तो साथ था। असल सवाल था अपने सहयोगियो को साथ ले चलने का।

गांधीजी ने १ अगस्त १६२० की तारीख अपना आन्दोलन शुरू करने के लिए नियत की थी। पहली की पौ फटने में अभी कुछ घटो की देर थी जब कि तिलक का देहावसान हो गया।

असहयोग के सबध में आपस में काफी मतभेद था। सितबर में यानी अगले ही महीने काग्रेस का विशेष अधिवेशन कलकत्ते में हुआ। देश गाधीजी के साथ था और अपने प्रतिनिधियो के जरिये अधिवेशन में अपना समर्थन गाधीजी के

लिए व्यक्त कर रहा था, लेकिन बडे नेताओ के मन में सदेह था, सशय था। लाला लाजपतराय कट्टर विरोधी के रूप में सामने आये। देशबधु चितरजन दास कट्टर विरोधी के रूप में सामने आये। देशबधु के साथ बगाल की सारी काग्रेस थी। इस तरह कलकत्ते में यह स्थिति थी कि जाने-माने लोगो में केवल एक व्यक्ति, पडित मोतीलाल नेहरू, का समर्थन गाधीजी को प्राप्त था। और वह भी तव जब गाधीजी ने उनका यह सशोधन स्वीकार कर लिया कि अदालत-कचहरी और स्कूल-कालेज का बहिष्कार एकदम से न करके धीरे-धीरे किया जायगा। तो भी गाधीजी की जीत हुई क्योकि देश उनके साथ था।

तीन महीने बाद, नागपुर की काग्रेस में, स्थिति बिल्कुल बदल चुकी थी। देशबधु अपनी जेब से छत्तीस हजार रुपया ख़र्च करके बगाल की अपनी पूरी फौज लाये थे — कलकत्ते की अपनो हार को जीत में बदलने के लिए। लेकिन जिस भी कारण से हो, चाहें देश के मनोभाव को देखकर-समझकर चाहे गाधीजी के व्यक्तित्व के सम्मोहन से, हुआ यह कि असहयोग का प्रस्ताव देशबधु ने रखा — और उसका समर्थन किया लाला लाजपतराय ने।

असहयोग की इमारत अब मजबूती से अपने चारो खभो पर खडी थी — गाधीजी, पडित मोतीलाल, देशबधु चितरजन दास और लाला लाजपतराय। रूप और विस्तार भी अब काफी सुनिश्चित हो गया था और जो कमी रह गयी थी वह अगले वर्ष अहमदाबाद के अधिवेशन में पूरी हो गयी। स्वदेशी यानी खद्दर, चर्खे, हाथ के करघे का विकास। विदेशी चीजो का बहिष्कार। अदालत-कचहरी का बहिष्कार। सरकारी स्कूल-कालेज का बहिष्कार। राष्ट्रीय विद्यालयो की स्थापना। कौसिल और उसके चुनावो का बहिष्कार। छूत-अछूत के भेद को मिटाना। हिन्दुओ और मुसलमानो के बीच एकता और भाईचारा कायम करना। और भी बहुत कुछ।

देश का विवेक जाग रहा था। गाधी के हाथो देश को एक बार फिर अपना खोया हुआ मेरुदण्ड मिल रहा था।

प्रेमचद के लिए इनमें नयी या चौकाने वाली बात एक न थी। कर्म के क्षेत्र में गाधी जी और उनके बीच गुरु-शिष्य का सबध था, विचार के स्तर पर, टाल्स-टाय के नाते, गुरु भाई का।

'प्रेमाश्रम' तो हमारे सामने है ही, मुशी जी की 'पच परमेश्वर' कहानी अब से चार-पाँच बरस पहले, जून १९१६ की 'सरस्वती' में छपी थी। गाधीजी को हिन्दुस्तान आये तब मुशकिल से एक साल हुआ था और खुद उन्हें भी पता न था कि वह क्या करने जा रहे है। असहयोग की कही कल्पना भी न थी। किसे पता था कि चार-पाँच साल बाद असहयोग का आन्दोलन छेडा जायगा, उसमें

और बहुत-सी चीजो के बहिष्कार के साथ-साथ कचहरी-अदालत के बहिष्कार की भी बात उठायी जायगी, वकीलों से कहा जायगा कि कचहरियो से अपना नाता तोड लो और जनता से कहा जायगा कि अपने झगडे लेकर कचहरियो में मत दौडो, उन्हे खुद ही गाँव की पचायत में बैठकर सुलझा लो।

उसी पचायत का अभिषेक मुशीजी की इस सुन्दर कहानी मे है। उसकी प्रेरणा का स्रोत कोई आन्दोलन नही, गाँव के जीवन की वास्तविकता है। लोग जब देखो तब अपने झगडो को लेकर कचहरी पहुँचे रहते है। वहाँ उनको लूटने के लिए, दोनो हाथ से लूटने के लिए, पूरी एक फौज बैठी रहती है — वकील-मुख्तार, पेशकार, अहलमद, अर्दली-चपरासी, सब। हर ड्योढी पर उसे कुछ न कुछ चढाना पडता है, तो भी कोई सीधे मुँह बात नही करता। और न्याय भी उसे कहाँ मिलता है ? नयी तारीख मिलती है। दो-चार रुपये का हेर-फेर होता है और अगली किसी तारीख के लिए पेशी लग जाती है। और उस दिन फिर यही सब होता है। गोया एक लाश है जिसे सब गिद्ध मिलकर नोच रहे है। क्या खूब इसाफ है ! शैतान के दिमाग की उपज है यह मशीन — लाकर डाल दी बीच में, उलझे रहो कयामत तक। मगर इन जाहिलो को क्या कहा जाय जिनकी अक्ल पर पत्थर पड गया है ! रेल मे, कचहरी में, हर जगह धक्के खाते है, जेरबार होते है, बर्तन-भाँडा बेचते है, घर-जमीन रेहन रखते है, गहना-गुरिया सावजी की दूकान पर रखकर पेशी के लिए दस-बीस जमा करते है और जाकर फूंक आते है। अच्छा महारोग लगा है यह, कैसे छुटकारा हो ?

धरती से सवाल उठता है और धरती से ही विचार का अकुर फूटता है। गाधी ने भी राजनीति को धरती से उठाया। वही दोनो के साम्य का आधार है। वही उनके सबध की राशि है। जितनी दूर तक साथ चल सके, चल लिये — और फिर राहे अलग हो गयी। दोनो प्रयोग कर रहे थे, अपने-अपने माध्यम से, और दोनो को अपने प्रयोग में निष्ठा थी।

सरकारी नौकरी अब दिनोदिन जी पर भारी होती जा रही थी। दो बरस होता है जब उसमानिया यूनिवर्सिटी के लिए कोशिश की थी मगर कौन पूछता है।

पिछले साल एक रोज़ मुशीजी ने लीडर में इश्तहार देखा कि कानपुर में डी० ए० वी० स्कूल की हेडमास्टरी खाली है। बाँछें खिल गयी। बहुत अच्छा स्कूल है। फिर, कानपुर है, जहाँ दयानरायन है, जमाना का दफ्तर है। इस जजाल से उबरूँगा, वह अलग। अब तो कटने लगी गर्दन इस तौक को ढोते-ढोते। मियाँ की दौड मसजिद तक। मुशीजी ने फौरन ६ नवबर १९१९ को एक खत निगम साहब के पास भेजा। लेकिन बात कुछ बनी नही, तो २१ दिसम्बर को उन्होने लिखा — 'मैं डी० ए० वी० कमेटी के फैसले का मुन्तजिर हूँ। मायूसी

की कोई बात नही है अगर मारवाडी स्कूल में इसकी गुजाइश हो तो आप वहाँ भी मेरी तजवीज करने की तकलीफ उठाइए । ' किसी तरह गला छूटे । उसमानिया यूनिवर्सिटी से लेकर मारवाडी स्कूल तक, कुछ हो । बस सरकारी स्कूल न हो । यह गुलामी अब सही नही जाती, मगर क्या करे, बालबच्चेदार आदमी है, यो ही कैसे कूद पडे आग में । अकेला होता तो एक बार चाहे कूद भी पडता, सबको कैसे झोक दे अपने साथ !

हर तरफ हाथ-पैर मारते है मगर कुछ होता नही दिखायी देता । मारवाडी स्कूल में हेडमास्टर की जगह नही खाली थी, हाँ असिस्टेट टीचरी मिल सकती थी, तनख्वाह अलबत्ता कुछ बढायी जा सकती है । मुशी जी ने १८ फर्वरी सन् २० को लिखा —

' मारवाडी स्कूल की असिस्टेट टीचरी मुझे मजूर नही, ख्वाह कितनी ही तनख्वाह मिले । वही हालत तो यहाँ भी है । यहाँ फुर्सत बहुत ज्यादा है । हेड-मास्टर निहायत माकूल । करूँगा तो हेडमास्टरी और असिस्टेट रहना हो तो यहाँ बडे मजे में हूँ । मुझे यहाँ मय मकान के १२० मिलते है । इस लिहाज से भी कोई फायदा नही है । इसलिए ख्वाहमख्वाह क्यो डाँवाडोल होऊँ । '

निश्चय अभी नहो है । खिचडी मन में पक ही रही है । इसीलिए इतना सब हिसाब-किताब सूझ रहा है । सब अपने मन को बहलाने के लिए, टहलाने के लिए । बस उसी घडी का इतजार है जब बात मन मे पक्की हो जायगी । तब तक यही सकल्प-विकल्प चलेगा । लेकिन सच बात यह है कि अब चैन नही मिलता इस नौकरी में । पिंजरे से आजाद होने के लिए तबीयत छटपटाती रहती है ।

और इस छटपटाहट में, जैसा कि हर बार होता आया है, तबीयत अख़बार और प्रेस की तरफ भागती है, फिर हिचक जाती है और फिर भागती है । अजब एक उलझन है जो इस मास्टर और लेखक की जिन्दगी में बार-बार उभरती रही है लेकिन हर बार मन डोल-डोलकर भी नही डोलता ! मन का यह सघर्ष बडी खूबसूरती से इन्ही दिनो की दो कहानियो में उभरकर आया है ।

' बोध ' में एक तहसीली स्कूल के पडित जी जब-जब अपना मिलान एक हेड-कानिस्टिबिल और कचहरी के एक सियाहानवीस से करते है तब-तब अपने नाम को रोते है — कहाँ उनके ऐश और ठाट-बाट और कहाँ मेरी रूखी रोटियाँ ! लेकिन एक बार जब तीनो मित्र तीर्थयात्रा के लिए अयोध्याजी जाते है तब एक ओर जैसी-जैसी दुर्गत उन लोगो की होती है और दूसरी ओर जैसी आवभगत पडित जी की होती है उसे देखकर पडित जी की आँखे खुल जाती है और वह फिर किसी दूसरे महकमे में जाने की कोशिश नही करते । वही बोध है । बोध माने ज्ञान । बोध माने सात्वना, तसल्ली, मनबुझाव । दूसरी कहानी ' बाद अज़ मर्ग ' यानी 'मरने के बाद ' है जो उर्दू के मशहूर शायर चकबस्त के सपादन में निकलनेवाले

मासिक 'सुबहे उम्मीद' के अगस्त-सितबर १९२० के अक में छपी। हिन्दी में इसका नाम 'मृत्यु के पीछे' है जो कि भ्रामक है।

अपनी पत्नी मानकी के बहुत विरोध करने पर भी ईश्वरचद सब कुछ छोड-छाडकर एक पत्र का सपादन करने लगते है। बहुत सच्चे भाव से वह हर तकलीफ और मुसीबत उठाकर छब्बीस साल तक यह देशसेवा करते है। लेकिन ऐश्वर्य तो दूर की बात है, मान-प्रतिष्ठा भी उन्हे अपने जीवन-काल में नही मिलती। मरने के बाद उनकी मूर्तियाँ स्थापित होती है, स्मारक बनते है, देवता की तरह पूजा होती है।

और तब मानकी की समझ में आता है कि देशसेवा का सच्चा पुरस्कार कब और कैसे मिलता है, और वह अपने बेटे कृष्णचन्द्र को प्रेरित करती है कि वह अपनी धुआँधार वकालत को छोडकर अपने पिता का रास्ता पकडे। कोई बात नही अगर इसमें गरीबी है, तकलीफ है!

बहुत रोज तक तो मुशीजी ने इस उम्मीद को पाला कि मुशी दयानरायन के साथ काम करने की कोई सबील निकल आयेगी। मगर जब वह न निकल सकी तो उनके साझे में नया प्रेस कायम करने का खयाल आया और इन्ही सब बातो को मद्दे नजर रखते हुए मुशीजी ने ११ मार्च को उन्हे लिखा —

'अखबारनवीसी की तरद्दुदात की बर्दाश्त का खयाल मारे डालता है। मास्टरी में वह गर्मिए शोहरत न सही, रोजी तो चलती है। अगर कानपुर आ गया तो हम और आप मिलकर कुछ काम कर सकेंगे। वर्ना इसकी और क्या सूरत है। महताबराय कलकत्ते के उस छापेखाने में, जिसके मालिक मेरे दोस्त मिस्टर पोद्दार है, मैनेजर है। माहवार पाते है और पोद्दार का इरादा है कि उन्हे नफे में कुछ हिस्सा भी दे दें। बजुज फासले के और उन्हे वहाँ हर तरह आराम है। हम लोगो का छापाखाना कायम होगा तो उन्हे यहाँ बुला लूँगा। वह काम से खूब वाकिफ हो गये है।'

वह सब ठीक है लेकिन निगम साहब ज्यादा दुनियादार आदमी है, ऐसी सब स्कीमो के चक्कर में जल्दी नही पडते। फूँक-फूँककर कदम रखते है और सच तो यह है कि अपने दोस्त को भी वह प्रेस खोलने की राय नही देते। उनका मिजाज दूसरा है, प्रेस खोलकर मुसीबत में पड जायँगे। मैं तक तो रो रहा हूँ प्रेस के नाम को!

मगर यह भी सच है कि मुदर्रिसी गरीब की लाइन नही है।

आखिरकार मुशी जी ने झुँझलाकर २४ अप्रैल १९१९ को, बी० ए० का इम्तहान इलाहाबाद से देकर गोरखपुर लौटने पर जब कि जलियाँवाला बाग के हत्याकाण्ड को अभी सिर्फ दस रोज हुए थे, निगम साहब को लिखा —

'आप फरमाते है तुम्हारी लाइन यह नही है। मैं तसलीम करता हूँ। मगर चारा क्या है? मैं कुर्बानी को अपनी जात तक रखना चाहता हूँ, अयाल को इस चक्की में पीसना नही चाहता। फिलहाल मेरी रोटियाँ मिली जाती है। कुछ लिट-

रेरी काम कर लेता हूँ। यह कुर्बानी है। खुदा और दुनियाए दूँ, कौम और जात, दोनो को साथ लिये हुए हूँ। मैं लिटरेरी काम को थोडी कुर्बानी नही समझता। जो शख्स अपनी फालतू आमदनी का एक हिस्सा किसो मदरसे के लिए खैरात कर देता है वह हमारी कुर्बानी का सही अदाजा नही कर सकता जो अपने ऊपर सोना तक हराम कर लेती है। आपने मेरे लिए कोई ऐसी तजवीज नही निकाली जिसमें फिक्रे-मआश[1] से आजाद होकर मैं जिन्दगी काटता। मैं अर्ज कर चुका कि इससे ज्यादा नफ्सकुशी[2] मेरे इमकान से बाहर है और आपने जब कभी कोई तजवीज की तो वही हवाई। आकाशी। आकाशी मआश से मुझे इत्मीनान नही होता। जरूरियात के लिए मुस्तकिल सूरत चाहिए, तकल्लुफात के लिए आकाशी सूरत हो तो मुजायका नही। मुझे फिलहाल सौ रुपये मिल जाते है। अगर साल में एक नाविल लिखूँ तो शायद चार पाँच सौ रूपये और मिल जायें। इस तरह से मै अपने पसमाँदगान[3] के लिए दस साल में शायद चार-पाँच हजार रुपये छोड मरूँ। अखबारी जिन्दगी में किस कदर तो फिक्र और झझट, उस पर पचास-साठ रुपये से जायद कोई देनेवाला नही। अभी हमारे यहाँ वह जमाना नही आया कि जर्नलिज़्म को Career बनाया जा सके। आप लीडर की तरह कोई कम्पनी कायम करे। वह माहवार रिसाला, रोज़ाना अखबार निकाले, कारकुनो को माकूल तनख्वाह दे। तब देखिए मै कितनी खुशी से दौडता हूँ। मगर यहाँ तो यह हाल है कि अवध अखबार भी ग्रेजुएट मुतरज्जिम[4] तलाश करता है तो उसकी तनख्वाह सौ रुपये बतलाता है। मै अगर इम्तहान में पास हो गया तो किसी एडेड स्कूल में १२५) का हेडमास्टर हो जाऊँगा। वहाँ गोशए आफियत में बैठा हुआ अपना कलम घिसता रहूँगा। साल में एक किस्सा जरूर लिख डालूँगा। यही कौमी खिदमत होगी। मजामीन जो कलम से निकलेंगे वह भी खिदमत ही के मद में डालिए। अगर आप इससे बेह-तर कोई सूरत निकाल सकते है तो मैं हाजिर हूँ वर्ना मुझे अपने ढर्रे पर चलने दीजिए। क्या हौसला अखबार और लिटरेरी काम का हो। प्रेमपचीसी हिस्सा अव्वल को छपे हुए चार साल हुए मगर अभी तक निस्फ[5] पडी हुई है। हिस्सा दोम की मुशकिल से १५० जिल्दे बिकी। मै इससे बेहतर नही लिख सकता।'

बहरहाल कही कुछ न हुआ और इसी हैस-बैस में जिन्दगी गुज़रती रही।

तभी मुशीजी के नये दोस्त इम्तयाज अली ताज ने लाहौर से उनको लिखा कि चलिए अबकी गर्मियो में मसूरी की सैर की जाय। कही जाने-आने के नाम से मुशीजी की जान पर बनती थी। एक तो यो ही घर छोडकर यहाँ-वहाँ फिरने का खयाल काफी तकलीफदेह था, मिजाज ही घुमक्कड न था, दूसरे सेहत का खयाल

---

१ जीविका की चिन्ता २ आत्म-बलिदान ३ बाल-बच्चो
४ अनुवादक ५ आधी

करके और भी डर मालूम होता था, सफर में खाने-पीने का क्या ठिकाना, जो मिले, खाओ, घर की-सी सहूलतें कहाँ। मगर इन सबसे अलग एक बात थी जो अक्सर पैरो को बाँध देती थी — मै तो पहाड की हवा खाऊँ और घर के बाकी लोग गर्मी में भुने ! सबको लेकर जाने की भुगत नही।

लेकिन जब इस बार ताज साहब ने दावत दी तो जी ललचा गया। मेहनत भी पिछले एक साल में बहुत सख्त पडी थी, सेहत को उसका कुछ धक्का भी लगा था। और फिर एक बडी किताब अभी लिखकर खत्म की थी, इसकी खुशी भी थी। ताज से मिलने की तमन्ना बहुत रोज से जी में थी ही। इतने पर भी अगर मन में कोई हिचक थी तो उसे पत्नी ने अपनी तरफ से थोडी जबर्दस्ती करके दूर कर दिया — महीनो से इसी तरह बैठे-बैठे आप काम करते रहे हैं। जाइए घूम आइए, तबीयत कुछ बहल जायगी। सेहत के लिए भी, डाक्टरो का कहना है, पहाड की हवा बहुत अच्छी होती है। लिहाजा मुशीजी ने हामी भर दी। लेकिन उस तरफ से फिर कोई खबर न आयी। २४ मार्च १९२० को मुशीजी ने उनको लिखा — 'मसूरी चलने की दावत दी थी। मै तैयार हूँ मगर आप दावत करके भूल गये। जल्द फ़ैसला कीजिए ताकि उधर से मायूसी हो तो मैं देहरादून जाने का इरादा कर लूं।'

उधर से मायूसी रही और मुशीजी अपने इरादे के बमूजिब घर से निकल पडे। फिर जो कुछ हुआ उसकी मुख्तसर-सी दास्तान ६ जून के उनके दो खतो में है जो उन्होने देहरादून से ताज और निगम साहब को भेजे। मजमून दोनो का बहुत कुछ एक है। ताज को उन्होने लिखा — 'मै आज कनखल, ऋषिकेश वगैरह का सफर करता हुआ देहरादून आ पहुँचा। . आप इधर आने का खयाल रखते हो तो बराहेकरम मुझे मुत्तला फरमाइए ताकि आपका इन्तजार करूँ, वर्ना मैं बहुत जल्द यहाँ से चला जाऊँगा। मेरी तबीयत दौराने सफर में ज्यादा खराब हो गयी है। आया था कि हरिद्वार की आबहवा से कुछ फायदा होगा लेकिन नतीजा इसका उल्टा हुआ। पेचिश ने, जिससे मेरी पुरानी दोस्ती है, बहुत दिक कर रखा है।'

निगम साहब से भी उन्होने 'सख्त तकलीफ' का रोना रोया और लिखा कि 'मैं बहुत जल्द यहाँ से भागने का कस्द रखता हूँ।'

लौटते वक्त दिल्ली, आगरा होते हुए मुशी जी २४ जून को गोरखपुर पहुँचे और 'आते ही आते छोटा बच्चा बीमार हो गया। आजकल इस परेशानी में हूँ।'

यह परेशानी मामूली न थी, एक बडे सदमे की तैयारी थी।

५ जुलाई को प्रेमचद ने लिखा —

'आज रात को मुझ पर एक सानिहा गुज़रा। गरीब मुन्नू मेरा छोटा बच्चा इलाहाबाद से आकर चेचक में मुबतिला हो गया था। उसने नौ दिन तक गरीब को घुला-घुलाकर आखिर जान ही लेकर छोडा।'

ग्यारह महीने का होकर नही रहा। दूसरा लडका था यह मुशीजी का जो पहले के तीन बरस बाद गोरखपुर में ही हुआ था। बडा कष्ट भोगा बेचारे ने। काली चेचक थी, जो मौत का दूसरा नाम है। मछली की तरह तडपता था बिस्तर में। देखा नही जाता था।

दाने देखकर ही माँ-बाप का दिल बैठ गया था और मुशीजी ने भर्राये हुए गले से कहा था — तुम्हारा यह लडका बचता नही मालूम होता।

ग्यारहवे दिन लडका ठण्डा होने लगा। फिर डाक्टर आया। उसने कहा, सब्र कीजिए।

● जब उन्होने रोते देखा तो मेरा हाथ पकडकर वहाँ से उठा लाये और मुझसे बोले — क्यो रोती हो ? क्या सुख उससे तुम्हे मिला ? ग्यारह ही महीना जिन्दा रहा, उस पर भी बराबर बीमार। मैं तो जिन्दा ही हूँ। असल में मैं ही तुम्हारा हूँ।

उस दिन रात भर मुझे पकडे बैठे रहे। सुबह जब उसकी लाश चली गयी तो उसके सारे सामान जलवा दिये। फिर सारे कमरे को फिनाइल से धुलवाया, उसके बाद वहाँ पर हवन कराया। फिर उस कमरे में नौ महीने तक ताला पडा रहा। उन्होने अपने हाथ से कमरा बन्द कर ताली बाहर फेंक दी। ●

बीवी की हालत पागलो जैसी हो रही थी। उनका अपना चित्त शान्त था — लेकिन कितना शान्त ! 'तकदीर ने तो अपनी दानिस्त में मुझे सजा दी होगी लेकिन मै खुश हूँ कि फिक्रो का आधा बोझ सर से दूर हो गया।'

कितनी गहरी व्यथा बोल रही है इन तीन शब्दो में — मैं खुश हूँ ! घोरतम विषाद की इसी परत को एक दूसरे सन्दर्भ में उन्होने खोला अब से दस बरस बाद अपनी एक कहानी 'पूस की रात' में — कि जैसे एक पतली-सी झिल्ली हो पपडी की और उसे अलग करते ही कच्चा जख्म छलछला आये —

● दोनो फिर खेत की डाँड पर आये, देखा, सारा खेत रौदा पडा हुआ है और जबरा मडैया के नीचे चित्त लेटा है मानो प्राण ही न हो। -

दोनो खेत की दशा देख रहे थे। मुन्नी के मुख पर उदासी छायी थी। पर हल्कू प्रसन्न था।

मुन्नी ने चिंतित होकर कहा — अब मजूरी करके मालगुजारी भरनी पडेगी।

हल्कू ने प्रसन्न मुख से कहा — रात की ठण्डी में यहाँ सोना तो न पडेगा। ●

जिस दिन बच्चा नही रहा उस दिन मुशीजी ने लिखा — मैं खुश हूँ। ...और बाईस रोज बाद ताज साहब को लिखा — ' .. छोटा बच्चा चेचक में मुब्तला हो गया और हमेशा के लिए दाग दे गया। अभी तक इस गम से तबीयत को निजात नही हुई। सब हो गया मगर याद बाकी है और शायद ताज़ीस्त[1] रहेगी। इसे

---

१ आजीवन

अपने आमाल[1] का नतीजा समझता हूँ और क्या। जब तक दिल न सँभले मजमून कहाँ से आये। खतो का जवाब देना भी शाक[2] है। '

और वह खुद बीमार पडे। प्रेमाश्रम की कडी मेहनत। एक महीने के सफर की थकान, कुपथ्य। पेचिश जड से तो गयी न थी, फिर उभड आयी। और अब यह बच्चे का शोक। मुशकिल था इतने सब धक्को का सह सकना। मुशीजी ने खाट पकड ली।

पोद्दार का आना-जाना लगा ही रहता था। प्राकृतिक चिकित्सा में उनकी रुचि तभी से है। उन्होने मुशीजी को सलाह दी कि आप जल-चिकित्सा करे, इससे आपको जरूर आराम होगा। और भी दो-एक दोस्तो ने राय दी, खुद भी मुशीजी का झुकाव उस तरफ को था। एलोपैथी से बहुत घबराते थे। जहाँ तक बनता था, उससे बचते थे। उसको छोडकर बाकी तीनो इलाज ठीक थे, जहाँ जिसका अच्छा जानकार मिल जाय, हकीम मिल गया तो हकीम, वैद्य मिल गया तो वैद्य, होमियोपैथ मिल गया तो होमियोपैथ। सब पर बराबर विश्वास था उनको, नही था किसी पर तो एलोपैथी पर।

टब-स्नान के बारे मे लुई कूने की और ऐसी ही दो-एक किताबे उन्होने भी पढी थी। लिहाजा जब पोद्दारजी ने जल-चिकित्सा की सलाह दी तो यह उनके अपने मन की बात थी। फौरन टब-वब बाजार से आया और जल-चिकित्सा शुरू हुई। लेकिन उसकी सेवन-विधि उससे कुछ ज्यादा टेढी है जितनी कि ऊपर से जान पडती है। कहो कुछ गलती हो गयी। फिर क्या हुआ, यह खुद मुशीजी से सुनिए—

● तीन-चार महीने के स्नान और पथ्य का मेरे दुर्भाग्य से यह परिणाम हुआ कि मेरा पेट बढ गया और मुझे रास्ता चलने में भी दुर्बलता मालूम होने लगी। एक बार कई मित्रो के साथ मुझे एक जीने पर चढने का अवसर पडा। और लोग धडधडाते हुए चले गये, पर मेरे पाँव ही न उठते थे। बडी मुश्किल से, हाथो का सहारा लेते हुए ऊपर पहुँचा। समझ गया अब थोडे दिनो का और मेहमान हूँ। जल-चिकित्सा बन्द कर दी।

एक दिन सध्या समय उर्दू बाजार में श्री दशरथप्रसादजी द्विवेदी सपादक 'स्वदेश' से मेरी भेट हो गयी। कभी-कभी उनसे भी साहित्य-चर्चा होती रहती थी। उन्होने मेरी पीली सूरत देखकर खेद के साथ कहा — बाबूजी, आप तो बिल्कुल पीले पड गये है, कोई इलाज कराइए।

मुझे अपनी बीमारी का जिक्र बुरा लगता था। मैं भूल जाना चाहता था कि मै बीमार हूँ। जब दो-चार महीने ही का जिन्दगी से नाता है तो क्यो न हँसकर

---

१ कर्मो २ कठिन

मरूँ ! मैने चिढकर कहा — मर ही जाऊँगा भई, या और कुछ ! मैं मौत का स्वागत करने को तैयार हूँ ।●

और इसी तैयारी में उन्होने एक रोज पत्नी को बुलाकर बैक की पासबुक उनके हाथ में देते हुए कुछ भर्रायी आवाज मे कहा था — ये लो, रानी, इसमें तीन हजार रुपये है और तीन तुम हो ! मेरी जिन्दगी भर की कमाई .

लेकिन मरना आसान नही है, चालीस साल की उम्र में, जब कि अभी दिल में बहुत कुछ लिखने-करने के हौसले बाकी हो ।

चिडचिडापन अलबत्ता बेहद बढ गया था जो कि इन्तहाई कमजोरी की निशानी थी ।

जो व्यक्ति मारना तो दूर की बात है, बच्चो को कभी डाँटता तक न था उसने इन्ही दिनो एक रोज अपने लडके को बुरी तरह मारा, हुक्के की निगाली से ! सर पर जैसे भूत सवार हो गया था । और बात क्या थी ? सिर्फ इतनी कि एक रोज लडका एक पैसा लेकर बाजार गया स्लेट की पेंसिल लाने । मुशीजी उसको पढाने बैठे तो यह बात खुली कि पेंसिल तो नही आयी । अब क्या था, मुशीजी आगबबूला हो गये और लगे उससे जिरह करने कि पेंसिल क्यो नही आयी ? और वह पैसा कहाँ गया ? पहले तो दो-एक झापड रसीद किये मगर उतने से भी जी नही भरा तो जाकर अपने हुक्के की निगाली निकाल लाये । लडके की जबान यो ही डर के मारे नही खुल रही थी, हुक्के की निगाली देखी तो घिग्घी बँध गयी । और मुशीजी थे कि उसके मुँह से जवाब निकलवाने की जैसे कसम खा ली थी । जितना ही मारते थे, गुस्सा उतना ही और बढता था । मगर लडका भी एक ही जिद्दी था, उसने मुँह नही खोला तो नही खोला ।

— कह दो कि रास्ते में कही गिर गया ।

चुप ।

— कह दो कि किसी को दे दिया ।

चुप ।

— कह दो कि बाजार में कुछ लेकर खा लिया ।

चुप ।

निगाली उस रोज टूट कैसे नही गयी, यही ताज्जुब है । लेकिन किसकी मजाल थी कि इस गुस्से की हालत में उनका हाथ जाकर पकड ले । तो भी एक बिन्दु आया जहाँ माँ से और न देखा गया और उन्होने आगे बढकर जैसे-तैसे बच्चे की रक्षा की ।

इन्ही दिनो बेटी को भी एक बार हल्की-सी मार पडी — बिल्कुल अकारण, मगर उसके पीछे चिडचिडेपन से ज़्यादा शायद घबराहट थी ।

स्कूल के अहाते में ही एक पुराना कच्चा कुआँ था । कुआँ भठ गया था लेकिन तब भी थोडा पानी था । खेलते-खालते न जाने कैसे बेटी और धुन्नू उस कुएँ

पर जा पहुँचे। कुआँ झाँकने का शौक बच्चो को होता ही है, धुन्नू साहब ने जो झाँकने की कोशिश की तो गडाप्‌ से उसके अन्दर। और जो चिल्लाये तो बेटी ने आव देखा न ताव, वह भी कूद पडी। सौभाग्य से रास्ता बिल्कुल सूना न था, और भी किसी ने यह दृश्य देख लिया। शोर-गुल मचा और दोनो को निकाला गया। बच्चो को लिये हुए जब लोग मास्टर साहब के घर पहुँचे तो मास्टर साहब ने सबसे पहले बेटी की आवभगत की, कि तू उधर गयी तो क्यो गयी। बेटी ने अपनी सफाई में कुछ कहना चाहा लेकिन बाबू जी कुछ भी सुनने को तैयार न थे — बाल-बाल बचे आज, नही घर का सफाया था।

अपना शरीर दुर्बल हो रहा था, पर देश में हलचल थी। बीमारी लेकर बैठने का वक्त न था। उतरना चाहिए मैदान में, आजाद होकर। इसी बीच एक बार अंग्रेजी में एम० ए० करने का खयाल भी आया। २६ अगस्त १९२० को उन्होने 'ताज' को लिखा — 'जब आपको विलायत जाने का मौका है तो इससे फायदा न उठाना अपने आप और कौम पर जुल्म करना है। ये उमग के दो-चार साल निकल जायेंगे तो मेरी तरह आपको भी पछताना पडेगा। काश मैंने अवायल[1] उम्र में एम० ए० पास कर लिया होता तो यह कस-मपुर्सी[2] की हालत न होती। वर्ना वह जमाना फसाना-निगारी[3] के नजर हुआ और जरूरते डिग्री के लिए मजबूर करती हैं।' लेकिन दो ही महीने बाद विचार बदल गया और उन्होने १२ नवम्बर १९२० के अपने खत में निगम साहब को लिखा — 'एम० ए० का इरादा तर्क कर दिया। चालीस-पचास रुपये किताबो में सर्फ हुए। कुछ स्पेंसर पर देख लिया। तसकीन हो गयी।'

शायद बेकार मालूम हुआ इतनी सब मेहनत करना। मुल्क का अब कुछ दूसरा ही रग था। कैरियर बनाने का ख़याल जो बी० ए० के दो हुरूफ अपने नाम के साथ जोडने के पीछे था, बेवक्त और बेमहल मालूम हुआ।

अब तो प्रेस खरीदने पर जी आया हुआ था। बडी पुरानी इच्छा थी। अब न किया प्रेस तो फिर कब करोगे? फिर तो बस अपने पेट का धधा होकर रह जायगा। अभी करोगे तो आजादी के साथ रोजी भी चलेगी और कुछ देशसेवा भी हो जायगी। महताब राय कलकत्ते में जिस प्रेस में काम कर रहे थे, वह बिक रहा था और उनका इरादा नये खरीदारो के साथ शरीक हो जाने का था। लेकिन उनके पास पैसे कहाँ थे। उन्होने मुशीजी को लिखा। मुशीजी फौरन राजी हो गये। लेकिन पैसे अपने पास भी कुछ कम पडते थे। उसकी जुगत बैठाने लगे।

२६ अगस्त १९२० को ताज साहब को लिखा —

---

१ शुरू २ बेकसी ३ कहानी-लेखन

'मैने कलकत्ते के एक हिन्दी प्रेस में शिरकत कर ली है। ग्यारह आना मेरे एक दोस्त का होगा और पाँच आना मेरा। मुझे अपने हिस्से के रुपयो की फिक्र करनी है। अगर काम चल गया तो शायद पचास-साठ रुपये माहवार का फायदा हो सके। अगर आपको तरद्दुद न हो तो सितम्बर में हिसाब तय फरमा दीजिएगा।'

२ अक्तूबर को निगम साहब को लिखा —

'मैने कलकत्ते के प्रेस में आधे-आधे का साझा कर लिया। ५०००) देने पडेगे। इस वक्त अगर आपकी माली हालत खराब न हो तो आप कुछ मेरी अयानत फरमाइए। मुझे इस वक्त २००) की अशद जरूरत है। यह रकम मुझे बतौर कर्ज दे सके तो ऐन एहसान समझूँगा।'

लेकिन इसमें एक पेच पड गया। एक रोज मुशीजी की पत्नी पूछ बैठी — रुपये देने का ढग कैसा है? प्रेस किन शर्तों पर ठीक होगा?

मुशीजी बोले — शर्त क्या! अरे, प्रेस रखेगा, जो कुछ मुनाफा होगा, तुम्हे भी देगा।

पत्नी बोली — इन शर्तो पर रुपया देना ठीक नही। हाँ, धुन्नू के नाम से प्रेस खरीदा जाय, वह काम करनेवाले रहे।

'कैसी बात करती हो। वह झल्ला उठेगा।'

'तो फिर छोडिए, ये रुपये आपके नही, आप अपने रुपए दीजिए! रुपये मेरी ही शर्त पर जायेगे।'

'खैर, मै लिख दूँगा कि धुन्नू की माँ इस शर्त पर रुपये देना चाहती है।'

इस खत का चौथे रोज जवाब आया कि मेरी यहाँ बडी हँसी हो रही है। क्या आप हमारे ऊपर विश्वास नही करते? मेरे ही और कौन है, धुन्नू ही तो मेरे भी है। मेरे लिए बडे अफसोस की बात है।

खत पढकर उन्होने बीवी को सुना दिया और बोले — बडा गडबड हुआ।

पत्नी ने कहा — कोई गडबड़ नही। मेरी राय ठीक है। मैं किसी के हाथ में नही होना चाहती। कोई काम हो, अपनी जगह होना चाहिए। मैं बहुतो को देख चुकी हूँ। आप आँखे बन्द करके चलते है, मैं आँखें खोलकर चलती हूँ।

'अच्छा बोलो इसका जवाब क्या लिखूँ?'

'मेरी तरफ से लिखो कि जब तक कोई लडका मेरे पास न था तब तक तुम्ही सब कुछ थे। यह लडका तुम्हारा भी है, तब नाम रहना क्या बुरा है? तुम यहाँ खुद आ जाओ, सब बातें साफ-साफ हो जाये। फिर सब तुम्हारे ही हाथ में तो होगा। उसका तो महज नाम रहेगा।'

यही बात उन्होने उसका डक तोडकर, बहुत नर्मी से, बहुत समझा-बुझाकर ७ अक्तूबर '२० के अपने लबे खत में लिखी —

● तुम्हारा खत मिला। पढकर खुशी भी हुई, कुछ रज भी हुआ। खुशी इसलिए

हुई कि तुम्हारे दिल में बरादराना मुहब्बत के ऐसे ऊँचे भाव मौजूद है, रज इसलिए कि तुमने मेरी बातो का मशा गलत समझा । मैंने पोद्दार जी को जो खत लिखा है उसमें मेरा मशा सिर्फ यही है कि मै श्रीपतराय के नाम साझा चाहता हूँ, अपने या तुम्हारे नाम से नही । हम और तुम अपनी फिक्र कर सकते है और बच्चे ही के आइन्दा के खयाल से यह सब इतजाम करने की फिक्र है । इसलिए वही साझेदार भी रहे । चूँकि तुम वहाँ मौजूद हो और तुम्हारी निगरानी मे उसकी जायदाद रहेगी, इसलिए तुम गोया उसकी जायदाद के Trustee और Guardian हो । मैं क्या, अगर सब रुपया तुम्ही देते तब भी मै यही कहता कि साझा श्रीपतराय के नाम से हो, क्योकि मैं जानता हूँ कि तुम्हारे दिल में मेरे और मेरे बच्चो की निस्बत ऐसे ऊँचे खयालात है । मैं हमेशा तुम्हारी सआदतमदी की तारीफ किया करता हूँ । अगर मै जानता कि तुम इस बात के कहने से इतने बदगुमान हो जाओगे तो हरगिज न लिखता । अगर तुम्हारा बच्चा होता तो मै इस साझे को अपने और तुम्हारे बच्चे दोनो ही के नाम से लेता । और अगर ईश्वर ने जिन्दगी बाकी रखी तो मैं इसे साबित कर दूँगा । हाँ, एक बात जरूर है, चूँकि मेरे घर में भी औरत है, और तुम्हारे घर में भी औरत है, मै यह नही चाहता कि खुदा न खास्ता अगर मेरी जिन्दगी वफा न करे तो औरतो में तानाजनी हो और एक दूसरे पर रोब या सख्ती जताये । मैं यह साफ कर देना चाहता हूँ कि मै अपने लडके के लिए जो कुछ करता हूँ वह सब अपनी कूवते बाजू से करता हूँ और उसकी चची पर महज उसकी सर-परस्ती और निगरानी का बार डालना चाहता हूँ । महज तुम्हे इस बात का मौका देने के लिए कि तुम अपनी सआदतमदी का इजहार कर सको मैं कलकत्ते के कारोबार में शरीक होने पर राजी हूँ, हालाँकि मेरा शुरू से इरादा था कि तुम बनारस रहते और वही खानदान को अपने साथ रखकर मुझे हर एक फिक्र से आजाद कर देते । यहाँ फैजाबाद में एक ताल्लुकेदार प्रेस बिक रहा है । उसकी बाबत मैंने मुशी गुलहजारी लाल को लिखा भी है । .

एक और बात याद रखो । तुम्हारा दिल, मैं जानता हूँ, बहुत साफ है । लेकिन औरतो का दिल अक्सर तग-खयाल होता है । तुम्हारी बीवी को गालिबन मालूम हो कि तुम रुपया कर्ज ले रहे हो महज इसलिए कि श्रीपतराय के नाम से प्रेस खरीदो तो वह इसे हरगिज पसन्द नही करेगी । तुम सआदतमदी से ख्वाह उसे डाँटते रहो लेकिन बहुत मुमकिन है कि इससे तुम्हारी आफियत में मुशकिल पैदा हो और तुम्हारे घर में एक रार मचे । इन सब बातो का खयाल करके मैंने यही इरादा किया कि रुपया सब मेरा हो जो मैने अपनी मेहनत से वसूल किया हो । वह तुम्हारी निगरानी में लडके के नाम से लगा दिया जावे । गोया तुम उसकी जायदाद के ट्रस्टी रहो । और जब तुम भी साहबे औलाद हो जाओ — ईश्वर करे कि मैं वह मुबारक दिन देखूं — तो हर एक जायदाद में दोनो भाइयो की औलादें बराबर

हिस्सेदार रहे, दोनो के साथ-साथ नाम चढे । इसलिए तुम्हारे दिल में, मेरे इस खत से जरा भी मलाल हो तो उसे निकाल डालो ●

तीन रोज बाद १० अक्तूबर को, मुशीजी ने कलकत्ते के प्रेस की बात को, जो सारे मनमुटाव का कारण बन रहा था, सिरे से खत्म करते हुए लिखा —

● आज फिर तुमसे कुछ मशविरा करना चाहता हूँ। दसहरे में आ जाओ तो सब बाते मुफस्सल तय हो जायँ। यहाँ मेरे दोस्तो की और नीज घरवालो की राय कलकत्ता में प्रेस करने की नही होती, और मै भी इसमें कोई ज्यादा फायदा नही देखता। पोद्दार जी ही के बयान के मुताबिक उसका सालाना नफा १६००) के करीब है। इस हिसाब से हम लोगो को आधे हिस्से पर ८००) सालाना मिलेंगे। पाँच हजार का सूद सालाना ४५०) होगा। गोया कुल सालाना फायदा १२००) के करीब होगा। कुछ कम या ज्यादा होना भी मुमकिन है। क्या अगर हम लोग अपना जाती प्रेस पाँच हजार के सरमाये से बनारस में खोले तो सौ रुपया माहवार या १२००) रुपया सालाना मुनाफा न होगा ? मेरा खयाल है कि जरूर होगा। इससे कम किसी तरह नही हो सकता। यहाँ इससे छोटे-छोटे प्रेस जो दो-अढाई हजार से खुले हुए है, सौ रुपया माहवार कमा रहे है। मै यह चाहता हूँ कि तुम किसी नये प्रेस की तलाश में रहो जिसमें टाइप, ट्रेडल मशीन वगैरह सब सामान मुकम्मल मौजूद हो। अगर सेकेन्डहैण्ड न मिल सके तो कलकत्ता की किसी फर्म से नये सामान का आर्डर करो। बस कोशिश यह होनी चाहिए कि बजट पाँच हजार से ज्यादा न होने पाये। बनारस मे भी सुराग लगाता हूँ। यहाँ अभी हाल में ही दो आदमी बनारस से सामान लाये है और खूब अरजाँ[1]। फैजाबाद का ताल्लुकेदार प्रेस बिक रहा है। तीन हजार में सब सामान मिलता है। मुशी गुलहजारी लाल से दर्याफ्त किया है, देखूँ क्या जवाब आता है। अब इसी इरादे को मुस्तकिल समझो। तुम्हारे कलकत्ता रहने से मुझे ऐसा मालूम होता है कि मैं बिल्कुल अकेला हूँ। मुझे हमेशा एक मददगार की जरूरत महसूस होती है। मेरी सेहत कुछ अच्छी मालूम होती थी। लेकिन अब फिर ज्यो की त्यो हो रही है। जल-चिकित्सा से भी कोई फायदा ज्यादा नही हुआ। ऐसी हालत में मेरी दिली आरजू यह है कि बनारस में तुम्हारे मुस्तकिल रहने का इतजाम हो जाये ताकि तुम हर हालत में घर को सँभाल सको। खुदा न ख्वास्ता मै न रहा तो तुम्हे कितनी मुशकिल पडेगी। तुम रहोगे कलकत्ता, मेरे बाल-बच्चे रहेगे बनारस, कुछ भी न हो सकेगा। ●

यह तो तसवीर का अँधेरा पहलू है, रौशन पहलू भी कुछ कम नही है, मौका भर मिलना चाहिए, मुशीजी को उडान भरने का —

● अब तुम्हे पाँच हजार रुपये मिल सकते है। उसकी फिकर नही। मार्च-

---

१ सस्ता

अप्रैल तक अगर प्रेस का इतजाम हो जाये तो मई-जून में हम लोग मकान वगैरह लेकर बनारस में जम जायँ। ऐसा मकान लिया जाय कि उसमें प्रेस भी रहे और तुम भी रहो। मेरे बच्चे कभी बनारस रहे कभी मेरे साथ। छुट्टियो में मै भी बनारस आया करूँ और कुछ तुम्हारी मदद किया करूँ। साल-छ महीने में जब काम चल निकले तो मकान बनवाना शुरू कर दिया जाय। तुम एक साइकिल ले लो और अपनी निगरानी में मकान बनवाओ। इस तरह आइदा का इन्तजाम पूरा हो जायगा और मुझे इत्मीनान हो जायगा कि मै कच्ची गृहस्थी छोडकर नही मरा। . . कानपुर में दयानारायन और रामभरोसे मुझे शरीक करना चाहते है और बीस हजार से प्रेस खोलना चाहते है। लेकिन अब मैं बनारस के सिवा और अपने लिए कही सुभीता नही पाता। बनारस में चाहे नफा कुछ कम भी हो लेकिन मुझे यह इत्मीनान रहेगा कि मेरे बाद खानदान भूखो नही मरेगा और इज्जत के साथ निबाह होता जायगा। यह भी मुमकिन है कि मैं बनारस तबादला करा लूं। तब तो चैन ही हो जायगा। हम दोनो साथ रहेंगे और एक-दूसरे की मदद करते रहेंगे। जो कुछ अपने पास रुपया होगा वह कारबार बढाने में खर्च करेंगे। और मुमकिन होगा तो दस पाँच बीघा जमीन ले लेंगे ताकि एक हल की खेती का भी आसानी से इतजाम हो जाय। खाने को गल्ला घर पर हो जाय, दीगर मसारिफ के लिए प्रेस से आमदनी हो जाय। ..

दशहरा में आओ, जरूर आओ, इस बारे में और भी सलाह हो जायगी। लेकिन अब अपनी सेहत की हालत देखते हुए मैं तुम्हारा कलकत्ता रहना पसन्द नही कर सकता। जब तक प्रेस का इन्तजाम न हो जाय तुम नौकरी करो। चाहे पोद्दार जी के प्रेस में, चाहे किसी दूसरे प्रेस में। लेकिन अप्रैल मे तुम्हे हमेशा के लिए कलकत्ता छोडना पडेगा, अगर गृहस्थी और खानदान की तुम्हे फिकर है। बस यही मेरा आखिरी फैसला है, अब इसमें किसी किस्म का रद्दो-बदल नही करूँगा। तुम खुद इसका फैसला कर सकते हो कि प्रेस के लिए नया सामान खरीदना बेहतर होगा या सेकडहैण्ड। क्या-क्या सामान दरकार होगे। इस बारे में फिलहाल मुझे कोई तजुर्बा नही है ●

कहने की जरूरत नही कि इसके बाद कलकत्ते के प्रेस में साझा करने का फिर सवाल न रह गया और २० अक्तूबर को मुशीजी ने निगम साहब को लिखा — 'अब आप चेक न भेजे, क्योकि कलकत्ते में साझा करने का इरादा फिस्क[1] हो गया है। पन्द्रह सौ भेज चुका था लेकिन चद ऐसी बातें हुई जिनसे वह तजवीज तर्क करनी पडी। बरवक्त मुलाकात मुफस्सल बयान करूँगा। अब आप ही की सलाह पक्की रही यानी बनारस, इलाहाबाद या कानपुर में प्रेस। छोटक यहाँ आ गये

---

१ खत्म

है और अब गालिबन कलकत्ता न जायेंगे। बनारस में उन्हें सत्तर की पोस्ट ज्ञान-मण्डलवालो ने आफर की है। वही गये हुए है। लेकिन कल मैने 'प्रताप' में लाइट प्रेस कानपुर के फरोख्त होने का इश्तहार देखा। क्यो न हम और आप मिलकर इस प्रेस को ले ले। मेरे पास ४०००) है। मुमकिन है फिक्र करने से कुछ और बहम[1] पहुँच जाये। अगर आपको यह प्रेस काम का और चलता हुआ मालूम हो तो उससे गुफ्तगू कीजिए और कीमत वगैरह तय फरमाइए। तब मुझे नोटिस दीजिए ताकि मैं भी आ जाऊँ और मुआमला अपना हो जाय। तब छोटक को कानपुर छोड दूँ। वह मैनेजर रहे और आप सुपरवाइजर, मगर आनरेरी।'

उसी रोज ताज को लिखा — 'हाँ, मैंने कलकत्ते में प्रेस लेने का इरादा तर्क कर दिया। दूर-दराज का मामला था। अब इसी सूबे में इरादा है। कानपुर में एक प्रेस बिक रहा है। लाइट प्रेस नाम है। इसके मुताल्लिक खतो-किताबत कर रहा हूँ। तय हो जाये तो नौकरी से मुस्तअफी[2] हो जाऊँगा। अब यह तौक नही सहा जाता।'

दिमाग जब एक तरफ सरपट भागता है तो फिर इधर-उधर देखता-ताकता नही और सीधे जाकर थान पर ही रुकता है। छोटी से छोटी बात सोच डालता है। बहुत प्रैक्टिकल आदमी समझते है वह अपने आप को और इसमें शक नही कि कागज के पन्ने पर उनसे ज्यादा पक्की-पोढी स्कीम कोई नही तैयार कर सकता। अदना से अदना बात का उन्हे खयाल रहता है स्कीम बनाते समय और जोड-बाकी गुणा-भाग में सब कुछ ठीक। इतने पर भी अगर स्कीम कामयाब न हो तो इसमें उस गरीब का क्या दोष!

अब बस एक ही राग था उनके पास, हर दस रोज पर उन्होने निगम साहब को लाइट प्रेस की याद दिलानी शुरू की। लेकिन निगम साहब की तबीयत किसी तरह उधर बढती ही न थी — शायद इसलिए कि दूध के जले थे और जानते थे कि प्रेस खोल लेना जितना आसान है उसको चलाना उतना आसान नही है। या फिर दोस्त के साथ साझे में बिजनेस करने के खतरो को समझते थे। लिहाजा वह बराबर टालते रहे और आखिरकार मुशीजी ने मजबूर होकर ११ दिसबर '२० को लिखा — प्रेस का खयाल अब शायद गया। मैंने रुपये गवर्नमेण्ट के कागजात में लगा दिये। अब बीस रुपये माहवार घर बैठे मिल जायेंगे। रुपयो का अन्देशा नही।'

हाँ, एक चिन्ता बराबर जी को खा रही थी। प्रेमबत्तीसी का दूसरा हिस्सा जो बाद को प्रेस में गया था, दारुल इशाअत पजाब से छपकर आ गया था और पहले हिस्से का अब तक कही पता न था। दो बरस से ऊपर हो गये थे। साल के शुरू में, ६ जनवरी को उन्होने एक बार काफी खीझकर लिखा था — 'बराहेकरम फर्वरी तक प्रेमबत्तीसी का हिस्सा अव्वल निकाल दीजिए। मर जाऊँगा तो आप

---

१ मिल जाय   २ इस्तीफा दे दूँगा

Posthumous एडोशन क्या निकालेगे जब जिन्दगी मे जिन्दा एडीशन नही निकालते ।'

तब से बराबर एक के बाद दूसरे महीने पर बात टलती जा रही थी। खैर, जैसे-तैसे साल के आखीर तक किताब की छपाई हो गयी। अब गाडी टाइटिल पेज पर आकर अटक गयी थी। कितनी भयानक और कैसी प्यारी झुँझलाहट है ११ दिसबर के इस खत मे — 'आपको बाजार में जैसा कागज मिले, अच्छा-बुरा, बढिया-घटिया, ब्राउन, काला, पीला, नीला, सब्ज, सुर्ख, नारगी लेकिन टाइटिल पेज छपवा दीजिए

फिर २६ दिसंबर को —' जिन्दा हूँ। नाविल की हिन्दी कर रहा हूँ। प्रेम-बत्तीसी की फिक्र खाये जा रही है।'

और इतने लबे, तीन साल के इतजार के बाद जब किताब मिली तो १८ जनवरी को उन्होने लिखा — 'बत्तीसी का पैकेट मिला। टाइटिल देखकर रो दिया। बस और क्या लिखूँ। किताब की मिट्टी खराब हो गयी।'

असहयोग का अलख जगाते हुए गाधीजी सारे देश का दौरा कर रहे थे। ८ फर्वरी को गोरखपुर पहुँचे। गाजी मियाँ के मैदान में ऊँचा प्लेटफार्म तैयार किया गया। दो लाख से कम का जमाव न था। क्या शहर क्या देहात, श्रद्धालु जनता दौडी चली आती थी। मुशीजी भी, अपनी बीमारी के बावजूद, पत्नी और दोनो बच्चो समेत पहुँचे।

घर आये तो गाधीजी की ही बाते दिमाग में घूम रही थी। बातें सब अपने ही दिल की थी और ऐसी कुछ नयी भी न थी तो भी नयी थी और उनसे चेतना को एक नया ही आघात लगा। नौकरी छोड़ूँ-न-छोड़ूँ के जिस झूले पर वह इधर बरसो से झूल रहे थे उसकी डोर अब कट गयी जान पडती थी। बहुत रोज हो लिया यह खेल। एक न एक निश्चय अब करना ही होगा। और वह निश्चय क्या होगा इसके बारे में मुशीजी को कोई सन्देह न था। लेकिन अब और कौन दिन आयेगा निश्चय करने का। सशय बुरी चीज है, घुन की तरह भीतर ही भीतर खोखला कर देता है मन को। जो कुछ करना हो, अब बेखटके कर डालो। अब न किया तो फिर कभी न कर सकोगे और हमेशा दुखी रहोगे। देश बार-बार किसी को नही पुकारता। लेकिन भुगतना तो घरवालो को पडेगा। और वह जाकर पत्नी से बोले — तुम राय देती तो मै सरकारी नौकरी छोड देता।

पत्नी ने जवाब देने के लिए दो-तीन रोज का समय माँगा। पीछे उन दिनो की याद करते हुए उन्होने लिखा —

● जो उलझन उनको थी वही दो-तीन दिन मुझे भी हुई। मुझे भी बार-बार यही खयाल होता कि आखिर बी० ए० की ख्वाहिश क्यो हुई, यही न कि आगे

तरक्की की आशा। पहले तो यह खयाल था कि यह कभी प्रोफेसर हो जायँगे और जीवन के दिन आराम से कटेंगे, क्योकि सेहत अच्छी न थी। और कहाँ यह प्रस्ताव कि जो कुछ मिलता है उसको भी छोडकर महज़ हवा मे उडा जाय। उस समय उनको कुल मिलाकर एक सौ पचीस के करीब मिलता था। स्कूल की नौकरी होने की वजह से घर पर भी काम करने का समय मिल जाता था। मुझे भी इस बात की उलझन थी कि आखिर नौकरी छोडकर करेंगे क्या? एक लडकी और एक लडका सामने था, और अभी बच्चे होने की उम्मीद थी। उधर मेरी इच्छा यह भी न थी कि किसी के पैर की बेडी बन कर रहूँ यह नही कि रुपयो का मूल्य मेरी आँखो में कम था। एक तो अपनी जरूरतो को देखते हुए, खुद भी बहुत दिनो से बीमार, न घर न द्वार — इन सब बातो को सोचकर यही दिल में आता था कि इनको नौकरी छोडने से रोक दूँ। दो रोज का समय लिया था लेकिन चार-पाँच दिन में भी कोई निर्णय न कर सकी। चार-पाँच दिन के बाद उन्होने फिर पूछा कि बतलाओ तुम क्या निर्णय किया। मैं बोली — एक दिन का समय और। उस दिन मैने यह सोचा कि आखिर जब यह इतने बीमार थे और बचने की कोई आशा न थी, एक तरह से शायद उन्होने मुझे जवाब ही दे दिया था, यह कहकर कि यह तीन हजार रुपये हैं और तीन तुम ईश्वर कुछ अच्छा ही करने वाला होगा तभी तो यह अच्छे हो गये है।.

दूसरे दिन मैने उनसे कहा — छोड दीजिए नौकरी को। यह सरकारी नीति अब सहनशक्ति के बाहर है।

अब आप अपनी स्वाभाविक हँसी हँसकर बोले — दूसरो का अन्त करने के पहले अपना अन्त सोच लो।

'मैंने सोच लिया है। जब तुम अच्छे हो गये हो तो मै सोचती हूँ कि अब आगे भी जगल में मगल कर सकूँगी और मेरा खयाल है कि ईश्वर कुछ अच्छा ही करनेवाला है।'

'सोच लो, फिर न कहना कि छोडकर खुद भी तकलीफ उठायी और मुझे भी तकलीफ दी क्योकि सर पर तकलीफे आगे बहुत आनेवाली है, मुमकिन है कि खाने को भी न मिले।'

'मैं इसके लिए सोच चुकी हूँ। मैं तो यह जानती हूँ कि सर पर जब बला आती है तब हर कोई भुगत लेता है। फिर भुगतते तो है बडे-बडे घर के लोग, अपनी तो बिसात ही क्या है।'

तब वह बोले — यही निश्चय है?

मै बोली — हाँ।

— तो मैं कल ही इस्तीफा देता हूँ, और कल ही यह सरकारी मकान भी आपको छोडना होगा। कहाँ जाना है, इसका भी कोई ठिकाना नही।' ●

इतनी साफ-साफ बातचीत के बाद फिर कहाँ की दुविधा और कैसी दुविधा, मुशीजी ने अगले रोज इस्तीफा लिखकर दे दिया। कुछ दोस्तो ने यह भी सलाह दी कि नौकरी अगर छोडनी ही है तो जरा रुककर छोडिएगा, कोई आपको बाँधकर थोडे ही रख सकता है। क्यो मुफ्त में दो महीने की तनख्वाह से हाथ धोते हो ? छुट्टियो को अब दिन ही कितने है ?

लेकिन नही, जो निश्चय हो गया, हो गया। हिसाब-किताब नही देखा जाता ऐसे वक्त !

मजरुल हक लिखते है कि 'उनको नौकरी से अलग होते देखकर तमाम लडके स्कूल छोडने पर आमादा हो गये, पर आपने सबो को रोका और बताया कि यह रास्ता बहुत कठिन है। मै तो इस काबिल हो गया हूँ कि अपना और अपने बच्चो का पेट पाल लूँ मगर तुम लोग अभी इस काबिल नही। इसलिए अगर तुम लोगो ने स्कूल छोडा तो बडी मुश्किल में पड जाओगे। चुनाँचे बहुत से लडके स्कूल में रह गये, फिर भी कुछ लडके तो मुहब्बत के मारे स्कूल से अलग हो ही गये।'

वह फर्वरी १९२१ की १५ तारीख थी। १६ तारीख से वह कार्यमुक्त कर दिये गये।

उसी रोज़ उन्होने अपना क्वार्टर छोड दिया और शहर में ही एक दोस्त के घर चले गये। उसके अगले दिन वह अपने मित्र महावीर प्रसाद पोद्दार के सग उनके गाँव मानीराम चले गये जो शहर से तेरह मील दूर था। इक्कीस बरस की सरकारी गुलामी का अन्त हुआ।

फौरन उन्होने इसकी सूचना देते हुए १५ को ही निगम साहब को लिखा —
'मैं कल सरकारी मुलाजमत से सुबुकदोश हो गया। आज इस्तीफा भी मजूर हो गया। यहाँ से एक हफ्तावार उर्दू अख़बार निकालने का कस्द है। प्रेस की भी तलाश है। गालिबन यहाँ रुपये का भी इतजाम हो जायगा। अर्से से यह ख़याल था। अब इसके पूरे होने के दिन आये।'

फिर मानीराम से २३ तारीख़ को लिखा —

'मैने तर्के मुलाजमत[1] कर ही ली। आप मुझे बहुत अर्से से इसकी तहरीक[2] कर रहे थे, हालाँकि यह आपकी तहरीक का असर नही है बल्कि रफ्तारे जमाना का। मगर किसी तरह अब मै आजाद हो गया। अब बतलाइए क्या करूँ। प्रेस और अख़बारनवीसी और कुतुबनवीसी के सिवा मै कोई दूसरा काम करने के काबिल नही। कपडे बुनने के लिए तैयार नही। काश्तकारी मेरे किये हो नही सकती। क्या आपका इरादा अब भी प्रेस की तरफ है ? मै चार-पाँच

---

१ नौकरी छोड ही दी २ प्रेरणा

हज़ार का सरमाया और अपना सारा वक्त आपके नजर करने को तैयार हूँ बशर्ते कि आप भी मेरे मआविन[1] और शरीक हो। मै अब ज्यादा तजबजब[2] में नही रहना चाहता। जल्द कोई न कोई फैसला करना चाहता हूँ। मेरे लिए गोरखपुर, बनारस और कानपुर तीन मुकामात है। और भी जगह थोडी-बहुत आसानियाँ है लेकिन कानपुर में जितनी आसानी नजर आती है उतनी और कही मिलती नही। मै एक अच्छा प्रेस उर्दू, हिन्दी और अंग्रेजी का खोलना चाहता हूँ जो फिलहाल महज जॉब वर्क पर चले। अखबार से उसे कोई ताल्लुक न रहे। मैं जाती तौर पर अखबार का काम भी कर सकता हूँ मगर ज्यादा नही। अगर आप चाहे तो दो-एक दिन के लिए कानपुर आ जाऊँ और बिल मुसाफे[3] उमूर[4] तय हो जायें। लाइट प्रेस अभी गालिबन फरोख्त न हुआ होगा। अगर वह बिक भी गया हो तो कलकत्ते से मशीन और ट्रेडिल मँगाया जा सकता है। लीथो प्रेस का इन्तजाम भी जरूरी है ताकि अपने घर के काम के लिए दूसरे का दस्त-निगर[5] न होना पडे। मैनेजरी का काम हम और आप दोनो मिलकर खूब कर सकते है। एडिटरी के काम में भी हत्तुल इमकान[6] आपकी थोडी मदद कर सकता हूँ। इस खत के जवाब का मुन्तजिर हूँ। अगर आपने कुछ उम्मीद न दिलायी तो और कोई सबील[7] सोचूँगा। यहाँ मैने फिलहाल एक कपडे का कारखाना खोल रक्खा है जिसमें आठ करघे चल रहे है। कुछ चर्खे वगैरह भी बनवाये जा रहे है। एक मैनेजर पचीस रुपये माहवार पर रख लिया है। गो इससे मुझे माहवार कुछ न कुछ नफा जरूर होगा लेकिन इतना नही कि मै उस पर तकिया[8] कर सकूँ। बावजूद नान-कोआपरेशन करने के अभी तक मैं दौलत की तरफ से बिल्कुल मुस्तगनी[9] नही हूँ। और मैं ज़ाती तौर पर हो भी जाऊँ लेकिन मेरी बीवी को यकीन हो जाये कि अब इसी तरह उसकी जिन्दगी बसर होगी तो वह मुझे हरगिज मुआफ न करेगी। और क्या अर्ज करूँ। आजकल एक देहात में मुकीम हूँ। खूब आराम से दिन कट रहे है। आजादी का लुत्फ उठा रहा हूँ।'

सब कहने की बाते है। दो-तीन हफ्ते भी न गुजरे होगे कि इस तरह बैठे रहना मुशीजी को खलने लगा और यह योजना बनी कि पोद्दारजी के साझे में शहर में चर्खे की दूकान खोली जाय। एक मकान वहाँ लिया गया। दस करघे लगाये गये। मुशीजी खुद भी मानीराम से आकर वही शहर में कुछ रोज़ रहे। चर्खे के प्रचार का जोश अपनी चोटी पर था। हवा मे चर्खे की गूँज थी —

देश दरिद्र दीन दुख टारि
यदि चाहो करना उद्धार

---

१ सहयोगी २ सशय ३ आमन-सामने ४ बाते ५ मुहताज
६ यथाशक्ति ७ युक्ति ८ सहारा ९ विरक्त

तो चर्खे का करो प्रचार
पहनो खद्दर सब नर-नारि ॥

मुशीजी भी करीब एक महीने तक इसी चर्खे के रग मे डूबे रहे। और इन्ही दिनो अनजाने ही उन्होने पुलिस के एक बडे अफसर को, जिसका नाम मुहम्मद इकराम था, असहयोग के रास्ते पर लगा दिया।

मुशीजी शहर मे जहाँ मकान लेकर उन दिनो रह रहे थे वहाँ से अक्सर कोई बहुत मीठी आवाज में गाता हुआ निकलता था। एक रोज मुशीजी से नही रहा गया तो वह बाहर निकल गये। देखा वह एक अन्धा लडका था जो शायद उस वक्त अपने घर लौटता था। मुशीजी ने उसे बुलाकर इधर-उधर की कुछ बाते की। फिर तो वह लडका अक्सर ही आने लगा और रात को काफी देर-देर तक सीताराम वर्मा और मुशीजी और और कुछ दोस्त बैठे उसका गाना सुनते रहते। अजब एक लोच था, दर्द था उसके गले में।

एक रोज पुलिस के एक डी० एस० पी० साहब आ धमके। लोग बहुत चौके कि आज यह साहब कैसे तशरीफ ले आये, क्या मामला है, कही छापा तो नही मारनेवाले है हमारे चर्खा केन्द्र पर! मगर बात कुछ और थी। कप्तान साहब को दूसरा ही शुबहा था। कही ऐसा तो नही कि ऊपर से दिखाने को कुछ चर्खे-वर्खे रख दिये हो और भीतर-भीतर कुछ और ही खिचडी पकती हो! वर्ना हर रोज रात को इतनी-इतनी देर तक घर में रोशनी क्यो रहती है। जरूर कुछ दाल में काला है! इस तरह मुहम्मद इकराम साहब की मुलाकात मुशी प्रेमचन्द से हुई और वह भी जब-तब आने लगे। धीरे-धीरे उन पर कुछ ऐसा जादू चला कि वह भी इसी पथ के पथिक हो रहे। कोई सात-आठ महीने बाद किसानो की किसी बडी सभा पर गोली चलाने की बात उठी। मुहम्मद इकराम ने इस्तीफा दे दिया।

चर्खे का यह रग मुशीजी पर करीब एक महीने रहा। लेकिन उससे न तो रोजी ही चल सकती थी और न उस तरह की देशसेवा के लिए मुशीजी बने ही थे। उनका माध्यम तो साहित्य है। सो लिखाई जोर-शोर से चल रही है। स्वराज्य का प्रचार करनेवाले लेख, सीधे-सादे देश-प्रेम के किस्से जिनमें किसी तरह का बनाव-सिगार नही है और न उनको लिखते समय मुशीजी को इस बात की ही चिन्ता है कि उनकी गिनती स्थायी साहित्य में होगी या नही। गाधी-जी ने स्वराज्य की लडाई छेड रखी है। हर वह आदमी जिसे अपने देश से प्यार है इस समय स्वराज्य का सिपाही है। कोई मैदान में जाकर लाठी खाता है, जेल की राह पकडता है, मुशीजी अपना कलम लेकर मैदान में उतरते है। एक ही बात है। अधिक से अधिक जनता को इस लडाई के अन्दर ले आना है। मै कलम का सिपाही हूँ, कलम के जोर से लोगो को जगाऊँगा। आन्दोलन का प्रचार करूँगा। हाँ, ठेठ प्रचार। इस शब्द से मुझको डर नही लगता। कोई बात

नही अगर चीज कुछ अनगढ भी हो जाती है । असल बात यह है कि लोगो को जगाना है, जैसे भी हो । मीनाकारी का समय यह नही है । उसके लिए और बहुत समय मिलेगा ।

इस वक्त मन का कुछ दूसरा ही रग है । कोई कष्ट, कोई चिन्ता टिक नही पाती । बाल-बच्चो की फिक्र है । भविष्य अधकारपूर्ण है । कुछ पता नही क्या होगा, नही होगा । मगर उससे क्या, आजाद तो है, किसी के गुलाम तो नही । मोटा-झोटा खाकर ही सही । तकलीफ उठाकर सही । यह सब तो पहले से मालूम था । इससे भी बुरी हालत हो सकती थी । आजादी कोई सस्ती चीज तो है नही । उसकी कीमत चुकानी पडती है, सब चुका रहे है, मैं भी चुका रहा हूँ । उन्हे किसी से कोई शिकायत नही है और न मन में उदासी की छाया है । आजादी की खुशी हर तकलीफ पर भारी है । मन में एक अजीब उमग है जो उस हल्की-सी शरारत की पुट के साथ, जो कि मुशीजो के खमीर में दाखिल है, कुछ अजब गुल खिलाती है । एक मस्त, बेपरवाह स्वच्छन्दता, एक नशा अपने ढग का, आजादी का पहला खुमार । आजाद होने के बाद यह उनकी पहली होली है, और मुशीजी 'विचित्र होली' नाम की एक कहानी की शकल में अपनी टेसू के शोख लाल रग से भरी हुई पिचकारी लेकर सडक पर मौजूद है —

● होली का दिन था, मिस्टर ए० बी० क्रास शिकार खेलने गये हुए थे । साईस, अर्दली, मेहतर, भिश्ती, ग्वाला, धोबी — सब होली मना रहे थे । सबो ने साहब के जाते ही खूब गहरी भग चढायी थी और इस समय बगीचे में बैठे हुए होली- फाग गा रहे थे ।

साईस ने पूछा — कहो खानसामाजी, साहब कब तक आयेगे ?

नूर अली बोला — उसका जब जी चाहे आये, मेरा आज इस्तीफा है । अब इसकी नौकरी न करूँगा ।

अर्दली ने कहा — ऐसी नौकरी फिर न पाओगे । चार पैसे ऊपर की आमदनी है । नाहक छोडते हो ।

नूर अली — अजी लानत भेजो ! अब मुझसे गुलामी न होगी । ये हमें जूतों से ठुकरायें और हम इनकी गुलामी करे ! आज यहाँ से डेरा कूच है । आओ, तुम लोगो की दावत करूँ । चले आओ कमरे में, आराम से मेज पर डट जाओ, वो-वो बोतलें पिलाऊँ कि जिगर ठण्डा हो जाय ।

नूर अली ने ह्विस्की की बोतल खोलकर गिलास भरे और चारो ने चढाना शुरू कर दिया । ठर्रा पीनेवालो ने जब ये मजेदार चीजे पायी तो गिलास पर गिलास लुँढाने लगे । जरा देर में सबो के सिर फिर गये । भय जाता रहा । एक ने होली छेडी, दूसरे ने सुर मिलाया । गाना होने लगा । नूर अली ने ढोल-मजीरा लाकर रख दिया । वही मजलिस जम गयी । गाते-गाते एक उठकर

नाचने लगा। दूसरा उठा। यहाँ तक कि सबके सब कमरे में चौकडियाँ भरने लगे। हू-हक मचने लगा। कबीर, फाग, चौताल, गाली-गलौज, मार-पीट, बारी-बारी सब का नम्बर आया। कुर्सियाँ उलट गयी। दीवारो पर की तसवीरे टूट गयी। एक ने मेज उलट दी। दूसरे ने रकाबियो का गेंद बनाकर उछालना शुरू किया।●

तभी शहर के रईस लाला उजागरमल का आगमन होता है। लालाजी 'शहर के सहयोगी समाज के नेता थे। उन्हे अग्रेजो की भावी शुभकामनाओ पर पूर्ण विश्वास था। अग्रेजी राज्य की तालीमी, माली और मुल्की तरक्की के राग गाते रहते थे। असहयोगियो को खूब फटकारा करते थे। अग्रेजो में इधर उनका आदर-सम्मान विशेषरूप से होने लगा था। कई बडे-बडे ठेके, जो पहले अग्रेज ठेकेदारो ही को मिला करते थे, उन्हे दे दिये गये थे।' मतलब यह कि वह बिलकुल साँचे में ढले हुए टोडी बच्चे है, अग्रेजो के पक्के खैरख्वाह।

नूर अली चकमा देकर उन्हे भी इस हुडदग मे शरीक कर लेता है। अब देखिए क्या होता है—

● मिस्टर क्रास अपनी बन्दूक हाथ में लिये मोटर से उतरे और लगे आदमियो को बुलाने, पर वहाँ तो जोरो से चौताल हो रहा था, सुनता कौन है। चकराये यह मामला क्या है। क्या सब मेरे बँगले मे गा रहे है? क्रोध से भरे हुए बँगले में दाखिल हुए तो डाइनिंग रूम से गाने की आवाज आ रही थी। जामे से बाहर हो गये। . हटर उतार लिया और डाइनिंग रूम की ओर चले लेकिन अभी एक कदम दरवाजे के बाहर ही था कि सेठ उजागरमल ने पिचकारी छोडी। सारे कपडे तर हो गये। आँखो में भी रग घुस गया। आँखे पोछ ही रहे थे कि साईस, ग्वाला, सब के सब दौडे और साहब को पकडकर उनके मुँह में रग मलने लगे। धोबी ने तेल और कालिख का पाउडर लगा दिया। साहब के क्रोध की सीमा न रही। हटर लेकर सबो को अधाधुध पीटने लगा। बेचारे सोचे हुए थे कि साहब खुश होकर इनाम देगे। हटर पड़े तो नशा हिरन हो गया। कोई इधर भागा, कोई उधर। सेठ उजागरमल ने यह रग देखा तो ताड गये कि नूर अली ने झाँसा दिया। एक कोने में दबक रहे। जब कमरा नौकरो से खाली हो गया तो साहब उनकी ओर बढे। लाला साहब के होश उड गये। तेजी से कमरे के बाहर निकले और सिर पर पैर रखकर बेतहाशा भागे। साहब उनके पीछे दौडे। सेठजी की फिटन फाटक पर खडी थी, घोडे ने धम धम खट खट सुनी तो चौका। कनौतियाँ खडी की और फिटन को लेकर भागा। विचित्र दृश्य था। आगे-आगे फिटन, उसके पीछे सेठ उजागरमल, उनके पीछे हण्टर-धारी मिस्टर क्रास! तीनो बगटुट दौडे चले जाते थे।●

कैसा मजा आ रहा है मुशीजी को इस दृश्य में! आँखो के आगे तसवीर

नाच रही है और अगर इस वक्त वह ठठाकर नही हँस रहे है तो सिर्फ इसलिए कि होल्डर की स्याही छलक जाने का डर है ! लेकिन भीतर ही भीतर चटखारे ले रहे है और चेहरे पर एक शरारत से भरी हुई मुस्कराहट है ! कैसी गत बनायी लाला जी की, और साहब को भी नगा करके रख दिया ! पुराने चैम्पियन निशानची ढेलेबाज है, एक ढेले में दो चिडियो का शिकार कर रहे है !

लाला जी पीछे काग्रेस दफ्तर जाकर असहयोगियो में अपना नाम लिखा लेते है । वह कहानी का नीति-पक्ष है और वही उसका सबसे कमजोर पहलू भी है । असल चीज है वह मस्ती और खिलडरापन जो कहानी के एक-एक रग और रेशे में खून की तरह दौड रहा है । बहुत लम्बे इन्तजार के बाद वह गुलामी का तौक गले से उतारा है । कैसे बतलाये वह अपनी मुक्ति के उस आस्वाद को ! एक अजीब बेचैनी है, उबाल है जो समा नही पा रहा है बर्तन में और उफनकर गिर-गिर पडता है सब तरफ ! अन्याय पर न्याय की विजय हो रही है । उसी का तो नाम होली है । मुशीजी भी होली मना रहे है । यह उनकी अपने ढग की निराली होली है — उनका विजय-उत्सव और उसी का पान-फूल यह नन्हाँ-सा चुटकुला । और मन की वृत्ति गम्भीर होने पर 'लाल फीता', जो एक मैजिस्ट्रेट के हृदय-परिवर्तन और इस्तीफे की कहानी है ।

'अग्रेज़ी राज्य की वह सदैव स्तुति किया करते थे । दीनो और असहायो की इतनी रक्षा किसने की ? शिक्षा की इतनी उन्नति कब ? हुई व्यापार का इतना प्रचार कब हुआ ? राष्ट्रीय भावो की ऐसी जागृति कहाँ थी ? वह जानते थे कि इस राज्य में भी कुछ न कुछ बुराइयाँ अवश्य है । मानवी सस्थाएँ कभी दोषरहित नही हो सकती । लेकिन बुराइयो से भलाइयो का पल्ला कही भारी है । यही विचार थे जिनसे प्रेरित होकर यूरोपीय महासमर में हरिविलास ने सरकारी खैरख्वाही में कोई बात उठा नही रखी — हजारो रँगरूट भर्ती कराये, लाखो रुपये कर्ज दिलवाये और महीनो घूम-घूम कर लोगो को उत्तेजित करते रहे ।'

जब एक मुसलमान सज्जन उनसे कहते है — 'यह तो बतलाइए हुज़ूर, यह आजकल क्या हवा फिर गयी है कि जहाँ देखिए वही मदरसे बन्द होते जाते है । सुनता हूँ, बडे-बडे कालेज भी टूट रहे है ।' तब उसके जवाब में डिप्टी साहब कहते है —'मैं तो इसे पागलपन समझता हूँ, निरा पागलपन । यह लोग समझते है कि इन कार्रवाइयो से वह हमारी सरकार को परास्त कर देंगे । कुछ लोग देहातो में पचायते भी बनाते फिरते हैं । इनका मतलब भी यही है कि सरकारी अदालतो की जड खोदी जाय, लेकिन कोई इन भलेमानुसो से पूछे कि क्या कानूनी गुत्थियाँ इन देहातियो के सुलझाये सुलझ जायेगी ? जिस कानून के पढने और समझने में उम्र गुजर जाती है, उसका व्यवहार ये हलजुत्ते क्या खाकर करेंगे । .... ज़ोर

दिया जा रहा है कि लोग सरकारी नौकरियाँ छोड दे। इस उद्देश्य का पूरा होना और भी कठिन है। जो बुरे है वह नौकरी कभी न छोडेंगे, इसलिए कि बेईमानी और रिश्वत के ऐसे अवसर और कही नही मिल सकते। जो अच्छे है उनके लिए भी यहाँ जातिसेवा और उपकार का बडा विस्तृत क्षेत्र है। उन्हे किसी पर अन्याय करने के लिए मजबूर नही किया जाता। सरकार किसी गुप्त प्रजाघातक नीति का व्यवहार नही करती।'

लेकिन सब की आँख एक न एक दिन खुलती है और डिप्टी साहब की आँख खुलती है उस रोज जब कि लाल फीते से बँधा हुआ एक गुप्त निर्देश-पत्र उनको सरकार से मिलता है — अब तक मैं समझता था कि मेरा कर्त्तव्य न्याय पर चलना है। अब मालूम हुआ कि यह मेरी भूल थी। मेरा कर्त्तव्य न्याय का गला घोटना है, नही तो मुझे ऐसे आदेश क्यो मिलते ? क्या समाचारपत्रो का पढना भी कोई अपराध है ? क्या दीन किसानो की रक्षा करना भी कोई पाप है ? मुझे उन साधु-सन्यासियो पर कडी दृष्टि रखने का हुक्म दिया गया है जो धर्मोपदेश करते हुए दिखायी दे। यही नही, मुझे यह भी देखना चाहिए कि कौन गजी-गाढे के कपडे पहने हुए है, किसके सिर पर कैसी टोपी है, उस टोपी पर कैसी छाप लगी हुई है। चर्खा चलानेवालो पर भी नजर रखनी चाहिए। मुझे उन लोगो के नाम भी अपने रोजनामचे में दर्ज करने चाहिए जो राष्ट्रीय पाठशालाएँ खोले, जो देहातो में पचायतें बनाये, जो जनता को नशे की चीजे त्याग करने का उपदेश करें .'

यह सब अब सहा नही जाता और वह इस्तीफा देने का निश्चय करते है। जब सरकार अपने धर्मपथ से हट जाती है तो मेरा धर्म भी यही है कि उसका साथ छोड दूँ। और वह अपना इस्तीफा इन शब्दो में लिखते है —

'मेरे विचार में वर्तमान शासन सत्पथ से सम्पूर्णत विचलित हो गया है। यह आज्ञा प्रजा के जन्मसिद्ध स्वत्वो को छीनना और उनके राष्ट्रीय भावो का वध करना चाहती है। ऐसे दुष्कार्य में योग देना अपनी आत्मा, विवेक और जातीयता का खून करना है। अतएव अब मुझे इस राज-सस्था से असहयोग करने के सिवा और कोई उपाय नही है।'

और वह इस्तीफा देकर अपने गाँव चले जाते है और चर्खे वगैरह का प्रचार करने लगते है। डिप्टी साहब का छोटा लडका श्रीविलास अपनी बहन अजनी को खादी का पूरा अर्थशास्त्र समझाता है।

कोई बात नही अगर इससे कहानी की मिट्टी खराब होती है ! किसने कहा कि मै कहानी लिख रहा हूँ, मैं तो कहानी के बाने में लपेटकर स्वराज्य का सदेश घर-घर पहुँचा रहा हूँ। कहानी के बनने-बिगडने की फिक्र कौन करे, देखना यह है कि आन्दोलन का कोई मुद्दा छूटने न पाये।

आन्दोलन के मुद्दे है — विदेशी चीजो का बहिष्कार और स्वदेशी का प्रचार

जिसका सबसे बडा अग खादी है, सरकारी स्कूलो का बहिष्कार और राष्ट्रीय विद्यालयो की स्थापना, अदालतो का बहिष्कार और उनके स्थान पर पचायतें कायम करना। इनके अलावा तमाम सरकारी नौकरियो का बहिष्कार, कौसिल का बहिष्कार, मद्य-निषेध।

इन्ही का प्रचार लोगो में करना है और मुशीजी नौकरी छोडने के बाद तत्काल, अपने सरल मन की सम्पूर्ण निष्ठा से इसी मे लग जाते है। एक के बाद दूसरी कहानी उनके कलम से निकलती चली आ रही है। मुशीजी स्वत. अपने मन की प्रेरणा से असहयोग आन्दोलन के प्रचारक बन जाते है। सही या गलत, मुशी जी को इसमें अपनी कला की प्रतिष्ठा की कोई हानि नही दिखलायी देती। स्वराज्य की बात, असहयोग की बात लोगो तक पहुँचनी चाहिए — और पूरी-पूरी बात, सीधे-टेढे जैसे भी हो। मौका-महल समझने की भी इस समय मुशी-जी को फुर्सत नही है। कुछ मत बोलो, घर में आग लगी है इस वक्त — कहानी अच्छी बन जाती है तो वाह वाह और अगर अच्छी नही बनती तो भी क्या, बात तो पहुँची लोगो के सामने!

उसी के लिए तो अखबार भी चाहिए था। वह तो सबसे अच्छी बात होती। तब दाल-रोटी और स्वराज्य का काम दोनो साथ-साथ चलने लगते। और भी ज्यादा वक्त मिलता। लेकिन उसकी सूरत अभी कुछ बनती नजर नही आती। यो बुलाने को तो दयानरायन पहले रोज से बुला रहे है, लेकिन वहाँ 'मैं क्या काम करूँगा। महज प्रेस खोलकर बैठे रहना तो मेरे लिए फिजूल-सा मालूम होता है। मैनेजरी करने की मुझमें लियाकत नही। अखबार का काम कर सकता हूँ। लेकिन उसकी सूरत क्या है? इसके मुकाबले में तो मुझे यही ज्यादा मुनासिब मालूम होता है कि यहाँ से एक अच्छा उर्दू अखबार निकालूँ।' दशरथप्रसाद जी की भी कुछ ऐसी ही इच्छा थी — हिन्दी के साथ-साथ उर्दू का भी एक साप्ताहिक। मुशी जी उनके साथ साझा करने को तैयार थे। लेकिन तभी अचानक एक बाधा उपस्थित हो गयी। 'एक हफ्तेवार अत्तहकीक जो पहले बन्द हो गया था फिर जारी हो गया और उसकी मौजूदगी में किसी दूसरे हफ्तेवार की खपत नही हो सकती। .... गोरखपुर से उर्दू अखबार निकालने का इरादा खत्म हो गया।'

और मुशी जी १८ मार्च १९२१ को रात की गाडी से बनारस के लिए रवाना हो गये।

गोरखपुर अब हमेशा के लिए छूट रहा है इसलिए आइए बुग्गन जान का भी किस्सा सुन ले। फिर मौका नही मिलेगा।

बुग्गन जान एक तवायफ थी। साहित्य से प्रेम रखती थी। अपने कोठे पर उसने तख्ती लिखकर टाँग रखी थी —

जगह जी लगाने की दुनिया नही है,
यह इबरत की जा है तमाशा नही है ।

एक रोज जब बुग्गन जान अपने हकीम साहब के यहाँ गयी तो हकीम साहब अपने किसी मुलाकाती से कुछ बाते कर रहे थे । बुग्गन जान को मुशी प्रेमचन्द के नाम की भनक सुनायी पडी । जी नही माना तो पूछ बैठी — किसकी बात कर रहे है हकीम साहब ?

हकीम साहब ने बात टालने की गरज से कहा — यो ही, एक अफसाना-नवीस है, आप न जानती होगी, मुशी प्रेमचन्द

बुग्गन जान के चेहरे पर रोशनी की एक झलक थी जब उसने कुछ खिंचे हुए स्वर में कहा — कौन है जो मुशी प्रेमचन्द को नही जानता, जिसे उर्दू अदब से कुछ भी लगाव है ।

१४

अखबार निकालने की धुन जी में समायी थी । गोरखपुर से काफी निराशा हुई थी लेकिन अभी कुछ साँस बाकी थी । बनारस पहुँचने के तीन रोज बाद उन्होने दशरथप्रसाद द्विवेदी को लिखा — 'तहकीक का क्या हाल है ? अगर वह बन्द हो गया हो तो मै प्रेस का प्रबन्ध करूँ । लखनऊ में प्रेस मिल रहा है । अगर नही बन्द हुआ तो आप अभी मुझे गोरखपुर न बुलाइए ।' लेकिन रोटी तो जैसे भी हो मिलनी ही चाहिए । लिहाजा मुशीजी ने चिट्ठी में इतना और जोड दिया 'यदि आपकी इच्छा हो तो मैं यहाँ से प्रति बुधवार को अग्रलेख ओर टिप्पणियाँ भेज दिया करूँ । नौ कालम का मैटर देने का भार मैं ले सकता हूँ । इस सेवा के लिए आप मुझे पचास रुपये भी दे देंगे तो मैं सन्तुष्ट हो जाऊँगा । यहाँ देहात में इतना मेरे लिए काफी है ।' लेकिन द्विवेदी जी तीस ही देना चाहते थे । बात टूट गयी । मुशीजी ने ८ अप्रैल को उन्हे लिखा — 'मुझे स्वदेश की सेवा करने से इनकार नही है पर सोलह कालमो के लिए तीस रुपया बहुत कम है । दो रुपये से भी कम । समय फालतू होता तो कहता, लाओ यही सही । पर निर्वाह भी तो होना चाहिए । चार पृष्ठ लिखने के लिए चार दिन दो-तीन घण्टा रोज मेहनत करना जरूरी है । तीन दिन 'आज' की भेंट कर दूँ तो मुझे कुल साठ रुपये मिलेंगे । इसमें यहाँ गुजर होना मुशकिल है । पूँजी में से खाने लगूँ तो कै दिन खाऊँगा । मैंने समय का विचार कर ही पचास रुपये लिखे थे । रुपये कमाने का ख़याल न था । ख़ैर जाने दीजिए ।'

पास में पूँजी बहुत कम थी लेकिन प्रेस खरीदने का ख़याल बराबर मन में चक्कर काट रहा था मगर जब तक प्रेस खरीदा नही जाता और चलने नही लग जाता तब तक के लिए तो कुछ ढग का सिलसिला चाहिए । 'ज्ञानमण्डल से एक साप्ताहिक पत्र भी निकलने वाला है । सभव है उसका सम्पादन करने लगूँ । सौ रुपये मिलेंगे । इस बीच में दैनिक 'आज' के लिए महीने में चार लेख देना तय कर लिया है । तीन रुपये प्रति कालम मजूरी हुई है ।' लेकिन उतना किसी तरह काफी नही था । और पूँजी जो चार-पाँच हजार थी वही अपनी कुल बिसात थी । ठेठ गृहस्थ आदमी, उसको कैसे छूते । खर्च तो कमाई में से ही हो सकता है । यह

तो हारे-गाढे के लिए है। अपने उसी खत में मुशीजी ने दशरथप्रसाद को लिखा था, 'बीस रुपये जो आपने प्रदान किये उसके लिए कोटिश धन्यवाद। बडे वक्त पर पहुँचे क्योकि मुझे एक गाय लेनी थी और कही से कुछ मिलने का सहारा न था।' लेकिन खैर 'स्वदेश' से बात नही बनी। यो ही लस्टम-पस्टम काम चलता रहा। हाँ, लिखाई उसी जोश और मुस्तैदी से।

इन्ही दिनो महावीरप्रसाद पोद्दार ने अपनी हिन्दी पुस्तक एजेन्सी से एक 'असहयोग माला' 'महात्मा जी की आज्ञा से' प्रकाशित की जिसका उद्देश्य था — घर-घर स्वराज्य सन्देश पहुँचाना। बहुत ही सस्ती, पैसे, दो पैसे, एक आने की पुस्तिकाएँ थी — जैसे गाधीजी के व्याख्यान 'सूत के धागे में स्वराज्य', 'असहयोग अर्थात् आत्मशुद्धि', 'अदालतो का इन्द्रजाल' जिसमें गाधीजी, प० मोतीलाल नेहरू और राजेन्द्रबाबू के लेख थे, 'चरखे की तान' जिसमें चरखे पर एक उपयोगी लेख और कबीरदास के गीत और भजन थे। इसी तरह की अनेक पुस्तिकाएँ थी। प्रेमचद की तीन कहानियाँ भी इन्ही दिनो इस असहयोग-माला में प्रकाशित हुई — पच परमेश्वर, लाल फीता और लाग-डाँट। 'स्वराज्य के फायदे' (प्रकाशित आषाढ १९७८) के नाम से मुशी जी ने एक पैम्फलेट इस पुस्तकमाला के लिए अलग से लिखा —

● अपने देश का पूरा-पूरा इन्तजाम जब प्रजा के हाथो में हो तो उसे स्वराज कहते है। जिन देशो में स्वराज है वहाँ की प्रजा अपने ही चुने हुए पचो द्वारा अपने ऊपर राज करती है। वहाँ यह नही हो सकता कि प्रजा लगान और करो के बोझ से दबी रहे और अधिकारी लोग दिनोदिन सेना बढाते जायँ। प्रजा भूखो मर रही हो, चारो ओर अकाल पडा हो और देश का अन्न दूसरे देशो को ढोया चला जाता हो। मरी, हैजा आदि रोग फैल रहे हो और अधिकारी लोग उसके रोकने का उचित प्रयत्न न करके सैर-सपाटे किया करते हो। गरीब मुसाफिरो को रेलगाडियो में बैठने की जगह न मिलती हो और अधिकारियो के वास्ते एक-एक पूरी गाडी अलग खडी रहती हो।

स्वराज के तीन भेद है। एक वह है जहाँ का राजा उसी देश का निवासी होता है लेकिन वह राज का सब काम अपनी ही इच्छानुसार करता है, प्रजा उसके इन्तजाम में जरा भी दखल नही दे सकती, जैसे काबुल, नैपाल। दूसरा वह है जहाँ का राजा अपनी प्रजा के प्रतिनिधियो की सलाह के बिना स्वय कुछ न कर सकता हो, जैसे इँगलिस्तान, जापान। तीसरा वह है जहाँ राजा नही होता, उसकी जगह पर पच लोग किसी योग्य और सर्वमान्य पुरुष को चुनकर कुछ नियत समय के लिए अपना प्रधान बना लेते है और वह प्रजा के चुने हुए मेम्बरो की सम्मति से राज्य का सारा प्रबन्ध करता है, जैसे फ्रास, अमेरिका, चीन आदि। भारत की दशा विचित्र है, वह इन तीनो भेदों में से एक में भी नही आता। .. हम इन तीनो भेदो में कौन

चाहते है यह अभी साफ-साफ नही कहा जा सकता पर इसमें अब जरा भी सन्देह नही है कि हम वह स्वराज्य चाहते है जहाँ प्रजा के चुने हुए पचो की सलाह से सब राज-काज किया जाता है और पचो की सम्मति के बिना शासक लोग कुछ भी नही कर सकते। भारत में ऐसी सभाएँ है जहाँ प्रजा के प्रतिनिधि सरकार को सलाह देने जाते है। छोटे लाट साहब और बडे लाट साहब दोनो ही को सलाह देने के लिए ऐसी सभाएँ बनायी गयी है। लेकिन एक तो इन सभाओ में जो पच प्रजा की ओर से भेजे जाते है उन्हे वही लोग चुनते है जो या तो महाजन है या बडे जमीन्दार या बडे काश्तकार, साधारण जनता को उनके चुनने का अधिकार नही है, दूसरे इन सभाओ को केवल राय देने का अधिकार है, अधिकारियो की इच्छा है, चाहे उस राय को माने या न मानें। यह सभाएँ केवल हाथी के दाँत है, उनकी जात से जनता की कोई भलाई नही हो सकती। ●

ऐसी ही एक सभा के एक हिन्दोस्तानी मेम्बर की कहानी है 'आदर्श विरोध' जो इन्ही दिनो लिखी गयी — 'महाशय दयाकृष्ण मेहता के पाँव जमीन पर न पडते थे। उनकी वह आकाचा पूरी हो गयी थी जो उनके जीवन का मधुर स्वप्न थी। उन्हे वह राज्याधिकार मिल गया था जो भारतवासियो के लिए जीवन-स्वर्ग है। वाइसराय ने उन्हे अपनी कार्यकारिणी सभा का मेम्बर नियुक्त कर दिया था।'

कुछ ही दिनो में वह पूरी तरह गोरे शासको के रग में रँग जाते है, बल्कि उनसे भी दो बाँस आगे निकल जाते है। उनकी बजट स्पीच पर लन्दन के भारतीय युवको का रोष इन शब्दो से प्रकट होता है — 'इस वक्तृता ने सिद्ध कर दिया कि भारत के उद्धार का कोई उपाय है तो वह स्वराज्य है, जिसका आशय है मन और वचन की पूर्ण स्वाधोनता। क्रमागत उन्नति (evolution) पर से यदि हमारा एतबार अब तक नही उठा था तो अब उठ गया। हमारा रोग असाध्य हो गया है। वह अब चूर्णो और अवलेहो से अच्छा नही हो सकता। उससे निवृत्त होने के लिए हमें कायाकल्प की आवश्यकता है। ऊँचे राज्यपद हमें स्वाधीन नही बनाते, बल्कि हमारी आध्यात्मिक पराधीनता को और भी पुष्ट कर देते है।' लडके को अपने पिता के कारण बहुत लज्जित होना पडता है और वह तग आकर एक रोज आत्महत्या कर लेता है।

अच्छा तो फिर स्वराज्य का साधन क्या है?

● स्वराज्य का मुख्य साधन स्वावलम्बन है अर्थात् अपने देश की सब ज़रूरतो को आप पूरा कर लेना। जो प्राणी अपने खेत का अनाज खाता है, अपने काते हुए सूत का कपडा पहनता है और अपने झगडे-बखेडे अपनी पचायतों में चुका लेता है उसे हम स्वाधीन कह सकते है। . ..

स्वराज्य-प्राप्ति का दूसरा साधन उन व्यवस्थाओ को त्याग करना है जो हमारी आत्मा को दबाती है और उसे पराधीन, परावलंबी बनाती है। अदालतें,

सरकारी नौकरियाँ, सरकारी शिक्षा आदि हमारी आत्मा को कुचलनेवाली, हमारे मन के पवित्र भावो को दमन करनेवाली, हमें कौडी का गुलाम बनानेवाली, हमारी वासनाओ को भडकानेवाली सस्थाएँ है। हमारे बालकवृन्द बालपन ही से सरकारी नौकरियो की आशा करने लगते है, उसी समय से उनकी आत्मरक्षा पराधीन होने लगती है, उन्हे परकटे पक्षी की भाँति अपने दरबे के सिवा और कुछ नही सूझता, चापलूसी करने की, काँइयाँपन की आदत पड जाती है। यह तो हुआ शिक्षा का हाल।

अदालतो का प्रभाव इससे कम प्राणघातक नही। वहाँ मुकदमेबाजी करने-वाली जनता और उनका धन लूटनेवाले वकील-मुख्तार, दोनो ही अपनी आत्मा को हताहत करते है। अगर कोई आदमी झूठ, छल-कपट, बेईमानी का भीषण नाटक देखना चाहे तो उसे एक बार अदालत में जाना चाहिए।... कही गवाह तैयार किये जा रहे है, कही मुवक्किलो को उनका बयान तोते की भाँति रटाया जा रहा है, कही काँइयाँ मुहर्रिर मुवक्किलो से खर्च के लिए तकरार कर रहा है, कही कर्मचारी लोग रिश्वत के सौदे चुका रहे है, कही वकील साहब अपने मेहन-ताने का सौदा पटाने में मग्न है, कही मुख्तार साहब देहातियो के एक दल को साथ लिये इजलासो में दौडते फिरते है। और यह सब धूर्तलीला खुल्लम-खुल्ला बिना किसी सकोच के होती रहती है।...●

बीस पन्नो की इस पुस्तिका में मुशीजी ने बहुत सरल-सुबोध ढग से लोगो को स्वराज्य के बारे में सब कुछ बतलाना चाहा है — स्वराज्य क्या है, स्वराज्य के भेद, स्वराज्य के साधन, स्वराज्य के फायदे

स्वराज में कैसी समाज-रचना होगी इसका पूरा नक्शा, ब्लूप्रिण्ट, उनकी आँखो के सामने है —

'यह भी याद रखना चाहिए कि हमारा देश कृषिप्रधान है। शिल्प और उद्योग यहाँ सदैव कृषि के नीचे ही रहेगा। अतएव हम अपने यहाँ बहुत बडे-बडे कारखाने नही कायम कर सकते। हमें यही उद्योग करना चाहिए कि हमारा ग्राम्य जीवन नष्ट न होने पाये। छोटे-छोटे कारखाने अलबत्ता कस्बो में खोले जा सकते है। इसमें सन्देह नही कि इस व्यावसायिक नीति से हम विदेशी वस्तुओ का मुकाबला न कर सकेंगे। लेकिन जब हम कर लगाकर विदेशी वस्तुओ को रोक देंगे तो उनसे मुकाबला करने का प्रश्न ही न रह जायगा। इसके सिवा हम तो केवल अपनी जरूरतो को पूरा करने के लिए शिल्प और कला की उन्नति चाहते है, हमारा उद्देश्य यह कदापि नही है कि सस्ता माल बनाकर निर्बल देशो पर पटकें और व्यवसाय के बहाने से उन पर आधिपत्य जमाये। इसी व्यावसायिक चढा-ऊपरी के कारण यूरोप की जातियो मे नित्य वैमनस्य बना रहता है। एक दूसरे को शत्रु समझती है। उसका भयकर परिणाम यह महासमर था जिसका अभी तक निबटारा

नही हुआ । हम इस सग्राम से दूर रहना चाहते है । खिलाफत का प्रश्न जिसने समस्त ससार के मुसलमानो को बेचैन कर रखा है बहुत कुछ इसी व्यावसायिक चढा-ऊपरी से सबध रखता है। फ्रास शाम देश को नही छोडता, इसलिए कि वह शाम के बन्दरगाहो से अपना माल अरब देश में ला सके । अग्रेज लोग बसरा और बगदाद नही छोडना चाहते क्योकि वहाँ मिट्टी के तेल की खाने है। इस व्यावसायिक स्वार्थपरता को छिपाने के लिए तरह-तरह के नैतिक ढकोसले गढे जाते है ।..'

सुखी और सतोषपूर्ण जीवन का यह मानसचित्र उनका अपना है, बहुत पुराना है । टाल्सटाय के दर्शन ने उस पर अपनी मुहर लगाकर उसे और भी पक्का कर दिया और गाधीजी ने उसी साध्य को देश की स्वाधीनता-प्राप्ति का साधन बनाकर उस स्वप्न को व्यावहारिक राजनीति का एक आधार दे दिया है । इसीलिए तो गाधीजी की रीति-नीति को जिन थोडे से लोगो ने सबसे पहले समझा और गहराई से समझा, उनमें प्रेमचद भी एक है । बिरवा उनके मन में पहले से लहलहा रहा है । गाधीजी को उसे रोपना नही पडा । हॉं, सीचा जरूर ।

वह तो सब ठीक है लेकिन रोटी-पानी की भी तो कुछ व्यवस्था करनी पडेगी, अखबारो के कालम लिखने से थोडे ही चलेगा ।

गोरखपुर से निश्चय ही निराशा हुई लेकिन मुशीजी इतनी जल्दी हिम्मत हारनेवाले आदमी न थे । ५ अप्रैल को उन्होने निगम को लिखा — 'मेरा अख़बार निकालने का मुसम्मम इरादा हो रहा है बशर्ते कि काफी सरमाया फराहम हो जाये और मददगार काफी मिल जायें ।' जोकि नही हो सका । दूसरी किसी तरफ हाथ-पैर मारना जरूरी था । तभी सयोग से कानपुर के मारवाडी विद्यालय में हेडमास्टर की जगह खाली हुई । १ मई को मुशीजी ने लिखा — 'मैंने अपने सर्टिफिकेट वगैरह महाशय काशीनाथ के पास भेज दिये है । अब उनके जवाब का मुन्तजिर हूँ ।'

फिर २७ मई को — 'महाशयजी का ख़त आया था । अनकरीब वह बाकायदा खत भेजनेवाले है ।' होते-होते ११ जून की तारीख आ गयी लेकिन बाकायदा ख़त नही आया । तब मुशीजी को कुछ चिन्ता होने लगी और उन्होने बनारस में ही म्युनिसिपल सेक्रेटरी की जगह के लिए कोशिश करना शुरू किया। इसी बीच कानपुर से महाशय काशीनाथ का बाकायदा ख़त आ गया तो १९ जून को मुशीजी ने निगम साहब को लिखा —

● कल सब तैयारियाँ कर चुका था। इक्का तक मँगवा लिया था (देहात में यह आसान काम नही है) लेकिन शाम को छोटक नाना साहब का ख़त लाये कि मैं सोमवार को तुमसे मिलने आ रहा हूँ । इसलिए तूअन् ओ करहन्[1] रुकना

---

१ मजबूरन

पडा, और वही पहली मुअय्यन[1] तारीख मुकद्दम[2] रही। मै २२ को चलूँगा और २३ को पहुँचूँगा। पहले इरादा था कि अयाल[3] को इलाहाबाद छोड दूँ और कानपुर में मकान तय करके लिवा लाऊँ। अब आप फरमाते है कि मकान भी रोक लिया गया है। यह मुशकिल भी आसान हो गयी। अब मय अयाल के कानपुर जाऊँगा।.... मेरी जरूरतो से आप वाकिफ है ही लेकिन बगरजे मुहाल अगर मकान मुझे पसन्द न भी आया तो फिर दूसरा तलाश करूँगा। हाँ, अगर आते ही आते मकान न मिला तो फिर मुझे आपके घर को खानए बेतकल्लुफ[4] बनाना पडेगा। दो-एक दिन मस्तूरात[5] को भी एक देहकानी औरत की मेहमाँ-नवाजी[6] करनी पडेगी जिसमें गालिबन ज्यादा दिक्कत न होगी।

म्युनिसिपल सेक्रेटरी का जिक्र आप फिजूल करते है। एक मुआहिदा तय हो जाने के बाद अब मै किसी दूसरी मुलाजिमत का खयाल भी नही कर सकता। मैने म्युनिसिपल मुलाजिमत की कोशिश उसी हालत में की थी जब महाशय काशीनाथ जी ने कोई हतमी[7] वादा न किया था। उनके और आपके यकीन दिलाने के बाद फिर मैने इस खयाल को दिल में जगह ही नही दी — वर्ना यहाँ मुझे डेढ सौ रुपया माहवार, मकान मुफ्त और काम हस्बे-ख्वाहिश[8] की सूरत पेश हो गयी थी। वह मैने मजूर न किया। कुछ तो मुआहिदे का खयाल था और इससे ज्यादा आपके कुर्ब[9] का खयाल। महाशय जी की हमदर्दी और सलामतरवी[10] भी इस फैसले में मुईन[11] हुई। बस यह आखिरी फैसला है।●

और २३ जून को, सरकारी नौकरी से इस्तीफा देने के कुल चार महीने बाद, मुशी जी मारवाडी विद्यालय कानपुर पहुँच गये।

बीवी-बच्चो समेत कानपुर पहुँचने की बात उन्होने निगम साहब को लिखी थी मगर वह न हो सका। बनारस से रवाना होने के पहले ही उन्हे अपने ससुर साहब के देहान्त की खबर मिली और वह परिवार को इलाहाबाद छोडकर अकेले ही कानपुर पहुँचे। इस बार मेस्टन रोड पर मकान लिया।

राजनीति का वही रग था। अमृतसर और खिलाफत के राष्ट्रीय अपमान से देश के हिन्दू-मुसलमान दोनो क्षुब्ध थे। असहयोग का आन्दोलन कही तेज कही धीमी चाल से चल रहा था। लोग सरकारी नौकरियाँ छोड रहे थे, वकालत को खैरबाद कह रहे थे। नये-नये राष्ट्रीय विद्यापीठ स्थापित हो रहे थे। विदेशी का बहिष्कार चालू था और जगह-जगह विदेशी कपडो और शराब की दूकानो पर

---

१ निश्चित २ पक्की ३ बाल-बच्चो ४ बिलकुल अपना घर जहाँ कोई शिष्टाचार नही बरतना पडता ५ स्त्रियो ६ आतिथ्य-सत्कार ७ पक्का ८ इच्छानुसार ९ निकटता १० शराफत ११ सहायक

धरना भी दिया जाने लगा था। गाँवो में भी एक लहर आयी हुई थी। पुलिस का आतक लोगो के मन पर अब उतना न रह गया था। जमीन्दार की मनमानी-हरजानी, सख्ती और बेगार के खिलाफ सर उठाने की हिम्मत अब किसान को थोडी-थोडी होने लगी थी।

मुशीजी का क्या कहना, वह तो पहले ही से स्वराज्य के रग में रँगे हुए थे। और जैसे-जैसे आन्दोलन जोर पकडता जाता था वैसे-वैसे मुशीजी का उत्साह बढता जाता था। लगभग हर रोज ही काग्रेस की मीटिंग होती। उसमें उनका शरीक होना जरूरी था। कभी-कभी लौटने में रात के दस बज जाते।

इन्ही दिनो अगस्त के महीने में, कानपुर पहुँचने के महीने-डेढ महीने बाद मुशीजी के छोटे लडके अमृत का जन्म हुआ जिसे घर पर सब लोग बन्नू के नाम से पुकारते थे।

मुशीजी की दिनचर्या वही थी जो सदा से थी। साढे चार बजे उठकर अपने लिखने-पढने में लग जाते। बडे लडके धुन्नू (श्रीपत) की पढाई अब घर पर शुरू हो गयी थी। उसे पास में बिठालकर पढाते भी जाते और खुद लिखते भी जाते। फिर नहा-खाकर स्कूल जाते। स्कूल से लौटते हुए तरकारी वगैरह अपने साथ लेते आते। बस्ती, गोरखपुर, बनारस — सब जगह यही उनकी दिनचर्या थी। उसमें किसी तरह का हेरफेर नही होता था। नियमित रूप से काम करने की आदत थी। वही उनका सुख था। वही उनका जीवन था। सच्चे अर्थों में। शेष तो जीविका थी। उससे जो समय बचता वह सब साहित्य का था। दूसरी कोई दिलचस्पी इधर बरसो से न थी। लिहाजा लिखने की तडप हर समय उनके मन में रहती थी, छठे-छमासे जिनको लिखने की मौज आती है, मुशीजी उनमें से न थे। और फिर जिसके लिखने के पीछे तात्कालिक राष्ट्रीय हलचलो की प्रेरणा हो और जो लेखक स्पष्ट दो टूक ढग से अपने लिखने को उन हलचलो का अस्त्र बनाना चाहता हो, अपने साहित्य-द्वारा उनमें योगदान देना चाहता हो, उसकी स्फूर्ति का स्रोत यो भी अपने मन की मौज में ही नही, बल्कि अपने से बाहर, राष्ट्र के जीवन में भी होता है। इससे धोखे में मत आइए कि उनके बदन पर सिपाही की वर्दी नही है, बगैर वर्दीवाले सिपाही भी तो होते है। मुशीजी देश के ऐसे ही बगैर वर्दीवाले सिपाही है। अपने दिल की पटिया को छोडकर और किसी रजिस्टर में उनका नाम भी दर्ज नही है, लेकिन इतना ही बहुत है। वर्दीपोश सिपाही को और नही तो कम-से-कम अपनी वर्दी उतारने पर कुछ हलकापन, कुछ बेफिक्री मालूम होती है, मुशीजी के लिए उतनी भी सुविधा नही है क्योकि उनके पास उतारने के लिए वर्दी नही है और एक जो मन्त्रपूत गेरुआ बाना उन्होने अपने मन के ऊपर पहन रखा है, वह उतारने की चीज नही है। अपनी बीमारी, घर में बाल-बच्चो का रोग-शोक, यह सब कुछ नही है, वह गेरुआ बाना जैसे का तैसा चढा रहता है। अपनी तबीयत खराब रहती

है इधर कुछ दिनो से, बीवी से रोज ही इस बात पर झगडा होता है कि आप काफी आराम नही करते, कसमें भी खायी जाती है बीवी को खुश करने के लिए — लेकिन तब रात को चुपके से उठकर चोरी-चोरी काम करने की तदबीर की जाती है। काम तो होना ही है। मुल्क जिन्दगी और मौत की लडाई लड रहा है, ऐसे समय में अपनी तबीयत लेकर बैठूंगा ? होगा जो होगा, देखा जायगा ! बच्चे की तबीयत खराब है, उसकी अवहेलना नही की जा सकती। ठीक है, उतना काम और ओढ लिया जायेगा। यह कोई आज की बात नही है, पहले भी बहुत बार ऐसा मौका आया है कि घर के भीतर की बहुत-सी जिम्मेदारियाँ, झाडू-बुहारू और खाना पकाने तक की, उनके सिर आ पडी है, और उन्होने बहुत खुशी-खुशी उनको निभाया है, लेकिन अपने काम की कीमत देकर नही, आराम की कीमत देकर।

उनकी पत्नी अपने सस्मरण में लिखती है —

● रात को जब मैं सो जाती तो धीरे से उठकर अपनी कापी, कलम-दावात उठा लाते। जाडे के दिन थे, चारपाई पर रजाई ओढे लिखने लगते। मैं देख पाती तो भल्ला उठती — क्या अभी बीमारी कुछ कम है जो और किसी बीमारी की चाह है !

— नही मै लिख कहाँ रहा था, देखता था पीछे का लिखा हुआ।

— सारा जमाना तो आपको ठग लेता है, लेकिन आप है कि मुझी को ठगना चाहते है।

— तुम्हे कौन ठगेगा भला !

— इसी तरह गोरखपुर में बीमारी जड पकड गयी, लिखने के कारण, अब फिर वैसा ही करने पर तुले हुए है।

— कहाँ ? तुमने कलम ही तोडकर फेक दी थी। लिखता कब था !

— कलम तो बाद को मैंने तोडी, जब और किसी तरह आप नही माने। दिन भर मैं भी तुम्हारे साथ बेकार बैठी रहती थी।

— अच्छा लो भाई, अब मैं कुछ काम न करूँगा ! ●

मगर कहाँ। इन्ही दिनो, २९ दिसबर १९२१ के अपने खत में उन्होने इम्तयाज अली ताज को लिखा था — '. मैं भी तर्के म्वालाती हूँ। मेरे दिल-ओ-दिमाग में भी आजकल वही मसायल गूँजा करते है। . '

वह गूँज चुप कब बैठने देती है। असहयोग आन्दोलन को, खिलाफत का आन्दोलन भी जिसका ही एक अग है, हर तरह से ताकत पहुँचाना उनका कर्तव्य है, लेख लिखकर, किस्से लिखकर, नाटक लिखकर, उपन्यास लिखकर, यानी जितनी तरह से अपनी बात लोगो तक पहुँचायी जा सकती हो उन सब तरीको से उसको पहुँचाना है। यह चुप बैठने का, बीमारी को सेने का वक्त नही है।

एक कमजोर-सी, बीमार-सी जान है मगर वह हर तरफ जूझ रही है। कुछ

भी उसकी नजर से बचा नही है और न असहयोग आन्दोलन के प्रति उसकी ममता फेनिल भावुकता पर ही आधारित है। वह सहज, सचेत, सक्रिय ढग की रुचि है। वह आन्दोलन की गतिविधि को अपने पैनी आँखो से देख रहा है, गहरी छानबीन की आँखो से देख रहा है, जितनी गहराई से शायद उस आन्दोलन के बडे-बडे नेता भी नही देख पा रहे है। और अक्तूबर-नवबर १९२१ के 'जमाना' में मुशीजी ने एक लख लिखा, 'वर्तमान आन्दोलन के रास्ते में रुकावटे'। याद रखने की जरूरत है कि अभी इन रुकावटो की तरफ किसी का ध्यान नही जा रहा है, सब आन्दोलन को बराबर बढता हुआ ही देख पा रहे है। चौरीचौरा के काण्ड को अभी तीन-चार महीने की देर है। उस वक्त उनके अधिकतर सहकर्मी समझ भी नही सके कि गाधीजी ने आन्दोलन क्यो ठप कर दिया। कही पर किसानो की एक भीड ने थाने पर हमला करके उसमें आग लगा दी और कुछ कानिस्टिबिल उसमें जलकर मर गये, यह क्या देश के पूरे आन्दोलन को खत्म कर देने के लिए काफी कारण था? गाधीजी ने बात की सफाई करना भी जरूरी नही समझा और इतना कहकर सतोष कर लिया कि यही उनके अत करण की आवाज है। लेकिन जैसा कि आगे चलकर जवाहरलाल नेहरू ने अपनी आत्मकथा में लिखा — 'फर्वरी १९२२ मे सत्याग्रह-आन्दोलन को बद करने का कारण केवल चौरीचौरा नही था, गो कि यह सच है कि ज्यादातर लोगो ने यही समझा।' असल कारण इससे कही बडा था — 'उस समय हमारा आन्दोलन अपनी जाहिरा ताकत और व्यापक उत्साह के बावजूद बहुत तेजी से बिखर रहा था। हमारे ज्यादातर अच्छे आदमी जेलो में बद थे और जनता को अब तक इस बात के लिए जरा भी नही तैयार किया गया था कि वह स्वत अपना काम चला सके। चौरीचौरा काण्ड के कुछ ही महीने बाद मुशीजी काशी विद्यापीठ में अध्यापक हो गये थे। वहाँ एक रोज बात निकलने पर मुशीजी ने कहा था कि चौरीचौरा के कारण आन्दोलन बन्द करके गाधीजी ने ठीक नही किया। उस समय उनके छात्रो मे मन्मथनाथ गुप्त भी थे जिन्होने आगे चलकर क्रान्तिकारी आन्दोलन में काफी काम किया। उन्ही से यह बात मालूम हुई।

मुशीजी इतिहास के विद्यार्थी थे, समाजशास्त्र के विद्यार्थी थे, राजनीति की अच्छी सूझ-बूझ रखते थे, मन की एक-एक वृत्ति से इस शान्ति-समर में रमे हुए थे। आन्दोलन के प्रति उनकी ममता थी, असाधारण ममता थी लेकिन बिलकुल नि स्वार्थ क्योकि एक निस्सगता भी उसके साथ लगी हुई थी। वह सच्चे निष्कपट भाव से समर्पित है देश की स्वाधीनता के सग्राम को लेकिन तो भी अलग-थलग है उस चीज से जिसे सक्रिय राजनीति कहा जाता है। शायद इसीलिए वह हर चीज को औरो से अधिक निरपेक्ष होकर ज्यादा साफ और सीधे ढग से सोच पाते है, देख पाते है। जहाँ दूसरे बहुत से लोग ज्वार के साथ केवल बहे जा रहे है, इतने बेसुध होकर कि उन्हे एक झटका-सा लगा जब गाधीजी ने आन्दोलन को रोक दिया, वहाँ मुशीजी

आँख-कान खोलकर चल रहे है, अगल-बगल दाये-बायें देखकर चल रहे है, बीच-बीच मे शायद पूछ भी लेते है, मुझसे-तुझसे, थक तो नही रहे हो, बडी दूर जाना है, कुछ कमजोरी तो नही लग रही है अपने भीतर ।

एक सजग देशभक्त और राष्ट्रकर्मी की दृष्टि है जो अपने सग्राम का सिंहावलोकन कर रही है —

'स्वराज्य का वर्तमान आन्दोलन अभी तक तो कामयाबी के साथ जारी ही है लेकिन अब हालते रोज-ब-रोज ज्यादा खतरनाक होती जा रही है । यो कुछ लोगो की दृष्टि मे तो असहयोग आन्दोलन को सिरे से ही कोई कामयाबी हासिल न हुई — न लडको ने मदरसे छोडे, न सरकारी मुलाजिमो ने नौकरियाँ छोडी, न वकीलो ने वकालत को नमस्कार किया, न पचायतें कायम हुईं । लेकिन असहयोग के बडे से बडे समर्थक के भी ध्यान में यह बात न रही होगी कि इन सभी शाखो में सोलहो आना कामयाबी होगी । ऐसे मामलो में जहाँ निजी नफे-नुकसान का सवाल पेश हो जाता है, सोलहो आने कामयाबी की उम्मीद करना सुनहरे सपना देखना है । यहाँ तो रुपये मे आना-दो आना कामयाबी हो जाय, वही बहुत है, और खासकर हिन्दुस्तान जैसे गरीब देश मे जहाँ सारा मामला रोजी पर आकर रुक जाता है। अभी निजी हित और स्वार्थ दिलो से दूर नही है । और जब खयाल कीजिए कि अभी दो साल पहले यहाँ की राजनीतिक हालत क्या थी — लोग खुशामद और व्यर्थ के आडम्बर को राजनीति का मुख्य अश समझते थे, यहाँ तक कि मज़हबी जलसो और मुशायरो में भी राजभक्ति पर प्रस्ताव पास करना एक मुख्य कर्तव्य हो गया था, सरकारी नौकरियो के लिए कितनी दौडधूप; कितनी छीनाझपटी और कितनी गुप्त कार्रवाइयाँ की जाती थी तो ऐसी हालत में यह उम्मीद करना कि किसी जादू-मतर से कौम का हरेक व्यक्ति अपने निजी फायदे को, अपनी जिन्दगी को कौम पर कुर्बान कर देगा, असलियत की तरफ से आँखे बन्द कर लेना है । इसलिए हम यह दावा करना अपने तई ठीक समझते है कि स्वराज्य का आन्दोलन अब तक कामयाब हुआ ।'

लेकिन आगे क्या होगा ? कुछ अनिष्टकारी तत्व भीतर ही भीतर पनप रहे है । ये जहर की गाँठे है, सदेह की, सशय की । सशय ही मन को दुर्बल बनाता है । मन की अँधेरी गहराइयो से निकलकर उन सब कीडो को बाहर खुली हवा और रोशनी में लाओ । दूसरा कोई इलाज उनका नही है और अगर देश के के नेताओ का ध्यान इस बात पर नही है तो यह सचमुच बडे दुख की बात है । बहरहाल किसी को तो करना ही है — और सबसे पहले उस आदमी को करना है जिसका काम ही आत्मा का सस्कार करना है । इसीलिए तो आराम करने की मोहलत नही है उनको । 'दिलो-दिमाग में हरदम वही मसायल गूँजा करते है। किस्सो में भी वही खयालात झलकते है ।' एक नाटक लिखना शुरू किया है, सग्राम । उसमें भी यही

बात है। मन एक ही पटरी पर दौडना जानता है। लेकिन हाँ, फिर सचमुच दौडता है, कोई जमीन बचती नही जहाँ तक उसकी दौड न हो।

आन्दोलन के बारे में उसकी दृष्टि जैसी अचूक और वैज्ञानिक है वैसी उस समय (और आगे भी) कम ही लोगो की रही होगी। उस समय जबकि आन्दोलन में सभी लोग यकसाँ हिस्सा लेते दिखायी दे रहे थे, उसके भीतर काम करनेवाले वर्गस्वार्थो को देख सकना और उन वर्गस्वार्थों के आधार पर आन्दोलन में पडती हुई दरार को देख सकना असाधारण अन्तर्दृष्टि की बात थी।

'ज्यादा कठिन और हिम्मत को तोडनेवाला वह स्वार्थों का टकराव है जिसके एक तरफ जमीन्दार और पूँजीपति है और दूसरी तरफ काश्तकार और मजदूर। . काग्रेस पहले भी मध्यवर्ग का आन्दोलन थी जिसमें जमीन्दार और पूँजीपति साथ-साथ थे। अधिकाश सख्या वकीलो, प्रोफेसरो और पत्रकारो की थी जो न पूँजीपति है और न जमीन्दार। हाँ, उस वक्त किसानो और मजदूरो में चूँकि राजनीतिक चेतना पैदा न हुई थी, इसलिए काग्रेस भी स्पष्ट रूप में उनके अधिकारो और उनकी माँगों को आगे न रखती थी। इस दौरान में जनतत्र ने सारी पृथ्वी को अपने अधिकार में कर लिया है और हिन्दुस्तान में भी उसका प्रवेश हो चुका है। काग्रेस में जनता का अश प्रधान हो गया है . जगह-जगह किसान सभाएँ, मजदूर सभाएँ कायम हो गयी है और उनके काम करने वाले अक्सर काग्रेस के ही कार्यकर्ता है।' जैसे खुद कानपुर में गणेशशकर विद्यार्थी और बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' जिनसे मुशीजी के बडे गहरे और निजी सबध है।

'ऐसी हालत में पैसेवालो और जमीन्दारो का काग्रेस से चिढना और अलग हो जाना बिल्कुल समझ में आनेवाली बात है, हालाँकि इस वक्त जनतत्र की जो लहर चारो तरफ आयी हुई है और जैसे युग के बीच से हम लोग गुजर रहे है उसके कारण अभी तक यह वर्ग पूरी तरह काग्रेस से अलग नही हुए है। तब भी यह कहना अत्युक्ति न होगी कि इन दलो की हमदर्दी रोज-ब-रोज कम होती जा रही है और बहुत मुमकिन है कि आगे चलकर यह लोग अपने स्वार्थ और हित और अधिकारो को काग्रेस जैसी जनतान्त्रिक सस्था के हाथो में सुरक्षित न समझें। अब भी उसके लक्षण दिखायी दे रहे है।'

वह अपनी बाज की आँखो से पूरे दृश्यपट को देख रहे है, उसके हर उतार-चढाव को, हर रेखा और रग को और लडाई का सारा जोश और सारी गर्मी उनके कलम की नोक पर उतर आती है —

'अमन सभाओ में ज्यादातर जमीन्दार ही शामिल है। उन्हे अब सरकार का दामन पकडने के सिवा अपनी मुक्ति का और कोई रास्ता दिखायी नही देता। वह अपने उन अधिकारो से हाथ नही खीचना चाहते जो सरकार ने समय-समय पर अपनी सामयिक आवश्यकताओ की पूर्ति के विचार से उन्हे दिये है। वह उन

फटी-पुरानी सनदो और बोसीदा फरमानो की बुनियाद पर अपनी पुरानी या मौजूदा हैसियत को कायम रखना चाहते हैं। उन्हे इसकी खबर नही है कि जनतत्र का तूफान बहुत जल्द उनके उन फटे-पुराने पन्नो को तार-तार करके बिखेर देगा। यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि मजदूर और किसान एक होकर जो चाहे कर सकते हैं। उनकी शक्ति असीम है। वह जब तक बिखरे हुए है, घास के टुकडे है; एक होकर जहाज को खीचनेवाले रस्से हो जायँगे। अब वह जमाना नही रहा कि पूँजीपति ७५ फीसदी मुनाफा बाँट लें और मजदूरो को जिन्दगी की जरूरते भी नसीब न हो। वह हवा और रोशनी से भी वचित रहे। पूँजीपति तो पेरिस और स्विट्जरलैण्ड की सैर करे और मजदूर को सुबह से शाम तक सर उठाने की भी मोहलत न मिले। जमीन्दार या ताल्लुकेदार साहब तो ऐश मनायें, शिकार खेले, दावतें दे, और किसानो को रोटियाँ भी नसीब न हो, उसकी कमाई नजराने, बेगार, हारी, डॉड, चुल्हाई, खटियाई वगैरह की सूरतो में जमीन्दार के लिए ऐश का सामान जुटाये। बहरहाल इन वर्गो से काग्रेस को विरोध की बहुत अधिक आशका है। और स्वराज्य के आन्दोलन में उनका बाधा उपस्थित करना तय बात है।'

और फिर अन्त में हिन्दू-मुसलिम एकता का मसला जो इससे भी कही ज्यादा पेचीदा, नाजुक और अहम है। 'यह ठीक है कि दोनो सप्रदायो के नेताओ ने एकता के सबध को अब तक खूबसूरती से निबाहा है लेकिन यह कहना सच्चाई से इन्कार करना हैं कि उनके माननेवालो की दृष्टि भी उतनी ही व्यापक, उनके इरादे भी उतने ही पाक, और उनका स्तर भी उतना ही ऊँचा है।'

तसवीर के कुछ रौशन पहलू भी है — जहॉ पहले दोनो सप्रदायो के नेता घृणा का प्रचार किया करते थे, वहाँ अब यह लोग भाईचारे और एकता और आपस में प्रेम का दम भरते है। मौलाना मुहम्मद अली के कलम से 'कामरेड' के कालमो में गोकुशी की हिमायत में सैकडो जोरदार लेख निकल चुके है। वह इसे अपना राष्ट्रीय कर्त्तव्य, अपना अधिकार, अपना मजहबी मसला समझते थे। लेकिन अब वही मुहम्मद अली अपने मुसलिम भाइयो से पुकार-पुकारकर कहते हैं कि अपने देशभाइयो की खातिर से गाय की रक्षा करो, उसे पवित्र समझो। पिछली बकरीद के मौके पर कई मुसलमान नेताओ ने अपने मिल्लती भाइयो के हाथो से गाये लेकर हिन्दुओ को दे दी।

लेकिन उस भय और घृणा का क्या किया जाय जो एक को दूसरे से है — मसलन् यही दक्षिण का मोपलाओ का हगामा, हिन्दुओ की मारकाट, उनकी बहू-बेटियो की बेइज्जती, उनके मदिरो की बर्बादी, वह सब कुछ जो इन्ही दिनो हुआ —

'अक्सर हिन्दू साहबान मोपलाओ के हगामे की वजह से चिढ गये है और उन्हे डर है कि हुकूमत बदलने की सूरत में उन्हे मुसलमानो के हाथो ऐसी ही

ज्यादतियाँ न बर्दाश्त करनी पड़ें, इसलिए वह थोडी देर को स्वराज्य की तरफ से मुँह मोड लेते है । . मोपलाओ की पागलो और वहशियो जैसी हरकतो पर जितनी नफरत जाहिर की जाय कम है। मुसलमानो ने और उनके उलेमाओ ने बुलन्द आवाज में इन हरकतो की निन्दा की है। इससे ज्यादा मुसलमान लीडरो के क़ाबू में और क्या था ? अगर इस इलाके में मार्शल ला जारी न होता और मुसलमानो के नेता वहाँ दाखिल हो सकते तो शायद यह हगामा खत्म हो चुका होता। लेकिन कैसे, जब कि मुल्क में एक ऐसी तीसरी ताकत मौजूद है जिसका अस्तित्व हिन्दू-मुसलिम फूट पर कायम है' और इस फूट के बीज काफी गहरे जा चुके है —

'देश में ऐसे शक्की मिजाजवालो की भी एक जमात मौजूद है जो खिलाफत के आन्दोलन को सदेह की दृष्टि से देखते है। उन्हे ईरान, अफगानिस्तान, हिजाज, तुर्की, बोखारा, वगैरह स्वतन्त्र राज्यो के बीच में आठ करोड मुसलमानो की हम-वतनी खतरे से खाली नही नजर आती। उनको अदेशा है कि इन आठ करोड मुसलमानो की हमदर्दी दूसरे स्वतन्त्र मुसलिम राज्यो के साथ होगी, इसलिए वह अग्रेजो की छत्रछाया में रहना अधिक निरापद समझते है। .. वहम की दवा लुकमान के पास भी नही है।

'सदेह दुर्बलता की निशानी है और मानसिक कायरता का प्रमाण। उस शख्स की जिन्दगी अजीरन है जो दरो-दीवार को चौकन्नी नजरो से देखता रहे, जिसे अपने चारो तरफ दुश्मन ही दुश्मन नजर आये, कही दोस्त की सूरत न दिखायी पडे. हिन्दुओ को अपनी जीवन-प्रणाली में, अपने धार्मिक रीति-रिवाज में ऐसे सुधार करने चाहिए कि उन्हे अपने देश के रहनेवाले दूसरे लोगो से डर बाकी न रहे क्योकि स्वराज्य क्या दुनिया की कोई ताकत कमजोरो को अत्याचार से नही बचा सकती।'

साराश 'हिन्दू-मुसलिम एकता का मसला निहायत नाजुक है और अगर पूरी एहतियात और धीरज और जब्त और रवादारी से काम न लिया गया तो वह स्वराज्य के आन्दोलन के रास्ते में सबसे बडी रुकावट साबित होगा।'

और वही हुआ। चौरीचौरा के सवाल पर आन्दोलन के यकबयक ठप हो जाने से मुल्क में जो पस्तहिम्मती छायी उसका दूसरा कुछ नतीजा शायद हो भी न सकता था। जवाहरलाल नेहरू ने आगे चलकर अपनी आत्मकथा में इसके बारे में लिखा है —

'यह बिलकुल सभव है कि उसके बाद देश में घटनाओ ने जो दुखद मोड लिया उसमें इस चीज का भी हाथ रहा हो कि एक विशाल आन्दोलन को इस तरह एका-एक ठप कर दिया गया था। उससे राजनीतिक सघर्ष में होनेवाली छिटपुट और निरर्थक हिंसा की प्रवृत्ति चाहे रुक गयी हो लेकिन उस दमित हिंसा को अपने

लिए निकास तो चाहिए ही था और कदाचित् उसी ने, बाद के वर्षों में, साम्प्रदायिक झगडो को और बढाया। असहयोग और सविनय अवज्ञा के आन्दोलन को जनता का जो विराट् समर्थन मिल रहा था उसके कारण तरह-तरह के साम्प्रदायिक लोग, जो अधिकतर राजनीति में प्रतिगामी थे, सर न उठा पाते थे। वह अब सामने आ गये। और भी बहुत से लोग, सरकारी भेदिये और ऐसे लोग जो साम्प्रदायिक झगडे पैदा करके अधिकारियो को खुश करना चाहते थे, इसी रास्ते पर चल पडे। मोपलाओ के विद्रोह से और जिस असाधारण क्रूरता से उसका दमन किया गया — कितनी भयानक चीज थी मोपला कैदियो को रेल के बन्द डिब्बो में भूनकर मार डालना — उससे उन लोगो को, जो साम्प्रदायिक फूट को बढाना चाहते थे, काम करने का मौका मिल ही गया था। यह बिलकुल सभव है कि अगर आन्दोलन बन्द न किया गया होता और सरकार ने उसका दमन किया होता तो साम्प्रदायिक वैमनस्य कम होता

वैसे जमीन इसके लिए बराबर पिछले तीन बरसो से तैयार हो रही थी। जवाहरलाल लिखते है —

'१६२१ में खिलाफत के आन्दोलन को जो महत्व मिला उसके कारण बहुत से मौलवियो और मुसलिम धार्मिक नेताओं ने राजनीतिक सघर्ष में आगे बढकर हिस्सा लिया। उन्होने आन्दोलन को एक स्पष्ट धार्मिक रग दे दिया और मुसलमानो पर आमतौर से उसका बहुत असर पडा। मौलवियो का प्रभाव और उनकी प्रतिष्ठा, जो नये ख़यालात की रोशनी और रहन-सहन के बढते हुए यूरोपियन तौर-तरीको के असर में बराबर कम होती जा रही थी, एक बार फिर बढने और मुसलिम समाज पर छाने लगी। अली भाइयो ने, जो खुद भी धार्मिक प्रवृत्तियो के थे, इस चीज को मदद पहुँचायी, जैसे कि गाधीजी ने भी जो इन मौलवियो और मौलानाओ को अधिक से अधिक सम्मान देते थे। ...

'हमारी राजनीति में जिस तरह धार्मिकता का अश बढता जा रहा था, हिन्दुओ और मुसलमानो दोनो में, उससे मैं कभी-कभी बहुत परीशान हो जाया करता था। मुझे यह चीज़ बिलकुल अच्छी न लगती थी। बहुत-सी बातें जो मौलवी और मौलाना और स्वामी और इस किस्म के लोग अपने भाषणो में कहते थे, मुझको बहुत अफसोसनाक मालूम होती थी। उनका इतिहास और समाजशास्त्र और अर्थशास्त्र, सब कुछ मुझको बिलकुल गलत मालूम होता था और जिस तरह से वह लोग हर चीज को धर्म का रग देते थे, उसके कारण सफाई से किसी सवाल पर सोच सकना असभव हो जाता था। यहाँ तक कि गाधीजी के कुछ शब्द भी मुझे बेतरह खटकते थे — जैसे राम राज ..

बहरहाल, कारण जो भी हो, आन्दोलन रोकने के कुछ ही हफ्ते बाद साम्प्रदायिक झगडो का सिलसिला चला जो काफी लबा चला। सबसे पहले

मुलतान में दंगे हुए, उसी साल १९२२ में। १९२३ का साल भी आरम्भ से ही विषाक्त था। मुहर्रम के मौके पर बगाल और पजाब दोनो ही प्रान्तो में बहुत भयानक दगे हुए।

१५

मुशीजी शातिपूर्वक लमही में बैठे अपने सूरदास की कहानी लिख रहे थे, पर देश में आग लगी हुई थी। बलराज और कादिर, हलधर और फत्तू एक-दूसरे के खून से होली खेल रहे थे। गनीमत इतनी ही थी कि गाँव में यह ज़हर कम, बहुत कम, फैला था। यह बीमारी खास तौर से शहर की थी और पर्दे के पीछे बैठे हुए वही लोग जिनसे हमारी मुलाकात 'सेवा सदन' में हुई थी, किसी तोसरे के इशारे पर डोरियाँ खीच रहे थे। लेकिन शहर हो या देहात, मोटी बात यह थी कि दो हिन्दोस्तानी जो इसी मिट्टी में पैदा हुए और इसी मिट्टी में मिल जायेगे, जिन्हे एक-दूसरे के लिए खून बहाना चाहिए था, इस वक्त एक-दूसरे का खून बहा रहे थे और अंग्रेज मूछो पर ताव दे रहा था। सचमुच यह मुशीजी के लिए परीक्षा की घडी थी। उनका सब कुछ किया-धरा, सोचा-समझा, स्वप्न-आदर्श, मिट्टी में मिला जा रहा था।

विवश होकर उनकी समग्र चेतना कुछ समय के लिए सब तरफ से अपने को खीचकर इसी ओर लग गयी। प्रेस और मकान बनवाने के झमेलो मे 'रगभूमि' की गति यो ही मन्द थी, अब इस चीज ने आकर इस बुरी तरह उनको छा लिया कि भाग नही सके और कैसे भागते, समाज की जिस रगभूमि का चित्र वह खीच रहे थे वहाँ इस समय आग लगी हुई थी, सडको पर बेगुनाहो की लाशें गिर रही थी, औरतो की आबरू लुट रही थी, जहर के बगूले उठ रहे थे, साँस लेते दम घुटता था। हर हर महादेव और अल्लाहो अकबर की सदाएँ कानो में पिघला हुआ सीसा उँडेलती थी। एक तरफ पडे-पुरोहित और दूसरी तरफ मुल्ला-मौलवी — आजकल यही समाज के अगुआ थे। कही हिन्दुओ को कलमा पढाया जाता था, कही मुसलमानो की शुद्धि की जाती थी। बाजे के सवाल पर आरती-नमाज़ के झगडे रोज की चीज हो गये थे। एक गाय की कुर्बानी के लिए दस-बीस आदमियो की कुर्बानी कर देने में भी लोगो को आर न थी। मुसलमान अगर दीन के जोश में अंधे हो रहे थे तो हिन्दू भी उसका जवाब समझदारी से नही दुगने अंधेपन से देने पर तुले हुए थे। ईंट का जवाब पत्थर।

दोनो अपनी गिरोहबदी में लगे थे। लाठियो को तेल पिलाया जा रहा था, छुरो को सान दी जा रही थी। सेनाएँ सज रही थी।

धर्म की ध्वजा आकाश चूम रही थी, देश धूल में लोट रहा था। कगार टूट-टूटकर गिर रहे थे, धर्म की बाढ में।

कोई किसी की एक बात दरगुजर करने के लिए तैयार न था, उल्टे छेडकर लडने की फिक्र रहती थी। अखबारो और किताबो के जरिये एक-दूसरे पर जहर में बुझे हुए तीर छोडे जाते थे। हिन्दू भी इसमें पीछे नही रहना चाहते थे। 'रँगीला रसूल' नाम की किताब उन्ही दिनो पजाब मे छपी थी। रिसाला 'वर्तमान' ने भी इसमें काफी नाम कमाया था। मुसलमानो में भयानक उत्तेजना फैली हुई थी। कोई त्योहार चैन से न बीतने पाता था।

आर्य समाज ने किसी वक्त आजादी की लडाई को सिपाही दिये थे, इस समय सब हिन्दू धर्म के सिपाही थे।

दोनो तरफ बारूद का एक ढेर-सा लगा हुआ था — और चिनगारियो की भी कमी न थी।

जैसे कि मलकाना राजपूतो की शुद्धि, जिसे लेकर हिन्दू बहुत बगले बजा रहे थे।

यह सब एक आँख न भाता था मुशीजी को। गुस्से और दर्द से दिल तडप-तडपकर रह जाता था।

यह नही कि झगडे जितने होते थे उन सबकी जिम्मेदारी हिन्दुओ की थी, और मुसलमान सब दूध के धोये थे।

लेकिन कुछ तो शायद इसलिए कि मुशीजी खुद हिन्दू थे और कुछ इसलिए कि उन्ही का बहुमत था, मुशीजी को हिन्दुओ से ही ज्यादा रवादारी की उम्मीद थी। इसीलिए हिन्दुओ की तगनजरी उन्हे खास तौर पर खली। उसके मुकाबले में मुसलमानो का रवैया उन्हे कही ज्यादा अच्छा, सुलह और समझौते का मालूम हुआ।

और जिस बात की सच्चाई मन में उतर चुकी हो उसको कहने में फिर डर कैसा।

३२ अप्रैल १९२३ को उन्होने निगम साहब को लिखा —

'मलकाना शुद्धि पर एक मुख्तसर मजमून लिख रहा हूँ। मुझे इस तहरीक से सख्त इख्तिलाफ[1] है। आर्य समाजवाले भिन्नायेंगे, लेकिन मुझे उम्मीद है आप 'जमाना' में इस मजमून को जगह देगे।'

निगम साहब ने पूरे नौ महीने उस पर गौर किया। छापने की हिम्मत न पडती थी। ९ जनवरी १९२४ को मुशीजी ने लिखा — 'आपने मेरे मजमून को

---

१ विरोध

मुस्तरद[1] कर दिया । खैर, कोई मुजायका नही । मैने लिख डाला, दिल की आरज़ू निकल गयी । . '

मुशी दयानरायन को शायद कुछ शर्मिन्दगी हुई इस खत से और वह दुबारा अपने फैसले पर गौर करने के लिए मजबूर हुए । और फिर अगले ही महीने 'कहतुर्रिजाल' (मनुष्यता का अकाल) नाम का वह विस्फोटक लेख प्रकाशित हुआ । उसका छपना था कि चारो तरफ तहलका मच गया । मुसलमानो ने उसको हाथो हाथ लिया और हिन्दू गुस्से से दाँत किटकिटाने लगे ।

मुशीजी के लिए दोनो ही चीजे यकसाँ थी । वह न किसी की तारीफ के भूखे थे और न किसी के क्रोध से आक्रान्त, उन्होने तो सच्चे दिल से बस एक आवाज़ उठायी थी, एक ऐसी चीज के लिए जिसकी सच्चाई के बारे में कम-से-कम उनका मन आश्वस्त था । फिर और क्या चाहिए । हो सकता है कि यह केवल अरण्य-रोदन सिद्ध हो, नक्कारखाने में तूती की आवाज़ । मगर उससे क्या । जिस बात को सच जानते हो उसे कहो । अकेली आवाज का भी महत्व होता है ।

अप्रिय सत्य बोलना, गुस्से से बोलना उनका स्वभाव न था । लगनेवाली बात को भी मीठा बनाकर कहने की उन्हे आदत थी, और उसका ढग भी आता था। लेकिन कभी-कभी ऐसा वक्त आता है कि अप्रिय सत्य बोलना पडता है । मुल्क में जब आग लगी हो उस वक्त आदमी शिष्टाचार को देखे कि कौम की जिन्दगी को ?

यह भी ऐसा ही एक वक्त था । ८ जनवरी १९२४ के उसी खत में मुंशीजी ने लिखा था —

'मुझे तो इस वक्त अली बरादरान की सुलहकुल[2] पालिसी फरेफ्ता[3] कर रही है । उनके ख़यालात में जो हैरतअगेज[4] इकलाब हो रहे है, उसको असली शुद्धि समझता हूँ और वही शुद्धि देर-पा[5] हो सकती है ।'

दूसरी तरफ हिन्दुओ की जहालत पर बेपनाह गुस्सा उनके दिल में सुलग रहा था । इसी दिमागी कैफियत में उन्होने बिफरकर 'कहतुर्रिजाल' में लिखा —

● हिन्दू-मुसलिम एकता के बारे में इस वक्त मुसलमान कौम के बडे लोगो ने बार-बार की उत्तेजना के बावजूद जो अच्छी रविश अख्तियार की है, और जिस गम्भीरता और दूरदेशी का परिचय दिया है उस पर हिन्दुओ को शर्मिन्दा होना चाहिए । अब तक उन्हे यह दावा था कि स्वराज्य के लिए हम जितनी कुर्बानियाँ कर सकते है, उतनी मुसलिम सम्प्रदाय नही करता । बह हिन्दोस्तान में रहकर, हिन्दोस्तान का दाना-पानी खाकर अरब और अजम के सपने देखा करता है । उसे स्वराज्य की उतनी फिक्र नही है जितनी पैन-इसलाम की । एक बार जब मौलाना शौकत अली ने किसी खिलाफत के जलसे में कहा था कि अगर मुसलमान

---

१ रद २ शान्तिपूर्ण ३ आकृष्ट ४ आश्चर्यजनक ५ स्थायी

को किसी कौमी काम के लिए एक रुपया देना मजूर हो, तो वह चौदह आने खिलाफत को दे और दो आने काग्रेस को, इस कौल को हिन्दू अखबारो ने बडे निष्ठुर ढग से बहुत ज्यादा महत्व दिया और उसे अपनी बात के प्रमाण के रूप में पेश किया।

इस कौल का तकाजा तो यह था कि हिन्दू महाशय अपने दिल में लज्जित होते कि एक मुसलमान को, जो अपना सब कुछ भारतमाता की नजर कर चुका हो, इस तरह दोनो में भेद करने की जरूरत पडी क्योकि जाहिर है कि अगर हिन्दुओ ने खिलाफत के मसले को महात्मा गाधी की व्यापक दृष्टि से देखा होता तो मौलाना साहब को यह बात कहने का कोई मौका ही न था। मगर सच्चाई यह है कि हिन्दुओ ने कभी खिलाफत के महत्व को ही नही समझा और न समझने की कोशिश की बल्कि उसको सन्देह की दृष्टि से देखते रहे

हम कहते है कि अगर हिन्दुओ में एक भी किचलू, मुहम्मद अली या शौकत अली होता तो हिन्दू सगठन और शुद्धि की इतनी गर्म-बाजारी न होती और उन हगामो में काफी कमी हो जाती जो इस वैमनस्य के कारण दिखायी पडते है। मगर अफसोस के साथ कहना पडता है कि काग्रेस ने भी सामूहिक रूप से इन आन्दोलनो से अलग-थलग रहने के बावजूद व्यक्तिगत रूप से उसमें शामिल होने में कुछ भी उठा नही रक्खा। इतना ही नही, एक भी जिम्मेदार काग्रेस नेता ने ऐलान करके इन आन्दोलना के खिलाफ आवाज बुलन्द करने का साहस नही किया।

आज कौन हिन्दू है जो हिन्दू-मुसलिम एकता के लिए जी-जान से काम कर रहा हो, जो उसे हिन्दोस्तान की सबसे महत्वपूर्ण समस्या समझता हो, जो स्वराज्य के लिए एकता को बुनियादी शर्त समझता हो। कौम का यह दर्द, यह टीस, यह तडप आज हिन्दुओ में कही दिखायी नही देती। दस-पाँच हजार मलकानो को शुद्ध करके लोग फूले नही समाते मानो अपने लक्ष्य पर पहुँच गये, अब स्वराज्य हासिल हो गया। हमें याद नही आता कि आज तक किसी हिन्दू ने वैसे पवित्र, ऊँचे भाव व्यक्त किये हो, जो इस राम-लखन की जोडी ने जेल से निकलते ही, रो-रोकर, भीगी-भीगी आँखो से निकलती हुई दर्द की एक आवाज की तरह व्यक्त किये है। यह है वह राष्ट्रीय भावना जो राष्ट्रो के बेडे पार करती है, उनकी नैया किनारे लगाती है।

हमको यह मानने में कोई सकोच नही है कि इन दोनो सम्प्रदायो के कशमकश और सन्देह और घृणा की जडे इतिहास में है। मुसलमान विजेता थे, हिन्दू विजित। मुसलमानो की तरफ से हिन्दुओ पर बहुत ज्यादतियाँ हुई और यद्यपि हिन्दुओ ने मौका हाथ आ जाने पर उनका जवाब देने में आगा-पीछा नही किया लेकिन कुल मिलाकर यह कहना ही होगा कि मुसलमान बादशाहो ने सख्त से सख्त जुल्म किये। हम यह भी मानते है कि मौजूदा हालत में अजान और कुर्बानी

के मौको पर मुसलमानो की तरफ से ज्यादतियाँ होती है और दगो में भी अक्सर मुसलमानो ही का पलडा भारी रहता है। ज्यादातर मुसलमान अब भी अपनी पुरानी सुलतानी के नारे लगाता है और हिन्दुओ पर हावी रहने की कोशिश करता रहता है। तबलीग के मामले में ज्यादती मुसलमानो ने की और हिन्दुओ की रोज-ब-रोज घटती हुई सख्या के कारण भी किसी हद तक वही है। मगर इन सारे कारणो और दलीलो और घटनाओ को नज़र के सामने रखते हुए हम यह कहना चाहते है कि हिन्दुओ को इससे कही ज्यादा राजनीतिक धैर्य से काम लेने की जरूरत है। इतिहास से उत्तराधिकार में मिली हुई अदावतें मुशकिल से मरती है लेकिन मरती है, अमर नही होती।

हिन्दुओ के त्योहारो और जुलूसो के मौके पर अक्सर मुसलमानो की तरफ से यह तकाजा होता है कि मसजिदो के सामने नमाज़ के मौके पर बाजा और शादियाने न बजाये जायँ। यह बहुत ही स्वाभाविक माँग है। शोर-गुल से निश्चय ही उपासना में विघ्न पडता है और अगर मुसलमान इस शोर-गुल को बन्द करने पर जोर देते है तो हिन्दुओ को चाहिए कि वह उनकी दिलजोई करें।

अगर धर्म का आदर करना अच्छा है तो हर हालत में अच्छा है। इसके लिए किसी शर्त की जरूरत नही। अच्छा काम करने वालो को सब अच्छा कहते है। दुनियाबी मामलो में दबने से आबरू में बट्टा लगता है, दीन-धर्म के मामले में दबने से नही। गोकुशी के मामले में हिन्दुओ ने शुरू से अब तक एक अन्याय-पूर्ण ढग अख्तियार किया है। हमको अधिकार है कि जिस जानवर को चाहे पवित्र समझे लेकिन यह उम्मीद रखना कि दूसरे धर्म को माननेवाले भी उसे वैसा ही पवित्र समझे ख़ामख़ाह दूसरो से सर टकराना है। गाय सारी दुनिया में खायी जाती है, उसके लिए क्या आप सारी दुनिया को गर्दन मार देने के काबिल समझेंगे ?

अगर हिन्दुओ को अभी यह जानना बाकी है कि इन्सान किसी हैवान से कही ज्यादा पवित्र प्राणी है, चाहे वह गोपाल की गाय हो या ईसा का गधा, तो उन्होंने अभी सभ्यता की वर्णमाला भी नही समझी। हिन्दोस्तान जैसे कृषि-प्रधान देश के लिए गाय का होना एक वरदान है, मगर आर्थिक दृष्टि के अलावा उसका और कोई महत्व नही है। ●

अपनी इसी विप्लवी सामाजिक दृष्टि से मुशीजी इस हिन्दू-मुसलिम खीच-तान के पीछे काम करनेवाले असली हाथो को देख लेते है —

'हिन्दुओ में इस वक्त गम्भीर नेताओ का अकाल है। हमारा नेता वह होना चाहिए जो गम्भीरता से समस्याओ पर विचार करे। मगर होता यह है कि उसकी जगह शोर मचानेवालो के हिस्से में आ जाती है जो अपनी जोरदार आवाज़ से जनता की छिपी हुई भावनाओ को उभाडकर उन पर अपना अधिकार जमा लिया

करते है। वह कौम को दरगुज़र करना नही सिखाता, लडना सिखाता है, उसका फायदा इसी में है। कोई आदमी ऐसी उल्टी बुद्धि का नही हो सकता कि उसे इस नाज़ुक मौके पर दोनो सम्प्रदायो की आपसी खीच-तान के नतीजे न दिखायी दे और अगर है तो हमें उसकी सद्भावना में सन्देह है। इस सदेह की पुष्टि इस कारण से और भी होती है कि इस आन्दोलन के शुरू करनेवाले और कार्य-कर्त्ता अधिकतर वही लोग है जो राजनीतिक मामलो में हिस्सा लेने से कावा काटते रहते है या उसमें हिस्सा लेते भी है तो आबरू बचाये हुए, वर्ना हिन्दू सगठन के बनारस में आयोजित जलसे में जमीदारो और राजाओ की इतनी बडी सख्या न दिखायी देती। जिधर देखिए राजे-महराजे और सेठ-महाजन ही नज़र आते थे। उनके पीछे चलनेवालो में अधिकाशत वे लोग थे जिनका पुश्तैनी पेशा गुलामी है, जिन्हे शुरू से यह शिकायत है कि मुसलमान सरकारी नौकरियाँ हडप कर जाते है और हमारा हाल पूछनेवाला कोई नही है, जिनके लिए एक मुसलमान सब-इसपेक्टर या कुर्क अमीन की नियुक्ति चीन के इन्कलाब या तुर्की की फतेह से ज्यादा बडी घटना है।'

गुस्सा जो भीतर उबल रहा था, कागज के पन्ने पर उतर आया। सख्त-सुस्त जो उन्हे अपनी हिन्दू बिरादरी को कहना था, उन्होने कह लिया। लेकिन उससे होता क्या है, खूँखार नफरत का वह अजदहा अब भी वैसे ही मुँह बाये खडा था और अपनी गर्म-गर्म ज़हरीली साँसो के बगूले छोड रहा था।

कोई और जाने या न जाने, मुशीजी खूब जानते है कि मात्र राजनीतिक एकता से, और वह भी चोटी के कुछ नेताओ की, ज्यादा कुछ होना-जाना नही है। फसाद की जडें बहुत गहरी है और उसके अनेक नाम है, रूप है, स्तर है। इतिहास का बहुत-सा कूडा-करकट है। वर्तमान सामाजिक जीवन के बहुत से झाड-झखाड को साफ करना होगा। यह एक लम्बा सघर्ष होगा, कठिन सघर्ष होगा। केवल एकता का नाम जपने से एकता नहीं होगी, उस जहर को तो मारो जो दोनो के दिलो में रिस रहा है।

निर्मम, निर्भीक सत्य और न्याय — इस सघर्ष में यही दो तुम्हारे सबल होगे, बाकी सारे हित-नेत छूट जायँगे। लेकिन डरो मत। सच्चाई से अपनी बात कहो और पूरी बात कहो।

बदनामी से भी न डरो। वह तो मिलेगी और भरपूर मिलेगी और दोनो तरफ से मिलेगी। दो झगडनेवालो के बीच में आनेवाले आदमी को अकसर दोनो ही के तमाचे खाने पडते है। वही तो उसका पुरस्कार है।

लोगो का दिमाग सही नही है। वह तुम्हारे बारे में क्या सोचेंगे-कहेगे, इसकी चिन्ता छोड दो।

सत्य और केवल सत्य का आश्रय लेनेवाले इसी मुक्त निर्द्वन्द्व भाव से मुशीजी

ने 'कहतुर्रिजाल' लिखा था — अप्रैल १६२३ में। उसके छपते-छपते फर्वरी का महीना आ गया। दगो का जोर घटने के बजाय बराबर बढता ही जा रहा था। यहाँ तक कि सन् २४ का साल तो उन सबसे आगे बढ गया — दिल्ली, गुलबर्गा, नागपुर, जबलपुर, लखनऊ, इलाहाबाद, शाहजहाँपुर, एक के बाद एक सभी शहरो में दगे हुए और उनमें भी सबसे भयानक उत्तर-पश्चिम सीमान्त प्रदेश में कोहाट का दगा था, ६-१० सितम्बर १६२४ को, जिसमें हिन्दू बुरी तरह मारे गये और हजारो की सख्या में अपना घर-बार छोडकर भागने पर मजबूर हुए।

उसके कारणो की जाँच करने के लिए काग्रेस ने गाधीजी और मौलाना शौकत अली की एक कमेटी नियुक्त की। दोनो ने कोहाट जाकर मामले की जाँच की, लेकिन उसके कारण के सम्बन्ध में उनका मत एक न हो सका।

गाधीजी को इन दगो से गहरा मानसिक कष्ट हो रहा था और उन्होने उनकी पूरी ज़िम्मेदारी अपने ऊपर लेते हुए इक्कीस दिन के अनशन की घोषणा की — जो काफी खतरे की बात थी क्योकि अभी हाल ही में उनका अपेण्डिसाइटिस का बहुत सगीन आपरेशन हुआ था और इसी के सिलसिले में उन्हे वक्त से पूरे चार साल पहले, बिना शर्त जेल से रिहा कर दिया गया था। इस अनशन की घोषणा से देश थर्रा उठा। गाधी जी उन दिनो दिल्ली में मौलाना शौकत अली के घर पर ही थे। इस अवसर का लाभ उठाकर उन्ही दिनो २६ सितम्बर से लेकर २ अक्टूबर तक दिल्ली मे सब सम्प्रदायो के नेताओ को बुलाकर एकता सम्मेलन का आयोजन हुआ।

इधर मुशीजी ने ३० सितम्बर १६२४ को निगम साहब को लिखा —

'हिन्दू-मुसलिम फसादात का सिलसिला जारी है। मैंने पहले ही पेशीनगोई की थी। वह हर्फ-ब-हर्फ सही साबित हो रही है। हिन्दू सभा दिल्ली में भी शायद समझौता न होने दे। लखनऊ में ज्यादती हिन्दुओ की तरफ से हुई मगर बाद को किसी ने मुँह न दिखाया।'

इसमें शक नही, बहुत बुरा जमाना था। चारो तरफ दगे हो रहे थे और क्या हिन्दू क्या मुसलमान सबके दिमागो पर उन्ही दगो का ज़हर फैल रहा था। काग्रेस के भी तमाम लोग उसी रग में रँगे जा रहे थे।

बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' ने मुशीजी को याद करते हुए उन्ही दिनो के बारे में लिखा ● एक बार वे प्रताप कार्यालय पधारे। मै उन दिनो प्रताप का सपादन करता था। मेरे एक उप-संपादक किंचित् विवादी मनोभावना के थे। बातचीत में हिन्दू-मुसलिम प्रश्न उठ आया। मेरे उप-सपादक महाशय आवेश में आकर बोले, 'इस साम्प्रदायिकता को रोकने का दूसरा कोई उपाय नही है। हमें ईंट का जवाब पत्थर से देना होगा। तभी काम चलेगा।' प्रेमचन्दजी मुस्कराते हुए सुनते रहे। जब उन महाशय की त्वेषमयी वाणी रुकी तो वे अत्यन्त साधारण स्वर में बोले, 'अरे भाई, इस समय मुसलमानो का मानस रोगयुक्त है। .. पागलो के साथ हम

भी पागल बन जायँ तो कैसे काम चलेगा ?' वे महाशय बल खाकर पूछ बैठे, 'क्यो साहब, अगर पागल हमारे सामने पेशाब करने लगे तो हम क्या करें ?'

प्रेमचन्दजी ने शान्ति से कहा, 'जरा दूर हटकर खडे हो जाओ।'

— और अगर वहाँ भी आकर वह यही हरकत करे तो ?

— जरा और दूर हट जाओ।

मगर वह हज़रत थे हुज्जती, इतने पर भी न माने, बोले — और जो वहाँ भी आकर वह यही हरकत करे ?

तब मुशीजी ने कहा — अमाँ, यह कैसे हो सकता है, वह भलामानस कोई मशक थोडे ही बाँधे है जो यहाँ-वहाँ सब जगह मूतता ही जायेगा !

'कहतुर्रिजाल' को छापने में निगम साहब को नौ महीने लगे। उसी बीच पाँच महीने में, मुशीजी ने वही लमही में रहते हुए, एकता (और स्वराज्य, जो दोनो मुशीजी के लिए एक ही चीज़ के दो नाम या दो पहलू है) की एक सुन्दर कहानी 'बौडम' लिखी और लिखा एक नाटक जिसका नाम 'कर्बला' था। मुसलिम इतिहास और परम्परा के अच्छे और नेक पहलुओ से हिन्दुओ को परिचित कराने के लिए 'हजरत अली' और 'नबी का नीति-निर्वाह' — जैसी चीजें भी इसी समय लिखी गयी। उन्माद से लडना है। आलस्य करने से नही बनेगा। अपनी पूरी शक्ति लगा देनी होगी इस बाढ को रोकने में।

कर्बला की सूचना निगम साहब को देते हुए मुशीजी ने १७ फर्वरी १९२४ को लिखा था —

'मैंने इधर पाँच महीने में अपने नाविल रगभूमि के साथ एक ड्रामा लिखा है जिसका नाम है कर्बला। इसमें कर्बला के वाकयात पर तारीखी हैसियत को कायम रक्खे हुए एक ड्रामा लिखा गया है। मैंने खत तो हिन्दी रखा है मगर ज़बान सरासर उर्दू है। ख्वाह हिन्दी पब्लिक इसको कद्र न करे पर मैंने मुसलमान कैरेक्टरो की जबान से फसीह[1] हिन्दी निकलवाना बेमौका समझा। नाटक इसी हफ्ते में मतबे[2] में चला जायगा। मेरे ही मतबे में। इस वक्त नजरसानी कर रहा हूँ। मैं इसे सिलसिलेवार ज़माना में दे दूँ तो क्या राय है ? किस्सा निहायत दिलचस्प है, निहायत दर्दनाक। मैंने माधुरी में कर्बला पर एक मजमून लिखा था जिसकी कद्र भी काफी हुई। कोई वजह नही कि उर्दू में ड्रामा मकबूल न हो। उसमें मुझे मज़मून-निगारी न करनी पडेगी, सिर्फ खत[3] तब्दील कर देना पडेगा। बाद को यह सिलसिला किताबी सूरत में निकल जायगा। इसका यकीन रखिए कि मैंने एहतराम[4] को कही नजरअन्दाज़ नही होने दिया है। एक-एक लफ्ज पर इस बात

१ प्राजल २ प्रेस ३ लिपि ४ सम्मान

का ख़याल रखा है कि मुसलमानो के मजहबी एहसासात[1] को सदमा[2] न पहुँचे। मकसद है पोलिटिकल — बाहमी[3] इत्तहाद को बढाना, और कुछ नही।'

कर्बला की लडाई में उनको अपनी मनचाही विषयवस्तु मिल गयी। हजरत हुसेन कर्बला के मैदान में शहीद हुए थे। मुहर्रम उसी की याद और उसी का मातम है। अक्सर दगे मुहर्रम के मौके पर हुआ करते थे और इसे एक व्यग ही कहना चाहिए कि उसी मुहर्रम की विषयवस्तु में मुशीजी को एकता का आधार मिल गया।

नाटक की भूमिका में मुशीजी ने लिखा था — 'कितने खेद और लज्जा की बात है कि कई शताब्दियो से मुसलमानो के साथ रहने पर भी अभी तक हम लोग प्राय उनके इतिहास से अनभिज्ञ हैं। हिन्दू-मुसलिम वैमनस्य का एक कारण यह भी है कि हम हिन्दुओ को मुसलिम महापुरुषो के सच्चरित्रो का ज्ञान नही। जहाँ किसी मुसलमान बादशाह का जिक्र आया कि हमारे सामने औरगजेब की तस्वीर खिच गयी। लेकिन अच्छे और बुरे चरित्र सभी समाजो में सदैव होते आये है और होते रहेंगे।

दूसरी प्रेरणा यह थी कि इस कर्बला की लडाई में कुछ हिन्दू भी हजरत हुसेन के साथ लडे थे। इसके बारे में मुशीजी ने अपनी भूमिका में लिखा — 'पाठक इसमें हिन्दुओ को प्रवेश करते देखकर चकित होगे परन्तु वह हमारी कल्पना नही है, ऐतिहासिक घटना है। आर्य लोग वहाँ कब और कैसे पहुँचे, यह विवाद-ग्रस्त है। कुछ लोगो का ख़याल है, महाभारत के बाद अश्वत्थामा के वशधर वहाँ जा बसे थे। कुछ लोगो का यह भी मत है, ये लोग उन हिन्दुओ की सन्तान थे, जिन्हे सिकदर यहाँ से कैद कर ले गया। कुछ हो इस बात के ऐतिहासिक प्रमाण है कि कुछ हिन्दू भी हुसेन के साथ कर्बला के सग्राम में सम्मिलित होकर वीरगति को प्राप्त हुए थे।' — यानी कि देखो, आज हम-तुम एक-दूसरे का खून बहा रहे है और एक दिन वह था जब हमारे पुरखो ने एक साथ मिलकर अपना खून बहाया था!

लेकिन इतने से ही बस नही है। स्वाधीनता-सग्राम भी उसी के साथ घुला-मिला है। कर्बला का युद्ध भी धर्मयुद्ध था और यह स्वाधीनता का युद्ध भी धर्म-युद्ध है। उन हुसेनी हिन्दुओ के मुँह से भारतस्तुति कराना भी मुशीजी नही भूले।

मगर किताब अभागी थी, इसमे सन्देह नही। मुशीजी ने उसे अपने प्रेस में छापना शुरू कर दिया था सही, लेकिन प्रेस बेचारा तो खुद कौडी-कौडी को मुहताज हो रहा था। लेनदार तकाजो के मारे नाक में दम किये हुए थे। आख़िरकार मुशी ने मजबूर होकर उसका मुआमला दुलारे लाल भार्गव से किया, छपी हुई किताब

---

१ भावनाओ २ ठेस ३ आपसी

लागत पर उन्हे दे दी और फिर उन्ही के यहाँ से नवबर १६२४ में उसका प्रकाशन हुआ।

चलिए, जैसे-तैसे छप तो गयी। उर्दू में तो उसकी और भी बुरी हालत हुई। पुस्तक के रूप में तो 'कर्बला' शायद कभी निकली भी नही, 'जमाना' में धारावाहिक निकलना भी आसान नही हुआ—इस बार मुसलमान पाठको के भय से, वैसे ही जैसे पिछले साल हिन्दू पाठको का भय 'कहतुर्रिजाल' के छपने में आडे आया था। कौन जाने एक हिन्दू लेखक के कलम से कर्बला का जिक्र मुसलमानो को पसन्द न आये।

बडी उमग से मुशीजी ने यह नाटक लिखा था, 'एहतराम को कही नजरअदाज नही होने दिया था, एक-एक लफ्ज पर इस बात का ख्याल रक्खा था कि मुसलमानो के मजहबी एहसासात को सदमा न पहुँचे,' नार्मल स्कूल के अपने एक दोस्त मुशी मुनीर हैदर कुरैशी से उसका तर्जुमा हिन्दी से कराके एडीटर जमाना को भेजा था और यकीनन् इस उम्मीद से भेजा था कि उस आग और खून में लिथडे हुए जमाने में सब लोग उनके इस काम की दाद देगे। लेकिन जब दूसरो की कौन कहे कुछ मुसलमान बन्धुओ ने ही, जिनमें जमाना दफ्तर के भी कुछ लोग थे, उस पर नाक-भौ सिकोडी तो उनका जी खट्टा हो गया। कितना ठीक कहा है, होम करते हाथ जलता है!

बहुत दुखी मन से मुशीजी ने २२ जुलाई सन् २४ को निगम साहब को लिखा—

● बेहतर है कर्बला न निकालिए। मेरा कोई नुकसान नही है। न मैं मुफ्त का खलजान[1] सर पर लेने को तैयार हूँ। मैंने हजरत हुसेन का हाल पढा, उनसे अकीदत[2] हुई, उनके जौके-शहादत[3] ने मफ्तूँ[4] कर लिया। उसका नतीजा यह ड्रामा था। अगर मुसलमानो को यह भी मजूर नही है कि किसी हिन्दू की जबान व कलम से उनके किसी मजहबी पेशवा या इमाम की मद्हसराई[5] भी हो तो मैं इसके लिए मुसिर[6] नही हूँ। इस कार्ड का जवाब देना तो फिजूल है, हाँ हजरत अहसन के नोट के मुताल्लिक कुछ अर्ज करना चाहता हूँ।

आप फरमाते है कि शिया हजरात यह नही पसन्द कर सकते कि उनके किसी मजहबी पेशवा का ड्रामा तैयार किया जाय। शिया हजरात अगर मजहबी पेशवा की मसनवी पढते है, अफसाने पढते है, मर्सिये सुनते और पढते है तो उन्हे ड्रामा से क्यो एतराज हो? क्या इसलिए कि एक हिन्दू ने लिखा है!

तारीख[7] और तारीखी ड्रामा में फर्क है, जैसा आप खुद तसलीम करते है। तारीखी ड्रामा खास कैरेक्टरो में तो कोई तगैयुर[8] नही कर सकता, मगर सानवी[9] कैरेक्टरो के तबद्दुल और तर्मीम, यहाँ तक कि तखलीक[10] में भी उसे आजादी है।

---

१ झंझट २ श्रद्धा ३ बलिदान-भावना ४ मोहित ५ स्तुति
६ आग्रहशील ७ इतिहास ८ परिवर्तन ६ गौण १० सृष्टि

हज़रत असगर की उम्र ६ माह की थी, लेकिन बाज रिवायतों में ६ साल की भी लिखी हुई है। मैने वही रिवायत अख़तियार की जो मेरे मुआफिक हाल थी। अगर बिलफर्ज ऐसी रिवायत न भी हो तो हजरत असगर इस ड्रामे के कोई ख़ास कैरेक्टर नही है।

यजीद की इख़लाकी हैसियत मुझसे कही ज्यादा पस्त मुअर्रख़ीन[१] ने कर दी है। मैं मजबूर था। मैने तो सिर्फ उसकी शराबख़ोरी और ऐशपसन्दी का जिक्र किया है। शराबख़ोर था ही। खुलफाए राशिदीन के बाद और जितने खुलफा हुए सब पीते थे और धडल्ले से पीते थे। देखिए यजीद के मुताल्लिक मौलाना अमीर अली क्या फरमाते है —

Yezid was both cruel and treacherous; his depraved nature knew no pity or justice His pleasures were as degrading as his companions were low and vicious. Drunken riotousness prevailed at court

तारीखी हैसियत से आपने साहस राव के तदाखुल[२] पर एतराज किया है। बेशक कदीम रिवायत में उसका कोई जिक्र नही है। मगर एक रिवायत है जो मैने रिसाला 'आईना' इलाहाबाद से ली है। मुमकिन है वह रिवायत गलत हो लेकिन अगर मान लीजिए जेबे-दास्तान[३] ही के लिए ली गयी है तो ड्रामा तारीख तो नही है। इससे किसी तारीखी कैरेक्टर पर असर नही पडता। इन कैरेक्टरो का मशा है हिन्दुओ का हजरत हुसेन पर फिदा हो जाना। उनका वजूद[४] भी इसीलिए हुआ है। यह ड्रामा तारीखी होने के साथ पोलिटिकल है।

अदबी हैसियत के मुताल्लिक आपके एतराज को बसरो-चश्म[५] तसलीम करता हूँ। मैने कभी अदीब होने का दावा नही किया। मुझे लोग जबरदस्ती इन्शापरदाज और सेह्रनिगार[६] और अल्लम-गल्लम लिख दिया करते है। मैं बात को सीधी तरह सीधी जबान में कह देता हूँ। रगआमेजी और इन्शापरदाज़ी से कासिर हूँ और जब ड्रामा इसलिए तैयार किया गया है कि हर ख़ास-ओ-आम इसे पढे तो जबानआराई[७] और भी बेमौका हो जाती है। बहरहाल मैं ड्रामे की इशाअत के लिए मुसिर नही हूँ। इसलिए यह बहस मुल्तवी और खत्म हो गयी। ख्वाजा हसन निजामी ने कृष्ण बीती लिखी, एक हिन्दू नक्काद ने उसकी तारीफ की, सिर्फ इसलिए कि मौलाना ने कृष्ण से अपनी अकीदत का इजहार किया था। मेरा भी यही मशा (था)। अगर हसन निजामी को वह आज़ादी हासिल है और मुझे नही है तो मुझे इसका अफसोस नही। ●

---

१ इतिहासकारो २ प्रवेश ३ कथा के अलकरण ४ जन्म ५ सर-आँखो पर ६ कलम का जादूगर ७ भाषा की सजावट

इन्ही कागजी घोडो के दौडने में, छापें कि न छापें इसी हैस-बैस में पूरे दो बरस निकल गये और इसे नियति का बहुत ही क्रूर व्यग्य समझना चाहिए कि जब दो बरस बाद उसके छपने की नौबत आयी (जुलाई १९२६ से अप्रैल १९२८ तक क्रमश प्रकाशित) तब तक उसकी सामयिक उपयोगिता में रत्तीभर अन्तर न आया था ! मारकाट के बाजार में कही मन्दी या गिरावट का नाम न था ! क्या २५ और क्या २६ और क्या २७ और क्या .

यह मई २५की ही बात है कि गाधीजी ने कलकत्ते के ही मिर्जापुर पार्क में बोलते हुए कहा था कि अगर खून बहाना जरूरी हो तो फिर मर्दा की तरह जी खोलकर एक-दूसरे का खून बहाओ, काट फेको ममता-माया को, व्यर्थ का आडम्बर है !

सन् २६ के पैर भी वैसे ही खूनी कीचड में सने हुए थे। ६ अप्रैल १९२६ को लार्ड इरविन ने भारत में पदार्पण किया और, जैसे कि उनके स्वागत के लिए, ५ अप्रैल को कलकत्ते में ऐसा भयानक दगा हुआ जैसा कि मुल्क ने उसके पहले देखा न था। सैकडो मरे और घायल हुए। न जाने कितनी दुकानें लुटी, कितने घरो को आग लगायी गयी, कितनी औरतो को हैवानो ने अपनी भूख का चारा बनाया।

सन् २७ उनसे भी दस कदम आगे निकल गया। सबसे भयानक दगा ३ और ७ मई के बीच लाहौर में हुआ —जो कि 'रँगीला रसूल' की अतिम विदाई थी। हाईकोर्ट ने उसके अभियुक्तो को बरी कर दिया था।

उस साल देश भर मे कुल मिलाकर पच्चीस दगे हुए, जिनमें से दस अकेले सयुक्तप्रान्त में हुए। सैकडो मरे, हजारो घायल हुए। लेकिन साहब, यह मुशी जी भी अपने ढग के एक ही आदमी है। हवा जितनी ही प्रतिकूल बहती है, उनका जोश उतना ही ज्यादा उभरता है। कमाल है कि थकावट भी नही मालूम होती। साल के साल ...

हल की मूठ नही पकडी कभी, मगर जीवट उसी किसान का है जो ऊसर-बजर को जोतने का कलेजा रखता है, बरखा हो बूंदी हो, ओला हो पाला हो ..

और अर्जुन का एकोन्मुख लक्ष्य। ठेस लगी, गहरी ठेस लगी उर्दू 'कर्बला' को लेकर, कुछ अदाजा हुआ कि खाई कितनी गहरी है, जहर कितना जहरीला है।

मगर उससे क्या। यह भी एक अनुभव है। काम तो जो करना है, करना है। कठिन काम है, टेढ़ा काम है, इसीलिए तो और भी करना है। इन छोटे-मोटे झटको से उसका क्या बनता-बिगडता है। जिस रास्ते को एक बार ठीक समझकर पकड लिया उस पर तो फिर चलना होगा आखीर तक . . वह आसान रास्ता भी नही है, वक्ती समझौतो का, जैसा कि राजनीतिक नेता समझते है। उससे कुछ नही होने का, कुछ भी नही। वह तो निर्मम सघर्ष का रास्ता है, हर झूठ के खिलाफ, हर पाखड के खिलाफ, सच्चाई की तह तक पहुँचने के लिए।

न इसके साथ मुरौवत, न उसके साथ। मन के भीतर विष की एक गाँठ है, सबके। उसको पहले काटना होगा। फिर नये मन की रचना होगी, नयी साफ मिट्टी से, नये साफ पानी से

लेकिन यह सब तो बहुत आगे की बाते है।

अभी १९२२ की जनवरी-फर्वरी है और स्कूल के मैनेजर महाशय काशीनाथ से मुशीजी की अनबन इधर महीनो से चल रही है। हर रोज एक न एक फितना खडा रहता है। महाशय जी को सबसे बडी शिकायत मुशीजी से यह है कि उनका प्रबन्ध कच्चा है, कोई ठीक से काम नही करता, न चपरासी, न मास्टर, सब अपने मन के राजा हो रहे है, अनुशासन का तो जैसे नाम-निशान ही मिट गया! उनके पास भीखने को, खुचड निकालने को हरदम एक न एक कारण उपस्थित रहता। मुशीजी बहुत बार तो सुनी-अनसुनी कर जाते लेकिन कभी उन्हें बात बुरी भी लग जाती। यह ठीक है कि मुशीजी मे वह प्रबध-पटुता नही थी जिसका एक जरूरी हिस्सा मातहतो की डाँट-फटकार है। महाशय काशीनाथ को दूसरा कुछ आता न था। अब तक इसी ढग से उन्होने काम चलाया था। मुशीजी बडी शान्ति से, मेल-मुहब्बत से काम करने के आदी थे। मुमकिन है इससे काम में कही कुछ ढीला-पन भी आ जाता हो, लेकिन मुशीजी को वह ढीलापन भी मजूर था, डाँट-फट-कार करते रहना मजूर नही था। इस तरह दो विरोधी स्वभावो के टकराव के लिए पहले रोज से जमीन मौजूद थी। प्राइवेट स्कूल का मैनेजर अपने को सहज ही स्कूल का बादशाह समझता है! टक्करे होने लगी। फडके जी का कहना है कि इन झगडो की सबसे बडी वजह महाशय काशीनाथ की खुचडबाजी थी।

फडकेजी शुरू से मारवाडी विद्यालय में थे। मुशीजी के साथ भी उन्होने काम किया और मुशीजी के चले जाने पर स्कूल के हेडमास्टर बने।

महाशय काशीनाथ मुशीजी से भले नाराज़ हो पर मास्टर सब बहुत खुश थे। मुशीजी का सबसे दोस्ताना था, इटरवल में सब लोग उन्ही के कमरे में जमा होते और मुशीजी दिन भर की ख़बरें और जाने कहाँ-कहाँ के चुटकले सुनाया करते। आनन-फानन वक्त बीत जाता। मुमकिन है यह भी महाशयजी को बुरा लगता हो, क्योकि आम तौर पर हेडमास्टर अपने मातहतो से इतना दोस्ताना कायम करते नही देखे जाते। फडकेजी का कहना है कि मुशीजी कभी किसी मास्टर के काम में दख़ल नही देते थे, यहाँ तक कि मुआइने के लिए दर्जो में भी न जाते थे।

बेहद सादगी से, दानाखोरी में एक छोटा-सा मकान लेकर रहते थे। खुद खुर्री चारपाई पर बैठते और मुलाकातियो के लिए भी बस लकडी की दो-एक कुर्सियाँ रख छोड़ी थी।

कोई टीमटाम नही, कुर्सी की शान नही — कौन जाने ये बाते भी महाशय जी को अच्छी न लगी हो ।

बहरहाल कारण जो भी रहा हो, दोनो की अनबन अपनी जगह पर एक अटल सच्चाई थी और महाशयजी की जिस 'हमदर्दी' और 'सलामतरवी' का बखान मुशीजी ने इस नौकरी पर आते समय आज से करीब आठ महीने पहले किया था, उसका अब कही नाम भी न था । और मुशीजी ऐसे मामलो में कब किसी को माफ करनेवाले । अपने दिल का बुखार (इस रहस्य का उद्घाटन भी फडके जी ने ही किया) उन्होने 'त्यागी का प्रेम' नाम की एक कहानी लिखकर उतारा जिसमें महाशयजी के एक प्रेम-काण्ड पर छीटेंकशी थी । आखिरकार साल भी पूरा नही होने पाया और मुशीजी ने 'बहुत तग आकर' २२ फर्वरी १९२२ को वहाँ से इस्तीफा दे दिया । पीछे, १४ जुलाई सन् २२ के अपने खत मे, मुशीजी ने बनारस से निगम साहब को लिखा — 'मुझे मारवाडी स्कूल मे जितनी तकलीफ हुई उतनी कही और हो ही नही सकती । मालूम नही महाशय से मेरी क्यो अनबन हो गयी ।'

आठ महीने के भीतर यह सब खेल-तमाशा खत्म हो गया और मुशीजी फिर बनारस पहुँच गये । इस बार नौकरी उनके लिए जैसे पहले से रक्खी थी । बाबू शिवप्रसाद गुप्त ज्ञानमण्डल से 'मर्यादा' नाम का एक मासिक निकालते थे, जिसका सम्पादन बाबू सम्पूर्णानन्द करते थे । वह असहयोग आन्दोलन में उन्ही दिनो पकडे गये और स्थानापन्न सम्पादक के रूप में प्रेमचन्द की नियुक्ति हो गयी । काफी उत्साह में भरकर उन्होने २६ अप्रैल को निगम साहब को लिखा — 'हिन्दी में आज कल नये रिसालों की धूम है । लखनऊ से एक निकल रहा है, दूसरा कलकत्ते से । दोनो बडी-बडी तैयारियाँ कर रहे है । मजामीन की फरमाइशें रोजाना मौसूल होती है । इसलिए उर्दू लिखने की तरफ खयाल ही नही गया ।'

देहात में रहते थे । 'मर्यादा' में काम करते थे । रोज शहर जाना-आना — जैसा कि गाँव में और भी बहुत से लोग करते थे — लेकिन काम अपने मन का था और मुशीजी सारी थकान के बावजूद खुश थे । पर इसमें सन्देह नही कि अपने जी के बहुत से जजाल उन्होने एक साथ ही पाल लिये थे । पैसे हाथ में गिनती के और इधर घर बन रहा था, उधर शहर में प्रेस की तैयारी हो रही थी । पुराना, पुश्तैनी घर अब सब के रहने के लिए छोटा पडता था, इसलिए यह खयाल पैदा हुआ कि एक बैठक बन जाय तो कम से कम उठने-बैठने का सुभीता हो जाय — और फिर वही बैठक बढते-बढते एक पक्का तिमजिला मकान बनती जा रही थी । और उसके साथ ही मुशीजी की परीशानियाँ भी तिमजिला होती जा रही थी । यहाँ तक कि मकान शुरू करने के कुछ ही रोज बाद उनको अपनी गलती समझ में आयी और उन्होने २४ जून १९२२ के अपने खत में निगम साहब को लिखा —

'अगर मुझे मालूम होता कि इस कदर जल्द मुझे प्रेस खोलना पडेगा तो मैंने तामीरे मकान में हाथ न लगाया होता जिसमें अभी तक तकरीबन दो हजार सर्फ हो चुके हैं और प्लास्टरिंग, फर्श वगैरह का काम बाकी है .. '

अगर मुझे मालूम होता ! सरासर अपने को धोखा देने की बात है। मालूम तो हजरत को इस्तीफा देने के रोज से था कि अब वह प्रेस खोलेगे ! दूरदेश भी वह अपने को किसी से कम नही समझते ! लेकिन लोग जो कुछ पट्टी पढा देते है — उस गरीब का इसमें क्या कसूर ! बहरहाल अब तो गलती हो ही गयी और मकान जब इतना बनकर खडा हो गया तो जैसे भी हो उसे पूरा करना ही होगा। उधर प्रेस अलग जान को पडा था। जैसे-तैसे कुछ लडाई के बॉण्ड बेचकर, जो उस वक्त खरीदे थे, और अपनी दूसरी सब लेई-पूँजी जोड बटोरकर करीब चार हज़ार रुपये खडे हुए लेकिन उतना काफी न था — ' मुझे प्रेस के लिए फिलहाल पाँच हजार दरकार होगे। प्रेस जमते-जमाते एक हजार लग जायेंगे। प्रेस को चलाने के लिए एक हजार की फिक्र और है। मैंने चार हजार का इन्तजाम कर लिया है। एक हज़ार मेरे इन्दौरी भाई साहब दे रहे है। अभी कम अज कम एक हजार की और ज़रूरत है। आपके यहाँ से सात सौ मिल जाये तो गोया एक छोटे से सेकण्ड हैण्ड ट्रेडिल का दाम निकल आये। .... यह समझ लीजिए कि प्रेस खुल जाने के बाद मेरे अकाउण्ट मे एक कौडी भी न रहेगी। इस दाँव पर अपना सब कुछ रखकर किस्मत आज़मा रहा हूँ। देखूं क्या नतीजा होता है।' वैसे मुशीजी को अपनी जगह पर यह भी यकीन है कि साल के अन्दर मैं इस काबिल हो जाऊँगा कि घर बैठे दो-ढाई सौ पैदा कर सकूं।

सारी जिन्दगी यही सपना देखते रहे कि घर बैठे इतना मिल जायगा कि दाल-रोटी की चिन्ता से मुक्त होकर अपना लिखना-पढना कर सकूँगा लेकिन सपना सपना रह गया। मगर कोई पूछे कि यह जुआ खेलने की ऐसी क्या जरूरत थी आपको ! अब तो आपको अपनी किताबो के लिए प्रकाशक का भी टोटा नही था, क्या जरूरत थी इस तरह लँगोटी पर फाग खेलने की ! मजे में अपने नाविल लिखते, कहानियाँ और लेख भी महीने में चालीस-पचास दे ही मरते, और आप खामोशी से अपने एक कोने में पडे रहते, न ऊधो के लेने में न माधो के देने में। मगर नही दिमाग का कीडा भी तो कोई चीज है ! बहुत पुराना कीडा है, बरसो से काट रहा है ! बडी-बडी योजनाएँ है जिनकी सफलता असदिग्ध है, कम से कम कागज़ के पन्ने पर ! कोई भी काम शुरू करने के पहले उसका हिसाब जरूर अच्छी तरह फैलाकर देख लिया जाता है, यह आप कभी नही कह सकते कि वह आँख मूँदकर कूद पडते है इस तरह के धधो में ! जी नही, वह आँख खोलकर गड्ढे मे कूदते है। यही तो खास बात है मुशीजी की। और चूंकि उनका हिसाब-किताब आना-पाई तक पक्का रहता है इसलिए आप उन्हे यह बात समझा भी

नही सकते , उल्टे इस बात का डर ज्यादा है कि वह अपने बाजीगर के खेल जैसे हिसाब-किताब से खुद आपकी अक्ल फेर दें और आप भी उनके साथ इस जुए की फड़ पर आ बैठे ! ऐसा ही कुछ जादू रहा होगा उनके समझाने में , तब तो उन्होने अपने साथ तीन और लोगो को घसीट लिया। इन्दौरी भाई , बाबू बलदेव लाल ने अपनी जिन्दगी भर की कमाई दो-ढाई हजार लगा दिया। रघुपति सहाय फिराक भी दो हजार लगाकर इस खेल में शरीक हो गये। मुशी महताब राय ने भी इधर-उधर से जोड-बटोरकर डेढ हजार लगा दिया। हाँ , नाना साहब पर, जो एक ही घाघ आदमी थे , मुशीजी का जादू नही चला और उन्होने थोडा खीझकर उसके बारे में निगम साहब को लिखा , 'नाना-वाना से मुतलक उम्मीद नही। बडे शातिर निकले।' मगर खैर, जैसे-तैसे काम शुरू करने भर के पैसे तो उनके हाथ में अपने ही है और जब उन्होने अपना सब कुछ दॉव पर लगाकर किस्मत आजमाने का फैसला कर लिया तो फिर उन्हे कौन रोक सकता है। मुशी दयानरायन ने उनको समझाने की काफी कोशिश की कि यह काम आपके बस का नही है , लेकिन कौन सुनता है। यही तो सबसे मजे की बात थी कि मुशी जी अपने से ज्यादा व्यवहार-बुद्धिसपन्न किसी को समझते ही न थे। हिसाब में कही चूक हो तो कहिए, वह आपकी बात मानेगे , मगर उसमें चूक कहाँ , वह तो मुशीजी का तैयार किया हुआ हिसाब है , जिधर से भी देखे उसमें नफा ही दिखायी देगा। उसे भी एक नजर बाँधने का खेल ही समझिए , फर्क बस इतना है कि सबसे पहले जादूगर खुद अपने जादू के असर में है ! लिहाजा अगर डूबना है तो मुशीजी खुद पहले डूबेगे — मगर अपने साथ यार को भी ले डूबने की पूरी तैयारी है ! छोडो भी, कहाँ का डूबना कहाँ का क्या, कैसी मनहूस बात करते हो , मुशीजी तो साल ही भर बाद सबको मुनाफा देनेवाले है। कोई मजाक है, मुशीजी बिज़नेस करने निकले है , देखिए कैसे-कैसे करिश्मे दिखलाते है !

इसी बीच क्या हुआ कि जुलाई के महीने में आकर उनकी 'मर्यादा' वाली नौकरी खत्म हो गयी। ७ जुलाई १९२२ को मुशीजी ने निगम साहब को सूचना दी, 'यहाँ ज्ञानमण्डल से अलहदा हो गया। बाबू साहब ने स्टाफ कम कर दिया है।' लेकिन मुशीजी को दूसरी जगह काम दिलाने का बाबू साहब यानी बाबू शिवप्रसाद गुप्त ने पूरा खयाल रखा। काशी विद्यापीठ अभी हाल ही में स्थापित हुआ था — जब कि देश में और भी कई जगह कांग्रेस की प्रेरणा और उद्योग से राष्ट्रीय विद्यालयों की स्थापना हुई थी। मुशीजी ज्ञानमण्डल से अलग होकर सीधे विद्यापीठ पहुँच गये और उन्हे विद्यापीठ के स्कूल महकमे की हेडमास्टरी मिल गयी। देहात से आते-जाते थे, काफी दूर पडता था , लेकिन खैर जब तक दिन की नौकरी थी, चल जाता था। अब तो स्कूल का मामला था , और सबेरे का स्कूल, गाँव में रहकर नही चल सकता था। लिहाजा मुशीजी कबीरचौरे पर घर लेकर रहने लगे —

आशा भवन । कैसा एक व्यग्य था इस नाम में मुशीजी के लिए ! कैसी-कैसी आशाएँ लेकर प्रेस खोला जा रहा था !

निगम साहब ने नौकरी की बात पर कदाचित् शका प्रकट की कि आप एक तरफ तो प्रेस खोलने की तैयारी कर रहे है और दूसरी तरफ स्कूल में नौकरी, दोनो एक साथ कैसे चलेगा, तो मुशीजी ने उसका समाधान करते हुए १४ तारीख को लिखा — 'विद्यापीठ में आरजी[1] तौर पर गया हूँ। बाबू भगवानदास जी ने स्कूल का हिस्सा मेरे सिपुर्द कर दिया है। दखल नही देते। इसलिए कोई तरद्दुद नही। ज्ञानमण्डल में भी काफी आराम था। विद्यापीठ में खिदमत का मौका है, और आराम भी।'

प्रेस की तैयारी जोर-शोर से चल रही थी। वही खास चीज थी। सारी आशाएँ उसी से लगी हुई थी। उधर 'प्रेमाश्रम' की बिक्री अच्छी हो रही थी — साल सवा साल में एक हजार प्रतियाँ निकल गयी थी। मुशीजी ने काफी उत्साह में भरकर लिखा — 'नया नाविल एक हजार निकल गया। अब किस्सो का मजमूआ निकलनेवाला है। मुझे मालूम होता है कि शायद एक नाविल और अच्छा लिखकर मै खानानशीन हो सकता हूँ। हस्बे जरूरत घर बैठे मिल जायगा।'

कैसी क्रूर मृगछलना जिसके पीछे सारी जिन्दगी गरीब दौडता रहा! लेकिन बुरा भी क्या है। हर आदमी तो किसी न किसी चीज़ के पीछे दौडता है। अच्छा ही है कि मुशीजी जिस चीज़ के पीछे दौड रहे थे, वह पैसा न था, अधिकार भी न था, झूठी सामाजिक प्रतिष्ठा भी न थी, बस एक मृगछलना थी। उसमें और कुछ हो न हो, कम से कम आत्मा का गौरव अक्षत रहता है। काम की भीड में जीने का उन्हे अभ्यास है। उसी में वह खुश भी रहते है। और आजकल काम ही काम है। इधर घर बन रहा है उधर प्रेस की तैयारी हो रही है — कलम अलग तेजी से चल रहा है। और क्यो न चले कलम तेजी से जब कि लक्ष्य स्पष्ट है। सबसे पहले तो लोगो को असहयोग के लिए तैयार करना है, वातावरण भर देना है विदेशी सत्ता से असहयोग की गूंज से। असहयोग यानी बहिष्कार, विदेशी चीजो का, कचहरी-अदालत का, सरकारी नौकरियो का, सरकारी स्कूल-कालेज का, कौसिलो का, नशीली चीज़ो का। उन सब चीज़ो का जिनकी मदद से विदेशी सत्ता यहाँ पर कायम है।

अच्छी बात हो चाहे बुरी, कहानियाँ आजकल इसी एक धुरी पर घूमती है क्योकि 'दिलो-दिमाग में आजकल वही मसायल गूंजा करते है'— बडी बेचारगी के अन्दाज में और जैसे कुछ माफी-सी माँगते हुए उन्होने यह बात ताज साहब को लिखी। 'किस्सो में भी वही खयालात झलकते है। और अदबी रसाइल[2]

---

१ अस्थायी २ साहित्यिक पत्रिकाओ

में उनकी गुजाइश नही।' अदबी रसाइल में जिस बात और जिस तर्जे बयान की कद्रदानी है, उसमें मुशीजी को मुतलक दिलचस्पी नही है। जमीन-आसमान के कुलाबे मिलानेवाली खयाली बाते और उन्हे तोड-मोडकर, उलझाकर, ढेरो रग चढाकर पेश करने का अन्दाज — इससे क्योकर मेल खाय मुशीजी का अपना ढग जहाँ एक यो ही सादा मिजाज इस वक्त और भी ज्यादा सादगी के लिए कोशिश कर रहा हो ताकि उसकी बात ज्यादा से ज्यादा लोगो तक पहुँच सके। इसीलिए अपने उस खत में मुशीजी ने ताज को लिखा — "आजकल लाहौरी रिसालो में लिखते हुए तबीयत हिचकिचाती है। मैं वह जबान नही लिख सकता जिसका आजकल अक्सर रिसालो में नमूना नजर आता है इस रग का उनसुर[1] है सीधी-सी बात को तशबीहात[2] और इस्तआरात[3] मे बयान करना। मै इस रग की तकलीद[4] से कासिर[5] हूँ। ताजवर साहब भी इसी रग के मुकलिद[6] थे, और मुआफ कीजिएगा हजरत बेदिल भी इसके दिलदादा[7] नजर आते है। ऐसे रगीन-नवीसो को मेरी रूखी-फीकी तहरीर क्या पसन्द आयेगी। यह महज आपका इसरार है जिसने मुझे 'मखजन' के लिए कलम उठाने पर मजबूर किया।"

मुशीजी का अपना रग है, अपनी राह है, और कही भटकाव नही है। असहयोग स्वराज्य के लिए है। उस स्वराज्य की तस्वीर दूसरे लोगो के दिमाग में साफ हो या न हो, गाधीजी ने भी उसे चाहे गोल-मोल ही रक्खा हो, मुशीजी के मन में कोई दुविधा नही है — स्वराज्य का मतलब है किसान-मजदूर जनता राज, कुछ वैसी ही चीज़ जैसी कि बोलशेविको ने अपने यहाँ कायम की है, और उसको हासिल करने की पहली जो शर्त है, किसान और मजदूर की एकता, उसका मन्तर भी हवा आकर उनके कान में फूँक गयी है।

और यह असहयोग और स्वराज्य दोनो कडियाँ है उस पुराने स्वप्न की, व्यवहार से स्वप्न तक का सेतु — स्वप्न वही पुराना जो दुनिया के सब ऋषियो का स्वप्न रहा है कि मनुष्य अपनी क्षुद्रताओ से ऊपर उठकर देवत्व की ओर बढ सके और एक ऐसा मानव समाज बने जिसमें सब बराबर है और कोई किसी का खून नही चूस सकता। इस स्वप्न को चाहे जिस नाम से पुकार लो, मुशीजी को इससे बहस नही है। वह नाम शायद सब ठीक होगे — और सब उतने ही गलत। नाम के फेर में पडते ही क्यो हो, वह तो छिलका है, उसे छीलकर देखो, अन्दर क्या है। हाँ अगर नाम के बिना तुम्हारा काम किसी तरह नही चलता तो लो मैं दो नाम देता हूँ — जनतावाद, लोकवाद। 'जनतन्त्र' नही, उसमें तो धोखा है। सभी अपने को जनतन्त्र कहते है लेकिन जनता उसमें कहाँ

१ तत्व २ उपमाओ ३ रूपको ४ अनुकरण ५ असमर्थ
६ अनुकरण करनेवाले ७ प्रेमी

है ! नाम अनगढ हो तो क्या, ऐसा होना चाहिए जिसमें किसी तरह के धोखे की गुजाइश न रहे। लेकिन चीज को नाम दे देना ही तो काफी नही है, उसका बिरवा लोगो के दिल में रोपना होगा। वह बाते लोगो के सामने आनी चाहिए, वैसे चरित्र आने चाहिए — और उसमें भी जहाँ खोट की गुजाइश हो उसकी सफाई होती चलनी चाहिए।

मारवाडी विद्यालय से अलग होते ही मुशीजी ने कहानी लिखी, 'हार की जीत'। उसका नायक शारदाचरण अपनी और अपने एक दोस्त की चर्चा करते हुए कहता है — 'हम दोनो ने ही एम० ए० के लिए साम्यवाद का विषय लिया था। (अपने उत्साह में कहानीकार को इसका भी ध्यान नही रहा कि हिन्दुस्तान के किसी विश्वविद्यालय में एम० ए० के लिए साम्यवाद का विषय नही लिया जा सकता!) हम दोनो ही साम्यवादी थे। केशव के विषय में तो यह स्वाभाविक बात थी। उसका कुल बहुत प्रतिष्ठित न था, न वह समृद्धि ही थी जो इस कमी को पूरा कर देती मैं खानदान का ताल्लुकेदार और रईस था। मेरी साम्यवादिता पर लोगो को कुतूहल होता था। हमारे साम्यवाद के प्रोफेसर बाबू हरिदास भाटिया साम्यवाद के सिद्धान्तो के कायल थे लेकिन शायद धन की अवहेलना न कर सकते थे।' यह चुटकी जरूरी है — वह साम्यवादी भी क्या जो साम्यवाद के सिद्धान्तो का तो कायल है मगर धन की पूजा से छुटकारा नही पा सका। ऐसे ज़बानी जमाखर्च वाले लोगो से उनकी सदा की दुश्मनी है, वह चाहे फिर किसी खेमे के हो, किन्ही सिद्धान्तो के माननेवाले हो।

प्रोफेसर भाटिया की बेटी लज्जा ऐसी न थी, 'वह केवल सिद्धान्तो की भक्त न थी, उनको व्यवहार में लाना चाहती थी।' शारदाचरण उसके प्रेम का भिखारी है लेकिन उसका झुकाव गरीब केशव की ओर है। शारदाचरण से लज्जा दो टूक बातें करती है —

'.. मैं जानती हूँ कि इस समय तुम्हे कुल-प्रतिष्ठा और रियासत का लेशमात्र भी अभिमान नही है। लेकिन यह भी जानती हूँ कि तुम्हारा कालेज की शीतल छाया में पला हुआ साम्यवाद बहुत दिनो तक सासारिक जीवन की लू और लपट को न सह सकेगा।'

इसके जवाब में शारदाचरण कहता है — 'जिन कारणो से मेरा साम्यवाद लुप्त हो जायगा, क्या वह तुम्हारे साम्यवाद को जीता छोडेगा?'

लज्जा साहस के साथ उत्तर देती है — 'हाँ, मुझे पूरा विश्वास है कि मुझ पर उनका जरा भी असर न होगा। मेरे घर में कभी रियासत नही रही और कुल की अवस्था तुम भलीभाँति जानते हो। ... मुझे वह दिन नही भूला है जब मेरी माता जीवित थी और बाबूजी ग्यारह बजे रात को प्राइवेट ट्यूशन करके घर आते थे।'

कहानी कमजोर है, आदर्शवादी ढग से उसका समापन होता है, शारदाचरण कुछ रोज एक अमीर लडकी के प्रेम में भटक-भटकाकर आखिरकार त्याग और सेवा की इस मूर्ति लज्जा के पास लौट आता है। मुशीजी के कोश में त्याग और सेवा प्रेम के ही पर्यायवाची शब्द है। इससे ज्यादा वह कुछ नही जानते और न उन्होने जानने की कभी कोशिश की। वह गली उनके लिए अनजानी है, न प्रेम के प्रसग जीवन मे आये और न मुशीजी अपने किस्से-कहानियो में कभी ढग से उन्हे निभा ही पाये।

'सग्राम' नाटक जो उन्होने कानपुर में ही शुरू कर दिया था, उस पर बराबर काम चल रहा था। १६ जून १९२२ के अपने ख़त में उन्होने निगम साहब को लिखा था — 'आजकल एक ड्रामा लिखने में और अपने घर की तामीर में ऐसा मसरूफ हूँ कि कोई किस्सा लिखने का मौका न पा सका।' लेकिन यह बात कुछ ठीक नही मालूम पडती क्योकि जुलाई के महीने में उनकी दो बहुत छोटी और बहुत खूबसूरत कहानियाँ छपी, एक का नाम था 'विध्वस' और दूसरी का 'स्वत्व-रक्षा'।

'विध्वस' गाँवो में चलनेवाली बेगार-प्रथा के विरुद्ध मुशीजी की शापवाणी है। किसान अब जगह-जगह उसके विरुद्ध सिर उठाने भी लगा है। यह एक नयी वास्तविकता है जो मुशीजी के इस गहरे विश्वास के साथ मिलकर कि गरीब की आह में कुछ अलौकिक शक्ति होती है, यहाँ एक बहुत ही सजीव कहानी बन गयी है जिसमें युग की धडकन है —

'जिला बनारस मे बीरा नाम का एक गाँव है। वहाँ एक विधवा, वृद्धा, सन्तानहीन गोंडिन रहती थी जिसका भुनगी नाम था। उसके पास एक धुर भी जमीन न थी और न रहने का घर ही था। उसके जीवन का सहारा केवल एक भाड था। गाँव के लोग प्राय एक बेला चबैना या सत्तू पर निर्वाह करते ही हैं, इसलिए भुनगी के भाड पर नित्य भीड लगी रहती थी।.. लेकिन जब एकादशी या पूर्णमासी के दिन प्रथानुसार भाड न जलता या गाँव के जमीदार पडित उदयभानु पाण्डे के दाने भूनने पडते, उस दिन उसे भूखे ही सो रहना पडता था।... वह पडितजी के गाँव में रहती थी इसलिए उन्हे उससे सभी प्रकार की बेगार लेने का पूरा अधिकार था। इसे अन्याय नही कहा जा सकता। अन्याय केवल इतना था कि बेगार सूखी लेते थे। उनकी धारणा थी कि जब खाने ही को दिया गया तो बेगार कैसी। किसान को पूरा अधिकार है कि बैलो को दिन भर जोतने के बाद शाम को खूँटे से भूखा बाँध दे। यदि वह ऐसा नही करता तो वह उसकी दयालुता नही है, केवल अपनी हितचिंता है। पडित जी को इसकी बहुत चिन्ता न थी, क्योकि एक तो भुनगी दो-एक दिन भूखी रहने से मर नही सकती थी और अगर मर भी जाती तो उसकी जगह दूसरा गोंड बडी आसानी से बसाया जा सकता था।'

यह कुछ इस युग की ही बात है कि भुनगी के गले से भी आवाज़ फूटने लगी

है—'पण्डितजी कौन मेरी रोटियाँ चला देते है। कौन मेरे आँसू पोछ देते है। अपना रकत जलाती हूँ तब कही दाना मिलता है। लेकिन जब देखो खोपडी पर सवार रहते है, इसीलिए न कि उनकी चार अगुल धरती से मेरा निस्तार हो रहा है। क्या इतनी-सी जमीन का इतना मोल है? ऐसे कितने ही टुकडे गाँव में बेकाम पडे है, कितनी ही बखरियाँ उजडी पडी हुई है। वहाँ तो केसर नही उपजती, फिर मुझी पर क्यो यह आठो पहर धौस रहती है।'

आखिरकार पडितजी उससे चिढ जाते है। तब बुढिया के कुछ शुभचिंतक उसको समझाते है कि जाकर किसी दूसरे गाँव में क्यो नही बस जाती। बुढिया किसी तरह इस पर राजी नही होती—'इस गाँव में उसने अपने अदिन के पचास वर्ष काटे थे। यहाँ के एक-एक पेड-पत्ते से उसे प्रेम हो गया था। जीवन के सुख-दुख इसी गाँव में भोगे थे।... दूसरे गाँव के सुख से यहाँ का दुख भी प्यारा था।'

मतलब यह कि वह नही जाती और फिर एक रोज जमीन्दार के गुर्गे आकर उसकी भाड खोद डालते है। बुढिया फिर बनाती है और फिर उसे खोदकर फेंक दिया जाता है। पडितजी से रू-ब-रू उसकी हुज्जत-तकरार होती है और जब पण्डित जी उसे झोपडा छोडकर निकल जाने के लिए कहते है तो वह बुढिया भुनगी (नाम भी कैसा चुना है!) बिफरकर कहती है—'क्यो छोडकर निकल जाऊँ? बारह साल खेत जोतने से आसामी काश्तकार हो जाता है। मै तो इस झोपडे में बूढी हो गयी। मेरे सास-ससुर और उनके बाप-दादे इसी झोपडे में रहे। अब इसे यमराज को छोडकर और कोई मुझसे नही ले सकता।'

तब पण्डित जी उसकी पत्तियो के ढेर में आग लगवा देते है। भुनगी अपने भाड के पास उदासीन भाव से खडी यह लकादहन देखती रहती है और फिर एकाएक उस अग्निकुड में कूद पडती है। भुनगी तो जैसे मर ही जाती है पर उसी आग में सारा गाँव जलकर राख हो जाता है।

'स्वत्व-रक्षा' एक ऐसे दृढ-प्रतिज्ञ घोडे की कहानी है जो अपने स्वत्व की रक्षा के लिए 'पक्के सत्याग्रही' की भाँति अन्त तक अपनी आन पर अडा रहता है। इतवार उसकी छुट्टी का दिन है। उस रोज वह कही नही जाता। उसके मालिक ने भी उसकी तबीयत को समझकर उस रोज के लिए उसको छुट्टी मान ली है। लेकिन एक इतवार को, सहालग के दिनो में, उसके मालिक के एक दोस्त उसे दूल्हे की सवारी के लिए माँगकर ले जाते है। उसके बाद जो-जो तमाशा होता है उसी का यह किस्सा है। जीत अन्त में घोडे की होती है। वह नही चलता, नही चलता। पीछे से डडे चलाये जाते है (आप दौडेगा!) दुम के पास जलता हुआ कुन्दा जलाया जाता है (आँच के डर से भागेगा!) तोबडे में दाना दिखाया जाता है (दाने के लालच में खटखट चला जायगा!) तसले में शराब उँडेलकर सामने रखी जाती है (नशे में आकर खूब चौकडियाँ भरने लगेगा!)—लेकिन कोई

तरकीब काम नही करती, घोडा किसी तरह 'एक कटोरे कढी के लिए अपने जन्म-सिद्ध अधिकारो को बेचना' कबूल नही करता।

अंत में एक ही तरकीब कुछ काम करती है — 'वह जो खेतो में खाद फेकने की दोपहिया गाडी होती है, उसे घोडे के सामने लाकर रखिए। इसके दोनो अगले पैर उसमें रख दिये जायँ और हम लोग गाडी को खीचे। तब तो जरूर ही पैर उठ जायँगे। अगले पैर आगे बढे तो पिछले पैर भी झख मारकर उठेगे ही।' लेकिन कोई इस तरह कहाँ तक घोडे को खीच सकता है। आखिरकार वह लोग हार-थककर छोड देते है और घोडा अपनी टेक निभा ले जाता है।

कहानी की अन्योक्ति सर्वांग निर्दोष है — यहाँ तक कि वह अगले पैरो को दोपहिया गाडी में रखकर खीचनेवाली तरकीब भी। मॉण्टेग्यू-चेम्सफर्ड रिफार्म्स, जिनका प्रयोग इस समय देश में चल रहा था, इसी किस्म की तो एक कोशिश थी कि राष्ट्रीय आन्दोलन को विभाजित करके उसके एक हिस्से को अपने साथ कर लो तो दूसरा हिस्सा देर-सबेर झख मारकर साथ आयेगा।

लेकिन अन्योक्ति यह ऐसी है जो कहानी पर भारी नही पडती और न किस्से के मजे को रत्ती भर कम करती है। यही उसकी खूबी है। चाहो तो अन्योक्ति को खोल लो और न चाहो तो एक अव्वल दर्जे का लतीफा है तुम्हारे सामने, एक अडियल टट्टू की कहानी जो लोगो को नाको चने चबवा देता है और फिर भी नही चलता। कहने की जरूरत नही कि मुशीजी के भीतर जो एक शरीर छोकरा है, उसे इस तरह की स्थितियो में विशेष रस मिलता है और वह एक जानवर के सामने इतने बहुत से आदमियो की खिसियाहट की तसवीर खूब मजा ले-लेकर उतारते है।

अगले महीने 'अधिकार चिन्ता' नाम की कहानी आयी जिसमें मुशीजी ने टामी (!) नाम के एक बुलडॉग की अन्योक्ति से अंग्रेजी राज के आने, बढने, जमने और खत्म होने की कहानी कही। उद्देश्य स्पष्ट है — उसकी खिल्ली उडाकर लोगो के दिल पर से उसका आतक दूर करना। लेकिन कहानी कहनेवाले के मन में उसके प्रति इतनी घृणा है कि पतीली आग पर चढे-चढे मजाक सब उड जाता है और अंत में बस उसी नफरत का एक डला बचा रहता है। कहानी शुरू होती है मजाक के रग में —

'टामी यो देखने में तो बहुत तगडा था। भूँकता तो सुननेवालो के कान के पर्दे फट जाते। डील-डौल भी ऐसा कि अँधेरी रात में उस पर गधे का भ्रम हो जाता। लेकिन उसकी श्वानोचित वीरता किसी सग्राम-क्षेत्र में प्रमाणित न होती थी। दो-चार दफे जब बाजार के लेंडियो ने उसे चुनौती दी तो वह उनका गर्व-मर्दन करने के लिए मैदान में आया, और देखनेवालो का कहना है कि जब तक लड़ा जीवट से लडा, नखो और दाँतो से ज्यादा चोटे उसकी दुम ने की!'

अपने यहाँ उसके बहुत से दुश्मन है, प्रतिद्वन्द्वी है, इसलिए 'वह किसी ऐसी जगह जाना चाहता था जहाँ खूब शिकार मिले, खरगोश, हिरन, भेडो के बच्चे मैदानो में विचार रहे हो और उनका कोई मालिक न हो, जहाँ किसी प्रतिद्वन्द्वी की गध तक न हो, आराम करने को सघन वृक्षो की छाया हो, पीने को नदी का पवित्र जल। वहाँ मनमाना शिकार करूँ, खाऊँ और मीठी नीद सोऊँ। वहाँ चारो आर मेरी धाक बैठ जाय, सब मुझी को अपना राजा समझने लगें। ...'

अपने यहाँ उसकी यह अभिलाषा पूरी नही होती, दूसरे कुत्ते उसको अपने 'अधिकार क्षेत्र' से खदेडकर बाहर कर देते है और वह जान छोडकर भागता है। भागते-भागते एक नदी रास्ते में मिलती है और टामी उस नदी में कूदकर अपनी जान बचाता है। 'कहते है एक दिन सबके दिन फिरते है। टामी के दिन भी नदी में कूदते ही फिर गये। कूदा था जान बचाने के लिए, हाथ लग गये मोती। तैरता हुआ उस पार पहुँचा, वहाँ उसकी चिर-सचित अभिलाषाएँ मूर्तिमती हो रही थी।' और इस तरह अग्रेज़ी साम्राज्य हिन्दुस्तान पहुँच जाता है।

● यहाँ बडे तेज नखोवाले पशु थे जिनकी सूरत देखकर टामी का कलेजा दहल उठता था पर उन्होने टामी की कुछ परवाह न की। ये आपस में नित्य लडा करते थे, नित्य खून की नदी बहा करती थी। टामी ने देखा, यहाँ इन भयकर जतुओ से पेश न पा सकूँगा। उसने कौशल से काम लेना शुरू किया। जब दो लडनेवाले पशुओ में एक घायल और मुर्दा होकर गिर पडता तो टामी लपककर मास का कोई टुकडा ले भागता और एकान्त में बैठकर खाता। विजयी पशु विजय के उन्माद में उसे तुच्छ समझकर कुछ न बोलता। अब क्या था, टामी के पौ बारह हो गये। .. वह मरकर नही जीते जी स्वर्ग पा गया।

थोडे ही दिनो में पौष्टिक पदार्थो के सेवन से टामी की चेष्टा ही कुछ और हो गयी। उसका शरीर तेजस्वी और सुगठित हो गया। अब वह छोटे-मोटे जीवो पर स्वय हाथ साफ करने लगा। जगल के जतु अब चौके और उसे वहाँ से भगा देने का यत्न करने लगें। टामी ने एक नयी चाल चली। वह कभी किसी पशु से कहता, तुम्हारा फलाँ शत्रु तुम्हे मार डालने की तैयारी कर रहा है, कभी किसी से कहता, फलाँ तुमको गाली देता था। जगल के जतु उसके चकमे में आकर आपस में लड जाते और टामी की चाँदी हो जाती। अत में यहाँ तक नौबत पहुँची कि बडे-बडे जन्तुओ का नाश हो गया। छोटे-छोटे पशुओ को उससे मुकाबला करने का साहस न होता था। उसकी उन्नति और शक्ति देखकर उन्हे ऐसा प्रतीत होने लगा मानो यह विचित्र जीव आकाश से हमारे ऊपर शासन करने के लिए भेजा गया है। टामी भी अब अपनी शिकारबाज़ी के जौहर दिखाकर उनकी इस भ्रान्ति को पुष्ट किया करता था। बडे गर्व से कहता — परमात्मा ने मुझे तुम्हारे ऊपर राज्य करने के लिए भेजा है। यह ईश्वर की इच्छा है। तुम आराम से

अपने घर में पडे रहो। मै तुमसे कुछ न बोलूंगा, केवल तुम्हारी सेवा करने के पुरस्कारस्वरूप तुममे से एकाध का शिकार कर लिया करूँगा। आखिर मेरे भी तो पेट है, बिना आहार के कैसे जीवित रहूँगा और कैसे तुम्हारी रक्षा करूँगा ?

टामी को अब कोई चिन्ता थी तो यह कि इस देश में मेरा कोई मुद्दई न उठ खडा हो। वह नित्य सजग और सशस्त्र रहने लगा। वन के पशुओ से कहता — ईश्वर न करे कि तुम किसी दूसरे शासक के पजे में फँस जाओ। वह तुम्हे पोस डालेगा। मैं तुम्हारा हितैषी हूँ, सदैव तुम्हारी शुभकामना में मग्न रहता हूँ। किसी दूसरे से वह आशा मत रखो। पशु एक स्वर में कहते — जब तक हम जियेगे, आप ही के अधीन रहेगे।

आखिरकार यह हुआ कि टामी को क्षण भर भी शान्ति से बैठना दुर्लभ हो गया। वह रात-रात और दिन-दिन भर नदी के किनारे इधर से उधर चक्कर लगाया करता। दौडते-दौडते हाँफने लगता, बेदम हो जाता, मगर चित्त को शान्ति न मिलती। कही कोई शत्रु न घुस आये।

अत में सातवे दिन अभागा टामी अधिकार-चिन्ता से ग्रस्त, जर्जर और शिथिल होकर परलोक सिधारा। वन का कोई पशु उसके निकट न गया। किसी ने उसकी चर्चा तक न की, किसी ने उसकी लाश पर आँसू तक न बहाये। कई दिनो तक उस पर गिद्ध और कौए मँडराते रहे, अत में अस्थिपजरो के सिवा और कुछ न रह गया। ●

एक-एक कहानी जो इस समय कलम से निकल रही है उसका सबध किसी न किसी रूप में स्वराज्य के आन्दोलन से है। अच्छा सिपाही अपनी एक भी गोली खराब नही करता। 'चकमा' में विदेशी कपडो की दूकान पर धरना बैठा हुआ है, 'दु साहस' में शराब की दूकान पर। 'बौडम' में भी यही सब स्वराज्य-चर्चा है — 'बडे लाट ने गाधी बाबा से यह कहा और गाधी बाबा ने यह जवाब दिया। अभी आप लोग क्या देखते है, आगे देखिएगा क्या-क्या गुल खिलते है। पूरे पचास हजार जवान जेल जाने को तैयार बैठे हुए है। गाधीजी ने आज्ञा दी है कि हिन्दुओ में छूतछात का भेद न रहे, नही तो देश को और भी अदिन देखने पडेंगे।' जिस आदमी को बौडम का लकब दिया गया है उसका बौडमपन यही है कि वह एक नेक, सच्चा, खुले दिमाग का, निडर आदमी है, सच को सच और झूठ को झूठ कहता है, दाढी-चोटी की हिमाकत से पाक है और किसी की कलई खोलने में उसे आर नही है। मुसलमान है लेकिन उसके भीतर इतनी रवादारी है कि वह गाय की कुर्बानी के खिलाफ वावेला मचाता है और अपने घर में हुई कुर्बानी का प्रायश्चित्त इस तरह करता है कि अपनी सवारी का घोडा बेचकर तीन सौ फकीरो को खाना खिलाता है और तब से जब भी कसाइयो को गायें लिये जाते देखता

है तो कीमत देकर उन्हे खरीद लेता है। इस तरह वह अब तक दस गायो की जान बचा चुका है। इतना ही नही, यह भी उसका बौडमपन ही है कि जहाँ दूसरे 'दौलत के बन्दे' रात-दिन हिसाब-किताब, नफा-नुकसान, तेजी-मन्दी के सिवाय और कोई जिक्र नही करते वहाँ यह खुदा का बन्दा जिन्दगी को इसके अलावा भी कुछ समझता है। वह अखबार मँगाता है, स्मर्ना फण्ड में रुपये भेजना चाहता है, खिलाफत फण्ड की मदद करना अपना फर्ज समझता है। इतना ही नही, खिलाफत का वालटियर भी है। ऐसा आदमी बौडम नही तो और क्या है ! मगर 'काश, आप ऐसे बौडम मुल्क में और ज्यादा होते !' — कथावाचक कहता है — 'आज मुझे मालूम हुआ कि बौडम देवताओ को कहा जाता है।'

कहानी के रूप में यह पुष्पाजलि अपने भीतर बैठे हुए एक बौडम आदमी को भी है — कुछ वैसी ही चीज़ जैसी 'बोध' और 'मरने के बाद' कहानियाँ थी, अलग खडे होकर खुद अपने से बातचीत, ताकि अपने इरादे में कमजोरी न आये। प्रेस खोलना भी तो एक बौडमपन ही था। (बाद के एक खत में, २ अगस्त १९२४ को, उन्होने निगम साहब को लिखा भी, 'वह बुरा वक्त था जब मेरे सर में यह सौदाए-खाम[1] समाया।') पैसे से भेंट नही, और भगवान जाने कभी होगी भी या नही, लेकिन झझटे इतनी कि आदमी पागल हो जाय ! और यह तमाम सरदर्द किसलिए ? क्या इसीलिए कि दाल-रोटी का सहारा हो जाय ? उसके तो और भी पचास रास्ते है। तो फिर क्या इसलिए कि दौलत कमायी जाय, जागीर खडी की जाय ? उसकी मुशीजी को न तो हवस है और न मुशीजी इतने नादान है कि यह समझे कि ऐसे टुटपूँजिये प्रेस से जागीर खडी की जा सकती है। असल बात यह है कि प्रेस देशसेवा के लिए खडा किया जा रहा है, बहुत पुराना सपना है वह उनका, लेकिन मुशीजी इस बात को अपने मुँह से कहना नही चाहते, और कहना तो दूर की बात है अपने तईं स्वीकार भी नही करना चाहते। इसीलिए बात को हर तरफ से छा-छोपकर बिज़नेस की शकल में पेश करते है लेकिन वह खुद को धोखा देने की एक कोशिश से ज्यादा कुछ नही है। सच बात इतनी ही है कि अब वह किसी की गुलामी नही करना चाहते, आजाद होकर घर बैठना चाहते है, लिखना-पढना चाहते है। प्रेस हो जायगा तो मेरी भी नमक-रोटी की सूरत हो जायगी, गाँव के दस-बीस लोगो की परवरिश का सिलसिला हो जायगा और फिर अखबार निकलेगे, सस्ती-सस्ती किताबें निकलेगी, लोगो में जागृति पैदा होगी . और भगवान जाने क्या-क्या होगा जो सब बौडमपने की बाते है ! अभी पहले प्रेस तो खडा हो। खुदा जाने किस कयामत के दिन खडा होगा !

प्रेस का सामान कुछ कलकत्ते से आ रहा है, टाइप मद्रास से आ रहा है, मशीन

---

१ पागलपन

विलायत से चल चुकी है मगर अब तक उसका कही पता नही। एक-दो परीशानी है, पूरा दफ्तर है परीशानियो का। मकान जो बन रहा है वह अलग एक जी का जजाल है। गरीबी में आटा गीला इसी को कहते है।

होते-होते फरवरी १९२३ की १७ तारीख़ आ गयी लेकिन 'आज तक प्रेस नही आया। सितबर के महीने में वुडराफ के पास रुपये रवाना किये गये थे। ४ अक्तूबर को जवाब और रसीद आ ही गयी थी। मालूम हुआ था उसने दो मशीने रवाना की है। दोनो इश्योर्ड थी। लेकिन तबसे अब तक कोई खबर नही। १ फर्वरी को मायूस होकर फिर याददिहानी की गयी है। देखूँ कब तक पहुँचती है। टाइप वगैरह जमा कर लिया है और जमा करता जाता हूँ। लेकिन इस तूलानी[1] इन्तजार के बाइस[2] हौसला पस्त हुआ जाता है। रुपये की तो कोई कमी नही है। साढे छ हजार की रकम हाथ में है। हाँ, मेरा मकान तैयार हो गया और होली से उसे आबाद भी कर दिया जायगा।'

लेकिन प्रेस अब भी अधर में लटक रहा था। और साल पूरा होने आ रहा था।

आखिरकार २२ अप्रैल १९२३ के अपने ख़त में उन्होने लिखा —

'आज प्रेस के लिए मकान तय हो गया। मशीन आ गयी। टाइप, ब्लाक, लकडी के केस वगैरह पहुँच गये। उम्मीद है कि इस मई के महीने में प्रेस मुकम्मल तौर पर काम करने के काबिल हो जायगा। अब डिक्लेरेशन दाखिल करना रह गया है। सोमवार को दाख़िल कर दूँगा। अभी तक नाम नही तजवीज कर सका। साहित्य प्रेस, सरस्वती प्रेस, ससार प्रेस वगैरह नाम जेहन मे है। आप भी कोई नाम तजवीज कीजिए क्योकि नामो के इतख़ाब में आपको कमाल है।'

सुबह को मुशीजी ने यह ख़त लिखा और शाम की डाक से निगम साहब का एक छोटा-सा कार्ड मिला — उनका एक बच्चा जाता रहा।

साल भर पहले उनके यहाँ एक ख़ुशी का मौका आया था, उनकी लडकी की शादी थी। अपने झमेलो के कारण मुशीजी उसमें शरीक न हो सके थे और बाद को अपने ख़ास असहयोगी रग में एक हल्की-सी आपत्ति भी उन्होने उठायी थी, ३१ मई सन् २२ के अपने खत में —

'मेरी बदनसीबी थी कि इस लुत्फ में शरीक न हो सका। एतराज सिर्फ एक है, आपने अग्रेज हुक्काम की दावत नाहक की। क्या फायदा। क्या अभी आपने शोहरतगज, ख़लीलाबाद, लखीमपुर वगैरह के वाकये नही देखे? ऐसी हालत में अब हमनवाई बेमौका है, ख्वाह इससे अपना कितना ही जाती नफा क्यो न होता हो।'

---

१ लबे २ कारण

और उसके बाद साल भी न बीतने पाया कि बेचारे को यह भारी गम उठाना पडा। उन्हे पता था बच्चे का शोक कैसा होता है। ऐसे ही वक्त आदमी दोस्त का सहारा ढूँढता है — जिसके कधे पर सिर रखकर वह बिला झिझक रो सके, जो उसके गम को बाँट सके, जितना एक इसान के लिए दूसरे का गम बाँटना मुमकिन है। मातमपुर्सी के लिए कहे गये रस्मी लफ्जो से उस वक्त काम नही चलता, उल्टे चिढ मालूम होती है।

मुशीजी कतई दोस्तबाज न थे, जिन्दगी में उन्होने बहुत कम दोस्त बनाये लेकिन जो दो-चार थे वह मुशीजी के बिल्कुल अपने थे, सगे। उनका दुख-दर्द मुशीजी का अपना दुख-दर्द था और खुशी में चाहे वह एक बार शरीक न भी हो, अक्सर नही होते थे, मगर गम में शरीक होने के लिए नगे पाँव दौडते थे। मुशी जी ने उसी दम जैसे अपने दोस्त के काँपते हुए हाथो और लडखडाते हुए पैरो को सहारा देते हुए लिखा —

● कल सुबह एक खत लिखा। शाम को आपका कार्ड मिला जिसे पढकर निहायत सदमा हुआ। बीमारियाँ और परेशानियाँ तो जिन्दगी का खास्सा[१] है लेकिन बच्चे की हसरतनाक मौत एक दिलशिकन[२] हादसा[३] है और बर्दाश्त करने का अगर कोई तरीका है तो यही कि दुनिया को एक तमाशागाह या खेल का मैदान समझ लिया जाय। खेल के मैदान में वही शख्स तारीफ का मुस्तहक[४] होता है, जो जीत से फूलता नही और हार में रोता नही। जीते तब भी खेलता है और हारे तब भी खेलता है। . हम सबके सब खिलाडी है मगर खेलना नही जानते। एक बाजी जीती, एक गोल जीता, हिप हिप हुर्रे के नारो से आसमान गूँज उठा, टोपियाँ आसमान में उछलने लगी, भूल गये कि यह जीत दायमी फतह की गारटी नही है, मुमकिन है कि दूसरी बाजी में हार हो। अलाहाजा[५] हारे तो पस्तहिम्मती पर कमर बाँध ली, रोये, किसी को धक्के दिये, फाउल खेला और ऐसे पस्त हो गये गोया फिर जीत की सूरत देखना नसीब न होगी। ऐसे ओछे, तगनजर आदमी को मैदान में खडे होने का भी मजाज़ नही। उसके लिए गोशए तारीक[६] है और फिक्रे शिकम[७]। बस यही उसकी जिन्दगी की कायनात[८] है। हम क्यो खयाल करें कि हमसे जिन्दगी ने बेवफाई की ? खुदा का शिकवा क्यो करें ? क्यो इस खयाल से मलूल[९] हो कि दुनिया हमारी नेमतो से भरी थाली को हमारे सामने से खीचे लेती है ? क्यो इस फिक्र से मुतवहिश[१०] हो कि कज्ज़ाक हमारे ऊपर छापा मारने की ताक में है ? जिन्दगी को इस नुक्तए निगाह से देखना अपने इत्मीनाने-कल्ब[११]

---

१ स्वभाव २ हृदयविदारक ३ दुर्घटना ४ अधिकारी
५ उसी तरह ६ अँधेरा कोना ७ पेट की चिन्ता ८ कुल पूंजी
९ दुखी १० परेशान ११ हृदय की शान्ति

से हाथ धोना है । बात दोनो तरह एक ही है । कज्जाक ने छापा मारा तो क्या, हार में सारे घर की दौलत खो बैठे तो क्या ? फर्क सिर्फ यह है कि एक जब्र है और दूसरा अख्तियार । कज्ज़ाक जबर्दस्ती माल पर हाथ बढाता है लेकिन हार जबर्दस्ती नही आती । खेल में शरीक होकर हम खुद हार और जीत को बुलाते है । कज्जाक के हाथो लूटे जाना जिन्दगी का मामूली हादसा नही है, लेकिन खेल में हारना और जीतना मामूली बात है । जो खेल में शरीक होगा वह बखूबी जानता है कि हार और जीत दोनो ही सामने आयेंगी । इसलिए उसे हार से मायूसी नही होती, जीत से फूला नही समाता । हमारा काम तो सिर्फ खेलना है, खूब दिल लगाकर खेलना, खूब जी तोडकर खेलना, अपने को हार से इस तरह बचाना गोया हम कौनैन[1] की दौलत खो बैठेगे, लेकिन हारने के बाद, पटखनी खाने के बाद गर्द भाडकर खडे हो जाना चाहिए और फिर खम ठोककर हरीफ से कहना चाहिए कि एक बार और ।

खिलाडी बनकर आपको वाकई इत्मीनान होगा । मैं खुद इस मेयार[2] पर पूरा उतरूँगा या नही, मगर कम से कम अबके पीछे किसी नुकसान पर इतना रज न होगा जितना आज से चद साल कब्ल हो सकता था । मैं अब शायद न कहूँगा कि हाय जिन्दगी अकारत गयी, कुछ न किया, जिन्दगी खेलने के लिए मिली थी, खेलने में कोताही की । आप मुझसे ज्यादा खेले है । हार और जीत दोनो देखी है । आप जैसे खिलाडी के लिए शिकवए-तकदीर[3] की जरूरत नही । कोई गोल्फ और पोलो खेलता है, कोई कबड्डी खेलता है । बात एक ही है । हार और जीत दोनो ही मैदानो में है । कबड्डी खेलनेवालो को जीत की खुशी कुछ कम नही होती । इस हार का गम न कीजिए । आपने खुद ही न किया होगा । आप मुझसे मश्शाक[4] है । मै ५ या ६ तक कानपुर आनेवाला हूँ . ●

'चौगाने हस्ती' लिखी जा रही है । दुनिया खेल का मैदान है । रगभूमि । समरभूमि । दोनो एक ही बात है । और चिट्ठी में सूरदास की आत्मा ही नही बोल रही है, शब्द भी वही है । जो हो, ये सच्चे शब्द है, दिल से निकले हुए शब्द है, और दिल को दिल से राह होती है । दूसरा आदमी, जो अपने भीतर सह-अनुभूति की सच्चाई का साक्ष्य न पाता, शायद लिख भी न पाता ये शब्द ऐसे अवसर पर, एक तरह की कठोरता है उनमे, बेहिसी जिसे दूसरा आदमी कुछ का कुछ समझ जा सकता है । लेकिन वही तो मुशीजी की खास अपनी बात है । तरल भावुकता से उनको घबराहट होती है । उनका आदर्श शायद वह पत्थर है जिसकी पारदर्शी तरलता उसके हृदय-देश में ही रहती है और ऊपर पत्थर का खोल रहता है । ताज साहब को एक बार उन्होने लिखा था — 'मै लिटरेचर को मैस्कुलिन

---

१ दोनो लोक २ कसौटी ३ तकदीर की शिकायत ४ अनुभवी

देखना चाहता हूँ ।' इन्द्र नाथ मदान को लिखा था — 'बॅगला साहित्य को मैं बहुत पसन्द नही कर पाता । उसमें स्त्री-गुण अधिक है ।' निगम साहब को लिखा था — 'शायराना हिस मेरे अदर शायद है ही नही ।'

एक ही बात है, जिसे तीन तरह से कहा गया है, और वह बात अकेले साहित्य की नही है, पूरे आदमी की है, उसके मिजाज की है — और कम से कम प्रेमचद के यहाँ वह दोनो चीजे एक है । खुद अपने बेटे के मरने पर अभी तीन साल पहले उन्होने लिखा था — 'तकदीर ने तो अपनी दानिस्त मे मुझे सज़ा दी होगी लेकिन मैं खुश हूँ कि फिक्रो का आधा बोझ सर से दूर हो गया ।'

कोई लिखता है ऐसी बात अपने बेटे के मरने पर ! मगर नही, यही मुशीजी का ढग है अपने दर्द को छिपाने का । जो सीने में दफन रहे वही असल दर्द है — और जो छलककर ऊपर आ जाये ? जनानापन । लेकिन छलके या न छलके, दर्द जहाँ सच्चा है वहाँ बोल ही जाता है अपनी रहस्यमयी भाषा में — और दूसरा आदमी उसे पहचान लेता है सारे अवगुठनो को हटाकर !

सच्ची समवेदना, पर नितात अनौपचारिक, अनलकृत ।

ऐसे ही दो प्रसग जैनेन्द्र कुमार के जीवन में आये थे । बेटे की मृत्यु पर मुशी जी ने अब से करीब दस साल बाद उनको लिखा था —

● बच्चा चला गया । खत पढते ही पहले तो कलेजा सन्न हो गया, लेकिन फिर मन शान्त हो गया । यही जीवन के कडवे अनुभव है । इन्हे झेले जाओ तो सब कुछ सरल हो जाता है । फिर रोये भी तो किसके सामने ? कौन देखनेवाला है ? किसी को अपना समझे क्यो ? अपना केवल इतने ही के लिए समझो कि उसके प्रति हमारे कर्तव्य है । ज्ञान-वान तो मै जानता नही । ऐसे आघातो से कलेजे पर घाव लगता ही है । लेकिन लगना चाहिए नही । तुम रोये नही, इससे मेरा चित्त बहुत शान्त हुआ । तुम यहाँ होते तो तुम्हारी पीठ ठोकता । यही तो परीक्षा के अवसर है ।

भगवती और माता जी को बहुत समझाना । देवियो का हृदय कोमल होता है । बच्चा उनके अग का एक भाग-सा था । पैदा होते ही उसी के झगडो में लग जाती थी । अब उन्हे कितना सूना-सूना लगता होगा । माता जी ने दुनिया के सुख-दुख देखे है । उनको मै क्या समझाऊँ । लेकिन भगवती से कहूँगा, धैर्य से काम लो । बच्चे को तुमने जनम दिया, पाला-पोसा, फिर भी वह तुमसे रूठकर चला गया । उसकी स्मृति क्या उससे कम प्यारी है ? मै तो समझता हूँ वह और भी प्यारा हो गया, समझो कि अब तुम्हारी गोद में खेल रहा है, बल्कि तुम्हारे हृदय के अन्दर है । कही गया नही, भीतर जो बैठा है । अब बाहर की गर्मी-सर्दी, रोग-व्याधि का उस पर कुछ असर न होगा । फिर क्यो रोते हो ? ●

कितने सच्चे मोती है ये, सवेदना की कैसी अतल गहराइयो से निकले हुए !

माँ के मरने पर जैनेन्द्र को उन्होने लिखा —

'मुझे यह शका पहले ही थी। इस मर्ज में शायद ही कोई बचता है। पहले ऐसी इच्छा थी कि दिल्ली आऊँ लेकिन मेरे दामाद तीन दिन से आये हुए है और शायद बेटी जा रही है। फिर यह भी सोचा कि तुम्हे समझाने की तो कोई बात है ही नही। यह तो एक दिन होना ही था। हाँ, जब यह सोचता हूँ कि वह तुम्हारे लिए क्या थी और तुम कैसे उनके सामने आज भी लडके-से बने फिरते थे, तब जी चाहता है तुम्हारे गले मिलकर रोऊँ। उनका वह स्नेह! वह तुम्हारे लिए जो कुछ थी वह तो थी ही मगर उनके लिए तुम तो प्राण थे। आँख थे। सब कुछ थे। बिरले ही भाग्यवानो को ऐसी माता मिलती है। मैं देख रहा हूँ, तुम दुखी हो और चाहता हूँ यह दु:ख आधा-आधा बाँट लूँ, अगर तुम दो। मगर तुम दोगे नही। उसे तो तुम सारे का सारा अपने सबसे निकट स्थान में सुरचित रक्खोगे।

काम से छुट्टी पाते ही अगर आ सको तो जरूर आ जाओ। मिले बहुत दिन हो गये। मन तो मेरा भी आने को चाहता है, लेकिन मैं आया तो तीसरे दिन रस्सी तुडाकर भागूँगा। तुम — मगर अब तो तुम भी मेरे जैसे ही हो भाई। अब वह बेफिक्री के मजे कहाँ! अगर सच पूछो तो मेरी ईर्ष्या ने तुम्हे अनाथ कर दिया। क्यो न ईर्ष्या करता — मैं सात वर्ष का था जब माता जी चली गयी। तुम सत्ताइस के होकर मातावाले बने रहे! यह मुझसे कब देखा जाता! अब जैसे हम वैसे तुम। बल्कि मै तुमसे अच्छा हूँ, मुझे माता की सूरत भी याद नही आती। तुम्हारी माता तुम्हारे सामने है और बोलती नही, मिलती नही! ●

बेटी के ननदोई दशरथलाल का बडा लडका जगदीश, जो बहुत ही शीलवान और बहुत ही होनहार था, बैलगाडी में कही जा रहा था। पहाडी इलाका, एक तरफ गहरा खड्ड था। सामने से एक लारी आ रही थी। उसने जो बैलगाडो को बीच रास्ते से हटाने के लिए हार्न दिया तो बैल बिचककर भागे और गाडी को लिये-दिये नीचे खड्ड में चले गये। बेटी के पति वासुदेव भी उसी गाडी में थे। चोट उनको भी काफी लगी मगर जगदीश के तो प्राण ही चले गये। मुशीजी को खबर लगी तो फौरन भागे हुए देवरी पहुँचे। दशरथलाल का बुरा हाल था, बिलकुल पागल हो रहे थे। मुशीजी ने एक शब्द समझाने-बुझाने या सात्वना देने के लिए नही कहा, और कहा तो यही कहा कि बडा भयानक मूल्य चुकाकर आपको यह अनुभव मिला है और निश्चय ही इसका बहुत जबर्दस्त असर आपकी जिन्दगी पर पडेगा। यहाँ-वहाँ से कुछ निरर्थक, उथले शब्द उधार लेकर झूठी दार्शनिकता के शब्द-जाल से आपकी पीडा कम नही होगी, बेकार कोशिश है और बेकार ही नही अनुचित भी।

ये मातमपुर्सी के शब्द नही है, किसी के गम में शरीक होनेवाले एक दर्दमन्द

दिल के बोल है। कुछ बेडौल भी है — मगर ताकत देते है। क्योकि झूठ की मिलावट उनमें नही है।

कहानी अब फिर पीछे लौटती है। यह १९२३ की अप्रैल है। प्रेस के लिए मुशीजी को एक सुभीते का मकान मिल गया है। प्रेस के लिए नाम भी तय हो गया है, निगम साहब की मदद से — सरस्वती प्रेस। लेकिन अब एक नयी मुसीबत का सामना था — वैसे ही जैसे कि चादर अगर छोटी हो तो बदन एक तरफ से ढँकने पर दूसरी तरफ खुल जाता है।

'मुझे मकान प्रेस के लिए न मिलता था। बडी मुश्किलो से एक मौके का मकान मिला है। इसमें अब तक डी० ए० वी० स्कूल था। अब स्कूल अपनी नयी इमारत में चला गया। मगर पुरानी इमारत में उसने कुछ इजाफे किये है जिसके लिए वह मालिक मकान से १२०० रुपये का तालिब है। मालिक मकान से मेरा समझौता यह हुआ है कि मैं साल भर तक एक सौ रुपया माहवार के हिसाब से आर्य समाज को दूं और पचास रुपये के हिसाब से किराये में मिनहा करूँ। आर्य समाज ने यह शर्त मजूर की है। एक और पुराना प्रेस जो बहुत मशहूर है, लक्ष्मीनारायण प्रेस, इस मकान के लिए उधार खाये बैठा है। १२०० रुपये यकमुश्त देने के लिए आमादा है मगर समाज के दो-एक मेम्बरो की इनायत से अभी तक उसका आफर मजूर नही हुआ है। अगर मैं यह शर्त न पूरी कर सका तो मकान निकल जायगा और महीनो की दवा-दविश[1] अकारथ हो जायगी। मेरे बजट मे इस बार सौ की गुजाइश न थी। आप तीन सौ रुपये दे दें तो तीन महीने तक किराये की फिक्र न करनी पडे। तब तक मुमकिन है प्रेस से कुछ आमदनी होने लगे तो किराया अदा होता जाय।...आपको यकबार देने में तरद्दुद हो तो तीन महीने तक सौ रुपये माहवार दे दें।'

ऐसा नदी के ढहते हुए कगार पर खडा बिजनेस मुशीजी ही कर सकते थे— और उम्मीद मुनाफे की फिर भी पूरी बाँधे थे! उस पर से यह चालबाजो की दुनिया — झाँसा-पट्टी देनेवालो की कमी थोडे ही है। और मुशीजी है कि सबका एतबार करने को उधार खाये बैठे रहते है। मकान भी हजरत को मिला तो ऐसा जिसमे पहले से एक झगडा लगा हुआ है। लेकिन अब वही मकान नजर पर चढ गया है, जैसे भी मिले लिया जायगा! और वह तो कहिए आर्यसमाज के दो-एक मेम्बरो की कुछ खास इनायत है, वर्ना वह लक्ष्मीनारायण प्रेसवाला मकान लिये भागा जाता था, पूरी रकम यकमुश्त दे रहा था!

बहरकैफ वह दे रहा था या नही दे रहा था, मुशीजी ने देकर मकान अपने

---

१ दौड-धूप

कब्जे में कर लिया। लेकिन मकान हो जाने से ही तो प्रेस खडा नही हो जाता। साल भर तो हो गये इसी की दौड-धूप में।

१६ जून १९२२ को उन्होने निगम को लिखा था, 'मेरा फिर प्रेस खोलने का इरादा है।' १८ जून १९२३ को लिखा, 'अभी प्रेस नही खुला। बाबू महताब-राय की ज्ञानमण्डल से गुलूखलासी[1] का इतजार है।'

उसमें तो खैर अभी थोडी देर थी, हाँ, मुशीजो की विद्यापीठ की नौकरी अलबत्ता छूट गयी। ३ जुलाई सन् २३ के अपने खत में उन्होने निगम साहब को लिखा —

'मेरा ताल्लुक १ जुलाई से काशी विद्यापीठ से टूट गया। इतजामिया कमेटी ने स्कूल के इब्तदाई दर्जे तोडकर बाकी कालेज से मिला दिये। हेडमास्टर की जरू-रत नही रही। और मैंने किसी दूसरी जगह पर रहना मजूर नहीं किया। यह तो जाहिर ही है कि चद महीनो के बाद मुझे इस्तीफा देना पडता क्योकि प्रेस के मुता-ल्लिक कुछ न कुछ काम मुझे भी करना ही पडता। लेकिन इस वक्त कुछ तरद्दुद जरूर हुआ। अब जब तक प्रेस से कुछ याफ्त[2] न हो कलम ही का भरोसा है।'

साझेदारी का काम यो ही खतरे का होता है और फिर जहाँ आपस की साझे-दारी हो, भाई-बन्द के साथ, दोस्त-अहबाब के साथ, वहाँ तो समझिए कि तलवार की धार पर चलना है। कितनी देर लगती है मबधो को बिगडते। मसल भी मशहूर है, मुरौवत का दही खट्टा होता है। इसलिए अगर साझे में काम करना ही हो तो फिर मुरौवत को उसमें कही दखल न होना चाहिए और हर चीज की बाकायदा लिखा-पढी होनी चाहिए, बिलकुल वैसे ही जैसे दो अनजान लोगो के बीच होती है। वर्ना फिर कोई ताकत नही है जो मनमुटाव को रोक सके। उस पर से जहाँ पैसे की तगी हो वहाँ तो करेला और नीम चढा वाली बात हो जाती है।

मुशीजी ने बहुत दुनिया देखी थी लेकिन यह मोटी बात उनकी समझ में न आयी। और अब वह बाबू महताबराय को ज्ञानमण्डल से छुडाकर इस घर के काम में लगाने पर उतारू थे जब कि प्रेस की हालत यह थी कि मैनेजर की तनख्वाह का तो जिक्र ही क्या, मकान का किराया देना भी उसके लिए दूभर था। बडी दबसट में जान पडी थी बेचारे महताब की — न भैया की बात टालते बनती थी और न हिम्मत पडती थी कि लगी-लगायी नौकरी छोड दे। कैसे छोड दे, अपनी तनख्वाह तो मिल जाती है वहाँ एक निश्चित तारीख को। काम हो, न हो, कम हो, ज्यादा हो, इससे बहस नही। यहाँ तो उसका भी सहारा नही, तनख्वाह भी अपनी उसी प्रेस से निकालनी पडेगी। और जो किसी महीने काम न हुआ या कम हुआ या कही पैसा फँस गया तो फिर सोलहो दण्ड एकादशी है। कहना

१ गला छूटने २ आमदनी

आसान है, घर का काम देखो ! मगर घर का खर्च चलने की भी तो कोई सूरत होनी चाहिए। उनका अलग अपना परिवार था, उसके खर्च थे। गरज़ कि इसी हैस-बैस में महीने-बीस रोज़ का वक्त निकल गया। लेकिन अन्त में भैया की इच्छा ही सबसे ऊपर रही और तय पाया कि २० जुलाई से प्रेस का काम शुरू होगा — लेकिन क्या खूब शुरू होगा और क्या किसी का जिगरा होगा जो ऐसे काम में हाथ डाले !

१८ जुलाई को मुशीजी ने निगम साहब को लिखा —

● २० से प्रेस का काम शुरू होगा। मगर खाली हाथ। मेरे पास अब कुछ नही रहा। कुल आठ हजार का तखमीना किया गया था। मैं ५०० जायद खर्च कर चुका। अब कहाँ से लाऊँ। दोस्तो को तकलीफ देने के सिवा और कहाँ जाऊँ। ४०० एक साहब से लिये। अगर आप ३०० दे सकें तो एक महीने के लिए कुछ सर हलका हो जाये। एक महीने में गालिबन् कुछ आमदनी हो ही जायेगी। शायद उस वक्त तक बाबू रघुपत सहाय का मौजा फरोख्त हो जाये। उसके बाद ही वह मुझे रुपये अदा करनेवाले हैं। मैने तो आप पर बार न डालने के लिए इतना भी लिखा था कि आप माहवार सौ रुपये दे दे तो मैं मकान के किराये से सुबुकदोश[1] हो जाऊँ।

आपकी तरद्दुदात का अंदाजा कर रहा हूँ। जानता हूँ कि मकान की तरमीम में काफी रकम सर्फ करना पडेगी। मगर मेरा मकान भी तो अभी पूरा नही हुआ, सिर्फ गुज़र करने के काबिल हो गया है। अभी एक हजार और लगे तो मुकम्मल हो। उसे मैने ज्यादा इत्मीनान के मौके के लिए टाल दिया है। और क्या अर्ज करूँ।

अब मजबूर हो गया हूँ। अगर आपने इमदाद न की तो फिर कर्ज लेना पडेगा। इसके सिवा और कोई चारा नही है। ... मेरे साले साहब को आप जानते है। मेरी मजबूरी का अंदाजा महज इससे कर सकते है कि मैंने उस बदए खुदा से मदद माँगने से भी गुरेज[2] न किया, हालाँकि वहाँ क्या मिलना था, जवाब तक न आया। . ●

क्या खूब, सारी लेई-पूंजी प्रेस खडा करने में ही उड गयी, अब उसे चलाने के लिए एक कौडी हाथ में नही। मकान के किराये तक के लिए इससे माँग उससे कर्ज ले ! यह प्रेस के ढग से चलने की सूरत न थी और न वह चला। बाबू महताब राय के लिए प्रेस की मैनेजरी नयी चीज न थी। लेकिन अब तक इसका मतलब उन्होने कर्मचारियो से काम लेना ही समझा था, दूसरी जिम्मेदारियो के लिए दूसरे लोग रहते थे। अब प्रेस की सारी जिम्मेदारी उन्ही पर आ पडी थी जो कि एक नयी चीज़ थी। काम लाओ, उसे पूरा करके दो, फिर उसके बिल की वसूली करो, फिर उसका हिसाब रखो। खुद ही सब करो। ज्यादा आदमी रखने की पास में भुगत कहाँ। सब ठनठन गोपाल मामला था। अपना खर्च तक उसी में से निकालना

---

१ निश्चिन्त　　२ आगा-पीछा

पडता था। और फिर हिसाब के मामले में वह कच्चे भी थे — बावजूद इसके कि उन्होने बुककीपिंग का इम्तहान पास किया था। लेकिन बुककीपिंग का इम्तहान पास करना एक बात है और हिसाब रखना दूसरी। ऊपर से काम की कमी। सैकडो छोटे प्रेसो में एक प्रेस और जुड गया था, काम उसके लिए कहाँ रखा था!

पैसे की कमी। काम की कमी। घाटे पर घाटा होता रहा। और जैसे-जैसे घाटा होता रहा वैसे-वैसे साझेदारो मे अनबन बढती गयी और धीरे-धीरे यह नौबत आ गयी कि उन्हे अपनी पूँजी की चिन्ता सताने लगी और यह फ़िक्र हुई कि अपना पैसा लेकर निकल जाने मे ही अब ख़ैरियत है।

प्रेस को खुले अभी एक साल भी पूरा नही हुआ था और सब साझेदार पगहा तुडाने लगे थे। २८ जून १९२४ को मुशीजी ने निगम साहब को लिखा —

'. मेरे प्रेस की हालत अच्छी नही। साल भर पूरे हो गये, नफा और सूद तो दरकिनार कोई छ सौ रुपये का घाटा। नातजुर्बेकारी से ऐसे आदमियो के काम हाथ में लिये गये जिनके पास कुछ न था। अब उनसे रुपया वसूल होना मुश्किल है। मुझे खौफ है कि मेरे बडे भाई साहब, जिनके दो हजार दो सौ पचास रुपये लगे हुए है, तर्के-शिरकत[1] पर आमादा हो जायँगे। इधर अजीज महताब राय ने भी कर्ज लेकर इतने ही रुपये लगाये थे। उन पर महाजन के सूद का तकाजा हो रहा है। वह भी अपने रुपये की वापसी की फ़िक्र में है। अगर मैं भी अपने रुपये की वापसी पर इसरार[2] करूँ तो नतीजा मालूम है। सारा सामान ' इसके बाद खत की इबारत उड गयी है लेकिन उसे जोड लेना इतना मुशकिल नही है, '... बेचकर उसके पैसे साझेदारो में तकसीम कर देने होगे।' मामला बिलकुल इसी तरफ बढ रहा है।

दस रोज बाद ८ जुलाई को उन्होने लिखा।

'.... इधर दो माह में यहाँ की हालत बहुत खराब हो गयी है। भाई साहब अब अपने रुपये की वापसी पर मुसिर[3] हो रहे है। टाल-मटोल कर रहा हूँ। बात यह है कि उन्होने इधर चार छ सौ रुपये किसानो को कर्ज दिये। उस पर उन्हे दो रुपये सैकडा माहवार सूद मिल रहा है। अब उन्हे प्रेस में रुपया फँसाना मोह-मिल[4] मालूम होता है। अगर कहता हूँ कि रुपया वापस नही हो सकता तो कहते है प्रेस तोड दो। हम लोगो ने उन्हे नफे की उम्मीद दिलाकर (और इस काम में कौन है जो मुशी जी से बाजी ले जा सके!) उनसे सवा दो हजार रुपये लिये थे। उम्मीद भी नफे की थी (सोलहो आने!) खसारा उम्मीद के खिलाफ हुआ। (ऐं! घाटा हुआ! वह कैसे!) चूँकि मेरी ही तहरीक[5] से उन्होने रुपये दिये थे

---

१ साझेदारी खत्म करने २ आग्रह ३ आग्रहशील ४ बेकार
५ प्रेरणा

इसलिए वह मुझी को जिम्मेदार ठहराते है । (कितनी बेजा बात है !)'

मगर नही, इतने से ही बस नही है इस मुसीबत की दास्तान का —

' भाई साहब के तकाजो ने सूरत बहुत अन्देशानाक[1] कर दी है । उनके रुपये अदा करके मैं बिलकुल तिहीदस्त[2] हो जाऊँगा । प्रेस रह जायगा । वह चला तो अच्छा है वर्ना खुदा हाफिज ! एक और खसारे की सूरत निकल आयी (शायद इतनी काफी न थी !) मार्च में एक कागज़ काटने की मशीन मद्रास से मँगायी थी । पाँच सौ रुपये बिल्टी के दे दिये । माल अभी लापता है ।'

गरज कि मुशीजी बुरे फँसे है इस बार ।

पचीस रोज बाद फिर लिखा —

' प्रेस मुझे इस कदर परीशान कर रहा है कि मैं तग आ गया हूँ । वह बुरा वक्त था जब मेरे सर में यह सौदाए खाम समाया । आपकी खिदमत में बकायादारो की यह फेहरिस्त, जो इस वक्त मेरे सामने रक्खी हुई है, इरसाल[3] कर रहा हूँ । देखिए । मेरी परेशानियो का सही अदाजा आप कर सकेंगे । २२७२ बकाया पडे हुए है और इसके वसूल होने में अभी न जाने कितनी देर है । इधर मुझ पर ५०० टाइप के ४०० कागज के और २०० किराया मकान के सवार है । मै तो मुतर्फरिक[4] रकम न जाने कब पाऊँगा पर मेरे तकाजेवाले कब चैन लेने देते है । दो किताबे खुद शाया की मगर उम्मीद के खिलाफ अभी तक एक किताब भी तैयार नही हुई । मैने सोचा था कि सितम्बर-अक्तूबर तक दोनो किताबे तैयार हो जायँगी । बकाया वसूल हो जायगा । किताबे बिक जायँगी । रुपये की किल्लत[5] रफा[6] हो जायगी मगर वह सारे मसूबे परीशान[7] हो गये । न किताबे तैयार हुईं और न बकाया वसूल हुआ बल्कि हर महीने में कुछ न कुछ बढता ही गया । अभी कोशिश कर रहा हूँ कि किसी बुकसेलर से मुआमला करके यह सब छपी हुई जिल्दे लागत पर देकर अपने तकाज़ेदारो को अदा कर दूँ । बकायादारो से रफ्ता-रफ्ता वसूल होता रहेगा । हालाँकि इसमें से कम अज कम ५०० 'बैड डेट' में चले जायँगे । दर असल मैने यह झझट मोल लेकर अपनी जान आफत में फँसायी । नही तो मेरे खाने भर को बहुत काफी था । इस तरद्दुद में लिटररी काम भी नही होता ।'

ऐसी हालतो में बाबू महताब राय से भी कुछ अनबन हुए बिना न रही, गो कि यह भी सच है कि दोनो भाई एक दूसरे का बहुत लिहाज करते थे । लेकिन परिस्थितियाँ कुछ ऐसी बेढब थी कि उनके बीच एक दीवार-सी खिचती आ रही थी । एक को दूसरे से शिकायते थी जो कभी तो कलम की नोक पर उतर

---

१ चिन्ताजनक २ खाली हाथ ३ प्रेषित ४ फुटकर ५ कष्ट ६ दूर ७ तितर-बितर

आती और अक्सर दिलो के भीतर घुमडती रहती। दोनो अपनी-अपनी जगह ठीक थे, लेकिन अलग खडे होकर देखो तो उनमे से कोई भी सोलहो आने ठीक नही था। सबसे बडी सच्चाई यह थी कि दोनो खाली हाथ थे और परिस्थिति की विवशता से सचालित हो रहे थे।

होते-होते यह नौबत पहुँची कि मुशीजी ने लखनऊ से बाबू महताब राय को लिखा कि प्रेस बद कर दो और जिसका जितना निकलता हो दे-लेकर यह टटा खतम करो। इसके जवाब में बाबू महताब राय ने शायद लिखा कि प्रेस को बद करना तो उसके हक में और भी बुरा होगा, सारे का सारा रुपया डूब जायगा। क्यो न हममें एक उसको पूरी तरह अपने हाथ में लेकर चलाये, और अगर आप मजूर करें तो मै उसे लेने को तैयार हूँ।

उसका जवाब देते हुए मुशीजी ने लिखा —

'प्रेस के मुताल्लिक तुमने जो तजवीज की वह मुझे बहुत पसद है। मै भी यही चाहता हूँ कि प्रेस एक आदमी का हो जाय। मैने तुमसे जो कहा था कि प्रेस बद कर दो, उसके माने भी यही थे कि मैं साझे के रुपये को सूदी रुपया कर्ज समझकर कुछ अभी दे देता और कुछ बाद को, और प्रेस का काम जारी रखता। बेचने का इरादा तो उस हालत में था जब मैं भी आजमाइश कर लूँ। उससे पहले नही। लेकिन अब चूँकि तुमने खुद इसको अपना कर लेने का इरादा किया है, बहुत अच्छी बात है। मैं बडी खुशी से तुम्हे इसकी सलाह देता हूँ।' लेकिन साझेदारो के रुपये का क्या होगा? इसके बारे में मुशीजी ने लिखा —

' अब यह देखो कि तुम्हे अगस्त तक कितने रुपये का इतजाम करना पडेगा। भाई साहब को असल २२५० + सूद २७० — २५२० रुपया। रघुपति सहाय को असल २००० + सूद डेढ साल का १८० — कुल २१८०। २५२० + २१८० — कुल मीज़ान ४७००। क्या तुमने ४७०० का इतजाम कर लिया है? साफ-साफ बताने की जरूरत है। मैं साल भर तक रुपये का इतजार कर सकता हूँ। गोया पारसाल जुलाई में मुझे ४५०० + ६७५ (तीन साल का सूद) यानी ५१७५ रुपये देने पडेगे। यानी तुन्हे ४७०० + ५१७५ — ९८७५ का इतज़ाम करने की जरूरत है। मेरा शुमार अभी न करो। तब भी ४७०० का इतजाम तो करना ही पडेगा। अगस्त तक तुम इसका इतजाम कर सकते हो तो करो और अगर किसी ने तुम्हे मदद देने का यो ही वायदा कर लिया है तो उसके धोखे में न आओ।

'मै इसके लिए भी तैयार हूँ कि तुम बलदेव भैया के रुपये मय सूद के वापस कर दो। इस तरह प्रेस में हम और तुम रह जायेगे। रघुपतिसहाय का रुपया दस्तावेजी कर लिया जाय और उन्हे बारह आने सैकडा सूद हम लोग देते रहे। लेकिन उस हालत में हममें से कोई भी तनख्वाह न लेगा। काम हम भी करेंगे, काम तुम भी

करोगे। हम अगर खुद काम न करेंगे तो अपनी तरफ से एक आदमी रख देंगे जो प्रूफ देखेगा और दफ्तर का काम —मुलाजिमो की हाजिरी वगैरह हिसाब-किताब रखेगा। अगर यह सूरत पसद न हो तो तुम सबको अलहदा करके प्रेस अपना कर लो। लेकिन जब तक रुपये मिलने की पूरी उम्मीद न हो वायदो पर न टालो।'

बाबू महताब राय प्रेस तो लेना चाहते थे लेकिन साझेदारो को देने के लिए इतने रुपये कहाँ से लाते। एक बार इसके लिए भी हामी भरी कि कही से कर्ज लेकर इन हिस्सेदारो को चुकता करे लेकिन फिर हिम्मत नही पडी। तब फिर इसके सिवा और क्या सूरत थी कि प्रेस को बेच दिया जाय। उस समय मुशी जी ने प्रस्ताव किया कि बजार में प्रेस का जो दाम लगता हो वह मैं देकर उसको अपना कर लूँ। उसके जवाब में बाबू महताबराय ने लिखा — 'बाजार में जब बेचना ही है तो जो दाम लगे मैं ही क्यो न देकर ले लूँ, आप ही क्यो लेगे। जो बाजार में कीमत लगे उसमें से बाकी देकर सब लोग तकसीम कर लें और प्रेस मै ले लूँ क्योकि मैं बेरोजगार हूँ।'

सवाल का यह एक नया पहलू था जिसे मुशीजी ने शायद सोचा भी न था। झुँझलाकर उन्होने जवाब दिया — 'प्रेस तुम लो या मैं लूँ? जो ज्यादा से ज्यादा कीमत दे वही उसके लेने का अख्तियार रखता है। अगर मैं सबसे ज्यादा दूँगा, मैं लूँगा, तुम दोगे, तुम लोगे, कोई तीसरा देगा, तीसरा लेगा। अगर तुम बेरोजगार हो तो मैं कौन बारोजगार हूँ। तुम नौजवान आदमी हो, कलकत्ता-बम्बई की हवा खा सकते हो, मै तो इस काबिल भी नही हूँ। खैर। बतलाओ कि तुम प्रेस की ज्यादा से ज्यादा क्या कीमत दे सकते हो। अगर मै उससे ज्यादा दूँगा तो मै लूँगा, वर्ना तुम।'

बाबू महताब राय ने उनके ख़त का जवाब देते हुए लिखा —

'आप ही बताइए आप क्या देंगे। अगर मैं पहले बता दूँ तो क्या मुझे और बढने का हक होगा? क्या हमारी और आपकी बोली पर ख़ात्मा है, कि और लोगो की भी राय ली जायेगी?'

मुशीजी ने उस पर नोट लिखा —

'हाँ हाँ, बोली है। आख़िरी वक्त तक सबको बढने का अख्तियार है। तुम जो कुछ कहो, उससे मै बढूँगा, फिर तुम बढना, फिर मैं बढूँगा, फिर तुम बढना। बस जहाँ तक कोई आगे न बढ सके वही ख़ात्मा है।'

और फिर नीलामी बोली बोली जाने लगी।

बाबू महताब राय ने रकम लिखी	६०००
मुशीजी ने आगे बढकर लिखा	६५००
महताब राय आगे बढे	७०००
मुशीजी और भी आगे बढे	७५००

महताब राय ने और हिम्मत की	७७५०
मुशीजी भला कैसे पीछे रहते	७८००
महताब राय ने और जोर मारा	७९००
मुशीजी कहाँ दबनेवाले थे	८०००
इसी तरह बोली बढती रही ।	
आखिरी बोली बाबू महताब राय ने दी	९४००

मुशीजी तो पहले ही मन में धार चुके थे, हरगिज हरगिज प्रेस को हाथ से जाने न दूँगा, मेरी ही बोली ऊपर रहेगी, प्रेस मैं ही लूँगा । ऐसे के साथ कोई कहाँ तक चलता । मुशीजी ने एक सौ रुपया बढाकर कहा ९५०० और उसी पर तोड हो गयी । प्रेस मुशीजी का हो गया। जो चीज जुए की तरह शुरू की गयी थी उसका जुए जैसा ही यह अत हुआ ! प्रेस से पीछा छुडाने का यह एक मौका मिला था, वह भी हाथ से निकल गया और मुशीजी ने दुबारा यह खटराग मोल लिया ।

कई बरस बाद इस बदाबदी का जिक्र करते हुए मुशीजी ने १ जून सन् ३१ को यह दर्द-भरा खत लिखा जिसे पढकर रोना भी आता है, हँसी भी —

● कल भाई साहब से बातचीत हो रही थी । उनसे मुझे यह मालूम करके कुछ हँसी भी आयी कुछ ताज्जुब भी हुआ कि तुम अभी तक उस लफ्ज़ी डुएल को, जो आज से छ-सात साल पहले मेरे यहाँ मेरे और तुम्हारे दरमियान हुआ था, तमस्सुक की तरह महफूज़ रखे हुए मुझसे अपने रुपये के लिए एक रुपया सैकडा ब्याज की उम्मीद रखते हो ।

जिस वक्त हमारे और तुम्हारे दरमियान वह लफ्जी होड हुई थी, न तुम्हारे पास रुपये थे और न मेरे पास । तुमने भी, अगर मेरा हाफ्ज़ा गलती नही करता, ९४०० की बोली बोली थी । क्या तुम कह सकते हो कि उस वक्त अगर मैं ९४०० पर राज़ी हो जाता तो तुम मेरे और रघुपत सहाय के हिस्से के रुपये इसी परते से अदा कर देते ? हरगिज नही । न तुम अदा कर सकते थे और न मै ही इस काबिल था कि तुम्हारे १९०० रुपये जो इसी परते से अदा होते, अदा कर देता । नतीजा यह होता कि प्रेस तुम्हारी ही निगरानी में रहता और जिस तरह काम चलता था उसी तरह चलता रहता । मेरा मशा प्रेस को अपनी निगरानी में लेकर उससे नफा करने का था । मुझे यकीन था कि मैं नफा कर सकूँगा । . इन ख़यालो के जेरे असर ही मैंने तुम्हारे हाथ से इतज़ाम लिया । वर्ना तुम भी जानते हो और मै भी जानता हूँ कि उस वक्त भी बाज़ार में प्रेस की कीमत इतनी किसी तरह से न लग सकती थी ।

अगर यह मान लिया जाय कि तुम रुपये अदा कर देते और तुम्हारे पास उस वक्त ६ हज़ार रुपये मौजूद थे (हालाँकि यह गैर मुमकिन मालूम होता है) तब भी तुमने प्रेस के लेने और देने की जो फर्द पेश की थी और जिसकी बिना पर मैंने तुम्हारे

रुपये चुका देने का इरादा किया था, वह सही नही निकली। उसकी ज्यादातर रकमे ऐसी थी जो वसूल न हो सकती थी और न वसूल हुई। और कई रकमें उनमें से ऐसी छूट गयी थी जो फौरन अदा करनी पडी। अगर नावसूलशुदा रुपये तुम्हारे नाम डाल दूँ और जो जायद मुझे तुम्हारे जमाने के लिए देने पडे तो तुम्हारा हिस्सा ही गायब हो जायगा।. इसलिए मुझे ताज्जुब होता है कि तुम किस कानून या इसाफ से अपने रुपये के सूद के हकदार हो सकते हो। यह जरूर है कि तुम्हे प्रेस मे फँसने और रुपया लगाने का अफसोस हो रहा है। मुझे भी हो रहा है। भाई साहब को भी हो रहा है। रघुपतसहाय को भी हो रहा है। सबके सब सर पर हाथ धरे रो रहे है। लेकिन तुमने कम से कम प्रेस से दो साल तनख्वाह तो ली। ज्यादा से ज्यादा तुम्हारा सूद का नुकसान हुआ, जो आठ आने सैकडा के हिसाब से छ साल का ७०० रुपया होता है। मेरे नुकसान का अदाजा करो। मैने दो साल तक प्रेस से एक पाई लिये बगैर काम किया और अपना कम से कम पाँच सौ रुपया इसमें और लगाया जो हिसाब में मौजूद है। उसके बाद से आज तक मैने हजारो रुपये का काम प्रेस को दिया। खुद अपनी किताबें प्रेस में छपवायी। आज भी अपनी किताबो की बिक्री से प्रेस चला रहा हूँ। . इस तरह मुझे तो अलावा सूद के कोई ५००० का नुकसान हो चुका है और सूद भी जोडूँ तो १९०० हो जाते है। गोया प्रेस खोलकर मैने ७००० का नुकसान उठाया। और मैं इसे हर्फ-ब-हर्फ सही साबित कर सकता हूँ। हिसाब प्रेस में मौजूद है। तुम्हारा नुकसान तो सिर्फ सूद का हुआ है, रघुपतसहाय को भी इतना ही नुकसान हुआ। मगर अभी तक सबर से बर्दाश्त किये जाते है। भाई साहब भी प्रेस की हालत से वाकिफ है और खामोश है। सब समझ रहे है कि प्रेस खोलना गलती थी और अगर तकदीर में होगे तो मिलेगे वर्ना डूब गये। मै अपनी जिम्मेदारी को समझकर अब भी हर तरह का नुकसान उठाता हुआ इसे कामयाब बनाने की फिक्र में पडा हुआ हूँ। बार-बार दौड-दौड आता हूँ। हिसाब-किताब देखता हूँ। क्योकि मेरे दिल से लगी हुई है कि किसी तरह नफा हो और हिस्सेदारो को कुछ दे सकूँ। मैंने अगर बेईमानी की होती और कुछ खा गया होता तो हिस्सेदारो को मुझसे बदगुमानी होती। लेकिन मैंने तो प्रेस से पान तक नही खाया। मेरा कान्शस बिलकुल साफ है। जब तक मेरी जिन्दगी है मै अपना नुकसान उठाता हुआ प्रेस के लिए जान देता रहूँगा और कामयाब होना तकदीर में लिखा है तो कामयाब हूँगा। ....

तुम्हे नुकसान पहुँचाकर या तकलीफ में देखकर मुझे मसर्रत नही होती और न हो सकती है। तुम्हे खुशहाल देखकर मुझे खुशी होगी और उसका अदाजा तुम शायद न कर सको। अगर मैं इस काबिल होता कि तुम्हारी ज्यादा इमदाद कर सकता तो हरगिज दरेग न करता। लेकिन मुझे इस प्रेस ने बिल्कुल मुफलिस बना डाला।

किताबो से मुझे जो कुछ मिल जाता था वह अब प्रेस की नजर हो रहा है। अब मेरा इरादा है कि लखनऊ से आकर फिर प्रेस मे डटूँ और जिस तरह भी हो सके उसे कामयाब बनाऊँ। तुम चाहो तो अब भी इस काम में मदद दे सकते हो। .. या तुम्हारे ख़याल में प्रेस से और जो कुछ तुम्हे अपने हिस्से में मिलना चाहिए वह ले लो। मेरे पास प्रेस की हर चीज का बीजक रखा हुआ है। इस बीजक को देखकर दो हज़ार की चीजें निकाल लो। चीजे बेशक पुरानी हो गयी है मगर उनका नफा मैने नही उठाया। न तुमने उठाया। यह समझ लो कि कारबार में नफा-नुकसान दोनो होता है और इसमें नुकसान हुआ। तुम्हारे दो हजार रुपये इस वक्त तुम्हारे पास होते तो तुम उससे एक छोटा साइज पूरा प्रेस खोल सकते थे। मेरे साढे चार हजार मेरे पास होते तो मै उससे अच्छा प्रेस खोल सकता था। अगर हमने और तुमने बैक में रख दिये होते तो तुम्हे अब तक एक हजार के करीब सूद मिल गया होता और मुझे भी दो-अढाई हज़ार मिल गये होते। मैने जो और हजारो का नुकसान उठाया उससे बच गया होता। लेकिन अब इन बातो को याद करके पछताने से क्या हासिल। अब तो गले की ढोल बजाना ही पडेगा। मै तो इस प्रेस के पीछे बरबाद हो गया। ●

कहना होगा कि मुशीजी ने गले की ढोल बजायो और जी तोडकर बजायी लेकिन अभी उनको यह समझना बाकी था कि दुनिया में कुछ काम ऐसे भी है जो केवल भीष्म-प्रतिज्ञा के बल पर पूरे नही किये जा सकते। प्रेस चलाना भी उनमें से एक है। फटी हुई ढोल थी, बहुत ही कर्कश बोलती थी, गर्दन कटी जा रही थी लेकिन मरते दम तक वह उसे बजाते रहे — इतनी-सी बात उनकी समझ में न आयी कि ढोल को गले से निकालकर फेंका भी जा सकता है! मरजाद का सवाल था न! क्या कहेंगे लोग, प्रेस चलाये नही चला! जैसे कोई बडा गुनाह हो यह। नही चला, नही चला, कौन-सी ऐसी बात है इसमें। लेकिन हर किसान की तरह मरजाद का कीडा जो उसके दिमाग में घुसा हुआ है!

आखिर एक दिन उनको भी अपनी गलती का एहसास हुआ, जैसा कि पहले कभी नही हुआ था, लेकिन तब तक जिन्दगी की साँझ झुक आयी थी। १४ फरवरी सन् ३४ को उन्होने जैनेन्द्र को लिखा —

'.. सारी विपत्ति की जड तो यह प्रेस है। न जाने किस बुरी साइत में उसकी बुनियाद पडी थी। १० हजार रुपये, ११ साल की मेहनत और परीशानियाँ अकारथ हो गयी। इसी प्रेस के पीछे कितने मित्रो से बुरा बना, कितनो से वायदा-ख़िलाफी की, कितना बहुमूल्य समय जो लिखने-पढने में कटता, बेकार प्रूफ देखने में कटा! मेरी ज़िन्दगी की यह सबसे बडी गलती है।'

लेकिन यह सब तो अभी बरसों आगे की बातें हैं। अभी तो मुशीजी अपने प्रेस के मकान पर निहाल है और वहाँ से प्रकृति की छटा निरख रहे है — 'मेरा

प्रेस का मकान इतना वसीह,[1] शहर से मुलहिक[2] और फिर इतना दूर और ऐसे मौके से है कि उससे बेहतर जगह बनारस में नहीं है। बिलकुल टाउन हाल और पार्क के मुत्तसिल[3]। कमरे के दरवाज़े खोल दीजिए और पार्क का लुत्फ घर बैठे उठाइए।' यह बात और है कि उसका किराया देने के लिए गाँठ में पैसे नहीं है जिससे तबीयत परीशान और झुँझलायी हुई-सी रहती है।

१ बड़ा २ लगा हुआ ३ पास

१६

चार महीने ' मर्यादा ' की नौकरी फिर साल भर काशी विद्यापीठ। पैर में चक्कर है, शहर-देहात एक किये बैठे है। नया मकान बन रहा है सो अलग से। वह भी कुछ न कुछ वक्त खाता ही है। और फिर उन सब पर भारी, प्रेस का खटराग। एक-दो नही, पूरी एक लैनडोरी। दम मारने की गुजाइश नही है।

कलम थोडा सुस्त हो गया है इन सब झझटो में। इससे बडी सजा मुशीजी के लिए दूसरी नही है। कोई तकलीफ तकलीफ नही है, जब तक कलम चल रहा है अच्छी तरह। कलम रुकते ही मन पर आरी-सी चलने लगती है। उसमें नागा नही होना चाहिए।

मारवाडी विद्यालय से इस्तीफा देने के पद्रह-सत्रह रोज पहले ही चौरीचौरा का काण्ड हो चुका था और गाधीजी आन्दोलन को स्थगित करने की घोषणा कर चुके थे। मुशीजी के सामने जन-जागरण की अपनी एक लबी योजना है जिसे इस सामयिक उलट-फेर से कुछ भी नही लेना-देना।

१४ फर्वरी १९२२ के अपने खत में मुशीजी ने ताज साहब को लिखा था कि ' आजकल खुद भी एक ड्रामा लिखने की कोशिश कर रहा हूँ। ' यह उनका नाटक ' सग्राम ' था जो कि शायद उनकी पहली बडी रचना थी जो पहले हिन्दी में लिखी जा रही थी। यह नाटक फर्वरी सन् २३ में प्रकाशित हुआ।

असहयोग आन्दोलन की पृष्ठभूमि में नाटक लिखा जा रहा है और वही समस्याएँ इसमें चित्रित है। मन दूसरी किसी तरफ जाने के लिए तैयार नही है।

सबलसिह जमीन्दार पक्के ' सुराजी ' आदमी है। बेगार न खुद लेते है और न अमलो को लेने देते है। झगडो को निपटाने के लिए जगह-जगह पचायते खुलवाते फिरते है। उनके खिलाफ अग्रेज हुक्काम को यही खास शिकायत है। पचायतो के कायम होने में उन्हे अपनी मौत को घटी बजती सुनायी पडती है। उधर सबलसिह कहते है — अदालतें सबलो के अन्याय की पोषक है। ' जहाँ रुपयो के द्वारा फरियाद की जाती हो, वहाँ गरीबो की कहाँ पैठ। यह अदालत नही, न्याय की बलिवेदी है। ' इसलिए जरूरी है कि पचायतें बनायी जायँ। पचायतो के खिलाफ कोई भी दलील सुनने को वह तैयार नही है। 'यह आक्षेप किया जाता है कि पचायते

यथार्थ न्याय न कर सकेगी, पच लोग मुँहदेखी करेंगे और वहाँ भी सबलो की ही जीत होगी।' बहुत तगडी शका है जिसकी सच्चाई आज प्रकट हो रही है लेकिन इसका जवाब भी उसी समय मुशीजी के पास मौजूद था — स्थायी पच न रखे जायँ। जब ज़रूरत हो दोनो पक्षो के लोग अपने-अपने पचो को नियत कर दे।

किसानो को जगाने की सारी बाते यहाँ मौजूद है। ज़मीन्दारो की हारी-बेगारी, पुलिस का जुल्म, अमलों की घूसखोरी, झूठे मुकदमे और उनकी झूठी शहादतें जिनमें गवाहो को तोते की तरह उनका सबक रटाया जाता है, खानातलाशी के नाम पर मनमानी लूट, सुराजी कहकर किसी को भी कानून के जाल में फाँस लेना — सब कुछ जैसे रूप धरकर यहाँ कागज पर उतर आया है।

किसानो की एक बडी बीमारी है कर्ज लेना। उसके बारे में सबलसिंह के छोटे भाई कचनसिंह, जो महाजनी करते है और जिन्हे उनके भाई का आदेश है कि सूद कम लिया करो, हलधर को इन शब्दो में झिडकते है —

'किसान ने खेत में पौधे लहराते हुए देखे और उसके पेट में चूहे कूदने लगे। नही तो ऋण लेकर बरसी करने या गहने बनवाने का क्या काम, इतना सब्र नही होता कि अनाज घर में आ जाय तो यह सब मसूबे बाँधे। मुझे रुपयो का सूद दोगे, नजराना दोगे, मुनीमजी की दस्तूरी दोगे, दस के आठ लेकर घर जाओगे लेकिन यह नही होता कि महीने-दो महीने रुक जायँ। तुम्हे तो इस घडी रुपये की धुन है, कितना ही समझाऊँ, ऊँच-नीच सुझाऊँ, मगर कभी न मानोगे। रुपये न दूँ तो मन ही मन गालियाँ दोगे और किसी दूसरे महाजन की चिरौरी करोगे।'

सबलसिंह गाँववालो को मैजिक लैंटर्न से तसवीरें भी दिखाते है। बडे खूबसूरत ढग से यह दृश्य आया है —

● (पहला चित्र—कई किसानो का रेलगाडी में सवार होने के लिए धक्कम-धक्का करना, बैठने का स्थान न मिलना, खडे रहना, एक कुली को जगह के लिए घूस देना, उसका इनको एक मालगाडी में बैठा देना। एक स्त्री का छूट जाना और रोना। गार्ड का गाडी का न रोकना।)

हलधर — बेचारो की कैसी दुर्गति हो रही है। लो, लात-घूँसे चलने लगे। सब मार खा रहे है।

फत्तू — यहाँ भी घूस दिये बिना नही चलता। किराया दिया, घूस ऊपर से। लात-घूँसे खाये, उसकी कोई गिनती नही। बडा अन्धेर है।

(दूसरा चित्र — गाँव का पटवारी खाट पर बस्ता खोले बैठा है। कई किसान आस-पास खडे है। पटवारी सभी से सालाना नज़र वसूल कर रहा है।)

हलधर — लाला का पेट तो फूल के कुप्पा हो गया है। चुटिया इतनी बडी है जैसे बैल की पगहिया।

फत्तू — इतने आदमी खडे गिडगिडा रहे है पर सिर नही उठाते, मानो

कही के राजा है ! अच्छा पेट पर हाथ धरकर लेट गया । पेट अफर रहा है, बैठा नही जाता । चुटकी बजाकर दिखाता है कि भेट लाओ । देखो, एक किसान कमर से रुपया निकालता है । मालूम होता है बीमार रहा है, बदन पर मिर्जई भी नही है, चाहे तो छाती के हाड गिन लो । वाह मुशी जी ! रुपया फेक दिया, मुँह फेर लिया, अब बात न करेंगे । जैसे बँदरिया रूठ जाती है और बन्दर की ओर पीठ फेरकर बैठ जाती है । बेचारा किसान कैसा हाथ जोडकर मना रहा है, पेट दिखाकर कहता है, भोजन का ठिकाना नही, लेकिन लाला साहब कब सुनते है ।

हलधर — बडी गलाकाटू जात है ।

(तीसरा चित्र — थानेदार साहब गाँव में एक खाट पर बैठे है । चोरी के माल की तफतीश कर रहे है । कई कान्सटेबुल वर्दी पहने हुए खडे हे । घरो मे खानातलाशी हो रही है । घर की सब चीजें देखी जा रही है । जो चीज जिसको पसन्द आती है उठा लेता है । औरतो के बदन पर के गहने भी उतरवा लिये जाते है ।)

फत्तू — इन जालिमो से खुदा बचाये !

एक किसान — आये है अपने पेट भरने । बहाना कर दिया कि चोरी के माल का पता लगाने आये है ।

फत्तू — अल्ला मियाँ का कहर भी इन पर नही गिरता । देखो बेचारो की खानातलाशी हो रही है ।

हलधर — खानातलाशी काहे की है, लूट है । उस पर लोग कहते है कि पुलुस तुम्हारे जान-माल की रच्छा करती है । ●

बगावत की आग सीने में भडक रही है, कैसे वह यही आग औरो के सीने में भी भडका दे । जब तक किसान विद्रोह नही करेगा इस देश में कुछ नही होगा ।

अपनी तरफ से नमक-मिर्च लगाने की कोई जरूरत नही है, बस एक बडा-सा आईना उठाकर उनके सामने रख देना है — देख लो इसमें अच्छी तरह अपनी तसवीर । बुढिया सलोनी पुरानी बातो को याद करती हुई राजेश्वरी से कहती है —

' बेटी, तुम्हारे खिलाने से अब मेरा पेट न भरेगा । मेरा पेट भरता था जब रुपये का पसेरी भर घी मिलता था । अब तो पेट ही नही भरता । चार पसेरी अनाज पीसकर जाँत पर से उठती थी । चार पसेरी को रोटियाँ पकाकर चौके से निकलती थी । अब बहुएँ आती है तो चूल्हे के सामने जाते उनको ताप चढ आती है, चक्की पर बैठते ही सिर में पीरा होने लगती है । खाने को तो मिलना नही बल-बूता कहाँ से आवे । न जाने उपज ही नही होती कि कोई ढो ले जाता है । बीस मन का बीघा उतरता था । बीस रुपये भी हाथ में आ जाते थे तो

पछाई बैलो की जोडी द्वार पर बँध जाती थी। अब देखने को रुपये तो बहुत मिलते है पर ओले की तरह देखते-देखते गल जाते है।'

यह सब ठेठ किसान है जो आपस में अपने दुख-दर्द की बाते कर रहे है। उन्ही के बीच एक ठेठ किसान और भी है जो बैठा हुआ सबके कान में कुछ मतर फूँकता रहता है। उसने एक रोज हल की मूठ नही पकडी पर वह सोलहो आने किसान है। लोग उनसे देश का हाल पूछते है, मुशीजी उनसे उन्ही का हाल पूछते है। दिशा-फरागत के लिए दूर निकल जाते है, लौटते समय रास्ते में किसी चाचा-काका से किसी भाई-भतीजे से रामराम होती है, हालचाल पूछा जाता है, कही किसी खेत की मेड पर बैठकर कुछ लबी चर्चा भी हो लेती है, कुछ सूखे-बूडे का हाल, कुछ देश-दुनिया का हाल। पुरवट पर बैठकर बातचीत और भी ढग से होती है। यार-दोस्त भी उनके जो है किसानो में ही। अक्सर शाम को निकल जाते है उसी तरफ। फिर नीम या महुआ की छाया में खटिया पर बैठकर घटो बातचीत होती है, जब तक घर से बुलावा नही आता। मुशीजी खुद कम बोलते है। बात छेडकर चुपचाप बैठे सुनते रहते है।

सबलसिह 'डिमाक्रेसी' नाम का कोई ग्रथ पढ रहे है जिसमें यह बात लिखी है — 'हम अभी जनसत्तात्मक राज्य के योग्य नही है, कदापि नही है। अमरीका, फ्रास, दक्षिणी अमरीका आदि देशो ने बडे समारोह से इसकी व्यवस्था की पर उनमें से किसी को भी सफलता नही हुई। वहाँ अब भी धन और सपत्तिवालो के ही हाथो में अधिकार है। प्रजा अपने प्रतिनिधि कितनी ही सावधानी से क्यो न चुने, पर अन्त में सत्ता गिने-गिनाये आदमियो के ही हाथो में चली जाती है। सामाजिक और राजनैतिक व्यवस्था ही ऐसी दूषित है कि जनता का अधिकाश मुट्ठी भर आदमियो के वशवर्ती हो गया है। जनता इतनी निर्बल, इतनी अशक्त है कि इन शक्तिशाली पुरुषो के सामने सिर नही उठा सकती आदर्श व्यवस्था यह है कि सब के अधिकार बराबर हो, कोई जमीदार बनकर, कोई महाजन बनकर जनता पर रोब न जमा सके। यह ऊँच-नीच का घृणित भेद उठ जाये।...'

बोलशेविक क्रान्ति का बीज मुशीजी के मन में गहरे जाकर बैठा है। अब से तीन बरस पहले मुशीजी ने निगम साहब को जो यह बात लिखी थी कि 'अब मैं करीब-करीब बोलशेविस्ट उसूलो का कायल हो गया हूँ' वह कोई क्षणिक उबाल नही था। उसकी मोटी-मोटी बातें मुशीजी के मन में गहरे समा गयी है।

कुछ डाकू आपस में बातें कर रहे है। एक कहता है —

'कुकरम क्या हमी करते है, यही कुकरम तो ससार कर रहा है। सेठजी रोजगार के नाम से डाका मारते है, अमले घूस के नाम से डाका मारते है, वकील मेहनताना के नाम से डाका मारते है। पर उन डकैतो के महल खडे है, हवा-गाडियो पर सैर करते फिरते है, पेचवान लगाये मखमली गद्दियो पर पड़े रहते है।

सब उनका आदर करते है, सरकार उन्हे बडी-बडी पदवियाँ देती है। हमी लोगो पर विधाता की निगाह क्यो इतनी कडी होती है ?'

दूसरा जवाब देता है —

'काम करने का ढग है। वह लोग पढे-लिखे है इसलिए हमसे चतुर है, कुकरम भी करते है और मौज भी उडाते है। वही पत्थर मन्दिर में पुजता है और वही नालियो में लगाया जाता है।'

मुशीजी ने वर्तमान समाज-व्यवस्था से पूरी तरह विद्रोह कर दिया है। दूसरे स्वराज्यवादियो के मन में स्वराज्य की तस्वीर भले साफ न हो, इस आदमी के मन में आईने की तरह साफ है। उसके लिए स्वराज्य का मतलब है इस अन्याय-पूर्ण समाजव्यवस्था में आमूल परिवर्तन — अग्रेजी अमलदारी से मुक्ति केवल उसकी पहली कडी है। उतने मात्र से सन्तुष्ट हो जानेवाला जीव वह नही है — जब कि स्थिति यह है कि अग्रेजी पराधीनता से सम्पूर्ण मुक्ति की बात सोचने-वाले भी अभी देश में कम ही है, उसके आगे की समाज-रचना तो बहुत दूर की बात है। इस आदमी का अलग अपना सपना है, अलग अपना रास्ता। स्वराज्य का मतलब सब अपने-अपने ढग से समझते-समझाते है, तो फिर मुशीजी ही क्यो इस अधिकार से वचित रहे। यही उनकी सारी कोशिश है — जनता को जगाओ उन मानव अधिकारो के लिए जिन्हे तुम सत्य समझते हो, न्यायपूर्ण समझते हो, ताकि स्वराज्य के नाम से, जब भी वह दिन आये, कोई फुसफुसी बेस्वाद चीज़ लोगो को न पकडायी जा सके।

स्वाधीनता का सग्राम चल रहा था। क्या हुआ जो अभी कुछ दिनो से बन्द था। कल फिर होगा। यह तो दस्तूर ही है। उस सग्राम में सबको हिस्सा लेना है, जिससे जैसे बन पडे। मुशीजी अपने कलम के जोर से उसमें हिस्सा लेते है। इस सग्राम के जो सैनिक है, साधारण किसान, मेहनतकश, उनको जगाना, उनकी बुद्धि को, विवेक को, पौरुष को — यह भी तो एक जरूरी काम है और शायद सबसे जरूरी। वह खुद प्रेमचन्द है जो नाटक के शेष होते-होते हलधर के मुँह से इन शब्दो में हमारे पौरुष को ललकारते है —

' जिस आदमी के दिल में इतना अपमान होने पर भी क्रोध न आये, मरने-मारने पर तैयार न हो जाये, उसका खून न खोलने लगे, वह मर्द नही हिजडा है। हमारी इतनी दुर्गत क्यो हो रही है ? जिसे देखो वही तुम्हे चार गालियाँ सुनाता है, ठोकर मारता है। क्या अहलकार, क्या ज़मीदार सभी कुत्तो से नीच समझते है। इसका कारन यही है कि हम बेहया हो गये है, अपनी चमडी को प्यार करने लगे है। हममें भी गैरत होती, अपने मान-अपमान का विचार होता तो मजाल थी कि कोई हमें तिरछी आँखो से देख सकता। दूसरे देशो में सुनते है गालियो पर लोग मारने-मरने को तैयार हो जाते है। वहाँ कोई किसी

को गाली नही दे सकता । यहाँ क्या है, लात खाते है, जूते खाते है, घिनौनी गालियाँ सुनते है, धर्म का नाश अपनी आँखो से देखते है, पर कानो पर जूँ नही रेंगती, खून जरा भी गर्म नही होता, चमडी के पीछे सब तरह की दुर्गत सहते है । जान इतनी प्यारी हो गयी है । मै ऐसे जीने से मौत को हजार दर्जे अच्छा समझता हूँ । बस यही समझ लो कि जो आदमी प्रान को जितना ही प्यारा समझता है, वह उतना ही नीच है । '

प्रेस और नये मकान में से कोई अभी खडा नही हुआ है । हर रोज एक नया झमेला सामने आता है । इस सबमें उनका लिखना-पढना अपने हिसाब से काफी कम हो गया है, लेकिन यो कम नही है । एक दर्जन के करीब कहानियाँ (जिनमें से अधिकाश सुराजी कहानियाँ है) और एक बडा सुराजी नाटक, सब इसी दौर में इन्ही झमेलो के बीच लिखे है । लिखे बिना उन्हे चैन भी तो नही मिलता । एक दिन का भी नागा उन्हे जहर मालूम होता है, एक आरी-सी चल जाती है कलेजे पर । उस रोज उन्हे कुछ अच्छा नही लगता और तबीयत झल्लायी हुई रहती है । छोटी-छोटी-सी बातो पर, जिन्ह यो हँसकर टाल देने की उनकी आदत है, झुँझला पडते है । हाँ, कलम चलता रहे तो फिर सब ठीक है ।

ताहम वक्त तो इन सब झझटो में जाता ही था और अपने हिसाब से उन्होने काफी काम नही किया था । 'प्रेमाश्रम'-जैसा कोई उपन्यास अब तक आ जाना चाहिए था । ढाई बरस से ऊपर हो गया था उसको पूरा किये । इधर कुछ दिनो से एक अन्धा अक्सर दिखायी पडता है । उसके चेहरे-मोहरे, बोल-चाल में कुछ खास बात है । उसे देखकर एक उपन्यास की रूपरेखा मन में बन रही है । बडा उपन्यास होगा ।

१ अक्तूबर १९२२ को मुशीजी ने निगम साहब को लिखा —

'प्रेस का सामान कुछ कलकत्ते से मँगवाया । टाइप का आर्डर दे दिया है मगर मशीन अभी तक नही मिली । प्रेस खुला और मैं घर बैठा । नाना साहब तशरीफ लाये हुए हैं । उनके खानदान में खानगी जग शुरू हो गयी । भाई-बन्दो से उनकी तनहाखुरी[1] न बर्दाश्त हो सकी । अब बटवारे का मसला दरपेश है । मेरे मकान में हुल्लड हो रहा है । जन्माष्टमी करीब आ रही है । मुसम्मम[2] इरादा है कि इस तातील में आपसे मुलाकात करूँ । जिन्दगी का एतबार नही । रस्मे मुलाकात कायम रहे तो बेहतर । आप तो कुत्ब[3] है । खैर,

---

१ अकेले-अकेले खाना २ पक्का ३ अचल तारा

प्यासे कुएँ पर दौडे जाते हैं, कुआँ नही दौडा आता। बारिश ने नाक में दम कर दिया। फस्ल को भी नुकसान पहुँचा।' और फिर वह सबसे बडी खबर जो उन्हे अपने दोस्त को देनी है — 'आपको यह सुनकर खुशी होगी कि प्रेमाश्रम की १२०० जिल्दे निकल गयी। अब दूसरे एडीशन की तैयारी है।'

तबीयत मे ऐसा उभार आया इस खबर से कि मुशीजी ने उसी रोज, बिल्कुल उसी रोज़, १ अक्तूबर १९२२ को 'चौगाने हस्ती' (रगभूमि) पर काम शुरू कर दिया।

१७

१ अक्तूबर सन् २२ को लिखना शुरू हुआ और १ अप्रैल सन् २४ को ' रग-भूमि ' का उर्दू मसौदा ' चौगाने हस्ती ' के नाम से खत्म हुआ ।

कोई इसे गुण माने चाहे दोष, सामयिकता मुशीजी के कृती मन की प्रधान वृत्ति है । मुशीजी वर्तमान में जीते है और वर्तमान के लिए ही लिखते है । इसीलिए कि उन्हे भविष्य की चिन्ता है । वर्तमान को फलाँगकर भविष्य में नही पहुँचा जा सकता । वर्तमान को छोडते ही भविष्य की स्थिति आकाशबेल की हो जाती है जो कभी नही फूलती । वर्तमान ही भविष्य का आधार है, उसकी खाद-मिट्टी, और भविष्य ही वर्तमान की सहज दिशा है, उसका गतव्य । काल सनातन है, अखड है — वैसे ही जैसे मनुष्य और उसका सुख-दुख । वह तो एक निरन्तर बहती हुई धारा है, आदि से अनन्त को — तुम जो मर्यादित हो दिशा से काल से, भर लो उससे अजुली और सूर्य को नमस्कार कर पुन. समर्पित कर दो उस सनातन प्रवाह को शान्त मन से, अचचल मन से तैरा दो उन्ही लहरो पर अपना भी एक छोटा-सा दिया, पहुँच जायगा तुम्हारा नैवेद्य भविष्य-देवता को । इतनी ही तुम्हारी प्रतिश्रुति है और इतनी ही तुम्हारी शक्ति, इससे अधिक का लोभ न करो । वह अपमृत्यु का मार्ग है । वर्तमान से पराड् मुख होकर कोई कालजयी नही हुआ । अगीकार करो जीवन को, जैसा वह तुम्हे मिला है, उत्तर दो उन प्रश्नो का जो युग ने तुम्हारे सामने रक्खे है, प्रश्न न्याय-अन्याय के, सुन्दर-असुन्दर के, शेष की चिन्ता मत करो । जीवन रगभूमि है जिसमें हम सब अपनी छोटी-सी भूमिका खेलने के लिए आये है । दर्शको से हरदम हर्षध्वनि की अपेक्षा क्यो, वह तो जो होगा नाटक के अन्त में होगा । जीवन समर-भूमि है । तुम भी एक छोटे से सैनिक हो । सैनिक की दृष्टि केवल अपने समर पर होती है । जिसे हरदम पदक की लालसा घेरे रहती है और जिसका मन हर समय उसी के भाव-ताव की चढा-ऊपरी में लगा रहता है, वह तो सट्टेबाज़ है जो भूल से इधर आ गया है। उसे चाहिए कि यहाँ से चला जाय । यह जगह अच्छी नही है । यहाँ तो जो मिलता है मरने के बाद मिलता है ।

यह नही कि मुशीजी के मन में यश की लालसा नही है । है और खूब है ।

लेकिन हेतु वह नही है । इतना छोटा हेतु लेकर कोई जिये भी कैसे । उनकी शक्ति कितनी ही सीमित क्यो न हो, वह ऐसा कुछ करना चाहते है जो उन्हे यह सतोष दे सके कि वह अपने ही भीतर चक्कर नही खाते रहे बल्कि योग दिया, शक्ति भर, देश के नव-जागरण में ।

यह किस्सा शुरू करने के आठ महीने पहले से ही आदोलन बन्द था और गाधीजी छ बरस के लिए जेल में डाल दिये गये थे । किताब खत्म होते-होते गाधीजी छोड दिये गये थे सही (अपनी कठिन बीमारी के कारण) लेकिन हालत इतनी जल्दी क्या बदलती । आदोलन ठडा पडा रहा । पस्ती का दौर चल रहा था । उसी का एक नतीजा थे वह तमाम हिन्दू-मुसलिम दगे जो तभी से आये दिन यहाँ-वहाँ देश भर मे भडकते रहते थे । और उसका दूसरा नतीजा था जन-आदोलन को छोडकर कौसिलो मे दाखिल होने की ओर लोगो का झुकाव । चित्तरजनदास और मोतीलाल नेहरू इस प्रवृत्ति के नेता थे । इसी आधार पर काग्रेसजनो के दो दल हो गये थे — नो-चेजर्स जो गाधी जी के साथ उसी पुराने जनसेवा अ र जन-आन्दोलन के रास्ते पर चलना चाहते थे और प्रो-चेंजर्स जो कहते थे कि उस पुराने रास्ते को बदलने की, उसको छोडने की जरूरत है, हमें कौसिलो में जाकर भीतर से चोट करनी चाहिए । काग्रेस के गया अधिवेशन (१६२२) में पहली बार यह प्रवृत्ति सगठित रूप में दिखायी दी । गाधी जी उस समय जेल में थे और आदोलन तो जैसे कुछ महीने पहले ही खत्म हो चुका था । गया से दिल्ली और दिल्ली से कोकोनाडा अधिवेशन तक आते-आते इन प्रो-चेंजर्स की, जिन्होने पीछे अपनी स्वराज्य पार्टी भी बना ली थी, ताकत बराबर बढती गयी थी और नो-चेंजर काग्रेसमैनो पर रोक लगती जा रही थी कि वह कौसिल-प्रवेश का विरोध न करे। गाँधी जी जब सन् २४ के शुरू में जेल से छूटे और बबई में जुहू तट पर जाकर रहे तो चित्तरजन दास और मोतीलाल नेहरू वही जाकर उनसे मिले । कई दिन तक उन लोगो की बातचीत हुई, बहुत खुलकर हुई और इन लोगो ने पूरी कोशिश की कि गाधीजी का समर्थन और आशीर्वाद उनके कार्यक्रम को मिल जाय। वह तो खैर नही मिला और उस बातचीत के बाद दोनो पत्तो ने अपनी-अपनी स्थिति का स्पष्टीकरण करते हुए लम्बे-लम्बे बयान दिये । लेकिन गाधीजी ने इस बातचीत से इतना जरूर भाँप लिया कि हवा का रुख किस तरफ है, देश की नाडी इस समय कैसी चल रही है । इसलिए अपने बयान में उन्होने जहाँ एक तरफ अपने मौलिक विरोध की बात कही वही दिल्ली और कोकोनाडा के काग्रेस प्रस्तावो का समर्थन करते हुए यह भी कहा कि स्वराजियो को मुक्त होकर अपना प्रयोग करने की छूट देना ही ठीक है और नो-चेंजर्स को चाहिए कि उनके सम्बन्ध में कोई दुर्भावना अपने मन में न आने दें । वस्तुत गाधीजी स्वय पूरी सहानुभूतिशीलता से, खुले मन से, इस प्रयोग का निष्कर्ष देखना चाहते थे और जैसे-जैसे उन्होने उसको सफल होते

देखा (जैसे कि बगाल की असेबली में चित्तरजन दास की पार्टी का बहुमत में पहुँच जाना) वैसे-वैसे उन्होने उसका सस्कार भी लिया और जल्दी ही वह समय भी आया कि गाधीजी अनौपचारिक ढग से उन्हे 'कौसिल मे काम करने वाले काग्रेसी' कहकर पुकारने लगे। यह कहने की जरूरत नही है कि चित्तरजन दास और मोतीलाल नेहरू जैसे लोग कौसिल-प्रवेश की बात स्वाधीनता आन्दोलन के वृहत्तर परिप्रेक्ष्य मे ही कहते थे, इस दृष्टि से कि हमको जनता के जोर से धारा-सभाओ में भी पहुँचना चाहिए और वहाँ पर सरकार की निरकुश नीतियो का डटकर विरोध करना चाहिए, इससे हमारे काम का दायरा और उसी अनुपात में हमारी शक्ति बढेगी। लेकिन इसमे भी कोई सन्देह नही है कि इस कार्यक्रम में अवसरवादियो के घुस आने के लिए भी बहुत अवकाश था।

मुशीजी बडे ध्यान से सब कुछ देख-सुन रहे थे लेकिन उनका अपना ही रग था। मुशी दयानरायन निगम के सवाल का जवाब देते हुए उन्होने १७ फरवरी १९२३ को, जब कि वह काशी विद्यापीठ में हेडमास्टर थे, लिखा था —

'आपने मुझसे पूछा, मैं किस पार्टी में हूँ। मै किसी पार्टी में भी नही हूँ। इसलिए कि दोनो में से कोई पार्टी कुछ अमली काम नही कर रही है। मैं तो उस आनेवाली पार्टी का मेम्बर हूँ जो कोतहुन्नास की सियासी तालीम को अपना दस्तूर-उल-अमल बनाये। स्वराज्य-खिलाफत पार्टी की जानिब से जो कास्टीच्यूशन निकला है उससे अलबत्ता मुझे कुल्ली इत्तफाक है। मगर ताज्जुब यही है कि यह एक पार्टी से क्यो निकला। मेरे खयाल में दोनो ही पार्टियाँ इस मुआमले में मुत्तफिक है।'

किसी जगह पर सहमत भी है किसी पार्टी से लेकिन अपने को पूरी तरह उसका गिनने के लिए तैयार नही है क्योकि 'मैं तो उस आनेवाली पार्टी का मेम्बर हूँ जो कोतहुन्नास की सियासी तालीम को अपना दस्तूर-उल-अमल बनाये' यानी जो छोटे लोगो (निम्न श्रेणी) की राजनीतिक शिक्षा को अपनी कार्यप्रणाली बनाये। 'अवामुन्नास' शब्द से, जो कि एक चलता हुआ शब्द है और जिसका अर्थ 'जन-साधारण' है, उन्हे अपना अभिप्राय पूरी तरह स्पष्ट होता नही जान पडता इस-लिए वह अपना एक शब्द गढ़ते है 'कोतहुन्नास' जो कही कोश में नही है।

अपनी शक्तिभर, देश-काल के अनुसार, उन्होने बराबर यही किया है और खासकर इधर जबसे आजादी की लडाई ने इस नये मैदान में पैर रखा है। क्या नही लिखा है उन्होने इन तीन-चार बरसो में — लेख लिखे है, पत्रो की टिप्पणियाँ लिखी है, असहयोग की कहानियाँ लिखी है, पैम्फलेट लिखकर साधारण लोगो को साधारण ढग से स्वराज के फायदे समझाये है, प्रेमाश्रम-जैसा उपन्यास लिखा है जिसमें आनेवाले आदोलन के प्रारूप के साथ-साथ उसके आगे की इकलाबी करवटे भी है, सग्राम-जैसा नाटक लिखा है जिसमें इस आदोलन के गाँव में प्रवेश करने की जीती-जागती तसवीर है और आपसी मारकाट की आग को ठडा करने

के लिए 'कर्बला' की शकल मे एक घडा पानी लेकर भी दौडे है, जब जैसी जरूरत हुई है, कभी आलस्य नही किया, प्रमाद नही किया। वह तो सिपाही है देश के, ऐसे सिपाही जिसे एक साथ कितने ही मोर्चो पर लडना पडता है।

आदोलन शुरू होने के पहले लोगो को दिमागी तौर पर उस चीज के लिए तैयार करना था। आन्दोलन शुरू हो गया तो उनकी हिम्मत और उनका जोश बढाना था। और अब जब कि आन्दोलन फिलहाल ठडा पडा हुआ था और लोगो पर एक मुर्दनी-सी छायी हुई थी, ऐसी चीज की जरूरत थी जो उनकी इस मुर्दनी को तोडे और एक बार फिर उनमें प्राण का सचार करे। क्षणिक उफान-जैसा नही, अधिक गम्भीर धरातल पर। ऐसा एक स्रोत जिससे बार-बार सजीवनी पायी जा सके। जरूरत होगी उसकी। आजादी की लडाई एक दिन की चीज नही होती, लम्बी चीज होती है। तरह-तरह के उतार-चढाव आते है इस मैदान में। जीत का मुँह एक ही बार देखना नसीब होता है। उसके पहले न जाने कितनी बार हार होती है, हार पर हार होती है। तो भी हिम्मत नही छूटनी चाहिए, नही तो सब गया। हारने में बुराई नही है खेल मे हार-जीत तो लगी ही रहती है, हारकर बैठ रहने में बुराई है। लेकिन इसके लिए मन की थोडी-सी साधना अपेक्षित है, तभी चित्त को स्थितप्रज्ञ योगी-जैसी वह शाति मिलती है। दार्शनिकता का थोडा-सा सबल उसके लिए जरूरी है। लेकिन भारतभूमि के लिए वह कौन-सी मुशकिल चीज है, यहाँ की तो मिट्टी ही ऐसी है।

भैरो अपनी बीवी सुभागी को बहुत मारता-पीटता है। एक बार सुभागी जब बहुत तग आ जाती है तो सूरदास के पास आकर शरण लेती है। लोग उसको तरह-तरह से डराते-धमकाते है, बदनाम करने की भी कोशिश करते है, लेकिन सूरदास अटल रहता है। सुभागी अपनी इच्छा से आयी है, अपनी इच्छा से ही जायेगी और वह जाना चाहे तो आज चली जाय लेकिन इस तरह नही। मगर भैरो की तो इसमें नाक कटती है। आखिर एक रोज भैरो सूरदास की झोपडी में आग लगा देता है और झोपडी जलकर राख हो जाती है। सूरदास को, जो भीख माँगकर अपना पेट चलाता है, अपनी झोपडी के जल जाने का दुख नही है, सुभागी के बेसहारा हो जाने का दुख है, और वह रोने लग जाता है।

● सहसा वह चौक पडा। किसी ओर से आवाज आयी—तुम खेल मे रोते हो!

मिठुआ घीसू के घर से रोता चला आता था, शायद घीसू ने मारा था। इस पर घीसू उसे चिढा रहा था—खेल में रोते हो!

सूरदास कहाँ तो नैराश्य, ग्लानि, चिन्ता और क्षोभ के अपार जल में गोते खा रहा था, कहाँ यह चेतावनी सुनते ही उसे ऐसा मालूम हुआ किसी ने उसका हाथ पकडकर किनारे पर खडा कर दिया। वाह! मैं तो खेल में रोता हूँ। कितनी बुरी बात है। सच्चे खिलाडी कभी रोते नही, बाजी पर बाजी हारते है, चोट

पर चोट खाते है, धक्के पर धक्के सहते है, पर मैदान में डटे रहते है, उनकी त्योरियो पर बल नही पडते। खेल में रोना कैसा। खेल हँसने के लिए, दिल बहलाने के लिए है, रोने के लिए नही।

सूरदास उठ खडा हुआ और विजय-गर्व की तरग में राख के ढेर को दोनो हाथो से उडाने लगा।

एक क्षण में मिठुआ, घीसू और मुहल्ले के बीसो लडके आकर इस भस्म-स्तूप के चारो ओर जमा हो गये और मारे प्रश्नो के सूरदास को परेशान कर दिया। उसे राख फेकते देखकर सबो को खेल हाथ आया। राख की वर्षा होने लगी। दम के दम में सारी राख बिखर गयी, भूमि पर केवल काला निशान रह गया।

मिठुआ ने पूछा — दादा, अब हम रहेगे कहाँ ?

सूरदास — दूसरा घर बनायेगे।

मिठुआ — और कोई फिर आग लगा दे ?

सूरदास — तो फिर बनायेगे।

मिठुआ — और फिर लगा दे ?

सूरदास — तो हम भी फिर बनायेंगे।

मिठुआ — और जो कोई हजार बार लगा दे ?

सूरदास — तो हम हजार बार बनायेगे।

बालको को सख्याओं से विशेष रुचि होती है। मिठुआ ने फिर पूछा — और जो कोई सौ लाख बार लगा दे ?

सूरदास ने उसी बालोचित सरलता से उत्तर दिया — तो हम भी सौ लाख बार बनायेंगे। ●

यह दो बच्चो की बातचीत है, जिनमें से एक बुड्ढा है और उस बच्चे का दादा है, अन्धा है, भिखमगा है, सब है, लेकिन जरा पर्दा हटाकर तो देखो, इतिहास बोल रहा है उसके कठ से। कितनी बार उजडा यह देश और फिर बसा, फिर फिर बसा, इसी आदमी के बलबूते जो यह बात कह रहा है। यह हमारी अक्षय आत्मा बोल रही है, उसका क्रातिकारी सकल्प बोल रहा है। इस क्षण समय को अपेक्षा है ऐसी ही प्रतिज्ञा की।

और यह प्रतिज्ञा मात्र उच्छ्वास नही है, उसके पीछे एक गम्भीर जीवनदृष्टि है, जो एक दिन की उपलब्धि नही, जीवन की गहरी पीडा को मथकर हाथ आया हुआ रत्न है। भले प्रेमचन्द ने सूरदास को बनारस की गलियो में घूमते देखा हो लेकिन उसके भी पहले वह खुद उनके मन की गलियो में घूम रहा था, इसीलिए तो बाहर जब देखा तो पहचानते देर नही लगी वर्ना कितने ही तो अन्धे घूमते रहते है गलियो में और बाजारो में और सभी तो देखते है उन्हे ! अपने मानसपुत्र की वाणी से यह उन्ही की जीवन-पीडा बोल रही है, उन्ही का जीवन-बोध। स्रष्टा

और सृष्टि के बीच दीवार ढह गयी है। अच्चर और ब्रह्म एक हो गया है। अपने हृदय के रक्त से प्रेमचन्द ने सूरदास की रचना की है, जिस अर्थ में अब तक किसी की रचना नही की। सूरदास की उस अस्थिपिंजर, चीमड देह में स्पदित हृदय प्रेमचन्द का है। न्याय-अन्याय, सत्य-असत्य, सुन्दर-असुन्दर — जीवन की सारी मीमासा जो सूरदास के माध्यम से प्रस्तुत है, प्रेमचन्द की अपनी है। रगभूमि प्रेमचन्द की आज तक की जीवन-उपलब्धि का महाकाव्य है और उसमें सूरदास ही प्रेमचन्द है। वह एक आदर्श सत्याग्रही है लेकिन राजनीतिक आन्दोलन के सीमित अर्थ मे नही, जीवन की एक समग्र दृष्टि के व्यापक अभिप्राय में। और किसी के लिए हो न हो, प्रेमचन्द के लिए सत्याग्रह का अभिप्राय यही है, जीवन के कुछ सनातन मूल्य — दया, च्चमा, परोपकार, प्रेम, विनय, अपरिग्रह, निर्भय सत्यनिष्ठा, अन्याय का प्रतिकार — जिनकी शृ खला उनकी अपनी प्रवृत्ति और सस्कार में शुरू होती है और टाल्स्टाय को अपने साथ जोडती हुई गाधी तक आती है। उनकी हर कहानी इन्ही सद्वृत्तियो की धुरी पर घूमती है और सत्याग्रह उन सवका निचोड है। उसका एक धरातल वह भी है, शुद्ध राजनीति का और वह भी महत्वपूर्ण है लेकिन कथाकार के नाते, मुशीजी को उससे कम प्रयोजन है क्योकि यहाँ उनकी भूमि दूसरी है, मनुष्य का चरित्र और उस चरित्र का निर्माण। इसी अर्थ में उन्होने सत्याग्रह को ग्रहण किया है और अनायास भाव से ग्रहण किया है। लेकिन उसके चित्रण में अनेक बार, जहाँ जीवन की पकड कच्ची रही है, यह आदर्श ढीले-पोले बेजान-से लगे है। मगर रगभूमि की बात और है। यहाँ जीवन की उनकी पकड मजबूत है और सूरदास के माध्यम से उन्होने बहुत गहरे पैठकर बहुत कसाव के साथ उस आदर्श को चरितार्थ किया है।

जीवन को समभाव से, निष्काम कर्म के रूप में ग्रहण करना भी उसी का एक अग है। मन को बहुत शक्ति मिलती है उससे। आदमी बहुत हल्का महसूस करता है, कोई बोझ नही रहता मन पर। अपना काम जी लगाकर करो और खुश रहो। आराम की नीद सोओ, जी खोलकर हँसो। परिणाम की चिन्ता न करो। जी लगाकर खेलो, जब तक दम में दम है, जब तक साँस चलती है, और फिर एक रोज चले जाओ, दुनिया का खेल-तमाशा तो यो ही चलता रहेगा। चलता आया है। चलता जायेगा। आदमी का बच्चा बेकार ही ढोये फिरता है परेशानियो की गठरी। टिटिहरी के बारे में कहा जाता है कि वह पैर ऊपर करके सोती है, शायद इसलिए कि आसमान अगर गिरे तो वह रोक ले। आदमी का भी यही हाल है। चार दिन के लिए आता है लेकिन छन भर चैन से नही बैठता। कही यह तो कही वह। पूछो क्या होता है उससे, सिवाय इसके कि आदमी खुद अपनी जिन्दगी पहाड कर ले। जरा-जरा-सी बातो पर झगडे, बेकार का जलना-कुढना, बेकार की चढा-ऊपरी, नोच-खसोट, सारी जिन्दगी इसी में बीत

जाती है। कोई हद है इस अहमकपने की। मगर नही, लोग इसी को ज़िन्दगी समझते है, इसी हर वक्त की आपाधापी को! भला कोई पूछे इन अक्ल के मारों से, जिन्दगी में यो ही क्या कम दु ख है जो तुम यह एक और ओढे लेते हो!

हँसो, खूब जोर से हँसो, ताकि ये बादल छँट जाये। उससे भी काम नही चलता। चेहरे पर झुर्रियाँ बढती जा रही है, कनपटी के बाल तेजी से सफेद हो रहे हैं। मगर तो भी अपनी कोशिश मे कसर क्यो रहे। जहाँ तक अपना जोर चलता है, जिन्दगी को ढग से जीने की तदबीर करनी चाहिए। यह क्या कि हथियार डाल दिये! यह मर्दो का ढग नही है। मर्दों का ढग वह है जो सूरदास मे साकार हो उठा है — उसकी जिन्दगी में और उसकी मौत में। उसकी आत्मा के तेज से कोना-कोना प्रकाशित है। एक जगह पर सूरदास कहता है —

'हमारी बडी भूल यही है कि खेल को खेल की तरह नही खेलते। खेल में धाँधली करके कोई जीत ही जाय तो क्या हाथ आयेगा। खेलना तो इस तरह चाहिए कि निगाह जीत पर रहे, पर हार से घबराये नही, ईमान को न छोडे। जीतकर इतना न इतराये कि अब कभी हार होगी ही नही। यह हार-जीत तो जिन्दगी के साथ है।'

क्लार्क की गोली से आहत होकर सूरदास अस्पताल में पडा है। रानी जाह्नवी उसको देखने जाती है और पूछती है, 'पीडा बहुत हो रही है?' तो सूरदास जवाब देता है — 'कुछ कष्ट नही है। खेलते-खेलते गिर पडा हूँ, चोट आ गयी है, अच्छा हो जाऊँगा।'

राजा महेन्द्रकुमार भी, जिनसे सूरदास की मुख्य टक्कर रही है, मिजाजपुर्सी के लिए पहुँचते है और कहते है — सूरदास, मैं तुमसे अपनी भूलो की क्षमा माँगने आया हूँ

सूरदास उन्हे भी यही जवाब देता है — सरकार, ऐसी बात न कहिए। आप राजा है, मैं रक हूँ! आपने जो कुछ किया दूसरो की भलाई के विचार से किया। मैने जो कुछ किया, अपना धरम समझकर किया। हम तो खेल खेलते है, जीत-हार भगवान के हाथ है। वह जैसा उचित जानते है करते है। बस नीयत ठीक होनी चाहिए।

इस पर राजा साहब कहते हैं — सूरदास, नीयत को कौन देखता है। मैंने सदैव प्रजाहित ही पर निगाह रक्खी पर आज सारे नगर में एक भी ऐसा प्राणी नही है जो मुझे खोटा, नीच, स्वार्थी, अधर्मी, पापिष्ठ न समझता हो। और तो क्या, मेरी सहधर्मिणी भी मुझसे घृणा कर रही है ....

कैसा मजाक है, राजा साहब सूरदास की मिजाजपुर्सी के लिए आये है और होता उसका उल्टा ही है, अनपढ सूरदास गोसाइँ तुलसीदास की बानी में उनकी मिज़ाजपुर्सी करता है — इसकी चिन्ता न कीजिए। हानि-लाभ, जीवन-मरन,

जस-अपजस विधि के हाथ है, हम तो खाली मैदान मे खेलने के लिए बनाये गये है । सभी खिलाडी मन लगाकर खेलते है, सभी चाहते है कि हमारी जीत हो, लेकिन जीत एक ही की होती है, तो क्या हारनेवाले इससे हिम्मत हार जाते है ? वे फिर खेलते है, फिर हार जाते है तो फिर खेलते है । कभी न कभी तो उनकी जीत होती ही है । नही नही राजा साहब, निराश होना खिलाडियो के धर्म के विरुद्ध है । अबकी हार हुई तो फिर कभी जीत होगी ।

राजा साहब को सबसे ज्यादा दु ख अपनी बदनामी का है । उसके बारे में सूरदास कहता है — सरकार, नेकनामी और बदनामी बहुत से आदमियो के हल्ला मचाने से नही होती । सच्ची नेकनामी अपने मन में होती है । अगर अपना मन बोले कि मैने जो कुछ किया वही मुझे करना चाहिए था, इसके सिवा कोई दूसरी बात करना मेरे लिए उचित न था, तो वही नेकनामी है ।

यह मुशीजी के अचल विश्वास बोल रहे है जिनके बनने में न जाने कितना समय लगा है, जिन तक पहुँचने में मन को न जाने कैसी-कैसी घाटियो में होकर जाना पडा है ।

सोफिया के पिता जान सेवक जिन्होने अपने कारखाने के लिए सूरे की जमीन पर दाँत लगाया, जो कि सारे झगडे की जड बना, अस्पताल में सूरदास को देखने के लिए पहुँचते है । जाने के पहले उनके मन में सशय भी है, जाये कि न जाये, सूरदास को बुरा तो नही लगेगा उनका जाना । लेकिन उनकी बेटी जब उन्हे इस ओर से आश्वस्त करती है, ' उसके हृदय में द्वेष और मालिन्य की गध तक नही है ' तो फिर वह पहुँच ही जाते है । दो ही एक बातो के बाद वह कहते है, ' नही नही सूरदास, ऐसी बाते न करो, तुम बहुत जल्द अच्छे हो जाओगे । ' इसके जवाब में सूरदास हँसकर कहता है — ' अब जीकर क्या करूँगा । इस समय मरूँगा तो बैकुण्ठ पाऊँगा, फिर न जाने क्या हो । जैसे खेत कटने का एक समय होता है । पक जाने पर खेत न कटे तो नाज सड जायगा, मेरी भी वही दशा होगी । मै भी कई आदमियो को जानता हूँ जो आज से दस बरस पहले मरते तो लोग उनका जस गाते, आज उनकी निन्दा हो रही है । ' इसके बाद सेवक कहते है, ' मेरे हाथो तुम्हारा बडा अहित हुआ । इसलिए मुझे क्षमा करना । ' उनको भी सूरदास वही जवाब देता है जो कि उसने राजा साहब को दिया था —

' मेरा तो आपने कोई अहित नही किया, मुझसे और आपसे दुसमनी ही कौन-सी थी । हम और आप आमने-सामने की पालियो में खेले । आपने भरसक जोर लगाया था, मैंने भी भरसक जोर लगाया । जिसको जीतना था, जीता, जिसको हारना था, हारा । खिलाडियो में बैर नही होता । . मुझे आपसे कोई शिकायत नही । '

सोफिया बैठी देखा करती है और उसकी समझ में आता है कि ' चित्त को

शान्ति ही वास्तविक सौन्दर्य है। ' इस शान्ति का स्रोत कहाँ है ?

सूरदास के उसी जीवनदर्शन में जिस पर सारी पुस्तक ठहरी हुई है। वह कितना ज्यादा मुशीजी का अपना जीवन-दर्शन है यह उस ख़त से जाहिर है जो उन्ही दिनो, ठीक उन्ही दिनो, मुशीजी ने निगम साहब के बच्चे की मौत पर उनके पास भेजा था, शब्द तक सूरदास के है।

एक दिन की उपलब्धि नही है यह जीवनदृष्टि। सात का था नवाब जब माँ नही रही, जवानी की देहलीज़ पर पैर रखते-रखते पिता चल बसे। जिम्मेदारियो का गट्ठर सर पर — पिता की जिम्मेदारियाँ जो उत्तराधिकार मे मिली थी और खुद अपनी एक सबसे बडी जिम्मेदारी वह जुआ जिसमे पिताजी बेचारे की गर्दन फँसा गये थे — एक फूहड, बदशकल, बेमेल बीवी। सबका पेट पालने के लिए दिन-रात कोल्हू के बैल की तरह जुते रहना। रोज़-रोज के सास-बहू के झगडे, दाँता-किलकिल। और इन सबके बीच अपना लिखने-पढने का काम जो अलग एक चढाई थी पहाड की जिसमे कितनी ही बार दम फूल-फूल जाता था। शरीर बिलकुल टूटा हुआ सो अलग।

मुशीजी ने आजमाकर देख लिया है, जिन्दा रहने की दूसरी कोई तदबीर नही है। न एक आदमी के लिए न एक कौम के लिए।

देश में इस वक्त जो मुर्दनी छायी हुई है, उसको दूर करने का रास्ता वही है जिसे सूरदास अपने जीवन में चरितार्थ करता है।

सिपाही अपनी चौकी पर मुस्तैदी से खडा अपना काम कर रहा है। जब जैसी चीज की जरूरत हो, वह हाज़िर है।

प्रस्तुत क्षण और भविष्य, यथार्थ और स्वप्न उसके लिए अविभाज्य है। उसे एक साथ ही दोनो की रक्षा करना है।

सूरदास के पास अपने बाप-दादो के वक्त की कुछ जमीन है जिसे उसने अपने गाँव के मवेशियो के चरने के लिए छोड रखा है। मिस्टर जान सेवक को अपना सिगरेट का कारख़ाना खोलने के लिए जमीन चाहिए और उनके दाँत सूरदास की ज़मीन पर लगे है। बडे-बडे लोग, धनी-मानी लोग सूरदास को समझाने के लिए आते है, लालच देते है, डराते-धमकाते है लेकिन सूरदास किसी तरह अपनी जमीन देने पर राजी नही होता। फिर वह जमीन बडे-बडे हथकडो से जबरिया हासिल की जाती है। सिगरेट का कारखाना खडा हो जाता है। फिर उन लोगो के घरो पर बात आती है क्योकि कारखाने के मजदूरो को रहने के लिए जगह चाहिए। सारी कहानी इसी भूमि के सघर्ष को लेकर है—सघर्ष जो वास्तविक भूमि के टुकडे को लेकर भी है और प्रतीक भी है एक वृहत्तर सघर्ष का। इसी सघर्ष में, गाँव की छोटी-सी राजनीति की सजीव पृष्ठभूमि में सूरदास एक अटल सत्याग्रही के रूप में सामने आता है। सत्याग्रही यानी एक निडर सिपाही और उच्चतर मानव।

जमीन कारखाने के लिए न देने के अनेक कारण सूरदास के पास है लेकिन सबसे बडा शायद वह है जिसे वह राजा साहब चतारी की बात के जवाब में पेश करता है ।

राजा साहब कहते है — जरा यह भी तो सोचो कि इस कारखाने से लोगो को क्या फायदा होगा । हजारो मजदूर, मिस्त्री, बाबू, मुशी, लुहार, बढई आकर आबाद हो जायँगे, एक अच्छी बस्ती हो जायेगी, बनियो की नयी-नयी दुकानें खुल जायँगी, आस-पास के किसानो को अपनी साग-भाजी लेकर शहर न जाना पडेगा, यही खरे दाम मिल जायँगे । कुँजडे, खटिक, ग्वाले, धोबी, दर्जी सभी को लाभ होगा । क्या तुम इस पुण्य के भागी न बनोगे ?

सूरदास कहता है — सरकार बहुत ठीक कहते है, मुहल्ले की रौनक जरूर बढ जायगी, रोजगारी लोगो को फायदा भी खूब होगा । लेकिन जहाँ यह रौनक बढेगी वहाँ ताडी-शराब का परचार भी तो बढ जायगा, कसबियाँ भी तो आकर बस जायँगी, परदेसी आदमी हमारी बहू-बेटियो को घूरेंगे, कितना अधरम होगा ! दिहात के किसान अपना काम छोडकर मजूरी के लालच से दौडेंगे, यहाँ बुरी-बुरी बाते सीखेंगे, और अपने बुरे आचरन अपने गाँव में फैला देंगे । दिहातो की लडकियाँ, बहुएँ मजूरी करने आयेंगी और यहाँ पैसे के लोभ में अपना धरम बिगाडेंगी । यही रौनक शहरो में है । वही रौनक यहाँ हो जायगी । भगवान न करे यहाँ वह रौनक हो । सरकार मुझे इस कुकरम और अधरम से बचायें । यह सारा पाप मेरे सिर पडेगा ।

ताहम वह फरिश्ता नही है, आदमी है — बहुत नेक, बहुत सच्चा, बहुत निडर, निरीह, निस्पृह, लेकिन आदमी । यह आदमी की कमजोरियाँ है जो उसे आदमी बनाती है और उसी की हमको जरूरत है, हवा में उडनेवाला फरिश्ता लेकर हम क्या करेंगे । उससे न तो हमारा लगाव ही हो पाता है और न उसका कोई असर ही हमारे दिल पर पडता है । सूरदास ऐसा नही है, वह तो एक बिलकुल मामूली इसान है जैसे जिदगी की राह में मिल जाया करते है, ठीकरे की तरह, लेकिन हाथ में लेकर करीब से देखो, जरा झाड-पोछकर, जरा तराशकर, तो पता चलता है कि वह ठीकरा नही, हीरा है । मुशीजी को ऐसे हीरो की ही तलाश रहती है । सदा नही मिलते, मनोहर और कादिर जैसे दो-एक प्रेमाश्रम में मिले थे, पहली बार, और वह मन को इतने भाये कि मुशीजी सग्राम नाटक लिखने बैठे तो वही दोनो न जाने कहाँ से हलधर और फत्तू मियाँ का रूप धरकर चले आये । ऐसा बडा और ऐसी अनोखी चमक-दमक का हीरा तो 'रगभूमि' में आकर ही मिला और यो ही जिदगी की राह में — एक अधा भिखमगा । एकदम काल्पनिक चरित्र की सृष्टि करना मुशीजी का स्वभाव नही है, आधार वास्तविक होना चाहिए, उस पर चाहे फिर कल्पना का रग कितना ही चढाया जाये । इसीलिए

मुशीजी अपने चरित्र सीधे जीवन से लेते है, फिर उसे अपने मन के भीतर पकाते है और फिर अपनी खराद पर चढाते है । कोयला कभी कोयला ही रह जाता है और कभी हीरा बन जाता है । भूमि के गर्भ में भी तो सारे कोयले हीरे नही बनते — किस रासायनिक प्रक्रिया से कैसी गर्मी पाकर कोयले के परमाणुओ का सघटन बदलकर हीरे का रूप ले लेता है, यह अभी रहस्य ही है । लेकिन वह जो भी हो, मुशीजी को अपने चरित्रो के सधान मे आकाश-कुसुम तोडने की अपेक्षा राह मे पडे हुए कोयले और ठीकरे को बीन लेना ज्यादा अच्छा मालूम होता है। बहुत जमाने से मुशीजी को तलाश थी ऐसे ही एक चरित्र की जो फरिश्ता भी हो और इसान भी, जो आदम के बेटे का खास गुण है ।

गाँववालो की दुष्टता, निष्ठुरता से क्षुब्ध होकर सूरदास जमीन बेच देने का विचार करता है । एक बाबाजी उसका यह विचार छुडवाने के लिए उसे भक्ति और वैराग्य का उपदेश देते है । सूरदास चिढकर उनसे कहता है — बाबाजी, जब तक भगवान की दया न होगी, भक्ति और वैराग्य किसी पर मन न जमेगा। इस घडी मेरा हृदय रो रहा है, उसमें उपदेश और ज्ञान की बाते नही पहुँच सकती । गीली लकडी खराद पर नही चढती ।

और फिर मन में कहता है — यह भी मुझी को ज्ञान का उपदेश करते है। दीनो पर उपदेश का भी दाँव चलता है, मोटो को कोई उपदेश नही करता। वहाँ तो जाकर ठकुरसुहाती करने लगते है । मुझे ज्ञान सिखाने चले है । दोनो जून भोजन मिल जाता है न ! एक दिन न मिले तो सारा ज्ञान निकल जाय ।

और उसी आवेश में अपने रास्ते पर आगे बढ जाता है ।

लेकिन वहाँ पहुँचकर जब बात कहने का वक्त आता है तो गला फँस जाता है —

'लज्जा अत्यत निर्लज्ज होती है । अतिम काल में भी जब हम समझते है कि उसकी उलटी साँसें चल रही है, वह सहसा चैतन्य हो जाती है .. ताहिर अली की बातें सुनते ही सूरदास की लज्जा ठट्ठा मारती हुई बाहर निकल आयी। बोला — मियाँ साहब, वह जमीन तो बाप-दादो की निसानी है, भला मैं उसे बय या पट्टा कैसे कर सकता हूँ। मैंने उसे धरम-काज के लिए सकल्प कर दिया है।' किस्सागो की आँखें भी जैसे चमकने लगती है इस मुकाम पर आकर !

बात इतनी ही नही है कि वह जमीन सूरे के बाप-दादो की निसानी है। यह भी नही कि वहाँ गउएँ चरती है जिनके लिए चरने को जगह न रहेगी । बात इससे ज्यादा बडी है । सूरदास इस नयी आँधी के मुकाबले में अपनी पुरानी जीवन-प्रणाली की रक्षा कर रहा है । बुराइयाँ उसमें न हो, ऐसी बात नही है । लेकिन उनके बाद भी सूरदास को वह चीज बचाने के योग्य लगती है क्योकि उसमें प्रेम है, भाईचारा है, सरलता है, नेकी है — जो सब कुछ न रह जायेगा इस नयी

व्यवस्था मे। आदमी आदमी के बीच आत्मीयता के सबध मिट जायँगे और सवेदनाएँ भोथी हो जायेगी। फिर कोई किसी के दुख-दर्द मे शरीक न होगा, सब को बस अपनी ही अपनी पडी रहेगी। क्योकि आदमी आदमी न रह जायगा, बस एक पुर्जा मशीन का। और फिर जुआ, शराब, चोरी, बदमाशी। जमीन के उस टुकडे के रूप में सूरदास एक दुनिया को बचाने की कोशिश कर रहा है। वस्तु और प्रतीक एक दूसरे मे खो गये है।

लेकिन जमीन तो निकल ही जाती है, कोई बचा नही सकता उसको।

वह पुरानी दुनिया मर रही है। इतिहास का ऐसा ही आदेश है। एक नयी दुनिया का पेशख़ीमा गड रहा है, पूँजीपतियो की दुनिया। सबको उससे डर है। सब उससे परीशान है। लेकिन मिलकर उसका सामना करने की बुद्धि या ढग उनके पास नही है। सूरदास अकेला आदमी है जो इस काम मे उन्हे रास्ता दिखा सकता है। लेकिन 'घटे भर तक पचाइत हुई पर सूरदास के पास कोई न गया। साझे की सुई ठेले पर लदती है। तू चल, मै आता हूँ, यही हुआ किया।'

आख़िरकार भैरो अकेले सूरे के पास जाता है तो सूरदास ऐसी कठिन उदासीनता से, जिसमें कुर्बानी की मौत अपना घर बना चुकी है, कहता है —

'मेरी क्या पूछते हो, जमीन थी वह निकल ही गयी, झोपडी के बहुत मिलेगे तो दो-चार रुपये मिल जायेगे। मिले तो क्या और न मिले तो क्या। जब तक कोई न बोलेगा, पडा रहूँगा। कोई हाथ पकडकर निकाल देगा बाहर जा बैठूँगा। वहाँ से उठा देगा, फिर आ बैठूँगा। जहाँ जन्म लिया है, वही मरूँगा। बाप-दादो की जमीन खो दी, अब इतनी निसानी रह गयी है, इसे न छोडूँगा। इसके साथ ही आप भी मर जाऊँगा।'

धीरे-धीरे हम वधभूमि की ओर बढ रहे है। पुलिस वहाँ घेरा डालती है। दूसरे तमाम घर गिरा दिये जाते है लेकिन सूरदास अपने झोपडे से नही हटता और क्लार्क, जो गोरी सत्ता का प्रतीक है, जैसे भी हो उसको हटाने की कसम खा चुका है। गोली चलने की पूरी तैयारी है लेकिन तभी एक ऐसी घटना घटित होती है, जो 'पुलिस के इतिहास में एक नूतन युग की सूचना दे रही थी।' सिपाही गोली चलाने से इनकार कर देते है और बदूके जमीन पर पटक देते है। पता नही, तब तक ऐसी कोई घटना देश में कही हुई थी या नही लेकिन कुछ बरस बाद पेशावर में गढवाली सैनिको की एक टोली ने ऐसा ही किया था और अपनी जान पर खेलकर किया था। प्रेमचद ने अपनी भविष्यद्रष्टा आँखो से शायद कुछ बरस पहले ही इस चीज को देख लिया था। पुलिस गोली चलाने से इनकार करती है और सूरदास ? वह 'इस व्यूह के मध्य में झोपडे के द्वार पर सिर झुकाये बैठा हुआ था, मानो धैर्य, आत्मबल और शान्त तेज की सजीव मूर्ति हो।' साक्षात् गाधी।

यही शायद कहना भी चाहते है मुशीजी। अपनी सहज मानवी दुर्बलताओं

समेत सूरदास का सीधा-सादा सरल निस्पृह निर्भीक सत्यनिष्ठ दैनदिन रूप प्रेमचद का अपना है और उदात्त स्वरूप गाधीजी का — अपनी समस्त सद्वृत्तियो की सबसे उदात्त अभिव्यक्ति के रूप में ही उन्होने सदा से गाधीजी को अपने हृदय के आसन पर बिठाला है और कुछ अजब नही कि सूरदास का चित्रण करते समय उनके मन की आँखो के आगे गाधीजी बराबर रहे हो। सूरदास के रूप में वह किसी महान् राष्ट्रीय व्यक्तित्व की उद्भावना कर रहे है, इसका कुछ सकेत विनय की बात में भी मिलता है जो कहता है — 'तुम्हारी झोपडी नही, यह हमारा जातीय मदिर है। हम इस पर फावडे चलते देखकर शान्त नही रह सकते।'

लडाई आगे बढती है। अबकी बार गोरखे बुलाये गये है।

'गिरे हुए मकानो की जगह सैकडो छोलदारियाँ खडी है और उनके चारो ओर गोरखे खडे चक्कर लगा रहे है। किसी की गति नही है कि अदर प्रवेश कर सके। हजारो आदमी आसपास खडे है मानो किसी विशाल अभिनय को देखने के लिए दर्शकगण वृत्ताकार खडे हो। मध्य में सूरदास का झोपडा रगमच के समान स्थित था। सूरदास झोपडे के सामने लाठी लिये खडा था मानो सूत्रधार नाटक का आरम्भ करने को खडा है।' इस छोटी-सी प्रतीकात्मक लडाई में सूरदास आदर्श सत्याग्रही है और निश्चय ही उस पर गाधीजी की छाया है। जैसे-जैसे प्रतीकों के माध्यम से मुशीजी ने सूरदास को प्रस्तुत किया है उससे इस अनुमान को बल मिलता है। एक जगह पर उसके लिए कहा गया है, 'ऐसा ज्ञात होता था कि कोई चक्षुहीन यूनानी देवता अपने उपासको के बीच खडा है।'

इन उपासको मे क्षोभ की लहर तेजी से दौड रही है, वह हिंसा पर उद्यत जान पडते है, उस समय सूरदास उनसे कहता है — 'भाइयो, आप लोग अपने-अपने घर जायँ। यहाँ जमा होकर हाकिमो को चिढाने से क्या फायदा ? मेरी मौत आवेगी तो आप लोग खडे रहेगे और मै मर जाऊँगा। मौत न आवेगी तो मैं तोपो के मुँह से बचकर निकल आऊँगा। आप लोग वास्तव में मेरी सहायता करने नही आये, मुझसे दुसमनी करने आये है। हाकिमो के मन में, फौज के मन में, पुलिस के मन में जो दया और धरम का खयाल आता, उसे आप लोगो ने जमा होकर क्रोध बना दिया है। मैं हाकिमो को दिखा देता कि एक दीन, अधा आदमी एक फौज को कैसे पीछे हटा देता है, तोप का मुँह कैसे बद कर देता है, तलवार की धार कैसे मोड देता है। मैं धरम के बल से लडना चाहता था '

यह बिलकुल गाधीजी की बानी है।

आखिर 'गोली सूरदास के कधे में लगी, सिर लटक गया, रक्त-प्रवाह होने लगा। भैरो उसे सँभाल न सका, वह भूमि पर गिर पडा। आत्मबल पशुबल का प्रतिकार न कर सका।'

लेकिन सचमुच क्या सूरदास का अत पराजय में हुआ ? 'कर्बला' की भूमिका

में मुशीजी ने लिखा था — नायक की दारुण कथा दु खान्त नाटको के लिए पर्याप्त नही। उसकी विपत्ति पर हम शोक नही करते, वरन् उसकी नैतिक विजय पर आनदित होते है, क्योकि वहाँ नायक की प्रत्यच्च हार वस्तुत उसकी विजय होती है। दु खान्त नाटको में शोक और हर्ष के भावो का विचित्र रूप से समावेश हो जाता है। हम नायक को प्राण त्यागते देखकर आँसू बहाते है किन्तु वह आँसू करुणा के नही विजय के होते है। दु खान्त नाटक आत्मबलिदान की कथा है और आत्मबलिदान केवल करुणा की वस्तु नही, गौरव की भी वस्तु है।' एक ही समय आत्मबलिदान की ये दोनों कथाएँ लिखी गयी, एक नाटक के रूप में और एक कथा के रूप में — एक मैदान मे हजरत हुसेन की नैतिक विजय हुई और दूसरे मैदान में सूरदास की। कौन था जिसने श्रद्धा के दो फूल नही चढाये। दुश्मनो तक का सिर झुक गया। जिन्होने इस लडाई में सूरदास का साथ छोड दिया था उन्ही मे से एक, ठाकुरदीन-जैसे आदमी ने भी कहा — अधा आगमजानी था। जानता था कि एक दिन यह पुतलीघर हमको बनवास देगा। जान तक गँवाई पर अपनी जमीन न दी

गॉववाले तो रोते ही थे, प्रसिद्ध राष्ट्रसेवी गगुली से जब सोफिया ने सरल भाव से कहा — 'क्या अब कुछ नही हो सकता डाक्टर साहब?' तो गगुली ने जवाब दिया —

'बहुत कुछ हो सकता है मिस सोफिया! हम यमराज को परास्त कर देगा। ऐसे प्राणियो का यथार्थ जीवन तो मृत्यु के पीछे ही होता है जब वह पच-भूतो के सस्कार से रहित हो जाता है। सूरदास अभी नही मरेगा, बहुत दिनो तक नही मरेगा। हम सब मर जायगा, कोई कल, कोई परसो, पर सूरदास तो अमर हो गया, उसने तो काल को जीत लिया। अभी तक उसका जीवन पचभूतो के सस्कार से सीमित था। अब वह प्रसारित होगा, समस्त प्रान्त को, समस्त देश को जागृति प्रदान करेगा, हमें कर्मण्यता का, वीरता का आदर्श बतायेगा। यह सूरदास की मृत्यु नही है सोफी, यह उसके जीवन-ज्योति का विकास है। हम तो ऐसा ही समझता है।'

यह कहकर डाक्टर गगुली ने जेब से एक शीशी निकाली और उसमें से कई बूँदें सूरदास का मुँह खोलकर पिला दी। तत्काल उसका असर दिखायी दिया। सूरदास के विवर्ण मुखमडल पर हलकी-हलकी सुर्खी दौड गयी। उसने आँखें खोल दी, इधर-उधर अनिमेष दृष्टि से देखकर हँसा और ग्रामोफोन की-सी कृत्रिम, बैठी हुई, नीरस आवाज से बोला — बस बस, अब मुझे क्यो मारते हो। तुम जीते, मै हारा। यह बाज़ी तुम्हारे हाथ रही, मुझसे खेलते नही बना। तुम मँजे हुए खिलाडी हो, दम नही उखडता, खिलाडियो को मिलाकर खेलते हो और तुम्हारा उत्साह भी खूब है। हमारा दम उखड़ जाता है, हाँफने लगते हैं और खिलाडियो

को मिलाकर नही खेलते, आपस में झगडते है, गाली-गलौज, मार-पीट करते है, कोई किसी की नही मानता। तुम खेलने में निपुण हो, हम अनाडी है। बस इतना ही फरक है। तालियाँ क्यो बजाते हो, यह तो जीतनेवालो का धरम नही! तुम्हारा धरम तो है हमारी पीठ ठोंकना। हम हारे तो क्या, मैदान से भागे तो नही, रोये तो नही, धाँधली तो नही की। फिर खेलेंगे, जरा दम ले लेने दो, हार-हारकर तुम्ही से खेलना सीखेंगे और एक न एक दिन हमारी जीत होगी, जरूर होगी।'

अपनी बेहोशी में भी यही रटते हुए 'खिलाडी मैदान से चला गया।'

'वह साधु न था, महात्मा न था, देवता न था, फरिश्ता न था। एक चुद्र शक्तिहीन प्राणी था, चिन्ताओ और बाधाओ से घिरा हुआ, जिसमें अवगुण भी थे और गुण भी। गुण कम थे, अवगुण बहुत। क्रोध, लोभ, मोह, अहकार . गुण केवल एक था न्याय-प्रेम, सत्य-भक्ति, परोपकार, दर्द या उसका जो नाम चाहे रख लीजिए। अन्याय देखकर उससे न रहा जाता था, अनीति उसके लिए असह्य थी।'

इसी से लोगो ने उसे मान दिया, आदर दिया, मूर्ति बनाकर पूजा।

'चाँदनी छिटकी हुई थी और शुभ्र ज्योत्स्ना में (यह शुभ्र ज्योत्स्ना भी शायद वदेमातरम गान से आयी है!) सूरदास की मूर्ति एक हाथ से लाठी टेकती हुई ओर दूसरा हाथ किसी अदृश्य दाता के सामने फैलाये खडी थी — वही दुर्बल शरीर था, हँसलियाँ निकली हुई, कमर टेढी, मुख पर दीनता और सरलता छायी हुई, साचात् सूरदास मालूम होता था।' या साचात् गाधी, सुपरिचित चित्र के आधार पर ?

'वह ऐसा मालूम होता था मानो कोई स्वर्गलोक का भिचुक देवताओ से ससार के कल्याण का वरदान माँग रहा है।'

यही 'रगभूमि' की मुख्य कहानी है और इस नाटक का सूत्रधार सूरदास है। इसके माध्यम से, इसकी अन्योक्ति से जन-आदोलन की उस राजनीति को प्रस्तुत किया गया है जिसका सूत्रधार गाधी है। वह आदोलन इस समय बेजान-सा पडा है, फिर से उसमें प्राण का सचार हो, फिर से वह बिरवा लहलहा उठे, उसी के लिए स्वत्वो के सघर्ष की यह कथा है। 'कर्बला' के समान ही यहाँ भी अन्योक्ति का आश्रय लिया गया है। एक में धार्मिक सघर्ष है, दूसरे में छोटी भूमि पर, छोटे दायरे में, स्वत्व का सघर्ष है, लेकिन दोनों का वास्तविक अभिप्राय देश का वृहत्तर स्वाधीनता सग्राम है जो प्रेमचद के समीप सत्ता के हस्तातरण का प्रश्न नही बल्कि नैतिक मूल्यो का प्रश्न है और एक समग्र जीवन प्रणाली का प्रश्न है जिस के दो स्तर है पुरानी सरल ग्रामीण जीवन-व्यवस्था में जो कुछ मूल्यवान है उसकी रचा और नयी का निर्माण, इस प्रकार कि वह अपनी सनातन आत्मा को खोये बिना विकास के नये आयामो को अपने भीतर समाहित कर सके।

'रगभूमि' के प्रकाशित होने पर जब अवध उपाध्याय ने बहुत मौलिक ढग से साहित्यालोचना में बीजगणितीय समीकरणो का समावेश करके जोड-बाकी के सहारे यह सिद्ध करना चाहा कि 'रगभूमि' थैकरे के 'वैनिटी फेयर' की नकल है, उस समय प्रेमचद ने उनके इस आरोप का खडन करते हुए और बातो के साथ-साथ यह भी लिखा था कि 'रगभूमि' मुख्यत राजनीतिक उपन्यास है जब कि 'वैनिटी फेयर' एक सामाजिक उपन्यास है।

सोफिया और विनय, कुँअर भरत सिंह और डाक्टर गगुली को लेकर जो उपकथा है उसकी पृष्ठभूमि उस समय की वास्तविक राजनीति है।

राजनीति का मुख्य सघर्ष इस समय दो प्रवृत्तियो के बीच है — नो-चेंजर्स ओर प्रो-चेंजर्स। इन दो मुख्य प्रवृत्तियो की अनेकानेक शाखाएँ और उपशाखाएँ हैं। इस रगभूमि के सब पात्रो का अलग-अलग रूप-रग है।

विनय के पिता कुँअर भरत सिंह कहते हैं —

'मैने व्रत कर लिया है कि राज्याधिकारियो से कोई सपर्क न रखूँगा। हाकिमो की कृपादृष्टि, ज्ञात या अज्ञात रूप से, हम लोगो को आत्मसेवी और निरकुश बना देती है।'

कुँअर साहब के दामाद, इदु के पति, राजा साहब चतारी कहते है —

'मैं एक राज्य का अधीश हूँ और स्वभावत मेरी सहानुभूति सरकार के साथ है। जनवाद और साम्यवाद को सम्पत्ति से बैर है। मै उस समय तक साम्यवादियो का साथ न दूंगा जब तक मन में यह निश्चय न कर लूं कि अपनी सम्पत्ति त्याग दूंगा। मै उन लोगो को धूर्त और पाखडी समझता हूँ जो अपनी सम्पत्ति को भोगते हुए साम्य की दुहाई देते फिरते हैं। अपने कमरे से फर्श हटा देना और सादे वस्त्र पहन लेना ही साम्यवाद नही है।'

डाक्टर गगुली को अग्रेजो से, वैधानिकता से, बडी-बडी आशाएँ है लेकिन एक समय आता है कि उनकी आँखें खुलती है और अच्छी तरह खुलती है। मिस्टर सेवक जब एक बार उन्हें कौंसिल की उनकी स्पीच पर बधाई देते है तो वह कहते है —

'हाँ, अगर वहाँ भाषण करना, प्रश्न करना, बहस करना काम है तो आप हमारा जितना बडाई करना चाहता है करें, पर मैं उसे काम नही समझता, यह तो पानी मारना है। हमारा तो अब वहाँ मन नही लगता। पहले तो सब आदमी एक नही होता और कभी हो भी गया तो गवर्नमेण्ट हमारा प्रस्ताव खारिज कर देता है। हमारा मेहनत खराब हो जाता है। यह तो लडको का खेल है। हमको नये कानून से बडी आशा थी पर तीन-चार साल उसका अनुभव करके देख लिया कि इससे कुछ नही होता। हम जहाँ तब था वही अब भी है। मिलिटरी का खर्च बढता जाता है, उस पर कोई शका करे तो सरकार बोलता है, आपको ऐसा नही

कहना चाहिए । बजट बनाने लगता है तो हर एक आइटम में दो-चार लाख ज्यादा लिख देता हैं । हम कौसिल में जब जोर देता है तो हमारा बात रखने के लिए वही फालतू रुपया निकाल देता है । मेंबर खुशी के मारे फूल जाता है — हम जीत गया, हम जीत गया ! पूछो, तुम क्या जीत गया ? तुम क्या जीतेगा ? तुम्हारे पास जीतने का साधन ही नही है, तुम कैसे जीत सकता है ? काउसिल कुछ नही कर सकता, एक पत्ती तक नही तोड सकता । जो आदमी काउसिल को बना सकता है, वही उसको बिगाड भी सकता है । भगवान जिलाता है तो भगवान ही मारता है । काउसिल को सरकार बनाता है और वह सरकार की मुट्ठी में है । जब जाति द्वारा काउसिल बनेगा तब उससे देश का कल्यान होगा, यह सब जानता है । पर कुछ न करने से कुछ करते रहना अच्छा है ।'

क्लार्क जो गोरी सत्ता का एक स्तम्भ है एक जगह कह गुज़रता है — "अग्रेज जाति भारत को अनत काल तक अपने साम्राज्य का अग बनाये रखना चाहती है । कज़र्वेटिव हो या लिबरल, रेडिकल हो या लेबर, नेशनलिस्ट हो या सोशलिस्ट, इस विषय मे सभी एक ही आदर्श का पालन करते है । आधिपत्य त्याग करने की वस्तु नही हैं । ससार का इतिहास केवल इसी एक शब्द 'आधिपत्य-प्रेम' पर समाप्त हो जाता है । हम सब के सब — मै लेबर हूँ — साम्राज्यवादी हैं । अतर केवल उस नीति में है जो भिन्न-भिन्न दल इस जाति पर आधिपत्य जमाये रखने के लिए ग्रहण करते है । कोई कठोर शासन का उपासक है, कोई सहानुभूति का, कोई चिकनी-चुपडी बातो से काम निकालने का । ... "

गगुली की बातो से नाराज होकर जब एक बार उन्हे सभा-भवन से बाहर निकालने के लिए पुलिस बुलायी जाती है तो उनका और भी गहरा मोहभग होता है और वह भरी सभा मे गरजकर कहते है —

'आप पशुबल से मुझे चुप करना चाहते है, इसलिए कि आपमे धर्म और न्याय का बल नही है । आज मेरे दिल से यह विश्वास उठ गया जो गत चालीस वर्षों से जमा हुआ था कि गवर्नमेंएट हमारे ऊपर न्याय-बल से शासन करना चाहती है । आज उस न्याय-बल की कलई खुल गयी, हमारी आँखो से पर्दा उठ गया और हम गर्वनमेएट को उसके नग्न आवरणहीन रूप में देख रहे हैं । अब हमें स्पष्ट दिखायी दे रहा है कि केवल हमको पीसकर तेल निकालने के लिए, हमारा अस्तित्व मिटाने के लिए, हमारी सभ्यता और हमारे मनुष्यत्व की हत्या करने के लिए, हमको अनन्तकाल तक चक्की का बैल बनाये रखने के लिए हमारे ऊपर राज्य किया जा रहा है ।'

कुँअर भरत सिंह भी सदिच्छाशील आदमी है लेकिन निराशावादी है, निष्क्रिय है, उदासीन है । गगुली उनके उल्टे है — आशावादी और कर्मठ । काउसिल से उनका मोह-भग हुआ तो और कुछ करना चाहते है, अधिक सतेज । लेकिन कुँअर

साहब उसमें भी उनका साथ नही दे पाते तो गगुली उलाहने के शब्दों में उनसे बहुत तेज बाते कहते है। इसमे मुशीजी की भी आवाज मिली हुई है —

'आह ! तो कुँअर विनय सिंह का मृत्यु भी आपके इस बेडी को नही तोड सका ! हम समझा था आप निर्द्वन्द्व हो गया होगा पर देखता हूँ तो वह बेडी ज्यो का त्यो आपके पैरो में पडा हुआ है। जब तक हम इस बेडी को न तोड सकेगा, हमारा काम कभी पूरा नही हो सकता। अब तो आपको मालूम हो गया होगा कि हम जायदादवालो को क्यो निकम्मा समझता है, कभी उन पर भरोसा नही करता। वह तो जायदाद का गुलाम है। वह कभी सच्चाई का लडाई नही लड सकता। जो सिपाही सोने का ईंट गर्दन में बाँधकर लडने चले, वह कभी लड नही सकता। उसको अपने ईट का चिन्ता लगा रहेगा। अब तक हमको कुछ सक था तो अब बिसवास हो गया कि जायदादवाला आदमी हमारा मदद करने के बदले उल्टा हमको नुकसान पहुँचाता है।'

जिस कठिन निराशा की घाटी से राष्ट्रीय आन्दोलन इस समय गुज़र रहा है उसकी निर्मम पर कैसी सच्ची तस्वीर कुँअर भरत सिंह के माध्यम से पेश की गयी है —

'कुँअर भरत सिंह अब फिर विलासमय जीवन व्यतीत कर रहे है, फिर वही सैर और शिकार है, वही अमीरो के चोचले, वही रईसों के आडम्बर, वही ठाट-बाट। उनके धार्मिक विश्वास की जडे उखड गयी है। इस जीवन से परे अब उनके लिए अनन्त शून्य और अनन्त आकाश के अतिरिक्त और कुछ नही है। लोक असार है, परलोक भी असार है, जब तक ज़िन्दगी है हँस-खेलकर काट दो। मरने के पीछे क्या होगा, कौन जानता है। ससार सदा इसी भाँति रहा है और इसी भाँति रहेगा, उसकी सुव्यवस्था न किसी से हुई है और न होगी। बडे-बडे ज्ञानी, बडे-बडे तत्ववेत्ता, ऋषि-मुनि मर गये और कोई इस रहस्य का पार न पा सका। हम जीवमात्र है और हमारा काम केवल जीना है। देशभक्ति, विश्वभक्ति, सेवा, परोपकार, यह सब ढकोसला है।'

उनकी पत्नी रानी जाह्नवी बिलकुल अपने पति की उल्टी है, एक सच्ची वीर माता, जैसी वीरमाताओ की कहानियो से राजस्थान का इतिहास भरा पडा है। विनय उनकी आँखो का तारा है लेकिन उसके मरने पर उनकी आँखो से एक आँसू नही निकलता —

' रानी की आँखो में आँसू न थे, मुख पर शोक का चिह्न न था। उनकी आँखो में गर्व का मद छाया हुआ था, मुख पर विजय की आभा झलक रही थी। सोफी को गले से लगाती हुई बोली — क्यों रोती हो बेटी ? विनय के लिए ? वीरो की मृत्यु पर आँसू नही बहाये जाते, उत्सव के राग गाये जाते है।. मुझे उसके मरने का दुख नही है। दुख होता, अगर वह आज प्राण बचाकर भागता।

यह तो मेरी चिरसचित अभिलाषा थी, बहुत ही पुरानी, जब मैं युवती थी और वीर राजपूतो तथा राजपूतानियों के आत्मसमर्पण की कथाएँ पढा करती थी। उसी समय मेरे मन में यह कामना अकुरित हुई थी कि ईश्वर मुझे भी कोई ऐसा ही पुत्र देता, जो उन्ही वीरो की भाँति मृत्यु से खेलता, जो अपना जीवन देश और जाति-हित के लिए हवन कर देता, जो अपने कुल का मुख उज्ज्वल करता। मेरी वह कामना पूरी हो गयी। आज मैं एक वीर पुत्र की जननी हूँ। क्यो रोती हो ? इससे उसकी आत्मा को क्लेश होगा। तुमने तो धर्मग्रन्थ पढे है। मनुष्य कभी मरता है ? जीव तो अमर है। उसे तो परमात्मा भी नही मार सकता। मृत्यु तो केवल पुनर्जीवन की सूचना है, एक उच्चतर जीवन-मार्ग। विनय फिर ससार में आयेगा, उसकी कीर्ति और भी फैलेगी। जिस मृत्यु पर घरवाले रोये, वह भी कोई मृत्यु है ! वह तो एडियाँ रगडना है। वीर मृत्यु वही है जिस पर बेगाने रोयें और घरवाले आनन्द मनायें।'

विनय, सोफिया, प्रभुसेवक नयी पढी के लोग है। वह देश के लिए बडा कुछ काम करना चाहते है। उनके खून मे गर्मी भी है। लेकिन देश की राजनीति इस समय ठडी पडी है। बस कौसिलो की वक्तृताएँ और कुछ सेवा-समिति के काम। इतनी ही इस समय की कुल राजनीति है। लिहाजा विनय और प्रभुसेवक दोनो अपना सारा जोश लेकर सेवा-समिति में सम्मिलित होते है। लेकिन उसका नेतृत्व पुराने हाथों में है जिन्हे ज्यादा जोश से डर मालूम होता है। लिहाजा टकराव पैदा होता है।

जवाहरलाल नेहरू अपनी आत्मकथा में लिखते है —

'कोकोनाडा काग्रेस में, जो कि दिसम्बर १९२३ में हुई थी, मुझे खास दिलचस्पी थी क्योकि वही पर एक अखिल भारतीय स्वयसेवक सगठन, हिन्दुस्तानी सेवा दल, की नीव पडी। सगठनात्मक कामो और जेल जाने के लिए पहले भी स्वयसेवक सगठनो की कोई कमी न थी लेकिन उनमें अनुशासन नही था, एकसूत्रता नही थी। डाक्टर हार्डीकर के मन में यह विचार आया कि एक अनुशासनबद्ध अखिल भारतीय सगठन होना चाहिए जो काग्रेस की देखरेख में राष्ट्रीय काम करे। इस काम में सहयोग देने के लिए उन्होने मुझसे आग्रह किया और मैंने खुशी से सहयोग दिया क्योकि मुझे भी यह चीज पसद थी। शुरुआत कोकोनाडा में हुई। बाद में हमें यह देखकर बडा आश्चर्य हुआ कि काग्रेस के नेताओ में भी कितने ही थे जो सेवादल के कट्टर विरोधी थे। कुछ लोग कहते थे कि यह एक ख़तरनाक मोड है क्योकि इसका मतलब होगा काग्रेस के भीतर सैनिक तत्व का समावेश करना !'

'चौगाने हस्ती' पहली अप्रैल १९२४ को तैयार हुई और कुछ अजब नही कि नयें और पुराने खून के इसी टकराव की तरफ मुशीजी का इशारा हो, और यह भी साफ है कि उनकी हमदर्दी नये खून के साथ है जिसका प्रतिनिधित्व उस समय

जवाहरलाल नेहरू कर रहे थे और कम या ज्यादा बहुत बरस बाद तक करते रहे। याद रखने की जरूरत है कि भारतीय राजनीति में जवाहरलाल का उदय उन्ही दिनो हुआ था और बडी आन-बान के साथ हुआ था। उत्तर भारत के किसानो की जागृति का श्रेय बडी हद तक उन्ही को है और उन्ही दिनो, ठीक उन्ही दिनो, इस काम की शुरुआत हुई थी। गाँव-गाँव वह घूमते फिरे थे और बावजूद इसके कि उनकी शिक्षा-दीक्षा बिलकुल दूसरे ढग की थी, हाल मे ही विलायत से लौटे थे और अँग्रेज़ियत उनमें कूट-कूटकर भरी थी, उनके सच्चे उत्साह ने थोडे ही दिनो में उन्हे जनता का सरताज बना दिया था। यह भी उनकी विराट् लोकप्रियता का ही एक छोटा-सा सकेत था कि सन् २४ में जब देशबधु चित्तरजनदास और विट्ठल भाई पटेल क्रमश कलकत्ता और बम्बई के कार्पोरेशन के मेयर थे, नवयुवक जवाहर-लाल इलाहाबाद की म्युनिसिपैलिटी के चेयरमैन थे। यह सब उन्ही दिनो की बात है जब कि रगभूमि लिखी जा रही थी और यह ताज्जुब की बात न होगी अगर विनय के चरित्र में जवाहरलाल नेहरू की छाया हो, वैसी ही जैसी कि मुशीजी ने खुद अपने एक पत्र में स्वीकार किया है, सोफिया के चरित्र में ऐनी बेसेण्ट की छाया है। उन्होंने तो ऐनी बेसेण्ट को सोफिया का असल बतलाया है लेकिन वह शायद ज्यादती है क्योकि पूरा चरित्र किसी का भी नही है, केवल छायाएँ उतर आयी हैं — जो कि स्वाभाविक भी था क्योकि यही राजनीतिक आकाश के नक्षत्र थे और मुशीजी स्पष्ट मन से राजनीतिक उपन्यास लिख रहे थे। सूरदास के रूप में गाधीजी की उद्भावना सिद्ध है। बाप-बेटे, कुँवर भरत सिंह और विनय, के रूप में मोतीलाल और जवाहरलाल नेहरू का सकेत बराबर मिलता है। ऐसा ही एक सकेत और भी है। विनय सेवादल के एक जत्थे के साथ राजस्थान जाता है। देशी रियासतो की जैसी हालत थी, वहाँ जनता के बीच किसी तरह का कोई काम करना राजद्रोह से कम नही समझा जाता और नतीजा होता है कि विनय पकडकर जेल में डाल दिया जाता है। यही चीज़ जवाहरलाल के साथ इन्ही दिनो हुई — जब कि वह पजाब की एक रियासत नाभा में गये और वहाँ पकड लिये गये। महाराजा पटि-याला और महाराजा नाभा में एक अर्से से खानदानी झगडा चला आ रहा था और उस झगडे का बहाना बनाकर सरकार ने नाभा रियासत को अपने कब्जे में ले लिया और रियासत का प्रबन्ध करने के लिए एक अग्रेज हाकिम को वहाँ पर भेज दिया। नाभा के लोग अपने महाराजा के गद्दी से उतारे जाने पर यो ही क्षुब्ध थे, जब उस अग्रेज हाकिम ने जैतो नामक स्थान पर सिक्खो के एक धार्मिक उत्सव पर रोक लगा दी तो सिक्खो का आन्दोलन शुरू हो गया और अकालियो के जत्थे पर जत्थे पहुँ-चने लगे। जवाहरलाल को स्थिति का अध्ययन करने के लिए काग्रेस की ओर से वहाँ भेजा गया और वह पहुँचते ही गिरफ्तार कर लिये गये। फिर अपनी रिहाई के लिए उन्हे जो-जो पापड़ बेलने पड़े उसकी सारी कहानी उन्होने अपनी आत्मकथा

में लिखी है। वह तो खैर छूट गये क्योकि ऊपर से बहुत जोर पडा मगर उनके साथ के लोगो को सजाएँ हो गयी। रियासती जनता की हालत की ओर से काग्रेस अब तक बिलकुल बेख़बर थी और गोकि रियासतो में प्रजामण्डल की स्थापना में इसके बाद भी दस-बारह बरस का समय लगा लेकिन इसमें सदेह नही कि जवाहरलाल नेहरू के निजी अनुभव ने ज़ोर से सबका ध्यान अपनी तरफ खीचा। मुशीजी ने विनय के माध्यम से देशी रियासतो का खाका उतारा। हो सकता है कि यह एक बिल्कुल आकस्मिक सयोग हो लेकिन चूँकि यह घटना भी ठीक उसी समय यानी १९२३ के अगस्त-सितबर की है इसलिए ऐसा समझ में आता है कि हो सकता है इसकी भी कुछ छाया मुशीजी के आख्यान पर हो। उसी तरह सभव है कुँअर भरत सिंह के मित्र डाक्टर गगुली में देशबधु चित्तरजन दास की आत्मा हो। देशबधु स्वराज पार्टी के सस्थापक और नेता थे। कौसिलो मे जाकर सरकार का विरोध करने की नीति के प्रवर्तक वही थे। बगाल की असेबली में उन्ही का बहुमत था और वही अपने दल के सर्वमान्य नेता थे। उनका यही रूप डाक्टर गगुली में उतर आया है। उस राजनीति से अतत गगुली को जो निराशा होती है, उसमे भी चित्तरजन दास के जीवन के शेष पर्व की कुछ झलक है। मोतीलाल नेहरू को लिखे गये उनके अतिम दिनो के पत्र और फरीदपुर की उनकी अतिम वक्तृता, दोनो ही से उनके मन की वेदना टपकती है, वेदना इस राजनीति की व्यर्थता के बोध की और वेदना अपने अनेक सहकर्मियो के पद-लोभ की।

मुशीजी की राजनीति लोकाश्रयी है — जनता के दुख-दर्द, जनता की सवेदनाओ और जनता के सघर्ष की राजनीति, स्वाधीनताप्रेमियो के सबसे उदारमनस्क, प्रबुद्ध वर्ग की राजनीति जो इस बात को समझता है कि उसकी शक्ति का स्रोत साधारण जनता में ही है। जो उसके जितना ही पास है, उसके पाँव उतने ही मजबूत हैं और जो जितना ही दूर है उसके पाँव उतने ही कमजोर। यह बात भी आकस्मिक नही है कि मुख्य कथा सूरदास को लेकर है और वह अधा चमार ही उसका नायक है। दूसरे सब उसका अनुगमन करनेवाले है। राजनीति का मतलब मुशीजी के लिए आत्म-बलिदान है, और सही या गलत पढे-लिखे सफेदपोश लोगो की आत्म-बलिदान की क्षमता के बारे में उनका सदेह बहुत पुराना है।

सूरदास उनकी इसी आस्था और विनय इसी अनास्था का प्रतीक है। सूरदास मजबूती के साथ अत तक मैदान में डटा रहता है और फिर वही खेत रहता है। कही उसके पैर नही डगमगाते। विनय के पैरो को डगमगाने के लिए बस बहाना चाहिए। राजस्थान में रियासत के बागी सोफिया को उडा ले जाते है। विनय के सारे सिद्धान्त, सारे आदर्श हवा हो जाते हैं और वह बहककर शासक वर्ग से मिल जाता है और जनता के दमन में इतने मनोयोग से पुलिस का हाथ बँटाने लगता है कि उनसे भी दो बाँस आगे निकल जाता है। पाँडेपुर की लडाई जिस समय चल

रही है उस समय वह शुद्ध कायरतावश अपने घर में दुबका बैठा रहता है। सोफिया तक को उसका यह चलन अखरने लगता है और शहर के लोग तो जैसे उसकी खिल्ली उडाते ही है। उस दिन यह एक सयोग ही था कि वह घटनास्थल पर जा पहुँचता है। आसपास कुछ लोग उस पर बोली-आवाजे कसते है जिससे उसको इतनी आत्मग्लानि होती है कि वह आवेश में आकर अपने को गोली मार लेता है। मौन उसकी कायरता पर पर्दा ही नही डालती, एक हद तक उसे धो भी देती है। लेकिन एक हद तक ही।

एक और अनास्था मन में घर करती जा रही है—ईश्वर में। कारण संसार मे अनीति का साम्राज्य। रकिया कहती है—

'दौलतवालो पर अजाब भी नही पडता। उसका वार भी गरीबो ही पर होता है। हमारे बच्चे रोज ही नजर और आसेब की चपेट मे आते रहते हैं, पर आज तक कभी नही सुना कि किसी अग्रेज के बच्चे को नजर लगी हो।'

मुशीजी इसका भाष्य करते है—

'धर्म का मुख्य स्तभ भय है। अनिष्ट की शका को दूर कर दीजिए, फिर तीर्थ-यात्रा, पूजा-पाठ, स्नान-ध्यान, रोजा-नमाज, किसी का निशान भी न रहेगा। मसजिदें खाली नजर आयेगी और मदिर वीरान!'

धर्म का दूसरा स्तभ वह है जिसके बारे में जान सेवक कहता है—

'क्या तुम समझते हो कि मैं और मुझ-जैसे हजारो आदमी जो नित्य गिरजे जाते है, भजन गाते है, आँखें बद करके ईश-प्रार्थना करते है, धर्मानुराग मे डूबे हुए है? कदापि नही। अगर अब तक तुम्हें नही मालूम है तो अब मालूम हो जाना चाहिए कि धर्म केवल स्वार्थ-सगठन है'

जहाँ धर्म से व्यापार में सहायता मिलती है वहाँ धर्म ग्राह्य है और जहाँ धर्म व्यापार के आडे आता है, वहाँ त्याज्य। चित भी मेरी और पट भी मेरी! जान सेवक ताहिर अली से कहता है—

'धर्म और व्यापार को एक तराजू में तौलना मूर्खता है। धर्म धर्म है, व्यापार व्यापार। परस्पर कोई सबंध नही। ससार में जीवित रहने के लिए किसी व्यापार की जरूरत है, धर्म की नही। धर्म तो व्यापार का सिंगार है। वह धनाधीशो ही को शोभा देता है। खुदा आपको समाई दे, अवकाश मिले, घर में फालतू रुपये हो तो नमाज पढिए, हज कीजिए, मसजिद बनवाइए, कुएँ खुदवाइए। तब मजहब है। खाली पेट खुदा का नाम लेना पाप है।'

और तब धर्मभीरु ताहिर अली कहता है—

'इकबालवालो से अजाब भी काँपता है। खुदा का कहर गरीबों ही पर गिरता है।'

देशी रियासतों की अधेरगर्दी का, जिसकी तरफ अभी किसी का ध्यान नही

जाता, नक्शा यह है —

'चोरी कीजिए, डाके डालिए, घरो में आग लगाइए, गरीबो का गला काटिए, कोई आपसे न बोलेगा। बस कर्मचारियो की मुट्ठी गर्म करते रहिए। दिन-दहाडे खून कीजिए पर पुलिस की पूजा कर दीजिए, आप बेदाग छूट जायँगे, आपके बदले कोई बेकसूर फाँसी पर लटका दिया जायगा। कोई फरियाद नही सुनता। कौन सुने, सभी एक ही थैली के चट्टे-बट्टे है। यही समझ लीजिए कि हिंसक जन्तुओ का एक गोल है, सब के सब मिलकर शिकार करते है और मिल-जुलकर खाते है। राजा है वह काठ का उल्लू '

यह एक रियासत के बागी के मुँह से निकली हुई बात है। अब सुनिए खुद दीवान साहब विनय से क्या कहते है —

'रियासतो को आप सरकार की हरमसरा समझिए. हम सब इस हरमसरा के हब्शी ख्वाजासरा है। हम किसी की प्रेमरसपूर्ण दृष्टि को इधर उठने न देगे। कोई मनचला जवान इधर कदम रखने का साहस नही कर सकता। अगर ऐसा हो तो हम अपने पद के अयोग्य समझे जायँ। हमारा रसीला बादशाह, इच्छानुसार मनोविनोद के लिए कभी-कभी यहाँ पदार्पण करता है। हरमसरा के सोये भाग्य उस दिन जग जाते है। आप जानते है बेगमो की सारी मनोकामनाएँ उनकी छवि-माधुरी, हाव-भाव और बनाव-सिंगार पर ही निर्भर होती है, नही तो रसीला बादशाह उनकी ओर आँख उठाकर भी न देखे। हमारे रसीले बादशाह पूर्वीय रागरस के प्रेमी है। उनका हुक्म है कि बेगमो का वस्त्राभूषण पूर्वीय हो, शृगार पूर्वीय हो, रीति-नीति पूर्वीय हो, उनकी आँखे लज्जापूर्ण हो, पश्चिम की चचलता उनमें न आने पावे, उनकी गति मरालो की गति की भाँति मन्द हो, पश्चिम की ललनाओ की भाँति उछलती-कूदती न चले, वही परिचारिकाएँ हो, वही हरम की दारोगा, वही हब्शी गुलाम, वही ऊँची चहारदीवारी जिसके अन्दर चिडिया भी पर न मार सके। आपने इस हरमसरा में घुस आने का दुस्साहस किया है, यह हमारे रसीले बादशाह को एक आँख नही भाता और आप अकेले नही है, आपके साथ समाजसेवको का एक जत्था है।... नादिरशाही हुक्म है कि जितनी जल्दी हो सके वह जत्था हरमसरा से दूर हटा दिया जाय। यह देखिए पोलिटिकल रेजिडेण्ट ने आपके सहयोगियो के कृत्यो की गाथा लिख भेजी है। कोई कोटे में कृषको की सभाएँ बनाता फिरता है, कोई बीकानेर में बेगार की जड खोदने पर तत्पर हो रहा है, कोई मारवाड में रियासत के उन करो का विरोध कर रहा है जो परम्परा से वसूल होते चले आये है। आप लोग साम्यवाद का डका बजाते फिरते हैं। आपका कथन है प्राणी मात्र को खाने-पहनने और शान्ति से जीवन व्यतीत करने का समान स्वत्व है। इस हरमसरा में इन सिद्धान्तो और विचारो का प्रचार करके आप हमारी सरकार को बदगुमान कर देंगे, और

उसकी आँखें फिर गयी तो हमारा ससार में कही ठिकाना नही है। हम आपको अपने प्रेमकुज में आग न लगाने देंगे।'

मुशीजी ने सजग आँखो से जीवन की रगभूमि को देखा है — प्रेक्षा गृह से भी और नेपथ्य से भी — और उन्हे खूब पता है कहाँ क्या खेल हो रहा है मगर देखनेवाले की निगाह बिलकुल उनकी अपनी है। जिस आदमी ने अपने विवेक की बलिवेदी पर न्योछावर हो जाने को ही जीवन की सबसे बडी सिद्धि माना है और कभी किसी चीज को मान्यता केवल इसलिए नही दी कि उस पर समाज की प्रचलित मान्यता का ठप्पा लगा हुआ है, वही सोफिया के मुँह से जीवन का ऐसा विद्रोही आदर्श प्रस्तुत कर सकता था — 'मुझे उस वस्तु से घृणा है जिसे लोग सफल जीवन कहते है। सफल जीवन पर्याय है खुशामद, अत्याचार और धूर्तता का। मै जिन महात्माओ को ससार में सर्वश्रेष्ठ समझती हूँ, उनके जीवन सफल न थे। सासारिक दृष्टि से वे लोग साधारण मनुष्यो से भी गये-गुज़रे थे, जिन्होने कष्ट झेले, निर्वासित हुए, पत्थरो से मारे गये, कोसे गये और अन्त में ससार ने उन्हे बिना आँसू की एक बूँद गिराये बिदा कर दिया '

जब से होश सँभाला मुशीजी ने इसी तरह अपनी जिन्दगी को जिया था और उसका निचोड था यह उपन्यास जो पूरे डेढ बरस की मेहनत के बाद पहली अप्रैल १९२४ को तैयार हुआ — जिस बीच प्रेस भी फाँसी की तरह गले में पडा हुआ था। क्या-क्या उम्मीदें थी इस प्रेस से, और क्या हुआ। प्रेस खुलते देर नही और नौकरी की तलाश होने लगी। तभी एक रोज नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ के बाबू बिशननारायण भार्गव का एक तार मुशीजी को मिला। काम के लिए ही बुलाया था, लेकिन मुशीजी ने जाने के पहले कुछ बातो की सफाई कर लेने की गरज से कुछ चिट्ठी-चपाती की। लेकिन उधर से वह तो पता नही क्यो बिलकुल सोठ हो गये। आखिरकार मुशीजी ने २६ सितम्बर १९२३ को काफी दुखी होकर निगम साहब को लिखा —

'बाबू बिशननारायण भार्गव के यहाँ से अम्रे-जेरे-बहस[1] के मुताल्लिक कोई खत नही आया। मैंने खुद दो बार लिखा, पर जोडे नदारद। समझ गया वह भी एक रईसाना उबाल था। यह है हमारे शुरफा[2] की तलव्वुन-मिज़ाजी[3] — खत का जवाब तक मजूर नही और तलब था बज़रिए तार।'

निराशा भी हुई, झल्लाहट भी। मगर खैर। इसी का नाम जिन्दगी है।

प्रेसके बारे मे १७ फर्वरी १९२४ को उन्होने लिखा था — 'प्रेस चल रहा है। अभी नफा तो नही हो रहा है मगर अपना खर्च आप सह लेता है। साले-आखिर[4] तक मुमकिन है कि कुछ नफा भी होने लगे।' ख़याली पुलाव पकाने में

---

१ विचाराधीन विषय २ शरीफों ३ झक्कीपन ४ वर्ष के अत

मुशीजी का जवाब नही है ।

अपने ही ऊपर एक मीठी चुटकी लेते हुए मुशीजी ने इस खत में यह भी लिखा था कि 'नई आमद इमरोज-फर्दा[1] में होनेवाली है । अपनी हिमाकत पर अफसोस करता हूँ और कहे दरवेश बरजाने दरवेश[2] के मिसदाक[3] अपने किये पर नादिम[4] और मुतास्सिफ[5] हूँ ।'

यह नयी आमद एक लडकी थी जो ८ मार्च को पैदा हुई । खामखाह पैदा हुई, कि जैसे सिर्फ दु ख देने के लिए । कुल तीन महीने जिन्दा रही और जिस रोज तीन महीने पूरे हुए इस दुनिया से रुखसत हो गयी । अधेड उम्र में आकर यह एक बुरा दाग लगा सीने पर । माँ-बाप दोनो कलेजा थामकर रह गये । बाप ने तो जैसे-तैसे झेल भी लिया, माँ बिलकुल टूट गयी ।

५ जून १९२४ को मुशीजी ने अपने दोस्त निगम साहब को अपने गम की यह दास्तान सुनायी —

'मेरी छोटी लडकी जो ८ मार्च को पैदा हुई थी २८ की शाम को दस्त और बुखार में मुबतिला हुई । मै समझता था खारिजी[6] शिकायत है, रफा हो जायगी, मगर शिकायत बढती गयी यहाँ तक कि ३ तारीख को उसकी हालत इतनी अबतर हो गयी कि घर में लोगो ने रोना-पीटना भी शुरू कर दिया । मगर सुबह को उसे जरा-सा इफाका[7] हुआ । तबसे अब तक न वह मुर्दा है न जिन्दा है, आँखे बन्द किये पडी रहती है और रोया करती है । होमियोपैथिक की दवाएँ दे रहा हूँ मगर अभी तक कोई दवा कारगर नही हुई । लाग़र और नहीफ[8] इस कदर हो गयी है कि अगर बच जाये तो मै इसे ईश्वर की खास रहमत समझूँ । मुझे बार-बार अफसोस होता था कि मैं इस तकरीब में शरीक न हो सका । मगर जब लोग एक बच्चे की चारपाई के पास बार-बार उसका मुँह खोलकर देख रहे हो कि अभी नीचे उतारने का वक्त आया या नही .'

११ तारीख को लिखा — 'यहाँ तो ७ को लडकी रुखसत हो गयी । उसकी जाँकन्दनी[9] की तसवीर अभी तक आँखों में फिर रही है ।' मरने का दुख तो है ही लेकिन उससे भी बडा दुख इसका है कि बेचारी बहुत तकलीफ पाकर मरी ।

मुसीबत कभी अकेले नही आती । २८ जून को मुशीजी ने निगम साहब को लिखा — 'जब से लडकी मरी है, घर में ज़ोफे-हाजमा[10] की शिकायत होते-होते अब सग्रहणी की सूरत में नमूदार हुई है । देहात का कयाम, शहर में हकीम, हर दूसरे रोज जाना और आना और यह शिद्दत की गर्मी — दिल ही जानता है ।'

---

१ आज-कल २ भिखारी का गुस्सा अपनी जान पर ३ अनुसार
४-५ लज्जित और क्षुब्ध ६ ऊपरी ७ हालत में सुधार ८ कमज़ोर
९ जान निकलने १० हाज़मे की कमजोरी ।

कितने ही डाक्टरो और हकीमो का इलाज किया, किसी से कोई फायदा न होता था और हालत रोज-ब-रोज़ बिगडती जाती थी। यहाँ तक कि लगा अब चल-चलाव है। आखिरकार एक रोज़ बहुत तग आकर, मुशीजी खुद अपनी अक्ल से कुछ चटनियाँ एक हकीम के दवाखाने से बनवाते लाये। वह भी तो आखिर पेट ही के मरीज थे और पुराने मरीज़। कहावत भी मशहूर है, न सौ डाक्टर न एक तजुर्बेकार। या शायद सिर्फ इसलिए कि उन्ही को जस बदा था, उनकी लायी हुई रूमी मस्तगी की जवारिश की सिर्फ एक खूराक खाते ही बीबी की तबीयत सँभलने लगी।

लुत्फ यह है कि मुशीजी इन सारी परीशानियो के बीच भी पूरे जोश से अपने लिखने में लगे थे। पहली अप्रैल को 'चौगाने हस्ती' पूरी हुई और दस अप्रैल से 'कायाकल्प' पर काम शुरू हो गया — मूल हिन्दी में। 'चौगाने हस्ती' का हिन्दी रूपान्तर भी साथ-साथ होता रहा और करीब चार महीने मे १२ अगस्त १६२४ को 'रगभूमि' की पाण्डुलिपि तैयार हुई।

प्रेस की हालत बदस्तूर खराब चल रही थी और मुशीजी रह-रहकर पछताते थे कि क्यो उन्होने इस काम में हाथ डाला। अपने २ अगस्त के खत में उन्होने निगम साहब को लिखा था — 'प्रेस ने मुझे इस कदर परेशान कर रखा है कि मैं तग आ गया हूँ। . मैंने सोचा था कि सितबर-अक्तूबर तक दोनो किताबें तैयार हो जायँगी। (कर्बला और कहानी-सग्रह प्रेम प्रसून) बकाया वसूल हो जायगा। किताबे बिक जायँगी। रुपये की किल्लत रफा हो जायेगी। मगर वह सारे मसूबे परीशान हो गये। न किताबे तैयार हुईं न बकाया वसूल हुआ, बल्कि हर महीने में कुछ न कुछ बढता गया। अब यही कोशिश कर रहा हूँ कि किसी बुकसेलर से मुआमला करके यह सब छपी हुई जिल्दें लागत पर देकर अपने तकाज़ेदारो को अदा कर दूँ।'

गगा पुस्तकमाला लखनऊ से मामला हो गया।

दुलारेलाल भार्गव को एक साहित्यिक सलाहकार की ज़रूरत थी, मुशीजी को नौकरी की। इसका मामला पटने में भी देर नही लगी और मुशीजी अगले ही महीने सौ रुपये मासिक पर लखनऊ पहुँच गये और दुलारेलाल के साथ ही ३२ लाटूश रोड वाले मकान पर ठहरे। पति-पत्नी और तीनो बच्चे।

'रगभूमि' की छपाई भी शुरू हो गयी। लिखी पहले उर्दू में गयी, छपी पहले हिन्दी में — वैसे ही जैसे 'सेवासदन' और 'प्रेमाश्रम' के सग हुआ था।

१८

लखनऊ में रहने का मुशीजी के लिए यह पहला अवसर था, और यह शहर उनको भा रहा था — सरशार और चकबस्त और दयाशकर 'नसीम' का लखनऊ। पानी भी मुआफिक था। सेहत अच्छी थी। कलम ज़ोरो के साथ चल रहा था।

सितबर २४ में पहुँचे, नवम्बर में 'कर्बला' निकल गयी। जनवरी आते-आते 'रगभूमि' निकल आयी और निकलते ही चारो तरफ उसका शोर मच गया। खत आने लगे, लेख छपने लगे। इन्ही खतों में एक अग्रेज़ी खत देहरादून से पडित अमरनाथ झा का था —

'. मैंने उसका एक-एक शब्द पढा है और आपकी विलक्षण रचनात्मक प्रतिभा का अब पहले से भी ज्यादा बडा प्रशसक हो गया हूँ। सूरदास को अपना नायक बनाना अत्यन्त साहस का काम था, लेकिन उसका चरित्र भी आपने कैसा सुन्दर खीचा है। . रगभूमि आधुनिक हिन्दी का एक गौरव-ग्रथ बनेगी। .. '

लेख लिखनेवालो में इस बार भी रामदास गौड सबसे पहले लोगो में थे। खूब जी खोलकर उन्होने तारीफ की थी। माधुरी ही में लेख छपा — जिसके अनौपचारिक सपादक मुशीजी ही थे। महीने भर बाद नरोत्तम व्यास का लेख छपा। वह भी इसी रग में। अपनी तारीफ किसे बुरी लगती है। मुशीजी को भी नही। और यह बात पूरी तरह सच नही है जो उन्होने अपने ३ जून १९३० के खत में बनारसीदास जी को लिखी थी कि 'धन या यश की लालसा मुझे नही रही।'

धन की लालसा नही रही, सचमुच नही रही, कभी नही रही। यश की लालसा रही और खूब रही — यह बात और है कि उस यश को पाने के लिए उन्होने जिन्दगी में न कभी कोई बेजा काम किया और न अपने विश्वासो के साथ किसी तरह का कोई समझौता किया। सच्चाई से, निर्भय, अपने रास्ते पर चलते रहे। कुछ लोग अगर साथ हो लिये तो क्या कहने, वर्ना अकेले ही चलते रहे। लेकिन उसका मतलब यह नही है कि निन्दा-स्तुति की ओर से वह वीतराग थे — और न इस तरह का कोई पाखण्ड उन्होने रचा। किसी भी साधारण व्यक्ति की तरह अपनी तारीफ उन्हे अच्छी लगती थी और अपनी बुराई, बुरी। वीतराग होते, उदासीन होते, तो अपनी छोटी से छोटी आलोचना के प्रति इतने सतर्क

न होते ।

दिसबर १९२४ की माधुरी में 'कर्बला' की आलोचना करते हुए रामचन्द्र टण्डन ने यह शका प्रकट की थी कि उस नाटक में हिन्दू पात्र क्यो लाये गये । उन्होने लिखा कि 'हिन्दू पात्रो के समावेश से न हिन्दुओ को प्रसन्नता होगी, न मुसलमानो को तुष्टि, इसलिए हिन्दू पात्र न लाये जाते तो कोई हानि न होती ।'

मुशीजी ने इस शंका का उत्तर देते हुए अगले महीने ही लिखा —

'यह ड्रामा ऐतिहासिक है और इतिहास से यह पता चलता है कि कर्बला के सग्राम मे कुछ हिन्दू योद्धाओ ने भी हजरत हुसेन का पक्ष लेकर प्राणोत्सर्ग किये थे, अत उन पात्रो का बहिष्कार करना किसी भाँति युक्तिसगत न होता । रही यह बात कि उनके समावेश से हिन्दू और मुसलमान दो मे से एक को भी प्रसन्नता न होगी, इसके लिए लेखक क्यो कुसूरवार ठहराया जाय ?'

यह आपत्ति रचनाकार के यश से अधिक एकता की उस भूमि पर ही आघात करती है जो कि नाटक का प्राण और उसकी रचना का लक्ष्य है, इसलिए, सभव है, मुशीजी ने उसका जवाब देने में अतिरिक्त तत्परता दिखलायी हो। लेकिन इतनी ही बात नही है । टडनजी ने अपनी समालोचना में मुशीजी के इस दावे को गलत बताया था कि कर्बला को लेकर दूसरा कोई नाटक नही लिखा गया । मुशीजी ने वे पक्तियाँ साफ उडा दी । इससे भी पता चलता है कि मुशीजी को अपनी भलाई-बुराई की काफी परवाह रहती थी। सन् ३२ में एक बार ऐसा कुछ प्रसग हुआ कि बनारसीदास चतुर्वेदी पर एक महाशय ने खूब कसकर कीचड उछाला जिससे चतुर्वेदीजी बहुत दुखी और क्षुब्ध हुए । उस समय चतुर्वेदीजी को समझाते हुए मुशीजी ने १४ नवम्बर ३२ के अपने ख़त में लिखा था —

'एक समय था कि किसी की एक मुख़ालिफ चोट से मेरी कितनी ही रातो की नीद हराम हो जाती थी । लेकिन अब मैं उस मजिल को पार कर आया हूँ और अपने आप को ज्यादा अच्छी तरह समझता हूँ ।'

उम्र के साथ-साथ प्रौढता भी बढी और उसी प्रौढता ने बहुत-सी आलोचना की अवहेलना करने का गुरुमत्र दिया । लेकिन वह दिन कभी न आया और शायद आ भी नही सकता — जब कि अपने यश का विस्तार उन्हे अच्छा न लगा हो, और अपयश बुरा न लगा हो । यह बात और है कि यश के पीछे वह दौडे नही और अपयश को लेकर विलाप करने नही बैठे — क्योकि उन दोनो से बडी चीज थी खुद अपना काम जिसके पीछे अपने अन्त करण का बल है, जैसा कि उन्होने १४ नवम्बर १९३२ को चतुर्वेदीजी को लिखा था, 'अपना अन्त करण निर्मल हो, फिर और कुछ नही चाहिए ।'

बहरहाल दिन अच्छे कट रहे थे यानी कलम खूब तेजी से चल रहा था । इतनी तेजी से कि सितंबर २४ से सितबर २५ तक के एक साल में मुशीजी ने न

सिर्फ अधूरे 'कायाकल्प' को खत्म कर लिया था बल्कि रामचन्द्र टण्डन के कहने पर, उन्ही की प्रति लेकर, अनातोल फ्रास की अमर कृति 'थायस' का हिन्दी रूपान्तर भी कर डाला और जैसे यह भी काफी न हो, रतननाथ सरशार के 'फसा-नए आजाद' का सच्चिप्त हिन्दी रूपान्तर 'आजाद कथा' भी कर डाला, जो खुद एक हजार पन्नो का है। और छोटी कहानियाँ जो लिखी, सो सब घलुए में।

यकीनन अच्छी साइत में घर से चले थे, लखनऊ पहुँचते ही दो ऊँचे पाये की कहानियाँ कलम से निकली — 'शतरंज के खिलाड़ी' और 'सवा सेर गेहूँ' और करीब छ महीने बाद 'सभ्यता का रहस्य।'

'सवा सेर गेहूँ' गाँवो में होनेवाली महाजनी लूट की (जिसे और भी चार चाँद लग जाते है जब कि महाजन ब्राह्मण हो!) एक बहुत ही भयानक, क्रूर कहानी है जिसे इतने सादे लिबास में पेश किया गया है, इतने सहज, अनलकृत ढग से कि वह क्रूरता और भी उभर आती है।

सीधे-सादे, चौपाल में कहे जानेवाले किस्से की तरह कहानी शुरू होती है —

● किसी गाँव में शकर नाम का एक कुरमी किसान रहता था। सीधा-सादा गरीब आदमी था, अपने काम से काम, न किसी के लेने में न देने मे। छक्का-पजा न जानता था .

एक दिन सन्ध्या समय एक महात्मा ने आकर उसके द्वार पर डेरा जमाया। तेजस्वी मूर्ति थी, पीताबर गले में, जटा सिर पर, पीतल का कमडल हाथ में, खडाऊँ पैर में, ऐनक आँखो पर, सपूर्ण वेश उन महात्माओ का-सा था, जो रईसो के प्रासादो में तपस्या, हवागाडियो पर देवस्थानो की परिक्रमा और योगसिद्धि प्राप्त करने के लिए रुचिकर भोजन करते है। घर में जौ का आटा था, वह उन्हे कैसे खिलाता। प्राचीन काल में जौ का चाहे जो महत्व रहा हो पर वर्तमान युग में जौ का भोजन सिद्ध पुरुषो के लिए दुष्पाच्य होता है। बडी चिन्ता हुई, महात्माजी को क्या खिलाऊँ। आखिर निश्चय किया कि कही से गेहूँ का आटा उधार लाऊँ, पर गाँव भर में गेहूँ का आटा न मिला। सौभाग्य से गाँव के विप्र महाराज के यहाँ थोडे से मिल गये। उनसे सवा सेर गेहूँ उधार लिया और स्त्री से कहा कि पीस दे। महात्मा ने भोजन किया, लबी तानकर सोये। प्रात.काल आशीर्वाद देकर अपनी राह ली।●

मगर उनका आशीर्वाद शकर को ऐसा फला कि विप्र महाराज ने चुपचाप सात साल तक उस 'सवा सेर अनाज को अडे की भाँति सेकर' एक रोज वह 'पिशाच खडा कर दिया' जो शकर को निगल गया। उसने 'विप्रजी के यहाँ बीस वर्ष तक गुलामी करने के बाद इन असार ससार से प्रस्थान किया . '

सवा सेर गेहूँ ने कैसे यह सब जादू कर दिखाया, यही तो इस सच्ची प्रेत-कहानी का भयानक रस है।

'सभ्यता का रहस्य' वर्तमान सामाजिक जीवन पर एक दुखी आत्मा का कठोर व्यग्य है, जिसमें एक खून के मुकदमे मे रिश्वत लेनेवाले जज साहब, जिनकी गिनती सभ्य लोगो में है, एक गरीब किसान को, जो अपने कई दिन के भूखे बैलो की वेदना से मर्माहत होकर उनके लिए किसी के खेत से थोडी-सी चरी काट लाता है, छ महीने की सख्त कैद का हुक्म सुनाते है। जिससे किस्सागो नतीजा निकालता है कि 'सभ्यता केवल हुनर के साथ ऐब करने का नाम है। आप बुरे से बुरा काम करे लेकिन अगर आप उस पर पर्दा डाल सकते है तो आप सभ्य है, सज्जन है, जेटिलमैन है। अगर आप मे यह सिफत नही हो तो आप असभ्य है, गँवार है, बदमाश है।'

'शतरज के खिलाडी' के मिर्जा साहब और मीर साहब को कौन नही जानता, नवाबी जमाने का विलासिता के रग में डूबा हुआ लखनऊ जिनमें साकार हो उठा है —

'छोटे-बडे, अमीर-गरीब सभी विलासिता में डूबे हुए थे। कोई नृत्य और गान की मजलिस सजाता था तो कोई अफीम की पिनक ही के मज़े लेता था। सभी की आँखो में विलासिता का मद छाया हुआ था। ससार में क्या हो रहा है इसकी किसी को खबर न थी। बटेर लड रहे है। तीतरो की लडाई के लिए पाली बदी जा रही है। कही चौसर बिछी हुई है। पौ बारह का शोर मचा हुआ है। कही शतरज का घोर सग्राम छिडा हुआ है। राजा से लेकर रक तक इसी धुन में मस्त थे। यहाँ तक कि फकीरो को पैसे मिलते तो वे रोटियाँ न लेकर अफीम खाते या मदक पीते '

यह लखनऊ मुशीजी का जाना-पहचाना है। इसके पहले वह यहाँ कभी आये नही लेकिन इसका कोना-कोना, गली-गली, उनकी देखी हुई है। सरशार के साथ उन्होने जी भर के सैर की है। यहाँ की बोलचाल, यहाँ का रहन-सहन, यहाँ के रीति-रिवाज — कुछ भी उनके लिए अनजाना नही है। सरशार ने जिस तरह उसी में डूबकर, उसी का होकर, लखनऊ की रगीन तसवीर खीची है उसी तरह मुशीजी ने उस तसवीर को देखा भी है और उस गुजरे ज़माने की रगीनियो का ख़याल करके जी बहुत बार मसोस भी उठा है। लेकिन अब वह बात कुछ पुरानी हो गयी है, वक्त आगे बढ आया है और जिस कदर असलियत का रग तेज हुआ है उसी कदर रूमानियत का रग फीका पडा है। अब वह कुछ निस्सग होकर भी उस लखनऊ को देख सकता है और तब उसे लगता है कि लखनऊ की जो दुर्गत अग्रेजी दौर में आकर हुई, जिस तरह नवाबी का ख़ात्मा हुआ, उसके अलावा उन हालात में दूसरा कुछ हो भी न सकता था — अपना समाज खुद जो खोखला हो गया था भीतर से। लिहाजा जो बात सरशार ने अनकही छोड दी थी, या जिसे कह सकना सरशार के लिए अपने वक्त में मुमकिन न था, उसे मुशीजी ने लखनऊ में कदम रखते ही अपनी

इस कहानी में कहा — शतरज के हाथो बादशाहत के तबाह होने की कहानी ।

इधर देश की राजनीतिक दशा भयकर होती जा रही थी । कम्पनी की फौजें लखनऊ की तरफ बढी चली आती थी । शहर में हलचल मची हुई थी । लोग बाल-बच्चो को लेकर देहातों में भाग रहे थे पर हमारे दोनो खिलाडियो को इसकी जरा भी फिक्र न थी ।

आखिरकार ये लोग अपनी शतरज की बाजी में ही डूबे रहते हैं और लखनऊ पर कम्पनी का कब्जा हो जाता है, नवाब वाजिद अली पकडकर ले जाये जाते हैं । मिर्जा साहब और मीर साहब के कान पर जूँ नही रेंगती । लेकिन फिर एक दिन खेल ही खेल में दोनो में बतबढाव हो जाता है, दोनो कमर से तलवार निकाल लेते हैं, पैतरे बदलते है, तलवारें चमकती है, छपाछप की आवाज आती है, दोनो चोट खाकर गिरते हैं और वही तडप-तडपकर मर जाते है ।

'चारो तरफ सन्नाटा छाया हुआ था । खँडहर की टूटी हुई मेहराबे, गिरी हुई दीवारें इन लाशो को देखती और सिर धुनती थी ।'

उसी पतन के युग का एक सुन्दर मार्मिक चित्र है यह, अपने आप में सपूर्ण, देशकालातीत अपने मनोवैज्ञानिक चित्रण में । ध्यान भी नही जाता कि उसके पीछे कोई सामयिक आग्रह भी है, विशेषत इसलिए कि वह एक बीते युग की कहानी है । मगर यही पर धोखा है । अगर वह युग सचमुच बीत गया होता तो शायद उसकी कहानी का खयाल भी न आता, कम से कम मुशीजी को — बीता नही है, इसीलिए यह कहानी कही जा रही है और इसी में उसकी अन्योक्ति है ।

मुशीजी के लिए इतिहास कोरा इतिहास यानी अतीत की वार्ता नही है । होगा जिसके लिए होगा । बहुतो के लिए होता है । मुशीजी के लिए नही, गो वह उनका बहुत प्रिय विषय है । लेकिन उसका महत्व भी इसी मे है कि उससे वर्तमान के लिए कुछ रोशनी मिलती है ।

एक बार का ज़िक्र है, सन् ३१ के नवम्बर महीने का । मुशीजी एक साहित्यिक समारोह के सिलसिले में पटना पहुँचे । वहाँ लोगो ने सोचा कि मुशीजी को म्यूजियम भी दिखलाना चाहिए, देखने काबिल चीज है । समारोह के कर्ता-धर्ता केशरीकिशोर उस दिन को याद करते हुए लिखते है — दोपहर को पटना म्यूज़ियम देखने के लिए हम लोग चल पडे । मौर्यकाल और गुप्तकाल के शिलालेख, मूर्तियाँ, बर्तन, सिक्के वगैरह सब दिखलाये । वह बच्चो की तरह उन चीज़ो को देखते जा रहे थे । कौतूहल उन्हे कुछ होता था, पर कोई खास दिलचस्पी उन्होने नही दिखलायी । हाँ, जब स्वास्थ्य विभाग की ओर गये और बिहार के गाँवो का मिट्टी का बना हुआ स्केच (माडल) देखा तो रम गये । कोल-भीलो की पारिवारिक मूर्तियो को भी बडे गौर से देखने लगे और बोले — हमें इन समस्याओ को ओर ध्यान देना चाहिए । इन जगली लोगो को सभ्य बनाना चाहिए । हज़ार वर्ष पहले की मिट्टी में गडी

हुई चीजो से हमें क्या लाभ ? हमे तो वर्तमान की रक्षा का प्रश्न हल करना चाहिए ।'

'शतरज के खिलाडी' के सग भी यही बात है । नवाबी जमाने की पस्ती के दौर की यह कहानी जो लिखो जा रही है सितम्बर-अक्तूबर १९२४ मे, जबकि भारतीय राजनीति भी ऐसी ही पस्ती के एक लबे दौर से गुजर रही है, जब कि लोगो में उसी तरह राजनीतिक भावो का अध पतन हो गया है, सब अपने-अपने खेल-तमाशे में, राग-रग मे लिप्त है, देश की चिन्ता किसी को नही है, राजनीति शतरज की बिसात होकर रह गयी है जिस पर सब लोग, सारे दल और गिरोह, अपनी-अपनी चाले चलने मे लगे हुए है, हिन्दू मुसलमान को नीचा दिखाना चाहता है मुसलमान हिन्दू को जक देना चाहता है, असेबली मे, म्युनिसिपेलिटी मे, यहाँ-वहाँ, सब जगह, सीटो के लिए गोटियाँ बैठायी जा रही है, नौकरियो के लिए छीना-झपटी हो रही है — और कम्पनी बहादुर का, गोरी सल्तनत का शिकजा किस तरह कसता चला जा रहा है, इसकी किसी को फिक्र ही नही !

मुशीजी को बहरहाल है और बहुत है । दिन-रात यही एक फिक्र उनके मन पर किसी काली घटा की तरह छायी रहती है और दिमाग उसी की उधेडबुन में लगा रहता है । आदमी के हाथो आदमी का खून बहे यह कुछ कम भयानक बात नही है, लेकिन उतने से ही बस नही है । आजादी की तहरीक इसी आपसी खून-खच्चर मे हमेशा के लिए डूबी जा रही है, कैसे चैन आये ।

और इस दिमाग कम्बख्त को क्या करे जो एक वक्त में एक ही पटरी पर दौडना जानता है ! चिडे की एक टाँग, कुछ भी बात हो, वह घूम-फिरकर एक न एक खोचा इस पहलू से मार ही जाता है !

जैसे कि इसी 'कायाकल्प' मे । इन दिनो उसी पर तेजी से काम हो रहा है । कोई सीधा सम्बन्ध इस प्रश्न से उसे नही है । लेकिन जनता की भलाई से तो है, स्वराज्य से तो है । तो फिर इस सवाल से कैसे न हो, लगी-लिपटी जो है सब बातें एक-दूसरे से, कोई अलग करना भी चाहे तो कैसे करे ।

लिहाजा 'कायाकल्प' में उनके मन की वह तस्वीर इस रग में कागज पर उतर आती है —

'आगरे के हिन्दुओ और मुसलमानो में आये दिन जूतियाँ चलती रहती थी । जरा-जरा सी बात पर दोनो दलो के सिरफिरे जमा हो जाते और दो-चार के अग-भग हो जाते । कही बनिये ने डडी मार दी और मुसलमानो ने उसकी दूकान पर धावा कर दिया, कही किसी जुलाहे ने किसी हिन्दू का घडा छू लिया और मोहल्ले में फौजदारी हो गयी । एक मुहल्ले में मोहन ने रहीम का कनकौआ लूट लिया और इसी बात पर मुहल्ले भर के हिन्दुओ के घर लुट गये, दूसरे मुहल्ले मे दो कुत्तो की लडाई पर सैकडो आदमी घायल हुए क्योकि एक सोहन का कुत्ता था दूसरा सईद का । निज के रगडे-झगडे साम्प्रदायिक सग्राम के क्षेत्र में खीच लाये

जाते थे। दोनो ही दल मजहब के नशे मे चूर थे। मुसलमानो ने बजाजे खोले, हिन्दू नैचे बॉधने लगे। सुल्ह को ख्वाजा साहब हाकिम जिला को सलाम करने जाते, शाम को बाबू यशोदानन्दन। दोनो देवताओ के भाग्य जागे। जहाँ कुत्ते निद्रोपासना किया करते, वहाँ पुजारी जी की भॉग घुटने लगी। मसजिदो के दिन फिरे, मुल्लाओ ने अबाबीलो को बेदखल कर दिया। जहाँ सॉड जुगाली करता था वहा पीर साहब की हँडिया चढी। हिन्दुओ ने महाबीर दल बनाया, मुसलमानो ने अली गोल सजाया। ठाकुरद्वारे मे ईश्वर कीर्तन की जगह नबियो की निन्दा होती थी, मसजिदो मे नमाज की जगह देवताओ की दुर्गत। ख्वाजा साहब ने फतवा दिया —जो मुसलमान किसी हिन्दू औरत को निकाल ले जाय, उसे एक हजार हजो का सवाब होगा। यशोदानन्दन ने काशी के पडितो की व्यवस्था मँगायी कि एक मुसलमान का वध एक लाख गौदानो से श्रेष्ठ है '

यह बुरा वक्त है। हिन्दू अपने सगठन मे लगे है, मुसलमान अपनी तजीम में। आये दिन गाय की कुर्बानी के सवाल पर, या बाजे-गाजे को लेकर आरती-नमाज के झगडे होते रहते है। इन्सानियत और रवादारी की एक बात सुनने के लिए कोई तैयार नही है। ऐसी बात करनवाला बेवकूफ या पागल समझा जाता है। ऐसे ही एक बोडम की कहानी उन्होने दो-तीन बरस पहले लिखी थी और उसका कुछ असर हुआ हो न हुआ हो बौडम भी अपना बौडमपन छोडने के लिए तैयार नही है। मुशीजी ने फिर वैसे ही एक बौडम की कहानी लिखी— 'हिसा परमोधर्म'।

उधर 'कायाकल्प' मे, यशोदानन्दन की पत्नी बागेश्वरी (जिसे मुशीजी ने पहले अपने पति के समान ही 'हिन्दू सगठन' मे झोकने की बात सोचकर फिर विचार बदल दिया) इसी तरह की रवादारी की बात करती है— 'नित्य समझाती रही, इन झगडो में न पडो। न मुसलमानो के लिए दुनिया मे कोई दूसरा ठौर-ठिकाना है, न हिन्दुओ के लिए। दोनो इसी देश में रहेगे और इसी देश में मरेगे। फिर आपस में क्यो लडते-मरते हो, क्यो एक-दूसरे को निगल जाने पर तुले हुए हो ? न तुम्हारे निगले वे निगले जायॅगे, न उनके निगले तुम निगले जाओगे। मिलजुलकर रहो, उन्हे बडे होकर रहने दो, तुम छोटे ही होकर रहो। मगर मेरी कौन सुनता है।'

ठीक तो है, कौन इस वक्त कान देता है ऐसी सब बातो पर। यही यशोदानन्दन और ख्वाजा महमूद एक वक्त लॅगोटिये यार थे। दोनो मे दाँत काटी रोटी थी। सेवा समिति में साथ-साथ काम करते थे। गगा-स्नान के मेले मे खोयी हुई बच्ची अहल्या को उन्ही दोनो ने बचाया था, जो फिर यशोदानन्दन के घर में पली और बडी हुई। और फिर वह अमावस की रात जैसा घुप अँधेरा दिन आया कि ख्वाजा साहब ने खुद यह फतवा दिया — जो मुसलमान किसी हिन्दू

औरत को निकाल ले जाय उसे एक हजार हजो का सवाब होगा।

और इस फतवे पर सबसे पहले अमल किया खुद उनके बेटे ने, अहल्या को उडाकर।

ख्वाजा साहब को इसका पता नही है। उन्हे सिर्फ इतना मालूम है कि गुण्डे अहल्या को उडा ले गये। लेकिन इसका उन्हे गुमान भी नही है कि यह खुद उनके बेटे की हरकत है और लडकी कही और नही खुद उनके घर मे कैद है।

यशोदानन्दन के खून और अहल्या के उडाये जाने से ख्वाजा साहब को एक जबर्दस्त झटका लगता है और वह यशोदानन्दन की लाश के सिरहाने बैठकर रोते है और कहते है —

' खुदा गवाह है, मैने हमेशा इत्तहाद की कोशिश की। अब भी मेरा यह ईमान है कि इत्तहाद ही से इस बदनसीब कौम की नजात होगी। यशोदा भी इत्तहाद का उतना ही हामी था जितना मै। शायद मुझसे भी ज्यादा। लेकिन खुदा जाने वह कौन-सी ताकत थी जो हम दोनो को बरसरेजग रखती थी। हम दोनो दिल से मेल करना चाहते थे पर हमारी मर्जी के खिलाफ कोई गैबी ताकत हमको लडाती रहती थी।'

वह गैबी ताकत और कोई नही, अग्रेजी हुकूमत है जिसका उल्लू सीधा होता है इन दोनो के आपसी खून-खच्चर से।.

इन्ही दिनो, मार्च-अप्रैल १९२५ मे, उनकी एक कहानी छपी — मन्दिर और मसजिद। उसके नायक चौधरी इतरतअली भी इसी तरह के एक सच्चे, आजाद-खयाल, हिम्मतवर आदमी है —

' फारसी और अरबी के आलिम थे, शरा के बडे पाबन्द, सूद को हराम समझते, पाँचो वक्त की नमाज अदा करते, तीसो रोजे रखते और नित्य कुरान की तलावत (पाठ) करते थे। मगर धार्मिक सकीर्णता कही छू तक नही गयी थी। प्रात काल गगा-स्नान करना उनका नित्य का नियम था। पानी बरसे, पाला पडे पर पाँच बजे वह कोस भर चलकर गगा तट पर अवश्य पहुँच जाते। लौटते वक्त अपनी चाँदी की सुराही गगाजल से भर लेते और हमेशा गगाजल पीते। उनका सारा घर, भीतर से बाहर तक, सातवें दिन गऊ के गोबर से लीपा जाता था। इतना ही नही, उनके यहाँ बगीचे मे एक पण्डित बारहो मास दुर्गा पाठ भी किया करते थे। उधर मुसलमान फकीरो का खाना बावर्चीखाने में पकता था और कोई सौ सवा सौ आदमी नित्य एक दस्तरखान पर खाते थे। उनकी रियासत में आम हुक्म था कि मुर्दो को जलाने के लिए, किसी यज्ञ या भोज के लिए, शादी-ब्याह के लिए सरकारी जगल से जितनी लकडी चाहे काट लें। चौधरी साहब से पूछने की जरूरत न थी। हिन्दू असामियो की बरात में उनकी ओर से कोई न कोई जरूर शरीक होता था। नवेद के रुपये बँधे हुए थे। लडकियो के

विवाह में कन्यादान के रुपये मुकर्रर थे। उनको हाथी-घोडे, तम्बू-शामियाने, पालकी-नालकी, फर्श-जाजिमें, पखे-चॅवर, चाँदी के महफिली सामान उनके यहाँ से बिना किसी दिक्कत के मिल जाते थे। माँगने भर की देर रहती थी।'

उसी महीने एक और कहानी उनके कलम से निकली — 'मुक्तिधन'। दाऊदयाल नाम के एक काफी कठोर, बेमुरौवत महाजन की कहानी जो जिन्दगी भर के लिए एक मुसलमान के एहसानमन्द हो जाते है क्योकि उसने अपनी गाय पाँच रुपये कम पर उनके हाथ बेचना कबूल किया लेकिन कसाइयो को देना नही।

ख्वाजा महमूद, चौधरी इतरत अली, दाऊदयाल, सब पर आदर्शवाद का गहरा रग चढा हुआ है। लेकिन इसके लिए मुशीजी को रत्ती भर सफाई देने को जरूरत नही है। वही तो उनका खास अपना रग है, इसमें दुविधा कैसी। वर्तमान के अँधेरे को इस आलोक-बाण के सिवा और कैसे काट ही सकते हो तुम ?

हरिहरनाथ नाम के एक गुमनाम नये लेखक को मुशीजी ने एक बार (अग्रेजी में) लिखा था —

"सृजनात्मक मन को सृजन करना चाहिए — किसका ? चरित्रो को उद्घाटित करने के लिए परिस्थितियो का। नवयुवक को आशावादी भावना से लिखना चाहिए। उसका आशावाद सक्रामक होना चाहिए, ऐसा कि दूसरो में भी वह उसी भावना का सचार कर सके। मेरे विचार में साहित्य का उच्चतम लक्ष्य उन्नयन है, ऊपर उठाना। हमारे यथार्थवाद को भी यह बात नजर से ओझल न करनी चाहिए। मै तो तुम्हे 'मनुष्यो' की सृष्टि करते देखना चाहूँगा — निर्भय, ईमानदार, स्वतत्रचेता मनुष्य, हिम्मत से काम करनेवाले साहसी मनुष्य जिनके आदर्श ऊँचे है। वक्त का तकाजा यही है।"

यह खत सन् ३० की जनवरी का है लेकिन यह विश्वास जिन्दगी भर का है।

शुरू से उनकी तबीयत का यही रग था और इस वक्त भी जब कि नफरत की चिलचिलाती हुई धूप से सब कुछ झुलसा जा रहा था, मुशीजी कछोटा बाँधे, चुपचाप, धीर-गभीर मन से उस कडी धरती में अपना हल चला रहे थे और बीज बो रहे थे न्याय के, विवेक के, प्रेम और सौहार्द के — जो किसी दिन फूलेंगे, फलेंगे! उन्हे शायद खुद यह दिन देखना नसीब न हो, मगर उससे क्या। सुख क्या केवल फल की प्राप्ति मे है ? कर्म में स्वत कोई सुख नही ? कितनी बार कहा करते थे वह अपने बच्चो से — Virtue is its own reward (नेकी खुद अपना इनाम है)

वह चीज भिदी हुई है मुशीजी की रग-रग मे और वह चाहते है कि उनके बच्चो में भी इसी तरह भिद जाय। इससे बडी नसीहत, अपने बच्चो के लिए, उनके पास दूसरी नही है। सफलता की सीख वह नही देना चाहते। जिस चीज

को दुनिया सफलता कहती है उससे उन्हे दिली नफरत है। अपने बच्चो के बारे में ऐसी ही कुछ बात उन्होने ३ जून १९३० के खत मे बनारसीदास चतुर्वेदी को लिखी थी —

'मुझे अपने दोनो लडको के विषय मे कोई लालसा नही है। यही चाहता हूँ कि वह ईमानदार, सच्चे और पक्के इरादे के हो। विलासी, धनी, खुशामदी सन्तान से मुझे घृणा है '

इस खत के पाँच बरस बाद की एक घटना की चर्चा उनकी धर्मपत्नी ने की है —

● मै बनारस मे थी। मेरी कहारी का छोटा बच्चा आग से जल गया। उसके सारे बदन में मलहम पुता हुआ था, कपडे भी गन्दे ही थे। मेरा छोटा बच्चा बन्नू उसे कही बाहर पा गया। वह उस बच्चे को जीने पर से दोनो हाथो का घेरा बना कर अन्दर लाया। उस समय बाबूजी मेरे पास बैठे थे। लडका बोला — अम्माँ, इसे कुछ खाने को दो। उस बच्चे का बदन देखकर मेरे तो रोगटे खडे हो गये। मै डरी कि कही इसे धक्का न लग जाय, नही तो सारा बदन लहू-लुहान हो जायगा। न्नू का उ ा बच्चे पर प्रेम देखकर उनकी आँखें भर आयी। मुझसे बोले — जल्दी दो न इसे कुछ खाने को। मैने उसे मिठाई और फल दिये और बोली — इसे कैसे पहुँचाओगे ? धक्का लगते ही तो इसका शरीर रँग जायगा।

बन्नू — मै इसे आसानी से पहुँचा आऊँगा। उस बच्चे को लेकर वह उसी तरह नीचे पहुँचा आया। आप बोले — यह लडका बडा दयावान मालूम होता है। भला उसे वह कैसे लाया ! मेरी भी हिम्मत उसे लाने की न होती। मै तो चोट लगने को डरता। भगवान इसे जीवित रखे। तुम देखना लडका घिनौना भी तो बहुत था। माँ ही उसे छू सकती थी। ●

बडी खुशी हुई थी उनको उस रोज, आँखे भर आयी थी — जो इसानियत ढूँढती फिरती थी और जहाँ पा जाती थी, पलको से उठाकर सीने में रख लेती थी !

गृहस्थ के चोले में सन्त का मन, लेकिन वह सन्त नही जो दुनिया से मुँह मोड-कर जगल की राह लेता है। वह तो प्यार करते है दुनिया को, भली-बुरी जैसी भी है। लगाव है, लेकिन अपने लिए, खास अपने लिए कुछ भी नही, निस्सग-सा एक लगाव, अगर ऐसी कोई चीज मुमकिन हो

और वही दुनिया आज जलकर राख हुई जा रही थी। बरसो से यह आपसी मारकाट का सिलसिला चल रहा था और जल्दी खत्म होने का कही कोई लच्चण दिखायी न देता था।

हवा बेतरह बिगडी हुई थी लेकिन मुशीजी मुस्तैदी से अपना काम किये जा रहे थे। उनके लिए कही अकेलापन न था। नेक काम मे इन्सान कभी अकेला नही होता। इसका मुशीजी को पुराना अभ्यास है — इस अकेलेपन का, जो

अकेलापन नही है। बहुत बार ऐसे मोके आये है जब केवल उनकी आत्मा ने उनका साथ दिया है — और वह निर्भय अपने रास्ते पर चल पडे है। उन्हे पता है कि वह ताकत कितनी बडी होती है जो अपने भीतर से आती है। मनोरमा के गले मे यह मुशीजी की आवाज है — 'आत्मा कुछ न कुछ जरूर कहती है, अगर उससे पूछा जाय। कोई माने या न माने, यह उसका अख्तियार है।'

मानना न मानना तो आगे की बात है, अक्सर लोग आत्मा से पूछते ही नही कुछ भी। क्या होगा पूछकर, जरूर कुछ उल्टी-पुल्टी बात कहेगी। उस रास्ते चलो जिस पर सब चल रहे है! वही सफलता का रास्ता है। आत्मा का रास्ता काँटो का रास्ता है। उस पर पागल चलते है। धीरे-धीरे उनकी आत्मा भी फिर गूँगी हो जाती है, वही असल मौत है।

तभी तो मुशीजी बराबर उसको, तलवार की तरह, पत्थर पर रगडते रहते है। तलवार की ही तरह उसका भी पानी तभी तक है जब तक कि वह लडाई के मैदान में है — कमर से खोलकर आपने उसे खूँटी पर टाँगा नही कि उसका पानी उतरा।

अब से करीब पन्द्रह बरस पहले 'विक्रमादित्य का तेगा' के नाम से उन्होने जो कहानी लिखी थी वह सत्य और न्याय के पत्त मे उठनेवाली इसी तलवार की कहानी थी जिसे आत्मा या अन्त करण भी कहते है।

आत्मा कहो, विवेक कहो, उसको जिन्दा रहने के लिए जरूरी है कि बराबर सघर्ष करती रहे, असत्य से, अविचार से, अपने ही मन की सकुचित वृत्तियो से ..

स्वामी श्रद्धानन्द के लिए मुशीजी के हृदय में सच्ची श्रद्धा है — उनके देश-प्रेम के लिए, साहस के लिए, आत्मबलिदान के लिए, उन स्वामी श्रद्धानन्द के लिए जिन्होने रौलट ऐक्ट के दिनो में गोरो की सगीनो के आगे अपना सीना खोल दिया था

लेकिन फिर समय के फेर में पडकर वही स्वामी श्रद्धानन्द हिन्दू सगठन और शुद्धि आन्दोलन में खो गये। उससे मुशीजी को रत्ती भर सहानुभूति नही है। लेकिन आदर का भाव तब भी मन में रहा। वही जो एक गुमराह पर सच्चे और साहसी आदमी के लिए हमारे दिल मे होता है। तो भी बात बदल गयी थी, और कुछ अजब नही कि 'कायाकल्प' के यशोदानन्दन के पीछे हल्की-सी एक छाया श्रद्धानन्द की हो।

सन् २६ मे जब रशीद नाम के एक नौजवान मुसलमान ने जिहाद के अधे जोश में स्वामी जी का खून कर दिया तो सारा देश एक बार काँप गया।

'शुद्धि समाचार' नामक आर्यसमाजी पत्र के 'श्रद्धानन्द बलिदान' अक में मुशीजी ने एक छोटे लेख में स्वामी जी को इस तरह अपनी श्रद्धाजलि अर्पित की —

'यो तो स्वामीजी प्राचीन आर्य आदर्शो के पूर्णरूप से प्रवर्तक थे, पर मेरे विचार में राष्ट्रीय शिक्षा के पुनरुत्थान मे उन्होने जो काम किया है उसकी कोई नजीर नही मिलती। ऐसे युग में जब अन्य बाजारी चीजो की तरह विद्या भी बिकती है यह स्वामी जी ही का दिमाग था जिसने प्राचीन गुरुकुल प्रथा मे भारत के उद्धार का तत्व समझा। बौद्धकाल तक गुरुकुल प्रथा जीवित रही। मुस्लिम युग मे यह प्रथा नष्ट हो गयी और उसके नष्ट होते ही राष्ट्र-नौका का लगर उखड गया। वर्ण और आश्रम जो आर्य-सस्कृति के स्तम्भ थे, अपना असली रूप खोकर जात-पाँत के रूप मे आ गये, और गेरुए वस्त्रधारी, अकर्मण्य पेट के बदो ने सन्याम और वानप्रस्थ का स्थान छीन लिया।'

ठीक बात है, आदर-मान की जगह आदर-मान, आलोचना की जगह पर आलोचना

जैसे कि स्वामीजी की एक पुस्तक पर लिखते समय मुशीजी ने दो टूक कहा—

'स्वामीजी ने हिन्दुओ और मुसलमानो के आपस के झगडे की मुख्तसर तारीख लिखी है। झगडे हमेशा होते रहे है। हिन्दुओ की बौद्धो और जैनियो से खूब लडाइयाँ हुई। मुसलमानो की बौद्धो से, बौद्धो की बौद्धो से, हिन्दुओ की हिन्दुओ से। गरज जातिगत और धर्मगत लडाइयाँ परम्परा से होती चली आ रही है। मगर कोशिश यह होनी चाहिए कि हम उन झगडो को भूल जायँ, न कि गडे मुर्दे उखाड-उखाडकर विरोध की आग और भडकाते रहे'

इसी तरह काम-काज मे डूबे हुए दिन गुजर रहे थे कि गर्मियाँ आ पहुँची और निगम साहब ने सोलन चलने का प्रस्ताव किया। उसके जवाब में मुशीजी ने लिखा—

'मै जब कभी इस किस्म का इरादा करता हूँ तो मुझे फौरन घरवालो का खयाल आता है कि मै तो वहाँ तफरीह करूँ और यह बेचारे यहाँ पडे सडा करे। तबदील की जरूरत किसको नही महसूस होती लेकिन जो खुदमुख्तार है वह अपना इरादा पूरा कर लेते है, जो मोहताज है वह दिल में सोचकर रह जाते है। इसी खयाल से रुक जाता हूँ। कुनबे भर को लेके जाना मुश्किल। इसलिए यही पडा रहूँगा। खस का एक पर्दा और दो-तीन पैसे की रोज़ाना बर्फ मौसम की तकलीफ के लिए काफी है।'

यह कोई एक दिन की बात न थी उनके लिए। पहले भी और बाद को भी, जब-जब ऐसा कोई मौका आया, मुशीजी कतरा गये। जैसे कि उस बार, कोई छ-सात साल बाद, सन् ३१-३२ मे जब जैनेन्द्रकुमार ने एक बार बहुत चाहा था कि मुशीजी उनके साथ शातिनिकेतन चले। उस वक्त भी मुशीजी ने यही बात कही थी। बोले — मैं तो वहाँ उस स्वर्ग की सैर करूँ, यहाँ घर के लोग तकलीफ में दिन काटे, क्या यह मेरे लिए ठीक है? और सब को ले चलूँ, इतना पैसा कहाँ है। और जैनेन्द्र, महाकवि रवीन्द्रनाथ तो अपनी रचनाओ द्वारा यहाँ

भी हमें प्राप्त है । क्या वहाँ मै उन्हे अधिक पाऊँगा ?

जैनेन्द्र इतनी आसानी से छोडनेवाले न थे, बोले — शान्तिनिकेतन को अधिकार हो सकता है कि वह आपको चाहे, आपने कर्म ऐसे किये है कि आप मशहूर हो । तब आप कर्मफल से बच नही सकते । चलिए न ।

लेकिन मुशीजी इतने पर भी राजी नही हुए, बोले — हाँ, जैनेन्द्र, यह सब ठीक है । लेकिन मै अपने यही पडा हूँ, तुम जाओ ।

प० बनारसीदास चतुर्वेदी ने भी बीसियो ही बार मुशीजी को कलकत्ते बुलाया, और खास तौर पर रवीन्द्रनाथ से मिलाने के लिए, लेकिन मुशीजी अपनी जगह से नही हिले । एक दफा बनारसीदास जी ने उन्हे मार्ग-व्यय की चिन्ता से भी मुक्त करना चाहा, लिखा —

'आप जरूर आइए और मेरे साथ ठहरिए । हमें बडा सुख होगा । विशाल भारत का सम्पादक आपके लिए खाना पकायेगा । सम्भव है, आपको उसकी पकायी हुई सीधी-सादी चीजे बहुत न भाये, लेकिन इतना जरूर है कि उनके पीछे सच्ची श्रद्धा होगी जो होटलो या सार्वजनिक रसोईघरो में नही मिल सकती । मै यही कार्यालय मे रहता हूँ । कृपया अपने आने की सूचना दे । आपके टिकट की व्यवस्था मै आसानी से कर सकता हूँ, उसकी चिन्ता न कीजिए कृपया । ' बादवाले वाक्याश को अच्छी तरह रेखाकित भी कर दिया गया है — डू नाट बॉदर अबाउट इट प्लीज ।

चतुर्वेदी जी ने शायद और कभी किरायेवाली बात लिखी थी जिसके जवाब में मुशी जी ने १३ फरवरी १९३३ के अपने अग्रेजी पत्र में लिखा था — 'मैं कलकत्ता आने को तैयार हूँ, जब भी आप चाहे । ऐसा कोई अवसर होना चाहिए । तमाशबीन की तरह आना और दूसरो से यह उम्मीद करना कि इसका खर्च वह बर्दाश्त करें, बेहूदा बात है । जब ऐसा कोई अवसर आयेगा, आप मुझे वहाँ पायेगे, सपत्नीक । ' जाना हो तो पत्नी के साथ और सम्भव हो ता बच्चे भी, वर्ना नही जाना ।

सन् ३५ में योने नागूची जापान से भारत आया, उस समय एक बार फिर बनारसीदास जी ने बहुत जोर लगाया कि मुशीजी शान्तिनिकेतन जायँ । लेकिन मुशीजी टस से मस न हुए, वही चिडे की एक टॉग — 'आपका कार्ड मिला । धन्यवाद । काश कि मै भी नागूची के भाषण सुन सकता, लेकिन क्या करूँ, मजबूर हूँ । परिवार को कैसे छोड़ूँ, यही समस्या है । लडके इलाहाबाद में है और मैं भी चला जाऊँगा तो मेरी पत्नी कितना अकेला और असहाय अनुभव करेगी । अगर मै उसको भी अपने साथ ले आऊँ तो खर्च करने के लिए अच्छी खासी रकम हाथ में होनी चाहिए । इसलिए यही अच्छा है कि मैं अपने घर में पडा रहूँ, पैसे की तगी का शिकार तो न बनना पडेगा । '

इसके कुछ ही महीने पहले हजारीप्रसाद द्विवेदी ने २६ मार्च को लिखा था —

● उस दिन प० बनारसीदास जी के साथ गुरुदेव से मिलने गया था। बातो ही बातो वर्तमान हिन्दी साहित्य के सम्बन्ध मे चर्चा चली। ऐसे अवसरो पर आपका नाम सबसे पहले आता है। उस दिन भी आपके रचित साहित्य की चर्चा बडी देर तक चलती रही। हम लोगो की इच्छा थी कि नववर्ष के अवसर पर आप जैसे आदरणीय साहित्यिको को निमन्त्रित करे और गुरुदेव से परिचय करावे। गुरुदेव ने हम लोगो के विचार का उत्साह के साथ स्वागत किया। इसीलिए हम लोगो ने निश्चय किया कि स्थानीय हिन्दी समाज का वार्षिकोत्सव नववर्ष (१४ अप्रैल १९३५) को मनाया जाय। उस दिन गुरुदेव का प्रवचन होता है। उसके पहले दिन भी, जिस दिन वर्ष समाप्त होता है, उनका व्याख्यान होता है। कुछ और भी समारोह रहता है। गुरुदेव और आश्रम की ओर से निमन्त्रण तो यथा-समय जायेगा ही, इसके पहले ही हम हिन्दी समाज की ओर से आपको निमन्त्रित करते है। इस बार आप जरूर पधारे। हमारे आग्रहपूर्वक निमन्त्रण को आप अस्वीकार न करे। आपको गुरुदेव से मिलाकर हम गर्व अनुभव करेगे।

आपके साहित्य ने हिन्दी को समृद्ध किया है और हिन्दी-भाषियो को दुनिया मे मुँह दिखाने लायक। इसीलिए आपके यश को हम लोग निर्विचार बाँट लिया करते है। जब हम रगभूमि या कर्मभूमि को दूसरो को दिखाते है तो मन ही मन गर्वपूर्वक पूछा करते है — है तुम्हारे पास ऐसी कोई चीज। और इस प्रकार का गर्व करते समय हमें प्रेमचद नामक किसी अज्ञात अपरिचित व्यक्ति की याद भी नही रहती — मानो सब कुछ हमारी ही कृति है। आज उस व्यक्ति को पत्र लिखते समय, उसकी अनुमति के बिना उसके सम्पूर्ण यश को स्वायत्त कर लेने के अपराध के लिए जो हम क्षमा नही माँगते वह भी गर्व का ही एक दूसरा रूप है। आत्मीयता का इससे बडा प्रमाण हम क्या दे सकते है? ●

कहने की आवश्यकता नही कि इस पत्र से मुशीजी भीतर ही भीतर आह्लाद और कृतज्ञता से भर उठे होगे, जीवन के शेष पर्व में ऐसा अकुठ स्नेह कही से तो मिला। लेकिन तो भी गये नही, या यो कहे कि जा नही सके। किसी एक कारण से नही, कई कारणो से। कुछ सभा-भीरुता, कुछ यात्राभय, कुछ अर्थकष्ट और कुछ वह बात जिसकी ओर जैनेन्द्रकुमार ने सकेत किया है —

' बडे शब्दो से कही अधिक उन्हे छोटी-सी सचाई छूती थी। जहाँ जिन्दगी थी वहाँ प्रेमचन्द जी की निगाह थी। जहाँ दिखावा था उसके लिए प्रेम-चद के मन में उत्सुकता तक न थी। कुतुबमीनार, नई सेक्रेटेरियट बिल्डिग्ज़, कौसिल चेम्बर्स, यह अथवा वह महापुरुप इसको देखने-जानने की लालसा उनकी प्रवृत्ति में न थी।'

बात १९२५ की गर्मियो में सोलन जाने से उठी थी और कहाँ की कहाँ पहुँच

गयी । गरज कि मुशीजी न कहो आये न गये, चुपचाप एक कोने मे बैठे हुए अपना काम करते रहे और जिन्दगी के दिन काटते रहे । 'जिन्दगी का मतलव मेरे लिए हमेशा एक ही रहा है — काम, काम काम । जब मैं सरकारी नौकरी में था तब भी अपना सारा वक्त मैं साहित्य को ही देता था । मुझे काम करने में मजा आता है । — इन्द्रनाथ मदान को उन्होने ७ सितम्बर ३५ को बबई से लिखा था ।

दूसरी किसी चीज मे न तो उन्हे मजा मिलता था और न उसके लिए उनके पास वक्त ही था । जैनेन्द्र को बडी हैरानी हुई थी जब मुशीजी ने सन् ३१ की अपनी दिल्ली-यात्रा के समय उनको बतलाया था कि अपनी जिन्दगी में ग्रह पहली बार वह दिल्ली आये हैं । इक्यावन-बावन साल की उम्र मे पहली बार उन्होने दिल्ली का मुँह देखा ! और फिर उतनी ही हैरानी जैनेन्द्र को यह जानकर हुई थी कि उस प्रवास के वह सात दिन उनकी जिन्दगी के पहले सात दिन है (बीमारी के दिनो के अलावा) जब कि उन्होने कुछ नही लिखा !

ऊपर से देखने पर भले लगें लेकिन दोनो दो अलग चीजे नही, एक ही चीज के दो पहलू है । या तो घूम ही फिर लो या काम ही कर लो । कुछ लोग दोनों को एक साथ निभा ले जाते हैं । मुशीजी उनमें नही थे, न स्वभाव से और न अपनी सासारिक स्थिति से, लिहाजा उन्होने खामोशी से एक कोने मे बैठकर बराबर और अनथक काम करने की जिदगी ही अपने लिए चुन ली थी और जिदगी शुरू करते समय ही चुन ली थी, जिससे फिर कभी इधर-उधर नही हुए । जैसा कि उसी खत मे उन्होने इन्द्रनाथ मदान को लिखा था —

'मै रोमे रोलाँ के समान, नियमित रूप से काम करने में विश्वास करता हूँ ।'

जुलाई-अगस्त आते-आते, डेढ बरस से कुछ कम समय में ही 'कायाकल्प' समाप्त हो गया । किताब शुरू करने में, उसकी आरम्भिक तैयारी में जो समय लगे, लगे, लेकिन लिखना जब शुरू होता था तो फिर कलम बिना रुके चलता था और बहुत तेज चलता था । खयालात की रवानी के साथ कलम की रवानी भी बढती चली जाती थी, कि जैसे दोनो में होड हो, और यह खयालात की रवानी घर के शोर-गुल या मिलनेवालो के आने-जाने से टूटनेवाली चीज नही थी । गरीब की जिदगी में ऐसा कम ही हुआ कि उनके पास अपना एक खास कमरा हो जिसमें कम से कम काम के वक्त लडको की गुजर न होती हो । अक्सर यह होता कि मुशीजी मटमैले-से फर्श पर अपनी छोटी-सी ढलुआँ डेस्क के सामने बैठे काम करते होते और आस-पास बच्चे ऊधम करते होते । हाँ, शोर ज्यादा होने पर बच्चे कमरे से डाँटकर भगा दिये जाते । मगर उसकी नौबत कम ही आती । कभी इस सिल-सिले में बच्चो को पढने के लिए पास ही बिठाल भी लिया जाता । तब उनकी पढाई तो जो होती वह होती या न होती, शोर कतई बन्द हो जाता । मुशीजी

किसी लडके को सवाल दे देते, किसी को सुन्दर अक्षरो मे कुछ नकल करने के लिए। बच्चे अपना काम करते रहते, वह अपना काम करते रहते, बीच-बीच मे इधर भी कुछ ध्यान दे देते। इससे उनका असल ध्यान नही बँटता था। विचारो की जैसे एक वर्षा-सी होती रहती, उसी को समेटने मे वह लगे रहते। सृजन के स्तर पर जो उनका जीना था उसका सिलसिला इन चीजो से नही टूटता था। बराबर ऐसी ही हालतो में काम करने के कारण शायद यही उनका स्वभाव हो गया था — या इसी तरह उन्होने अपने मन को साध लिया था।

मिलने-जुलनेवालो के लिए कोई समय निश्चित नही था। कुछ दोस्तो ने मुशीजी को सुझाया भी कि अच्छा हो अगर आप कोई समय निश्चित कर दे वर्ना काम मे विघ्न पडता होगा। लेकिन मुशीजी को यह राय पसन्द न आयी। कहते, 'यह बडा साहबी मुझसे न होगी। कोई मेरे पास आता है तो कुछ स्नेह लेकर ही आता है। मै उसको ठेस नही लगा सकता। काम तो जिन्दगी के साथ है। होता ही रहता है।' लिहाजा सब समय मिलने-जुलनेवालो का था और उनकी कुछ कमी भी न थी। लेकिन मुशीजी सब के साथ उसी मुहब्बत से मिलते — ज्यादा ख़ातिर-वातिर मे तो न पडते लेकिन हाँ, पान सब को पेश होता। बाहर से पुकार होती और कोई लडका दस-पाँच मिनट मे पान लेकर पहुँच जाता। मुशीजी बहुत इत्मीनान के साथ होल्डर कलमदान में रख देते, चश्मा उतारकर एक किनारे डेस्क पर रख देते और बातचीत मे, हँसी-कहकहो में इस कदर उसके साथ खो जाते कि एक बार उस आदमी को शायद यह धोखा भी हो जाता कि मुशीजी किसी से बोलने-बतियाने के लिए तरस रहे थे। लेकिन वह धोखा ही था क्योकि उधर उस आदमी की पीठ फिरती और इधर चश्मा मुशीजी की नाक पर और होल्डर हाथ में पहुँच जाता और अधूरा वाक्य जिस जगह पर घटे-डेढ घटे पहले छूट गया था वही से फिर उठा लिया जाता और कलम खरखर, खरखर चलने लगता जैसे कोई व्याघात पडा ही न हो। बहुत सधा हुआ, पुख़्ता हाथ था, उर्दू हिन्दी अंग्रेजी तीनो जबानो में, जैसा कि एक रवाँकलम मुशी का होना चाहिए। मोतियो की तरह चुने हुए छोटे-छोटे साफ अक्षर। बहुत खुशखत लिखते थे और अपने बच्चो को भी बराबर इसकी नसीहत करते थे। और शायद इसी ख़याल से फाउण्टेनपेन के दुश्मन थे। जिन्दगी मे शायद एक ही बार उन्होने एक फाउण्टेनपेन ख़रीदा था, बहुत सस्ता-सा, और वह भी दफ्तर की छोटी-मोटी जरूरतो के लिए, उस जमाने मे जब कि वह फिल्म कपनी में बबई गये थे। वर्ना बराबर होल्डर से लिखते थे और किसी भी कागज पर लिखते थे। इस मामले में वह किसी तकल्लुफ के शिकार नही थे — कि नही कागज ऐसा हो, इतना चिकना या इस ख़ास रग का और रोशनाई इस रग की .

लखनऊ का काम पूरा हो गया था और अब किसी भी रोज बनारस लौट जाना था लेकिन तभी एक छोटी-सी रुकावट आ गयी। खुद ही न्योता देकर बुलायी हुई एक तकलीफ, अपने प्रति उनकी लापरवाही का नतीजा, एक पुरानी स्लीपर की एक कील की बरकत जिसे मुशीजी अक्सर लोढे से पत्थर से ठोककर अपने मन का सतोष कर लिया करते थे कि नयी स्लीपर की जरूरत नही है। मगर जो अपना काम करती रही। और आखिर वह दिन आया कि १२ अगस्त १९२५ को मुशीजी ने निगम साहब को लिखा —

'५ तारीख से पैर मे कचक पड गयी। चार दिन सख्त दर्द और जलन और टीस थी, पाँचवें दिन डाक्टर से नश्तर लिया। दाहिने पाँव की आधी एडी का चमडा काट दिया गया। . ४ को यहाँ से जाने का इरादा था लेकिन अब शायद पन्द्रह दिन तक न जा सकूँगा।'

● ● ●

१६

दुर्भाग्यवश मुशीजी की पाण्डुलिपियाँ, उनके हाथ के लिखे हुए मसौदे अक्सर गुम हो गये है। उनको सँभालकर रखने की फिक्र मुशीजी खुद ता क्या ही करते, जिन्हे पत्रिकाओ मे छपी हुई अपनी कहानियो तक का ठीक पता नही रहता था, कतरन रखना ता दूर की बात है। देखिए उनका यह खत जो उन्होने ५ अगस्त १९२५ का लखनऊ से निगम साहब को लिखा था—

'पजाब का एक पब्लिशर मेरी कहानियो का मजमूआ शाया करना चाहता है। मुझे याद नही आता कि प्रेमबत्तीसी के बाद मेरी कौन-कौन कहानियाँ कहाँ-कहाँ शाया हुई। चद कहानियाँ तो लाहौर के हजारदास्ताँ में निकली थी, एक हुमायूँ में शाया हुई थी, एक हमदर्द में निकली, जो मुझे याद है। मुमकिन है एकाध और निकली हो जिसकी मुझे इस वक्त याद नही। शायद नौबहारवालो ने दो का तर्जुमा किया था। पजाबी अखबारो ने भी मुमकिन है और कुछ कहानियो के तर्जुमे कर डाले हो। क्या आप इस मजमूए-परीशाँ[1] के जमा करने में मेरी कुछ मदद कर सकते है? हजारदास्ताँ का मुकम्मल फाइल आपके यहाँ है? हुमायूँ है? नौबहार है? हमदर्द भी है या नही? आजाद में तो कोई कहानी नही निकली? '

किस कदर भोलेपन से पूछ रहे है, कि जैसे यह अपनी नही किसी और की चीजो का जिक्र हो! ऐसे आदमी से उम्मीद करना ही बेकार है कि वह कुछ भी सँभालकर रख सकता है। किताबें, पत्र-पत्रिकाएँ, चिट्ठी-पत्री कुछ भी नही। कहानी लिखी और भेज दी जहाँ भेजनी है। छप गयी, पैसे आ गये। पढनेवाले ने पढ ली। लिखनेवाले ने छुट्टी पायी। फिर उसे कोई परवाह नही। किताब छपने की जब नौबत आयेगी तब की तब देखी जायगी, इसका-उसका दरवाज़ा खटखटाया जायगा। जवाब दिया और चिट्ठी फाडकर फेक दी। कौन धरे-उठाये उनको और यहाँ-वहाँ ढोता फिरे, खानाबदोशो की जिन्दगी, आज यहाँ तो कल वहाँ। लिहाजा एक गुण, चीजो को सँभालने का, जो यो ही नही था,

---

१ बिखरे हुए सग्रह

जिन्दगी के हालात ने उस पर और रग चढा दिया। बाकायदा डायरी लिखना भी शायद ऐसा ही एक गुण है। इसलिए मुशीजी ने उस बखेडे से भी अपने को पाक रखा। डायरी रही अक्सर लेकिन वह जरा दूसरे तरह की डायरी थी, जिसमें अगर बीच-बीच मे कथा-बीज चार-छ पक्तियो में टँके हुए है तो उनके साथ ही ग्वाले का, धोबी का, कहार का हिसाब भी टँका हुआ है, कही अगर कुछ कहानियो या सम्पादकीय टिप्पणियो के लिए प्रस्तावित विषयो की सूची है तो उसके साथ ही बीमे की पालिसी के प्रीमियम का लेखा-जोखा भी है। यानी सब कुछ है सिवाय डायरी के। वह सिर्फ एक नोटबुक है, एक बहीखाता जिसमें वह सब बाते दर्ज कर ली जाती है जिन्हे मुशीजी याद रखना जरूरी समझते है — उन्हें अपनी याददाश्त पर बिलकुल भरोसा नही है।

उनके हाथ के लिखे हुए मसौदे होते तो यकीनन उनसे मुशीजी के दिमाग के कारखाने पर काफी रोशनी पडती। मगर वह तो सब फिक गये। सयोग से छिट-फुट कुछ चीजे बच गयी है।

१० मई १९२५ को मुशीजी ने लखनऊ से, जब कि कायाकल्प पर काम अभी चल ही रहा था, अपने युवक मित्र और सबधी राजेश्वर प्रसाद सिह को अपने एक अग्रेजी खत में लिखा था —

'मेरा मतलब यह नही था कि तुम कल्पना से काम न लो। कल्पना निश्चय ही सबसे ज्यादा महत्व रखती है लेकिन मै जो बात कहना चाहता था वह यह थी कि अगर निरीक्षण कल्पना का साक्षी हो तो इससे तुम्हारी रचना में और भी जान आ जायेगी। तुम खुद देखोगे कि जीवन से लिये गये चरित्र अधिक वास्तविक होते है।'

यह दूसरे से कहने की ही बात न थी, मुशीजी खुद यही करते थे। यहाँ तक कि बहुत बार अपनी याददाश्त के लिए, कथा के चरित्र के आगे उस सदेह व्यक्ति का नाम भी लिख देते थे जिसका चरित्र उन्हे अकित करना हे। जैसे कि 'कायाकल्प' की पाण्डुलिपि के पहले ही पन्ने पर लिखा हुआ है —

Bibhuda is Yagyanarain Upadhyaya — crafty, parsimonious, selfish, but serviceful, tactful

Vishal Singh is Bechan Lal — simple, honest, wanting in moral courage

Kalyan Singh is Chandrika Prasad — sneaking in the presence of superiors, cannot manage household, suspicious.

Chakradhar is D Prasad — very shy, learned, principled

The new Rani's father is Nana — perfectly selfish, dishonest, unscrupulous, drunkard, hopes to build his fortune with

his daughter

Chakradhar's father — flatterer, kind, generous, mild, simplehearted

● विभुदा यज्ञनारायण उपाध्याय[1] है — चालाक, कजूस, स्वार्थी, लेकिन सेवापरायण, व्यवहारकुशल ।

विशालसिंह बेचनलाल[2] है — सीधे-सादे, ईमानदार, लेकिन नैतिक साहस से शून्य ।

कल्याण सिंह चन्द्रिकाप्रसाद[3] है — अपने से बडे अफसरो के सामने उनकी जी हुजूरी मे लगा हुआ, गृहप्रबध नही कर सकता, शक्की ।

चक्रधर डी प्रसाद है — बहुत सकोची, विद्वान, सिद्धान्त का पक्का ।

नयी रानी के पिता (अर्थात् मनोरमा के पिता हरि सेवक — अ०) नाना[4] है — सोलहो आना स्वार्थी, बेईमान, शराबी, लडकी के जरिये अपनी किस्मत बनाने की उम्मीद रखते है ।

वज्रधर, चक्रधर के पिता — चापलूस, नेक, उदार, मुलायम, सीधे-सादे । ●

कोई जरूरी नही कि चरित्र सबके सब रहे या उनके नाम वही रहे या गुण वही रहे । लिखने के दौरान में सब कुछ बदल जा सकता है । मसलन विभुदा या विभुदा प्रसाद नाम का कोई पात्र अब उपन्यास मे नही है लेकिन पाण्डुलिपि मे एक जगह लिखा हुआ है —

The Pandit (Vibhuda Prasad) and his wife both turn Hindu Sangathankars

(पण्डित विभुदाप्रसाद और उनकी पत्नी दोनो हिन्दू सगठनकार बन जाते है ।)

इससे कुछ सकेत मिलता है कि शायद विभुदाप्रसाद का नाम बदलकर यशोदानन्दन कर दिया गया है और नाम बदलने के साथ-साथ उनका चरित्र भी काफी बदल गया है, क्योकि यशोदानन्दन न तो मक्कार आदमी है न बहुत स्वार्थी न बहुत कजूस । लिखते-लिखते चरित्र कुछ का कुछ हो गया । लेकिन तो भी एक वास्तविक आधार का कही पर होना जमीन से एक ऐसा लगाव है जो लिखने-वाले को ज्यादा भटकने य [illegible] मुँह गिरने से बचाता है ।

---

१ सभवत वही जिनसे मुशीजी का परिचय काशी विद्यापीठ मे हुआ था । २ सभवत नार्मल स्कूल गोरखपुर के हेडमास्टर साहब । ३ इस नाम का कोई चरित्र अब नही है । ४ सौतेली माँ के पिता, जो काफी दिनो तक ऐसी ही किसी जायदाद के सिलसिले में काफी जोड-तोड लगाते रहे — और शायद अन्त में कुछ सफल भी हुए ।

विभुदा के बारे में एक और स्थान पर मुशीजी ने टाँका —

Bıbhuda ıs a Persıan-read man. Knows very little Sanskrit His dıalogue must be of an educated mussalman.

(विभुदा फारसीदाँ आदमी है । बहुत कम सस्कृत जानता है । उसकी बातचीत पढे-लिखे मुमलमान-जैसी होनी चाहिए ।)

चक्रधर के बारे में —

Chakradhar always seeks God ın man

ये वास्तविक लेखन से पहले पुस्तक की मानस-सृष्टि के सकेत है — जरूरी तैयारियाँ, चित्र को स्पष्ट रूप से अपने मन में अकित करने के लिए ।

कहानी तो जैसे छोटी चीज है, उसके लिए तो कोई बात सूझी और दो-चार पक्तियो में कथा-बीज टाँक लिया जिसे फिर इत्मीनान से कहानी का रूप दिया जायगा । लेकिन उपन्यास बडी चीज है । उसके लिए तैयारी भी उसी पैमाने पर होती थी ।

कथानक पूरा लिख लिया जाता था, परिच्छेद बना लिये जाते थे, पात्र-पात्रियो की पजिका, उनके चारित्रिक विवरण समेत, अकित हो जाती थी — और शायद जल्दी से लिखने की सुविधा के कारण यह सब काम ज्यादातर अग्रेजी में ही होता था ।

लिखते समय कथानक, परिच्छेदो का विभाजन, पात्र-पात्रियो के नाम-गाम, रूप-गुण सब कुछ काफी बदल भी जा सकते थे । तो भी एक मोटा ढाँचा तैयार रहने से उन्हे निश्चय ही अपने काम मे सहूलियत होती होगी ।

लिखते-लिखते कोई विचार मन में आया तो उसे इस तरह टाँक लिया और फिर यथास्थान कथा में पिरोया —

Trıals and troubles mould the human character , they make heroes of men. Power and authorıty is the curse of humanıty Even the hıghest fall a vıctım to power and lose theır character Chakradhar rose morally whıle stıugglıng for exıstence Hıs fall began when he came ın power

(आजमाइशे, मुसीबते आदमी का चरित्र बनाती है । उन्ही से आदमी में साहस और दृढता आती है ।

शक्ति, प्रभुता मानवता का अभिशाप है । ऊँचे से ऊँचे लोग भी उसके शिकार हो जाते है और उनके चरित्र का नाश हो जाता है ।

जीवन के लिए सघर्ष करते हुए चक्रधर का नैतिक उत्थान हुआ । प्रभुता पाते ही उसका पतन शुरू हुआ ।)

शायद यही वह असल कायाकल्प है जिसकी ओर कथाकार अपने पाठक का

ध्यान आकर्षित करना चाहता है । चक्रधर का कायाकल्प, विशालसिंह का काया-कल्प मानसिक कायाकल्प

भौतिक कायाकल्प की जो उपकथा रानी देवप्रिया के इर्द-गिर्द चलती है वह वास्तव मे उपन्यास का केवल एक अनुषग है । जितना कम स्थान मुशीजी ने अपनी कृति में उसे दिया है, उससे भी यही लगता है । हो सकता है कि उसका सनिवेश केवल एक प्रतीक के रूप में किया गया हो, यह दिखलाने के लिए कि जब तक प्रेम से वासना का पूरी तरह लोप नही हो जाता तब तक शान्ति नही है, मुक्ति नही है और आत्मा जन्म-जन्मान्तर तक उसी वासना के भँवर मे पडी चक्कर खाती रहेगी

लेकिन यह भी हो सकता है कि इसके पीछे पुनर्जन्म इत्यादि में मुशीजी का विश्वास हो क्योकि इसका प्रमाण मिलता है कि अपने गोरखपुर प्रवास के दिनो में मुशीजी 'फिराक' के बडे भाई गनपत सहाय से मदाम ब्लवात्सकी, आलिवर लाज, लेडबीटर वगैरह की किताबे लाकर काफी पढा करते थे ।

जो भी बात हो, सम्पूर्ण कथानक की जो टीपन मिलती है उसमें इस प्रसग के बारे में इतना ही है —

Rani is rejuvenated She forgets her previous birth, who she was, how she got rejuvenation. Raj Kumar begins to decline from the same day. Rani afraid to approach him. Struggle In the end Rani loses her balance Passion overcomes her She approaches Raj Kumar. A love scene. The next day Raj Kumar, seized by a fatal sickness, dies Rani again sinks into self-gratification. She builds her Rangshala She again leads a life of flippancy

Raj Kumar takes his birth in Kuar Vishal Singh's house from Ahalya When the boy grows into a lad, he starts a tour through India He reaches Telari, sees the Rani, memories begin to revive Rani making approaches

(रानी का कायाकल्प हो जाता है । वह अपने पिछले जन्म को भूल जाती है, वह कौन थी, कैसे उसका कायाकल्प हुआ । राजकुमार का शरीर उसी दिन से गिरने लगता है । रानी को उसके पास जाते डर मालूम होता है । सघर्ष । अन्त में रानी अपना सतुलन खो बैठती है। वासना पूरी तरह उसे अपने वश में कर लेती है । वह राजकुमार के पास जाती है । प्रेम का एक दृश्य । अगले दिन राजकुमार एक साघातिक रोग में गिरफ्तार होकर मर जाता है । रानी फिर भोग-विलास में पड जाती है । वह अपनी रगशाला बनवाती है । पुन. चचल

आमोद-प्रमोद का जीवन व्यतीत करने लगती है ।

राजकुमार कुँअर विशाल सिंह के घर में अहल्या के गर्भ से जन्म लेता है । कैशोर्य की अवस्था को पहुँचने पर वह भारत का भ्रमण करता है । वह तेलारी पहुँचता है, रानी को देखता है, पुरानी यादे हरी होने लगती है । रानी उस पर प्रेम-बाण चलाती है ।)

एक छोटी कथा के रूप में रानी देवप्रिया-वाले प्रसग का जो भी महत्व हो, इतना स्पष्ट है कि कथाकार को मुख्य प्रयोजन उससे नही है, और आस्था भी कितनी है पुनर्जन्म के सिद्धान्तो में, निश्चय के साथ कहना कठिन है, विशेषत चक्रधर की इस जिज्ञासा के सदर्भ में —

'ईश्वर ने ऐसी सृष्टि की रचना ही क्यो की जहाँ इतना स्वार्थ, द्वेष और अन्याय है ? क्या ऐसी पृथ्वी न बन सकती थी जहाँ सभी मनुष्य सभी जातियाँ प्रेम और आनन्द के साथ ससार में रमती ? यह कौन-सा इसाफ है कि कोई तो दुनिया के मजे उडाये, कोई धक्के खाये, एक जाति दूसरी का रक्त चूसे और मूँछो पर ताव दे, दूसरी कुचली जाय और दाने-दाने को तरसे ! ऐसा अन्यायमय ससार ईश्वर की सृष्टि नही हो सकता । पूर्व-सस्कार का सिद्धान्त ढोग मालूम होता है जो लोगो ने दुखियो और दुर्बलो के आँसू पोछने के लिए गढ लिया है ।'

मुशीजी को असल प्रयोजन अपने समाज की कथा से है, उसके न्याय-अन्याय और झूठ-सच से, जिसकी कहानी वह चक्रधर, मनोरमा, अहल्या, विशाल सिंह, मुशी वज्रधर, लौगी और यशोदानन्दन और महमूद के माध्यम से कहते हैं ।

एक साम्प्रतिक यथार्थ यह है कि देश की राजनीति निष्प्राण है—सिवाय इसके कि थोडा-बहुत काम सेवा समिति का चल रहा है और बाकी तो कौसिलो में पहुँच जाने की उछलकूद है जिससे मुशीजी को रत्ती भर हमदर्दी नही है, हाँ उसके तमाम खतरो पर उनकी निगाह जरूर है, सत्ता-लाभ जो चरित्र का विनाश करता देता है — जिसे मुशीजी ने पहले ही अपनी डायरी में टाँक लिया है । धन का मद, प्रभुता का मद

वही चक्रधर जो जनता का जाना-माना सेवक है, जनता जिसके इशारो पर नाचती है, अपने बेटे के राजकुमार बनने पर, एक नन्ही-सी बात पर, बेबात की बात पर, धन्ना सिंह के भाई को ऐसा मार देता है कि वह उसी जगह ढेर हो जाता है ।

पीछे उसकी भी आँख खुलती है —

'आज उन्हे अनुभव हुआ कि रियासत की बू कितने गुप्त और अलक्षित रूप से उनमें समाती जाती है, कितने गुप्त और अलक्षित रूप से उनकी मनुष्यता चरित्र और सिद्धान्त का ह्रास हो रहा है ।'

रगभूमि का विनय भी समाज की इसी श्रेणी का व्यक्ति था । वैसा ही अग्रेजी

पढा-लिखा, सफेद-पोश जनसेवी चक्रधर भी है। वह भी पूरी तरह विनय के ही साँचे में ढला है। आदर्श की बाते बहुत बडी-बडी, अमल मे कच्चा।

जो चक्रधर राजा विशाल सिंह से कहता है—

'दीन प्रजा के रक्त से राजतिलक लगाना किसी राजा के लिए मगलकारी नही हो सकता। प्रजा का आशीर्वाद ही राज्य की सबसे बडी शक्ति है। . समाज की यह व्यवस्था अब थोडे दिनो की मेहमान है और वह समय आ रहा है जब या तो राजा प्रजा का सेवक होगा, या होगा ही नही।'

किसानो पर गोली चलते देखकर जिस चक्रधर के मन मे यह विचार आया था—'राज्य पशुबल का प्रत्यक्ष रूप है। वह साधु नही है जिसका बल धर्म है, वह विद्वान नही है जिसका बल तर्क है, वह सिपाही है जो डडे के जोर से अपना स्वार्थ सिद्ध करता है।'

वही चक्रधर हल्की-सी उत्तेजना पर एक आदमी की हत्या कर डालता है, वैसे ही जैसे 'रगभमि' मे डाकुओ द्वारा सोफिया के अपहरण से उत्तेजित होकर विनय राज्य के अधिकारियो से मिल जाता है और फिर अपने अत्याचारो से उसी जनता को पीस डालता है जिसकी पहले उसने सेवा की थी .

असल कायाकल्प यह है।

'बाहर आकर चक्रधर ने राजभवन की ओर देखा। असख्य खिडकियो और दरीचो से बिजली का दिव्य प्रकाश दिखायी दे रहा था। उन्हे वह दिव्य भवन सहस्र नेत्रोवाले पिशाच की भाँति जान पडा जिसने उनका सर्वनाश कर दिया था। उन्हे ऐसा जान पडा कि वह मेरी ओर देखकर हँस रहा है और कह रहा है, क्या तुम समझते हो कि तुम्हारे चले जाने से यहाँ किसी को दुख होगा? इसकी चिन्ता न करो; यहाँ यही बहार रहेगी, यो ही चैन की बसी बजेगी, तुम्हारे लिए कोई दो बूँद आँसू भी न बहायेगा। जो लोग मेरे आश्रय में आते है, उनका मै कायाकल्प कर देता हूँ, उनकी आत्मा को महानिद्रा की गोद में सुला देता हूँ।'

धन और प्रभुता के मद से मनुष्य का जो कायाकल्प होता है उसी की यह कहानी है। धन का मद अहल्या के सताप का कारण बनता है। अपने बेटे को राजपाट मिलने के लोभ से वह चक्रधर के साथ नही जाती और कथाकार कहता है—अगर धन-मद ने अहल्या की बुद्धि पर पर्दा न डाल दिया होता तो आज उसे क्यो यह दिन देखना पडता? दरिद्र रहकर भी सुखी होती। मोह ने उसका सर्वनाश कर दिया।

इन्ही दिनो की वह बात है जो शिवरानी देवी ने लिखी है—

'सन् २४ का ज़माना था। आप लखनऊ में थे। रगभूमि छप रही थी। अलवर रियासत के राजा साहब की चिट्ठी लेकर पाँच-छ सज्जन आये। राजा साहब ने अपने पास रहने के लिए बुलाया था।.. ४०० रुपये प्रतिमास नकद,

मोटर और बँगला देने को लिखा था ।'

मुशीजी ने बडे शिष्ट, विनीत भाव से इनकार कर दिया । निश्चय करने में उन्हे किसी तरह की कोई दुविधा नही हुई ।

लेकिन एक शरारत भी तो उनके खमीर में मिली हुई थी । लिहाजा उन लोगो को बैरग लौटाकर मुशीजी फौरन घर के भीतर पहुँचे और पत्नी के मन को थहाने के लिए कुछ दूसरे ढग की बात करने लगे, पर जब उन्होने भी बहुत जोर के साथ वही राय दी जिस पर मुशीजी पहले ही अमल कर चुके थे तो मुशीजी हँस पडे और सच बात खोल दी ।

'रगभूमि' छप रही थी, 'कायाकल्प' लिखा जा रहा था । ऐसे ही एक प्रसग में अहल्या ने चक्रधर से कहा — 'अमीरो का एहसान कभी न लेना चाहिए, कभी-कभी उसके बदले में अपनी आत्मा तक बेचनी पडती है ।'

और फिर एक दिन वही अहल्या, अचानक और अप्रत्याशित ढग से मिले हुए राजमाता के पद के गौरव का उपभोग करने के लिए अपनी आत्मा को बेच देती है । चक्रधर बैरागी होकर अपनी आत्मा को बचा लेना चाहता है, वैसे ही जैसे विनय ने आत्महत्या करके अपनी खोई हुई आत्मा को फिर से पा लेने का यत्न किया था ।

लेकिन मुशीजी भी जानते है कि यह कोई रास्ता, कोई मजिल नही है, यह तो मैदान छोडकर भाग जाना है ।

गृहस्थ आश्रम को मुशीजी सब आश्रमो मे श्रेष्ठ मानते है, इसलिए यही समझना चाहिए कि जब वह किसी को वैराग्य का रास्ता पकडते दिखाते है तो उनका उद्देश्य उस चरित्र का मान बढाना नही होता । कर्मक्षेत्र वह है जहाँ भलाइयो-बुराइयो में लिपटा हुआ साधारण आदमी जीता है, मरता है, काम करता है । जो कुछ बनना है, बिगडना है, यही पर बनना-बिगडना है, इसी साधारण आदमी के हाथो । कर सकते हो तो इसके भीतर ताकत पैदा करो, फकीरी बाना पहन लेने से क्या होगा ।

मुशी वज्रधर यही बात अपने बेटे से कहते है ।

लेकिन सच्चाई यह है कि उस साधारण आदमी की तरफ से सब बेखबर है । उस छोटे आदमी की परवाह किसी को नही है । अब से दो बरस पहले शिकायत के लहजे में उन्होने जो बात कही थी वह अब भी तोला-माशा उतनी ही सही है —

'आपने मुझसे पूछा, मैं किस पार्टी मे हूँ । मै किसी पार्टी में भी नही हूँ। इसलिए कि दोनो में से कोई पार्टी कुछ अमली काम नही कर रही है । मै तो उस आनेवाली पार्टी का मेम्बर हूँ जो कोतहुन्नास (छोटे आदमियो) की सियासी तालीम को अपना दस्तूर-उल-अमल बनाये ।'

यह कोरी रजिश नही है, इसके पोछे एक गहरी अनास्था है । इन पैसेवाले,

बेफिकरे, अंग्रेजी पढे-लिखो और उनकी राजनीति के प्रति इस अनास्था का इतिहास बहुत पुराना है और छँटना तो दूर, वह बराबर बढती ही गयी और समय-समय पर उसका विस्फोट भी होता रहा।

— जैसे कि सन् ३० के आन्दोलन के समय जब कि अपने २३ अप्रैल १९३० के पत्र मे उन्होने बेहद खीझकर निगम साहब को लिखा —

● इस मौके पर साफ जाहिर हुआ कि अगर दो फी सदी अंग्रेजी-ख्वाँदा[1] असहाब[2] तहरीक[3] के साथ है तो अट्ठानबे फी सदी उसके मुखालिफ है। कौमी एतबार[4] से युनिवर्सिटियो और स्कूलो पर जितना रुपया खर्च हुआ वह करीबन जाया[5] हो गया। यह लोग सरकार के आदमी हुए, कौम के नही है। गैर-अंग्रेजी-दाँ, कारोबारी और पेशेवर तबको ही ने इस तहरीक मे जान डाली है। अगर तालीम-याफ्ता आदमियो के भरोसे मुल्क बैठा रहे तो शायद कयामत तक उसे आजादी नसीब न होगी।

जब मालूम है और इसके लिए सबूत और दलील की जरूरत नही कि सरकार कोई रिफार्म उस वक्त तक नही करती जब तक कि उसे यह यकीन न हो जाय कि इस तहरीक के पीछे कितनी ताकत है, तो तालीमयाफ्ता जमात का उससे किनारे रहना कितना दिलशिकन[6] है। कानून-पेशा[7] तबीब-पेशा,[8] प्रोफेसर और सरकारी मुलाजिमान,[9] इन सबने जितनी गुलामाना जेहनियत का सबूत दिया है, उसकी मुझे उम्मीद न थी। यह तबका[10] अपनी खैरियत गवर्नमेण्ट का इक्तदार[11] कायम रहने में समझता है। वह एक लमहे के लिए भी अपनी आसाइश[12] और दुनिया-तलबी को फरामोश[13] नही कर सकता। जर[14] उसका दीन और ईमान है। वह या तो आजादी चाहता ही नही या उसके लिए कीमत न देकर दूसरो पर तकिया करना ही अपनी शान के मुनासिब समझता है, या वह इस ख्याल मे मगन है कि आप ही आप आजादी मिल जायगी। काग्रेस के दौरे अव्वल में वह उससे खाइफ[15] रहा, काग्रेस के दौरे सानी[16] मे भी उसकी यही हालत रही। वह सरीह[17] देख रहा है कि जो कुछ उसे मिला और जिसे अब वह अपना हक समझता है वह दूसरो के ईसार[18] व कुर्बानी का नतीजा है। फिर भी वह इस ईसार व कुर्बानी मे शरीक नही होता। यही bourgeois फिजा है और यही नादार[19] फिर्के को दार[20] फिर्के का दुश्मन बना देता है। ●

---

१ पढे २ लोग ३ आदोलन ४ राष्ट्रीय दृष्टि ५ नष्ट
६ दिल तोडनेवाला ७ वकील ८ डाक्टर ९ नौकरो १० वर्ग
११ प्रभुत्व १२ सुख-सुविधा १३ भूल नही सकता १४ रुपया १५ भयभीत
१६ दूसरे दौर १७ प्रत्यक्ष १८ त्याग १९ सम्पत्तिहीन, Have-nots
२० सम्पतिवान, Haves

बडा भयकर विस्फोट है यह। लेकिन जब विस्फोट नही भी हुआ तब भी यह अनास्था भीतर ही भीतर घुमडती और अपना जहर घोलती रही। मुशीजी को शायद खुद भी इस गुप्त कार्रवाई का कुछ पता नही है लेकिन बात कुछ जरूर है कि एक तरफ तो मुशीजी अपने आदर्शवाद का रग विनय और चक्रधर जैसे लोगो पर गाढा से गाढा करते चले जाते है और दूसरी तरफ कुछ है जो उनको भीतर ही भीतर खोखला कर देता है — नतीजा, एक बेजान आदमी, सिद्धान्त बघारनेवाली एक मशीन, 'Prig' जैसा कि खुद मुशीजी ने चक्रधर के बारे में एक दफा बातचीत के सिलसिले मे रामचन्द्र टण्डन से कहा था। हो सकता है कि मुंशीजी ने जान-बूझकर इसी रूप में उनका चित्रण किया हो, लेकिन उससे ज्यादा सम्भावना इसकी है कि मुशीजी सच्चे मन से, पूरे मन से, उन्हे इसी आदर्शवादी रग में रँगकर पेश करना चाहते है लेकिन कोई अनजान हाथ आकर उस तसवीर को बेतरह बिगाड देता है, रग सब धुल जाते है और उनके नीचे से एक फीका और बेजान आदमी झाँकने लगता है। वह हाथ जो यह जादू करता है अनजान रहा आता है, इसलिए और भी कि वह हाथ खुद उन्ही का है, लेकिन, हाँ, उसको चलानेवाली ताकत मन का वह ऊपरी स्तर नही है जो आदर्शो की सृष्टि करता है, बल्कि वह भीतरी स्तर है जहाँ जीवन के कडवे अनुभव धीरे-धीरे, लेकिन निरन्तर, अपना जहर घोलते रहे है। मूर्तिकार मूर्ति बनाना चाहता है कुछ — बन जाती है कुछ!

२०

पहली सितबर १९२५ को मुशीजी बनारस लौटे और उसके कुछ ही महीने बाद कायाकल्प और अहकार मुशोजी के अपने प्रेस से प्रकाशित हुए। मगर किताबे छापने के लिए गाँठ मे पैसे तो थे नही और प्रेस की हालत वैसी ही थी जैसी मुशीजी छोडकर गये थे। लिहाजा कुछ तो इस खयाल से कि प्रेस के लिए काम बराबर मिलता रहेगा और कुछ यह कि किताबे छापने का सहारा हो जायगा, उन्होने एक मालदार आदमी से अपनी किताबो तक पर आधे-साझे का इकरारनामा किया — लागत उसकी और बदले में मुनाफे का आधा हिस्सा। बरस-दो बरस यह इकरारनामा चला और इस बीच सार्वजनिक ग्रन्थमाला के नाम से चार-छ किताबें भी छपी। और बस। लेकिन खैर जैसे भी हो, किताब छप तो जाती थी। उर्दू का हाल तो और भी बुरा था।

वहाँ तो अब तक 'गोशए आफियत' (प्रेमाश्रम) और 'चौगाने हस्ती' (रगभूमि) का भी प्रकाशन न हुआ था — और प्रकाशन तो दूर की बात है, उनके उर्दू मसविदे भी तैयार न थे। लिखे दोनो ही पहले उर्दू में गये थे लेकिन उनकी हिन्दी करते समय बहुत कुछ रद-बदल हो गया था और मुशीजी को अपनी नयी चीजो से इतनी फुर्सत न थी कि उन पुरानी चीजो का मसविदा ठीक करते बैठते। 'चौगाने हस्तो' के दूसरे भाग की भूमिका में उन्होने लिखा —

'अगर्चे रगभूमि पहले उर्दू ही में लिखी गयी थी मगर उसका उर्दू एडीशन हिन्दी एडीशन हो जाने के तीसरे साल शाया हो रहा है। हिन्दी एडीशन तैयार करते वक्त उर्दू मसविदे मे इतनी तरमीम हो गयी कि वह इस हालत में प्रेस के काबिल न था। इसके अलावा, कई अबवाब हिन्दी में और बढा दिये गये। उन्हे दुबारा मसविदे में शामिल करना जरूरी था। इसलिए सारा उर्दू मसविदा हिन्दी मसविदे के मुताबिक करके दुबारा लिखना पडा। मैं अपने करमफर्मा मुशी इकबाल वर्मा सेहर हथगामी का बेहद ममनून हूँ कि उन्होने इस बात को अपने जिम्मे लिया '

इस काम के मुआवजे को लेकर सेहर साहब से मुंशीजी की थोडी-सी बेलुत्फी भी हुई लेकिन खैर, जैसा कि उनके १२ अगस्त १९२५ के खत से जाहिर

है, मुशीजी ने 'रगभूमि का तसफिया चार सौ पर कर दिया । अब इरादा है गोशए आफियत भी भेज दूँ, खत्म हो जाये । मेरे खत्म किये न होगी । दारुल इशाअत छापने को तैयार हैं ।' क्या कहिए उर्दू की इस सर्दबाजारी को ! चौगाने हस्ती १९२७ मे और गोशए आफियत १९२८ मे, देर-सबेर दोनो ही किताबे खुदा खुदा करके छप तो गयी लेकिन उनका मुआवजा मुशीजी को शायद उतना भी नही बचा जितना उन्होने मसविदो की नकल करवाई सेहर साहब को दिया था !

हाँ, यश मिला, लेकिन उसमे भी लगी मारनेवाले अपनी हरकत से बाज न आये ।

एक सज्जन थे जिन्होने 'रगभूमि' पर और मुशीजी के सपूर्ण कृतित्व पर कीचड उछालना अपने जीवन का लक्ष्य बना लिया था । उनका नाम अवध उपाध्याय था । वह गणित के आदमी थे और इन लेखो से जो उन्होने 'रगभूमि' की कपालक्रिया करने के उद्देश्य से लिखे यह भी स्पष्ट है कि उन्हे अपने गणित का अपच हो गया था । समयदेवता ने उन्हे विदूषक बना दिया है लेकिन इससे कौन इनकार कर सकता है कि रगभूमि पर विदूषक की उछलकूद, उसकी कलाबाजियाँ भी अपनी जगह रखती हैं !

बार-बार इन महाशय ने कसम खायी है कि जो कुछ भी वह लिख रहे हैं वह उनके सच्चे, स्वतन्त्र, द्वेषरहित विचार है लेकिन तो भी विश्वाम नही होता, कुछ तो इसलिए भी कि बार-बार इस चीज की कसम खाने की जरूरत पड रही है । लेकिन इतनी ही बात नही है । जिस तरह यह हमला किया गया और जिस बड़े पैमाने पर यह मोर्चेबन्दी हुई उससे गुमान होता है कि जरूर कुछ दाल में काला है । जुलाई १९२६ से दिसबर १९२६, बराबर छ महीने तक इन महाशय ने 'सरस्वती' में अपना राग गाया — एक लेख यह सिद्ध करने के लिए 'रगभूमि' थैकरे के 'वैनिटी फेयर' की नकल है और दूसरा लेख यह सिद्ध करने के लिए कि 'प्रेमाश्रम' टाल्सटाय के 'रिजरेक्शन' की नकल है । लेकिन जब इतने से उनका जी नही भरा तो उन्होने बनारस के 'समालोचक' में और अन्य कुछ पत्रो में कही अपने नाम से और कही छद्म नाम से, अपना यह अभियान जारी रक्खा और जब इतने से भी पेट नही भरा तो कुछ ही समय बाद 'कायाकल्प' के निकलने पर उसको भी समेट लिया और यह दिखाने की कोशिश की कि 'कायाकल्प' हाल केन के 'इटर्नल सिटी' की नकल है ! जहाँ खुद नही लिख सके वहाँ दूसरो से लिखवाने में भी पीछे नही रहे । द्वेष की महती प्रेरणा के बिना साहित्य के स्वास्थ्य की ऐसी चिन्ता कम ही देखने में आती है ! समझ में नही आता कि इस द्वेष का कारण क्या हो सकता है, विशेषत जब वह गणित की दुनिया के आदमी थे और साहित्य से उन्हे कम ही प्रयोजन था । लेकिन जैसा कि पडित दुलारेलाल भार्गव से मालूम हुआ, आक्रोश के लिए कुछ कारण उन महाशय के पास था । उन्ही दिनो जब कि

मुशी प्रेमचद साहित्यिक सलाहकार के रूप में गगा पुस्तकमाला में काम कर रहे थे और 'रगभूमि' छप रही थी, श्री अवध उपाध्याय अपना एक उपन्यास लेकर मुशीजी के पास पहुँचे, गगा पुस्तकमाला से छपाने के लिए। मुशीजी ने उसे पढकर अस्वीकार कर दिया। एक नये, महत्वाकाची लेखक के लिए नाराज होने का यह कुछ कम कारण नही था।

पहले तो उन्हे रवीन्द्रनाथ की 'आँख की किरकिरी' पर वैनिटी फेयर का प्रभाव दिखायी दिया, फिर 'रगभूमि' पर वैनिटी फेयर और आँख की किरकिरी दोनो का। इसके बाद तो फिर उन महाशय ने अपनी बात सिद्ध करने के लिए जो-जो द्रविड प्राणायाम किया, वह देखने योग्य है। सबसे पहले तो उन्होने यही मानने से इनकार कर दिया कि रगभूमि का नायक सूरदास है। वस्तुत सूरदास ही हिन्दी-साहित्य को रगभूमि की सबसे बडी देन है और बहुतो ने इसको कहा भी उस—समय भी और बाद को भी। लेकिन इन महाशय को यह बात नही दिखायी दी और उन्होने कृती और कृति दोनो के वक्तव्य की अवहेलना करते हुए लिखा—

'इसमें सन्देह नही कि प्रेमचदजी ने सूरदास को ही रगभूमि का नायक स्वीकार किया है। पर बाबू शिवप्रसाद गुप्त ने विनय को इसका नायक स्वीकार किया है' प्रमाण भी दिया तो कैसे आदमी का, जो कम से कम साहित्यमर्मज्ञ के रूप में नही जाना जाता।

'रगभूमि का नायक चाहे जो हो, इसमें कुछ भी सदेह नही है कि विनय और सोफिया ही रगभूमि को जान है। मुझे इस बात का पूर्ण विश्वास है कि रगभूमि के ऐसे भी कुछ पढनेवाले मिलेगे जो इसके केवल विनय तथा सोफिया के ही अश पढेगे और शेष भाग छोड देगे।' कौन जाने, ऐसी कोई मतगणना तो अब तक नही हुई लेकिन जहाँ तक पता चलता है अवध उपाध्याय जी का यह विश्वास काफी भ्रम-पूर्ण और निराधार है। जो भी हो, उन्हे तो अपनी बात सिद्ध करनी थी और इसके लिए वह हर तरह की मनमानी तोड-मरोड करने के लिए कमर कसे हुए थे। कथाकार ने अपनी पुस्तक को जो नाम दिया, उर्दू और हिन्दी दोनो ही सस्करणो मे, उसका साक्ष्य भी सूरदास के चरित्र और जीवन-दर्शन में ही मिलता है लेकिन जिन आँखो पर द्वेष की माडी चढी हो उन्हे अगर साफ चीज भी न दिखलायी दे तो कोई आश्चर्य नही। पर दु ख इस बात का है कि सूरदास को रगभूमि से निर्वासित कर देने के बाद उसका जो खँडहर बचा उसकी समानता भी बेचारे उपाध्याय जी वैनिटी फेयर से नही सिद्ध कर सके। हाँ, कीचड उछालने का श्रेय जरूर उनके हाथ लगा। अब उपाध्यायजी इस दुनिया मे नही है और मुशीजी भी सिधार चुके है, लेकिन रगभूमि है और वैनिटी फेयर भी है और जो भी चाहे दोनो को मिलाकर देख सकता है। मगर उससे क्या, उपाध्यायजी के इन 'बीजगणितीय

समीकरणो ' को देखकर बिल्कुल वह मजा आता है जो बाजीगर को मुँह में से गोले पर गोला निकालते देखकर —

● वैनिटी फेयर का जार्ज आसबर्न = रगभूमि का विनय
अर्थात् जार्ज आसबर्न = विनय
और भी सक्षेप मे आसबर्न = विनय ●

या

● विनय = आसबर्न + डाविन का बहुत कम भाग
सोफिया = अमीलिया + रेबेका का बहुत कम अश
इन्दु = रेबेका का बहुत कम अश
सूरदास = जान सेवक = अमीलिया का पिता
महेन्द्रकुमार = राडन + जोज़ेफ
गागुली = सरपिट
रानी जान्हवी = आसबर्न के पिता के जातीय उच्च विचारो का स्वरूप ●

या ' प्रेमाश्रम ' को ' रिजरेक्शन ' की छाया सिद्ध करते हुए यह ' बीजगणितीय समीकरण ' —

● नेहलूडफ = (ज्ञानशकर + प्रेमशकर + मायाशकर) $\times \frac{१}{अ}$
परन्तु अधिकतर = नेहलूडफ का कुछ हिस्सा = ज्ञानशकर ;
ज्ञानशकर = (नेहलूडफ + कीज़ेवेटर + शोनबुक + नोवोदरोफ + सिमन्सन) $\times \frac{१}{ब}$
प्रेमशकर = (नेहलूडफ + क्रिल्टसाफ + नवातफ) $\times \frac{१}{अ}$ ●
मायाशकर = (नेहलूडफ + एक विद्यार्थी) $\times \frac{१}{अ}$ ●

यह सब तमाशा देखकर हँसी भी आती है, रोना भी आता है कि इस पागलो जैसी बकवास को कभी गम्भीर आलोचना भी समझा गया था ! गम्भीर आलोचना जानकर ही तो पूरे छ महीने तक यह चीज एक अकेले ' सरस्वती ' में छपती रही और व्यापक चर्चा का विषय बनी ? चर्चा करनेवाले या तो खुद भी इतने जडमति थे कि उन्हे इस प्रलाप में कुछ सार दिखायी पडा या इतने कुत्सा-प्रेमी कि एक बनी हुई प्रतिष्ठा पर कीचड उछाला जाते देखकर उन्हे उसमें रस मिल रहा था । जो भी बात हो, इससे न तो उनकी सुरुचि का परिचय मिलता है न विवेक का । कुछ अजब नही कि इस सगठित अभियान के पीछे कुछ लोगो का षड्यन्त्र

रहा हो। इस अभागे देश की आज भी जो हालत है उसको देखते हुए यह भी अचरज की बात न होगी अगर इसके मूल में जातिवाद का विष भी काम करता रहा हो।

इसे नियति का एक व्यग्य ही कहना चाहिए कि जिस समय 'प्रेमाश्रम' को 'रिजरेक्शन' की छाया सिद्ध करने का यह यत्न हो रहा था उन्ही दिनो 'रिजरेक्शन' के लेखक टाल्सटाय के देश में 'प्रेमाश्रम' का अनुवाद हो रहा था। और शायद वही रूसी में अनूदित होनेवाली प्रेमचद की पहली किताब थी।

कहना न होगा कि इस गदगी से मुशीजी के मन को दारुण पीडा पहुँची—जितनी इस बात से नही कि उन पर ऐसा कुत्सित आक्रमण किया गया उतनी इस बात से कि उसके विरोध में कोई प्रतिवाद का स्वर क्यो नही उठा। आखिरकार मुशीजी को खुद ही अपनी मर्यादा की रक्षा करने के लिए सन्नद्ध होना पडा। उस समय कुछ मित्रो ने शिकायती स्वर मे उनसे कहा भी कि आप इस बेहूदगी को खयाल में ही क्यो लाते है। कहना आसान है, लेकिन जब कोई आदमी मरीहन मुँह पर गाली दे रहा हो और बार-बार दे रहा हो और चार आदमियो के सामने दे रहा हो और वह चार आदमी उन गालियो का मजा ले रहे हो और उनमें से एक भी माई का लाल ऐसा न हो जो उनकी हिमायत मे खडा होकर उस गाली देनेवाले से पूछे कि आखिर क्यो तुम यह सब वाही-तबाही बक रहे हो, उस वक्त भी अपने जब्त को बनाये रखना किसी फरिश्ते का ही काम है और मुशीजी फरिश्ता नही थे। व्यर्थ हो अपयश का भागी बनना कौन चाहेगा? दूसरा कोई बोलता तो मुशीजी के चुप रहने मे ही शोभा थी, लेकिन जब कोई नहो बोला तो मुशीजी को खुद बोलना पडा और वही शायद ठीक भी था। उस वक्त चुप रहने का मतलब यह भी लगाया जा सकता था कि मुशीजी का पहलू कमजोर है इसीलिए चुप है, चोरी पकडी गयी है इसीलिए मुँह से बात नही निकल रही है! ऐसी हालत मे मुशीजी भला कैसे चुप रहते। और यही बात उन्होने रामचन्द्र टण्डन से कही, बच्चो जैसे भोले अदाज में—दूसरा कोई कुछ करता भी तो नही!

चारो तरफ से बौछारे पड रही थी—रगभूमि वैनिटी फेयर की नकल है, प्रेमाश्रम रिजरेक्शन की नकल है, कायाकल्प इटर्नल सिटी की नकल है, विश्वास नाम की कहानी इटर्नल सिटी की छाया है, आभूषण नाम की कहानी हार्डी की एक कहानी की नकल है, हँसी नाम का लेख जो जमाना में मुशीजी के नाम से छपा था मराठी के एक लेख का अनुवाद है!

एक साथ ही इतनी सब चोटे बरबस कुछ दूसरा ही सकेत करती है। लेकिन जिसके मन मे चोर नही है, वह क्यो डरने लगा। मुशीजी ने, साँच को आँच क्या, साफ-साफ सारी बाते लिखी। शरद १९८३ वि० के 'समालोचक,' में 'प्रेमचन्दजी की प्रेम-लीला' का उत्तर देते हुए उन्होने लिखा,—

"कई साल हुए नागरी प्रचारिणी पत्रिका में किसी मराठी लेख के आधार

पर एक हिन्दी लेख प्रकाशित हुआ। मुझे यह लेख बहुत अच्छा मालूम हुआ। मैंने उसका टूटा-फूटा अनुवाद उर्दू में करके जमाना में 'हँसी' के नाम से छपवा दिया। जमाना के सपादक को उसके अनुवाद होने की इत्तला भी दे दी। मेरा अभिप्राय यह कदापि नही था कि मैं उस मराठी या हिन्दी लेखक के यश का अपहरण कर लूँ। इस तरह नोच-खसोट करने से कीर्ति नही मिलती। कीर्ति बहुत ही दुर्लभ वस्तु है और मै इतना बडा मन्दबुद्धि नही हूँ कि इधर-उधर से तर्जुमे करके अपनी कीर्ति बढाने का प्रयत्न करूँ। 'हँसी' नामक लेख भी मैने छिपाकर नही किया। छिपाने की जरूरत ही नही थी। जिस महीने में मूल लेख हिन्दी में प्रकाशित हुआ उसके शायद एक ही महीने बाद, उसका अनुवाद उर्दू की सर्वोत्तम पत्रिका में हो गया। मै इतना उस वक्त भी जानता था कि जमाना का हिन्दी पाठको में काफी प्रचार है। इसलिए अगर उर्दू लेख में मूल का हवाला नही दिया गया तो यह Omission कहा जा सकता है, अपहरण नही।"

मुशीजी को नीचा दिखाने के लिए कैसे-कैसे गडे मुर्दे उखाडे जा रहे है — यह पूरे बारह बरस पुरानी, सन् १४ के आरम्भिक दिनो की बात है, जो यकबयक फिर जवान हो गयी है। सयोग से इस प्रसग के दो खत अब भी मौजूद है जो मुशीजी ने जमाना के एडीटर को लिखे थे। पहले खत में, जिस पर तारीख नही है, मुशीजी ने लिखा था —

'हँसी पर एक मजमून हस्बे वायदा रवानए खिदमत है। मजमून नामुकम्मल है। अभी असल मजमून ही पूरा नही शाया हुआ। जब वह पूरा हो जाये तो उसका दूसरा हिस्सा भेज दूँ।'

दूसरे खत मे जो ३ मई १९१४ का है, उन्होने लिखा —

'हँसी का बकिया जल्द लिखूंगा। नागरी प्रचारिणी पत्रिका में वह सिलसिला अभी खत्म नही हुआ। मगर अब हरेक नबर में दो-तीन सफो से ज्यादा नही निकलते। पूरा निकल जाये तो जमाना के पाँच-छ: सफो का मसाला हो जाये। मैंने तर्जुमा नही किया है, सिर्फ नफस[1] ले लिया है।'

रगभूमि और वैनिटी फेयर का जिक्र करते हुए उन्होने लिखा —

● लेख के भाव, भाषा और शैली से विदित होता है कि किसी स्कूली लडके ने लिखा है जिसने मेरी कोई रचना पढी ही नही। उनसे मेरा आग्रह है कि कृपया एक बार धैर्य रखकर रगभूमि पढ जाइए। जिसने वैनिटी फेयर और रगभूमि दोनो की सैर की है, वह कभी ऐसी बेतुकी बाते लिख ही नही सकता। वैनिटी फ़ेयर आसमान पर हो, रगभूमि जमीन पर, पर है वह रगभूमि। रहा प्रेमाश्रम पर रिजरेक्शन का प्रभाव। इसके विषय मे यही कहना है कि अभी मैनें रिजरेक्शन

---

१ सार

नही पढा है और अगर बिना उसके पढे ही प्रेमाश्रम मे रिजरेक्शन के भाव आ गये है तो यह मेरे लिए गौरव की बात है। अभी जिन्दा रहा तो बहुत कुछ लिखूँगा और मेरे भावो और विचारो मे उच्चकोटि के लेखको जैसी बहुत-सी बाते आवेगी। आप जो अच्छी पुस्तक देखेंगे वही मेरी किसी पुस्तक से म्लिती-जुलती जान पडेगी। कारण यही है कि मैं अपने प्लाट जीवन से लेता हूँ, पुस्तको से नही, और जीवन सारे ससार में एक है।

समालोचक के भाग २ सख्या ३ में 'गुलाब' महाशय के रगभूमि की चर्चा करते हुए लिखा है कि उस पर वैनिटी फेयर का कुछ प्रभाव है। हो सकता है। लेकिन मैने वैनिटी फेयर सन् १६०३ मे पढा था और रगभूमि सन् १६२४ मे लिखी, इससे वैनिटी फेयर के भावो का इतने दिनो मन मे सचित रहना मुश्किल है, विशेषकर मेरे लिए क्योकि मेरी मेमोरी अच्छी नही। जो चीज मौलिक है, वह मौलिक रहेगी। उसकी मौलिकता को कोई मिटा नही सकता। जिस रचना पर बरसो आँखे फोडी गयी है और कलेजे का खून बहाया गया है उसे आज कोई रसिकताहीन आलोचक मिटा नही सकता। ● व्यूह में फँसा लिया गया है मुशीजी को लेकिन उन्हे कोई घबराहट नही है, हाँ दु ख है। मगर उस दु ख के साथ-साथ आत्म-गौरव भी है और आत्म-विश्वास। फिर क्या डर। मुशीजी चक्रव्यूह को तोड-ताडकर निकल जाते है।

● मुझे खुद उपन्यास-सम्राट कहलाना पसद नही है। मै कसम खा सकता हूँ कि मैने इस उपाधि की कभी अभिलाषा नही की।

समालोचक के इसी अक में बाबू ब्रजरत्नदासजी ने मेरी आभूषण नामक कहानी के प्लाट का टामस हार्डी के एक गल्प से सादृश्य दिखाया है। हाँ, सादृश्य अवश्य है। टामस हार्डी को जो बात सूझ सकती है, वह किसी दूसरे लेखक को क्या नही सूझ सकती? कहानी के प्लाट में कोई ऐसी विलक्षणता नही है जो हिन्दी के लेखक के लिए असूझ हो। हार्डी भी आदमी ही था, कोई देवता न था। और फिर ऐसी घटनाएँ जब हमें नित्य ही जीवन में मिलती है तो हमे क्या कुत्ते ने काटा है जो टामस हार्डी से उधार लेने जाते। ●

और फिर चलते-चलाते मुशीजी ने रद्दा कसा—

'यहाँ मुझे एक भ्रम का निवारण करना जरूरी मालूम होता है। जब हम अपने किसी सहवर्गी को अपने से आगे बढते देखते है तो सभवत मन में एक कुरेदन-सी होती है। उसे किसी तरह नीचा दिखाने की इच्छा होती है। शायद कुछ लोग समझते हो कि यह कल का लौडा हमसे बाज़ी मारे लिये जाता है और हम पीछे रहे जाते है, इसे किसी तरह रोकना चाहिए। उन महाशयो से मेरा निवेदन है कि यह अभागा, कल का लौडा नही, पुराना खुर्राट है। तीन साल और हो तो पूरे पचास का हो जाय। उसे कलम घिसते हुए तीस वर्ष हो गये।'

इन्ही दिनो, सुधा के आश्विन ३०५ तुलसी सवत् के अक में शिलीमुख नाम के सज्जन ने एक लेख लिखकर यह दिखाया था कि प्रेमचद की 'विश्वास' कहानी हाल केन के उपन्यास 'इटर्नल सिटी' की छाया है। श्री अवध उपाध्याय पहले से कह रहे थे कि 'कायाकल्प' 'इटर्नल सिटी' पर आधारित है। इन दोनो बातो को एक में समेटते हुए मुशीजी ने सुधा-सपादक दुलारेलाल भार्गव के नाम एक चिट्ठी लिखी जो शिलीमुख के लेख के अत में प्रकाशित हुई। उसमें मुशीजी ने लिखा था—

● हमारे मित्र प० अवध उपाध्याय तो कायाकल्प को इटर्नल सिटी पर आधारित बता रहे है। मि० शिलीमुख ने उनको बहुत अच्छा जवाब दे दिया। मै अपने सभी मित्रो से कह चुका हूँ कि 'विश्वास' केवल हाल केन के 'इटर्नल सिटी' के उस अश की छाया है जो वह पुस्तक पढने के बाद मेरे हृदय पर अकित हो गया। मैने पहले चॉद मे यह कहानी लिखी थी। वहॉ से वह 'प्रेम प्रमोद' मे आयी। मैने प्रकाशक को अपने पत्र मे स्पष्ट लिख दिया था कि यह कहानी 'इटर्नल सिटी' की विकृत छाया है। अपने प्राय सभी मित्रो से कह चुका हूँ। छिपाने की ज़रूरत न थी, और न है। मेरे प्लाट में 'इटर्नल सिटी' से बहुत कुछ परिवर्तन हो गया है, इसलिए मैने अपनी भूलो ओर कोताहियो को हाल केन जैसे ससार-प्रसिद्ध लेखक के गले मढना उचित न समझा।

'इटर्नल सिटी' प्रसिद्ध पुस्तक है। हिन्दी मे उसका अनुवाद हो चुका है। अनुवाद हो चुकने के बाद मैने कहानी लिखी है। श्रीकृष्णदत्त जी पालीवाल ने ही मुझसे इस पुस्तक की प्रशसा की थी। अपना अनुवाद भी सुनाया था। उन्ही से पुस्तक मॉगकर मै लाया था। ऐसी दशा में मोटी बुद्धि का आदमी भी समझ सकता है कि मैं विज्ञ ससार को धोखा देना नही चाहता था। जिस हद तक मैं ऋणी हूँ, उस हद तक मैं लिख चुका। कौन ऐसा आदमी होगा जो हिन्दी में छपी हुई किताब से मिलती-जुलती कहानी लिखे और यह समझे कि वह मौलिक समझी जायगी। फिर भी मेरी कहानी में बहुत कुछ अश मेरा है, चाहे वह रेशम में टाट का जोड ही क्यो न हो। ●

खैर, मुशीजी इस सब कीचडबाजी से काफी बेदाग बचकर निकल आये—दो-एक धब्बे जो लग गये थे उन्हें वक्त ने धो डाला। पीछे तो कुछ आवाजे उनकी हिमायत में भी सुनायी दी जिससे उनके आँसू कुछ पुँछे। ऐसे ही एक पत्र का उल्लेख कृतज्ञतापूर्वक करते हुए मुशीजी ने अपने दोस्त सेहर हयगामी साहब को लिखा—

'मुकर्रमी मुशी राजबहादुर साहब का खत भी देखा। तसकीन हुई। आप साहबान का ख़याल बिलकुल दुरुस्त है। इलाहाबाद मे एक ब्राह्मण पार्टी है। अवध उपाध्यायजी उसके हाथ मे कठपुतली बने हुए है। ऊटपटॉंग बाते कहकर मुझे बदनाम कर रहे है। रगभूमि और वैनिटी फेयर में जर्रा भर भी मुनासिबत

नही है। और प्रेमाश्रम को रिजरेक्शन के ममासिल[1] बतलाना तो हद दर्जा बेहूदगी है। मैने आज तक रिजरेक्शन पढा भी नही, हालाँकि उसकी तारीफ बहुत सुन चुका हूँ। ऐसी ममासिलत[2] जैसी उपाध्यायजी दिखलाते है करीब-करीब सभी किताबो में है। आप फरमाते है कि वैनिटी फेयर मे एक आदमी गलत-सलत अग्रेजी बोलता है, इसी से रगभूमि मे एक बगाली बाबू लाये गये। इस शख्स को यह भी खबर नही कि बगाली बाबू क्यो लाये गये, उनके वजूद का मशा क्या है। एमीलिया को आप सोफिया से मिलाते है हालाँकि सोफिया का असल मिसेज एनी बेसेन्ट है।'

इसमें शक नही कि अगर इस टोपी-उछाल-आदोलन का उद्देश्य मुशीजी के दिल को दुखाना था तो इसमे उसे पूरी सफलता मिली। बाकी तो वह झूठ की इमारत थी ही, कै दिन ठहरती। साल छ महीने में ही ढह गयी ओर अगर कही कोई छोटी-मोटी बुर्जी बच रही थी तो वह उस रोज ढह गयी जिस रोज अगले ही साल हिन्दुस्तानी एकेडमी ने रगभूमि को वर्ष की सर्वश्रेष्ठ कृति का पुरस्कार दिया।

मुशीजी के मरने पर उपाध्यायजी ने, जो उस समय पेरिस में गणित का अध्ययन कर रहे थे, अपने मित्र अन्नपूर्णानन्द को लिखा —

'इस दु खद समाचार ने मेरे हृदय को मथ डाला, मै रो उठा क्योकि मेरे हृदय में एक कसक रह गयी। मैने प्रेमचद के सब ग्रन्थो का अध्ययन किया था और मै भलीभाँति उनके गुणो से परिचित था। वास्तव मे हिन्दी भाषा का एक स्तम्भ टूट गया, हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ कहानी लेखक उठ गया, आज हमारे उपन्यास-सम्राट का देहावसान हो गया। परन्तु उनकी अमर कीर्ति की ध्वजा सदा फहराती रहेगी। मै आज निस्सकोच भाव से कह रहा हूँ कि अपनी लेखनी के द्वारा आज तक हिन्दी का कोई भी दूसरा लेखक प्रेमचद की तरह प्रसिद्ध नही हो सका। भाषा प्रेमचद की दासी-सी बन गयी थी। उसे वे जैसे चाहते थे नचाते थे। मानव हृदय का ज्ञान भी उन्हे बहुत था। मेरा पूर्ण विश्वास है कि उनकी कृतियो में अमर साहित्य की सामग्री है।'

यह पश्चात्ताप का स्वर है, अपने ही क्षुब्ध अत करण के शमन के लिए। बहुत शुद्ध हृदय से निकला हुआ भी हो सकता है लेकिन व्यर्थ है अब। उस समय तो जो घाव लगना था वह लग ही गया।

---

१ सदृश २ सादृश्य

२१

मगर खैर यह सब तो लगा ही रहता है। दुख करने से कोई फायदा नही। कौन है जिसकी बदगोई करनेवाले नही है। यही दुनिया का तमाशा है। मुडिया-कर अपने घर बैठो और काम करो। कहने दो जिसे जो कुछ कहना हो। अच्छा होता कि इतना भी न उलझते। लेकिन कैसे। आदमी सब कुछ सह सकता है, इज्जत पर, ईमान पर चोट नही सही जाती। छोडो भी, जो हुआ सो हुआ। आगे की फिक्र करो।

इधर कई वर्षो से सहगल इलाहाबाद से 'चाँद' निकाल रहे थे — महिलाओ की पत्रिका के रूप में — और उनका बराबर तकाजा रहता था कि मुशीजी औरतो की जिन्दगी से सम्बन्ध रखनेवाली अपनी बेहतरीन कहानियाँ उन्ही को दें। 'आभूषण' कहानी 'माधुरी' में छपी तो उसके छपते ही सहगल ने २५ अगस्त १९२३ को उलाहने का एक पत्र लिखा —

''मुझे आपसे एक ज़रूरी बात कहनी है। वह यह कि माधुरी की तुलसी सख्या में 'आभूषण' शीर्षक आपकी जो कहानी छपी है उसे यदि वहाँ न भेजकर आप 'चाँद' में भेजे होते तो इससे विशेष उपकार की सभावना थी। यह सच है कि मैं आपको उतना पुरस्कार न दे सकता जो आपको 'माधुरी' से मिलता होगा। प्रचार की दृष्टि से भी 'चाँद' ८००० नही छपता, पर मेरा ख़याल है, उपयोगिता की दृष्टि से, चाहे 'चाँद' की थोडी-सी प्रतियाँ ही छपती हो, यह कहानी इसके लिए बहुत मौजूँ थी।''

बेहद तेज व्यवहारकुशल आदमी था और यहाँ उसने मुशीजी की कमजोर नस पकडी थी। बात मुशीजी को लग गयी और उन्होने फिर बरसो नारी जीवन की कहानियाँ ज्यादातर 'चाँद' में ही लिखी। पैसे को लेकर थोडा-बहुत मनमुटाव भी जब-तब हुआ। लेकिन यह बात मुशीजी के मन में अच्छी तरह जम गयी थी कि ऐसी कहानियो के लिए 'चाँद' ही सबसे अच्छा माध्यम है — जिनके लिए वह कहानियाँ लिखी जाती है उनके हाथ में पहुँचती तो है। और शायद प्रेमचन्द को औरतो तक पहुँचाने मे 'चाँद' का भी अच्छा खासा हाथ रहा है।

बहरहाल मुशीजी लखनऊ के अपने पहले आवास-प्रवास के बाद पहली

सितम्बर १९२५ को बनारस पहुँचे और नवम्बर के महीने से 'निर्मला' क्रमश 'चाँद' में निकलने लगी। साल भर बाद 'चाँद' प्रेस से ही पहली बार १९२७ के आरम्भ में वह पुस्तक के रूप में प्रकाशित हुई। तब तक उसे 'चाँद' के द्वारा महिलाओ में इतनी जबर्दस्त लोकप्रियता मिल चुकी थी कि छपने के साल भर के अन्दर उसका सस्करण समाप्त हो गया।

और इसमे शक नही कि औरत की जिन्दगी का दर्द जिस तरह इस किताब में निचुडकर आ गया है वैसा मुशीजी की और किसी किताब में मुमकिन न हुआ, न आगे न पीछे। समाज के जालिम ढकोसले, लेन-देन की नहूसते, बेवा की बेचा-रगो ओर निपट अकेलापन, अनमेल ब्याह की गुत्थियाँ दर गुत्थियाँ — सब कुछ जैसे जाग पडा, बोल उठा इस किताब में।

देखिए, निर्मला के ब्याह की तैयारियाँ हो रही है —

'बाबू उदयभानुलाल का मकान बाजार बना हुआ है। बरामदे में सुनार के हथौडे और कमरे में दर्जी की सुइयाँ चल रही है। सामने नीम के नीचे बढई चार-पाइयाँ बना रहा है। खपरैल मे हलवाई के लिए भट्ठा खोदा गया है। मेहमानो के लिए अलग एक मकान ठीक किया गया है। यह प्रबध किया जा रहा है कि हरेक मेहमान के लिए एक-एक चारपाई, एक-एक कुर्सी और एक-एक मेज़ हो। हर तीन मेहमानो के लिए एक-एक कहार रखने की तजवीज हो रही है। अभी बारात आने में एक महीने की देर है लेकिन तैयारियाँ अभी से हो रही है। बारातियो का ऐसा सत्कार किया जाय कि किसी को जबान हिलाने का मौका न मिले। वे लोग भी याद करे कि किसी के यहाँ बारात में गये थे। एक पूरा मकान बर्तनो से भरा हुआ है। चाय के सेट है, नाश्ते की तश्तरियाँ, थाल, लोटे, गिलास। जो लोग नित्य खाट पर पडे हुक्का पीते रहते थे, बडी तत्परता से काम में लगे हुए है। जहाँ एक आदमी को जाना होता है, पाँच दौडते है। काम कम होता है, हुल्लड अधिक।'

बडा उत्साह है बाबू साहब के दिल में, लेकिन उनकी बीवी कल्याणी इसमें पूरी तरह उनके साथ नही है। उसे दुनिया का तजुर्बा ज्यादा है। कहती है — 'जब से ब्रह्मा ने सृष्टि रची तब से आज तक कभी बरातियो को कोई प्रसन्न नही रख सका। उन्हे दोष निकालने और निन्दा करने का कोई न कोई अवसर मिल ही जाता है। जिसे अपने घर सूखी रोटियाँ भी मयस्सर नही वह भी बारात में आकर तानाशाह बन बैठता है। तेल खुशबूदार नही, साबुन टके सेर का जाने कहाँ से बटोर लाये, कहार बात नही सुनते, लालटेनें धुआँ देती है, कुर्सियो में खट-मल है, चारपाइयाँ ढीली है, जनवासे की जगह हवादार नही। अगर यह मौका न मिला तो और कोई ऐब निकाल लिये जायँगे। भई, यह तेल तो रडियो के लगाने लायक है, हमें तो सादा तेल चाहिए। जनाब ने यह साबुन नही भेजा

है, अपनी अमीरी की शान दिखायी है, मानो हमने साबुन देखा ही नही । ये कहार नही, यमदूत है, जब देखिए सिर पर सवार । लालटेनें ऐसी भेजी है कि आँखें चमकने लगती है, अगर दस-पाँच दिन इस रोशनी मे बैठना पडे तो आँखें फूट जायँ । जनवासा क्या है अभागे का भाग्य है, जिस पर चारो तरफ से झोके आते रहते है । '

चित भी मेरी, पट भी मेरी । उसी का नाम बाराती है ।

बहरहाल, बाबू उदयभानुलाल के उत्साह का ठिकाना नही है । लेकिन उन्हे पता नही है कि विधि उनके लिए कैसा प्रपच रच रही है । बाबूसाहब एक गुडे के हाथ, जिसको उन्होने कभी सज़ा दी थी, मारे जाते है । और उनके मरते ही उनके घरवालो की दुनिया बदल जाती है । ' जहाँ आठो पहर कचहरी-सी लगी रहती थी वहाँ अब ख़ाक उडती है । वह मेला ही उठ गया । जब खिलानेवाला ही न रहा तो खानेवाले कैसे पडे रहते । धीरे-धीरे एक महीने के अन्दर सभी भाजे-भतीजे विदा हो गये । जिनका दावा था कि हम पानी की जगह ख़ून बहानेवालो में है, वे ऐसा सरपट भागे कि पीछे फिरकर भी न देखा । '

लडकेवाले फिर कैसे पीछे रहते, उन्होने भी आँखे फेर ली । स्थिति के अन्तर को न समझते, ऐसे भोले वह भी न थे । जरा मुलाहिज़ा हो लडके के बाप का — ठेठ कायस्थ आदमी, खुर्राट, खबीस, जैसे कि मुशीजी ने अपनी बिरादरी में न जाने कितने देखे होगे —

● बाबू भालचन्द दीवानखाने के सामने आरामकुर्सी पर नग-धडग लेटे हुए हुक्का पी रहे थे । बहुत ही स्थूल, ऊँचे कद के आदमी थे । ऐसा मालूम होता था कि काला देव है या कोई हब्शी अफ्रीका से पकडकर आया है । सिर से पैर तक एक ही रग था — काला । आपको गर्मी बहुत सताती थी । दो आदमी खड़े पखा झल रहे थे, उस पर भी पसीने का तार बँधा हुआ था । आप आबकारी के विभाग में एक ऊँचे ओहदे पर थे । पाँच सौ रुपये वेतन मिलता था । ठेकेदारो से खूब रिश्वत लेते थे । ठेकेदार शराब के नाम पानी बेचे, चौबीसो घटे दुकान खुला रखे, आपको खुश रखना काफी था । सारा कानून आपकी खुशी थी । .. जैसे पक्का मुसलमान पाँच बार नमाज पढता है, वैसे ही आप भी पाँच बार शराब पीते थे । .

बाबू साहब ने पडित जी को देखते ही कुर्सी से उठकर कहा — ' अख़्ख़ाह आप है ! आइए आइए, धन्य भाग ! अरे कोई है ! कहाँ चले गये सब के सब, झगडू, गुरदीन, छकौडी, भवानी, रामगुलाम, कोई है ? क्या सब के सब मर गये ? चलो रामगुलाम, भवानी, छकौडी, गुरदीन, झगड़ ! कोई नही बोलता, सब मर गये ! '

तीन-चार मिनट के बाद एक काना आदमी खाँसता हुआ आकर बोला — सरकार, इतना की नौकरी हमार कीन न होई । कहाँ तक उधार-बाढी लै लै

खाई। माँगत माँगत थेथर होइ गयेन।

भाल० — बको मत, जाकर कुर्सी लाओ। जब कोई काम करने को कहा गया तो रोने लगता है। कहिए पडित जी, वहाँ सब कुशल है?

पडित जी — क्या कुशल कहूँ बाबूजी, अब कुशल कहाँ। सारा घर मिट्टी में मिल गया।

इतने मे कहार ने एक टूटा हुआ चीड का सन्दूक लाकर रख दिया और बोला — कुर्सी-मेज हमरे उठाये नाही उठत हैं।

भाल० — अब और कैसे मिट्टी में मिलेगा! इससे बडी और कौन विपत्ति पडेगी। बाबू उदयभानुलाल से मेरी पुरानी दोस्ती थी। आदमी नही, हीरा था! क्या दिल था, क्या हिम्मत थी, (आँखें पोछकर) मेरा तो जैसे दाहिना हाथ ही कट गया। खाने बैठता हूँ तो कौर मुँह में नही जाता। उनकी सूरत आँखो के सामने खडी रहती है। मुँह जूठा करके उठ आता हूँ। किसी काम में दिल नही लगता। भाई के मरने का रज भी इससे कम ही होता। आदमी नही, हीरा था! ●

कितनी देखी है मुशीजी ने यह कपट लीला अपने समाज में जो कालकूट के रूप में निचुडकर यहाँ आयी है! जिधर नजर उठायी है उधर मिली है यह चीज़। जीवन के एक अग का ज़िन्दगी भर का अनुभव है यह जो एक जख्म की तरह हरा हो गया है इस कृति में — 'लडके नगे पाँव पढने जा सकते है, चौका-बर्तन भी अपने हाथ से किया जा सकता है, रूखा-सूखा खाकर निर्वाह किया जा सकता है, झोपडे में दिन काटे जा सकते है लेकिन युवती कन्या घर में नही बैठायी जा सकती।'

आखिरकार निर्मला का वही सपना सच होता है जो किसी दिन उसने देखा था — ' सामने एक नदी लहरें मार रही है और वह नदी के किनारे नाव की बाट देख रही है। सन्ध्या का समय है। अँधेरा किसी भयकर जन्तु की भाँति बढता चला आता है। वह घोर चिन्ता में पडी हुई है कि कैसे यह नदी पार होगी, कैसे घर पहुँचूँगी। रो रही है कि रात न हो जाय नही तो मै अकेली यहाँ कैसे रहूँगी। एकाएक उसे एक सुन्दर नौका घाट की ओर आती दिखायी देती है। वह खुशी से उछल पडती है और ज्योही नाव घाट पर आती है वह उस पर चढने के लिए बढती है और ज्योही नाव के पटरे पर पैर रखना चाहती है उसका मल्लाह बोल उठता है — तेरे लिए यहाँ जगह नही है! वह मल्लाह की खुशामद करती है, उसके पैरो पडती है, रोती है, लेकिन वह कहे जाता है — तेरे लिए यहाँ जगह नही है। एक क्षण में नाव खुल जाती है। वह चिल्ला-चिल्लाकर रोने लगती है कि इतने में कही से आवाज़ आती है — . ठहरो, ठहरो, वह नाव तुम्हारे लिए नही है। मै आता हूँ, मेरी नाव पर बैठ जाओ। मैं उस पार पहुचा दूँगा। वह भयभीत होकर इधर-उधर देखती है कि यह आवाज़ कहाँ से आयी। थोडी देर के बाद एक छोटी-सी डोगी आती दिखायी देती है। उसमें न पाल है न पतवार न मस्तूल।

पेंदा फटा हुआ है, तख्ते टूटे हुए, नाव में पानी भरा हुआ है, और एक आदमी उसमें पानी उलीच रहा है। वह उससे कहती है — यह तो टूटी है, यह कैसे पार लगेगी? मल्लाह कहता है — तुम्हारे लिए यही भेजी गई है, आकर बैठ जाओ! . ’
और निर्मला की शादी मजबूरन एक पचास बरस के दुहाजू वर बाबू तोताराम से करनी पडती है। 'बाँका सवार बूढे लद्दू टट्टू पर सवार होना कब पसन्द करेगा। निर्मला की दशा उसी बाँके सवार की-सी थी।' . लेकिन दूसरा उपाय भी तो न था।

घर में बडे-बडे लडके है, जिसमें से एक सबसे बडा खुद निर्मला की उम्र का है — और एक अदद ननद है जिसे निर्मला फूटी आँख नही सुहाती, यानी कि प्रलय का हर सामान मौजूद है।

● रुक्मिणी देवी का स्वभाव सारे ससार से निराला था। यह पता लगाना कठिन था कि वह किस बात से खुश होती थी और किस बात से नाराज, एक बार जिस बात से खुश हो जाती थी दूसरी बार उसी बात से जल जाती थी। अगर निर्मला अपने कमरे में बैठी रहती तो कहती कि न जाने कहाँ की मनहूसिन है, अगर वह कोठे पर चढ जाती या महरियो से बाते करती तो छाती पीटने लगती — न लाज है न शरम, निगोडी ने हया भून खायी! अब क्या कुछ दिनो में बाजार नाचेगी!

निर्मला को लडको का चटोरापन अच्छा न लगता था। कभी-कभी पैसे देने से इन्कार कर देती। रुक्मिणी को अपने वाग्बाण सर करने का अवसर मिल जाता — अब तो मालकिन हुई है, लडके काहे को जियेंगे। बिना माँ के बच्चे को कौन पूछे। रुपयो की मिठाइयाँ खा जाते थे, अब धेले को तरसते है!

निर्मला अगर चिढकर किसी दिन बिना कुछ पूछे-ताछे पैसे दे देती तो देवी जी उसकी दूसरी ही आलोचना करती — इन्हे क्या, लडके मरें या जियें। इनकी बला से! माँ के बिना कौन समझाये कि बेटा, बहुत मिठाइयाँ मत खाओ। आयी-गयी तो मेरे सिर जायगी, इन्हे क्या! ●

गरज़ कि एक 'दोधारी तलवार' थी जो हर तरफ काट करती थी।

उधर अधेड, ढले हुए तोताराम को फिक्र है कि जवान बीवी को क्योकर खुश रखें। दोस्तो से सलाह-मशविरा होता है तो एक साहब एक अक्सीर नुस्ख़ा बतलाते है —

"रँगीलेपन का स्वाँग रचो, यह ढीला-ढाला कोट फेंको, तजेब की चुस्त अचकन हो, चुन्नटदार पजामा, गले में सोने की जजीर जडी हुई, सिर पर जयपुरी साफा बँधा हुआ, आँखो में सुर्मा और बालो में हिना का तेल पडा हुआ। तोद का पिचकना भी जरूरी है। दोहरा कमरबन्द बाँधो। जरा तकलीफ तो होगी, पर अचकन सज उठेगी। ख़िज़ाब मैं ला दूँगा। सौ-पचास गजलें याद कर लो और मौके-से शेर पढो। बातो में रस भरा हो। ऐसा मालूम हो कि तुम्हे दीन और दुनिया

की कोई फिक्र नही है, बस जो कुछ है, प्रियतमा ही है। जवाँमर्दी और साहस के काम करने का मौका ढूँढते रहो। रात को झूठमूठ शोर करो — चोर-चोर — और तलवार लेकर अकेले पिल पडो। हाँ, जरा मौका देख लेना, ऐसा न हो कि सचमुच कोई चोर आ जाय और तुम उसके पीछे दौडो, नही तो सारी कलई खुल जायगी और मुफ्त में उल्लू बनोगे। उस वक्त तो जवाँमर्दी इसी में है कि दम साधे पडे रहो जिसमें वह समझे कि तुम्हे ख़बर ही न हुई, लेकिन ज्योही चोर भाग खडा हो, तुम भी उछलकर बाहर निकलो और तलवार लेकर 'कहाँ ? कहाँ ?' कहते दौडो। ''

निर्मला के दिल पर यह सब स्वाँग कितना भारी गुजरता है, वह तो अलग बात है, लेकिन तोताराम के खुद अपने दिल के भीतर जो चोर है, उसका भी तो कोई जवाब इस नुस्खे के पास नही है। आख़िरकार उन्हे अपने ही बेटे और निर्मला पर शक हो जाता है। घर की बरबादी के लिए फिर और क्या सामान चाहिए।

इतनी सच्ची, मार्मिक, खासकर औरतो के दिल को भानेवाली कहानी मुशीजी ने दूसरी नही लिखी। पढनेवाले दहल उठे, रो-रो पडे। कैसा डरावना आईना उन्होने समाज के सामने उठाकर रख दिया था। हर रोज़ जो इतने अनमेल ब्याह होते है, पैसे की मजबूरी से जवान लडकी बुड्ढे के गले बाँध दी जाती है, देखो उसका क्या हश्र होता है। देखते सब है, कहता कोई नही। मुशीजी ने कह दिया, और बहुत डूबकर कहा। सच्चाई और न्याय, इसे छोडकर मुशीजी का दूसरा धर्म नही है। और इस धर्म में मुरौवत के लिए कही जगह नही है। अब से करीब साल ही भर पहले उन्होने 'भूत' नाम की एक कहानी लिखी थी जिसमें उन्होने पत्नी की ओर से अपने एक करीबी रिश्तेदार की खबर ली थी जिन्होने अपनी बीवी के मरने पर अपनी एक बहुत ही छोटी साली से शादी कर ली थी — जो उन्ही के घर में पलकर बडी हुई थी और जिसे उन्होने गोद में खिलाया था। मुशीजी का इलाहाबाद में उनके यहाँ बराबर का आना-जाना था लेकिन वह और बात है।

निर्मला की असाधारण लोकप्रियता ने 'चाँद' के सम्पादक को प्रेरित किया कि वह मुशीजी से फिर कोई धारावाहिक उपन्याम इसी तरह का ले। मुशीजी का भी दिल बढा हुआ था और फिर जहाँ रोज कुआँ खोदने और पानी पीने की हालत हो वहाँ आमदनी की यह एक सूरत थी जिसे हाथ से जाने न दिया जा सकता था। नवम्बर के महीने में 'निर्मला' का सिलसिला ख़त्म हुआ और बीच का एक महीना छोडकर जनवरी १९२७ से एक दूसरा उपन्यास छपना शुरू हो गया। इसका नाम 'प्रतिज्ञा' था। इतनी जल्दी में एक बिलकुल नयी और ताजा चीज बनती भी तो कैसे। लिहाजा मुशीजी ने अपने बीस साल पुराने किस्से 'प्रेमा' को ही दुबारा

लिखने की ठानी । विधवा-विवाह की समस्या थी, महिलाओ की पत्रिका के लिए अत्यन्त उपयुक्त । चरित्र भी सब वही रहे । हाँ, कथानक में कुछ अन्तर जरूर आ गया । वह छब्बीस बरस के नौजवान और सैतालिस बरस के अधेड का अन्तर था । तब मुशीजी को खुद अपने दूसरे ब्याह की पडी थी — किसी विधवा स्त्री से । लिहाजा अमृतराय पहले पूर्णा से ब्याह कर लेते है — जिस पर कि हाल ही में वैधव्य का शोक पडा है । पीछे एक बडे विचित्र-से, जासूसी-तिलिस्मी घटनाचक्र में इधर पूर्णा मारी जाती है, उधर प्रेमा के पति दाननाथ मारे जाते है और इस तरह मैदान साफ हो जाने पर दोनो पुराने प्रेमी, अमृतराय और प्रेमा, विवाह-सूत्र में सदा के लिए बँध जाते है । यहाँ वह सब कुछ नही है । दृष्टि प्रौढ हो चुकी है । दाम्पत्य में ही समाधान पा लेनेवाला मन अब नही है । जीवन उससे ज्यादा जटिल है । अत विधवा-आश्रम बनता है । पूर्णा उसमें आकर रहने लगती है । लेकिन दोनो दो समानान्तर रेखाओ की तरह रहते है जो किसी बिन्दु पर आपस में नही मिलती । उधर प्रेमा शीलवती स्त्री की तरह दाननाथ के साथ अपने दाम्पत्य का निर्वाह करते हुए दिन गुजार रही है । जैसा कि जीवन का क्रम है ।

अभी यह नया सिलसिला शुरू ही हुआ था कि ८ फरवरी १९२७ को मुशीजी के पास बाबू बिशन नारायन भार्गव का बुलौवा आया । माधुरी की एडीटरी के लिए, वेतन दो सौ रुपया महीना । अधा क्या माँगे दो आँखे ।

उन दिनो मुशीजी जालपा देवी पर रहते थे । मणिकर्णिका का रास्ता पडता था । दिन-रात रामनाम सत्य है । घरवालो का जीना मुहाल था । डर था कही बच्चे की माँ मारे दहशत के बिस्तर से न लग जाय । लिहाज़ा अब जब मुशी जी के लखनऊ जाने का सवाल पैदा हुआ तो इस घर में रहना असम्भव हो गया । सबको लेकर जाने में यह मुश्किल थी कि बडा लडका स्कूल में पढता था, साल खराब होता । चुनाचे लडके को शहर ही में एक गुजराती वकील दोस्त के घर रखकर और बाकी सबको लमही पहुँचाकर मुशीजी हफ्ते भर में लखनऊ पहुँच गये और १५ तारीख से काम सँभाल लिया । मकान इस बार उन्होने मारवाडी गली में लिया । उसी हाते में मुशीजी के घर से लगा हुआ रामतीर्थ पब्लिकेशन लीग का दफ्तर था । बाल-बच्चे जुलाई में बनारस से आये और लखनऊ की छ साल की जिन्दगी शुरू हुई — जिनमें से पाँच मुल्क की जिन्दगी के बहुत तूफानी साल रहे ।

२२

लेकिन इस बडे तूफान से कुछ महीने पहले एक छोटा-सा तूफान मुशीजी की जिन्दगी मे भी आया। शोर तो इस तूफान का भी कम न था, मगर टाँय टाँय फिस, बासी कढी का उबाल होकर रह गया।

किस्सा यह हुआ कि मुशी जी ने 'मोटेराम शास्त्री' के नाम से एक कहानी लिखी जो जनवरी १९२८ की माधुरी में छपी। इसमें उन्होने एक कामी, कुचाली वैद्य की खिल्ली उडायी थी — अपनी वैद्यकी जमाने के लिए वह कैसी-कैसी माया रचता है और पीछे भडा फूटने पर उसकी कैसी-कैसी दुर्गत होती है।

लाटूश रोड पर गगा पुस्तकमाला के पास ही, बिलकुल पास, जहाँ मुशीजी अपने पिछले प्रवास में साल भर रहे थे, एक पडित शालिग्राम शास्त्री वैद्य की दुकान थी। यह तो भगवान ही जाने (और खुद मुशीजी) कि उन्होने इन्ही वैद्य जी का खाका खीचा था या किसी और का या किसी का भी नही। बहरहाल पडित शालिग्राम शास्त्री को पूरा यकीन हो गया या करा दिया गया कि हो न हो मोटेराम शास्त्री आप ही है और आप ही को जलील करने के लिए यह कहानी लिखी गयी है। शास्त्रीजी ने खुद ही अपने इस्तगासे में लिखा था कि 'मेरे कई मित्रो ने मेरा ध्यान इस कहानी की ओर उस समय आकर्षित किया जब मैं बीमार था और मुझको बतलाया कि इससे तुम्हारी बडी ज़िल्लत हुई है।' गरज़ कि खूब-खूब भरा लोगो ने शास्त्रीजी को। कोई पटखनी खाय, किसी की पीठ में धूल लगे, हमें तो अपने तमाशे से मतलब है, कब-कब मिलता है ऐसा फोकट का तमाशा देखने को! दगल की तैयारियाँ पूरे जोर-शोर से होने लगी। पहलवान मला-दला जाने लगा। गवाहियाँ-साखियाँ बनने लगी। उधर से गवाहो की जो सूची पेश हुई उसमें बडे-बडे लोगो के नाम थे — प० दुलारेलाल भार्गव, प० रूपनारायण पाण्डेय, प० बद्रीनाथ भट्ट, प० मातादीन शुक्ल, प० आद्यादत्त ठाकुर। बाहर से जिन गवाहो को बुलाने की बात थी उनमें प० पद्मसिह शर्मा ओर रत्नाकरजी भी थे। जहाँ इतनी बडी-बडी तोपे साथ हो वहाँ फिर कैसा आगा-पीछा। शास्त्रीजी ने फौरन स्थानीय फौजदारी अदालत में माधुरी के सम्पादको पर मानहानि का दावा ठोक दिया। मजिस्ट्रेट ने इस्तगासा दायर होने पर जाब्ते

की रू से माधुरी-सम्पादको को पाँच-पाँच सौ के जमानती वारटों के जरिये तलब किया। मगर इसके पहले कि सरकारी कर्मचारी वारट लेकर उनके पास आये, माधुरी के सपादकगए स्वय अदालत में उपस्थित हो गये — और अपने कानूनी सलाहकारो के निर्देश पर, जिनमें दो वकील थे और एक बैरिस्टर, एक दर्ख्वास्त पेश की। और उसी ने सब खेल बिगाड दिया। समझौता होकर मामला रफा-दफा हो गया। खेल जम नही पाया।

लेकिन यह दर्ख्वास्त देखने से ताल्लुक रखती है —

● नकल दर्ख्वास्त मुअर्रिखा १२।४।२८ मिनजानिब बाबू प्रेमचन्द व पडित कृष्ण बिहारी मिश्र, मुकदमा न० १४६, शालिग्राम बनाम कृष्णबिहारी मिश्र व प्रेमचन्द हस्बे दफा ५००।१०६ ताजीरात हिन्द मुनफसला १२।४।२८ पुलिस स्टेशन हजरतगज बअदालत सिटी मजिस्ट्रेट लखनऊ।

मुलजिमान बजरिये इस दर्ख्वास्त के निहायत अदब से जाहिर करते है —

१) यह कि जनवरी १९२८ की माधुरी के ८३२ लगायत्त ८३५ सफहात पर 'मोटेराम शास्त्री' नाम से जो मजमून छपा है वह इस इरादे से लिखा गया था कि किसी नीमहकीम का खाका खीचा जाय। इस मजमून को मुलजिम न० २ ने मौजूदा जमाने के नीमहकीमो की हजो करने के लिए लिखा था।

२) यह कि मजमून हाजा के जरिये से मुस्तगीस के हजो करने का इरादा मुलजिम नम्बर २ का न था।

३) यह कि मुलजिम न० १ व मुलजिम न० २ दोनो पडित शालिग्राम शास्त्री को एक शरीफ आदमी समझते है जो इल्मे वैदक व सस्कृत व हिन्दी के आलिम है। **मुलजिमान कतई यह नहीं समझते हैं और न उनकी यह ख्वाहिश है कि वह जैसे कुछ हैं उसके अलावा और किसी सूरत मे उनका खाका खीचा जाय।**

४) यह कि दोनो मुलजिमान **इन वाक़यात को अच्छी तरह से मुश्तहिर करने के लिए तैयार हैं जिससे मुस्तगीस के दिमाग मे अगर किसी तरह का शक हो तो वह रफा हो जाय।**

५) यह कि मुलजिमान हुज़ूर को यकीन दिलाते है कि यह मजमून मुस्तगीस के ऊपर नही लिखा गया। लेकिन अगर उसका ख़याल है कि उसी के लिए लिखा गया है और मुलजिमान ने लाइल्मी में उसके दिल को चोट पहुँचाई है तो मुलजिमान को वाकई अफ़सोस है, हालाँकि वह इस बात को नही तसलीम करते हैं कि मुस्तगीस का ऐसा सोचना सही है . ●

कहो पकड नही है। हाँ, शरारतभरे द्व्यर्थक टुकडे जरूर है (जिन्हे हमने रेखाकित कर दिया है) जिनका कुछ भी मतलब हो सकता है।

और इसमें शक नही कि जब मुशीजी चौथे नुक्ते की रू से उन वाकयात को

अच्छी तरह मुश्तहिर करने पर आये तो उससे 'मुस्तगीस के दिमाग मे अगर किसी तरह का शक' था तो वह रफा हो गया !

पहला काम मुशीजी ने इस सिलसिले में यह किया कि जिस कहानी के छापने पर यह हगामा खडा हुआ था उसे उन्होने दुबारा छाप दिया और इस टिप्पणी के साथ, जो किसी शरारती बच्चे के मुँह चिढाने जैसी है, ले लपक के, बडा चला था शिकायत करने ! अब देता हूँ खाने भर को !

'इसी निर्दोष कहानी के सम्बन्ध में पडित शालिग्राम शास्त्री को यह भ्रम हुआ था कि यह उन पर लिखी गयी है। उन्होने इस कहानी को लेकर माधुरी सम्पादको पर फौजदारी अदालत में दावा भी दायर किया था पर जब सपादको ने अदालत को विश्वास दिलाया कि यह एक कुत्सित वैद्य पर व्यग्य प्रहसन मात्र है — शास्त्री जी से इसका कोई सम्बन्ध नही है — तो ये सतुष्ट हो गये और अब उनका यह विश्वास है कि कहानी उनको लक्ष्य करके नही लिखी गयी है।'

गरज कि जो लोग पिछली बार कहानी पढने से रह गये थे उन्होने भी अब पढ ली। छीछालेदर में कोई कमी क्यो रह जाये ! लेकिन असल मजे की चीज तो है सादगी का वह खोल जो इस तमाम शरारत के गिर्द लिपटा हुआ है — कुछ वैसी ही चीज जैसी एक बार बचपन में हुई थी जब खेल-खेल में उन्होने बाँस की खपाची से रामू का कान काट लिया था और जब उसकी माँ उलाहना लेकर इनकी माँ के पास आयी थी और इनके अपने कान खिचने की बारी आयी थी तो आपने बहुत ही भोलेपन से कहा था — हम तो नाऊ नाऊ खेल रहे थे ! या जब आपकी चोरी के लिए बडे भाई साहब पिट रहे थे और आप बडे सरल, निष्पाप भाव से प्रेमपूर्वक गुड का भोग लगा रहे थे।

यह शरारत जनाब के खून में घुल गयी थी और अक्सर उनकी कहानियो में फूट पडती है। और यो तो हल्की-फुल्की चोटें मौका-महल देखकर सभी पर हो जाती है लेकिन जब कुछ खास चाँदमारी करनी होती है तो मोटेराम शास्त्री को याद किया जाता है और फिर उन्हे खूब ही मजा ले-लेकर लिथेडा जाता है।

इन पण्डित मोटेराम शास्त्री का इतिहास बताते हुए (वह भी शायद 'इन-वाकयात को अच्छी तरह से मुश्तहिर करने' की गरज से।) मुशीजी ने माधुरी में लिखा —

● मुशी प्रेमचन्द जी के उपन्यासो और कहानियो में एक पात्र मोटेराम शास्त्री नाम के है। हँसी-मजाक का आश्रय लेकर ही इस पात्र की सृष्टि हुई है। पिकविक पेपर्स पढकर ही मुशीजी ने इस पात्र की कल्पना की है। जैसे सर राजर डी कावर्ली पात्र की सृष्टि करके ऐडिसन ने अग्रेजी के उपन्यास-जगत् में हास्यधारा बहायी है, वैसे ही हिन्दी में प्रेमचन्दजी के मोटेराम शास्त्री लोगो को हँसाते है।

इस पात्र की सृष्टि पहले पहल सन् १९१२ में मुशीजी के लिखे एक उर्दू

उपन्यास में हुई। ('जलवए ईसार' जो करीब दस साल बाद 'वरदान' के नाम से हिन्दी में छपा। —अ०) फिर ये धीरे-धीरे हिन्दी-साहित्य में भी पहुँचे। इन्ही महाराज की बदौलत माधुरी पर मानहानि का दावा तक दायर हुआ। ये बडे हज़रत है। हिन्दी में 'मनुष्य का परम धर्म' नाम की कहानी में इनका पहले पहल १९२० में दर्शन हुआ, फिर 'सत्याग्रह' कहानी में १९२३ में ये साक्षात् रूप से माधुरी में पधारे और बडे रग लाये। आपने १९२६ में 'सरस्वती' पत्रिका पर भी कृपा की और 'निमन्त्रण' कहानी में अपने दिव्य दर्शन दिये। १९२७ में 'प्रेम-प्रतिमा' नाम की एक पुस्तक निकली, इसमें 'गुरुमत्र' नाम की एक कहानी है। इसमें भी मोटेरामजी की बाँकी झाँकी है। फिर 'चाँद' कार्यालय से 'निर्मला' पुस्तक निकली। इसमें भी मोटेराम जी शास्त्री की व्यवहारकुशलता का दर्शन मिला। आपके लखनऊ पधारने का शुभ-सवाद पहले-पहल इसी ग्रन्थ में है। लखनऊ आपके मन भाया इसलिए साक्षात् 'मोटेराम शास्त्री' के नाम से आप लखनऊ पहुँचे और यहाँ धडल्ले से वैद्यक करने लगे। माधुरी के द्वारा आपकी सुख्याति लखनऊ में खूब हुई। हाल ही में 'साहित्य समालोचक' में आपके जीवन-चरित्र का एक पटल और भी दिखलायी पडा है। आपकी सुकीर्ति की कथाएँ अब बहुत व्यापक हो गयी है, इसलिए सम्भव है शीघ्र ही किसी विशालकाय पुस्तक में आपके दिव्य चरित्र का वर्णन विस्तार के साथ पढने को मिले। मोटेराम जी आदर्श दभी, पेटू, धूर्त एव अपने आतक और यशोविस्तार के इच्छुक दिखलायी पडते है। आप व्याख्याता भी है, लीडर भी बनना चाहते है और धर्माचार्य एव साहित्यवेत्ता भी है। इधर पिछले दिनो में वैद्यक का भी आपने अभ्यास किया है। अपनी स्त्री सोना से आपकी प्राय गप लडा करती है। 'मनुष्य का परम धर्म' में जब हमने आपको पहले पहल देखा तो जाना कि आप खूब न्योता खानेवाले, सगीतप्रेमी, व्याख्याता, अव्वल नम्बर के धूर्त एव जबर्दस्त पेटू हैं। फिर 'सत्याग्रह' में आपके पेटू स्वभाव का तो पता चला ही, पर आपके लीडरपन का भी हाल मालूम हूआ। प्राय सर्वत्र आप अपने प्रयत्नो में असफल रहते हैं। असफलता आपकी विशेषता है। लखनऊ में आपकी वैद्यक वृत्ति का जो चित्रण 'मोटेराम शास्त्री' नाम से विगत पौष की माधुरी में छपा वह बहुत रग लाया। लखनऊ के कई वैद्यो को धोखा हुआ कि मोटेराम हमी है। हमारे परिचित वैद्य श्री गया प्रसाद जी शास्त्री श्रीहरि तो एक दिन हँसी-मजाक में कहने लगे, देखिए इस कहानी की बहुत-सी बाते मुझ पर चस्पाँ होती है। मैंने हरिद्वार में अध्यापकी की है। मै साहित्याचार्य होने के कारण अलकारशास्त्र भी जानता हूँ और अभी हाल ही में मैंने अपनी वैद्यक भी लखनऊ में प्रारम्भ की है। पर जब उनको यह बात बतलायी गयी कि अध्यापकी तो स्थानीय वयोवृद्ध वैद्य उमापतिजी एवं प० रामनारायण जी ने भी की है एव अलकारशास्त्र के ज्ञाता और उस विषय पर लेख लिखनेवाले प० राधेनारायण

वाजपेयी प्रजावैद्य भी है तो वे हँसने लगे। इन सद्वैद्यो ने आयुर्वेद-महत्व-प्रतिपादक लेख भी लिखे है। खैर, यहाँ तक तो विनोद की बात रही, पर वास्तविक खेद है कि प० शालिग्राम शास्त्री सचमुच कहानी को अपने ऊपर समझ बैठे और जाकर अदालत का द्वार खटखटाया। खैर, अब तो उनको भी विश्वास हो गया है कि हम मोटेराम नही है। इधर स्थानीय साप्ताहिक पत्र 'गरीब' ने मोटेराम की तलाश में अपने गुप्तचर छोडे है। शायद वह उनका विशेष पता लगा सकें। मुशी प्रेमचन्द जी मोटेराम पर बारीक निगाह रखते है ●

काफी चटखारा ले-लेकर मुशीजी यह कहानी कह रहे है — और क्यो न कहे, अब तो बेदाग निकल आये। लेकिन जब कि मुकदमा इजलास के सामने था और उन्हे पता न था कि ऊँट किस करवट बैठता है उस वक्त भी मुशीजी को इस खेल में मजा ही ज्यादा आ रहा था, बावजूद कानून की अडदब में आ जाने के थोडे-से अन्देशे के। बस एक बात बुरी थी — खामखाह इस चीज ने कुछ ब्राह्मण-अब्राह्मण झगडे का रूप ले लिया था। उधर से गवाहो की जो सूची पेश हुई थी उस पर एक नजर डालने से यह बात साफ हो जाती है — जैसे सब लोग आ जुटे हो इस ब्राह्मण-द्रोही का मान-मर्दन करने के लिए! यह एक बुरी चीज थी क्योकि जाति-द्वेष फैलाने के लिए उन्होने मोटेराम या दूसरे किसी चरित्र की सृष्टि नही की, इसका विश्वास उनके मन में था। अच्छे ब्राह्मण चरित्रो की भी उनके यहाँ कमी नही है — और न चालबाज, फरेबी मुशीजी लोगो की कमी है। बात उन्हे इन्सान की कहनी है, जात-पाँत में उलझने से कैसे बनेगा। लेकिन हाँ, उस बात के कहने मे जिस पर चोट आयेगी, वह तो आयेगी, उससे बचने का कोई उपाय नही है। अपनी निजी जिन्दगी में मुशीजी से ज्यादा मुरौवतवाला आदमी मिलना मुश्किल है लेकिन लिखते वक्त वह किसी का सगा नही है। समाज में जो अन्याय है, ढोग-ढकोसले है, ऊँच-नीच और छूत-अछूत है, उनकी तह में पहुँचना जरूरी है।

समाज का यह विधान किसने किया? आज भी समाज को सुधारने के रास्ते में सबसे बडी बाधा कौन है? किसके चलते हिन्दू-समाज में नारी की यह हीन दशा है? किसके अन्याय से पीडित होकर करोडों हिन्दू मुसलमान हो गये? बिना हाथ-पैर हिलाये दूसरे की कमाई पर हलवा पूरी जीमनेवालो की यह जो अक्षौहिणी साधू-महात्माओ के रूप में घुन की तरह हमारे समाज को खा रही है, वह कौन लोग है? डड-कमडल लेकर सरल-विश्वासी जनता को ठगनेवाले कौन है?

मुशीजी इतिहास और समाजशास्त्र के विद्यार्थी है और इन सब प्रश्नो का उन्हे एक ही उत्तर मिलता है — ब्राह्मण देवता। इन्ही ब्राह्मण देवता ने आज हिन्दू समाज को इस दशा को पहुँचाया है और अगर समय रहते इसका उपचार न किया गया तो भगवान भी हिन्दू समाज को रसातल में जाने से नही बचा सकते। इसलिए जितनी जल्दी हो सके इन ब्राह्मण देवता का असली चेहरा लोगो

के सामने उघाडकर रख दो। यह ब्राह्मण वह नही है जो ज्ञान का आगार था, विनय की मूर्ति था, सरल था, सत्यवादी था, निस्पृह था, जो निर्जन एकान्त में बैठा तप करता था, जिसे पठन-पाठन और यज्ञ-याग के सिवा दूसरी किसी चीज से प्रयोजन न था। यह ब्राह्मण वह नही है, यह टकेपथी पडा-पुरोहित, साधू-महात्मा और इस तरह मोटेराम का जन्म हुआ, सन् ११-१२ में, लेकिन जैसा कि हम देख चुके है, उसके भी सात-आठ बरस पहले, मुशीजी की पहली प्राप्त कथाकृति 'देवस्थान रहस्य' में सन् ०३ में ही मुशीजी का कुठार उन दुराचारी-व्यभिचारी, पडो-पुरोहितो पर गिर चुका था। पहले का परोपकारी ब्राह्मण आज जिस अर्थ में और जिस सीमा तक परोपजीवी बन गया है और दूसरे की गाढी कमाई पर रबडी-मलाई चाभता है, वह सच्चे ब्राह्मण के पद से गिरा हुआ है, पतित है, और उसका पर्दा फाश करना इसाफ का तकाजा है।

सन् १९०६ में मुशीजी ने अपने एक लेख 'शरर और सरशार' में लिखा था —

'बुद्धिमान जानते है कि बुराइयो की रोक-थाम के लिए कोई औजार इतना कारगर और असरदार नही है जितना की मखौल का कोडा, और सरशार ने बडी बेरहमी से ऐसे कोडे लगाये है। मसलन रेवेन्यू एजेन्ट और सलारबख्श जो मखौल का निशाना बनाये गये है, उससे सिर्फ वकीलो की बहुतायत और उनकी बेकद्री का खाका उडाना उद्दिष्ट है। डिकेन्स ने भी सर्जेन्ट बजफज के पर्दे मे वकीलो की खूब खबर ली है। मगर सरशार की बेधडक ठिठोली डिकेन्स के गम्भीर व्यग्य से अधिक प्रभावशाली है।'

इन्ही सरशार और डिकेन्स से इशारा लेकर मुंशीजी ने पडित मोटेराम की सृष्टि की और करीब पच्चीस साल तक अपने कलेजे से लगाये रखा। यह भी साफ है कि मुशीजी ने सरशार के ढग को ही अपने मिजाज के ज्यादा करीब पाया और उसी मिट्टी और पानी से मोटेराम की सूरत बनायी।

वक्त के तकाजे से नयी-नयी बातें भी मोटेराम में जुड जाती है, लेकिन एक बात सब में समान है — उनकी अजगरी वृत्ति।

देखिए अजगरी वृत्ति के मोटमर्द बाबाजी लोगो की कैसी खिल्ली इस छोटे-से चुटकले में उडाई है —

● रामधन अहीर के द्वार पर एक साधु आकर बोला — बच्चा, तेरा कल्याण हो, कुछ साधु पर श्रद्धा कर।

रामधन ने जाकर स्त्री से कहा — साधु द्वार पर आये हैं, उन्हे कुछ दे दो।

स्त्री बर्तन माँज रही थी और इस घोर चिन्ता में मग्न थी कि आज भोजन क्या बनेगा, घर में अनाज का एक दाना भी न था। चैत का महीना था लेकिन यहाँ दोपहर ही को अँधेरा छा गया था। उपज सारी की सारी खलिहान से उठ गयी। आधी महाजन ने ले ली, आधी ज़मीन्दार के प्यादो ने वसूल की, भूसा बेचा

तो बैल के व्यापारी से गला छूटा, बस थोडी-सी गाँठ अपने हिस्से में आयी। उसी को पीट-पीटकर एक मन भर दाना निकाला था। किसी तरह चैत का महीना पार हुआ अब आगे क्या होगा। ●

ऐसे में आफत के मारे वह बाबाजी पहुँच जाते है, और किसान की सरल आस्तिकता, जब कोई और उपाय नही सूझता तो देवताओ के लिए जो थोडा-सा अँगौआ निकालकर रखा है उसी में से एक कटोरा आटा ले जाकर बाबाजी की झोली में डाल देता है।

● महात्मा ने आटा लेकर कहा — बच्चा, अब तो साधु आज यही रहेंगे। कुछ थोडी-सी दाल दे तो साधु का भोग लग जाय।

रामधन ने फिर आकर स्त्री से कहा। सयोग से दाल घर मे थी। रामधन ने दाल, नमक, उपले जुटा दिये, फिर कुएँ से पानी खीच लाया। साधु ने बडी विधि से बाटियाँ बनायी, दाल पकायी, और आलू झोली मे से निकालकर भुरता बनाया। जब सब सामग्री तैयार हो गयी तो रामधन से बोले — बच्चा, भगवान के भोग के लिए कौडी भर घी चाहिए। रसोई पवित्र न होगी तो भोग कैसे लगेगा।

रामधन — बाबाजी घी तो घर मे न होगा।

साधु — बच्चा, भगवान का दिया तेरे पास बहुत है। ऐसी बात न कह।

रामधन — महाराज, मेरे गाय-भैंस कुछ नही है, घी कहाँ से होगा।

साधु — बच्चा, भगवान के भण्डार में सब कुछ है, जाकर मालकिन से कह तो।

रामधन ने जाकर स्त्री से कहा — घी माँगते है। माँगने को भीख पर घी बिना कौर नही धँसता।

स्त्री — तो इसी दाल मे से थोडी लेकर बनिये के यहाँ से ला दो। जब सब किया है तो इतने के लिए उन्हे नाराज क्यो करते हो।

घी आ गया। साधुजी ने ठाकुरजी की पिंडी निकाली, घटी बजायी, और भोग लगाने बैठे। खूब तनकर खाया, फिर पेट पर हाथ फेरते हुए द्वार पर लेट गये। थाली, बटुली और कलछुली रामधन घर मे माँजने के लिए उठा ले गया।

उस रात रामधन के घर चूल्हा नही जला, खाली दाल पकाकर ही पी ली। ●

२३

३ फरवरी १९२८ को साइमन कमीशन ने हिन्दुस्तान की धरती पर पैर रखा — और अगारे बिछे हुए पाये। श्रीगणेश उसी दिन एक देशव्यापी हडताल से हुआ। फिर तो कमीशन जहाँ-जहाँ गया वहाँ-वहाँ उसे जनता के इसी रोषानल का सामना करना पडा। हर जगह लोगो की जबान पर वही एक नारा था — 'साइमन गो बैक, गो बैक साइमन' जो अशिक्षित कठो से निकलकर 'साइमन गोबर, गोबर साइमन' बन जाता था। दस हजार, पचीस हजार, पचास हज़ार कठो से निकलकर यही स्वागतवाणी हवा में गूंज रही थी। सुननेवालो को स्वभावत वह अच्छी नही लगी और उन्होने उसको बन्द करने के लिए कही लाठी और कही गोली का सहारा लिया। बम्बई, कलकत्ता, दिल्ली, मद्रास, सब जगह एक ही किस्सा था। बेचारो का सोना-जागना हराम हो गया। हर वक्त, हर तरफ उन्हे वही भीडे नजर आती और वही शोर कानो में बजता रहता। नीद में भी एक पत्थर सा सीने पर धरा रहता। दिल्ली का ही लतीफा तो है वह जिसका जिक्र जवाहरलाल ने अपनी आत्मकथा में किया है। कमीशन के मेम्बर एक रोज वेस्टर्न होटल में सो रहे थे। रात के सन्नाटे में उनकी नीद यकबयक उचट गयी। बेपनाह शोर मच रहा था। पहुँच गये हरामजादे, यहाँ भी पहुँच गये! अब शायद रात को सोना भी मयस्सर न होगा।

मगर नही, ये तो महज सियार थे जो इस वक़्त सब एक साथ हुआं हुआं कर रहे थे!

जो हो, सरकार बहादुर को अब यकीन हो गया था कि डडे का सहारा लिये बिना काम न चलेगा। बादशाह सलामत की तरफ से यह कमीशन आया है, उसके साथ ऐसा बेहूदा सलूक! सबक देना पडेगा इन वहशियो को, किसी और वजह से नही तो सिर्फ अपनी नाक बचाने के लिए।

लिहाजा कमीशन जब लाहौर पहुँचा और वहाँ भी हजारो लोगो ने लाला लाजपतराय के नेतृत्व में कमीशन का वैसा ही जबर्दस्त स्वागत किया तो डडे का जौहर दिखलाना जरूरी हो गया। खूब कसकर लाठियाँ बरसायी गयी और एक जोशीले गोरे सार्जेण्ट ने आगे बढकर लालाजी के सीने पर अपने बेटन से

हुआ और गोविन्दवल्लभ पंत तो सारी उम्र उस दिन की याद को लरजे की शकल में ढोते रहे। लेकिन लोगो का दमखम वही था, एक ज्वार था जिसमें सब बह रहे थे।

यहाँ तक कि लखनऊवाले अपनी कार्रवाइयो को मजाक का वह हल्का-सा पुट देने से भी बाज न आये जो कि उनकी खास चीज है।

कैसरबाग में अवध के कुछ बडे ताल्लुकेदारो ने साइमन कमीशन को एक शानदार पार्टी दे रखी थी। शहर के तमाम बडे-बडे लोग, अमीर-उमरा, आमन्त्रित थे। पुलिस ने अच्छी तरह नाकेबन्दी कर रखी थी ताकि पछी पर भी न मार सके और यज्ञ विधिवत् सम्पन्न हो जाय। आसपास की सडको तक पर जाने की लोगो को मनाही थी।

और इस तरह, इस किलेबदी के भीतर, सरकारी खैरख्वाहो की महफिल गर्म थी — कि अचानक लोगो की नजर ऊपर जो उठी तो वह क्या देखते है कि आसमान में अनगिनत गुब्बारे और पतगे उड रही है (कनकैयो का शहर ही ठहरा लखनऊ) और उन सब में एक दुमछल्ला लगा हुआ है, साइमन गो बैक!

मुँह का मजा बिगड गया कुछ लोगो का, लेकिन शहर सारा हँस रहा था, और उन हँसनेवालो में मुशी प्रेमचद भी थे जो उन दिनो न० २ ह्विवेट रोड पर, पाठक जी के लाल मकान में रहते थे। सारा नाटक उनकी आँखो के आगे हो रहा था। कभी-कभी जोश भी आ जाता था, मगर वह बस एक वक्ती उबाल था, और मुशीजी अलग-थलग अपने गोशे में पडे रहे। अपनी ताकत का पता उन्हे हो न हो, अपनी कमज़ोरी का पता खूब था। जैसा कि अब से करीब छ साल बाद इन्द्रनाथ मदान को लिखे हुए अपने एक ख़त में उन्होने कहा था — 'नही, मैं कभी जेल नही गया। मैं कर्मक्षेत्र का आदमी नही हूँ। मेरी रचनाओ ने कई बार सत्ता को कुपित किया है।' सब के पास अभिव्यक्ति का अपना माध्यम होता है। लेकिन वह पूरी बात नही है। परिस्थिति की विवशता भी कोई चीज होती है। कच्ची गृहस्थी है। खुद ही कमानेवाले है, काम किये बिना दो रोज भी खाने का ठिकाना नही है। ऐसे में यही ठीक है कि तेली के बैल की तरह जुते रहो, और लिख-पढकर जितना कुछ कर सको, करो। बुरा भी क्या है, सब काम सबके करने के नही होते। जिससे जो बन सके वही उसका काम है।

लेकिन कौम की जिन्दगी में ऐसे भी मौके आ जाते है जब ये सब बाते मन को समझाने की दलीले जान पडने लगती है। जैसे-जैसे आन्दोलन मे तेज़ी आ रही थी वैसे-वैसे सकल्प-विकल्प की ये स्थितियाँ अधिकाधिक सामने आने लगी थी और तब पति-पत्नी में अक्सर इस बात को लेकर बहस छिडती कि कौन जेल जाये और कौन घर को सँभाले। इस पर दोनो एकमत थे कि एक न एक को जेल जाना ज़रूर चाहिए। सब घरो से लोग जा रहे है तो क्या हमी सबसे फिसड्डी,

सबसे गये-बीते है ! बाल-बच्चे सभी के है । सबकी अपनी-अपनी मजबूरियाँ है । पैसेवाले लोग कितने है । ज्यादातर हमी जैसे लोग है, फाकेमस्त, घर में भूनी भाँग नही । मगर तब भी जा रहे है । घर में कोई बडा लडका होता तो उसी को जेल भेजकर अपना कोटा पूरा कर देते । वह भी बात नही है । जाना हमी दो में से एक को है । मुशीजी को शिवरानी जाने न देना चाहती — घर का क्या होगा, अस्सी रुपये महीने का भी तो डौल नही है और फिर इनकी सेहत क्या जेल जाने की है ! न जाने क्या काठ-कबाड खाने को दे, बीमार आदमी, जैसे तैसे तो जान बची है अभी, रक्खा है परहेजी खाना वहाँ, शायद ही फिर घर का मुँह देखना नसीब हो !

गरज कि इसी हैस-बैस में बेचारे पडे थे और उधर मुल्क तेजी से एक नये सघर्ष की ओर जा रहा था ।

और मुशीजी की जिन्दगी अपने उसी बँधे-टके रास्ते पर चली जा रही थी — घर से नरही, माधुरी दफ्तर, और नरही से घर । दस बजे जाना, पाँच-छ बजे लौटना, और वहाँ सारे दिन माधुरी के अलावा और भी दुनिया भर के अगडम-बगडम काम (सयोग से एक डायरी में ये कुछ टीपने मिल गयी है, ठीक उन्ही दिनो की जब साइमन कमीशन आया हुआ था ।) —

● ११ फरवरी — 'घरेलू गणित' की पाण्डुलिपि पढी और उस पर रिपोर्ट दी ।

'मैनुअल ग्रामर' का एक इश्तहार लिखा ।

माधुरी सिरीज़ के लिए एक प्रस्ताव तैयार किया ।

'सैरे कोहसार' के दो पन्ने तर्जुमा किये ।

१२ फरवरी — इतवार ।

१३ फरवरी — करीब तीन पेज रूपान्तर किया । विचारदास को 'बीजक' के लिए खत लिखा । बुकडिपो के लिए कुछ इश्तहारो को शोधा । 'फूल में काँटा' के कुछ पन्नो का सशोधन किया । 'भारत कथा कौमुदी' के चित्र ब्लाक डिपार्टमेण्ट को भेजे ।

१४ फरवरी — 'फूल में काँटा' के १५ पृष्ठो का सशोधन किया । 'कोहसार' के २ पन्नो का रूपान्तर किया ।

१५ फरवरी — 'फूल में काँटा' के १६ पृष्ठो का सशोधन किया । लाइब्रेरी में भेजने के लिए ढेरो किताबे आ गयी थी । टेक्स्ट बुक कमेटी के पास भेजने के खयाल से उनकी विषयवस्तु देखी ।

१८ फरवरी — सारे दिन उन्ही पुस्तकालयोपयोगी पुस्तको को देखने में लगा रहा । चौदह थी । उनकी विषयवस्तु देखनी थी और उनका साराश तैयार करना था । ..

२४ फरवरी — २० पेज 'फूल में काँटा' का सशोधन किया ।

लडकियो के उपयोग की कई पुस्तको का साराश देते हुए डी० पी० आई० को खत लिखा । कहानियो के साथ ब्लाक लगाकर 'भारत कथा कौमुदी' प्रेस को दी । ●

इन्ही सब ऊट-पटाँग कामो को देखकर जो मुशीजी पर लाद दिये गये थे और जिन्हे वह सर भुकाये ढोते चल रहे थे, मिर्जा मुहम्मद अस्करी, जो उनके साथ वही नवलकिशोर प्रेस में काम करते थे, अक्सर मजाक में कहा करते थे — देखिए घुडदौड का घोडा इक्के और ताँगे में जुते तो कैसा चलेगा ! लेकिन जब उन्ही टेक्स्टबुको की उर्दू पर नजर डालने के लिए अस्करी साहब से कहा गया तो मुशीजी ने भी मौका ताककर रद्दा कसा — मिर्जा साहब, अब फुट से जोडी हो गयी !

टेक्स्टबुके तैयार करना ही नही, उनको कोर्स में लगवाने का काम भी मुशीजी के सुपुर्द कर दिया गया था और इसके सिलसिले में गरीब को अक्सर दूसरे शहरों की खाक छाननी पडती थी, कभी बनारस तो कभी कानपुर, कभी पटना तो कभी नैनीताल — और यह सब माधुरी के सम्पादकीय काम के अलावा । लेकिन मुशीजी के चेहरे पर शिकन न थी । अस्करी साहब लिखते है — 'मैने उनको दो-तीन बरस के दौरान में हमेशा हँसमुख पाया । उनका चेहरा हमेशा खिला रहता था । कभी गुस्सा उनके चेहरे पर न देखा । कभी-कभी मै उनसे मजाक मे कहता था कि क्यो साहब, क्या आपको कभी गुस्सा नही आता ? क्या आप घर में भी कभी गुस्सा नही करते ? इस पर वह हमेशा हँस देते थे । .. गो माधुरी का दफ्तर एक कमरे में कोठे पर था मगर मुशी साहब की और माधुरी के स्टाफ के कुछ लोगो की बैठक मेरे कमरे से लगे हुए एक कमरे में होती थी । .. मुशी साहब की ज़िन्दादिली, नेकी और हँसोडपन से उनके तमाम साथी जो कमरे में बैठते थे, बेहद खुश थे । उनके कहकहो की आवाज से कमरा गूँज जाता था और एक रोशनी-सी फैल जाती थी । जब मैं अपनी किताब 'नवादिर' लिख रहा था तो उसके लतीफे कभी-कभी उनको भी सुनाता था । एक मर्तबा मैंने एक मुअ-ज्जिन का लतीफा सुनाया जो अजान देते वक्त दूर भागता जाता था और जब उससे पूछा गया कि यह क्या हरकत है तो उसने जवाब दिया कि अपने अजान की आवाज मै भी सुनना चाहता हूँ कि दूर से कैसी मालूम होती है । इस लतीफे को सुनकर मुशीजी साहब इतना हँसे कि आँखो में आँसू आ गये ।'

'निर्मला' धारावाहिक रूप से 'चाँद' में निकलकर बेहद कामयाब हुई थी, फिर 'प्रतिज्ञा' निकली जो उतनी कामयाब नही हुई, और अब 'गबन' की तैयारी हो रही थी । निम्न मध्यम वर्ग का सहज जीवन, उसी की सहज कथाएँ, उन्ही के नैतिक-सामाजिक प्रश्न । अब एक नया अग्नि-ज्वार उठ रहा था जिसका सस्पर्श चेतना को, रचना को एक नया सस्कार, एक नयी दिशा देगा । अभी तो वही रोज

की दिनचर्या, दफ्तर और घर, और सबेरे-शाम कुछ लिखना-पढना, न कही जाना न कही आना, न कोई खास मेल-मुलाकात। बम वही दो-चार दोस्त थे। उन्ही के साथ उठ-बैठ लेते थे।

एक तो जैसे घर में ही थे — हरिनन्दन भट्ट, उनकी पत्नी और माल-डेढ साल की उनकी बच्ची कुमुम जिसे मुशीजी बहुत चाहते थे। उसी घर से लगे हुए बरावर के हिस्से मे यह लोग रहते थे और उनसे घरोपा होने मे जरा भी देर न लगी। बेहद भले, बेहद मुहब्बती लोग थे और तब जिस दोस्ती की शुरूआत हुई वह आज तक उसी तरह जिन्दा है और किसो भी खून के रिश्ते से ज्यादा मजबूत साबित हुई। हरिनन्दन घर के बाकी बच्चो की तरह मुशीजी को बाबूजी कहते थे, उनकी पत्नी अम्माँजी की बहू थी, और कुसुम घर भर का खिलौना थी। उसी साल हरिनन्दन ने मेडिकल कालेज से प्रथम श्रेणी मे प्रथम स्थान पाकर एम० बी० बी० एस० पास किया था और उन्हे हाउस सर्जन बनाया गया था।

दूसरे एक हकीम साहब थे। हकीम उनका नाम था, पेशे से वह चित्रकार थे। पहले 'सुधा' के स्टाफ आर्टिस्ट हो गये थे। बाँस की तरह लबे और पतले-से आदमी थे, और वैसा ही सुता-हुआ, लबा-सा दुबला-पतला चेहरा था। आँखो में बडी नर्मी बडी घुलावट थी। मुशीजी पर जान देते थे, और मुशीजी भी उन्हे बेहद चाहते थे। तग मोरी का पाजामा, अचकन, तुर्की टोपी — वजा-कता से हकीम साहब ठेठ मुसलमान थे। रोजे-नमाज के भी शायद काफी पाबन्द थे। लेकिन हेरत है कि मजहबी तगदिली या कट्टरपन उन्हे छू भी नही गया था। उनका मजहब अपनी जगह पर था, और मजबूती के साथ था, लेकिन उससे भी बडा जो इन्सानियत का मजहब है, उसके लिए भी उनके कान बहरे न थे और न दोनो में उन्हे कोई बैर दिखायी पडता था। सौ गज़ पर उनका घर था, अक्सर शाम को चले आते। बच्चे भी उनसे बहुत खुश रहते थे — हाथी-घोडा, ऊँट-बन्दर, जब जो बनवाना हो जाकर बनवा ले आओ।

तीसरे एक निगम साहब थे, कृपाशकर निगम। उनसे भी यही दो-तीन साल की मुलाकात थी, लेकिन इतने ही दिनो में दोनो की चूल खूब बैठ गयी थी। पुराने विधुर थे। जवानी मे ही पत्नी-वियोग हो गया था, लेकिन दुबारा ब्याह नही किया और न शायद कोई सन्तान ही थी। बिल्कुल अकेले रहते थे। बहुत ही नेक, बहुत ही मीठे, बहुत ही समझदार आदमी थे। साँवला रग था, मझोला कद, मामूली छरहरा जिस्म। इन्तहाई सादगी से रहते थे, न पान की लत थी न सिगरेट की। वही जुबिली कालेज में पढाते थे। लाटूश रोड पर मकान था। मुशीजी अक्सर उनके यहाँ पहुँच जाते थे। दोनो में यह जो दोस्ती थी उसके लिए निगम साहब का साहित्यरसिक होना ज़रूरी नही था, पर वह साहित्यरसिक थे और उनके साथ बैठकर साहित्यचर्चा करना मुशीजी को बहुत अच्छा लगता था।

उन्ही के यहाँ कभी-कभी बेदार साहब और दो-एक और मित्रो को लेकर महफिल जमती । बेदार कुछ जमाने के लिए नवलकिशोर प्रेस में नौकर भी हो गये थे और टेक्स्टबुक कमेटियो के मेम्बरो के यहाँ हाजिरी बजाने के लिए मुशीजी के साथ दौरो पर भी निकलते थे । शौकीन, रँगीली तबीयत के आदमी थे, बाद को गेरुआ बाना पहन लिया पर उस वक्त तो काफी लती पीनेवाले थे । गजले टूटी-फूटी कहते थे, मगर पीने में वह बडे से बडे शायर से टक्कर ले सकते थे । अपने और दूसरो के बहुत से शेर उनको याद थे, लिहाजा महफिल जम जाती और मुशीजी भी कभी-कभार उनमें शरीक हो लेते । इनमें वह बात कहाँ जो बीस-बाईस बरस पहले मुशी दयानरायन निगम के घर पर कानपुर में उन सोहबतो में थी जिनकी रौनक मुशी नौबतराय ' नजर ' और मुशी दुर्गासहाय ' सरूर '-जैसे लोगो की जात से थी । वह रग अब सब उड गये थे, नशा उतर गया था, उम्र ढल चली थी, परीशानियाँ बढ गयी थी, मगर खैर, अपना एक मजा तो उनमें था ही ।

लत तो दूर की बात है, मुशीजी को पीने का चस्का भी न था, लेकिन सोहबत में बैठने पर कभी-कभी लगाम आप ही आप ढीली हो जाती और मुशीजी ना ना करते हुए भी पेग दो पेग चढा जाते । ऐसी ही एक सोहबत में एक रोज मुशीजी को रात घर पहुँचने में काफी देर हो गयी । दरवाजा बन्द हो चुका था और पत्नी शाम से ही सर लपेटे सोती-जागती-सोती पडी थी, दोनो कानो में फुडियाँ निकली हुई थी । उनको छोडकर घर मे बस बच्चे थे — बडी बेटी और उसके दोनो छोटे भाई । उनकी भी आँख लग गयी होगी । गरज कि मुशीजी को दरवाजा खुलवाने में काफी मुशकिल हुई और दरवाजा खुलते ही मुशीजी बच्चो पर बरस पडे । नशा चढा हुआ था ।

मा सर लपेटे पडी थी, कान में थोडी-सी भनक उनको भी पडी । बेटी को बुलाकर उन्होने पूछा — बेटी, घर में कोई कुत्ता घुस आया है क्या ? बेटी ने कहा — कुत्ता नही है अम्माँ, बाबू जी है, हमको धुन्नू को बिगड रहे है । शराब पीकर आये है । मुँह से बदबू आ रही है ।

यह सुनकर तो अम्माँ की आँखे कपार पर चढ गयी और वह उठने को हुई कि जाकर जरा अच्छी तरह खरी-खोटी सुनाये लेकिन बेटी ने रोक दिया और वह भी न जाने क्या सोचकर रुक गयी, चादर मुँह से ओढ ली और करवट बदल-कर फिर सो गयी ।

अगले दिन सबेरा होने के साथ मुशीजी की लानत-मलामत हुई और कसकर हुई । नशा तो रात को ही उतर चुका था, अब उस नशे का खुमार भी हिरन हो गया । मुशीज। ने कान पकडा कि अब फिर कभी ऐसी गलती नही करूँगा ।

एक पखवारा भी नही बीतने पाया था कि फिर वही गलती कर बैठे, दोस्तो की महफिल में कहाँ खयाल रहता है ऐसे सब वादो का . और अब फिर वही

बन्द दरवाजा सामने था और मुशीजी दस्तक दे रहे थे और दरवाजा बन्द का बन्द था। सिद्धान्त-गरिष्ठ पत्नी ने उन्हे सबक देने का फैसला कर लिया था — जायें वही मरदूदो के यहाँ जिनकी सगत मे बैठकर

उनका बस चलता तो मुशीजी को शायद वह रात बाहर सडक पर ही गुजारनी पड जाती लेकिन खैरियत हुई कि बच्चो की मामी उन दिनो आयी हुई थी, उन्होने अपनी ननद की सुनी-अनसुनी करके दरवाजा खोल दिया। रात को मुशीजी को तीन-चार कै भी हुई (या तो ज्यादा पी गये थे बातो-बातो में या मेदे में कतई बर्दाश्त न थी) लेकिन पत्नी पास नही फटकी। हाँ, अगले रोज फटकार उन्होने खूब कसकर सुनायी। मुशीजी कान दबाये सुनते रहे और इस बार जो उन्होने कसम खायी तो फिर शायद कभी लाल परी को मुँह नही लगाया।

साइमन कमीशन को लेकर देश में जो कुछ हुआ था वह तो दो पहलवानो का अखाडे में उतरकर, मिट्टी लेकर एक-दूसरे से हाथ मिलाने जैसा था, असल कुश्ती शुरू होने मे अभी थोडी देर थी। हिन्दुस्तानी पहलवान का जी बेतरह पक गया था और गोरा पहलवान अपनी ताकत के नशे मे चूर घमण्ड से सिर उठाये खडा था और जोर-जोर से उसकी मालिश चल रही थी।

इन्ही दिनो की बात है। जाडे के दिन थे। शायद बडे लाट की सवारी आयी थी। एक रोज मुशीजी ने दफ्तर से लौटकर कहा — आज लखनऊ में कोई चालीस हजार रुपया आतिशबाजी और रोशनी में खर्च होगा।

पत्नी बोली — किसको फालतू पैसा मिला है जो इस कदर बेरहमी से खर्च कर रहा है?

मुशीजी ने कहा — खर्च कौन कर रहा है? मै पूछता हूँ चलोगी देखने? चाहो तो बच्चो को लेती चलो, सब को दिखला दो।

पत्नी ने पूछा — आप चलेंगे?

मुशीजी बोले — हाँ, क्यो नही चलूँगा, गरीबो का घरफूंक तमाशा देखा जायगा

पत्नी का समाधान न हुआ। उन्होने पूछा कि आखिर इस सब के लिए पैसा कहाँ से आता है।

मुशीजी ने कहा — जो राजे-महाराजे हर साल यहाँ आते है वे कुछ न कुछ इसीलिए यहाँ रखते जाते है कि जब-जब वाइसराय और युवराज यहाँ पधारे तो वह उनके स्वागत मे खर्च हो। और जो कमी पडती है वह तुम्हारे यहाँ के काश्तकारो से वसूल की जाती है। उन गरीबों के खून की कमाई कूडा-घास की तरह आतिशबाज़ी में फूंक दी जाती है। जिस मुल्क के आदमी की कमाई औसत छ पैसे रोज हो, उस मुल्क में किसी को क्या हक है कि एक-एक शहर में चालीस-चालीस और पचास-पचास हजार रुपया आतिशबाजी में फूंका जाय? जहाँ पर

तन ढँकने को कपडा न हो, दोनो जून रूखी रोटियाँ भी न मिले, उस मुल्क में इस बेरहमी से पैसा फूँका जाय और इसलिए कि वाइसराय साहब खुश होगे और इन मोटे आदमियो को खिताब देगे ।

और मजाक तो देखिए कि इन्ही दिनो खुद मुशीजी को रायबहादुरी का खिताब देने का एक शुक्का गवर्नर मैल्कम हेली की तरफ से छोडा गया । किसी दोस्त के मार्फत गवर्नर साहब की यह ख्वाहिश सर सीताराम ने मुशीजी तक पहुँचायी लेकिन मुशीजी ने बडी नर्मी से यह कहकर इनकार कर दिया कि मै तो जनता की रायबहादुरी का भूखा हूँ ।

लेकिन अभी तो हम आतिशबाजी का तमाशा देखने जाने की बात कर रहे थे ।

इसी बातचीत की रौ में उनकी पत्नी ने पूछा — ' जब स्वराज्य हो जायगा तब क्या चूसना बन्द हो जायगा ? ' मुशीजी ने जवाब दिया — 'चूसा तो थोडा-बहुत हर जगह जाता है । यही शायद दुनिया का नियम हो गया है कि कमजोर को शहजोर चूसे । हाँ, रूस है जहाँ पर कि बडो को मार-मारकर दुरुस्त कर दिया गया, अब वहाँ गरीबो को आनन्द है । शायद यहाँ भी कुछ दिनो के बाद रूस जैसा ही हो । ' पत्नी ने शका की — ' तो क्या रूसवाले यहाँ भी आयेगे ? ' मुशीजी ने समाधान किया — ' रूसवाले यहाँ नही आयेगे, बल्कि रूसवालो की शक्ति हम लोगो में आयेगी । '

मुशीजी का मन बहुत दुखी था, लेकिन क्या करते, बच्चो के पीछे जाना पडा । सारा घर आतिशबाजी देखने गया । सब लोग तो खुश-खुश आतिशबाजी देख रहे थे, मुशीजी एक किनारे अनमने-से बैठे थे और उनके चेहरे पर उनके दिल की तकलीफ लिखी हुई थी । एकाध घटे के बाद सबको वापस ले आये । लडके नही आना चाहते थे, मुशीजी बोले — मेरे सर में दर्द हो रहा है ।

उनका जी बहलाने को पत्नी ने एक रोज कहा — आप तो अपना दूना नुकसान कर रहे है । एक तो आतिशबाजी में रुपया फूँका जाय और आप रात-दिन उसकी चिन्ता करे । लोग बडे मजे की कहावत कहते है —

रहिमन चुप ह्वै बैठिए देखि दिनन को फेर ।
जब नीके दिन आइहै बनत न लगिहै बेर ।।

इसके जवाब में मुशीजी ने कहा — यहाँ तुम्हारे जैसे दिमाग के आदमी रहे होगे तभी तो यहाँ की आजादी छिनी होगी । मुझे तो लक्ष्मण जी की एक चौपाई बहुत अच्छी लगती है —

कायर मन कर एक अधारा ।
दैव दैव आलसी पुकारा ।।

२४

इन्ही दिनो नवलकिशोर प्रेस की वह पँचमेल लादी ढोते हुए, मुशीजी को २८ मई १९२८ को पडित बनारसीदास चतुर्वेदी का पत्र मिला —

● माडर्न रिव्यू के जून के अक में, जो दो-तीन दिन बाद निकल जावेगा, आपकी कहानी छप गयी है। हार्दिक बधाई देता हूँ।

कहानी की भाषा को ठीक करने के लिए मुझे मि० एण्ड्रूज को कष्ट देना पडा था श्री रामानन्द बाबू से भी मैने यह कह दिया था कि यदि वे ठीक समझे तो छापे, नही तो मुझे वापिस दे दे। पहले उनका यह सन्देश आया था, 'प्रेमचदजी की सर्वोत्तम कहानी हम पहले छापना चाहते है और यह कहानी छपने योग्य होने पर भी प्रेमचद की कीर्ति के प्रति न्याय नही करती।' इस पर मैने यही कहला भेजा कि आप इसे न छापिए, दूसरी मै चुनकर भिजवाऊँगा। रामानन्द बाबू के सुयोग्य पुत्र अशोक चटर्जी ने, जो केम्ब्रिज के बी० ए० है, मुझसे कहा है कि मै स्वय आपकी गल्पो का अनुवाद करूँ और वे (अशोक बाबू) उसे ठीक कर लेगे। पर मुझे आपकी कहानियो का अनुवाद करने की हिम्मत नही पडती क्योकि जैसी बढिया हिन्दी आप लिखते है मै उतनी तो क्या उसका दसवाँ हिस्सा अच्छी अग्रेजी नही लिख सकता।

मै उस दिन का स्वप्न देख रहा हूँ जब कि किसी हिन्दी गल्पलेखक की कहानियो का अनुवाद रशियन, जर्मन, फ्रेच इत्यादि भाषाओ में होगा। यदि आप ही को यह गौरव प्राप्त हो तब तो बात ही क्या है! मेरे हृदय में आपके प्रति श्रद्धा इसलिए है कि आप दूसरी भाषावालो को कुछ देकर हिन्दी का माथा ऊँचा कर सकते है। बँगला इत्यादि से दान लेते-लेते हमारा गौरव बढ नही रहा। ●

और फिर हाशिये पर लाल स्याही से मि० एण्ड्रूज का सन्देश —

'मि० एण्ड्रूज ने मुझसे कहा था कि प्रेमचदजी को लिख भेजना कि अग्रेजी में उनकी गल्प के अनुवाद के प्रकाशित होने पर मैं उनका अभिवादन करता हूँ।'

पन्द्रह दिन के भीतर, १० जून को, उन्होने फिर खत लिखा, इस बार अग्रेजो मे —

● अपनी सभी किताबे — यानी उपन्यास और कहानियाँ सब — मेरे मित्र

मि० ताराचद राय, प्रोफेसर आफ हिन्दी बर्लिन युनिवर्सिटी के पास भेज दीजिए। मि० राय को जर्मन भाषा पर अद्भुत अधिकार प्राप्त है। यही पर मैं इतना और बतला दूँ कि वह टैगोर की जर्मनी-यात्रा में बराबर उनके दुभाषिए रहे। मि० राय हमारे सर्वश्रेष्ठ लेखको की कहानियो का अनुवाद करना चाहते है और मैंने उनसे कहा है कि आप से शुरू करे। कितनी खुशी होगी मुझे आपकी कहानियो को जर्मन में देखकर, गो मैं एक शब्द नही जानता उस भाषा का! मिस्टर राय को आपके जीवन के एक छोटे से स्केच की भी जरूरत होगी। प्रोफेसर गौडवाला मुझे अच्छा नही लगता। उसमें आत्मीयता नही है। क्या आप मुझे अपने जीवन के बारे में कुछ नोट्स देगे? मि० गौड ने विद्वान आलोचक की तरह लिखा है। मेरे पास उनकी विद्वत्ता नही है। मैं आपको आदमी के रूप मे जानना चाहता हूँ। अपना एक अच्छा चित्र भी भेजिए

मैं १९१६ से ही आपकी कहानियो का एक तुच्छ प्रशसक रहा हूँ जब कि मैने आपकी एक किताब, नवनिधि, चीफ्स कालेज इन्दौर मे, जहाँ मैं छ साल अध्यापक रहा, पाठ्यपुस्तक के रूप में लगायी थी। मिस्टर राय ने मुझको लिखा है कि अब तक किसी हिन्दी पुस्तक का अनुवाद जर्मन मे नही हुआ। इसका मतलब है कि आपकी कहानियाँ पहली चीज होगी! है न शानदार बात? मै आपकी कहानियाँ जर्मन में देखने के लिए बेचैन हो रहा हूँ। ●

जर्मन का तो जिक्र ही क्या अंग्रेजी में भी अब तक मुशीजी की इक्का-दुक्का कहानियो का ही अनुवाद हुआ था, जिनमें से एक कहानी 'तारा' थी जिसका अनुवाद राजेश्वरप्रसाद सिंह ने, जो तब एक उदीयमान कहानीकार थे और ससुराल के रिश्ते से मुशीजी के सबधी भी, 'ऐक्ट्रेस' के नाम से करके 'लीडर' में छपाया था और मुशीजी बहुत खुश हुए थे और एक जमाने तक उसकी और वैसे ही दो-एक और तर्जुमो की कतरन बहुत सँभालकर रक्खे रहे थे।

और अब तो यह एक नयी दुनिया खुल रही थी, यश का सौरभ सात समदर पार उधर जर्मनी इधर जापान पहुँच रहा था

जापान से भी इन्ही दिनो एक खत आया था। केशोराम सब्बरवाल नाम के एक हिन्दुस्तानी थे, पजाबी, क्रान्तिकारी, जो पुलिस की नजर बचाकर निकल भागे थे और तेरह साल से वही बसे हुए थे। जापानी भाषा बहुत अच्छी सीख ली थी और एक बहुत नामी-गरामी पत्र में काम करते थे। मुशीजी ने बडी तत्परता से उन्हें जवाब दिया और चिट्ठी-पत्री का सिलसिला कायम हो गया।

२ अगस्त १९२८ को सब्बरवाल ने टोकियो से लिखा —

● . आपकी पहली कहानी जिसका अनुवाद मैंने किया 'मर्यादा की वेदी' है। मेरी आशा के विपरीत वह बिल्कुल असफल रही। जापान की किसी प्रथम श्रेणी की पत्रिका ने उसे स्वीकार नही किया। उसमें भारतीय इतिहास और

राष्ट्रीय भावना बहुत है जिसमें जापान के पाठक-समाज को रुचि नही है।

उसके बाद मैंने 'मुक्तिमार्ग' को लेकर अपनी तकदीर आजमायी और जब वह जून के महीने में टोकियो के 'काइजो' (पुर्ननिर्माण) पत्रिका में छपी तो एक तहलका-सा मच गया। काइजो जापान की ही सर्वश्रेष्ठ पत्रिका नही, उसकी गिनती ससार की सर्वश्रेष्ठ पत्रिकाओ मे होती है। इस देश में यह एक सम्मान की, बहुत बडे सम्मान की, बात समझी जाती है कि काइजो किसी की रचना को स्वीकार कर ले। काइजो की हर महीने एक लाख प्रतियाँ बिकती है।

एक छोटी-सी भूमिका भी उसके साथ गयी है जो मि० सातो हार्नो ने लिखी है। मि० सातो आधुनिक जापान के पाँच महान् उपन्यासकारो में से एक है।

कहानी का बहुत अच्छा स्वागत हुआ और आलोचको ने भी उसकी प्रशसा की। जापानियो को चेखोव और टाल्सटाय बहुत पसन्द है और इसीलिए उनको दो किसानो का यह झगडा, जिसका अन्त इस सुन्दर ढग से हुआ है, बहुत अच्छा लगा। इतना ही नही, इससे उनको भारत के ग्रामीण जीवन और भारतीय चरित्र की भी थोडी-सी अन्दरूनी झाँकी मिल जाती है। 'जमाना' के जुबिली नम्बर में आपकी एक बेहतरीन कहानी है। दो रोज हुए मैंने 'जमाना' मिलते ही 'मत्र' पर काम करना शुरू किया और अभी अनुवाद का काम चल ही रहा था कि 'विशाल भारत' यहाँ-वहाँ थोडे से हेरफेर के साथ इसी कहानी को लिये हुए आया।

मैंने उर्दू पाठ के अनुसार काम किया है, बस इन कुछ शब्दो को छोडकर — यहाँ तो भगत की चारो ओर तलाश होने लगी, और भगत लपका हुआ घर चला जा रहा था कि बुढिया के उठने से पहले घर पहुँच जाऊँ। रेखाकित शब्दो ने सारे कथानक में एक जादू-सा डाल दिया है। मगर इस साफगोई के लिए माफ कीजिएगा, मुझे 'विशाल भारत' में छपी कहानी के अन्त के तीन पैराग्राफ अच्छे नही लगे। मेरे जापानी सहयोगी, जो कोई छोटे लेखक नही है, उनकी भी यही राय है कि इन तीन पैराग्राफो ने रेखाकित शब्दो के भीतर छिपी हुई सुन्दरता को उघाडकर चौपट कर दिया है।

'मत्र' अब भी मेरे मित्र मि० सातो के यहाँ पडी है। वे उसे पढ गये है और शायद जल्दी ही उसे टोकियो की किसी प्रतिष्ठित साहित्यिक पत्रिका मे प्रकाशित करवाने की युक्ति करेंगे। ... उनकी राय में यह कहानी मास्टरपीस है। ●

ताराचद राय साहब को भी 'मत्र' कहानी के अन्त पर आपत्ति थी। १७ अक्तूबर १९२८ को बनारसीदास चतुर्वेदी ने लिखा —

"ताराचद राय को आपकी 'मत्र' कहानी बहुत अच्छी लगी लेकिन उनकी

राय है कि कहानी 'एक चिलम तमाखू का भी रवादार न हुआ' पर खत्म हो जानी चाहिए।''

यह सब मन की खुशी के लिए अनमोल सामान था लेकिन एक लापरवाही थी और उससे भी ज्यादा एक लजीलापन, जो पीछे से दामन पकडकर खीचता रहता था। मुशीजी चुप्पी साधे बैठे रहे। न उन्होने अपनी तस्वीर खिचवायी न अपना जीवन-वृत्त लिखा और न किताबे ही जर्मनी भिजवायी। आखिरकार २७ नवम्बर १९२८ को ताराचन्द राय ने लिखा — 'पडित बनारसीदास चतुर्वेदी ने एक बार मुझको लिखा था कि उन्होने आपसे अपनी हर पुस्तक की एक-एक प्रति मुझको भेजने का अनुरोध किया है। मुझे खेद है कि अब तक आपने मुझको कुछ खबर नही दी। मैं यह कहने की जरूरत नही समझता कि आप आधुनिक युग के सबसे महान् हिन्दी लेखक है। आपने आज के जीते-जागते हिन्दुस्तान को वाणी दी है। आपने हमारी मातृभूमि की जीवन-मरण की समस्याओ पर अपनी विराट् मनीषा का आलोक फेका है।' फिर अपने बारे में लिखा — 'मैं अभी-अभी वीसबेडन से लौटा हूँ जहाँ मुझे एक बडे हाल में पन्द्रह सौ श्रोताओ के आगे भारतीय सस्कृति पर बोलने के लिए आमत्रित किया गया था। वीसबेडन जर्मनी के प्रसिद्धतम स्वास्थ्य केन्द्रो में से है। मुझे आपको यह बतलाते हुए हर्ष होता है कि मेरा व्याख्यान बहुत सफल रहा। दिसम्बर में मुझे राइनलैण्ड मे बोलने के लिए आमत्रित किया गया है।'

यह क्या छोटी बात है कि ऐसे अच्छे-अच्छे लोग मेरी कहानियो को दूर देशो में फैला रहे है? और न मुशीजी में यह पाखण्ड ही था कि भीतर-भीतर तो फूलकर कुप्पा हो जाते और बाहर से दिखलाते कि जैसे कुछ हुआ ही नही। सब्बरवाल का खत मिलने के कुछ ही रोज बाद २९ अगस्त को मुशीजी ने अपने अन्तरग सखा शिवपूजन जी को, जिनसे उन्हे डाह का भय न था, लिखा — 'आपको यह सुनकर आनन्द होगा कि मेरी कई कहानियो के जापानी भाषा में अनुवाद प्रकाशित हुए है और वहाँ की सर्वश्रेष्ठ पत्रिका में प्रकाशित हुए है। जापानी जनता ने उनका वही सम्मान किया है जो टाल्सटाय और चेखोव की कहानियो का करते है। पत्रो में खूब चर्चा रही।'

खुद सब्बरवाल को उन्होने लिखा — 'आपने मेरे बारे में जो सौहार्दपूर्ण बातें कही है उनसे मैं बहुत गौरवान्वित हुआ हूँ। किसी लेखक के लिए सुधीजनो की प्रशसा से अधिक काम्य वस्तु और क्या हो सकती है। जापानी जनता से परिचित कराया जाना मै अपने लिए सम्मान की बात समझूँगा, पर मुझे भय है कि जीवन का मेरा चित्रण उन्हे न भायेगा। उन्नत जापान को देने के लिए एक गरीब हिन्दी लेखक के पास क्या है।'

चिट्ठी-पत्री का सिलसिला फिर साल भर कुछ ढीला रहा। ३ सितम्बर

१९२९ को मुशीजी ने शायद सब्बरवाल की आपत्ति का समाधान करते हुए लिखा —'इधर माधुरी और विशाल भारत मे मेरी जो कहानियाँ छपी है उनमे से कोई आपको अच्छी लगी ? हो सकता है कि उनकी उद्देश्यात्मकता आपको अच्छी न लगे, लेकिन जब तक हिन्दुस्तान विदेशी जुए के नीचे पडा कराह रहा है वह कला के उच्चतम शिखरो पर नही पहुँच सकता । यही पर एक गुलाम देश और एक आजाद देश के साहित्य में अन्तर आ जाता है । हमारी सामाजिक और राजनीतिक स्थितियाँ हमको विवश करती है कि हम जब भी मौका पायें कुछ शिक्षा दे । भावना जितनी ही प्रवल होती है रचना उतनी ही शिक्षा-परक हो जाती है । नौजवान लेखक इस मामले में सबसे बडे पापी है । अपने युवकोचित उत्साह में वे कला के सिद्धान्त भूल जाते है । वे क्षम्य नही है क्या ?'

और फिर ५ दिसबर १९२९ को सब्बरवाल ने लिखा —

● जापान के लोग आपकी रचनाओ के बडे प्रशसक है । खेद यही है कि उन्हे आपकी रचनाएँ अपनी भाषा में पढने के लिए काफी नही मिलती ।

डा० टैगोर इस साल दो बार यहाँ आये थे, अमेरिका जाते हुए और अमेरिका से लौटते हुए । मै प्राय हर रोज उनके साथ रहा, क्योकि वह सदा से मेरे ऊपर असाधारण रूप से कृपालु रहे है । लेकिन, मेरी तुच्छ बुद्धि में, जापान में आपकी रचनाओ का मान डा० टैगोर की रचनाओ से अधिक होगा । पहली बात तो यह है कि जापानियो ने गुरुदेव का लिखा बहुत कुछ पढा है और वे उनसे भिन्न कुछ पाना चाहते है और फिर आप में अपनी एक खास बात है जो हिन्दुस्तान के दूसरे किसी लेखक के पास नही है और जो जापानियो के स्वभाव का खास तौर पर भाती है । . ●

२५

अवध उपाध्याय की उछलकूद, फिर कुछ और महानुभावो की पैतरेबाजियाँ करीब साल भर तक, और फिर पडित मोटेराम शास्त्री की कानूनी लडाई — गरज कि इस 'ब्राह्मणद्रोही' का वध करने के लिए कुछ उठा नही रखा गया। लेकिन वह भी एक ही चीमड, सख्तजान आदमी था जो न तो मारा ही जा सका इस व्यूह-रचना से और न जिसने एक दिन के लिए अपने रास्ते से इधर-उधर होना स्वीकार किया।

आखिर जब कोई उपाय न चला तो एक बगाली ब्राह्मण-कुमार ने, किसी अज्ञात दैवी प्रेरणा से, मुशीजी को शास्ति देने का बीडा उठाया! इस ब्राह्मण-कुमार का नाम था कृष्णकुमार मुखोपाध्याय। 'दुबला-सा आदमी, साँवला रग, लबा मुँह, बडी-बडी आँखे, अग्रेजी वेश . ' एक अजब सलोनापन था चेहरे पर, जो देखते ही आँखो में खुब जाता था। बेइन्तहा सिगरेट पीता था। होठ काले पड गये थे। गाता था। हारमोनियम बजाता था। कविताएँ सुनाता था।

मुशीजी दुनिया देखे हुए आदमी थे। तमाम तरह के लोगों से उनका साबका पडता रहता था। किस्से-कहानी लिखना उनका काम था। आदमी के दिल के भीतर उनकी पैठ थी।

कृष्णकुमार मुखोपाध्याय बडे मजे में उनकी किसी कहानी का नायक हो सकता था — भगवान ने उसे सिरजा ही था कथा की पात्रता के लिए। लेकिन वास्तविक जीवन में स्रष्टा और सृष्टि की भूमिकाएँ बदल गयी थी। कहानी होती तो मुशीजी चाहे जैसे इस पात्र को नचाते, लेकिन कहानी नही थी इसलिए वह पात्र मुशीजी को चाहे जैसा नचा रहा था। पहले उसने मुशीजी के दिल में सेध लगायी, फिर उनके घर में।

एक न एक तरह की कमजोरी हर इन्सान के दिल में होती है, और उसी के हिसाब से कोई एक दाँव से चित होता है कोई दूसरे। और दुनिया को उँगलियों पर नचानेवाला कलाकार वही है जो हर आदमी की कमजोरी को समझता है! मुशीजी की नस को भी उसने खूब ही पकडा। नामी-गरामी लिखनेवाले है, इन्सान

के दुख-दर्द की बात करते है, यानी कि दर्दमन्द दिल तो होगा ही होगा, उसी दर्द को जगाने की जरूरत है। लेकिन दाँव ऐसा सटीक बैठना चाहिए कि चित गिरे मुशीजी। लिहाजा बम्बई से चिट्ठी-पत्री का सिलसिला शुरू हुआ। मुशीजी लखनऊ में और उनकी कहानियो का प्रेमी, उन कहानियो से अपने दुखी, पीडित जीवन में शक्ति और प्रेरणा प्राप्त करनेवाला यह आदर्शवादी नवयुवक जो किसी कीमत पर अपने सिद्धातो के साथ समझौता नही करना चाहता, वह बम्बई मे!

मुशीजी को चिट्ठियाँ सँभालकर रखने की आदत न थी, जवाब देते थे और उत्तरित चिट्ठी चिन्दी-चिन्दी करके रद्दी की टोकरी में। लेकिन सौभाग्य से इन श्रीमान् कृष्णकुमार मुखोपाध्याय की कुछ चिट्ठियाँ मुशीजी के कागजो में मिल गयी।

सभी पत्र नही है। शुरू के ही कुछ पत्र नही है। जिनके बगैर कहना मुश्किल है कि साहबजादे ने उँगली कैसे पकडी थी जो बाद को इस तरह पहुँचा पकडा! तो भी काफी शुरू का एक पत्र है जिसमें एक हजार मील दूर बैठे हुए इस गरीब, प्रतिभाशाली, दुनिया के सताये हुए नौजवान ने निहायत टूटी-फूटी, बाबू अंग्रेजी में अपनी गम की दास्तान लिखी थी। कैसे न होती मुशीजी को हमदर्दी ऐसे एक नौजवान से। और जो आदमी आपकी चीजें पढकर ही अपने पैरो पर खडे होना सीख रहा है, उससे कैसे कोई किनाराकश हो जाय! यह गलत बात है, इसानियत से गिरी हुई बात है.

कृष्णकुमार ने २८ अगस्त १६२८ को 'प्रणवीर' नामक पत्र के पैड पर लिखा —

'आपका स्नेहपूर्ण पत्र और तुलसीदास की पाडुलिपि मिली। आपकी शुभ-कामनाओ के लिए मैं हृदय से आपको धन्यवाद देता हूँ। मैं एक ही दो रोज में आपकी इच्छानुसार माधुरी के विशेषाक के लिए लेख भेजूंगा। मैं पत्रिकाओ में लेख लिखता रहूँगा। मैं जानता हूँ कि साहित्यिक क्षेत्र में प्रतिष्ठा पाने का यही रास्ता है।

'मित्रवर, मैं दुखी आदमी हूँ। मेरे कष्टो को समझनेवाला दुनिया में कोई नही है। आपकी अनुज्ञा से आज मैं आपको अपने पिछले जीवन के बारे में बतलाना चाहता हूँ। मेरे भीतर जो कुछ अच्छा या बुरा है (उसकी मुझे परवाह नही है) उसे आज आपको बतलाये बिना मेरा जी नही मानता। खासकर आपको, क्योकि दुनिया में मेरे गिनती के दोस्त है और उस छोटी-सी गोष्ठी के आप मुकुट-मणि है। मैंने आपको कभी देखा नही है मगर पता नही क्यो आपकी तरफ ऐसी दिली कशिश महसूस करता हूँ। कभी-कभी मेरा दिल सचमुच तडपता है कि आपके आलिंगन में पहुँच जाऊँ। और भी स्पष्ट व्याख्या करूँ तो यह एक तरह का प्रेम है और साथ ही असीम आदर, जिसने अपनी जादू की डोर से मुझे बाँध दिया है।

आज मै अपना दिल हल्का करना चाहता हूँ और अपने सीने के बोझ का कुछ हिस्सा उस आदमी को देना चाहता हूँ जिसका मैं सबसे ज्यादा आदर करता हूँ '

साफ झाँसा-पट्टी का खत है — बिल्कुल किस्से-कहानी के रग में रँगा हुआ, जैसे कितने ही खत मुशीजी ने अपने किस्सो में वक्त जरूरत लिखे होगे। लेकिन मुशीजी पूरी तरह उसके चकमे मे आ गये। अपनी रचना के पाठक के प्रति लिखनेवाले के मन में शायद कुछ खास कमजोरी होती है। मुशीजी पर घडो कच्ची का नशा छा गया।

वर्ना क्योकर यकीन कर लिया उन्होने इस कहानो पर जो मुकर्जी ने अपने बारे में लिख भेजी थी —

' मेरे पिता मध्यभारत के एक नगर के चोटी के डाक्टरो में है। उनकी आमदनी बहुत अच्छी है और मै उनका अकेला बेटा हूँ। मेरे एक चाचा भी है जो अच्छे खासे पैसेवाले भी है और निस्सतान है। मै जब छोटा-सा था तभी से वह और उनकी पत्नी मुझे बहुत प्यार करती रही, और मै जैसे-जैसे बडा हुआ, मेरे लिए उनका प्यार भी बढता गया। चाचा का मेरे प्रति यह प्यार देखकर सबको विश्वास हो गया कि वह अपनी बहुत धन-सपत्ति मुझे वसीयत कर जायँगे।

' मेरे चाचा का एक मकान कलकत्ते में था जहाँ मै दस साल की उम्र में उनके साथ रहता था। उस घर से लगा हुआ घर ईस्ट इण्डियन रेलवे के एक टिकट-चेकर महाशय का था। हमारे और उनके परिवार में बहुत अच्छे सबध थे। इन महाशय की, मान लीजिए कि उनका नाम श्री अ — है, एक बडी सुन्दर कन्या थी जो उस वक्त जब कि यह कहानी शुरू होती है सिर्फ पाँच साल की थी '

इसी तरह पूरी मनगढत कहानी थी, तोन टाइप किये हुए पन्नो में। पता नही मुशीजी ने इसे मुकर्जी के जीवन की सच्ची कहानी समझा या ताड गये कि बनायी हुई दास्तान है। जो भी हो, उन्हे एक बनी-बनायी कहानी मिल गयी और उन्होने इसके झूठ-सच की ज्यादा चिंता किये बिना फौरन उसे ज्यो का त्यो लिख मारा, ' विद्रोही ' के नाम से।

यह तो मुशीजी का तुरत दान महाकल्यान हुआ, मगर मुकर्जी अलग अपनी पेशबन्दी में था। खतो का सिलसिला बना रहा — लबे-लबे खत, प्यार और भक्ति मे डूबे हुए, और थोडी-सी चाशनी कविता और दर्शन की। जाल काफी घना बुना जा रहा था। १५ जनवरी १९२९ के खत में उसने लिखा —

' आप जो कहते है, शायद ठीक ही हो। लेकिन पता नही वह कौन-सी चीज है जो कभी-कभी आदमी को भगवान में विश्वास करने के लिए मजबूर कर देती है। काश कि मै नास्तिक हो सकता, मगर मै मजबूर हूँ। जिन मुसीबतो के बीच से मैं गुजरा हूँ वह मुझे नास्तिक बना देती है लेकिन जब मै इसके बारे में सोचता हूँ तो कोई अधी शक्ति आकर मेरी बुद्धि को ढँक लेती है, और अन्त में

उमी की जीत होती है। मै हैरान रहता हूँ कि अधिकाश आदमी क्यो सदा इतने दुखी रहते हैं। जीवन कभी सुखान्त नही हो सकता। उममें अगर गुलाब हैं तो काँटे भी है, अगर प्रेम है तो असफलता ओर पराजय भी है। मै रोमाम और यथार्थ का विचित्र समिश्रण हूँ। और इस पर मेरा कोई वश नही है। मच तो यह है कि न तो कोई पूरी तरह रोमासवादी हो सकता है न पूरी तरह यथार्थ-वादी। शेक्सपियर से बडा कोई यथार्थवादी नही है जिसका कहना था कि आनन्द और शोक के ताने-बाने से जिन्दगी की चादर बुनी हुई है और एक के बिना दूसरे का अस्तित्व असम्भव है।

'मच कहूँ, आपको चिट्ठी लिखने मे मुझे इतना आनन्द आता है — लेकिन आप इमे किस प्रकार ग्रहण करते है, मै निश्चयपूर्वक नही कह मकता। मेरे विचार भी सब मूर्खतापूर्ण हो सकते है — लेकिन क्या मूर्खो के पास अपने आनन्द नही होते ? मुझे बस सहानुभूति चाहिए। आप मेरे बारे मे बहुत अच्छा कोई विचार न रखे। मै बडा पापी हूँ। मेरे भीतर शैतान है मुझे अपना एक बेवकूफ दोस्त खयाल कीजिए और तब आपका मोचना सही होगा। मुझे अपना भाई खयाल कीजिए और तब आप मेरे साथ नेकी करेगे। मुझे एक ऐसा आदमी खयाल कीजिए जो अँधेरी रात में खो गया है, जिसे रास्ता दिखाने की और मदद की जरूरत है मुझे ज्ञान से और बुद्धि की चमक-दमक से घृणा है। मुझे सहानु-भूति चाहिए। कोई बात नही अगर आप मुझमे प्यार नही करते, लेकिन हमदर्दी मुझे आपको देनी ही होगी '

कुछ आत्म-प्रताडना, कुछ दुनिया की बेदर्दी का रोना, कुछ काव्य और दर्शन-चर्चा —

'किसी दार्शनिक ने एक बार कहा था कि हम जीते नही, सिर्फ सपना देखते है। कुछ लोग ज्यादा सपना देखते हैं, कुछ लोग कम। मै पहली श्रेणी में आता हूँ क्योकि पीछे फिरकर अपनी जिन्दगी पर नजर डालकर मै कह सकता हूँ कि वह एक सुन्दर सपना रही है। काश कि मैं सदा बच्चा बना रहता और ज्ञान के पाप से मेरा परिचय भी न हुआ होता। बच्चो की फिलासफी मुझे पागल कर देती है, जब भी मै इस चीज के बारे में सोचता हूँ। मुझे याद आता है, अनातोल फ्रास ने किसी जगह उनके बारे मे ऐमो कुछ बात लिखी है — सारी प्रकृति, दर्पन के समान उनकी आँखो में प्रतिबिम्बित रहती है, ऐसी एक अद्भुत पवित्रता से कि दुनिया मे कुछ भी उनके लिए गन्दा नही हैं, कूडे की टोकरी भी नही। इसी लिए तो वह प्रशसा की ऐसी चकित-चमत्कृत आँखो से पातगोभी की पत्तियो, प्याज के छिलको और भीगे की दुम को निहारते दिखायी पडते है एक अजब कीमियागरी है जो प्रकृति को रूपान्तरित करके स्वर्ग बना देती है।'

लगता है कि नियति के सकेत से सरस्वती आकर उमके कलम की नोक पर

बैठ गयी है और वह अनजाने ही खुद मुशीजी का परिचय देने लगा है ! जरूर उनमें भी बच्चे का यह गुण है, तभी तो उन्हे कूडे की टोकरी में भी प्रतिभा को मजूषा दिखायी देने लगती है ।

उसकी तो खैर बात न कहो, वह मुशीजी की पुरानी कमजोरी है । आँखे बिछाये बैठे रहते है कि कब कोई प्रतिभावान दिखायी पडे और वह उसका स्वागत करे । खुद बहुत पापड बेले है, इसलिए और भी सावधान रहते है कि कोई प्रतिभा समय से पहचानी न जाने के कारण कुम्हला न जाय ।

मुकर्जी पहुँचा हुआ खिलाडी है । उसने मुशीजी की इस कमजोरी को अच्छी तरह पकड लिया है, यही वह नस है जिसको दबाने से काम सधेगा ।

शेक्सपियर, वर्जिल, अनातोल फ्रास — किसका हवाला उन दस-दस पन्नो के खतो में नही है !

बिन देखे ही मुशीजी के मन में उस नौजवान की पूरी तस्वीर खिच गयी है । अच्छे खान्दान का लडका है । बाप पैसेवाले है । आराम से जिन्दगी बसर कर सकता था । लेकिन एक आदर्श की खातिर अपने को मिटाये दे रहा है । कौन है जिसने जवानी में मुहब्बत नही की, लेकिन कितने है जिनमें इतनी हिम्मत हो, इतना नैतिक बल हो कि अपने बडो से आँखे मिलाकर कह सकें — मै अमुक लडकी से प्रेम करता हूँ और मैं चाहता हूँ कि आप मेरा ब्याह उसी से करा दे । नही, मुझे अमीर घराने की लडकी नही चाहिए, उसकी धन-दौलत नही चाहिए । मैं तो इसी लडकी से प्रेम करता हूँ और इसी के साथ सुखी रह सकता हूँ । क्या हुआ जो उसका बाप गरीब है और तोडे नही गिन सकता । क्या दौलत ही सब कुछ है ? इसानियत कुछ भी नही ? और जब वह खुर्राट नही राजी हुए तो सब कुछ छोडछाडकर भाग खडा हुआ । उस गुलामी की बेडी से अच्छा है यह दर-ब-दर की ठोकरे खाना ! सबके बूते की चीज नही है यह, जिगरा चाहिए इसके लिए ! पढा-लिखा भी अच्छा-खासा है । इबारत में कच्चापन है, लेकिन सोचने-विचारने का माद्दा है, प्रतिभा का अकुर है ...

तभी कोई छ महीने बाद एक रोज बनारस से खत आया, जहाँ उन दिनो श्रीमान् अपने फर्म की तरफ से मिलिटरी की सप्लाई के सिलसिले में रह रहे थे —

' .. हाँ, इन दिनो मैं एक उपन्यास लिख रहा हूँ । नाम अभी नही सूझा । इसका विषय आजकल के रोमास है और थोडा-सा जिक्र मजदूर आन्दोलन का है । मैंने करीब सौ पन्ने लिख लिये है, कोई पचास पन्ने और लिखने हैं । मैं उसे आपके पास भेज सकता हूँ बशर्ते कि आपका वक्त वह बहुत न खाये । लेकिन इतना मैं यकीन के साथ कह सकता हूँ कि आपका हाथ लगने से किताब सँवर जायगी, इसमें कोई शक नही ।

'बात असल में यह है कि मेरे लिए अपनी साहित्यिक प्रवृत्ति को जीवित

रखना बहुत कठिन है, जब तक कि मै बिजनेस लाइन में हूँ। पिछले कुछ महीनो में मुझे यही तजुर्बा हुआ है। काश कि मैं किसी दूसरी अधिक अनुकूल लाइन में काम कर सकता! मगर खैर जब तक कि और कुछ नही है, मै अपनी सारी शक्ति इसी काम में लगाऊँगा। डाइरेक्टर लोग अच्छे है। दूसरी परीशानी यह है कि मेरी एक तिहाई तनख्वाह कपडो की भेट चढ जाती है। अपने फर्म के प्रतिनिधि की हैसियत से मुझे तरह-तरह के सूट पहनने पडते हैं, मॉर्निंग सूट, डाइनिंग सूट वगैरह वगैरह वर्ना मै डिपार्टमेण्टो के अफसरो का ध्यान अपनी ओर आकर्षित नही कर सकता जिसका मतलब होगा कि मेरे फर्म को आर्डर नही मिलेगा। यह सचमुच बडी भयानक बात है। हाँ, मेरे शरीर को खूब चिकनी खूराक मिल रही है लेकिन मेरी आत्मा भूखी है। कैसी दिल्लगी है कि जब मेरी आत्मा तृप्त रहती है तो शरीर भूखा रहता है और जब शरीर तृप्त रहता है तो आत्मा भूखी है। कैसे समझाऊँ आपको। मेरी जिन्दगी में मजे तो है पर तो भी मै दुखी हूँ, क्योंकि मजे तो पैसे से मिलते है मगर सुख आत्मा से। जब मैं दिन भर की कडी मशक्कत के बाद अपने क्वार्टर को लौटता हूँ, मेरा बिस्तर, मेरी जजीरे मुझे काटती है। मेरा सूना कमरा किसी अनजान शैतान की तरह मुझ पर गोलियो की बौछार करता है और मै डर के मारे काँपकर मन ही मन चिल्ला उठता हूँ — ऐसा क्यो? ऐसा क्यो? और मुझे अपने वातावरण के अनजान होठो से जवाब मिलता है — तेरी आत्मा भूखी है!'

इसी तरह खत लम्बा होता जाता है, जाल घना होता जाता है। ये मुशीजी के अपने मन की बाते है जो मुखोपाध्याय मोशाइ के मुखारविन्द से निकल रही है। ज्यादा कहने की जरूरत नही है। मुशीजी को खूब पता है आत्मा की इस भूख का। इसीलिए तो इतनी हमदर्दी है — और इसीलिए तो मुखोपाध्याय मोशाइ ने कुशल वैद्य की तरह अचूक नाडी-ज्ञान से और सब छोडकर यह दुखती रग पकडी है। बेचारा कृष्णा! कहाँ होना चाहिए था गरीब को और कहाँ लाकर पटका तकदीर ने! कहाँ मिलिटरी की सप्लाई और कहाँ उपन्यास का लिखना, है कोई जोड दोनो में! कैसा तडप रहा है। आत्मा मरी नही है, जभी तो तडप रहा है, वर्ना औरो को देखो, बस अपने हलवे-माँडे से गरज है!

जादू वह जो सिर पर चढकर बोले। और फिर बगाल का जादू — छडी घुमायी और आदमी भेड बना!

भूमिका पूरी हो गयी थी, अब असल किताब शुरू होगी।

उसमें भी देर नही लगी। कुछ ही रोज बाद मुशीजी को खत मिला। कृष्णा ने लिखा था कि मैं अपनी इस नौकरी से बहुत तग आ गया हूँ, सयोग से दूसरी नौकरी मुझे मिल भी रही है। तनख्वाह तो कम ही मिलेगी, सिर्फ सौ रुपये, मगर मैं इससे ज्यादा खुश रहूँगा। शर्त एक ही है, सौ रुपये की जमानत देनी है

जो मेरे पास नही है ।

मुशीजी ने घर में आकर पत्नी से कहा और इतनी अच्छी तरह उसकी वकालत की कि पत्नी जी भी पिघल गयी — सौ रुपया भेंज देने से अगर किसी को अपने मन की नौकरी मिलती है

गरज कि बेचारी गयी और काट-कसर करके जोडे गये अपने सौ रुपये उठा लायी जिन्हे मुशीजी ने फौरन तार से बम्बई भेज दिया ।

रुपया पाते हो कृष्णाजी लखनऊ आ धमके —बोरिया-बकचा लेकर । सामान काफी ठाट-बाट का था जिसका गँवई मुशीजी पर वाजिब असर हुआ। एक दिन तो अतिथि महाशय घर पर रहे लेकिन घर छोटा था और घर में जवान लडकी थी और दुनिया की जबान किसने पकडी है, पत्नी ने अगले रोज मुशीजी से कहा कि इन्हे कही और ठहराने का बन्दोबस्त करो । । मुशीजी के पास जगह और कहाँ रक्खी थी, मुखोपाध्याय मोशाइ अगले रोज मुशीजी के खर्चे पर एक होटल में पहुँच गये । अब न वह आज जाने का नाम लेते है न कल । रह रहे है तो रही रहे है । ऐसे कब तक चलता । मुशीजी को बात खलने लगी लेकिन मुरौवत ने जबान पकड रखी थी, कहे तो कैसे कहे । बारे उनको वहाँ से हटाकर अजितकुमार बोस के यहाँ रखने का इन्तजाम हुआ । अजित, जिसका घर का नाम बूडो था, बराबर मुशीजी के यहाँ आया-जाया करता था। घर के सभी लोग उसे बहुत चाहते थे । बहुत नेक आदमी था, बहुत गरीब, घर में बूढी माँ थी और एक छोटा भाई। किसी वर्कशाप में काम करता था, अपने पसीने की कमाई खाता था । उसकी इतनी समाई कहाँ थी कि किसी को अपने घर में ठहरा सकता मगर 'बाबूजी' (घर के बच्चो की तरह वह भी उन्हे बाबूजी कहता था) की बात कैसे टालता। और कृष्णाजी बूडो के घर पहुँच गये और उस बेचारे को भी चोट दी । किसी की गरीबो पर तरस खाने का वहाँ क्या सवाल ।

मगर वह तो लम्बा खिलाडी था, उतने से जी क्या भरता । और फिर अपनी शादी की तैयारी भी तो करनी थी । पटने की कोई लडकी थी, अमिया नाम की । उसी से सधी-बधी थी । मगर गहने-कपडे भी तो कुछ चाहिए । लिहाजा इधर-उधर की बातें बनाकर, मुशीजी से चोरी-छिपे उन्ही के नाम में उसने इस-उस सुनार से, बजाज से काफी चीजे ली ।

लेकिन यह सब तो खुला बाद में, न सिर्फ बेटी की शादी के बाद, जो कि उसी साल गर्मी मे हुई, बल्कि खुद कृष्णा की शादी के बाद जिसमें मुशीजी नौशे के पिता की हैसियत से शरीक हुए । अपनी ओर से काफी भेट-सौगात लेकर पटने गये और आर्यसमाजी रीति से विधिवत् अपने इस नये बेटे का विवाह सम्पन्न कराके लौटे ।

महीने भर बाद लखनऊ लौटने पर सारी बाते एक-एक करके खुलने लगी।

सबसे पहले तो बजाज और सुनार के तकाजे आना शुरू हुए। (अपने ठगे जाने का यह किस्सा मुशीजी ने 'ढपोरशख' में लिखा है) बीवी के कान खडे हुए, यह कैसे तकाजे, बेटी की शादी के लिए तो मैने जो कुछ खरीदा उसका पैसा कब का चुका दिया गया, उधार-बाढी मुझे यो ही नापसन्द है। और फिर शादी का सामान मैने लखनऊ में खरीदा ही कितना, मेरी खरीदारी तो ज्यादातर बनारस मे हुई है। फिर यह तकाजा किस चीज का ? तब यह बात खुली कि यह सब मुशीजी के इस नये 'बेटे' की करतूत थी। और अब मुशीजी थे कि झेप के मारे उनकी आँखे अपनी बीवी के सामने न उठती थी। खैर, जिसका जो देना था वह तो देना ही था, और मुशीजी महीनो तक बीवी की आँख बचाकर बाहर ही बाहर लेखो और कहानियो की अपनी फुटकर आमदनी से यह रुपया भरते रहे। बाद मे उनकी डायरी में यह रकमें इस तरह मुखोपाध्याय मोशाइ के खाते में दर्ज हुई, शायद आकबत के रोज़ उनसे हिसाब करने के लिए !—

१०० रुपया तार से बम्बई
२६ रुपया होटल का खर्च
३० रुपया सफर खर्च जो भेजा गया
२० रुपया बूडो को
४० रुपया सगाई के लिए
३० रुपया चूडियो के लिए
२० रुपया सफर खर्च
२५ रुपया चेक से बनारस बैंक की इलाहाबाद शाखा पर
३० रुपया (किस काम के लिए साफ पढा नही जाता)
३० रुपया साडी और ब्लाउज के लिए
और इसके बाद
२ रुपया बिदा करने के लिए बिदाई !

तो जहाँ मुशीजी खुद ही इतना सब कर रहे थे, वहाँ अगर उसने भी अपनी तरफ से थोडा-बहुत कर लिया तो ऐसा कौन-सा बडा गुनाह किया ! मुशीजी को इसका कोई खास दुख न था। दुख की ऐसी बात भी क्या थी। मुशीजी ने खुद ही तो लिखा है कि ठगने से ठगा जाना बेहतर है ! लेकिन हाँ, ठगे बुरे गये थे और जब भी इसका जिक्र आता, मुशीजी कुछ झेंप जाते। बाद में तो उस आदमी के बारे में और भी बातें खुली — कि वह आदमी नम्बरी जालिया था और दूसरे शहरो में भी उसने इस किस्म की हरकत की थी और पुलिस उसके पीछे लगी हुई थी, कि वह लडकी जिससे मुशीजी ने अपने कृष्णा की शादी करायी थी, भगायी हुई या कुछ इसी तरह की लडकी थी। यह बादवाली बात मुशीजी के लिए खतरनाक भी हो सकती थी। एकाध बार पुलिस तहकीकात के लिए आयी भी। लेकिन

इन बेचारे को क्या पता था — वह तो ऐसा उडछू हुआ कि फिर उसकी धूल भी मुशीजी को नही मिली। हाँ, बस एक गुमनाम, बिला तारीख का खत 'ओलिया रोड, आगरा' से आया! (अगर अग्रेजी में लिखा हुआ 'ओलिया' असल में 'औलिया' है तो यह खुद काफी दिलचस्प बात है क्योकि 'औलिया' का अर्थ हिन्दी कोश में दिया गया है — सिद्ध पुरुष, सत, महात्मा, पहुँचा हुआ फकीर!)

खत मे लिखा था —

प्रिय भाई साहब,

आपने बहुत धोखा खाया है लेकिन तब भी आपके दिल के किसी नर्म कोने में मेरे लिए थोडी-सी जगह होगी। (इतने प्यारे शब्दो में शायद ही किसी ने किसी के जले पर नमक छिडका हो! — अ०)

मैं अपने को सुधारने की कोशिश कर रहा हूँ और गो बहुत परीशान हूँ, मेरा खयाल है, सुधार लूँगा।

कृपया मेरा पता-ठिकाना किसी को मत बतलाइएगा वर्ना मै बर्बाद हो जाऊँगा।

मै बहुतो का देनदार हूँ और कुछ रुपया इकट्ठा करने की पूरी कोशिश में हूँ। मै जानता हूँ आप मेरा यकीन नही करेंगे लेकिन मेरे पास सिवाय इस गुजारिश के और क्या चारा है। उम्मीद की इसी एक किरन के सहारे ..

सादर नमस्कार,

आपका

पापी

जो थोडा-बहुत गुस्सा मुशीजी के दिल में इस आदमी के खिलाफ रहा होगा, उसे भी इस आखिरी रुक्के ने धो डाला और उनका दिल एक बार फिर उसकी तरफ से नर्म हो गया और शायद यही वजह है कि जहाँ मुशीजी ने हजारो खत फाडकर फेंक दिये वहाँ ये थोडे से ऊलजलूल खत बचाकर रख लिये!

इसी से कुछ मिलती-जुलती कहानी इस किस्से से सात-आठ बरस पहले की है जिसे मुशीजी ने 'आपबीती' में बयान किया है। 'आपबीती' सन् २१-२२ की कहानी है, कानपुर की, और उसके नायक या खलनायक शिवनारायण नाम के एक महाशय है जो कहानी में आकर उमापतिनारायण हो गये है। बहुत रस ले-लेकर मुशीजी ने इस किस्से को भी बयान किया है —

● प्राय अधिकाश साहित्यसेवियो के जीवन में एक ऐसा समय आता है जब पाठकगण उनके पास श्रद्धापूर्ण पत्र भेजने लगते है। कोई उनकी रचनाशैली की प्रशसा करता है, कोई उनके सद्विचारो पर मुग्ध हो जाता है। लेखक को भी कुछ दिनो से यह सौभाग्य प्राप्त है। ऐसे पत्रो को पढकर उसका हृदय कितना

गद्गद हो जाता है, इसे किसी साहित्यसेवी ही से पूछना चाहिए। अपने फटे कबल पर बैठा हुआ वह गर्व और आत्मगौरव की लहरो में डूबा जाता है। भूल जाता है कि रात को गीली लकडी से भोजन पकाने के कारण सिर में कितना दर्द हो रहा था, खटमलो और मच्छरो ने रात भर कैसे नीद हराम कर दी थी। पिछले साल सावन के महीने मे मुझे एक ऐसा ही पत्र मिला। उसमें मेरी क्षुद्र रचनाओ की दिल खोलकर दाद दी गयी थी।

पत्र-प्रेषक महोदय स्वय एक अच्छे कवि थे। मै उनकी कविताएँ पत्रिकाओ मे अक्सर देखा करता था। यह पत्र पढकर फूला न समाया। उसी वक्त जवाब लिखने बैठा। उस तरग में जो कुछ लिख गया, इस समय याद नही। इतना जरूर याद है कि पत्र आदि से अन्त तक प्रेम के उद्गारो से भरा हुआ था। मैने कभी कविता नही की और न कोई गद्यकाव्य ही लिखा, पर भाषा को जितना सँवार सकता था, उतना सँवारा। यहाँ तक कि जब पत्र समाप्त करके दुबारा पढा तो कविता का आनन्द आया। सारा पत्र भाव-लालित्य से पूर्ण था। पाँचवे दिन कवि महोदय का दूसरा पत्र आ पहुँचा। वह पहले पत्र से भी कही अधिक मर्मस्पर्शी था। 'प्यारे भैया' कहकर मुझे सबोधित किया गया था, मेरी रचनाओ की सूची और प्रकाशको के नाम-ठिकाने पूछे गये थे। अत में यह शुभ-समाचार था कि मेरी पत्नी जी को आपके ऊपर बडी श्रद्धा है। वह बडे प्रेम से आपकी रचनाओ को पढती है। वही पूछ रही है कि आपका विवाह कहाँ हुआ है, आपकी सताने कितनी है तथा आपका कोई फोटो भी है? हो तो कृपया भेज दीजिए। मेरी जन्मभूमि और वशावली का पता भी पूछा गया था।

यह पहला ही अवसर था कि मुझे किसी महिला के मुख से, चाहे वह प्रतिनिधि द्वारा ही क्यो न हो, अपनी प्रशसा सुनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। गरूर का नशा छा गया। धन्य है भगवान्! अब रमणियाँ भी मेरे कृत्य की सराहना करने लगी! मैंने तुरन्त उत्तर लिखा। जितने कर्णप्रिय शब्द मेरी स्मृति के कोष में थे, सब ख़र्च कर दिये। मैत्री और बधुत्व से सारा पत्र भरा हुआ था। अपनी वशावली का वर्णन किया। कदाचित् मेरे पूर्वजो का ऐसा कीर्तिगान किसी भाट ने भी न किया होगा। मेरे दादा एक जमीन्दार के कारिन्दे थे, मैंने उन्हे एक बडी रियासत का मैनेजर बतलाया। अपने पिता को, जो एक दफ़्तर में क्लर्क थे, उस दफ्तर का प्रधानाध्यक्ष बना दिया। और काश्तकारी को जमीन्दारी बना देना तो साधारण बात थी। अपनी रचनाओ की सख्या तो न बढा सका पर उनके महत्व, आदर और प्रचार का उल्लेख ऐसे शब्दो में किया जो नम्रता की ओट में अपने गर्व को छिपाते है। कौन नही जानता कि बहुधा 'तुच्छ' का अर्थ उससे विपरीत होता है और 'दीन' के माने कुछ और ही समझे जाते है। स्पष्ट रूप से अपनी बडाई करना उच्छृखलता है, मगर साकेतिक शब्दो से आप इसी काम

को बडी आसानी से पूरा कर सकते हैं। खैर, मेरा पत्र समाप्त हो गया और तत्क्षण लेटरबक्स के पेट में पहुँच गया। ●

इसके बाद श्री 'उमापतिनारायण' का प्रवेश रगमच पर हुआ —

'श्यामवर्ण, नाटा डील, मुँह पर चेचक के दाग, नगा सिर, बाल सँवारे हुए, सिर्फ सादी कमीज, गले में फूलो की एक माला, पैर में फुलबूट और हाथ में एक मोटी-सी पुस्तक।' गरज कि पूरा जोकर का हुलिया था।

परिचय और कुशल-क्षेम के बाद घर पहुँचे, 'बाजार से भोजन मँगवाया, फिर बाते होने लगी। उन्होने मुझे अपनी कई कविताएँ सुनायी। कविताएँ तो मेरी समझ में खाक न आयी पर मैने तारीफो के पुल बाँध दिये। झूम-झूमकर वाह्-वाह् करने लगा जैसे मुझसे बढकर काव्यरसिक ससार में न होगा। सध्या को हम रामलीला देखने गये। लौटकर उन्हे फिर भोजन कराया। अब उन्होने अपना वृत्तान्त सुनाना शुरू किया। इस समय वह अपनी पत्नी को लेने के लिए कानपुर जा रहे हैं। उनका मकान कानपुर ही में है। उनका विचार है कि एक मासिक पत्रिका निकाले। उनकी कविताओ के लिए एक प्रकाशक एक हजार रुपये देता है। कानपुर में उनकी जमीन्दारी भी है। पर वह साहित्यिक जीवन व्यतीत करना चाहते हैं। जमीन्दारी से उन्हे घृणा है। .. आधी रात तक बाते होती रही। अब उनमें से अधिकाश याद नही है। हाँ इतना याद है कि हम दोनों ने मिलकर अपने भावी जीवन का एक कार्यक्रम तैयार कर लिया था। मै अपने भाग्य को सराहता था कि भगवान ने बैठे-बिठाये ऐसा सच्चा मित्र भेज दिया। आधी रात बीत गयी तो सोये। उन्हे दूसरे दिन आठ बजे की गाडी से जाना था। मैं जब सोकर उठा तब सात बज चुके थे। उमापति जी मुँह हाथ धोये तैयार बैठे थे। बोले — अब आज्ञा दीजिए। लौटते समय इधर ही से जाऊँगा। इस समय आपको कुछ कष्ट दे रहा हूँ। क्षमा कीजिएगा। मै कल चला तो प्रात काल के चार बजे थे। २ बजे रात से पडा जाग रहा था कि कही नीद न आ जाय। बल्कि यो समझिए कि सारी रात जागना पडा क्योकि चलने की चिन्ता लगी हुई थी। गाडी में बैठा तो झपकियाँ आने लगी। कोट उतारकर रख दिया और लेट गया। तुरन्त नीद आ गयी। मुगलसराय में नीद खुली। कोट गायब! नीचे-ऊपर चारो तरफ देखा, कही पता नही। समझ गया, किसी महाशय ने उडा दिया। सोने की सज़ा मिल गयी। कोट में पचास रुपये खर्च के लिए रखे थे वे भी उसके साथ उड गये। आप मुझे पचास रुपये दे। पत्नी को मैके से लाना है, कुछ कपडे वगैरह् ले जाने पडेगे। फिर ससुराल में सैकडो तरह् के नेग-जोग लगते हैं। कदम-कदम पर रुपये खर्च होते हैं। न खर्च कीजिए तो हँसी हो। मैं इधर से लौटूँगा तो देता जाऊँगा।'

लौटे तो वह उधर से जरूर लेकिन एक नया ही किस्सा लेकर और रुपया

लौटाना तो दूर रहा उल्टे पचीस रुपये और मूड ले गये ।

इस तरह ठगे जाने के छोटे-बडे किस्से बहुत बार होते थे और हर बार वह जैसे आँख खोलकर ठगे जाते थे । लेकिन हर बार उनकी जान पर बनती थी उस वक्त जब कि उन्हे पत्नी के सामने जाकर हाथ फैलाना पडता जो एक नेक बीवी की तरह रुपये तो कही न कही से पैदा करके जरूर दे देती लेकिन दो-चार खरी-खोटी सुनाने से भी बाज न आती । दोनो के सबध की यह कुछ अक्खड-सी, चरपरी-सी, तिक्त-सी मिठास, जिसमें शायद इसीलिए कुछ और ज्यादा ठहराव है, उनके खून में घुल गयी थी और इसीलिए फिर वह चाहे लौगी हो चाहे धनिया, उन सब के पीछे उनकी अपनी पत्नी बैठी हुई नजर आती है जो एक साथ ही कोमल भी है और कठोर भी । कितने प्यारे, कोमल, मार्मिक ढग से यह चीज 'मत्र' कहानी में आयी है, कि जैसे हजारो कदीलें यकबयक जगमगा उठे । और यह सब उस एक वाक्य का चमत्कार है जो भगत और उसकी घरवाली के गहरे प्यार का तीता-मीठा स्वाद एक पल के लिए हमारी जबान पर भी रख देता है ।

भगत का बेटा मर जाता है क्योकि डाक्टर चड्ढा एक शाम अपनी टेनिस नही छोड सकते । उन्ही डाक्टर चड्ढा के लडके को साँप काटता है और भगत जाकर झाड-फूँक करके उसका प्राण बचाता है लेकिन एक चिलम तमाखू का भी रवादार नही होता । चारो ओर भगत की तलाश हो रही थी 'और भगत लपका हुआ घर चला जा रहा था कि बुढिया के उठने से पहले घर पहुँच जाऊँ ' नही दस बातें सुनायेगी ।

२६

लडकी सयानी हुई या नही हुई, यह चीज हमारे यहाँ बहुत कुछ इस पर भी निर्भर होती है कि उसे स्कूल-कालेज की शिक्षा मिल रही है या नही। जो लडकी पढ रही है उसके शादी-ब्याह के बारे में समाज भी ज्यादा चिन्तित नही होता। लेकिन जिस लडकी के साथ ऐसी कोई कैद नही है उसके पन्द्रह-सोलह की उम्र तक पहुँचते ही समाज उसके ब्याह को लेकर व्यस्त और चचल हो उठता है। कहनेवाले कहने लग जाते है कि अमुक ने सयानी लडकी बिनब्याही घर में डाल रखी है। लडकी में कही कोई ऐब तो नही है जो उसका ब्याह नही होता। सद्-गृहस्थ की असल चिन्ता का कारण यही वाचाल समाज है।

मुशीजी की बेटी के साथ भी यही बात थी। स्कूल-कालेज की पढाई का सुयोग उसको नही मिला — या नही दिया गया। कुछ रोज लखनऊ के आर्य महिला विद्यालय में गयी मगर फिर वहाँ से भी उसे छुडा लिया गया।

आज जहाँ अनपढ लडकी पर उँगलियाँ उठती है, चालिस-पैतालिस साल पहले पढी-लिखी लडकी पर उठा करती थी। लडकी को पढाना अपने आप में एक क्रान्ति थी।

मुशीजी भी शायद इस क्रान्ति के लिए तैयार न थे। यह ठीक है कि उनके जीवन की परिस्थितियाँ काफी अव्यवस्थित रही। बेटी महोबे में पैदा हुई थी। बस्ती में वह बहुत ही छोटी थी। गोरखपुर में भी छोटी ही थी और जब कुछ-कुछ इस उम्र को पहुँची कि घर में ककहरा और बारहखडी पढाने से ज्यादा कुछ पढाने की बात सोची जा सकती, तभी मुशीजी का गोरखपुर का आबदाना छूट गया।

सरकारी नौकरी से इस्तीफा देते समय मुशीजी ने सोचा था कि शान्ति से घर बैठेगे, लिखेगे-पढेगे, देशसेवा करेगे। लेकिन शुरू से ही गरीबी ने पैर में जो चक्कर बाँध दिया था, वह अब भी नही छूटा। तगदस्ती भी बनी रही और दर-दर का भटकना भी बना रहा। कानपुर, बनारस और लखनऊ, किसी जगह जमकर रहना नही हो सका। बनारस में बहुत बार शहर छोडकर देहात में रहना पडा जहाँ से लडकी को शहर भेजकर पढाना सभव न था। जो कुछ इत्मीनान या

आसूदगी मिली वह लखनऊ में। बेटो की पढाई, जो दोनो अपनी बहन से छोटे थे, वही शुरू हुई लेकिन बेटी की पढाई शुरू करने के लिए तब तक ज्यादा देर हो चुकी थी। आधे मन से कुछ कोशिश जरूर हुई लेकिन आधे मन से ही। किस्सा कोताह वह पढ नही सकी और चूल्हा पकडे बैठी रही जो कि घर की सयानी लडकी का काम है। माँ उन दिनो बराबर बीमार रहती थी, सभव है, बेटी को स्कूल से हटाकर घर के काम-काज में लगाये रखने का यह भी एक कारण हो।

इन सब के बाद भी यह मानना कठिन है कि बेटी को ठीक से शिक्षा का सुयोग न देने के पीछे और भी कोई कारण नही था। जहाँ तक प्रमाण मिलता है — जिसमें उनकी इसी काल की लिखी हुई 'शान्ति'-जैसी कहानियो का प्रमाण भी है — उसका बडा कारण यह था कि पढी-लिखी लडकियो की तरफ से उनके मन में कही यह चोर था कि लडकियाँ पढ-लिखकर गृहस्थी के काम की नही रह जाती, तितली बनकर यहाँ-वहाँ घूमते रहने में ही उनका जी लगता है। अगर इससे अलग भी कोई बात उनके मन में थी तो वह कमज़ोर थी और चारो तरफ एक पिछडा हुआ समाज था जो लडकियो को पढाई को अच्छी निगाह से नही देखता था। लिहाजा बेटी घर के भीतर और घर के बाहर समाज के पिछडे-पन का शिकार हुई और मामूली हिन्दी से ज्यादा कुछ न पढ सकी।

अब उसके ब्याह का मसला दरपेश था। उन दिनो मुशी प्रेमचद लखनऊ में नबर २ हिवेट रोड के मकान में रहते थे जिसमें आजकल डाक्टर पाठक का होमियोपैथिक दवाखाना है। नीचे मकान-मालिक रहते थे, वही पाठक साहब, और ऊपर के दो हिस्सो में किरायेदार। एक में मुशीजी और दूसरे में हरिनन्दन या डाक्टर भट्ट जिनका जिक्र ऊपर आ चुका है।

मुशीजी ने एक रोज उनसे कहा। उन्होने सागर जिले के अपने एक सहपाठी प्रभुदयाल से कहा। प्रभुदयाल ने, जो खुद विवाहित थे, अपने एक छोटे मौसेरे भाई का सकेत दिया।

मुशीजी ने फौरन उसी पते पर दशरथलाल साहब को खत लिखा जो वर के बडे बहनोई थे और घर का सारा काम-काज देखते थे। पत्र कुछ इस प्रकार था — मैं बनारस के पास एक देहात का रहनेवाला आपकी ही बिरादरी का एक व्यक्ति हूँ। बनारस से चार मील दूर, आजमगढ रोड पर एक गाँव है, लमही, मौजा मढवाँ, वही मेरा मकान है। इन दिनो 'माधुरी' कार्यालय में सम्पादक का काम करके आजीविका चला रहा हूँ। मैं सामाजिक अत्याचारो से सताया हुआ एक व्यक्ति हूँ। इस समय मेरे सामने एक गम्भीर समस्या अपनी लडकी की शादी की है। मुझे ऐसा लगता है कि आपके सहयोग से वह सुलझ सकती है। मेरे कई रिश्तेदार यू० पी० में फँसे हुए है। मैं चाहता हूँ कि आप चिरजीव वासुदेवप्रसाद के लिए मेरा प्रस्ताव स्वीकार करें। मेरे विषय में और जो कुछ

जानना चाहे, लिखिए, सहर्ष उत्तर दूँगा ।

यह खत पाकर दशरथलाल साहब ने फौरन, जैसा कि घर के बडे के लिए उचित था, प्रभुदयाल साहब को एक खत यह मालूम करने के लिए लिखा कि क्या यह वही मशहूर उपन्यासकार प्रेमचद है । प्रभुदयाल साहब ने जवाब दिया कि जी हाँ, यह वही मशहूर मुशी प्रेमचद है ।

तब फिर दशरथलाल साहब ने कुछ इन विनम्र किन्तु अनुभवसिद्ध शब्दो में मुशी प्रेमचन्द के खत का जवाब दिया — आपका पत्र मिला । ऐसा पत्र तो सौभाग्यउदय से ही प्राप्त होता है । आपने अपना पूरा परिचय नही दिया है पर मुझे पता चल चुका है । सूरज को चिराग लेकर नही देखा जाता ।

आप ही की तरह मुझ पर भी यह एक महान उत्तरदायित्व है और उससे मुझे उबार लेने के लिए आपका सहयोग भी उतना ही आवश्यक है ।

यह अवश्य बता देना चाहता हूँ कि यह देहात है, सामाजिक कुरीतियो का अभाव यहाँ भी नही है यद्यपि मुझे और अनुमानत मेरी सास साहबा को भी इसकी ज्यादा परवाह नही है । तो भी इस घर के इतिहास, उसकी प्रतिष्ठा और मर्यादा के प्रकाश में, मेरे कर्तव्यपालन में कुछ विशेषताएँ रहेगी और मुझे आशा है कि आप उसकी सुविधा मुझे देगे । अत मुझे पहले से मालूम हो जाना चाहिए कि शादी में आप कितना खर्च करना चाहते है और उस खर्चे का कितना हिस्सा ऐसा होगा जिससे मुझे व्यावहारिक सहायता मिल सकेगी । और यह भी स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि यह किसी रईस का घर नही है । साधारण जमीदारी परिवार है और लडका अपने घर का आप मालिक है । हाँ, दाल-रोटी का सुख उसे अवश्य प्राप्त है ।

बातचीत का सिलसिला शुरू हुआ । चिट्ठियाँ दौडने लगी । फिर बाबू दशरथ लाल, अपने एक अन्तरग सखा के साथ किसी बहाने से लखनऊ भी पहुँच गये . . और बातो-बातों में लडकी को देखने की इच्छा भी व्यक्त की ।

मुशीजी अन्दर गये । पत्नी से कहा कि वह लोग लडकी देखना चाहते है । पत्नी ने कहा — ठीक है, वह लोग लडकी देखना चाहते है तो हम लोग दिखायेंगे लेकिन घर पर नही दिखायेंगे । फिर जब मुशीजी उठकर बाहर जाने लगे तो उनकी पत्नी ने स्त्री की सहज व्यवहार-बुद्धि से पूछा — अरे उन लोगो का मुँह-वुँह भी कुछ मीठा करोगे कि यो ही ..

घर में उस समय और कोई न था इसलिए मुशीजी खुद ही गये और पास के एक हलवाई के यहाँ से मिठाई ले आये ।

मुँह मीठा होने के बाद यह तय पाया कि अगले रोज दोपहर को तीन बजे आप लोग अजायबघर पहुँच जाइएगा, हम लोग भी लडकी को लेकर पहुँच जायेगे । वहाँ हम लोग आपस में पुराने मुलाकातियो-जैसी बाते करेंगे और फिर वही से

बनारसीबाग चलेंगे, चिडियाघर, और सब देख-दाखकर साथ-साथ घर लौटेंगे। इतनी देर में आपको काफी मौका लडकी को देखने और समझने का मिल जायगा।

सब कुछ हुआ, और जैसे कि इस बातचीत मे थोडी-सी बदमजगी भी एक जरूरी चीज़ हो, वह भी हुई। लडका खुद लडकी को देखे, इस बात को लेकर। मुशीजी ने उसके लिए कतई इन्कार कर दिया और दो-एक तेज चिट्ठियो का विनिमय भी हुआ। आखिर बाबू दशरथलाल ही को झुकना पडा और तान इस पर टूटी कि लडके की माँ और बहन जाकर लडकी को देख ले।

लेकिन जिस चीज ने मुशीजी का मन अपने होनेवाले दामाद की तरफ बहुत नर्म बना दिया था वह थी उसकी एक चिट्ठी जिसकी नकल दशरथलाल साहब ने भेजी थी — शादी मुझे मजूर है। इसका ख़याल रहे कि जिस घर में मेरी शादी हो वह घर दिवालिया न किया जाय। शादी-ब्याह एक दिन का रिश्ता नही, हमारा-उनका यह तीन पुश्तो का रिश्ता होगा। इसलिए आप उनको दिवालिया न कीजिएगा।

खान्दान भी कोई ऐसा-वैसा नही था। वासुदेव के पिता मुशी भवानी प्रसाद कस्बा मदारीपुर, जिला जालौन, यू० पी० के रहनेवाले थे। दो साल की अवस्था में ही उनके पिता की मृत्यु हो गयी। तब उनके मामा जो मौजा कपुर्दा, जिला छिन्दवाडा, सी० पी० के रहनेवाले थे उनको अपने साथ लिवा ले गये और वही उनकी शिक्षा-दीक्षा हुई। शासन-व्यवस्था उन दिनो की बहुत अस्त-व्यस्त थी। उनके मामा कुछ लोगो की शरारत से एक कत्ल के मुकदमे में फाँस दिये गये और कालेपानी की सजा पा गये। फिर मुशी भवानीप्रसाद की शादी देवरी, जिला सागर, के लाला मन्नूलाल की इकलौती लडकी से हुई। सयोग की बात कि लाला मन्नूलाल १८५७ के कुछ बाद, जब कि वह लगान की वसूली पर गये हुए थे, मार डाले गये। अब घर में उनकी बेवा के सिवा और कोई न था, इस ख़याल से मुशी भवानीप्रसाद को देवरी बुला लिया गया। देवरी के अलावा और भी पाँच-छ गाँव उनकी मिल्कियत में थे। मुशी भवानीप्रसाद ही उन सब का इतजाम करते रहे और विरासतन् भी जायदाद उन्ही को मिली।

मुशी भवानी प्रसाद बडे धार्मिक व्यक्ति थे। सबेरे चार बजे उठकर स्नान करते थे और गाय की पूजा करते थे। फिर मदिर जाकर पुजारी की पूजा करते थे और उसके उपरान्त श्री देव मुरलीधर की पूजा करते थे जिनके नाम पर देवरी का कस्बा बहुत पहले से वक्फ था।

वह म्युनिसपिल्टी के उप-सभापति थे, आनरेरी मजिस्ट्रेट थे, आर्म्स ऐक्ट से मुस्तसना थे यानी उनको हथियार रखने की आजादी थी। लेन-देन में वह बहुत साफ थे और अपने व्यक्तित्व और शिष्ट व्यवहार के कारण जनता के बीच और सरकारी क्षेत्रो में उनका एक-सा मान था। अर्द्ध-सरकारी पत्र-व्यवहार में 'देवरी

के गवर्नर' के नाम से उनका उल्लेख होता था और जनता उन्हे 'सरकार' कहकर पुकारती थी। यह उनके पद से अधिक उनके व्यक्तित्व का ही सम्मान था।

धर्मप्रचार मे उनकी बडी रुचि थी। इसी प्रसग में वह अक्सर उस समय के बडे-बडे विद्वानो जैसे प० ज्वाला प्रसाद मिश्र, प० दीनदयाल वाणीभूषण, स्वामी हसस्वरूप आदि को बुलाकर उनके व्याख्यान कराया करते थे। कट्टर सनातन-धर्मी होने के नाते उन्होने 'सत्यार्थ प्रकाश' के खडन में एक पुस्तक भी लिखी — दयानन्द-मत-विद्रावण। इसी तरह की एक पुस्तक उन्होने और लिखी — भास्कराभास निवारण। उनके पुस्तकालय में चारो वेद, अठारहो पुराण, छः शास्त्र और उनकी अनेक टीकाएँ, महाभारत, वाल्मीकि रामायण, निर्णय-सिन्धु और धर्म-सिन्धु आदि पुस्तकें दूर-दूर से मँगाकर एकत्र की गयी थी।

सन् १९०५ मे बगभग आन्दोलन के समय जो राजनीतिक लहर उठी उसने उनको भी अपने साथ लपेट लिया। उस आन्दोलन के साथ-साथ, जैसा कि विदित है, स्वदेशी का आन्दोलन, विदेशी वस्तुओ के बहिष्कार का आन्दोलन, मद्य-निषेध और विदेशी चीनी के परित्याग का आन्दोलन भी धीरे-धीरे उठ खडा हुआ।

जब यह चीज कुछ जड पकडने लगी तो अग्रेज अधिकारियो के कान खडे हुए। उनकी तहकीकात शुरू हुई और उनका सबसे पहला वार, जैसा कि उचित ही था, मुशी भवानीप्रसाद पर हुआ। उनके विरुद्ध सबसे बडा प्रमाण रुडकी के हीरा-लाल गुप्त द्वारा प्रकाशित 'विलायती चीनी से धर्मनाश होता है' नामक पुस्तक थी जिसकी पुश्त पर इस आशय की कुछ बात छपी थी कि हम देवरी के मुशी भवानी प्रसाद का साधुवाद करते है जिन्होने प्रचारार्थ इस पुस्तक की १००० प्रतियाँ मँगायी। इसी प्रकार उन्होने लोकमान्य तिलक की लिखी हुई 'स्वदेशी और बाय-काट' भी बडी सख्या में मँगवायी और लोगो में बाँटी। तभी, सुनते है कि लोक-मान्य तिलक से उनका पत्र-व्यवहार भी हुआ जिसमें अधिकतर राजनीतिक और धार्मिक प्रश्नो की चर्चा रहा करती थी। घर की तलाशी में पुलिस को लोक-मान्य तिलक के कुछ पत्र भी मिले थे।

मुकदमे की दूसरी पेशी देवरी से १६ मील दूर एक निर्जन स्थान में रखी गयी — ताकि लोग वहाँ न पहुँच सके और कोई बलवा न हो। वहाँ उनसे बाईस हज़ार रुपये नकद की जमानत माँगी गयी — और लोगो को बडा आश्चर्य हुआ जब कि वहाँ से तीस मील दूर रहनेवाले एक सुनार ने, जो और बहुत से तमाशाइयों के साथ वही खडा था, जमानत की इतनी बडी रकम देना मजूर किया। लेकिन किसी वजह से जमानत उस वक्त नही ली गयी और बाद को अपील करने पर जमानत की रकम घटकर दो हजार रह गयी। यह जमानत एक साल के लिए देनी पडी और यह एक साल का समय देवरी से बाहर रहकर गुजारना पडा।

इस फैसले की अपील जबलपुर के सेशन जज के यहाँ की गयी पर जमानत बहाल रही और अन्त में जुडिशल कमिश्नर के यहाँ अपील हुई। जुडिशल कमिश्नर स्टीवेन्स नाम का एक आयरिश आदमी था। उसने बडी हिम्मत से काम लिया जो ऐसे एक मुकदमे में, जो कि शायद प्रान्त का पहला राजद्रोह का मुकदमा था और जिसकी जडे इतनी दूर-दूर तक पहुँचती थी कि उसमें नासिक और माण्डले की जेलो में लोकमान्य तिलक तक की गवाही रिकार्ड की गयी, मुजरिम की अपील मजूर की और उसे इज्जत के साथ बरी करते हुए अपने फैसले मे लिखा — यह बडे खेद की बात है कि महज सुनी-सुनायी बातो के आधार पर इतने धर्मभीरु, न्यायपरायण, और धर्मात्मा व्यक्ति को इतना ज्यादा सताया और परीशान किया गया।

यह स्टीवेन्स की सरकारी जिन्दगी का आखिरी मुकदमा था। इसके बाद ही वह यहाँ से चला गया।

स्टीवेन्स के फ़ैसले से सरकार काफी मुशकिल मे पड गयी, उसे बहुत नीचा देखना पडा और उसने अपने मुँह की लाज बचाने के खयाल से मिस्टर क्रास्थवेट को, जो सेटिलमेण्ट कमिश्नर थे, मुशी भवानी प्रसाद के पास राजीनामे का पैगाम लेकर भेजा। राजीनामे की एक शर्त यह थी कि देवरी के किसी प्रमुख स्थान पर शाही दरबार की यादगार के तौर पर एक चबूतरा बनवा दिया जाय। उसके एवज मे मुशी भवानीप्रसाद के तमाम अख्तियारात और हथियार उन्हे वापस दे देने का वायदा सरकार की तरफ से किया गया। क्रास्थवेट साहब ने उनको समझाया कि यह एक सुनहरा मौका है, इसको हाथ से न जाने दीजिए।

इसके जवाब में मुशी भवानीप्रसाद ने वही बात कही जिसकी उनसे आशा की जा सकती थी। उन्होने कहा — मैं भाग्यवादी आदमी हूँ। दो रुपये की मानीटरी से मैंने अपनी जिन्दगी शुरू की थी और भाग्य के ही बल पर आज मैं इतनी बडी सरकार का विरोधी स्वीकार किया गया और भाग्य के ही भरोसे इस आक्षेप और दुर्दशा से मुक्त हुआ। अब मुझे कुछ नही चाहिए, आप अपना राजीनामा वापस ले जाइए।

अब क्या बचा जानने-समझने को। दो-चार व्यावहारिक बातें हुईं और शादी तै हो गयी।

बरात बनारस के स्टेशन पर सबेरे आठ बजे पहुँची। वहाँ से पाँच मील दूर लमही जाना था। रास्ता खराब। ईंट के भट्ठेवालो की कृपा से सडक में तमाम गड्ढे ही गड्ढे। सूखा है तो धुस्सा, बारिश है तो कीचड — यानी इक्का-बग्घी के फँसाने का और हिचकोलो का बदोबस्त दोनो हालतो में अच्छा। शहर से चलने में ही देर हो गयी थी, लमही पहुँचते-पहुँचते शाम हो गयी। जनवासा स्कूल में दिया गया था।

द्वारचार हुआ। बताशे भी फेंके गये, पैसे भी लुटाये गये। लेकिन सब कुछ मुशीजी के बडे भाई बलदेव लाल ने किया। द्वारपूजा भी मुशीजी ने न की।

द्वारचार के बाद जब बारात जनवासे गयी तो उनकी पत्नी ने कहा — द्वारपूजा आपको करनी चाहिए थी। उन्होने जवाब दिया — मुझसे ये रस्में न होगी। पत्नी ने कहा — कन्यादान तो आखिर आपको ही करना होगा ?

उन्होने कहा — कन्यादान कैसा ? बेजान चीज दान में दी जाती है। जानदार चीजो में तो गाय ही दी जा सकती है। फिर लडकी का दान कैसा ? यह सब मुझे पसन्द नही।

आखिर जब रात को शादी हुई और कन्यादान का अवसर आया तो मुशीजी उठकर अपनी जगह से नही आये। बहुत समझाया गया मगर न माने। आखिरकार डाक्टर भट्ट जाकर उनको जबर्दस्ती गोद में उठा लाये और मण्डप में बैठा दिया। तो भी कन्यादान किया लडकी की माँ ने ही, मुशीजी मूर्तिवत् बैठे रहे।

२७

बेटी की शादी करके पति-पत्नी दोनो ही कुछ हल्का अनुभव कर रहे थे। इस बार मकान अमीनुद्दौला पार्क में मिला। छ साल लखनऊ रहे और छ. मकान बदले। दो महीने गर्मी की छुट्टियो का (जब कि सब लमही चले आते थे) किराया मुफ्त में क्यो दे।

२ सितम्बर १९२९ के अपने ख़त में मुशीजी ने दयानरायन निगम को लिखा — 'अब मै अमीनुद्दौला पार्क में रहता हूँ। मकान का नम्बर कही नही मिलता। हाँ, यह्या की दुकान पर पूछने से पता चल सकता है। बिल्कुल काग्रेस के दफ्तर से मुलहिक[1] मेरा मकान इसी लाइन में है। दरवाजा अकब[2] से है। मेरे मकान के ठीक नीचे पफ सोइग मशीन की एजेन्सी है। चिरौजीलाल पारचा-फरोश भी वही रहता है। उससे पूछने से पता चल जायेगा।' यह तो मकान हुआ, अब घर की हालत — 'मैं सनीचर को आनेवाला था मगर उसके एक रोज कब्ल ही से घर में तीन मरीज हो गये। धुन्नू की वालिदा के दाँतो मे दर्द और बुखार, बेटी की उँगली में फुसी जो बिसहरी कहलाती है और निहायत दर्द पैदा करने-वाली होती है, और धुन्नू की मामी को बुखार और पेचिश। कल बेटी की उँगली चिरवा दी। अब दर्द कम है। धुन्नू की माँ के दाँतो का दर्द अभी बदस्तूर है, हाँ बुख़ार बन्द हुआ। अब दाँत निकलवा देने की सलाह है। और धुन्नू की मामी का बुख़ार भी साबिक दस्तूर है।'

देश तेजी से एक नये सग्राम की ओर बढ रहा था। पिछले साल साइमन कमीशन के वक्त से जो उभार आया था वह बराबर बढता ही जा रहा था। युवक समाज में अलग एक ज्वार दिखायी पड रहा था, जगह-जगह उनकी यूथ लीगें और छात्र फेडरेशन कायम हो रहे थे और उधर मजदूरो में एक नयी सघर्ष-चेतना थी। उनकी हालत की जाँच करने के लिए विलायत से एक सरकारी कमीशन, व्हिटले कमीशन, आया हुआ था और वामपन्थी नेताओ के असर में मजदूर उसका बायकाट कर रहे थे। वैसे ही जैसे सारे मुल्क ने पिछले साल साइमन कमीशन का

---

१ लगा हुआ २ पीछे

बायकाट किया था। मगर इतनी ही बात न थी। लडाई के बाद के कुछ साल तक तो उद्योगपतियो के लिए बडी खुशहाली के दिन रहे, खासकर हिन्दुस्तानी और हिन्दुस्तान में पूँजी लगाकर काम करनेवाले ब्रिटिश उद्योगपतियो के लिए जिनके उद्योग-धन्धो का जन्म ही, आधुनिक अर्थों में, महायुद्ध के समय हुआ। लेकिन लडाई के दस साल बाद अब सारी दुनिया में भयानक मन्दी आयी हुई थी और मुमकिन न था कि हिन्दुस्तान उसकी लपेट में आने से बचा रहता। जैसे भी हो इस मन्दी का सामना करना था और इसका एक ही तरीका उनको मालूम था — मजदूरो की गर्दन और दबाओ, काम के घटे बढाओ, पगार कम करो।

लेकिन मजदूर भी अब जाग रहा था, अपने अधिकारो के लिए मोर्चा लेना सीख रहा था। आज यहाँ तो कल वहाँ, बराबर मजदूरो की हडतालें होती रहती थी — और इन्ही लडाइयो की आग में तपकर जगजू मजदूरो के बडे तगडे सगठन बन गये थे, जैसे जी० आई० पी० रेलवेमेन्स यूनियन, बम्बई के सूताकल मजदूरो का जबर्दस्त सगठन गिरनी कामगार यूनियन। . बगाल जूट मिल्स, जमशेदपुर आयरन वर्क्स, कोई इन सरगर्मियो से खाली न था।

मगर सरकार भी कब खामोश बैठी थी — मार्च के महीने में देश भरके बडे-बडे वामपन्थी मजदूर नेता पकड लिये गये और मेरठ षड्यन्त्र केस के नाम से उन पर मुकदमा चलना शुरू हो गया। यह एक बडा राजनीतिक केस था, दुनिया भर में उसकी चर्चा थी, 'न्यू स्पार्क' के सपादक हचिसन और ब्रिटिश कम्युनिस्ट ब्रेडले जैसे दो-एक अग्रेज अभियुक्त भी उसमें शामिल थे, कोई बम फेंकने का मामला न था — सोचने-विचारनेवालो को उसने बहुत जोर से झकझोरा

यह भी एक सयोग ही था कि मुशीजी उन दिनो गाल्सवर्दी के नाटक 'स्ट्राइफ' का अनुवाद हिन्दुस्तानी एकेडमी के लिए कर रहे थे जो इसी पूँजी और श्रम के सघर्ष की कहानी है। उनका अपना नया उपन्यास 'गबन' उन्ही दिनो कभी शुरू हुआ था और धीमे-धीमे चल रहा था। सोशल रिफार्म में उनकी जान बसती थी। उससे बडी प्रेरणा एक ही थी — आजादी की लडाई। उसके लिए जमीन तैयार हो रही थी और बडी आन-बान से तैयार हो रही थी, लेकिन लडाई अभी शुरू न हुई थी। ठीक वही हाल मुशीजी का था, वह भी आनेवाले सघर्ष के लिए तैयार हो रहे थे, और इस बीच अपने हमेशा के रग में एक नया किस्सा शुरू कर दिया था — बीबी को गहने का उन्माद, मियाँ झूठी शेखी के गुलाम।

'गबन' खुलते ही यह दृश्य सामने आता है —

● बरसात के दिन है, सावन का महीना। आकाश में सुनहरी घटाएँ छायी हुई है। रह-रहकर रिमझिम वर्षा होने लगती है। अभी तीसरा पहर है, पर ऐसा मालूम हो रहा है शाम हो गयी। आमो के बागो में झूला पडा हुआ है। लडकियाँ भी झूल रही है और उनकी माँएँ भी। दो-चार झूल रही है, दो-चार झुला रही

हैं । कोई कजली गाने लगती है, कोई बारहमासा

इसी समय एक बिसाती आकर झूले के पास खडा हो गया । उसे देखते ही झूला बन्द हो गया । छोटी-बडी सबो ने आकर उसे घेर लिया । बिसाती ने अपना सन्दूक खोला और चमकती-चमकती चीजे निकालकर दिखाने लगा । कच्चे मोतियो के गहने थे, कच्चे लैस, और मोटे, रगीन मोजे, खूबसूरत गुडियाँ और गुडियो के गहने, बच्चो के लट्टू और झुनझुने । किसी ने कोई चीज ली, किसी ने कोई चीज । एक बडी-बडी आँखोवाली बालिका ने वह चीज पसन्द की जो उन चमकती हुई चीजो में सबसे सुन्दर थी । वह फीरोजी रग का एक चन्द्रहार था । माँ से बोली — अम्माँ, मैं हार लूँगी ।

माँ ने बिसाती से पूछा — बाबा, यह हार कितने का है ?

बिसाती ने हार को रूमाल से पोछते हुए कहा — खरीद तो बीस आने की है, मालकिन जो चाहे दे दे ।

माँ ने कहा — यह तो बडा मँहगा है । चार दिन में उसकी चमक-दमक जाती रहेगी ।

बिसाती ने मार्मिक भाव से सिर हिलाकर कहा — बहू जी, चार दिन में तो बिटिया को असली चन्द्रहार मिल जायगा । ●

जहर का बीज रोप दिया गया । इसी बीज में से पेड निकलेगा ।

इस लडकी की ऐसी रुचि कैसे बनी ?

'दीनदयाल जब कभी प्रयाग जाते तो जालपा के लिए कोई न कोई आभूषण जरूर लाते । उनकी व्यावहारिक बुद्धि मे यह विचार ही न आता था कि जालपा किसी और चीज से अधिक प्रसन्न हो सकती है । गुडिया और खिलौने वह व्यर्थ समझते थे, इसलिए जालपा आभूषणो से ही खेलती थी, यही उसके खिलौने थे । वह बिल्लौर का हार जो उसने बिसाती से लिया था अब उसका सबसे प्यारा खिलौना था ।'

घटनाचक्र में जिस व्यक्ति के कधो पर इस वासना की पूर्ति का बोझ पडनेवाला है, जालपा का पति, इधर दो साल से वह बेकार था । शतरज खेलता, सैर-सपाटे करता और माँ और छोटे भाइयो पर रोब जमाता । 'दोस्तो की बदौलत शौक पूरा होता रहता था । किसी का चेस्टर माँग लिया और शाम को हवा खाने निकल गये । किसी का पपशू पहन लिया, किसी की घडी कलाई पर बाँध ली । कभी बनारसी फैशन में निकले, कभी लखनवी फैशन में ।'

ट्रैजेडी के लिए जमीन बनी-बनायी तैयार है — एक तरफ गहनो का पागलपन और दूसरी तरफ अपनी हैसियत को छिपाने की, बढाकर दिखाने की कोशिश, खास बीमारी मुशीजी के अपने वर्ग की, सबसे ज्यादा जानलेवा

कितनी तकलीफ, कितनी मुसीबत की जड इस एक चीज में है, और कितना

मुबारक दिन होगा वह जब इसकी जड खोदकर फेंकी जा सकेगी — लेकिन जड बहुत गहरी है, खोदकर फेकना इतना आसान न होगा। कितनी तरह, कितने रास्तो से, कितने रूपो में वह आकर आदमी को बरगलाती है। शादी का तमाशा भी तो ऐसी ही चीज है, लोग खान्दान की आबरू के नाम पर, हित-नेत, टोले-पडोस वालो के आगे नाक न कटाने के नाम पर, जगहँसाई से बचने के नाम पर, अपनी झूठी रईसी का सिक्का जमाने के नाम पर कर्ज लेकर यह सब नाटक करते है लेकिन कौन समझाये उन अक्ल के मारो को और किसे ताब है समझने की ! कुएँ में भाँग पडी है।

"नाटक उस वक्त 'पास' होता है जब रसिक समाज उसे पसन्द कर लेता है। बारात का नाटक उस वक्त पास होता है जब राह चलते आदमी उसे पसन्द कर लेते हैं। नाटक की परीक्षा चार-पाँच घण्टे तक होती रहती है, बारात के नाटक की परीक्षा के लिए केवल इतने ही मिनटो का समय होता है। सारी सजा-वट, सारी दौडधूप और तैयारी का निपटारा पाँच मिनटो मे हो जाता है। अगर सबके मुँह से वाह वाह निकल गया तो तमाशा पास, नही फेल! रुपया, मेहनत, फिक्र, सब अकारथ। दयानाथ का तमाशा पास हो गया। शहर में वह तीसरे दर्जे में आता, गाँव में अव्वल दर्जे में आया। कोई बाजो की धो धो पो पो सुनकर मस्त हो रहा था, कोई मोटर को आँखे फाड-फाडकर देख रहा था, कुछ लोग फुलवारियो के तख्ते देखकर लोट-लोट जाते थे। आतिशबाजी सबके मनोरजन का केन्द्र थी। हवाइयाँ जब सन्न से ऊपर जाती और आकाश में लाल, हरे, नीले, पीले कुमकुमे-से बिखर जाते और जब चर्खियाँ छूटती और उनमें नाचते हुए मोर निकल आते तो लोग मत्रमुग्ध-से हो जाते थे। वाह, क्या कारीगरी है!"

चढावा आने का सीन देखिए —

● दस बजे सहसा फिर बाजे बजने लगे। मालूम हुआ कि चढाव आ रहा है। बारात में हरेक रस्म डके की चोट अदा होती है। दूल्हा कलेवा करने आ रहा है, बाजे बजने लगे। समधी मिलने आ रहा है, बाजे बजने लगे। चढाव ज्योही पहुँचा, घर में हलचल मच गयी। ...वहाँ सभी इस कला के विशेषज्ञ थे। मर्दों ने गहने बनवाये थे, औरतो ने पहने थे, सभी आलोचना करने लगे। चूहेदन्ती कितनी सुन्दर है, कोई दस तोले की होगी! वाह! साढे ग्यारह तोले से रत्ती भर भी कम निकल जाय तो कुछ हार जाऊँ! यह शेरदहाँ तो देखो, क्या हाथ की सफाई है! जी चाहता है, कारीगर के हाथ चूम लें। यह भी बारह तोले से कम न होगा। वाह! कभी देखा भी है, सोलह तोले से कम निकल जाये तो मुँह न दिखाऊँ। हाँ, माल उतना चोखा नही है। यह कगन तो देखो, बिल्कुल पक्की जुडाई है। कितना बारीक काम है कि आँख नही ठहरती। कैसा दमक रहा है, सच्चे नगीने है, झूठे नगीनो में यह आब कहाँ! चीज तो यह गुलूबन्द है, कितने

खूबसूरत फूल है ! और उनके बीच के हीरे कैसे चमक रहे है ! .

इस गोलाकार जमघट के पीछे अँधेरे में, आशा और आकाक्षा की मूर्ति-सी जालपा भी खडी थी । और सब गहनो के नाम कान में आते थे, चन्द्रहार का नाम न था । उसकी छाती धकधक कर रही थी । चन्द्रहार नही है क्या ? शायद सब के नीचे हो ! .. जब मालूम हो गया चन्द्रहार नही है, तो उसके कलेजे पर चोट-सी लग गयी । मालूम हुआ देह में रक्त की एक बूंद भी नही है । मानो उसे मूर्च्छा आ जायगी । वह लालसा जो सात वर्ष हुए उसके हृदय में अकुरित हुई थी, जो इस समय पुष्प और पल्लव से लदी खडी थी, उस पर वज्रपात हो गया । वह हरा-भरा लहलहाता हुआ पौदा जल गया — केवल उसकी राख रह गयी ।●

मगर नही, घबराने की ऐसी कोई बात नही है — स्त्री को अपने पुरुषार्थ का भरोसा करना चाहिए !

जालपा की एक सहेली शहजादी कहती है — 'नही, यह बात नही है जल्ली, आग्रह करने से सब कुछ हो सकता है । सास-ससुर को बार-बार याद दिलाती रहना । बहनोई जी से दो-चार दिन रूठे रहने से भी बहुत कुछ काम निकल सकता है । बस, यही समझ लो कि घरवाले चैन न लेने पाये, यह बात हरदम उनके ध्यान में रहे, उन्हे मालूम हो जाय कि बिना चन्द्रहार बनाये कुशल नही । तुम जरा भी ढीली पडी और काम बिगडा ।'

जहाँ रणनीति के ऐसे-ऐसे विचक्षण अनुभवी परामर्शदाता हो, वहाँ किला फतेह होने में फिर क्या देर ! और किला फतेह हो जाता है — लेकिन पति-देवता को घर से निर्वासित करके, जेलखाने की देहली पर पहुँचाकर !

उपन्यास जिस रग में शुरू हुआ था, शायद उसी रग में खत्म भी हो जाता । लेकिन हो नही सका उन्ही दिनो मेरठ षड्यन्त्र केस चल पडा ।

गबन का उत्तरार्द्ध पूरे का पूरा, क्रान्तिकारियो के खिलाफ पुलिस के झूठे केस की दास्तान है । इस तरह के झूठे केस पुलिस ने पहले भी बहुत चलाये थे, आये दिन चलाती रहती थी, यही धधा था उसका, लेकिन यह कुछ और ही चीज़ थी । २० मार्च १९२९ तक, जब कि देश भर में तलाशियाँ और लोगो की धर-पकड हुई, 'गबन' शायद आधे से कुछ कम ही लिखा गया था — और बाद के आधे से ज्यादा हिस्से पर अगर उस केस की छाया हो तो यह कुछ अचरज की बात न होगी क्योकि वह एक ऐसा केस था जिसने सारी दुनिया मे तहलका मचा दिया था । लेकिन उसको भी केवल निमित्त ही मानना चाहिए — सपूर्ण काल ही ऐसा था । आज़ादी की लहरें हल्के-हल्के उठने लगी थी, क्रान्तिकारियो की सर-गर्मियाँ — कही किसी अग्रेज हाकिम का वध और कही बम का धडाका — काफी बढी हुई थी, पुलिस का बर्बर रूप नित नये ढग से उद्घाटित हो रहा था ।

साइमन कमीशन के उपसहार के रूप में साण्डर्स-वध और लाहौर षड्यन्त्र

केस की शुरुआत पिछले साल की बाते थी ।

नया साल मेरठ षड्यन्त्र केस से शुरू हुआ ।

८ अप्रैल १६२६ को भगत सिंह और बटुकेश्वर दत्त ने दिल्ली असेम्बली में बम फेका ।

१३ सितम्बर १६२६ को जतीनदास की मृत्यु लाहौर जेल में ६४ दिन की भूख-हडताल से हुई ।

२८ सितम्बर १६२६ को वही लखनऊ में ए० आई० सी० सी० की बैठक हुई जिसमें कांग्रेस के अगले कराची अधिवेशन के मनोनीत अध्यक्ष गाधीजी ने अपना नाम वापस लेकर जवाहरलाल का नाम प्रस्तावित किया ।

३१ अक्टूबर १६२६ को बडे लाट अर्विन ने विलायत से लौटकर इगलैएड की नयी लेबर सरकार की इच्छानुसार भारत के राजनैतिक सुधारो के सम्बन्ध में एक महत्वपूर्ण वक्तव्य दिया ।

२३ दिसम्बर १६२६ को गाधी-अर्विन मिलन हुआ और सरकार की पुरानी दुरगी नीति की कलई खुलना शुरू हुई ।

३१ दिसम्बर १६२६ को बारह बजे रात कांग्रेस ने लाहौर में पूर्ण स्वराज्य का प्रस्ताव स्वीकार किया । आनेवाली २६ जनवरी पूर्ण स्वराज्य दिवस घोषित हुआ — देश की चतुर्मुख स्वाधीनता के लिए सामूहिक प्रतिज्ञा का दिन ।

ताज्जुब की बात होती अगर मुशीजी का लिखना इस जबर्दस्त हलचल का असर न लेता — और असर उसने लिया, आनन-फानन लिया । एक अच्छे शिल्पी के सधे हुए हाथो का काम है, इसलिए जोड का पता नही चलता, मगर गौर से देखो तो 'गबन' के पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध में जोड है। दोनो का रग, दोनो की हवा, दोनो की बू-बास — सब कुछ अलग है । रमानाथ के इलाहावाद से भागकर कलकत्ता पहुँचते ही दुनिया बदल जाती है । सामाजिक रूढियो की काई और गर्द और धुंधलके में लिपटे हुए मर्दो और औरतों की टोली पीछे छूट जाती है और आजादी के लडाई में अपने दो होनहार बेटो की भेट चढा देनेवाले देवीदीन का तेजस्वी चेहरा उभरकर सामने आ जाता है , सत्य और असत्य, न्याय और अन्याय के सघर्ष में आत्मा के नये शिखर दिखायी पडते है , जालपा एक नयी ही जालपा है, और किस्से में जैसे कि जिन्दगी में, पुलिस का नगा नाच हो रहा है — सामाजिक उपन्यास राजनीतिक उपन्यास बन जाता है ।

५ दिसम्बर १६२६ को सब्बरवाल ने जापान से अपने एक लम्बे खत में लिखा था —

'बेचारा पजाब, जो अभी कुछ रोज पहले प्रकृति की ऐसी बुरी मार सह चुका है, अब अपने को पुलिस अत्याचारो के आतक-राज्य में पाता है । यह चीज पजाब में ही , या यो कहूँ कि हिन्दुस्तान में ही, मुमकिन है कि पुलिस अडर ट्रायल

कैदियो को मार-मारकर लहूलुहान कर दे और उसका बाल भी बाँका न हो।

'पुलिस ने जैसा वातावरण तैयार कर दिया है उससे यही नतीजा निकालना पडता है कि वाइसराय ने जो घोषणा की है और लेबर सरकार ने हिन्दोस्तान के लिए डोमिनियन गवर्नमेण्ट की जो उम्मीदे दिलायी है, वह जनता की आँखो में धूल झोकने और राष्ट्रीय कार्यकर्ताओ के बीच फूट डालने की एक और कोशिश के अलावा कुछ नही है। बडे खेद की बात है कि जहाँ एक ओर सारा मुस्लिम ससार जाग रहा है वहाँ हिन्दोस्तान के मुसलमान अपने देश के विदेशी शासको के हाथ का खिलौना बने हुए है और अपनी सम्मिलित मातृभूमि के स्वराज्य की ओर आगे बढने के रास्ते में रोडे अटका रहे है।'

मुशीजी ने खत के इस टुकडे के जवाब में लिखा था —

'आपको खबर मिली होगी कि इस साल काग्रेस ने एक कदम और आगे बढाया और पूर्ण स्वराज्य का निश्चय किया। इस प्रश्न पर बडा मतभेद है। माडरेट, मध्यममार्गी, लोग इतने आगे तक जाना नही चाहते और तरुण राजनीतिज्ञ इससे कम की बात सुनने के लिए तैयार नही है। मेरा खयाल है कि पूर्ण स्वराज्य इगलैण्ड के घमण्डी साम्राज्यवाद का अच्छा जवाब है। डोमिनियन स्टेटस धोखे की टट्टी है। एक चीज जो मै समझ नही पाता वह है काग्रेस का कौसिल-बहिष्कार का निश्चय। जहाँ से अपने बूते भर जो कुछ तोला-माशा मिले, हमें ले लेना चाहिए। कौसिल को प्रगति-विरोधी विधान बनाने का मौका क्यो दो ? आज़ादी ऐसा मुँह का कौर तो नही है कि हम मजे में उन्हे और भी दो-एक सेशन शरारत करने दे सके।'

अपने इसी खत में सब्बरवाल ने यह भी लिखा था —

'जापान की जनता हिन्दोस्तान की ओर से वैसी उदासीन नही है जैसा कि आपको जापान टाइम्स देखने से लगा होगा। जापानी भाषा के पत्रो में बराबर हिन्दोस्तान के बारे में ढेरो चीजें निकलती रहती है, और यहाँ पर असल महत्व जापानी भाषा के पत्रो का ही है, अग्रेजी के पत्र तो केवल विदेशी निवासियो के लिए छपते है और उनका प्रचार बहुत सीमित है क्योकि जापानी उनकी ख़ाक परवाह नही करते। जापानी भाषा के पत्र बहुत ही शक्तिशाली है और उनमें से कुछ तो ऐसे है जो दुनिया के किसी पत्र से टक्कर ले सकते है। ... हर आदमी दो-एक पत्र मँगाता है, चाहे वह पुलिसमैन हो चाहे सडक की सफाई करनेवाला मेहतर।

'महात्मा गाधी का नाम यहाँ बच्चा-बच्चा जानता है। यहाँ पर उनकी जितनी इज्जत है, उतनी आज के दूसरे किसी हिन्दोस्तानी या योरोपियन की शायद न होगी। अगर वह कभी यहाँ आयें तो साधारण जनता उनके दर्शन या हस्ताक्षर के लिए पागल हो जायगी। बडे अफसोस की बात है कि भारतीय

नेता कभी जापान नही आते, हमेशा योरोप और अमेरिका के चक्कर लगाते रहते है। जापानियो के लिए हिन्दोस्तान को जानना-समझना बहुत मुश्किल है जब तक कि हमारे आदमी यहाँ आते नही और दिल खोलकर उनसे बाते नही करते।...'

और फिर अत में—'मैं आपसे अनुरोध करूँगा कि आप उस सघर्ष से प्रेरणा लेकर, जो हमारे युवक-युवतियाँ अपनी पददलित मातृभूमि की मुक्ति के लिए कर रहे है, कुछ कहानियाँ देशप्रेम के विषय को लेकर लिखे।'

यह भी कोई कहने की बात है, और सो भी मुशीजी से? यही तो उन्होने किया है सारी जिन्दगी—और अब फिर वह घडी आ रही है जब कि सपूर्ण चेतना सब ओर से समेटकर इसी एक बिन्दु पर केन्द्रित कर देनी होगी। मन की सहज वृत्ति वही है, सघर्ष की परिस्थितियाँ उसी को और भी रेखाकित कर देती है। १० सितम्बर १६२६ को उन्होने विनोदशकर व्यास को लिखा—'मेरे विचार में, सभी के विचार में, साहित्य के तीन लक्ष्य हैं—परिष्कृति, मनोरजन और उद्घाटन। लेकिन मनोरजन और उद्घाटन भी उसी परिष्कृति के अन्तर्गत आ जाते है क्योकि लेखक का मनोरजन केवल भाँडो या नक्कालो का मनोरजन नही होता, उसमें परिष्कार का भाव छिपा रहता है। उसका उद्घाटन भी परिष्कृति का उद्देश्य सामने रखकर ही होता है। हम गुप्त मनोभावो को इसलिए नही दर्शाते कि हमें उनकी दार्शनिक विवेचना करनी है, बल्कि इसलिए कि हम सुन्दर को आकर्षक और असुन्दर को हेय दिखाना चाहते है।'

२२ जनवरी १६३० को एक तरुण लेखक को उन्होने लिखा—

"युवक को आशावादी मन से लिखना चाहिए, उसकी आशावादिता सक्रामक होनी चाहिए, जिसमें कि वह दूसरो में भी उसी भावना का सचार कर सके। मेरे विचार में साहित्य का सबसे ऊँचा लक्ष्य दूसरो को उठाना, उन्नत करना है। हमारे यथार्थवाद को भी यह बात भूलनी न चाहिए। कितना अच्छा हो कि आप 'मनुष्यो' की सृष्टि करें, निर्भीक, सच्चे, स्वाधीन मनुष्य, हौसलेमन्द, साहसी मनुष्य, ऊँचे आदर्शो वाले मनुष्य। इस वक्त ऐसे ही आदमियो की जरूरत है।" तीन दिन बाद, २६ जनवरी को सारा देश आजादी की प्रतिज्ञा लेगा—और फिर हर साल लेता रहेगा जब तक कि आजादी मिल नही जाती। जाहिर है कि इस वक्त ऐसे ही आदमियो की ज़रूरत है।

इसी बात को कहानी के शिल्प पर ढालते हुए मुशी जी ने दो रोज बाद, २४ जनवरी को विनोदशकर व्यास को लिखा—'मैं जो चाहता हूँ वह यह है कि कहानियो के प्लाट जीवन से लिये जायँ और जीवन की समस्याओ को हल करें। कहानी से कविता का काम लेना मुझे नही जँचता। गद्यकाव्य हृदय के तारो पर चोट करता है, कहानी से अधिक, क्योकि वह तो चोट करने के लिए ही लिखा जाता है। लेकिन उसकी चोट उस सगीत की ध्वनि के सदृश है जो एक बार कान

में पडकर, एक चुटकी लेकर गायब हो जाती है। कहानी आपकी आँखो के सामने चरित्रो को खेलते हुए दिखाती है।'

भावना के, चिन्तन के, रचना के स्तर पर राष्ट्रीय जीवन की आँधियो के तमाचे बराबर उनको लग रहे है, लेकिन बाहर से कुछ पता नही चलता, दिनचर्या में कोई अन्तर नही पडता, वही घर से दफ्तर, दफ्तर से घर — और एक कोने में बैठकर लिखना-पढना।

इन्ही दिनो, सन् २९ के किसी महीने में उनका परिचय एक ऐसे व्यक्ति से हुआ जो एक तरफ काग्रेस का अच्छा काम करनेवाला था तो दूसरी तरफ प्रतिभा-सम्पन्न कथाकार। उस व्यक्ति का नाम जैनेन्द्रकुमार था। दोनो में वय का बडा अन्तर था, लेकिन मुशीजी के लिए उसका कोई महत्व न था, और यो ही एक कहानी को लेकर जो परिचय का सूत्र स्थापित हुआ था उसने, अनमिल स्वभाव के बावजूद, सात बरस के भीतर-भीतर एक सच्ची और गहरी मैत्री का रूप ले लिया जिसमें दोनो ओर एक-सा आदर था, स्नेह था। इसकी कहानी खुद जैनेन्द्र कुमार की ज़बानी सुनिए —

● सन् २९ आते-आते मै अकस्मात् कुछ लिख बैठा। इस अपने दुस्साहस पर मै पहले-पहल तो बहुत ही सकुचित हुआ। पर विधि पर किसका बस। जब मुझ पर यह आविष्कार प्रकट हुआ कि मै लिखता हूँ तब यह ज्ञान भी मुझे था कि वही प्रेमचद जो पूरी रगभूमि को अपने भीतर से प्रकट करते है, लखनऊ से निकलने-वाली 'माधुरी' के सपादक है। सो कुछ दिनो बाद एक रचना बडी हिम्मत बाँध-कर डाक से मैंने उन्हे भेज दी। लिख दिया कि यह सपादक के लिए नही है, ग्रथ-कर्ता प्रेमचद के लिए है। छापे में आने योग्य तो मैं हो सकता नही, पर लेखक प्रेमचद उन पक्तियो को एक निगाह देख सकें और मुझे कुछ बता सकें तो मैं अपने को धन्य मानूँगा। कुछ दिनो के बाद वह रचना ठीक-ठीक तौर पर लौट आयी। साथ एक कार्ड भी मिला जिस पर छपा हुआ था कि यह रचना धन्यवाद के साथ वापस की जाती है। यह मेरे दुस्साहस के योग्य ही था, फिर भी मन कुछ बैठने-सा लगा। मैं उस अपनी कहानी को तभी एक बार फिर पढ गया। आखिरी स्लिप समाप्त करके उसे लौटता हूँ कि पीठ पर फीकी लाल स्याही में अग्रेजी में लिखा है — पूछो कि यह अग्रेजी से अनुवाद तो नही है। जाने किस अतर्क्य पद्धति से यह प्रतीति उस समय मेरे मन में असदिग्ध रूप से भर गयी कि हो न हो यह प्रेमचद जी के शब्द है, उन्ही के हस्ताक्षर है। उस समय मैं एक ही साथ मानो कृतज्ञता में नहा उठा; मेरा मन तो एक प्रकार से मुर्झा ही चला था लेकिन इस छोटे से वाक्य ने मुझे सजीवन दिया। तब से मैं खूब समझ गया हूँ कि सच्ची सहानुभूति का एक कण भी कितना प्राणदायक होता है और हृदय को निर्मल रखना अपने आप में कितना बडा उपकार है। ....

कुछ दिनो बाद एक और कहानी मैने उन्हे भेजी। पहली कहानी का कोई उल्लेख नही किया। यह फिर लिख दिया कि लेखक प्रेमचद की उस पर सम्मति पाऊँ, यही अभीष्ट है, छपने लायक तो वह होगी ही नही। उत्तर में मुझे एक कार्ड मिला। उसमें दो-तीन पक्तियो से अधिक न थी। स्वय प्रेमचद जी ने लिखा था — प्रिय महोदय, दो (या तीन) महीने में माधुरी का विशेषाक निकलनेवाला है। आपकी कहानी उसके लिए चुन ली गयी है।

इस पत्र पर मै विस्मित होकर रह गया। पत्र में प्रोत्साहन का, बधाई का, प्रशसा का एक शब्द भी नही था। लेकिन जो कुछ था वह ऐसे प्रोत्साहनो से भारी था। प्रेमचद जी की अन्त प्रकृति की झलक पहली ही बार मुझे उस पत्र में मिल गयी। वह जितने सद्भावनाशील थे उतने ही उन सद्भावनाओ के प्रदर्शन में सकोची थे। नेकी हो तो कर देना पर कहना नही — यह उनकी आदत हो गयी थी। मैंने उस पत्र को कई बार पढा था और मैं दग रह गया था कि यह व्यक्ति कौन हो सकता है जो एक अनजान लडके के प्रति इतनी बडी दया का, उपकार का काम कर सकता है, फिर भी उसका तनिक भी श्रेय लेना नही चाहता। अगर उस पत्र के साथ कृपाभाव से भरे वाक्य भी होते तो क्या बेजा था। लेकिन प्रेमचद वह व्यक्ति था जो उनसे ऊँचा था। उसने कभी जाना ही नही कि उसने कभी उपकार किया है या कर सकता है। नेकी उससे होती थी, उसे नेकी करने की जरूरत न थी।

लेकिन मै तो तब बच्चा था न, अपने को छपा देखने को उतावला था। लिखा — अगर वह कहानी छपने योग्य है तो अगले अक में ही छपा दीजिए। विशेषाक के लिए और भेज दूँगा।

उत्तर आया — प्रिय महोदय, लिखा जा चुका है कि वह कहानी विशेषाक के लिए चुन ली गयी है, उसी में छपेगी।

इस उत्तर पर मैं उसके लेखक की ममताहीन सद्भावना पर चकित होकर रह गया। अब भी मैं उसको यादकर विस्मय से भर जाता हूँ। मुझे मालूम होता है कि प्रेमचद जी की सबसे घनिष्ठ विशेषता यही है। यही साहित्य में खिली और फली है। उनके साहित्य की रग-रग में सद्भावना व्याप्त है। लेकिन भावुकता में वह सद्भावना किसी भी स्थल पर कच्ची या उथली नही हो गयी। वह अपने में समायी हुई है, छलक-छलक नही पडती। प्रेमचद का साहित्य इसीलिए पर्याप्त कोमल न दीखे पर ठोस है और खरा है।●

मुलाकात की कहानी कुछ कम दिलचस्प नही है —

●कुम्भ के मेले पर इलाहाबाद जाना हुआ। वहाँ प्रेमचदजी का जवाब भी मिल गया। लिखा था — अमीनुद्दौला पार्क के पास लाल मकान है। लौटते वक्त आओ ही। ज़रूर आओ।

सन् ३० की जनवरी थी। खासे जाडे थे। बनारस से गाडी लखनऊ रात

के कोई चार बजे ही जा पहुँची थी। अँधेरा था और शीत भी कुछ कम न थी। ऐसे वक्त अमीनुद्दौला पार्क के पासवाला लाल मकान तो मिल जायगा ही, पर मुमकिन है असुविधा भी कुछ हो। लेकिन दर-असल जो परीशानी उठानी पडी उसके लिए मै बिलकुल तैयार न था।

पाँच बजे के लगभग अमीनुद्दौला पार्क की सडक के बीचोबीच आ खडा हो गया हूँ, सामान सामने निर्जन एक दूकान के तख्तो पर रखा है। इक्का-दुक्का शरीफ आदमी टहलने के लिए आ-जा रहे है। मै लगभग प्रत्येक से पूछता हूँ — जी, माफ कीजिएगा। प्रेमचदजी का मकान आप बतला सकते है? नजदीक ही कही है। जी हाँ, प्रेमचद।

उसी सडक पर ही मुझे छ बज आये। साढे छ भी बजने लगे। तब तक दर्जनो सज्जनो को मैने क्षमा किया। लगभग सभी को मैने अपने अनुसन्धान का लक्ष्य बनाया था लेकिन मेरे मामले में सभी ने अपने को निपट असमर्थ प्रकट किया।

आसपास मकान कम न थे और लाल भी कम न थे। और जहाँ मैं खडा था, वहाँ से प्रेमचदजी का मकान मुश्किल से बीस गज निकला, लेकिन उस रोज सम्भ्रान्त श्रेणी से प्रेमचदजी तक के उस बीस गज़ के दुर्लंघ्य अन्तर को लाँघने में काफी देर लगी। और क्या इसे एक सयोग ही कहूँ कि अन्त में जिस व्यक्ति के नेतृत्व का सहारा थामकर मै उन बीस गजो को पारकर प्रेमचदजी के घर पर आ लगा वह कुल-शील की दृष्टि से समाज का उच्छिष्ट हो था?

जीने के नीचे से झाँकने पर मुझे जो कुछ ऊपर दीखा उससे मुझे बहुत धक्का लगा। जो सज्जन ऊपर खडे थे उनकी बडी घनी मूँछें थी, पाँच रुपयेवाली लाल इमली की चादर ओढे थे जो काफी पुरानी और चिकनी थी, बालो ने आगे आकर माथे को कुछ ढँक-सा लिया था और माथा छोटा मालूम देता था। सिर जरूरत से छोटा प्रतीत हुआ। मामूली धोती पहने थे जो घुटनो से जरा नीचे तक आ गयी थी। मैंने जान लिया कि प्रेमचद यही है। इस परिज्ञान से बचने का अवकाश न था। पर उनको ही प्रेमचद जानकर मेरे मन को कुछ सुख उस समय नही हुआ। क्या जीते जी प्रेमचद इनको ही मानना होगा? ... प्रेमचद के नाम पर यह सामने खडा व्यक्ति इतना साधारण, इतना स्वल्प, इतना देहाती मालूम हुआ कि ....

इतने में उस व्यक्ति ने फिर कहा — आओ भाई, आ जाओ।

मैं एक हाथ में बक्स उठा जीने पर जो चढने लगा कि उस व्यक्ति ने झटपट आकर उस बक्स को अपने हाथ में ले लेना चाहा।

घर सुव्यवस्थित नही था। आँगन मे पानी निरुद्देश्य फैला था। चीजें भी ठीक अपने-अपने स्थान पर नही थी। पर पहली निगाह ही यह जो कुछ दीखा, दीख सका। आगे तो मेरी निगाह इन बातो को देखने के लिए खाली ही नही रही।

सब काम छोडकर प्रेमचदजी मुझे लेकर बैठ गये। सात बज गये, साढे सात बज गये, आठ होने आये, बातो का सिलसिला टूटता ही न था। इस बीच मैं बहुत कुछ भूल गया। भूल गया कि यह प्रेमचद है, हिन्दी-साहित्य के सम्राट है। यह भी भूल गया कि मैं उसी साहित्य के तट पर भौचक खडा अनजान बालक हूँ। यह भी भूल गया कि क्षण भर पहले इस व्यक्ति की मुद्रा पर मेरे मन में अप्रीति, अनास्था उत्पन्न हुई थी। .

उस व्यक्ति की बाहरी अनाकर्षकता उस क्षण से जाने किस प्रकार मुझे अपने आप में सार्थक वस्तु जान पडने लगी। उनके व्यक्तित्व का बहुत कुछ आकर्षण उसी अ-कोमल आनबान में था। .

इस जगह आकर प्रेमचद की मेरी अपनी काल्पनिक मूर्तियाँ जो अतिशय छटामयी और प्रियदर्शन थी, एकदम ढहकर चूर-चूर हो गयी और मुझे तनिक भी दु ख नही होने पाया। .

मैं यह देखकर विस्मित हुआ कि आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियो से वह कितने घनिष्ठ रूप में अवगत है। योरोपीय साहित्य में जानने योग्य उन्होने जाना है। जानकर ही नही छोड दिया, उसे भीतर से पहचाना भी है और फिर परखा और तौला है। वह अपने प्रति सचेत है, Consistent है, स्वनिष्ठ है।

मैंने कहा — बगाली साहित्य हृदय को अधिक छूता है इससे आप सहमत है ? तो इसका कारण क्या है ?

प्रेमचदजी ने कहा — सहमत तो हूँ। कारण, उसमें स्त्री-भावना अधिक है। मुझमें वह काफी नही है।

सुनकर मैं उनकी ओर देख उठा। पूछा — स्त्रीत्व है, इसी से वह साहित्य हृदय को अधिक छूता है ?

बोले — हाँ तो। वह जगह-जगह स्मरणशील हो जाता है। स्मृति में भावना की तरलता अधिक होती है, सकल्प में भावना का काठिन्य अधिक होता है ; विधायकता के लिए दोनो चाहिए

कहते-कहते उनकी आँखें मुझसे पार कही देखने लगी थी। उस समय उन आँखो की सुर्खी एकदम गायब होकर उनमें एक प्रकार की पारदर्शिता भर गयी थी मानो अब उनकी आँखो के सामने जो हो स्वप्न हो। उनकी वाणी में एक प्रकार की भीगी कातरता बजने लगी। वह स्वर मानो उच्छ्वास में निवेदन करता हो कि 'मैं कह तो रहा हूँ पर जानता मैं भी कुछ नही हूँ। शब्द तो शब्द है, तुम उन पर मत रुकना। उनके अगोचर में जो भाव ध्वनित होता हो उसी में पहुँचकर जो पाओगे, पाओगे। वही पहुँचो, हम-तुम पर रुको नही। राह में जो बाधा है, लाँघते जाओ, लाँघते जाओ, उल्लघित होने में ही बाधा की सार्थकता है।'

बोले — जैनेन्द्र, मुझे कुछ ठीक नही मालूम। मैं बगाली नही हूँ। वे लोग

भावुक है। भावुकता से जहाँ पहुँच सकते है, वहाँ मेरी पहुँच नही। मुझमें उतनी देन कहाँ ? ज्ञान से जहाँ नही पहुँचा जाता, वहाँ भी भावना से पहुँचा जाता है। वहाँ भावना से ही पहुँचा जाता है। लेकिन जैनेन्द्र, मैं सोचता हूँ काठिन्य भी चाहिए।

कहकर प्रेमचद जैसे कन्या की भाँति लज्जित हो उठे। उनकी मूँछे इतनी घनी थी कि बेहद। उनमें सफेद बाल तब भी रहे होगे। फिर भी मै कहता हूँ, वह कन्या की भाँति लज्जा में घिर गये। बोले — जैनेन्द्र, रवीन्द्र, शरत् दोनो महान् है। पर हिन्दी के लिए क्या वही रास्ता है ? मेरे लिए तो वह राह नही ही है।

उनकी वाणी में उस समय स्वीकारोक्ति हो बजती मुझे सुन पडी। गर्वोक्ति की तो वहाँ सभावना ही न थी।

बातो का सिलसिला अभी और भी चलता लेकिन भीतर से खबर आयी कि अभी डाक्टर के यहाँ से दवा तक लाकर नही रखी गयी है, ऐसा हो क्या रहा है ! दिन कितना चढ गया, क्या इसकी भी खबर नही है ?

प्रेमचद अप्रत्याशित भाव से उठ खडे हुए। बोले — जरा दवा ले आऊँ, जैनेन्द्र। देखो, बातो में कुछ खयाल ही न रहा।

कहकर इतने जोर से कहकहा लगाकर हँसे कि छत के कोनो में लगे मकडी के जाले हिल उठे। .... मैंने इतनी खुली हँसी जीवन में शायद ही कभी सुनी थी। ●

गाधीजी ने वाइसराय को जो ख़त २ मार्च को लिखा था, उसका बहुत ही ठण्डा, बहुत ही रूखा, नौकरशाहियत से भरा हुआ जवाब उधर से आया — हमें बडा खेद है कि मि० गाधी एक ऐसा रास्ते अपनाने की सोच रहे है जिसमें स्पष्ट रूप से कानून का उल्लघन होगा और सार्वजनिक शान्ति के लिए सकट उपस्थित होगा

गाधीजी ने जवाब दिया — घुटने टेककर मैने रोटी माँगी थी और मुझे पत्थर मिला। अग्रेज जाति केवल शक्ति की भाषा समझती है। वाइसराय के जवाब से मुझे कोई ताज्जुब नही हुआ। यह कौम एक ही सार्वजनिक शान्ति जानती है और वह सार्वजनिक कारागार की शान्ति है। हिन्दुस्तान एक विराट् कैदख़ाना है। मैं इस (अग्रेज़ी) कानून को मानने से इन्कार करता हूँ और इस अनिवार्य, निर्विकल्प शान्ति की सतप्त एकरसता को भग करना अपना पुनीत कर्तव्य समझता हूँ जिससे राष्ट्र का हृदय भीतर ही भीतर घुटा जा रहा है।

महाभारत आरम्भ होनेवाला है। कुरुक्षेत्र में सेनाएँ आमने-सामने खडी है। रणभेरी बजने की देर है।

मुशीजी भी अपने घर के एक कोने में बैठे हुए इसी महाभारत की अपनी तैयारियो में लगे है। मुल्क को कलम के सिपाहियो की कुछ कम जरूरत नही है। वह कलम के सिपाही है। अकबर ने कहा है, जब तोप मुकाबिल हो अख़बार

निकालो। बात मजाक मे कही गयी है मगर मजाक नही है।

सन् २६ खत्म और ३० शुरू होते-होते उन्होने चारो तरफ घोडे दौडा दिये थे कि वह 'हस' के नाम से एक साहित्यिक-राजनीतिक मासिकपत्र निकालने जा रहे है।

१२ फरवरी १६३० को निगम साहब को लिखा — "मैं फागुन यानी नये साल से एक हिन्दी रिसाला 'हस' निकालने जा रहा हूँ। ६४ सुफहात का होगा और ज्यादातर अफसानो से ताल्लुक रखेगा। है तो हिमाकत[1] ही, दर्दे सर बहुत और नफा कुछ नही, लेकिन हिमाकत करने को जी चाहता है। जिन्दगी हिमाकतो मे गुजर गयी, एक और सही।"

यानी कि मुशीजी अपनी तैयारियो में किसी से पीछे रह जानेवाले असामी नही है। गाधीजी की डाँडी यात्रा २५ मार्च को शुरू हुई। मुशीजी उसके पन्द्रह रोज पहले ही, अपना मार्च का अक लेकर, मैदान में आ डटे थे।

हस की नीति की घोषणा करते हुए उन्होने लिखा —

● हस के लिए यह परम सौभाग्य की बात है कि उसका जन्म ऐसे शुभ अवसर पर हुआ है जब भारत में एक नये युग का आगमन हो रहा है, जब भारत पराधीनता की बेडियो से निकलने के लिए तडपने लगा है। इस तिथि की याद-गार एक दिन देश में कोई विशाल रूप धारण करेगी।

कहते है, जब श्री रामचन्द्र जी समुद्र पर पुल बाँध रहे थे उस वक्त छोटे-छोटे पशु-पक्षियो ने मिट्टी ला-लाकर समुद्र के पाटने में मदद दी थी। इस समय देश में उससे कही विकट सग्राम छिडा हुआ है। भारत ने शान्तिमय समर की भेरी बजा दी है। हस भी मानसरोवर की शान्ति छोडकर, अपनी नन्ही-सी चोच में चुटकी भर मिट्टी लिये हुए समुद्र पाटने — आजादी की जग में योग देने — चला है। समुद्र का विस्तार देखकर उसकी हिम्मत छूट रही है, लेकिन सघ-शक्ति ने उसका दिल मजबूत कर दिया है।

न डोमिनियन माँगे से मिलेगा न स्वराज्य। जो शक्ति डोमिनियन छीनकर ले सकती है, वह स्वराज्य भी ले सकती है। इगलैण्ड के लिए दोनो समान है। डोमिनियन स्टेटस में गोलमेज कान्फ्रेन्स का उलझावा है, इसलिए वह भारत को इस उलझावे में डालकर भारत पर बहुत दिनो तक राज्य कर सकता है। फिर उसमें किस्तो की गुजाइश है। और किस्तो की अवधि एक हजार वर्षो तक बढायी जा सकती है। इसलिए इगलैण्ड का डोमिनियन स्टेटस के नाम से न घबडाना समझ में आता है। स्वराज्य में किस्तो की गुजाइश नही, न गोलमेज का उलझावा है, इसलिए वह स्वराज्य के नाम से कानो पर हाथ रखता है, लेकिन हमारे ही भाइयो

---

१ मूर्खता

में इस प्रश्न पर क्यो मतभेद है, इसका रहस्य आसानी से समझ में नही आता। वे इतने बेसमझ तो है नही कि इगलैण्ड की इस चाल को न समझते हो। अनुमान यही होता है कि इस चाल को समझकर भी वे डोमिनियन के पक्ष मे है तो इसका कुछ और आशय है। डोमिनियन पक्ष को गौर से देखिए तो उसमें हमारे राजे-महराजे, हमारे जमीन्दार, हमारे धनी-मानी भाई ही ज्यादा नजर आते है। क्या इसका यह कारण है कि वे समझते है कि स्वराज्य की दशा में उन्हे बहुत कुछ दबकर रहना पडेगा ? स्वराज्य में मजदूरो और किसानो की आवाज इतनी निर्बल न रहेगी ? क्या यह लोग उस आवाज के भय से थरथरा रहे है ? हमे तो ऐसा ही जान पडता है। वह अपने दिल में समझ रहे है कि उनके हितो की रक्षा अंग्रेजी शासन ही से हो सकती है। स्वराज्य कभी उन्हे गरीबो को कुचलने और उनका रक्त चूसने न देगा। स्वराज्य गरीबो की आवाज है, डोमिनियन गरीबो की कमाई पर मोटे होनेवालो की। ●

सभी स्वाधीनता चाहनेवालो का सम्मिलित आन्दोलन है यह, लेकिन स्वाधीनता का अर्थ सबके लिए एक नही है। सबके अलग-अलग चित्र है, अलग-अलग परिकल्पनाएँ है। समान बात सब में एक ही है — विदेशी दासता से मुक्ति। उसके बाद सबको छूट है, जैसे चाहे जिस ओर चाहे ले चले। मुशीजी के पास भी अपनी तसवीर है, उसी को उन्हे रखना है देश के सामने, और जुटाना है देशवालो के लिए नैतिक-मानसिक आहार जिस पर आजादी के सैनिक पलते है और रक्तबीज की कहानी सच होती है।

महात्माजी के पत्र के बारे में मुशीजी ने लिखा —

● महात्माजी ने वाइसराय को जो पत्र लिखा है उसे अल्टीमेटम कहना उस पत्र के महत्व को मिटाना है। वह एक सच्चे, आत्मदर्शी हृदय के उद्गार है। उसमें एक भी ऐसा शब्द नही है जिसमें मालिन्य, क्रोध, द्वेष या कटुता की गध हो। महात्मा गाधी ने स्पष्ट कह दिया है कि हम पद के लिए, अधिकार के लिए स्वराज्य नही चाहते, हम स्वराज्य चाहते है उन गूँगे, बेजबान आदमियो के लिए जो दिन-दिन दरिद्र होते जा रहे है। अगर आज सभी अंग्रेज अफसरो की जगह हिन्दोस्तानी हो जायँ, तब भी हम स्वराज्य से उतने ही दूर रहेगे जितने इस वक्त है। हमारा उद्देश्य तो तभी पूरा होगा जब हमारी दरिद्र, क्षुधित, वस्त्रहीन जनता की दशा कुछ सुधरेगी।

मगर हमारे ही देश में हमारे ही कुछ ऐसे भाई है जिन्हे इस निवेदन में कोई नयी बात, कोई नया सन्देश नही नजर आता। वह अब भी यही रट लगाये जा रहे है कि महात्मा जी आग से खेल रहे है, समाज की जड खोदनेवाली शक्तियो को उभार रहे है। जिन्हे अंग्रेजो के साथ मिलकर प्रजा को लूटते हुए अपना स्वार्थ सिद्ध करने का अवसर प्राप्त है, वे इसके सिवा और कह ही क्या सकते है। वे अपना स्वार्थ देखते है, अपनी प्रभुता का सिक्का जमते देखना चाहते

है। उनके स्वराज्य में गरीबो को, मजदूरो को, किसानो को स्थान नही है, स्थान है केवल अपने लिए। मगर जिस व्यक्ति के हृदय में गरीबो की दिन-दिन गिरती हुई दशा देखकर ज्वाला-सी उठती रहती है, जो उनकी मूक वेदना देख-देखकर तडप रहा है, वह किसी ऐसे स्वराज्य की कल्पना से सतुष्ट नही हो सकता जिसमे कुछ ऊँचे दर्जे के आदमियो का हित हो और प्रजा की दशा ज्यो की त्यो बनी रहे। हमारी लडाई केवल अग्रेज सत्ताधारियो से नही, हिन्दुस्तानी सत्ताधारियो से भी है। हमे ऐसे लक्षण नजर आ रहे है कि यह दोनो सत्ताधारी इस अधार्मिक सग्राम मे आपस में मिल जायँगे और प्रजा को दबाने की, इस आन्दोलन को कुचलने की कोशिश करेगे ... ●

मुशीजी पुराने बागी है। राष्ट्रीय आन्दोलन के जोशीले सिपाही है — कलम के सिपाही — लेकिन अपने सोचने-विचारने पर किसी तरह की कैद या पाबन्दी उन्हे मजूर नही है। हमेशा सबसे दो कदम आगे रहते है। कोई गम नही अगर आज लोग उस तरह से नही सोचते, या सोचते डरते है — कल के रोज सोचेंगे, उनकी हिम्मत खुलेगी।

और इस तरह वह अपनी चौकी सँभालकर बैठे जाते है, योगी की तरह अपना ध्यान सब ओर से समेटकर प्रस्तुत सघर्ष पर केन्द्रित कर लेते है, और कलम तेजी से दौडने लगता है। हर महीने एक कहानी और एक-दो लेख, कभी दो कहानियाँ भी, (जुलूस, समर-यात्रा, पत्नी से पति, शराब की दूकान, मैकू) और सयत क्रोध से तिलमिलाते हुए सपादकीय

नये उपन्यास की घोषणा भी पहले ही अक में आ गयी थी (कि वह अगले अक से धारावाहिक प्रकाशित होगा) लेकिन काम की उस भीड में वह सभव नही हुआ, बस कथानक और चरित्रो का एक हल्का-सा प्रारूप 'समर-यात्रा' कहानी में अपनी झलक दिखाकर रह गया, 'कर्मभूमि' लिखने की घडी आयी तब जब एक ओर सघर्ष तेज हुआ, उसकी शक्ल कुछ और साफ हुई, और दूसरी ओर प्रेस की जमानत और पत्नी की गिरफ्तारी से कर्मभूमि घर के भीतर घुस आयी!

लेकिन वह अभी कुछ आगे की बात है।

२५ मार्च को गाधीजी ने डाँडी-यात्रा शुरू की और ६ अप्रैल को वही समुद्र किनारे नमक बटोरना और नमक बनाना शुरू हुआ — जो कि सारे देश के लिए आन्दोलन शुरू करने का सकेत था। जगह-जगह नमक बनने लगा, शराब और विदेशी कपडो की दूकानो पर धरना दिया जाने लगा।

मुशीजी ने ७ अप्रैल को निगम साहब को लिखा —'इस नमक ने खलजान[१] में डाल रखा है। इत्मीनाने-कल्ब[२] रुखसत हो रहा है।'

---

१ मानसिक उद्वेग   २ हृदय की शान्ति

इसके जवाब में आफत के मारे निगम साहब ने कही शायद यह लिख दिया कि नमक-आन्दोलन बेवक्त छेडा गया है। फिर क्या था, मुशीजी ने फौरन पलट-कर २३ अप्रैल १९३० के अपने खत में रद्दा कसा —

'नमक को आप कब्ल-अज-वक्त[1] खयाल करते है। जिस तरह मौत हमेशा कब्ल-अज-वक्त होती है, साहूकार का तकाजा हमेशा कब्ल-अज-वक्त होता है, उसी तरह ऐसे सारे काम जिनमें हमें माली या वक्ती नुकसान का अंदेशा हो, कब्ल-अज-वक्त मालूम होते है। इस तहरीक[2] की कबूलियत[3] ही बतला रही है कि वह कब्ल-अज-वक्त नही है।'

और फिर हसवाणी में लिखा —

'पहले किसी की समझ में न आया कि महात्मा जी क्या करने जा रहे है। मजाक भी उडाया गया। एक गवर्नर ने अपने खुशामदी टट्टुओ को जमा करके अपने दिल के फफोले फोडते हुए इस सग्राम को दु खमय प्रहसन बतलाया। गवर्नर साहब को क्या मालूम था कि यह दु खमय प्रहसन दो सप्ताह ही में आजादी का एक प्रचण्ड प्रवाह सिद्ध हो जायगा जिसे नौकरशाही की सारी सगठित शक्ति भी न रोक सकेगी। वह सब किया गया जो ऐसी परिस्थितियो में स्वेच्छाचारी शासन किया करता है। हमारे नेता चुन-चुनकर जेल भेज दिये गये, अफसरो को नये-नये अधिकार दिये गये, वाइसराय ने भी अपने स्वरचित अस्त्र निकाल लिये, यहाँ तक कि इस लू और गर्मी में देवताओ को पर्वतशिखरो से दो-एक बार उतरकर नीचे आना पडा, जो भारत के इतिहास में अनहोनी बात थी — लेकिन स्वराज्य-सेना के कदम आगे ही बढे जाते है। जैसे बच्चे हार जाते है तो दाँत काटने लगते है, वही हाल नौकरशाही का हो रहा है। कही निहत्थी जनता पर डडो और गोलियो की बौछार हो रही है, कही जनता में फूट डालने की कोशिश हो रही है। . फिल्मो पर रोक लगायी जा रही है। तार की खबरो का सेन्सर हो रहा है। . . न कोई कानून है न कायदा, न नीति न धर्म। बस जिधर देखिए, लबडधोधो, एक घबराये हुए आदमी की बौखलाहट। मगर हम इन बातो की शिकायत नही करते। इन्ही अन्यायो से तो हमारी विजय है। सन्निपात मौत के चिह्न है। हम तो महात्माजी की सूझ-बूझ के कायल है। जो बात की, खुदा की कसम लाजवाब की! न जाने कहाँ से नमक-कर खोज निकाला, कि उसने देखते-देखते देश में आग लगा दी। . अग्रेजी राज्य के पहले भारत में यह कर कभी न लगाया गया था। आज भी दुनिया भर में भारत ही एक ऐसा देश है जहाँ नमक पर कर लगाया जाता है। मुसलिम स्मृतिकारो ने तो नमक, हवा और पानी पर कर लगाना निषिद्ध बतलाया है पर हम १५० वर्षों से यह कर देते आये हैं और मजा यह कि

---

१ समय से पहले २ आन्दोलन ३ लोकप्रियता

जिस वस्तु पर दो आना मन लागत आवे उस पर बीस आने मन कर लिया जाता है .. सबसे बडी बात यह है कि इस कर को सामूहिक रूप से निहायत आसानी से तोडा जा सकता है। ऐसा कोई भू-भाग नही जहाँ लोनी मिट्टी न हो और शहर या गाँव दोनो ही जगहो के आदमी बडी सख्या में जमा होकर इसे तोड सकते है और सरकारी नमक को बाजार से निकाल बाहर कर सकते है।'

नमक के इन तूफानी दिनो मे मुशीजी अमीनुद्दौला पार्क में रहे। घर से लगा हुआ काग्रेस का दफ्तर था। यानी आन्दोलन का हेडक्वार्टर। और सामने अमीनुद्दौला पार्क। शहर के सारे जुलूस वही आकर खत्म होते थे और हर शाम एक न एक मीटिग का आयोजन रहता था। वही पर नमक बनता, वही पर विदेशी कपडो की होली जलती। कितनो ही को मुशीजी ने अपने हाथ से खद्दर का कुर्ता-टोपी पहनाकर, पान का बीडा देकर, और उनकी पत्नी ने माथे पर तिलक लगाकर सामने पार्क में नमक बनाने के लिए भेजा।

आन्दोलन के दूसरे पहलुओ पर भी निगाह डालते हुए मुशीजी ने लिखा —

'कहा जा रहा है, और लिखा जा रहा है कि मुसलमान इस आन्दोलन मे काग्रेस के साथ नही है। मुसलमान नेता जत्थेदार बन-बनकर कैद हो, मार खाये, कितनी ही काग्रेस कमेटियो के प्रधान और मत्री हो लेकिन फिर भी यह कहा जाता है कि मुसलमान काग्रेस के साथ नही है। मालूम नही, वह यह कह-कहकर किसे धोखा देना चाहते है। हाँ, हम यह मानने को तैयार है कि हमारे खान बहादुर साहबान, जिनकी सख्या ईश्वर की दया से, अग्रेजो की असीम कृपा होने पर भी, बहुत ज्यादा नही, बेशक हमारे साथ नही है। मगर खाँ साहब नही है तो राय साहब भी तो नही है। यो कहिए कि यह उन लोगो का आन्दोलन है जो अपने सारे सकटो का मोचन एकमात्र स्वराज्य ही को समझते है, जो गरीब है, भूखे है, दलित है, या जो गैरत से भरा हुआ, देशाभिमान से चमकता हुआ हृदय रखते है और यह देखकर जिनका खून खौलने लगता है कि कोई दूसरा हमारे ऊपर शासन करे। इसमें न हिन्दू की कैद है न मुसलमान की। . .'

इन्ही दिनो मुशीजी की मुलाकात एक सुसस्कृत मुसलमान नवयुवक से हुई जो काग्रेस का काम करता था। इस अचानक मुलाकात ने धीरे-धीरे बहुत अच्छी दोस्ती का रूप ले लिया और अशफाक हुसेन बराबर घर आने लगे। अपनी इस पहली मुलाकात के बारे में वह लिखते है —

"बिल्कुल अचानक अप्रैल १९३० की एक शाम लखनऊ काग्रेस के दफ्तर में उनसे मेरी मुलाकात हुई। मै किसी छोटे-मोटे काम से वहाँ गया था, एकाएक मेरे दिल मे खयाल आया कि किसी से झण्डेवाले गाने का मतलब पूछना चाहिए। मार्च करते वक्त मैं भी अपने साथ के दूसरे वालटियरो के साथ उसको गाता था लेकिन उसका मतलब मैं कुछ न समझता था, हिन्दी की मेरी जानकारी नही के

बराबर थी। वहाँ पर जो लोग थे, उनमें से ज्यादातर मुझसे कुछ बहुत ज्यादा लायक न थे। तभी किसी ने कहा, 'चलो प्रेमचदजी से पूछें' और यह कहकर एक आदमी की ओर मुडा जो खद्दर की धोती-कुर्ता-टोपी पहने, कुछ यो ही फटीचर लोगो के साथ चुपचाप एक बेंच पर बैठा था। मैंने पहले भी उसको देखा था जब कभी शाम को मुझे वहाँ दफ्तर में जाने का मौका आया था — वैसे मै अक्सर वहाँ जाना बचा जाता था और अपने हल्के यानी नखास और चौक में बना रहता था — लेकिन कभी कोई खास ध्यान नही दिया था। उसके चेहरे-मोहरे कपडे-लत्ते किसी में कोई खास बात न थी, और फिर वह बहुत खामोश और दीन-हीन-सा आदमी था। मैंने कभी उसे 'बडे' लोगो से बाते करते नही देखा, वह तो अपने ही जैसे दीन-हीन अति-साधारण लोगो के साथ बस एक बेंच पर बैठा रहता था, कि जैसे वहाँ पर बैठने और लोगो की बातचीत सुनने के अलावा उसे और किसी चीज से कोई मतलब न हो। इन सारी बातो से वह आदमी इतना साधारण इतना अ-विशेष जान पडता था कि 'प्रेमचद जी' नाम का भी तत्काल मेरे मन पर कोई असर नही हुआ। मुझे कुछ देर लगी उनको पहचानने में।'

अपनी इच्छाओ-आकाक्षाओ के बारे में अपने मन की झाँकी देते हुए उन्होने इन्ही दिनो अपने मित्र बनारसीदास चतुर्वेदी को लिखा था —

'मेरी आकाक्षाएँ कुछ नही हैं। इस समय तो सबसे बडी आकाक्षा यही है कि हम स्वराज्य-सग्राम में विजयी हो। धन या यश की लालसा मुझे नही रही। खाने भर को मिल ही जाता है। मोटर और बँगले की मुझे हवस नही। हाँ, यह जरूर चाहता हूँ कि दो-चार ऊँची कोटि की पुस्तके लिखूँ, पर उनका उद्देश्य भी स्वराज्य-विजय ही है। मुझे अपने दोनो लडको के विषय में कोई बडी लालसा नही है। यही चाहता हूँ कि वह ईमानदार, सच्चे, और पक्के इरादे के हो। विलासी, धनी, खुशामदी सन्तान से मुझे घृणा है। मैं शान्ति से बैठना भी नही चाहता। साहित्य और स्वदेश के लिए कुछ-न-कुछ करते रहना चाहता हूँ। हाँ, रोटी-दाल और तोला भर घी और मामूली कपडे मयस्सर होते रहे।'

आन्दोलन दिनोदिन जोर पकडता जा रहा है। मुशीजी भी अपनी चौकी सँभाले बैठे है। उनके हाथ में भी एक मजबूत हथियार है, सास्कृतिक अस्त्र, पूरी तरह राष्ट्रीय आन्दोलन को समर्पित। कही लोगो को डाँट रहे हैं, कही पुचकार रहे है, कही समझा रहे है, कही जोश दिला रहे है और कही इस पहलू उस पहलू बिफर-बिफरकर दुश्मन पर चोट कर रहे है — जब जैसी जरूरत हो, जब जैसा प्रसग हो।

'स्वराज्य से किसका अहित होगा?' शीर्षक से मुशीजी ने अपने दूसरे अक में लिखा — '... इसमें सदेह नही कि स्वराज्य का आन्दोलन गरीबो का आन्दोलन है। अग्रेजी राज्य में गरीबो, मजदूरो और किसानो की दशा जितनी खराब है, और होती जाती है, उतनी समाज के और किसी अग की नही। .... काग्रेस

के मेम्बर या और लोग भी कभी-कभी न्याय और नीति के नाते भले ही किसानो की वकालत करे, लेकिन किसानो के नाना प्रकार के दुखो और वेदनाओ की उन्हे वह अखर नही हो सकती जो एक किसान को हो सकती है। . सब छोटे-बडे उसी को नोचते है, सब उसी का रक्त और मास खा-खाकर मोटे होते है पर कोई उसकी खबर नही लेता। उनकी शक्ति बिखरी हुई है। अगर उन्हे सघटित करने की कोशिश की जाती है तो सरकार, जमीन्दार, सरकारी मुलाजिम और महाजन सभी भन्ना उठते है, चारो ओर से हाय-हाय मच जाती है, बोलशेविज्म का हौआ बताकर उस आन्दोलन को जड से खोदकर फेंक दिया जाता है। इसलिए यह कहना गलत नही है कि स्वराज्य किसानो की माँग है, उन्हे जिन्दा रखने के लिए आवश्यक है, अनिवार्य है। लेकिन किसानो का उपकार करके वह और सभी समुदायो का अपकार करेगा, यह क्यो समझ लिया जाता है ?'

आन्दोलन निरन्तर सगठित और सबल होता जा रहा है। दमन की चक्की भी उसी अनुपात में तेज होती जा रही है। तलाशियाँ, धर-पकड, लाठी-गोली रोज की चीजे हो गयी है। सन् तीस का यह साल ऐसा ही है। १४ अप्रैल को जवाहरलाल पकडे गये, ५ मई को गाधीजी। ८ मई को शोलापुर की बागी जनता ने शहर को अपने कब्जे में ले लिया।

३ जून को मुशीजी ने बनारसीदास चतुर्वेदी को लिखा —

'पहले तो कई बरातो में जाना पडा, फिर नैनीताल जाने की जरूरत पड गयी। पहली तारीख को वहाँ से आया तो यहाँ काग्रेस की उलझनो में पडा रहा। शहर पर फौज का कब्जा है। अमीनाबाद में दोनो पार्को में सिपाही और गोरे डेरे डाले पडे है, १४४ धारा लगी हुई है, पुलिस लोगो को गिरफ्तार कर रही है, और काग्रेस १४४ धारा को तोडने की फिक्र में है। डडे की नयी पालिसी ने लोगो की हिम्मत तोड दी है।'

लेकिन मुशीजी की नही। उन्होने और भी आग होकर उसी महीने 'डडा-शास्त्र' पर लिखा —

● ● यो तो इगलैण्ड ने पिछले सौ सालो में बडी-बडी अद्भुत चीजो का आविष्कार किया, बडे-बडे दार्शनिक और वैज्ञानिक तत्वो का निरूपण किया, लेकिन सबसे अद्भुत आविष्कार जो उसने हिन्दुस्तान की नौकरशाही के सयोग से किया है और जो अनन्तकाल तक उसकी यश की ध्वजा को फहराता रखेगा, वह नीतिशास्त्र का वह चमत्कारपूर्ण, युगान्तरकारी आविष्कार है जिसे डडाशास्त्र कहते है। .. इसने शासन-विज्ञान को कितना सरल कितना तरल बना दिया है .. अब न कानून की जरूरत है न व्यवस्था की, कौसिलें और असेम्बलियाँ सब व्यर्थ, अदालतें और महकमे सब फिजूल। डडा क्या नही कर सकता — वह अजेय है, सर्वशक्तिमान है। बस डडेबाजो का एक दल बना लो, पक्का, मजबूत, अटल दल। वह सारी मुशकिलो

को हल कर देगा। मजदूरो की सभा मजदूरी बढाने का आन्दोलन करती है — दो डडा। किसानो की फसल मारी गयी, वह लगान देने में असमर्थ है, कोई मुजायका नही — दो डडा। तान-तानकर, कस-कसकर। डडा सर्वशक्तिमान है — रुपये निकलवा लेगा। कोई जरा भी सिर उठाये जरा भी चूँ करे — दो डडा! वह युवक कपडे की दुकान पर खडा है, ख़रीदारो से कह रहा है, विलायती कपडे न खरीदो — दो डडा। उसकी इतनी हिम्मत कि इगलैण्ड की शान में ऐसी अनर्गल बात मुँह से निकाले, ऐसा मारो कि जबान ही बन्द हो जाय। वह देखना एक स्वयसेवक शराब-ताडी की दूकान पर जा पहुँचा। नशेबाज़ो को समझा रहा है — दो डडा। देर न करो, ताबडतोड लगाओ, खूब कसकर लगाओ। कितनी जाँफिशानी और परीशानी के बाद यह आविष्कार हो पाया है। इसका पेटट करा लेना चाहिए, वर्ना शायद कोई दूसरी जाति इस पर अधिकार कर बैठे।

अहा हा! कितना सुन्दर दृश्य है! वह सडक पर कई हजार आदमी झडा लिये, कौमी नारे लगाते चले आ रहे है। बच्चे भी है, स्त्रियाँ भी है, बूढे भी है। अपने देश से प्रेम करने के लिए उम्र की कैद नही है। इधर लट्ठबद, भालेबद, और राइफलबद पुलिस के जवान पैतरे बदल रहे है जैसे शिकारी कुत्ते शिकार को देखकर अधीर हो जाते है कि कब छूटे और शिकार पर टूट पडें। जजीर खोलते-खोलते आफत आ जाती है। बिलकुल यही हाल हमारे पुलिस के इन शूरवीरो का है जिनमें अग्रेजी सर्जेण्ट तो उबला पडता है, बहादुरी का जोश उसके दिल में आँधी की तरह उमडा आ रहा है। हुक्म मिलता है — चार्ज! फिर देखिए इन सूरमाओ की बहादुरी। निहत्थे, सिर झुकाकर बैठे हुए, जबान बन्द रखनेवाले आदमियो पर डडो और भालो का वार शुरू हो जाता है। और अगर किसी तरफ से एकाध पत्थर आ गया चाहे वह खुफिया पुलिसवालो ने क्यो न फेंका हो तो प्रलय हो गया। बस 'फायर' का हुक्म मिल गया। धडाधड बन्दूके चलने लगी और लोग पडापड गिरने लगे और हमारे अफसर लोग ... खुश हो-होकर तालियाँ बजाने लगे। वाह, क्या बहादुरी है, क्या डिसिप्लिन है • •

हुकूमत के लिए इसको पचा पाना मुश्किल था, अगले महीने प्रेस से एक हजार की जमानत माँग ली गयी। अब तक चार अक निकले थे और पाँचवें अक के चार फर्मे छपे थे। ज़मानत हस से नही, प्रेस से माँगी गयी थी इसलिए मुशीजी ने चाहा कि दूसरे किसी प्रेस में छपाने का प्रबन्ध कर लें, लेकिन कोई प्रेस तैयार न हुआ, यहाँ तक कि वह अधूरा अक भी पूरा नही किया जा सका।

जमानत तलब होने के अगले ही रोज मुशीजी ने निगम साहब को लिखा — 'प्रेस ऐक्ट का वार मुझ पर भी हो ही गया। एक हजार की जमानत तलब हुई है। कल बनारस जा रहा हूँ। जमानत देकर रिसाला हस निकालना तो मुझे खतरनाक मालूम होता है। मैं तो सोचता हूँ रिसाला बद कर दूँ और इसके साथ

ही प्रेस भी।'

तभी, जुलाई के महीने में, बीस तारीख़ को, स्वरूपरानी नेहरू लखनऊ आयी। सीधी-सादी घरेलू स्त्री थी लेकिन सघर्ष की पुकार ने उन्हे भी घर से बाहर ला खडा किया। बेटा १४ अप्रैल को ही जेल चला गया था, ३० जून को पति भी पकड लिये गये, फिर वह कैसे घर में बन्द रही आती। गाधीजी भी इधर कुछ महीनो से ताडी-शराब और विदेशी कपडे की दुकानो पर धरना देने के लिए विशेष रूप से स्त्रियो का आवाहन कर रहे थे। लखनऊ में अब तक स्त्रियाँ आगे नही आयी थी, जवाहरलाल की माँ के दौरे ने जैसे सबको झकझोरकर जगा दिया।

और शिवरानी देवी भी, जिन्हे बेटी की शादी के बाद अब अपने कधे यो भी कुछ हल्के लग रहे थे, काग्रेस का झोला लेकर मैदान में निकल पडी — लेकिन पति की नजर बचाकर क्योकि सेहत अच्छी न थी। मुशीजी उधर दफ्तर जाते, लडके स्कूल जाते और शिवरानी देवी अपने साथ की दूसरी औरतो को लेकर काग्रेस के काम पर निकल जाती।

एक रोज चन्दा माँगते-माँगते वह लोग एक बडी बीहड स्त्री के पास जा पहुँचे। पूरी शैतान की ख़ाला थी। बहुत बुढिया कलवारिन थी कोई। सैकडो तो गालियाँ दी उसने इन लोगो को, एक से एक चुनी हुई, और पैसा एक नही। लेकिन शिवरानी देवी ने भी जिद पकड ली कि इससे कुछ लिये बिना हम न जायँगे। सब औरतें धरना देकर बैठ गयी। आखिर जब बुढिया सब कुछ करके हार गयी और इन औरतो ने टलने का नाम न लिया तो उसने खीझकर एक इकन्नी फेकी — जो पास ही नाली में जा गिरी। अब कोई उसे वहाँ से निकाले नही। लेकिन छोडा भी कैसे जाय उस मेहनत — और ज़िल्लत — की कमाई को। आखिरकार इकन्नी निकली और स्त्रियो की वह टोली गाती-बजाती वहाँ से विदा हुई।

लेकिन कही बडा मीठा, बडा सुहाना तजुर्बा भी होता था — जैसे कि लेडी वजीर हसन के यहाँ। ऊँची हवेली, सर का ख़िताब — एकाएक हिम्मत न पडती किसी को उनके यहाँ जाने की। आखिर एक रोज़ शिवरानी देवी ने हिम्मत की — अरे, फाँसी तो चढा न देगी, बहुत करेंगी कुछ न देंगी, जाने में क्या बुराई है। ... और वह लोग गये। लेडी वज़ीर हसन ने शायद कभी देखा होगा या कुछ सुना होगा, शिवरानी देवी से पूछ बैठी — बहन, आप आज कहाँ निकल पडी ? शिव-रानी देवी ने जवाब दिया —कैसे बने निकले बिना बहन ? सब लोग अगर घर में. .

लेडी वज़ीर हसन ने उन्हे जुमला नही पूरा करने दिया, बोली 'आप ज़रा मेरे साथ आइए' और अन्दर अपने कमरे में ले गयी जहाँ एक चर्खा रखा था और ढेरो सूत की गुडियाँ पडी थी।

होते-होते महिला वालटियरो की सख्या सात से सात सौ पर पहुँची, बाकायदा महिला आश्रम की स्थापना हुई जिसने काग्रेस के गैरकानूनी क़रार दिये जाने के

बाद उसके एक खुले संगठन के रूप में काम किया जब तक कि खुद उस पर भी रोक नही लग गयी और शिवरानी देवी जो अपने किसान, अक्खड, दबंग स्वभाव के कारण इस बीच अपनी स्वयंसेविकाओ में काफी लोकप्रिय हो चुकी थी अपनी टोली की कप्तान बनायी गयी । मुशीजी ने उस वक्त मोहनलाल सक्सेना से, जिनकी मुशीजी शहर के सब कांग्रेस नेताओ से ज्यादा इज्जत करते थे, शायद कहा भी कि यह तो ठीक नही हुआ, यह तो उनको जेल भेजने की तैयारी है और उनका शरीर इस योग्य नही है

आखिर नवम्बर की ६ तारीख को वह पिकेटिंग करते हुए पकड ली गयी। मुशीजी चार-पाँच रोज के लिए कही गये हुए थे — शायद बनारस ।

११ तारीख़ के अपने ख़त में उन्होने राजेश्वर बाबू (कान्हू जी) को इसकी खबर देते हुए लिखा —

'तुम्हारी मौसी ६ तारीख को एक विदेशी कपडे की दूकान पर पिकेटिंग करते हुए पकड ली गयी । मै कल उनसे जेल में मिला और हमेशा की तरह प्रसन्न पाया । उन्होने हम लोगो को पछाड दिया और मैं अब अपनी ही आँखो में छोटा लग रहा हूँ । उनकी इज्जत मेरी आँखो में सौ गुना बढ गयी । लेकिन अब जब तक कि वह आकर मुझे मुक्त नही कर देती, मुझे गृहस्थी का बोझ उठाना पडेगा । . '

२४ को उनका फैसला हुआ । दो महीने की सजा हुई । मुशीजी ने अगले दिन जैनेन्द्र को लिखा —

'इधर पन्द्रह दिन से इसी में परीशान रहा । मैं जाने का इरादा ही कर रहा था, पर उन्होंने खुद जाकर मेरा रास्ता बन्द कर दिया ।'

१२ नवम्बर से गोलमेज कान्फ्रेंस हो रही थी । मुशीजी को उसमें कोई ख़ास दिलचस्पी न थी — बस इतनी कि समझौता अगर हो तो इज्जत के साथ हो वर्ना अपने घर लौट आओ ।

तब तक प्रेस आर्डिनेन्स उठ चुका था, और तीन-चार महीने का गोता लगाने के बाद मुशीजी फिर नवम्बर के महीने में उसी पुरानी आन-बान के साथ अपने मोर्चे पर आ डटे । आन्दोलन का भाटा अब तक शुरू हो गया था और लोगो में मुर्दनी छा चली थी । मुशीजी का हौसला अब भी उसी बुलंदी पर था । न उन्होंने नेताओ के लाख कहने पर आनन-फानन स्वराज्य हासिल करने की बात पर विश्वास किया था, और न इसीलिए अब उन्हें अपने भीतर किसी तरह की पस्ती मालूम होती थी । यह तो लबी बीमारी की तरह एक लबी लडाई है — और लबी बीमारियो का उन्हे पुराना तजुर्बा था ।

चार महीने की खामोशी के बाद फिर अपने मोर्चे पर लौटने पर पहली जरूरी चीज इन महीनो का लेखा-जोखा करना था, और मुशीजी ने 'स्वराज्य-सग्राम में किसकी विजय हो रही है ?' शीर्षक से ऊपर-नीचे, दायें-बाये, सब तरफ

से लोगो के मन के चोर को अपनी शक्ति भर बाहर खदेडते हुए लिखा —

'. हमें चारो ओर अपनी विजय के लक्षण दिखायी देते हैं, और हम इसी तरह क्षेत्र में डटे रहेंगे तो निस्सन्देह हमारी मनोकामना पूरी होगी। जब राज-सस्था अपने ही बनाये हुए कानूनो को पैरोतले रौदना शुरू करे तो उसकी दशा उस पागल की-सी समझनी चाहिए जो आप ही अपनी देह को दाँतो से काटता है, आप ही अपना मास नोचता है। ऐसा प्राणी बहुत दिन जीवित नही रह सकता। उसकी जिन्दगी का पैमाना लबरेज हो चुका है। आखिर इन विशेष कानूनो का क्या परिणाम हुआ ? वही जो होना स्वाभाविक था। पिकेटिंग को सरकार ने बन्द करना चाहा था। पिकेटिंग का दिन-दिन जोर बढता जा रहा है। समाचार-पत्रो के बन्द करने में बेशक सरकार को सफलता हुई, लेकिन कानून तोडकर साइक्लोस्टाइल पर छपनेवाले पर्चो ने तो शासको की नाक ही तराश ली। आन्दोलन का जोर सौ गुना बढ गया। इसमें भी सरकार को सफलता नही मिली। कही खादी पहनना अपराध है, कही तकली का व्यवहार करना अपराध है। लार्ड अर्विन अगर मातहतो की इन हिमाकतो को पसन्द करते है तो वह कठपुतली हे, अगर नापसन्द करते है और कुछ नही बोल सकते, तो कमजोर। मगर हमें न उनसे कोई शिकायत है, न उनके मातहतो से। आपको डडे चलाना मुबारक, हमें डडे खाना मुबारक। '

जमीदारो का वर्ग काग्रेस से बिल्कुल फिरट था। लेकिन अगर उसे किसी तरह खीचकर ले आया जा सकता तो गाँवो में आन्दोलन को बहुत ताकत पहुँचती। खूसट बुड्ढो से उन्हे कतई उम्मीद न थी। बूढा तोता राम राम नही पढता। लेकिन जवान पीढी से उम्मीद थी और भरपूर उम्मीद थी। लिहाजा बुड्ढो को लताडते हुए, कस-कसकर लताडते हुए और नयी पीढी को गैरत दिलाते हुए जोश दिलाते हुए मुशीजी ने वैसे ही बेधडक, जैसे आग में कलम डुबोकर लिखा, 'अगर तुम क्षत्रिय हो' —

● तो अपने क्षत्रिय धर्म को पालो। क्या हम तुम्हें बतावें कि क्षत्रिय धर्म क्या है ? यह तुम मुझसे कही ज्यादा जानते हो। यह धर्म अपने सस्कारो के रूप में लेकर तुमने जन्म लिया है। बत्तख के बच्चे को कोई तैरना सिखाता है या सिंह के बालक को शिकार करने की शिक्षा देनी होती है ? क्या हम नौजवान क्षत्रियो से कहे, आज तुम्हारा धर्म क्या है ? तुम्हारे बुजुर्गों ने किस तरह अपने धर्म का पालन किया था ? क्या गरीबो को पीसकर, किसानो का गला दबाकर, छोटी-छोटी नौकरियो के लिए अफसरो की चौखट पर नाक रगड-रगडकर, जरा-सी रिआयत के लिए नीच से नीच खुशामद करके, उपाधि और पदवी के लिए अधिकारियो के सामने मत्था टेककर ही उन्होंने धर्म का पालन किया था ? कभी नही। वे सत्य की रक्षा में जानें लडा देते थे। मजाल न थी कि उनके देखते कोई बलवान

किसी दुर्बल को दबा ले। उसका खून पी जाते। दीन की पुकार सुनकर उनके खून में जोश आ जाता था। हेकड की हेकडी देखकर आँखो में खून उतर आता था। उनकी वीरता अफसरो के लिए शिकार खेलाने या उनको खुश करने के लिए पोलो खेलने तक रिजर्व न थी।

क्या तुम भी उसी नीति को पालोगे जो अफसरो के स्वागत में गरीबो के पैसे उडाती है, जो दीनो के रक्त से अमीरो और विशेषत अधिकारियो की दावते करती है ? नही, जो लोग बूढे हो गये है, जिनमें जोश नही, जान नही, मान नही, जिनकी नसो में अभी तक नवाबो के जमाने की आरामतलबी और ऐशपरस्ती भरी हुई है, उनको सलामियाँ करने दो, दावते खिलाने दो, डालियाँ पेश करने दो, खानसामो और बैरो की नाजबरदारियाँ करने दो, मगर तुम नौजवानो से हम यह आशा नही रखते क्योकि तुमने उस युग में जन्म लिया है जब पृथ्वी के हरेक भाग में गुलामी की बेडियाँ टूट रही है। परम्परा के बन्धन ढीले हो रहे है। अन्याय एडियाँ रगड रहा है। सत्य और न्याय की विजय हो रही है। तुम्हारी आँखो के सामने ससार में क्या-क्या तबदीलियाँ हो गयी, तुम नही जानते ? रूस की जारशाही मिट गयी, ईरान की कजकुलाही मिट गयी, तुर्की की शाहशाही मिट गयी, चीन की खाकानी मिट गयी, जर्मनी की कैसरशाही मिट गयी, यहाँ तक कि स्पेन ने भी स्वाधीनता की साँस ली। मगर भारत कहाँ है ? वही जहाँ था। दीन, दुखी, दरिद्र। इसीलिए कि क्षत्रियो ने धर्म का पालन करना छोड दिया। क्या तुम जवान होकर भी उसी बूढी, खूसट, लज्जास्पद, कायरता से भरी हुई, खुशामद में डूबी हुई नीति का पालन करोगे ? कभी नही। तुम नये युग के नामलेवा हो, तुम जवान हो, सजग हो, अभी नीच स्वार्थ ने तुम्हे अपने रग में नही रँगा, अभी तुम्हारी कमर ने झुकना नही सीखा, तुम्हारे सिर ने सिजदे करना नही सीखा, तुममें जोश है। ●

२८

मुशीजी ने १२ जनवरी १६३१ को जैनेन्द्र को लिखा — ‘ हाँ, पत्नी जी आ तो गयी मगर शायद फिर जायँ । अभी उन्हे सतोष नही । सारा स्वराज्य एक बार ही में ले लेगी, किस्तो में नही चाहती ! . ’

बाहर अब हलचल न थी, यो कहने को आन्दोलन अभी चल रहा था । अब न हवा में वह गर्मी थी और न नारो का वह शोर, न वह मीटिङ्ग न वह जुलूस, न वह होलियाँ विलायती कपडो की न वह नमक के कडाहे न वह धरने शराब की दुकानो पर न वह पुलिस की डडेबाजी .. था सभी कुछ मगर गाने का सुर जैसे हल्का पड गया था ।

बडे जोश, बडी उमग, बडी कुर्बानियो के बीच बीता था यह साल जो अभी गुजरा था — मगर क्या हासिल ? सब कुछ तो वैसे का वैसा था, कहाँ पहुँचे हम ? जब तक जोश का उठान था, ये सवाल नीचे कही दबे पडे थे । अब जोश उतर रहा था तो ये सवाल उठ रहे थे । यह ठीक है कि हमने एक बार गोराशाही को हिला दिया । यह भी ठीक है कि हमारे अन्दर थोडा-सा यह आत्मविश्वास जागा कि हमारी मिट्टी पोली नही है, भुसभुसी नही है, उसमें जान है, जीवट है, वक्त पडने पर हम अनुशासन में बँध सकते है, जान पर खेलकर लाठी-गोली का सामना कर सकते है । यह कुछ कम उपलब्धि नही है । इसीलिए तो मन में निराशा जैसी निराशा न थी । लेकिन थोडी पस्तहिम्मती जरूर थी — क्योकि ऐसी कोई चीज न थी जिसे हम हाथ में लेकर कह सकते, यह देखो, हमने यह चीज अपने खून की कीमत देकर पायी है ।

२६ जनवरी १६३१, पूर्ण स्वराज्य दिवस की पहली वर्षगाँठ के दिन गाधीजी, जवाहरलाल और दूसरे बडे नेता छोडे गये । मोतीलाल नेहरू मृत्युशय्या पर थे । गाधीजी बम्बई से सीधे इलाहाबाद आये । मोतीलाल जी के दिन पूरे हो चुके थे । ६ फ़रवरी को उनका देहान्त हो गया । गोलमेज़ कान्फ्रेन्स के लोग भी उन्ही दिनों लौट रहे थे । जितने मुँह उतनी बातें । लेकिन असल बात एक न कहता था — कि बस घूमना हाथ लगा एक गोलमेज के चारो तरफ, गोल-गोल ....

गाधीजी ने अर्विन को पत्र भेजा और उसके कुछ रोज बाद समझौते की बात-

चीत का लम्बा सिलसिला चला। महीने भर बाद और डाँडी यात्रा के पहले भेजे गये 'अल्टीमेटम' वाले खत के ठीक एक साल बाद जब ५ मार्च को सधिपत्र तैयार हुआ और कुछ रोज बाद उसे काग्रेस के कराची अधिवेशन के सामने पेश किया गया तो बडे-बडे दिमागो की बडी-बडी वकालत के बाद ही लोग उसका सर-पैर समझ सके।

हगामी दौर खत्म हो गया। यह ठहरकर दम लेने का वक्त है, अपने मन के भीतर झाँकने का — क्योकि अभी फिर उठकर चलना है।

जनवरी के महीने में मुशीजी ने 'मानसिक पराधीनता' पर लिखा —

● हम दैहिक पराधीनता से मुक्त होना तो चाहते है पर मानसिक पराधीनता में अपने आपको स्वेच्छा से जकडते जा रहे है।..

कलचर (सभ्यता या परिष्कृति) एक व्यापक शब्द है। हमारे धार्मिक विचार, हमारी सामाजिक रूढियाँ, हमारे राजनैतिक सिद्धान्त, हमारी भाषा और साहित्य, हमारा रहन-सहन, हमारे आचार-व्यवहार, सब हमारे कलचर के अग है, पर आज हम कितनी बेदर्दी से उसी कलचर की जड काट रहे हैं।... भाषा ही को ले लीजिए।.... दफ्तरो में तो हमें अग्रेज़ी में काम करना ही पडता है, पर उस भाषा की सत्ता के हम ऐसे भक्त हो गये है कि निजी चिट्ठियो में, घर की बातचीत में भी उसी भाषा का आश्रय लेते है। स्त्री पुरुष को अग्रेजी में पत्र लिखती है, पिता पुत्र को अंग्रेज़ी में पत्र लिखता है। दो मित्र मिलते हैं तो अग्रेजी में वार्तालाप करते है, कोई सभा होती है तो अग्रेजी में। डायरी अग्रेजी में लिखी जाती है। वाह! क्या भाषा है! क्या लोच है! कितनी मार्मिकता है, विचारो को व्यजित करने की कितनी शक्ति, शब्द-भण्डार कितना विशाल, साहित्य कितना बहुमूल्य, कितना परिष्कृत, कविता कितनी मर्मस्पर्शिणी, गद्य कितना अर्थबोधक! जिसे देखो अग्रेजी जबान पर लट्टू, उसके नाम पर कुर्बान है।

भाषा को छोडिए, वेश-भूषा पर आइए। आप उन साहब बहादुर को देख रहे है जो हैट-कैट लगाये, गरूर से इधर-उधर देखते चले जा रहे है। यह हमारे हिन्दुस्तानी यूरोपियन है। रास्ते से हट जाओ, साहब बहादुर आते हैं। साहब को सलाम करो, आप पूरे साहब बहादुर है! मुझे तो आप सिर से पाँव तक गुलाम नजर आते है, जो अपनी गुलामी का उसी बेशर्मी से प्रदर्शन कर रहे हैं जैसे कोई वेश्या अपने हाव-भाव का। आपमें आत्मबल अवश्य है, बडे ऊँचे दर्जे का आत्म-गौरव, आप लोकमत को ठुकरा देते है! लेकिन उसी आत्मगौरव के पुतले से कहिए कि जरा शाम को बिना फैल्टकैप लगाये किसी अग्रेजी क्लब में चला जाय, तो उसके हाथ-पाँव फूल जायेंगे, खून ठण्डा हो जायँगा, चेहरा फक हो जायगा! इसलिए कि उसका आत्मगौरव केवल अपने भाइयो पर रोब जमाने के लिए है,

उसमें सार का नाम नही। वह जिस समाज में मिलना चाहता है, उसकी छोटी से छोटी रूढियो की भी अवहेलना नही कर सकता। जनता को वह समझता है, हमारा कर ही क्या लेगी, यह खुश रहे तो क्या और नाराज रहे तो क्या, यह हमारा कुछ बना-बिगाड नही सकती। जिनसे कुछ बनने-बिगडने का भय है उनके सामने वह भीगी बिल्ली बन जाता है। अपने एक मित्र साहब बहादुर से मैंने पूछा — 'तुम इस ठाट से क्यो रहते हो ?' तो बडे दार्शनिक भाव से बोले — 'इसलिए कि अग्रेजो से मिलने जाता हूँ तो जूते बाहर नही उतारने पडते। जो लोग अचकन और टोपी पहनकर जाते हैं, उन्हे जूते उतार देने पडते है।' मैं कहता हूँ जो स्वार्थ लेकर अग्रेजो से मिलने नही जाते, वह अचकन नही मिर्जई भी पहने हो तो उन्हे जूते उतारने की जरूरत नही, और जो स्वार्थ लेकर जाते है वह किसी वेश में हो उनकी आत्मा दबी रहती है। एक दूसरे मित्र से यही प्रश्न किया तो बोले — इससे सफर करने में बडा सुभीता होता है, जनता समझती है यह कोई साहब है, मेरे डब्बे में नही आती। एक और साहब ने कहा — अग्रेजी कपडे पहनने से देह में बडी चुस्ती और फुर्ती आ जाती है। गरज लोग तरह-तरह की दलीलो से आपका समाधान कर देगे। मै पूछता हूँ — क्यो साहब, क्या सारी चुस्ती और फुर्ती अग्रेजी कपडो में ही है ? क्या यह कोई तिलिस्माती चीज है कि बदन पर आयी और आपकी देह में स्फूर्ति दौडी ! ●

मार्च में कांग्रेस का अधिवेशन होने जा रहा था, कराची में। मुशीजी का इरादा उसके लिए जाने का था, लेकिन सरकार तो दुरगी खेलने पर तुली थी। एक तरफ तो गाधीजी के साथ अर्विन की वह महीने भर की बातचीत और गाधी-अर्विन पैक्ट, दूसरी तरफ इतना भी नही कि देश की भावनाओ का, गाधीजी और कांग्रेस के आग्रह का खयाल करके भगत सिह की फाँसी मसूख़ कर दी जाती। हाँ, इतना आश्वासन अर्विन ने जरूर दिया कि अगर आप चाहे तो फाँसी कांग्रेस अधिवेशन के बाद हो। उस समय गाधीजी ने अपने अपूर्व नैतिक बल का परिचय देते हुए कहा कि अगर फाँसी होनी ही है तो अधिवेशन के पहले हो, ताकि किसी को किसी तरह का धोखा न रहे, बाद को कोई उँगली न उठा सके, सब खुला खेल हो, समझौते को अगर कांग्रेस महासभा की स्वीकृति मिलनी है तो वह इस तथ्य को दबा-छिपाकर नही, उसके होते हुए मिलेगी — या नही मिलेगी। जो भी हो, धोखेधडी के लिए यहाँ जगह नही है।

और २४ मार्च १९३१ को भगतसिह, राजगुरु और सुखदेव को फाँसी दे दी गयी। उसी रोज मुशीजी ने निगम साहब को लिखा —

'कराची का इरादा था, मगर आज भगतसिह की फाँसी ने हिम्मत तोड दी। अब किस उम्मीद पर जाऊँ। वहाँ गाधी का मजाक उडेगा, काँग्रेस गैर-

जिम्मेदार, शोरिशपसन्द[1] तबके के हाथ में आ जायगी और हम लोगो के लिए उसमें जगह नही है। आइन्दा क्या तर्जे अमल अख्तियार करना पडे, कह नही सकता मगर फिलहाल दिल बैठ गया है और मुस्तकबिल[2] बिलकुल तारीक[3] नजर आता है। इधर बनारस, मिर्जापूर, आगरे में जो हालात हुए उनसे गवर्नमेण्ट का हौसला बढेगा। यही मेरा कयास[4] है। मगर इससे ज्यादा हिमाकत कोई गवर्नमेंट नही कर सकती थी। तीन आदमियो की सजा में तबदीली करके गवर्नमेण्ट कितना अच्छा असर पैदा कर सकती थी। पर उसके तर्जे अमल ने अब साबित कर दिया कि तालीफे कल्ब[5] उसने अभी तक नही किया और अब भी वह अपनी उसी कदीम[6] गैरजिम्मेदाराना रविश[7] पर कायम है।'

भगत सिंह की फाँसी के एक रोज पहले, २३ मार्च को जैनेन्द्र ने कराची से लिखा था — 'यहाँ चहल-पहल है। नौजवानो ने मौका देखा है, उठ रहे है और गाधीजी को बैठा देना चाहते है। वह जानते नही कि गाधी मरकर ही बैठेगा।'

जैनेन्द्र की बात कुछ गलत न थी, मुशीजी का डर ही गलत साबित हुआ। नौजवानो के उठने का एक बडा नतीजा तो निकला, कि काग्रेस ने मजदूरो-किसानो के बुनियादी अधिकारो का प्रस्ताव पास करके समाजवाद की ओर एक कदम उठाया — लेकिन गाधीजी के नेतृत्व पर जरा भी आँच न आयी।

मुशीजी ने तो अपने खत में बनारस, आगरे और मिर्जापुर के दगो की ही तरफ इशारा किया था, उसके दो ही चार रोज बाद कानपुर का हिन्दू-मुस्लिम दगा हुआ जो इन सबसे भयानक था।

यह और कुछ नही, केवल इतिहास की पुनरावृत्ति थी। हर बार यही हुआ था। स्वाधीनता की लडाई जब तक ज्वार पर है, ये आपसी झगडे-फसाद की, बैर-फूट की ताकतें दबी पडी है, और जैसे ही भाटे का दौर शुरू हुआ कि सब न जाने कहाँ किन कोनो से निकलकर अपना वहशी चेहरा और खूनी पजे लिये सामने आ गयी।

मगर दोनो में थोडा अन्तर है, जिसकी तरफ इशारा करते हुए मुशीजी ने लिखा — उस वक्त के सभी दगो का कारण धार्मिक था, मसजिद के सामने बाजा बजाना या कुर्बानी। इस समय जो दगे हो रहे है, उनके कारण राजनीतिक है। काशी में एक विदेशी कपडे के व्यापारी की हत्या ने बारूद में आग लगायी। कानपुर में मुसलमानो की दूकाने बन्द कराने की चेष्टा ने पुआल में चिनगारी का काम किया। पुआल पहले से मौजूद था। केवल चिनगारी की कमी थी। हम खुद काँग्रेसमैन है। आज से नही, हमेशा से। असहयोग में हमारा विश्वास है, लेकिन

---

१ उपद्रवी २ भविष्य ३ अँधेरा ४ अनुमान ५ हृदय-परिवर्तन ६ पुराने ७ ढग

हम कहने से बाज नही रख सकते कि काग्रेस ने मुसलमानो को अपना सहायक बनाने की ओर उतनी कोशिश नही की जितनी करनी चाहिए थी। वह हिन्दू सहायता प्राप्त करके ही सतुष्ट रह गयी। भारत में हिन्दू २२ करोड है। २२ करोड अगर कोई काम करने का निश्चय कर ले तो उन्हे कौन रोक सकता है। हिन्दुओ में इसी मनोवृत्ति ने प्रधानता प्राप्त कर ली।'

यह तो अपने समझने की, अपनो से कहने की बातें है। सरकार से कहने की बात कहने से भी वह बाज नही रहे —

' बुद्धि यह मानने को तैयार नही होती कि जो सरकार राजनीतिक आन्दोलन का दमन करने में इतनी तत्परता से काम ले सकती है, इतनी आसानी से गोलियाँ चलवा सकती है, वह इस अवसर पर इतनी अशक्त हो गयी कि उसकी उपस्थिति में रक्त की नदी बह गयी और वह कुछ न कर सकी! सभव है सरकार की इस दलील में कुछ सत्य हो कि वह इस दगे को दबाने के लिए काफी शक्ति न रखती थी, पर साधारण जनता जिस नतीजे पर पहुँची है वह यह है कि सरकारी कर्मचारियो ने जान-बूझकर, केवल यह दिखाने के लिए कि बगैर सरकारी सहायता के तुम लोग कुछ नही कर सकते, यहाँ तक कि तुम शान्तिपूर्वक रह भी नही सकते और तुम्हे एक-दूसरे को फाड खाने से बचाने के लिए तीसरी बलवान शक्ति का रहना अनिवार्य है, इस हत्याकाण्ड को रोकने की कोशिश नही की।'

और इस दगे के शहीद गणेशशकर विद्यार्थी को अपनी श्रद्धा के फूल चढाये —

'कानपुर के इस हत्याकाण्ड में राष्ट्र को सबसे भयकर जो क्षति पहुँची है, वह विद्यार्थीजी की शहादत है। लुटा हुआ धन फिर आ जायगा, उजडे हुए घर फिर आबाद हो जायँगे, माताओ की गोद में फिर बच्चे खेलेंगे — पर वह कर्मवीर भारत से सदैव के लिए उठ गया। विद्यार्थीजी के जीवन की सरलता और पवित्रता सात्विक थी। हम यह तो नही कह सकते कि हमारी उनसे घनिष्ठता थी, पर साल में दो-तीन बार हमें उनके दर्शनो का सौभाग्य अवश्य हो जाता था और उनके दर्शनो से आत्मा पर आशीर्वाद का-सा जो असर पडता था वह अकथनीय है। स्वार्थ-चिन्ता ने कभी उनकी आत्मा को मलिन नही किया। उनका समस्त जीवन यज्ञमय था और कदाचित् ईश्वर की इच्छा थी कि उनकी मृत्यु उस यज्ञ की पूर्णाहुति हो। इस विद्रोह के एक या दो दिन पहले लखनऊ काग्रेस कमेटी के दफ्तर में हमें उनके दर्शन हुए थे। उनके जेल से लौटने के बाद मैं उनसे न मिल सका था। कितने तपाक से गले मिले! .'

इधर, इस बीच, माधुरी दफ्तर में गडबड शुरू हो गयी। पण्डित विष्णु नारायण भार्गव की अचानक मौत हो गयी और चूँकि उनके दोनो बेटे अभी नाबालिग थे, रियासत कोर्ट आफ वार्ड्स के हाथ में चली गयी।

१२ जनवरी को मुशीजी ने जैनेन्द्र को लिखा —

' हमारे प्रोप्राइटर बाबू विष्णुनारायण भार्गव का मद्रास में स्वर्गवास हो गया। घुडदौड में गये, प्राणो की बाजी हार गये। अब देखना है कि यहाँ कैसे काम होता है, माधुरी चलती है या बन्द होती है। मुझे तो इसके चलने की आशा नही है।'

पाँच हफ्ते बाद, १८ फरवरी को लिखा —

'माधुरी से अब मेरा सबध नही रहा। मैं बुकडिपो में आ गया। आ तो पहले ही गया था, अब पूर्णरूप से आ गया। एप्रिल तक शायद यहाँ और रहूँगा, फिर काशी चला जाऊँगा और वही देहात में बैठकर कुछ लिखता-पढता रहूँगा।'

यो मुशीजी कभी बाबू साहब से मिलते-जुलते न थे, लेकिन अब जब कि वह नही रहे मुशीजी को मालूम हुआ कि उनके दिल में बाबू साहब के लिए क्या जगह थी और उनके बिना वहाँ रह पाना उनके लिए कितना मुशकिल है।

उसी महीने 'जमाना' में मुशीजी ने एक लेख लिखकर इस तरह अपने मन के आदर और स्नेह को वाणी दी —

● मुशी नवलकिशोर के खान्दान का यह सूरज ऐन उस वक्त डूबा जब वह अपने पूरे उठान पर था।

स्वर्गीय मुशी बिशुन नरायन के अस्तित्व का कण-कण रईस था। रईसो की खूबियाँ सब थी, बुराइयाँ एक भी नही। मुरौवत के पुतले थे। किसी याचक को निराश करना उन्होने सीखा ही न था। किसी दोस्त की दिलशिकनी उनके बूते से बाहर थी। मुलाज़िमो की तादाद हजारो तक पहुँचती थी मगर कभी किसी को तेज निगाहो से न देखा। गबन के मामले पेश हुए, अयोग्यता और सुस्ती की शिकायतें रोज ही आती रहती थी, सरीहन बदनीयती के वाकये भी बार-बार सामने आये, पर हमेशा दरगुजर कर जाते थे। यह खूबी उनमें कमजोरी की हद तक थी।....

दिवगत की अवस्था अभी कुछ न थी। लखनऊ का यह विद्याप्रेमी खान्दान अल्पायु है। मुशी प्रयाग नारायण साहब का देहान्त ४२ साल की उम्र में हुआ। उनके साहबजादे ने कुछ और कमी कर दी। अभी चौंतीसवाँ ही साल था।

मझोला कद, चकली हड्डी और दुहरे जिस्म के सुन्दर आदमी थे। गदुमी रग, रोबदार मूछें, बडी-बडी आँखो में सज्जनता और क्षमा की झलक। पहनावा बिलकुल सादा था। बाहर निकलते तो अचकन और चुस्त पाजामा बदन पर होता, सिर पर फेल्ट कैप। घर पर कुर्ता और धोती पहनते थे। हुक्के और पान का शौक था।

उनका दरबार हर खास-ओ-आम के लिए खुला रहता था — न कार्ड भेजने की जरूरत न इत्तला कराने की पाबन्दी। दीवानखाने के सामने बरामदे में बैठे हुक्का पी रहे है। मित्र और कर्मचारी, याचक और असामी सभी आते है और

अपनी बात कहकर चले जाते है। सबसे यकसाँ शराफत और मुहब्बत से पेश आते है। मिजाज मे झूठी शान का नाम नही, घमण्ड की बू नही, आडम्बर की छाया नही। अफसोस कि वह जगह हमेशा के लिए खाली हो गयी! ●

२३ जुलाई को मुशीजी ने निगम साहब को लिखा, 'यहाँ कोर्ट आफ वार्ड का इतजाम है। मगर अभी कोई तबदीली नही हुई है। स्पेशल मैनेजर आ गये है। इतजाम साबिक दस्तूर है। शायद तखफीफ[1] होनेवाली है। मगर तहकीक[2] मालूम नही। मेरी तो मैनेजर साहब से मुलाकात ही नही हुई। न उन्होने बुलाया न मैं गया।'

३० अगस्त को लिखा — 'खबर है कि रियासत कोर्ट आफ वार्ड्स से निकल गयी। लेकिन खबर ही खबर है। नफाज[3] नही। सरकारी कारखाने है। मुमकिन है महीनो लग जायँ।'

२८ सितम्बर को लिखा — 'मैं मैनेजर साहब से अभी नही मिला। सोचता हूँ वह अफसरी जताने लगे तो क्या फायदा।'

आये दिन एक न एक झकझक लगी रहती। ऐसे नही चल सकता। यहाँ का आबदाना अब खत्म होता है।

और पहली अक्तूबर को मुशीजी ने निगम साहब को लिखा —

' इन लोगो ने तय कर लिया है और अब किसी की हकतलफी,[4] बेइसाफी या अपने नुकसान का खयाल इन्हे अपने इरादे से बाज नही रख सकता। मुझे अफसोस यही है कि आपको नाहक तकलीफ दी। खैर, अभी तो यही हूँ। ६ को यहाँ से अलहदा होकर गालिबन अक्टूबर लखनऊ में काटूँगा। उसके बाद दीदी ख्वाहद शुद[5]। '

तबीयत यो ही बहुत अनमनी, उचाट हो रही थी, और जैनेन्द्र कितनी ही बार बुला चुके थे। इस बार जो कार्ड आया तो मुशीजी फौरन चल पडे।

दिल्ली पहुँचने की दास्तान जैनेन्द्र से सुनिए —

● एक सबेरे गली में दीखता क्या है कि कधे पर कम्बल डाले, खरामा-खरामा, चले आ रहे है प्रेमचद जी। महात्मा भगवानदीन जी और प० सुन्दर-लाल जी भी तब घर पर थे। सुन्दर लाल जी चबूतरे पर से दतून करते-करते बोले — देखना जैनेन्द्र, यह प्रेमचद जी तो नही आ रहे है ?

मैंने कहा — वही तो है!

प्रेमचद जी के पास आने पर मैंने अचरज से पूछा — यह क्या किस्सा है, न तार न चिट्ठी, और आप करिश्मे की भाँति आविर्भूत हो पडे!

---

१ छँटनी २ प्रामाणिक रूप से ३ पक्की बात ४ अधिकार-अपहरण
५ देखा जायगा

बोले — तार की क्या जरूरत थी। बारह आने पैसे कोई फालतू है। और देखो, तुम्हारे मकान का पता लग गया कि नही।

मैंने कहा — यह क्या गजब करते है। पहले से कुछ खबर तो दी होती। इस तरह से तो आपको बडी दिक्कत हुई होगी। गनीमत मानिए कि दिल्ली बबई नही है। और ऐसे क्या आप दिल्ली से बेहद वाकिफ है ?

बोले — नही जी, सोचा तुम्हारा मकान मिल ही जायगा सो बारह आने बचाओ क्यो न। ओर मकान मिल गया कि नही ? वैसे दिल्ली जिन्दगी में पहली मर्तबा आया हूँ।

जिन्दगी में पहली बार ! मैने अविश्वास के भाव से कहा — आप कहते क्या है ! तिस पर आप है सम्राट् ! ●

इस बार मुशीजी यहाँ दस-ग्यारह दिन रह गये। और जैसी कि उनकी तबीयत थी, बिलकुल घर के एक आदमी होकर रहे। 'कोई अनजान उन दिनो घर पहुँचता तो किसी तरह मालूम न कर सकता था कि प्रेमचद कौन है। उनका लिबास और उठने-बैठने और रहने-सहने का तरीका इस कदर घरेलू था कि कोई उन्हे अलग से पहचान ही न सकता था।' उनकी जो हुलिया ऋषभचरण ने बनारस में मुशीजी के अपने मकान पर देखी थी — 'वह एक निहायत सीधी-सादी बैठक में निवार के पलग पर बैठे थे जहाँ न गद्दा था न तकिये थे, न गलीचो की बहार थी और न झाड-फानूस ही दिखायी देते थे। बदन पर शायद गाढे की एक घटिया सिलाई की कमीज और धोती थी, और अधपके बाल और किसान जैसा चेहरा ' वही हुलिया यहाँ दिल्ली में जैनेन्द्र के मकान पर थी — 'खाना खाने साथ बैठते और बाद में भी नीम की सीक से दाँत कुरेदते हुए वे मेरे ही साथ बैठकर बात करते रहते।' घरेलू बातें — तुम कितना कमाते हो, कितना अपने ऊपर खर्च करते हो, कितना घर के खर्च के लिए भगवती को देते हो और जैनेन्द्र अगर बात को उडाने या दार्शनिक लापरवाही के खोल मे लपेटकर पेश करने की कोशिश करते तो मुशीजी गिले के तौर पर यह कह देते कि तुमको खुद तो तकलीफ उठाने का हक है लेकिन अपने बीवी-बच्चो को तकलीफ देने का हक नही है। ऐसा ही था तो तुम्हे इस चक्कर में ही न पडना चाहिए था।

और यह सिर्फ जबानी जमा-खर्च न था। मुशीजी को बराबर इस बात का खयाल रहता कि मेरी वजह से कोई नया बोझ इस गरीब पर न पडे। कही जाना-आना हो तो अक्सर पैदल ही चल पडते — अरे, दूर ही कितना है, अभी पहुँचे जाते है, दिन भर तो बैठे-बैठे बीत गया, पेट का पानी भी तो हिलना चाहिए... और अगर जगह बहुत दूर हुई और इक्का-ताँगा कुछ लेना ही पडा तो बडी खूबसूरती से कुछ ऐसी जुगत बैठाते कि जैनेन्द्र के दिल को ठेस पहुँचाये बगैर या तो वह खुद ही किराया चुका देते या ऋषभचरण चुका देते।

यह वज़ादारी, यह घरेलूपन, यह सादगी जिन्दगी भर की उनकी कमाई थी। इसमें भरसक चूक न होती। कभी कही खाना खाने जाते, या किसी के घर ठहरते तो खाना ख़त्म होने पर ज़रूर दो-एक बातें खाने की तारीफ में कह देते — इस-लिए नही की तहज़ीब सिखलानेवाली किताबो में ऐसा लिखा है बल्कि इसलिए कि इससे पर्दे की ओट में बैठी हुई घर की स्त्री को सुख होगा। अगले वक्तो की यह वजादारी मुशीजी में कूट-कूटकर भरी थी, मगर दिखावटी तकल्लुफ की शक्ल में नही जो कि दूसरे के लिए काफी तकलीफदेह भी हो सकता है, सहज ढग से।

यह सहजता ही उन्हे हर बात में प्रिय थी, कैसा भी आडम्बर उनके दिल पर भारी गुजरता था, विचारो तक का आडम्बर।

इसका एक अच्छा चुटकुला है वह जो मुशीजी की इसी दिल्ली-यात्रा में पेश आया। जैनेन्द्र कहते है —

● उस वक्त दो बुजुर्ग घर में और थे। प्रेमचद जी की जगह उनके साथ थी। वे ऊँचे ख़याल के लोग थे और छोटी बाते अकसर उनके पास नही फटक पाती थी। बातें देश की और दुनिया की होती, सुधार की और उद्धार की, या किसी नीति के या तत्व के मसले की। मैं उन बातो के बीच अकसर अजनबी रहता। अव्वल तो वहाँ रहता ही न था, पास हुआ तो सुनना भर रह जाता था। प्रेमचद का भी मैने यही हाल देखा। बात गहरी हो रही है और वजनदार, लेकिन प्रेमचद का सिर्फ सुनना है, कहने को उनके पास गोया कुछ है ही नहीं। . एक बुजुर्ग उनमें पुख्ता ख़याल के थे। उनके पास सदा कुछ बताने और सुधारने को रहता था। हर बहस में आखिरी लफ्ज उनका होता। यानी सही वही है जो उनका कहना है। इस तरह तीन-चार रोज़ घर रहकर खासकर उन बुजुर्ग से वह बहुत कुछ इसलाह और नसीहत पाते रहे। ...

एक रोज खाते-खाते उन्होने पूछा — भइ, उन साहब की उम्र क्या होगी ?

मैंने बताया कि मेरा अदाज तो यह है।

बोले — क्या कहते हो ?

मैंने कहा — एकाध साल से ज्यादा फर्क नही हो सकता, क्योंकि मैंने एक बार तसदीक किया था।

प्रेमचन्द कहकहा लगाकर हँसे — यह खूब, तब तो यार, बडे हम है। ... अच्छा अब की कहूँगा ...

वही हुआ। अगली मर्तबा मडली बैठी और बहस शुरू हुई। प्रेमचद सुनते रहे। बहस ने लेक्चर की शकल अख़्तियार की और आखिर सबकआमोज़ नसीहते फिकने लगी। प्रेमचदजी ने मौका देख धीमे से पूछा — पडित जी, आपकी उम्र क्या होगी ? . . . बुजुर्ग ने अपनी उम्र बतलायी। प्रेमचद ने कहा — वाह, तब तो बड़ा आपसे मैं हूँ।

यह बात ऐसे कही गयी कि बुजुर्ग को कतई नागवार नही हुई, बल्कि वह खुश हुए, हँस आये, और उसके बाद बातचीत आपसी और घरेलू सतह पर होने लगी। ●

तबीयत में मिठास थी, लगनेवाली बात भी मीठी बनकर निकलती थी। सादगी थी, बेहद सादगी, इतनी कि उस चेहरे और उस लिबास को देखकर बहुत आसान था धोखा खा जाना कि यह कोई गँवइया भुच्च है। कैसा झटका लगा था उमा नेहरू को, अबसे करीब तीन साल पहले जब मुशीजी हँसते-हँसाते इलाहाबाद में एक गल्प सम्मेलन में पहुँचे, अपना (शायद इकलौता) बेहद चुस्त, बेढगा-सा ऊनी पतलून और वैसा ही चुस्त बेढगा-सा कोट पहने (कुछ वैसी ही शकल जैसी आजकल इश्तहारो में बिना सैनफोराइज्ड कपडा पहननेवालो की दिखायी जाती है!) और बाल बेतहाशा बिखरे हुए, गगनोन्मुख . या करीब चार साल बाद, १९३५ में, जब वह आखिरी बार लाहौर गये और इम्तयाज अली ताज ने उन्हे चाय पर बुलाया। मुशीजी ने समझा, यो ही घरेलू चाय होगी और जब वह इत्मीनान से चन्द्रगुप्त के साथ पैदल शहर भर का चक्कर लगाकर, दिन भर के चिगुडे-मिगुडे कपडे, अपनी वही मिल की धोती और गाढे का कुर्ता पहने और धूल से अटे हुए बाल लिये पहुँचे तो उन्होने देखा कि सौ से ऊपर मोटरें खडी हैं, एक से एक लकदक (शहर के तमाम शुरफा, वकील, बैरिस्टर, डाक्टर, जज, प्रोफेसर सब बुलाये गये थे) और बाहर जिन मुतजिमकारो ने उनको देखा उन्हे यह समझने में थोडी देर लगी कि यह वही आदमी है जिसके सम्मान में यह आयोजन है और जिसका इतजार किया जा रहा है!

लेकिन यह केवल बहिरग है, भीतर से उसका मन बिलकुल आधुनिक है, आधुनिक से आधुनिक। अपनी मिट्टी से सस्पर्श बनाये रखकर उसने योरप के नये से नये ज्ञान-विज्ञान को, कला और साहित्य को देखा है समझा है, और उससे पहले, सादी के लतीफो और हाफिज की गजलो ने अच्छी तरह उसके मन को रँगा है, वह शोखी, वह चुलबुलापन, वह रगीनी, वह हाजिरजवाबी जो फारसी की जान है, मुशीजी के खून में भी घुल गयी है।

दिल्ली की इसी यात्रा की बात है कि एक रोज ऋषभचरण ने मुशीजी से पूछा कि आपकी सबसे अच्छी कहानी कौन-सी है ? मुशीजी ने जवाब दिया — वह तो अभी लिखी ही नही गयी!

ऋषभचरण ने उस समय की अपनी स्मृतियो को लेकर लिखा है —

' . उनकी कलम में और सूरत में जो सिधाई हम देखते है, उनकी बातों से ऐसा न लगता था। वह एक मिठासभरे आदमी थे जिनके चेहरे-मोहरे पर चाहे वक्त की सख्ती असर कर गयी हो लेकिन दिल ज्यो का त्यो कच्चे दूध की तरह मधुर और स्वच्छ था। . मैं, जैनेन्द्र और वह कुतुबमीनार की सैर को गये।

साथ में थोडी-सी पूरियाँ थी । खाने बैठे तो सवाल हुआ कि पानी कौन लाये । मैने कहा — जो जायेगा, वह घाटे में रहेगा क्योकि पूरियाँ कम है । जैनेन्द्र की राय थी कि मुझे ही यह खतरा लेना चाहिए । लेकिन प्रेमचन्द ने कहा — मै बूढा आदमी हूँ, मै जाता हूँ, मुझ पर आप लोग जरूर ही रहम करेगे ! पानी तो उन्हे न लाने दिया गया लेकिन उनकी बात ने हमें खूब हँसाया । जब मैंने उनसे कहा कि कुतुब की लाट पर चढा जाये तो हजरत जवाब देते है कि नीचे खडे हुए इस लाट का बडप्पन हमारे दिलो पर है, ऊपर चढने से वह कम हो जायगा।... इसी मौके पर हमने एक फोटो खिचवाया । जब इस फोटो की कापी प्रेमचन्द को भेजी गयी तो उन्होने लिखा — ' फोटो मिला । मेरा मुँह टेढा आया है । क्या करें, नसीब ही टेढा है ! '

इसी बार की कहानी है वह भी, एक कलाकार के सच्चे पुरस्कार की —

● स्थानीय हिन्दी सभा की ओर से प्रेमचन्द जी के सम्मान में सभा की जा रही थी । उन्हे अभिनन्दनपत्र भेट होनेवाला था । उस वक्त एक पजाबी सज्जन बडे परीशान मालूम होते थे । वह कभी सभा के मन्त्री के पास जाते थे, कभी इनके या उनके पास जाते थे । प्रेमचन्द जी के पास जाने की शायद हिम्मत न होती थी । प्रेमचद जी को उसी रात दिल्लो से जाना था । सभा का काम जल्दी हो जाना चाहिए और वह जल्दी किया जा रहा था । प्रेमचद जी ने अपना वक्तव्य कहने में शायद दो मिनट लगाये । सभा की कार्यवाही समाप्तप्राय थी । तभी वह पजाबी सज्जन उठे और सभा के सामने हाथ जोडकर बोले — मैं प्रेमचन्द को आज रात किसी हालत में नही जाने दूँगा । उनके साथ इस सारी सभा को मैं कल अपने यहाँ आमन्त्रित करना चाहता हूँ ।

लोगो को बडा विचित्र मालूम हुआ । तैयारी सब हो चुकी थी । और प्रेमचद जी का इरादा निश्चित था । लेकिन वह सज्जन अपनी प्रार्थना से बाज़ न आये । .. उन्होने हाथ जोडकर कहा कि मेरी अरदास आप लोग सुन लीजे फिर जो चाहे आप कीजिएगा । जब से अख़बार में प्रेमचद जी के यहाँ आने की खबर पढी तभी से उनके ठहरने की जगह पाने की कोशिश करता रहा हूँ । वह जगह नही मिली । अब इस सभा में मै उनको पा सका हूँ । मै उनकी तलाश करता हुआ दर्शनो की इच्छा से लखनऊ दो बार गया, एक बार बनारस भी गया । तीनो बार वह न मिल सके । कई बरस पहले की बात है, मैं कमाने के ख़याल से पूरब की तरफ गया था । पर भाग्य की बात कि मेरे पास जो कुछ था सब ख़त्म हो गया । मैं घूमता-घामता स्टेशन पर आया । मुझे कुछ सूझता न था, आगे क्या होगा । सब अँधेरा मालूम होता था । जेब में दो रुपये और कुछ पैसे बचे थे । प्रेमचद जी के अफसानो को मैं शौक से पढा करता था । यो ही टहलता हुआ व्हीलर की दुकान पर एक रिसाले के स्पेशल नम्बर के सफे लौटने-पलटने लगा । उसमें

प्रेमचद जी का एक अफसाना नजर आया। मैने रुपया फेक रिसाला ख़रीद लिया और प्रेमचद जी की उस 'मत्र' कहानी को पढ गया। पढकर मेरे दिल की पस्ती जाती रही। हौसला खुल गया। मैं लौटकर आया और हार न मानने का इरादा कर लिया। तब से मेरी तरक्की ही होती गयी है और आज यहाँ आपकी ख़िदमत में हूँ। तभी से मै उस 'मत्र' कहानी के मत्रदाता प्रेमचद जी तलाश में हूँ। अब यहाँ पा गया हूँ तो किसी तरह छोड नही सकता। मेरी बीवी बीमार है, वह उठ-बैठ नही सकती। वह कब से प्रेमचद जी के दर्शन की आस बाँधे बैठी है। और फिर हाथ जोडकर उन्होने कहा — अब फैसला आप सब साहबान के हाथ है ●

दिल्ली से लौटे तो सयोग कुछ ऐसा हुआ कि दस रोज के भीतर ही फिर पटने के लिए बिस्तर गोल करना पडा। हिन्दी साहित्य परिषद् का कोई आयोजन था। केशरीकिशोर शरण मत्री थे। स्टेशन पर मुशीजी के अद्भुत स्वागत की कहानी उन्ही के मुँह से सुनिए। यहाँ मुशीजी दिल्ली की तरह नही, पहले से खबर देकर पहुँच रहे थे —

● १९३१, नवम्बर की २१वी तारीख। शाम का वक्त, साढे छ बजे। पश्चिम से आनेवाली एक्सप्रेस पटना जकशन पर अभी लगी हुई थी। प्रेमचद जी आज पटना आनेवाले थे और उन्ही के स्वागत के लिए हम लोग स्टेशन पहुँचे हुए थे परन्तु हममे से किसी ने उन्हे देखा न था, इसलिए बडी चिन्ता थी उन्हे कैसे पहचाना जायगा। 'हिन्दी भाषा और साहित्य' का प्रथम सस्करण हाल में ही निकला था। उसमें प्रेमचद जी की एक तसवीर थी। चौडा, गोल मुँह, उभरा हुआ ललाट, बडी-बडी धनुषाकार घनी मूँछे। पोशाक भी सोफियाना थी — फ्लैनेल का पैंट, मफलर और कोट। इसी तसवीर को लेकर हम लोग स्टेशन पर आये थे। रेलगाडी आयी और सेकड क्लास, इटर, फर्स्ट क्लास, सभी के डिब्बे हम लोगो ने देख लिये पर हमारे अनुमान का कोई आदमी नजर नही आया। तब थर्ड क्लास की बारी आयी। गाडी का डिब्बा-डिब्बा हम लोगो ने छान डाला कही नही।

दो घटे के बाद पजाब मेल आयी। इस बार भी हम लोगो ने बडी तत्परता के साथ खोज की। तीन-चार साहब उतरे पर उनमें से कोई हमारी कल्पना का, हमारी किताब की तसवीर का प्रेमचद न निकला।

सभी मित्र हताश और निरुत्साह घर लौट चले। मेरी आँखो तले अँधेरा छा गया

रविवार की शाम को बैठक थी और सबेरे छ बजे के करीब एक एक्सप्रेस आती थी। बस यही आखिरी आसरा था। स्टेशन पर ठीक वक्त पर जा पहुँचा।

ट्रेन आयी, लगी और चली गयी। सैकडों आदमी उतरे और चढे पर प्रेमचद नही आये, नही आये। हम मुसाफिरखाने की तरफ बढे। देखा, सीढी के पास एक अधवयस सज्जन, जिनके बाल कुछ सफेद हो चले थे और जो सफर की

थकावट से कुछ खिन्न-से हो रहे थे, गुमसुम खडे है और कुली उनका ट्रंक सर पर और बिस्तरा हाथ में लिये पूछ रहा है — बाबू, कहाँ चले ?

इस मुसाफिर को कल रात ही को पजाब मेल से उतरते देखा था, नजदीक जा कर पूछा — क्यो जनाब आप लखनऊ से आ रहे है ?

— हाँ भाई, लखनऊ से ही आ रहा हूँ।

— आप प्रेमचन्दजी है ?

— हाँ, प्रेमचन्द हूँ।

स्वर उनका कुछ कठोर हो पडा था। मैंने प्रणाम करते हुए उनके हाथ से मैले खद्दर के रूमाल में बँधे पीतल के लोटे को ले लिया और अत्यन्त ग्लानि के साथ कहा — मैं केशरीकिशोर हूँ।

उनके चेहरे पर किंचित् क्रोध, किंचित् सतोष और प्रसन्नता की रेखा एक साथ ही झलक पडी, पर कोई शब्द उनके मुँह से न निकला। तब तक फिटन आ लगी ...

मेरा मन गर्व से, खुशी से, सकोच और ग्लानि से ऐसा भर गया था कि मै यह भी न पूछ सका, रास्ते में कोई तकलीफ तो न हुई ?

तब तक वह भी कुछ स्थिर और सतुष्ट-से दीख पडे। हिम्मत बढी। पूछा — रास्ते मे कोई तकलीफ तो नही हुई ?

— तकलीफ ? मै तो रात भर इसी पसोपेश में पडा रहा कि रहूँ या लौट जाऊँ। रात पजाब मेल से उतरा। आप लोगो के दर्शन नही हुए तो मुसाफिर-खाने में जाकर पड रहा। तबियत बहुत झुँझला रही थी। जब यहाँ कोई पूछने-वाला नही तो किसलिए ठहरूँ। २॥ बजे रात की गाडी से लौट चलने की इच्छा हुई। रिटर्न टिकट था ही। प्लेटफार्म पर गया, गाड़ी आ गयी, पर चढ नही सका। सोचा, तुम्हे दु ख होगा ... ●

२६

लदन में दूसरी गोलमेज़ सभा हो रही थी। गाधीजी भी गये थे लेकिन जैसा कि मुशीजी ने यहाँ से उनके चलते वक्त लिखा था — ' इस समय महात्माजी के सामने जो काम है, वह आसान नही है। लदन में वह गोलमेज़ के चारो तरफ बैठे हुए ऐसे-ऐसे चतुर खिलाडियों के बीच में खडे होगे जिन्होंने राज्य-सचालन को जीवन-तत्व बना लिया है। जहाँ अग्रेजी सेना असफल हो गयी है, वहाँ बहुधा अग्रेजी डिप्लोमेसी ने विजय पायी है। '

वही हुआ। हिन्दू-मुसलमान और छूत-अछूत के सवाल खडे कर दिये गये, जिनका हमारे पास कोई जवाब न था, क्योकि वह हमारी सच्ची कमजोरी थी। दुश्मन अगर उसका फायदा उठा रहा था तो क्या बुरा कर रहा था।

मुशीजी यह भी खूब समझते है कि असल झगडा किनका है और किस चीज के लिए है —

' सरकारी नौकरियो के लिए अभी तक शिक्षित समाज के मन में मोह है। वही मोह, वही लोभ इस वैमनस्य का कारण है। लेकिन अगर अभी वह समय नही आया तो अब उसके आने में देर नही है जब वास्तविक राष्ट्र शिक्षित समाज की सकीर्ण स्वार्थपरता के विरोध में विद्रोह करेगा। मुट्ठी भर पढे-लिखे आदमियो को कोई अधिकार नही कि वह अपने हलवे-माँडे के लिए सम्पूर्ण राष्ट्र का जीवन सकटमय बनावें .... '

मुंशीजी का गुस्सा अपनी जगह पर कितना ही ठीक हो, उस दिन के आने में अभी काफी देर है।

गोलमेज़ का स्वाँग खत्म हुआ तो मुशीजी ने दिसबर १६३१ की हंसवाणी में लिखा —

' गोलमेज सभा जिस तरह पहली बार गपशप करके समाप्त हो गयी उसी तरह दूसरी बार भी गपशप करके समाप्त हो गयी। समाप्त क्यो हुई, अभी कुछ और गपशप होगी और यह सिलसिला शायद दो-चार साल चलेगा। '

वह तो चलता रहेगा, कयामत तक, लेकिन असल भरोसे की चीज़ है डंडा....

आर्डिनेंसो का राज था। पुलिस और मजिस्ट्रेटो को अंधाधुध अधिकार दे

दिये गये थे। जो मन आये करते थे। कही कोई सुनवायी न थी।

२६ दिसम्बर को जवाहरलाल पकड लिये गये। आठ रोज बाद गाधीजी और सरदार पटेल पकड लिये गये। उधर सीमात गाधी अब्दुल गफ्फार खाँ दो-चार रोज के हेर-फेर से उठाकर जेल में डाल दिये गये।

इस तरह सब बडे नेताओ को कैदखाने में ठूंसकर और चारो तरफ पुलिस का राज कायम करके हुकूमत अब इत्मीनान से काग्रेस के अगले कदम पर निगाह जमाये बैठी थी। जवाहरलाल ने आत्मकथा में लिखा —

'राष्ट्रीय सप्ताह आया — ६ अप्रैल से १३ अप्रैल — और हमें पता था कि इसमें बहुत-सी अनहोनी घटनाएँ घटेगी। जो कि घटी भी, लेकिन जहाँ तक मेरी बात है, एक घटना के आगे दूसरी सब घटनाएँ फीकी पड गयी। इलाहाबाद में मेरी माँ एक जुलूस में थी जिसे पुलिस ने रोका और फिर लाठीचार्ज किया। जुलूस ठहर गया तो कोई मेरी माँ के लिए एक कुर्सी ले आया। इसी पर वह जुलूस के आगे-आगे, सडक पर बैठी हुई थी। कुछ लोग जो खास तौर पर उनकी देख-रेख कर रहे थे और जिनमें मेरा सेक्रेटरी भी था, गिरफ्तार करके वहाँ से हटा दिये गये और तब फिर पुलिस का चार्ज हुआ। मेरी माँ धक्का खाकर कुर्सी से गिर पडी और फिर बार बार बार बार उनके सिर पर बेत पडने लगे। सर फट गया और खून बहने लगा। वह बेहोश हो गयी और सडक किनारे पडी रही जहाँ न अब कोई जुलूसवाला था न कोई जनता, सबकी सफाई कर दी गयी थी। कुछ देर बाद पुलिस का एक अफसर उन्हे अपनी मोटर में उठाकर आनदभवन ले गया। उसी रात इलाहाबाद में यह अफवाह उडी कि मेरी माँ मर गयी। गुस्से मे पागल भीड ने शान्ति और अहिंसा की सुध-बुध खोकर पुलिस पर हमला कर दिया। पुलिस ने गोली चलायी जिसमें कुछ लोग मारे गये। इस सबकी खबर जब कुछ रोज के बाद मेरे पास आयी तो और सब बातें जैसे गायब हो गयी और यही एक खयाल मेरे मन में चक्कर काटता रहा कि मेरी कमजोर बुड्ढी माँ धूलभरी सडक पर बेहोश पडी है और उनके सर से खून बह रहा है'

उसी के बारे में मुशीजी ने तिलमिलाकर १० अप्रैल १९३२ के अपने खत में निगम साहब को लिखा —

' .गवर्नमेण्ट की ज्यादतियाँ अब नाकाबिले बर्दाश्त हो रही हैं। पडित जवाहरलाल की जईफ माँ के साथ कितनी बिदअतें[1] की गयी। अब बाहर रहना मुझे भी बेहयाई मालूम हो रही है।'

लेकिन वह भी जानते है कि रहना उन्हे बाहर ही है। क्या बुरा है। बाहर रहकर वह बहुत कुछ कर सकते है जो जेल में बैठकर नही कर सकते।

---

१ ज्यादतियाँ

उसी महीने 'दमन की सीमा' शीर्षक से मुशीजी ने 'हस' में लिखा —

● कांग्रेस स्वराज्य माँगती है। सरकार स्वराज्य देने को तैयार है। तो फिर यह दमन क्यो ? यह सत्याग्रह क्यो ? या तो कांग्रेस स्वराज्य नही कुछ और माँगती है या सरकार स्वराज्य नही कुछ और देना चाहती है।

कांग्रेस के स्वराज्य माँगने का क्या उद्देश्य है ? क्या केवल अधिकार या ओहदे ? देश में आधे आदमी बेकार पडे हुए है, सौ में नब्बे आदमियो को पेट भर भोजन नही मिलता, सौ में नब्बे आदमी लिख-पढ नही सकते कही साहू-कर उनके मुँह का कौर छीन लेता है, कही पुलिस। ..

प्रजा भूखो मर रही है, हमारे विधाताओ को अपने हलवे-माँडे में रत्तीभर की कमी भी स्वीकार नही। सब खर्च ज्यो का त्यो चल रहा है। प्रजा के पास लगान देने को कुछ न हो, मगर सरकार अपना लगान वसूल करके ही छोडेगी, चाहे किसान बिक जाय, तबाह हो जाय, चाहे उसकी जमीन बेदखल हो जाय, उसके बर्तन-भाँडे बैल-बधिये, अनाज-भूसा सबका सब बिक जाय प्रजा के रहने को झोपडे मयस्सर नही, सरकार को नई दिल्ली बनवाने की धुन है, प्रजा को रोटियो का ठिकाना नही, अधिकारियो को दस-दस और पाँच-पाँच हजार वेतन अवश्य मिलना चाहिए। .. इस सरकारी नीति से कांग्रेस का आश्वासन नही हो सकता, और न होना चाहिए। सरकार यो तो जनता के हित-साधन का राग अलापते नही थकती, लेकिन जब उसका परिचय देने का समय आता है तो बगलें झाँकने लगती है। गोलमेज सभा में भी विधाताओ को इसकी फिक्र न थी कि प्रजा की दशा क्योकर सुधारी जाय, बल्कि यह फिक्र थी कि कांग्रेस की शक्ति क्योकर तोडी जाय।

इस उद्देश्य को पूरा करने के लिए पृथक् निर्वाचन का विधान सोच निकाला गया एक तरह से यह निश्चय कर लिया गया कि विच्छेद नीति को बरता जाय। . ●

इस विच्छेद नीति की बखिया अच्छी तरह उधेडने के बाद मुशीजी ने वैसे ही जलते हुए शब्दो में लिखा —

'जो कुछ रही-सही आशा थी, उसका फेडरेशन ने चिराग गुल कर दिया। धन्य है वह मस्तिष्क जिसने फेडरेशन की कल्पना की ! सुनने में तो ऐसा मालूम होता है कि यह विधान सयुक्त राष्ट्र अमेरिका के नमूने पर रचा जा रहा है पर वास्तव में यह केवल राष्ट्र को चिरकाल तक दासता में जकडे रखने का एक चमत्कारपूर्ण साधन है। राजाओ को एक तिहाई जगहे दे दी जायगी। मुसलमान भाई एक तिहाई लिये ही बैठे है। बाकी एक तिहाई में अछूत, दलित, हिन्दू, ईसाई, सिख, ज़मीदार, व्यापारी, किसान, स्त्री और न जाने कितने विशेषाधिकारो के लिए स्थान दिया जायगा। राष्ट्र का अंत हो गया। राजाओ के प्रतिनिधि राजसत्ता की उपासना करेंगे ही, मुसलमान जिस तरफ अपना फायदा देखेंगे

उधर जायँगे। सभी दल अपनी-अपनी रक्षा करेंगे, राष्ट्र की रक्षा कौन करेगा ?'
पूरा चक्रव्यूह है।

'कर्मभूमि' इन्ही दिनो में आकर पूरी हुई —

'अमरकान्त की झोपडी में एक लालटेन जल रही है। पाठशाला खुली हुई है। पन्द्रह-बीस लडके खडे अभिमन्यु की कथा सुन रहे है। अमर खडा वह कथा कह रहा है। सभी लडके कितने प्रसन्न हैं। उनके पीले चेहरे चमक रहे है, आँखें जगमगा रही है। शायद वे भी अभिमन्यु जैसे वीर, वैसे ही कर्तव्यपरायण होने का स्वप्न देख रहे है। उन्हे क्या मालूम एक दिन उन्हे दुर्योधनो और जरासधो के सामने घुटने टेकने पडेंगे, माथे रगडने पडेगे, कितनी बार वे चक्रव्यूह से भागने की कोशिश करेंगे और भाग न सकेंगे।'

घुटने क्यो टेके, भागे क्यो, हम इस चक्रव्यूह को तोडेंगे।

उसी आवेग में अपनी टिप्पणी समाप्त करते हुए मुशीजी ने लिखा —

' देश में हमेशा फौजी कानून से शासन न किया जा सकेगा क्योकि देश के सेवक चुप होकर न बैठेंगे और उनकी वाणी में सत्य का ऐसा आकर्षण है कि जनता उनके झडे के नीचे जमा होने से रुक नही सकती। अतएव इगलैण्ड के सामने दो रास्ते है। एक तो राजसत्ता का मार्ग है। तलवार के जोर से प्रजा को दबाये रक्खो, उनके खेत कटवाकर मालगुजारी वसूल कर लो। वह जो कुछ गाढा पसीना बहाकर कमाये वह रेल, डाक, नमक आदि के महसूल बढाकर, आमदनी के टैक्स के रूप में वसूल कर लो। दूसरा जनसत्ता का मार्ग है। प्रजा पर प्रजा के हित के लिए शासन करो, राजा और प्रजा का भाव दिल से निकाल डालो . . लेकिन इस वक्त इगलैण्ड इस तरह की बातें सुनने को तैयार नही है। वह भारत से अपना आतक मनवाकर छोडेगा, मानो भारत ने कभी उसके आतक को न माना था। आतक तो वह लगभग दो सौ साल से देखता चला आता है। पहले वह इससे भय-भीत होता था, अब भयभीत भी नही होता। अब तो आतक से उसके मन में जलन होती है, अब तो उसे राजसी ठाट-बाट, धुमधाम, चमक-दमक देखकर घृणा होती है, इक्कीस तोपो की सलामियाँ और स्पेशल गाड़ियाँ और मखमली पायदाज उसे रोब में नही डालते, उसके दिल में घृणा का भाव उत्पन्न करते है। वह सरकार को केवल शोषक के रूप में देखता है। उसकी पुलीस उसे सताती है। उसके कर्म-चारी उसके मुँह का कौर छीनकर खा जाते है। उसके बनाये हुए ज़मीदार उसे बेदर्दी से कुचलते है। उसकी बनायी हुई अदालते उसे तबाह करती है। देहात से, सुधार और सहयोग और शिक्षा और स्वास्थ्य और वह सभी आयोजनाएँ जिनसे राष्ट्र बनता है, जिनसे उसका विकास होता है, लापता है। हम दावे से कह सकते हैं कि आज सरकार के विषय में अगर जनता से वोट लिया जाय तो समस्त भारत में पाँच वोट भी न मिलेंगे। और जब तक हमारे विधाता भारत का

शासन भारत के हित के लिए न करेंगे, जब तक भारत को इगलैण्ड का मजूर समझा जायगा, जब तक भारत को द्रव्योपार्जन का अखाडा, मोटी नौकरियो का क्षेत्र और इगलैण्ड के माल का बाजार समझा जायेगा, जब तक कसाइयो की भाँति इगलैण्ड की निगाह भारत के मास पर रहेगी उस वक्त तक देश में न शान्ति होगी और न उन्नति। दमन सब कुछ कर सकता है पर देश का उद्धार नही कर सकता, और जब तक देश के उद्धार का आदर्श सामने न हो, शासन केवल लूट है और कुछ नही।'

कोरा गर्जन-तर्जन होता तो भी शायद सरकार इसको पचा जाती, लेकिन शान्त सयत क्रोध-सवलित इस लेख को, जिसमें राजसत्ता की पैशाचिक शासन नीति का तार-तार बिखेर दिया गया था, पचा पाना बहुत मुशकिल था और अगले महीने जिस समय मुशीजी अपने मित्र पद्मसिंह शर्मा की अकाल मृत्यु का शोक मना रहे थे, एक हजार की ज़मानत का परवाना आ चुका था —

"कौन जानता था कि हिन्दी-साहित्य का यह सूर्य अपने साहित्यिक जीवन के मध्याह्न में ही यो अस्त हो जायगा। पूज्य शर्माजी उन धुन के पूरे मनुष्यो में थे जो कभी बूढे नही होते। . आपकी अकाल मृत्यु से हिन्दी साहित्य का एक स्तभ उठ गया। आज हम चारो ओर निगाह दौडाते है और हमें कोई ऐसा आदमी नही दीखता जो सुलेखक होने के साथ ही इतना प्रकाण्ड विद्वान् भी हो। आपमें नवीन और प्राचीन का अभूतपूर्व मेल हो गया था। क्या सस्कृत, क्या हिन्दी, क्या उर्दू, क्या फारसी, आप इन सभी साहित्यो के ज्ञाता थे। अकबर मरहूम के तो आप आशिक ही कहे जा सकते है। मैने आपकी जबान से अकबर की सैकडो सूक्तियाँ सुनी है। आप उन पर मस्त हो जाते थे। हिन्दी में आप एक खास शैली के जन्म-दाता है — जिसमें चुलबुलापन है, शोख़ी है, प्रवाह है और उसके साथ ही गाभीर्य भी। उनका साहित्य उनके काबू में है। वह उस पर शहसवार की भाँति सवार होते है। उसकी लगाम ढीली नही करते, उसे बहकने नही देते। सूक्तियो के आप भण्डार थे और इसमें तो कलाम ही नही कि काव्यशास्त्र के आप मर्मज्ञ थे। शर्माजी जितने बडे साहित्य-प्रेमी थे, उससे कही बडे मनुष्य थे। आपसे मिलकर कभी जी नही भरता था। नये लेखको को आप वह प्रोत्साहन देते थे जो माता अपने लटपटे बालक को देती है। मेरे ऊपर तो उनकी असीम कृपा थी। 'सेवा-सदन' उपन्यास क्षेत्र में मेरा पहला प्रयास था। शर्मा जी ने जिस तरह दिल खोलकर उसकी दाद दी, वह मैं भूल नही सकता। उस समय उनकी कठोर आलोचना ने मेरा अत कर दिया होता। उसके बाद जब-जब मुझे उनसे मिलने का सुअवसर मिला, इस तरह टूटकर गले लगाते थे .."

कभी ऐसा भी होता है कि एक आदमी दूसरे के लिए आईना बन जाता है। बहुत-सी बातो में साम्य है दोनो का। उनमें से एक, और बहुत बडी, चीज़ है — नयी प्रतिभा को पहचानना, सहारा देना, आगे ले आना।

जैनेन्द्र ने एक सवाल 'परख' को लेकर पूछा था —

'ऋषभचरण का खत मिला कि आप परख को प्रसाद स्कूल के अधिक निकट समझते है।.. उसका भी खुलासा मैं जानना चाहूँगा।'

उसके जवाब मे मुशीजी ने १७ तारीख को लिखा —

'अब आपके उस प्रश्न का जवाब कि परख को मै प्रसाद स्कूल के निकट क्यो समझता हूँ। मैं तो कोई स्कूल नही मानता, आप ही ने एक वार प्रसाद-स्कूल प्रेमचद-स्कूल की चर्चा की थी। शैली में जरूर कुछ अतर है, मगर वह अतर कहाँ है यह मेरी समझ में खुद नही आता। आपकी शैली में स्फूर्ति, सजीवता कही अधिक है। रियलिस्ट हममें से कोई भी नही है। हममें से कोई भी जीवन को उसके यथार्थ रूप में नही दिखाता, बल्कि उसके वाछित रूप मे ही दिखाता है। मैं नग्न यथार्थवाद का प्रेमी भी नही हूँ।'

उसी महीने 'हस' मे मुशीजी ने उस पर लिखा —

' . परख है तो छोटी किताब, पर हिन्दी में एक चीज है। भाषा इतनी सजीव, शैली इतनी आकर्पक, चरित्र इतना मार्मिक कि चित्त मुग्ध हो जाता है। मगर यह नयी विवाह-प्रथा हमारी समझ में नही आयी। यदि कट्टो और बिहारी को सेवा-व्रत ही धारण करना था — और ऐसा प्रतीत होता है कि जीवन में वह फिर न मिले होगे — तो विवाह-बधन की क्या जरूरत थी ? विवाह वासना की चीज न हो, सन्तान पैदा करने की चीज न हो, पर सगति की चीज तो है ही, ऐसी गाडी तो है ही जिसके दो पहिये होते है। यदि स्त्री और पुरुष को एक-दूसरे के प्रेम, सहारे और सहानुभूति की जरूरत न हो तो विवाह का नाम ही कौन ले।

'जैनेन्द्र जी से हमारी थोडी देर की मुलाकात है। सीधे-सादे खद्दरधारी आदमी है, हृदय में देशभक्ति और सेवा का भाव कूट-कूटकर भरा हुआ, न लबे-लबे सँवारे हुए केश है न आँखो पर सुनहरी ऐंनक, न कोई टीमटाम। चुपचाप काम करनेवाले आदमियो में है, पूरे सत्याग्रही। आजकल गुजरात स्पेशल जेल में जेल-जीवन पर कोई उपन्यास लिखने की सामग्री जमा कर रहे है।'

यह आखिरी बात इस निहायत छोटी-सी रिव्यू में भी आये बिना न रही, और कैसे न आती, इसी ने तो मुशीजी के हृदय को इस नये प्रतिभाशाली लेखक के प्रति और भी कोमल बना दिया है, और शायद हल्की-सी स्पर्द्धा भी कही मन के किसी कोने में रख दी है।

लेकिन जैनेन्द्र ही क्यो, नये लोगो की एक पूरी फौज मुशीजी के साथ चल रही है जिसके एक-एक सिपाही को उन्होने बडे प्यार से खुद अपने हाथो से बनाया सँवारा है, उसी तरह जैसे अच्छे माली की निगाह अपने एक-एक फूल पर रहती है किस फूल का क्या रग है, कैसी उसकी खुशबू है, वह ठीक बढ रहा है या नही, कही कोई कीडा तो उसे नही खा रहा है

मुशीजी वह बरगद का पेड नही है जिसके नीचे दूसरी कोई चीज पनप नही सकती। हर जगह अपना ही रग, अपनी ही छाया, अपनी ही अनुकृति, अपने ही छोटे बौने गुटका सस्करण देखने का मोह या वासना मुशीजी के मन में नही है। वह तो बस एक माली है जो हर फूल को प्यार करता है और हर फूल को उसके अपने रग में खिलते, बढते, खुशबू बिखेरते देखना चाहता है।

नये-नये मैदान मारती हुई नयी प्रतिभा को देखकर बहुत बार बडे आदमियो में एक छोटी अहमिका, एक टुच्चा द्वेष भी देखा गया है — जो पर्दा डाल देता है उनकी आँखो पर . उसका तो यहाँ जिक्र ही बेकार है।

१६ मार्च १६३२ के अपने खत में मुशीजी ने कानपुर के श्री सद्गुरुशरण अवस्थी को लिखा था —

'आपके क्लास में यदि कुछ साहित्यिक रुचि के छात्र हो तो उन्हे कुछ लिखते रहने की प्रेरणा करते रहिये। युवक कभी-कभी सुन्दर गल्प लिख जाते है जो हम लोगो से नही बन पडती। हमारी जीत अभ्यास में है। नवीनता और विचित्रता तो उनके साथ है।'

छोटी बात है लेकिन शायद ही सब लोग इसको इतने निश्छल ढग से कह सके।

मुशीजी बार-बार कहते है कि आलोचक की दृष्टि उनके पास नही है। न होगी। बहस करने से क्या फायदा। तो भी जहाँ जो कुछ लिखा जा रहा है, उस सब पर उनकी नजर है और उसके बारे में अपनी एक साफ और बेलौस राय है। बनारसीदास चतुर्वेदी के एक सवाल के जवाब में उन्होने ३ जून १६३० को लिखा था—

'हिन्दी में गल्प साहित्य अभी अत्यन्त प्रारम्भिक दशा में है। कहानी लिखने-वालो में सुदर्शन, कौशिक, जैनेन्द्र कुमार, उग्र, प्रसाद, राजेश्वरी यही नजर आते है। मुझे जैनेन्द्र और उग्र में मौलिकता और बाहुल्य के चिन्ह मिलते है। प्रसाद जी की कहानियाँ भावात्मक होती है, रियलिस्टिक नही। राजेश्वरी अच्छा लिखते है मगर बहुत कम। सुदर्शनजी की रचनाएँ सुन्दर होती है पर गहराई नही होती और कौशिक जी अकसर बात को बेज़रूरत बढा देते है। किसी ने अभी तक समाज के किसी विशेष अग का विशेषरूप से अध्ययन नही किया। उग्र ने किया मगर बहक गये। मैंने कृषक समाज को लिया। मगर अभी कितने ही ऐसे समाज पडे है जिनपर रोशनी डालने की ज़रूरत है। साधुओ के समाज को किसी ने स्पर्श तक नही किया। हमारे यहाँ कल्पना की प्रधानता है, अनुभूति की नही। बात यह है कि अभी तक साहित्य को हम व्यवसाय के रूप में नही ग्रहण कर सकते।'

दो बरस बाद चतुर्वेदीजी को फिर उनकी जिज्ञासा 'भविष्य किनका है ?' के उत्तर में मुशीजी ने लिखा —

• ... नाटककार हमारे पास बहुत ही कम है। रोमाटिक स्कूल के प्रसदा

है, बुद्धिवादी स्कूल के प० लक्ष्मीनारायण मिश्र है, हास्यरस के श्री जी० पी० श्रीवास्तव है। इस क्षेत्र में सबसे नये भुवनेश्वर है जिनके एकाकी नाटको का सग्रह 'कारवाँ' अभी हाल में ही प्रकाशित हुआ है। मेरी समझ में भुवनेश्वर सबसे अधिक प्रतिभासम्पन्न है, शर्त एक ही है कि वह अपनी प्रतिभा को आलस्य, खयाली पुलाव पकाने, सिगरेट फूँकने और इश्कबाजी के चक्कर में बरबाद न कर दे। उसके पास अभिव्यक्ति की असाधारण शक्ति है, आस्कर वाइल्ड और शा के रग में। मिश्रजी को मै पसद नही कर सका। विचार उनके पास हो सकते है पर उनमें शक्ति नही है, अभिव्यक्ति का वेग नही है। मिलिन्द और हरिकृष्ण प्रेमी है, दोनो में नाटकीय शक्ति है पर नाटक की आधुनिक पकड नही है।

उपन्यासकारो में वृन्दावनलाल वर्मा, भगवतीचरण वर्मा, निराला, सियारामशरण गुप्त, प्रसाद, प्रतापनारायण मिश्र आदि है। मैं समझता हूँ कि वृन्दावनलाल वर्मा सबसे बढ-चढकर है...

कहानीकारो में चुनाव करना इससे भी ज्यादा कठिन है — अज्ञेय है, चन्द्रगुप्त, कमला देवी, सुभद्रा, उषा मित्रा, सत्यजीवन, भुवनेश्वर, जनार्दन झा, जनार्दन राय नागर, अचल, ओझा, राधाकृष्ण, वीरेन्द्र कुमार और दूसरे बहुत-से लोग है

हास्यरस के लिखनेवालो में अन्नपूर्णानन्द बेजोड है गो कि वह बहुत ही कम लिखते है। ...

रचनात्मकता ही मूल वस्तु है ... रचनात्मक प्रतिभाएँ हमारे यहाँ बहुत कम है। कहानीकारो में मैदान जैनेन्द्र के हाथ है।

निबन्धो में प० रामचन्द्र शुक्ल एकछत्र सम्राट् है ...

आपके मित्र बाबू ब्रजमोहन वर्मा भी हँसी-मजाक में बहुत ही प्यारे लिखनेवाले है और द्विवेदी ग्रन्थ में उनका 'शेख' एक मास्टरपीस था। ये कुछ बाते है, यो ही राह चलती-सी, जिनमें आपको नया कुछ न मिलेगा, पर (यह तो मैं आपसे पहले ही कह चुका हूँ) मैं कोई आलोचनाबुद्धि-सम्पन्न पाठक नही हूँ। सच तो यह है कि मुझमें तनिक भी आलोचनात्मक प्रतिभा नही है।

आपने जो विषय चुना है वह साहित्य के पूरे क्षेत्र को अपनी परिधि में लेता है लेकिन उसमें कोई भविष्यवाणी नही कर सकता। जिनमें आज सबसे अधिक सम्भावनाएँ दिखायी पड रही है, हो सकता है कि वह बिल्कुल बुद्धू साबित हो और जो आज अति साधारण जान पड रहे है, चमक जायँ। ●

मुशीजी देखते सबको है लेकिन उनकी असल निगाह मँजे हुए खिलाडियों पर नही है, उन्होने तो अपना रास्ता पा लिया है, उनके हाथ सध गये है, उनकी बुद्धि पक चुकी है, उन्हे अपने रास्ते पर जाने दो। लेकिन जो अभी इस मैदान के नये खिलाडी है — वह अभी कुम्हार की गीली मिट्टी है, उन्हे अभी गढा जा सकता है।

मगर मुशीजी खुद भी कभी इस तरह के बछेडे रह चुके है, उन्हे पता है कि वह जल्दी किसी को पुट्ठे पर हाथ नही रखने देता। लेकिन दोस्त की तलाश सबको होती है, नये लिखनेवाले को खासकर। और दोस्त ही उसे नही मिलता। मिलते है कौन ? अपने से छोटे, कातर-विगलित प्रशसक या अपने से बडे रक्तचक्षु, मौनव्रती, जलद-गभीर, दिग्गज महारथी

मुशीजी उम्र मे बडे है तो क्या, दिग्गज महारथी है तो क्या, सबसे पहले वह दोस्त आदमी है जिन्हे अपने से तीस बरस छोटे आदमी से भी गले में बाँहे डालकर बात करना अच्छा लगता है।

वीरेश्वर सिह एक नये लेखक है। उन्ही दिनो उनकी कुछ कहानियाँ इधर-उधर निकलना शुरू हुई थी। मुशीजी ने उनकी एक कहानी पढकर उनको लिखा (इस तरह के कार्ड मुशीजी काफी दौडाते रहते थे)—

'चाँद में आपकी कहानी पढकर बडा आनन्द आया। कई जगह तो मन मुग्ध हो गया। मैं आपकी पढाई में विघ्न तो नही डालना चाहता लेकिन कभी-कभी कुछ लिखा करे तो एहसान समझूँगा।'

दो महीने बाद किसी दूसरी कहानी के प्रसग में लिखा —

'कहानी मिली। धन्यवाद। पढा और जी खुश हुआ। प्रोपेगण्डा से बचे तो अच्छा हो। मैं खुद इस मर्ज में मुबतिला हूँ पर है यह दोष। फिर भी तुमने कहानी में इतना रस भर दिया है कि उसका यह दोष जरा भी नही खटकता। शब्द-चित्र खीचने मे तुम्हे बहुत कम लोग पहुँच सकते है। ससार की सर्वश्रेष्ठ कहानियाँ पढते रहा करो और लिखना तो ईश्वरीय शक्ति है। अभ्यास से इसे चमकाया जा सकता है, लेकिन जहाँ नही है वहाँ पूरा पुस्तकालय पढ जाने से भी नही आता।'

फिर दो महीने बाद —

"आज तुम्हारा 'उँगली का घाव' पढकर मुग्ध हो गया। तुम यहाँ होते तो तुम्हारा हाथ चूम लेता। लेकिन अब तारीफ न करूँगा नही समझोगे पीठ ठोक रहा है।"

बी० ए० के एक छात्र के लिये प्रेमचद की ये चिट्ठियाँ कच्ची शराब के मटको से कम न थी। किसी ऐसी ही चिट्ठी का जिक्र करते हुए उपेन्द्रनाथ अश्क ने लिखा है कि वह गर्मी की सारी दोपहर और न जाने कितनी दोपहरें चिट्ठी जेब में डाले साइकिल पर जलधर का चक्कर लगाते और मुझको-तुझको गोया कि जलधर के हर बाशिन्दे को यह खबर देते घूमते रहे थे कि यह देखो, यह प्रेमचन्द का खत आया है, हाँ हाँ, प्रेमचद का, पढकर भी तो देखो

लेकिन सिर्फ तारीफ ही नही। २३ मार्च १६३२ के अपने खत में मुशीजी ने अश्क को लिखा —

● तुमने नरेन्द्र को बिना काफी कारणो के शादी करने पर आमादा कर दिया। वह शादी से बेजार है। विवाहित जीवन का दृश्य देखकर उसकी तबीयत और उदासीन हो जाती है। फिर यकायक वह शादी करने पर तैयार हो जाता है। लेकिन यह कौन कह सकता है कि जिन मियाँ-बीवी को उसने लडते देखा था, उनका जीवन भी यौवन की पहली मधु ऋतु में इतना ही आकर्षक न रहा होगा? तुम्हे कोई ऐसा सीन दिखाना चाहिए था कि जिसमे इसान को अपना अकेलापन असह्य हो जाता या मियाँ-बीवी में जग होने के बावजूद भी उनमें ऐसा चारित्रिक सौन्दर्य होता जो इसान को शादी की तरफ झुकने पर विवश करता। मौजूदा हालत में किस्सा convincing नही है।

पढने के लिये लाइब्रेरी से मनोविज्ञान की एक किताब ले लो, स्कूली कोर्स की किताब नही, अभी एक किताब निकली है, The Aspects of a Novel, इस विषय पर अच्छी पुस्तक है। मतलब सिर्फ यह है कि इसान उदार विचारवाला हो जाय, उसकी सवेदनाएँ व्यापक हो जायँ। डाक्टर टैगोर के साहित्यिक और दार्शनिक निबन्ध बहुत ही आला दर्जे के है। रोमें रोलाँ का विवेकानन्द जरूर पढो। उनकी गाँधी भी पढने के काबिल है। डाक्टर राधाकृष्णन की दर्शन सबधी किताबे, टालस्टाय का What is Art वगैरह किताबें जरूर देखनी चाहिए।

तारीफ भी है, इसलाह भी है, हल्की-फुल्की नसीहत भी है, कही गुस्सा और झुँझलाहट भी है (जैसे कि भुवनेश्वरप्रसाद पर) लेकिन जो है सब दोस्ताना है। इसलिए जी पर भारी नही पडता।

बहुत सच्ची सद्भावना है। उषादेवी मित्रा हिन्दी की ड्योढी पर आकर खडी थी जब ७ जून १९३३ को मुशीजी ने उन्हे लिखा—

'मुझे यह जानकर हर्ष हुआ कि आपको हिन्दी से प्रेम है और आप हिन्दी साहित्य में आना चाहती है। मैं आपका स्वागत करने को तैयार बैठा हूँ।'

मगर-फूल पौधो की परवरिश के साथ-साथ माली का एक उतना ही जरूरी काम झाड-झखाड की सफाई भी है। सयोग से इन्ही दिनो जनवरी-फरवरी १९३२ में इसका प्रसग उठा 'हस' के आत्मकथाक को लेकर। महापुरुषो की आत्मकथाएँ नही जिनका आम चलन है, साधारण जनो, साहित्यसेवियो, समाजसेवियो की आत्मकथाएँ। पडित नन्द दुलारे बाजपेयी को, जो उसी साल एम० ए० पास करके 'भारत' के सम्पादक बने थे, यह बात कुछ अच्छी नही लगी। उन्होने तरुणाई के पूरे आवेश के साथ उसका विरोध किया और बहुत सी अनकहनी बातें कह गये जो मुशीजी को बेतरह खली और एक अच्छा खासा बखेडा खडा हो गया।

मुशीजी कब ताब लाते ऐसी बातो की, दिलोजान से मैदान में कूद पडे और बहस छिड गयी। वाजपेयी जी के एक-एक आक्षेप को लेकर मुशीजी उत्तर देने लगे—

●वाजपेयी जी फरमाते है—'प्रेमचन्द के सभी समीक्षक जानते हैं कि उनका सबसे बडा दोष जो उनकी साहित्य कला को कलुषित करने मे समर्थ हुआ है, यही प्रोपेगेंडा है।'

इसका क्या जवाब दिया जा सकता है। सभी लेखक कोई न कोई प्रोपेगेंडा करते हैं—सामाजिक, नैतिक या बौद्धिक। अगर प्रोपेगेंडा न हो तो ससार में साहित्य की जरूरत न रहे। जो प्रोपेगेंडा नही कर सकता वह विचारशून्य है और उसे कलम हाथ में लेने का कोई अधिकार नही। मैं उस प्रोपेगेंडा को गर्व से स्वीकार करता हूँ। मेरा विरोध तो उस प्रोपेगेंडा के आक्षेप से है जो मान और यश और कीर्ति और धन-मोह के वश किया जाता है। जिस आदमी ने जीवन में एक बार भी किसी साहित्य सम्मेलन या सभा में शरीक होने का गुनाह न किया हो, जो प्लेटफार्म को सूली का तख्ता समझता हो उसको अपना ढिंढोरा पीटनेवाला कहना न्याय नही है।●

वाजपेयीजी ने अपने लेख में कही यह भी लिखा था—

'जहाँ व्यक्ति के व्यक्तित्व के कोई स्वतन्त्र विषय नही रह जाते, उच्च साहित्य की वह भावभूमि है। वहाँ अपरिग्रह का साम्राज्य है, फोटो नही छापे जाते। वहाँ वाणी मौन रहती है, गाथा गाने में सुख नही मानती '

उसका जवाब देते हुए मुंशीजी ने कहा—

●जहाँ वाणी मौन रहती है, वह साहित्य है? वह साहित्य नही, गूँगापन है। साहित्य का काम भावो को अन्त करण में अनुभव करना ही नही, उनको व्यक्त करना है। .तुलसीदास ने रामायण द्वारा अपनी आत्मा को व्यक्त किया है, अन्यथा आज उनका कोई नाम भी न जानता

इन वाक्यो का सीधा-सादा अर्थ जो हम समझ सके है, वह यह मालूम होता है कि साहित्यकारो को आत्मविज्ञापन नही करना चाहिए। यह सभी के लिए निंद्य है, साहित्यिक प्राणियो के लिए और भी अधिक। इसके मानने में किसी को मतभेद नही हो सकता। लेकिन क्या आत्मकथा और आत्मविज्ञापन समान है? थोडे-बहुत, अच्छे या बुरे अनुभव सभी प्राणियो के जीवन में हुआ करते हैं। जो लोग साहित्य के रूखे क्षेत्र में आकर अपना तन-मन घुलाते है, वह केवल आत्म-विज्ञापन के भूखे नही होते। आप अपने दार्शनिक गाम्भीर्य के कारण उन्हे जितना चाहे पतित समझ लें पर साहित्य-क्षेत्र में जो कोई भी आता है, वह अपनी आत्मा की प्रेरणा ही से आता है। यह दूसरी बात है कि वह परमपद को प्राप्त कर सके या न कर सके। स्कूल में सभी लडके तो गाधी और गोखले नही हो जाते, न सभी भारत-संपादक हो जाते है, पर यह कहना कि वे केवल विद्याभ्यास का स्वाँग रचने आते हैं, ऐसी बात है जिसका जवाब खामोशी है। हम तो कहते है कि एक मामूली मज़दूर के जीवन में भी खोजने से कुछ ऐसी बाते मिल जायँगी जो अमर-

साहित्य का विषय बन सकती है । केवल देखनेवाली आँख और लिखनेवाली कलम चाहिए ●

मुशीजी अपने सात्विक क्रोध के आवेश में आँधी-तूफान की तरह लिखते चले जा रहे है, उन्हे दायें-बाये देखने तक की फुर्सत नही है और न कोई लिहाज़-मुरौवत, हन-हनकर चोटें मार रहे है ।

कोरी शास्त्रीय बहस होती तो भी शायद मुमकिन होता बहुत सोच-सोचकर, तौल-तौलकर शब्दो को बिठाना । यहाँ तो हमला हुआ है अपने और अपने ही जैसे और न जाने कितने गरीब साहित्यकारो के जीवन की सारी कमाई पर, उनके समस्त जीवन-आदर्शो पर, निष्ठा पर, जिन्हे कैसी-कैसी हालतो में, सोलह-सोलह और अठारह-अठारह घटे काम करने के बाद भी आधे पेट खाकर, फटे-पुराने कपडे पहनकर, नगे पाँव रहकर, हम अपनी छाती से लगाये रहे है । सब कुछ झेलकर भी हमने अपनी आत्मा नही बेची, सरकार बहादुर की ख़ैरख्वाही करके तर माल खाने और अपना घर भरने की सबील नही की, अमीर-उमरा के टुकडो पर नही गिरे — और न कभी किसी से भीख माँगी । न मेरे-तेरे आगे जाकर अपनी तकलीफ गायी । वह एक ओछी बात होती, उससे हमारे दर्द का मूल्य घटता । हमने सात तालो में उसे अपने दिल के भीतर बद रखा । इसी में उसकी सार्थकता थी, गौरव था, तृप्ति का आस्वाद था । तुम क्या जानो (कब देखा तुमने हमें कष्ट की, पराजय की घडियो में) हम क्यो कभी-कभी सबकी नजर बचाकर अपने भीतर झाँक लेते थे जहाँ हमारे हृदय की वह रत्न-मजूषा है जिसका हाट में कौडी मोल नही है । सब बातें सबसे कहने की नही होती, लेकिन क्या हमें दर्द नही होता ? हम क्या पत्थर है ?

तब फिर कैसे हिम्मत पडी इस आदमी को कि इस तरह सरीहन् हमको गाली दे ? सारी जिन्दगी भाड लीपकर क्या हमने बस हाथ काला किया ?

मुशोजी समझ रहे है कि वह सिर्फ अपने लिए नही, अपने जैसे और भी न जाने कितने लोगो के लिए लड रहे है जो गुमनाम है मगर जिन्होने आँखें खोलकर किसी बडे आदर्श के लिए सच्चा कष्ट सहा है और जिनके पास कुछ कहने को है — 'बडे-बडे लोगो के अनुभव बडे-बडे होते है, लेकिन जीवन में ऐसे कितने ही अवसर आते है जब छोटो के अनुभव से ही हमारा कल्याण होता है । सुई की जगह तलवार नही काम दे सकती । मेरा ख़याल है कि मेरे घर के मेहतर के जीवन में भी कुछ ऐसे रहस्य है जिनसे हमें प्रकाश मिल सकता है । किसी भी मनुष्य का जीवन इतना तुच्छ नही है जिसमें बडे से बडे महच्चरितो के लिए भी कुछ न कुछ विचार की सामग्री न हो

यही १९३२ के दिन है, लखनऊ के शायद आखिरी दिन । मुशीजी गणेश-गंज के पीले शिवालेवाले मकान से उठकर पास ही ग्रेन मार्केट के घर में आ गये है । इतवार की दोपहर है । मुशीजी अपने किसी दोस्त के साथ शतरज खेल रहे है । चारपाई पर आप है, सामने कुर्सी पर दूसरे सज्जन, बीच में छोटी-सी मेज पर शतरज की बिसात । काठ के घोडे दौडाने में, फीले और रुख चलाने मे दोनो लीन है । कमरे में सन्नाटा छाया हुआ है । थोडी देर बाद उस खामोशी को तोडती हुई मुशीजी की आवाज सुनायी पडती है — पैदल तो मैं मरने न दूँगा, फीला भले कट जाय । पैदल रहेगे तो फिर फीले बन जायँगे

मुशीजी खुद ' छोटे आदमी ' है और ' छोटे आदमियो ' के प्रति तिरस्कार का भाव उन्हे बिल्कुल सह्य नही ।

बहरहाल, लेख का अ्रत आते-आते गुस्सा ठण्डा पड चुका था —

' मेरी तो अच्छी-बुरी किसी तरह कट गयी, धन तो हाथ न लगा हालाँकि कोशिश बहुत की और अब इस फिक्र में हूँ कि कोई गाँठ का पूरा रईस फँस जाय तो अपनी कोई रचना उसे समर्पण कर दूँ । लेकिन आपको अभी बहुत कुछ करना है, बहुत कुछ सीखना है, बहुत कुछ देखना है । आदर्श बहुत अच्छी चीज है । लेकिन ससार में बडे से बडे आदर्शवादियो को भी कुछ-न-कुछ झुकना ही पडता है। यह न समझिए कि जो कुछ आप समझते है वही सत्य है, दूसरे निरे गावदी है । मत-भेद होना स्वाभाविक है । लेकिन जिनसे मतभेद हो उन्हे नीचा न समझिए । जिसे आप नीचा समझेंगे वह आपकी पूजा न करेगा । अब गुस्सा थूक दीजिए । आपने बिगडकर मन को शान्त कर लिया, मैंने आपके बिगडने का आनन्द उठाकर मन को शान्त कर लिया । आइए, हाथ मिला ले । '

यह मुशीजी की एक खास मोहिनी अदा है (जो अदा नही उनका सहज स्व-भाव है) जिसके आगे सब ढेर हो जाते है — यह स्वच्छ पानी जैसी पारदर्शिता, सरल, निश्छल

पूरे सत्ताईस बरस बाद ५ फरवरी १९५९ को आकाशवाणी से बोलते समय इस घटना को याद करके वाजपेयीजी के मन में बस अपनी भूल की प्रतीति और मुशीजी के प्रति निष्कलुष स्नेह और आदर का भाव रह गया और उसके साथ ही उन्हे याद आयी उसके भी एक बरस पहले, सन् इकतीस की एक घटना, जब उन्होने मुशीजी पर ' भारत ' में एक काफी तीखा लेख लिखा था जिसे पढकर मुशीजी ने उनको लिखा था — तारीफ तो बहुत से लोग करते है पर कमियो को दिखाने वाले नही मिलते । आपका मैं शुक्रगुजार हूँ, आपने कई मानो में मेरा उपकार किया ।

ऐसा ही अनुभव इलाचन्द्र जोशी को हुआ —

' .. यद्यपि सामयिक पत्रो में प्रेमचद जी की कला-सबधी धारणा से मेरा

मतभेद कुछ कडवे रूप में व्यक्त हो चुका था पर जब मै उनसे मिला तो उन्होने अपनी बातो में किसी सामान्य सकेत से भी यह बात प्रगट न होने दी कि मेरे विचारो से मतभेद होने के कारण मेरे प्रति उनके मन में किसी प्रकार का द्वेषभाव उत्पन्न हुआ है। प्रारम्भ में उन्होने कुछ सकोच के साथ बातें अवश्य की पर कुछ ही देर बाद वह ऐसे खुले कि दोनो को ऐसा अनुभव होने लगा जैसे हम लोगो की बडी पुरानी मैत्री हो। .. '

द्वेष का यहाँ काम नही, हाँ, क्रोध है, प्रबल, क्षणिक, छोटी बातो में नही, उनमें जहाँ कोई उनकी इज्जत पर, ईमान पर, जीवन के गहरे विश्वासो पर चोट करता है। उस वक्त उन्हे फिर और कुछ नही सूझता, गुस्से से थरथराने लगते है और कनपटी की रगे फूल जाती है। युद्ध .. .

जो रक्षणीय है उसकी रक्षा करने में कैसी दुविधा कैसा सकोच ?

३०

लखनऊ का आबदाना खतम हुआ। अब यहाँ से तबू-खेमा उखडता है। लमही का अपना घर तो कही नही गया। होगी गुजर, जैसे भी होगी। मगर उसके पहले और भी कही हाथ-पैर मार लेने में क्या बुराई है।

निज़ाम सरकार की उर्दू-करण की नोति के अन्तर्गत उस्मानिया यूनिवर्सिटी के अधीन अनुवादको का एक ब्यूरो कायम किया गया था, जिसका काम ज्ञान-विज्ञान की अधिक से अधिक पुस्तको का अनुवाद करना था। शायद उसी की तरफ उलाहना-भरा इशारा करते हुए मुशीजी ने २३ जनवरी १९३२ के अपने पत्र में लिखा था — 'हैदराबाद में आपको मेरी याद न आयी, कुदरती बात है। याद तो उनकी आती है जो बार-बार याददिहानी करते रहे। मैने तो भूले से जिक्र कर दिया था। जब तक कलम और दिमाग काम करता है तब तक गम नही। जब बेकार हो जाऊँगा तब देखी जायगो। तीन महीने और यहाँ हूँ। फिर मेरा देहाती मकान है और मै हूँ। अब तक दौलतमन्द न हो सका तो अब क्या होऊँगा। आदमी की कमजोरी है कि जरा बेफिक्री चाहता है वर्ना कुछ छोडकर मरे तो क्या और खाली हाथ गये तो क्या।'

अगला ख़त, बतारीख २५ फरवरी, दर्द की एक पूरी दास्तान है —

'.... चार फोडे लगातार निकले। इनसे नजात न होने पायी थी कि दाँतो में दर्द हुआ। दाँत से फुर्सत मिली तो पेट में दर्द शुरू हुआ .. '

'मैं अप्रैल में बनारस चला जाऊँगा। देहात में बैठकर लिटररी काम करता रहूँगा। अगर रीडरें मजूर हो गयी तो तीन साल तक कोई परीशानी न होगी। ऐसो उम्मीद है। क्या होगा, ईश्वर जाने। अगर मौलवी अबदुल हक साहब से कोई तर्जुमा या तालीफ का काम माकूल मुआवजे पर मिल जाय तो मेरे लिए हासिल करने की कोशिश क्यो नही करते ? साल में पाँच सौ का काम भी कर लूँ तो मुझे गूना बेफिक्री हो जाये। नाविल वगैरह का बाज़ार बहुत ठण्डा है। बडी हिम्मत-शिकन हालत पैदा हो गयी है।'

गाल्सवर्दी के ड्रामो का तर्जुमा करके मुशीजी ने निगम साहब को दे दिया था, लेकिन निगम साहब ने अब तक उन पर नज़र डालकर उन्हे एकेडेमी के

हवाले नही किया था। १० अप्रैल १९३२ को मुशीजी ने उन्हे लिखा —

' . खयाल कीजिए साल भर से जायद हो गया। इस काम मे मैं और बाबू हर प्रसाद सक्सेना दोनो ही शरीक थे। वह बेचारे जेल में है। उन्होने अपना नाम पोशीदा रखने की ताकीद कर दी थी, इसलिए मैने कभी जिक्र नही किया। मगर मैने महज उनकी जरूरियात का खयाल करके उनकी इमदाद ली थी। आज फैजाबाद जेल से उनका दर्दनाक खत आया है। इसलिए मैं फिर याददिहानी करने पर मजबूर हुआ हूँ। अगर आप इस वक्त एक सौ रुपये भी पेशगी वसूल कर सकें तो मैं उनकी बीवी को दे दूँ। वह अभी-अभो यहाँ आयी थी। मेरी हालत इस वक्त ऐसी नही है कि सौ रुपये निकाल कर दे दूँ। मै अभी बाहर हूँ और मुझे ऐसी शदीद[1] जरूरत नही। मगर उनकी हालत हमदर्दीतलब है। '

खुद मुशीजी की हालत कुछ कम हमदर्दीतलब नही। जिस 'रीडरवाली कुत्तेखसी' में लखनऊ के राय उमानाथ बली ने मुशीजी को 'मुबतिला' किया था, उसका भी आखिरकार कोई नतीजा नही निकला और मुशीजी ने लिखा —

'मेरा हिन्दी सेट तो अलकत[2] हो गया। ताल्लुकेदार प्रेस किताबो की छपाई का इन्तजाम न कर सका। कारकुनो में कुछ ऐसी बदमजगियाँ पैदा हो गयी कि राय साहब की कुछ न चली और उनका नुकसान भी हुआ। कनवैसर वगैरह पहले ही से रख लिये गये थे। एक हजार का टाइप भी आ गया था। मगर सब धरा रह गया। साझे की खेती थी। मुअल्लिफो[3] में तीन साहब थे, एक बन्दा भी था। और असहाब हवा खाने पहाडों पर तशरीफ ले गये, मैं रह गया। मैंने भो प्रेस की हालत देखी तो चुपका हो रहा।'

काफी मजा ले-लेकर कहानी कह रहे है — मगर वह तो उनकी तबीयत में दाखिल है। अपनी नोटबुक में, न जाने किस सदर्भ में, उन्होने एक जगह टाँक रखा है — टेल्स आफ मिजरी टोल्ड इन ज्वायफुल स्टाइल, गम की कहानी मजा ले लेकर ...

यह भी एक ऐसा ही चुटकुला है। और इसी रग में, साल दो बरस पहले, उन्होंने अपनी बेहतरीन कहानियो में से एक, 'पूस की रात' लिखी थी जिसमें किसान अपनी फसल के जलकर खाक हो जाने पर खुश होता है कि चलो छुट्टी हुई, अब पूस की ठिठुरती हुई रात में उस पर पहरा तो न देना पडेगा!

दर्द का हद से गुज़रना है दवा हो जाना ...

आखिरकार मई का महीना आधा गुजरने के पहले मुशीजी बनारस पहुँच गये और गर्मी की छुट्टियाँ हस्बे दस्तूर लमही में बीती।

---

१ सख्त २ कट गया ३ सपादको

खूब भोर में उठते और लोटा लेकर दूर बावन बिगहवा की तरफ निकल जाते। लौटते तो लोटे में टपके हुए आम होते।

घर के सामने दो पत्थर की बेचे थी। उन्ही पर बैठकर इत्मीनान से कुल्ला-दतुअन होता।

नौकरी के सिलसिले में मुशीजी को काफी लबे-लबे अर्सो के लिए बाहर रह जाना पडता पर गाँव आकर सबसे घुल-मिल जाने में उन्हे एक दिन का भी समय न लगता। पिरथी-पदारथ, सुन्दर-गरीब छाँगुर-बाँगुर, रुप्पन-खेलावन (जिसमें वह किसी के भैया थे किसी के चच्चा किसी के बब्बा) — सब जैसे उनके लिए तडपते रहे हो और देखते ही दौडकर अँकवार में ले लेना चाहते हो।

गाँव से बाहर खेतो को जाने का रास्ता मुशीजी के घर के बगल से गया है और अकसर सुबह-शाम वही पत्थर की बेच पर बैठे-बैठे मुशीजी की मुलाकात सबसे हो जाती। जो उधर से गुजरता वही थोडी देर के लिए बैठ जाता, कुछ अपनी कहता कुछ उनकी सुनता। किसकी कहाँ कितनी जोत है, किसके यहाँ कब कौन बीमार है, किसके यहाँ भाइयो में अनबन चल रही है — सब कुछ उनको पता रहता, और जो पता न रहता उसकी पूछताछ करके अपनी जानकारी अपटुडेट कर लेते।

किसान भोदू नही होता, बहुत घाघ होता है (वर्ना जिये कैसे ?) लेकिन उसके भीतर इसानियत और हमदर्दी का जो एक स्तर है, वह भी उनसे छिपा न था। शायद यही वजह थी कि उनके मित्र सब कुर्मियो में थे, कायस्थो में वैसा मित्र एक न था। सभी मुख्तार मुहर्रिर अहलमद पटवारी थे, अदालती लोग जिनकी जेह-नियत में अदालत घुस गयी थी — उनसे मुशीजी की चूल न बैठती, हाँ किस्सागो के नाते उनकी पेशेवर दिलचस्पी और राह-रस्म उनसे भी थी, लेकिन वह और चीज है।

प्रेस अपनी उसी पुरानी लद्धड चाल से चल रहा था। कितनी बार उसे बद कर देने का ख़याल आता था, लेकिन हर बार तीस-चालीस लोगो की रोजी का ख़याल उसे दबा देता था। 'हस' निकालने के पीछे दूसरी बातो के साथ-साथ प्रेस को काम देने का ख़याल भी था। लेकिन 'हस' कोढ में खाज साबित हो रहा था।

दस बजता और जहाँ दूसरे लोग अपना-अपना बस्ता सँभालकर कचहरी की राह लेते, वहाँ मुशीजी भी किरमिच या चमडे के बददार जूतो पर अपनी घर की धुली धोती और देहाती बरेठे के हाथ का धुला हुआ मटमैला-सा कुर्ता पहनकर छाता लेकर शहर चल पडते। दो फर्लांग, बडवा पर इक्का मिल जाता तो एक सवारी का चवन्नी लगता, और जो कभी दो मील दूर पिसनहरिया तक पैदल रास्ता नापना पड जाता तो दो ही आने में काम चल जाता।

प्रेस पहुँचकर दिन उसी सब शोरगुल में कट जाता। मशीन वडघडा रही है। बडे-से हाल के एक कोने में मुशीजी तमाम गेली प्रूफो और दूसरे कागजात से घिरे हुए अपनी मेज पर बैठे है। ग्राहक भी आ रहे है, मिलनेवाले भी आ रहे है, कपोजीटर और मशीनमैन भी आ रहे है। मुशीजी सर उठाकर उनसे बात कर लेते है और फिर उन्ही प्रूफो में डूब जाते है।

उन्ही दिनो की बात हे, एक रोज कैलाशनाथ जी प्रेस पहुँचे। कैलाशनाथ गोरखपुर के जूनियर ट्रेनिंग कालेज (मुशीजी के वक्त के नार्मल स्कूल) में कई बरस तक प्रिंसिपल रहे। तव वह अठारह-बीस साल के नौजवान थे। उन्हे कोई अभिनन्दनपत्र छपाने के लिए दिया गया। अब सुनिए —

'बनारस के सभी छोटे-बडे प्रेस बद थे। जहाँ जाता, कोरा जवाब मिलता, प्रेस बन्द है। लाचार, निराश, घूमता हुआ मै बिशेशरगज में सरस्वती प्रेस के सामने आया। देखा प्रेस बद है पर कपाट आधे खुले है। अदर झाँका, एक साधारण-सा व्यक्ति खादी का मैला कुर्ता-धोती पहने बैठा था। मैंने पूछा — क्यो साहब, प्रेस बद है ?

'— जी, प्रेस तो बद है, पर कहिए आपका क्या काम है ?'

नौजवान ने अपना काम और उसकी अहमियत बतलायी तो वह आदमी ठठाकर हँस पडा और बोला — आपको बिलकुल ऐन वक्त पर यह काम सूझा ! पहले क्यो नही आये ?

नौजवान ने अपनी सफाई दी — मुझे तो कल ही यह काम सौपा गया है और तभी से मैं दौड-भाग कर रहा हूँ, पर न तो कल ही किसी प्रेस ने इस काम को लेना मजूर किया और न आज ही।

'तो इसमें घबराने की ऐसी कौन-सी बात है, हाथ से ही लिखकर तैयार कर लीजिए।'

पर जब इससे नौजवान की दिलजमई नही हुई तो उस आदमी ने कहा — अच्छा, घबराओ नही, देखता हूँ, पास ही में एक कपोजीटर रहता है, अगर वह आज काम करने के लिए तैयार हो जाय तो क्या कहना। तुम थोडी देर यहाँ बैठो।

यह कहकर वह आदमी कपोजीटर को ढूँढने चल दिया। आध घटे बाद लौटा तो कपोजीटर साथ था। पर वह छुट्टी का दिन था, सभी मेले की तैयारी में लगे थे और कपोजीटर काम करने में आनाकानी कर रहा था। तब उस आदमी ने बडे प्यार और आग्रह से कहा — यह लडका बहुत परेशान है। अगर आज इसका काम न हुआ तो बनारस की बडी भद होगी।

कपोजीटर काम में जुट गया और वह आदमी नौजवान से बातें करने लगा।

जब पैसे चुकाने का वक़्त आया तो उसने जो चार्ज बतलाया वह दूसरे प्रेसो के साधारण रेट से भी कम था। नौजवान ने कुछ सकुचाते हुए कहा — आज़

तो छुट्टी का दिन है, आपको दुगना चार्ज लेना चाहिए . .

मगर वह आदमी इसके लिए राजी न हुआ और पैसे कपोजीटर के हाथ में देते हुए बोला — भाई, जो तुम्हारा पैसा हो वह तुम ले लो, जो बचे, हमें दे दो। चलो दोनो का काम चला।

शाम हुई, प्रेस का काम खत्म हुआ और मुशीजी कम्पनीबाग के पासवाले चौराहे पर जा खडे हुए, एक ऐसे इक्के की तलाश में जिस पर एक ही सवारी की जगह बची हो और जो छावनी की ओर जाता हो।

छावनी से यानी कचहरी से ऐसे ही किसी एक सवारीवाले देहात के इक्के पर बैठकर आगे की मजिल तय होगी।

यानी जिन दिनो वह देहात में होते। शहर में रहने पर — गर्मी की छुट्टियाँ खत्म होते ही मुशीजी बेनियाबाग में मकान लेकर रहने लगे थे, बडे लडके ने क्वीस कालेज मे, साइस लेकर इन्टर में नाम लिखा लिया था, और छोटे ने दयानन्द स्कूल में सातवे दर्जे में — सबेरे चाहे इक्का कर भी ले, मगर शाम को यह खर्च उन्हे बिलकुल फिजूल मालूम होता और वह चौक से कुछ फल-फलेरी पान-वान लेकर पोटली को छाते के एक सिरे पर लटकाकर और छाता लाठी की तरह कन्धे पर रखकर दालमडी से (जहाँ तब तक बने-ठने बाँके छैलो का आवागमन शुरू हो गया रहता) राजा दरवाजा, कबूतर बाजार होते हुए घर पहुँच जाते। चौक से दालमन्डी में घुसते ही एक गली दाहिने को फूटती है। यह नारियल गली है। इसमें दाखिल होते ही बायी तरफ सुँघनी साहु की पुरानी और मशहूर तबाकू की दूकान है जिस पर प्रसाद जी अक्सर दो-चार साहित्यिक मित्रो के साथ बैठे मिलते। मुशीजी का तो वह रास्ता ही था, कभी वह भी दस-पाँच मिनट बैठ लेते, पान के दो-चार बीडे मुँह में डालते, मय खुशबूदार जाफरानी तम्बाकू के, दो-एक चुटकुला छोडते और अपनी राह लगते। दो-एक बार प्रसाद जी ने उनके इस ठेठ देहाती हुलिये पर आपत्ति भी की, लेकिन मुशीजी के पास उसका एक ही जवाब था, जोर का एक ठहाका . .

बेनियाबाग आकर मुशीजी का एक पुराना नियम फिर शुरू हुआ, रोज़ सबेरे घूमना। लखनऊ में कुछ सध नही पाता था, यहाँ पार्क में ही घर था, और फिर अब उम्र भी तेज़ी से ढल रही थी, सबेरे घूमे-घामे बगैर काम चलता नजर नही आता था। उधर से प्रसाद जी, गहमरी जी और कभी-कभी बेढब जी आ जाते और फिर चारो जन घण्टे भर बेनियाबाग के चक्कर लगाते। देश-विदेश, साहित्य-समाज, दुनिया भर की बातें होती, बीच-बीच में मुशीजी का ठहाका सौ दो सौ गज़ दूर से भी गूँजता हुआ सुनायी पडता।

प्रसाद जी सस्कृत की परम्परा के आदमी थे, मुशीजी फारसी के। दोनो के लिखने का रग बिलकुल अलग था, सोचने-बिचारने के ढग में भी बडा अन्तर था, इधर की उधर लगानेवालो की भी कुछ कमी न थी, ताहम दोनो की दोस्ती बराबर गाढी होती जा रही थी।

३ अक्तूबर १९३२ के अपने पत्र में मुशीजी ने बनारसीदास को अग्रेजी में लिखा — आपको 'ककाल' अच्छा नही लगा। मुझे खेद है। मैं उदार साहित्यिक रुचि का आदमी हूँ और आलोचना-बुद्धि मुझमें बहुत कम है। 'ककाल' मे मुझे सच्चा आनन्द मिला। और मैं किताब से भी ज्यादा उस आदमी का प्रशसक हूँ। वह बहुत खुले हुए, साफगो आदमी है।

१४ नवम्बर १९३२ के ख़त में दुबारा उन्होने शायद कुछ झुँझलाकर लिखा —

'ककाल आपको अच्छा नही लगता, मुझे लगता है, बात ख़त्म हुई। प्रसाद जी बडे प्यारे आदमी है (loveable chap)। अब मुझे उनको पास से देखने का मौका मिला है तो मैं पाता हूँ कि साल भर पहले मैं उनके बारे में जो कुछ सोचता था, वह उसके बिलकुल उल्टे है। गलतफहमियाँ एक-दूसरे के करीब आने से ही दूर हो सकती है।'

'हस' अब से दो-ढाई साल पहले जब निकला था, उस वक्त दस साल के बाद एक नया जन-आन्दोलन छिडने की तैयारी थी। वह आन्दोलन इधर साल छ महीने से काफी ठण्डा पड गया था, लेकिन साल के शुरू में ही तमाम नेताओ की गिरफ्तारी से हवा में फिर कुछ गर्मी आ गयी थी और लगता था कि एक नये सघर्ष के लिए जमीन तैयार हो रही है।

'माधुरी' से छुट्टी पाकर घर आ बैठने पर अब मुशी जी के पास समय भी था और शक्ति भी। पैसा नही था तो क्या। देखा जायगा।

और मुशीजी आने के साथ एक साप्ताहिक निकालने की जोड-तोड में लग गये।

आये दिन अखबारो से ज़मानत माँगी जा रही थी। १५ अगस्त १९३२ को उन्होने जैनेन्द्र को लिखा —

'...हस पर ज़मानत लगी। मैने समझा था आर्डिनेस के साथ जमानत भी समाप्त हो जायगी। पर नया आर्डिनेंस आ गया और उसी के साथ जमानत भी बहाल कर दी गयी। ...अब मैने गवर्नमेंट को एक स्टेटमेण्ट लिखकर भेजा है। अगर जमानत उठ गयी तो पत्रिका तुरन्त ही निकल जायगी। छप, कट, सिलकर तैयार रखी है। अगर आज्ञा न दी तो समस्या टेढी हो जायगी। मेरे पास न रुपये हैं न प्रामेसरी नोट न सिक्योरिटी। किसी से कर्ज लेना नही चाहता। यह

शुरू साल है, चार-पाँच सौ वी० पी० जाते, कुछ रुपये हाथ आते। लेकिन वह नही होना है।' तो भी नया पत्र, साप्ताहिक, निकालने के उनके इरादे में कोई कमजोरी नही है। इसी खत में यह भी सूचना है —

"इस बीच मैंने 'जागरण' को ले लिया है। 'जागरण' के बारह अक निकले लेकिन ग्राहक सख्या दो सौ से आगे न बढी। विज्ञापन तो व्यास जी ने बहुत किया लेकिन किसी वजह से पत्र न चला। वह अब बन्द करने जा रहे थे। मुझसे बोले, यदि आप इसे निकालना चाहे तो निकालें। मैंने उसे ले लिया।

" हस में कई हजार का घाटा उठा चुका हूँ। लेकिन साप्ताहिक के प्रलोभन को न रोक सका। कोशिश कर रहा हूँ कि सर्व-साधारण के अनुकूल पत्र हो। इसमें भी हजारो का घाटा ही होगा, पर करूँ क्या, यहाँ तो जीवन ही एक लम्बा घाटा है।"

इसको कहते है लँगोटी पर फाग खेलना। पास में पैसे नही है, एक पर्चा हजारो का घाटा देने के बाद बन्द होने जा रहा है, और आप है कि न जाने किस बल-बूते पर तुरत-फुरत उसे ले बैठते है!

आखिरकार २२ अगस्त को, यानी खत के हफ्ते भर बाद, 'जागरण' निकल गया और इस नये रूप में पाठको से उसका परिचय कराते हुए मुशीजी ने अपने खास अन्दाज में लिखा —

'.. उसका जन्म अच्छे कुल में हुआ, उसका लालन-पालन भी सुयोग्य हाथो में हुआ। परखनेवाले परख गये कि यह बालक होनहार है पर साहित्य के परिमित क्षेत्र में उसका विकास जैसा होना चाहिए, वैसा न हो सकता था। हाथ-पाँव मारनेवाला बालक पालने में कैसे रहता, इसलिए उसके जन्मदाताओ को ऐसे अभिभावक की जरूरत पडी जो जरा निष्ठुर हाथो से उसकी गोशमाली कर दिया करे, जो ममताभरे माखन और मिश्री की जगह सूखे चने और रूखी रोटियाँ खिलाये, क्योकि ससार पहले चाहे लाड-प्यार में पले बालको को बढने का अवसर देता हो, अब तो समय उनके अनुकूल नही रहा। आज ससार में वही बालक बाजी ले जाते है जिन्होने बालपन में कडियाँ झेली हो, धक्के खाये हो, भूखे सोये हो, जाडो ठिठुरे हो। गमले का पौधा धूप और वर्षा का सामना क्या करेगा। वह चट्टान पर उगा हुआ पौधा ही है जो जेठ की जलती लू, माघ के तीखे तुषार और भादो की मूसलाधार वर्षा में डटा खडा रहता है, और फलता-फूलता है। हमारे ऊपर इन्तखाब की निगाह पडी। हम कह नही सकते, हम क्यो इस काम के लिए चुने गये। हम इस काम में कुछ बहुत अभ्यस्त नही है। अभी तक केवल एक चिडिया पाली है, पर उसे भी कई बार सकट में डाल चुके है। शिकारियो के दो निशाने उस पर लग चुके है। पहले निशाने से तो वह किसी तरह बचा। यह दूसरा निशाना उसे ले मरता है या छोडता है, कह नही

सकते । हम शिकारियो की चिरौरी-बिनती कर रहे है, कि भैया, इस बेचारे को अबकी और जाने दो, तुम्हारे पैरो पडते है । अब जो कभी तुम्हारे बाग मे आवे, या तुम्हारा कुछ नुकसान करे तो जो चाहे करना ।'

पिता हमेशा बच्चे को अपने ही साँचे में ढालने की कोशिश करता है । 'जागरण' के सामने मुशीजी यह आदर्श रखते है —

'बालक को निर्भीक, सत्यवादी, परिश्रमी, स्वस्थ, आचारवान्, विचार-शील बनाने का प्रयत्न करेगे । हमारी यही चेष्टा होगी कि वह किसी की खुशा-मद न करे, लेकिन विनय को हाथ से न जाने दे । वह कभी-कभी कडवी बाते भी कहेगा, पर सेवाभाव से । उसमें आस्था और श्रद्धा अवश्य होगी, पर अध-विश्वास नही । उसका ध्येय होगा सत्य की खोज । वह वितडावादी नही, सत्य का पुजारी होगा, चाहे उसे सत्य को स्वीकार करने में कितना ही अपमान हो । वह अप्रिय सत्य कहने से कभी न चूकेगा । वह केवल दूसरो के दोष न देखेगा, बल्कि अपने दोषो को स्वीकार करेगा ।

'...वह निर्भीक होगा पर दुस्साहसी नही । वह सत्यवादी होगा, सत्य से जौ भर न टलेगा, पर पक्षपात से अपना दामन बचायेगा । वह बूढो में बूढा, जवानो में जवान और बालको में बालक होगा । वह जिस दृढता से न्याय का पक्ष लेगा, उतनी ही दृढता से अन्याय का विरोध करेगा, चाहे वह राजा की ओर से हो, समाज की ओर से हो अथवा धर्म की ओर से ।...समाज का दुखी और दुर्बल अश उसे सदा अपनी वकालत करते हुए पायेगा । वह कोरा न्यायवादी, गम्भीर और शुष्क न रहेगा । वह मनुष्य केवल आधा ही जिन्दा है जो कभी दिल खोलकर नही हँसता .. वह हँसने की बाते कहेगा, खुद हँसेगा और दूसरो को हँसायेगा । ..'

फिर अपने ही ऊपर चुटकी लेते हुए मुशीजी अपनी प्रतिज्ञा इस प्रकार समाप्त करते है —

'...हमारे पास न सगठन है न अनुभव । और धन का तो हमसे पुश्तैनी बैर है । किसी ने हिन्दी पत्रकारो का परिहास करते हुए लिखा था — वह केवल एक कलम और एक रीम कागज लेकर समाचारपत्र निकाल बैठता है । यह व्यग हमारे ऊपर अक्षरश लागू है, पर हम ...'

राजनीति में आजकल खासा सन्नाटा है, बस दॉव-पेंच की लडाई चल रही है । सरकार अपनी भेदनीति से राष्ट्र के टुकडे-टुकडे कर देना चाहती है और राष्ट्र अपनी आत्मा और अपनी एकता की रक्षा में लगा है । हवा में आजकल एक ही चर्चा है — साम्प्रदायिक मताधिकार । और मुशीजी को अपनी प्रतिज्ञा के प्रति सच्चे रहकर अगले ही सप्ताह कटु भाषण करना पडा —

●... इस समय हमें बडी दूरदर्शिता और बुद्धिमत्ता से काम लेना पडेगा ।

दुनिया की निगाहे हमारी तरफ लगी हुई है। यदि हमने मताधिकारो के लिए आपस में लडाई ठान ली तो मानो हम प्रत्यक्ष रूप से सरकार की इस दलील का समर्थन करेंगे कि भारत में राष्ट्रीयता का भाव नही है। ... जब मुसलमानो को कुछ अधिकार मिल जाते है तो हमें क्यो तुरन्त यह विचार होता है कि हमारे साथ अन्याय हुआ। कारण यही है कि हम मुँह से चाहे राष्ट्रीयता की दुहाई दे, दिल में हम सभी सम्प्रदायवादी है और हर एक बात को सम्प्रदाय की आँखो से देखते है। क्या यह सत्य नही है कि जब कोई साम्प्रदायिक दगा हो जाता है तो हम तुरन्त यह जानने के लिए उत्सुक हो जाते है कि उस दगे में कितने हिन्दू हताहत हुए और कितने मुसलमान। अगर हिन्दुओ की सख्या अधिक होती है तो हम कितने उत्तेजित हो जाते है। इसके विपरीत अगर मुसलमानो की सख्या अधिक होती है तो हम आराम की साँस लेते है!

यह हम नही कहते, सरकार की घोषणा निर्दोष है। उसका साम्प्रदायिक आधार ही आपत्तिजनक है। उसमें कतर-ब्योत करके हम उसका रूप नही बदल सकते। हिन्दुओ और सिक्खो को दस-पाँच जगह और मिल जाने से वह कम आपत्तिजनक न रहेगा। उसका सप्रदायत्व कैसे मिटेगा? क्या हिन्दू अथवा सिक्ख आन्दोलन से? इससे तो परस्पर द्वेष की आग और भी भडकेगी और राष्ट्रघातक भावनाएँ और भी प्रबल होगी। इसका केवल एक ही उपाय है — साम्प्रदायिक मनोवृत्ति का शमन। अब आनेवाले बरसो में हमें इस साम्प्रदायिकता से सग्राम करना है . . ●

छूत-अछूत का अभिशाप भी उसी से जुडा हुआ है। और उसी ने सरकार को मौका दिया है कि वह दूसरी गोलमेज सभा में अछूतो को हिन्दुओ से अलग करने की योजना सामने लाये। गाधीजी ने उस समय घोषणा की थी कि अगर यह चीज़ की गयी तो मै अपने प्राणो की बाजी लगाकर उसका मुकाबला करूँगा।

आज १९ सितम्बर १९३२ है और कल से गाधीजी यरवदा जेल में अपना आमरण अनशन शुरू कर रहे है। सारा देश थर्रा गया है। मुशी जी की सम्पूर्ण सज्ञा भी अब वही केन्द्रित है। 'महान तप' शीर्षक से उन्होने लिखा —

'कल यरवदा जेल में वह महान तप आरम्भ होगा जिसकी कल्पना से ही रोमाच हो जाता है। भारत की तपोभूमि में इससे पहले भी बडी-बडी तपस्याएँ की गयी है. पर राष्ट्र के लिए प्राणो की आहुति देने का सकल्प महात्मा गाधी ही की कीर्ति है। .... एक समय दधीचि ने भी राष्ट्र की रक्षा के लिए प्राणों का बलिदान किया था। हम अपनी अश्रद्धा के कारण उसे पौराणिक कथा समझे बैठे थे, पर आज तुमने उस प्राचीन मर्यादा को, उस प्राचीन आदर्श को, उस प्राचीन आत्मोत्सर्ग को पुनर्जीवित कर दिया। ...'

फिर अगले सप्ताह लिखा —

' . उस महान आत्मा के अनशन व्रत ने, उसकी तपस्या ने केवल सात दिनो में यह दिखला दिया कि वास्तव में तपस्या कितनी बलवती होती है। उस महान आत्मा की तपस्या ने ब्रिटेन के महान राजनीतिज्ञो के द्वारा तैयार की हुई उस सुदृढ दीवार को, जो हिन्दू और अछूतो को अलग करने के लिए बडे गहन कौटिल्य के सीमेण्ट से तैयार की गयी थी, विध्वस्त कर दिया। . '

लेकिन सामाजिक रूढियो की दीवार उससे कही ज्यादा मजबूत थी। अछूतो को मन्दिर-प्रवेश का अधिकार देने के लिए हिन्दू समाज तैयार न था। ऐसे लोगो को चेतावनी देते हुए मुशीजी ने लिखा था —

'यह युग प्रकाश का युग है। इसमें अब अधकार नही रह सकता। . अब विवश होकर युग-धर्म के अनुसार ही चलना पडेगा। क्या कोई भी वर्णाश्रम अपने हृदय पर हाथ रखकर कह सकता है कि वास्तव में यह छुआछूत उन्हे धर्म की दृष्टि से उचित प्रतीत होती है ? नही, कोई भी यह नही कह सकता। एक स्वार्थ ही इसका कारण है। पर याद रहे, यह इस समय का स्वार्थ, वर्ष-दो वर्ष चाहे उनको छाती को ठण्डा भले ही कर दे, पर आगे वह उनकी पुरानी, से पुरानी, दृढ से दृढ बुनियाद को भी उखाड फेंकेगा। वे स्वार्थ के जिस सुन्दर खिलौने से बच्चो की तरह खिलवाड कर रहे है, वह असल में डायनामाइट है जो उनकी सात पुश्तो को ध्वस्त कर डालेगा। '

वह सब हो लेकिन दीवार अपनी जगह पर अटल थी।

दो महीने बाद जब गाधी जी ने इसो मन्दिर-प्रवेश को लेकर दुबारा अपना आमरण अनशन ठाना तो मुशी जी ने लिखा —

'... पढे-लिखे समाज में चाहे धर्म केवल ढोग रह गया हो और मन्दिर-प्रवेश को चाहे वे एक व्यर्थ-सी बात समझते हो लेकिन जनता अभी तक अपने धर्म को और अपने देवताओ को प्राणो से चिपटाये हुए है। उत्तर भारत में तो कुछ देवता ऐसे भी है जिनके पुरोहित हमारे हरिजन भाई ही है। जिस गाँव में चले जाइए, चमारो या भरो के पुरवे में आपको किसी नीम के वृक्ष के नीचे दस-बीस मिट्टी के बडे-बडे हाथी, लाल रँगे हुए एक जगह रखे हुए मिलेंगे। वही एक त्रिशूल भी गडा होगा, एक लाल पताका भी पेड से बँधी होगी। यह देवी का स्थान है। इस चबूतरे का पुजारी कोई चमार, पासी या भर होगा। वर्णवाले हिन्दू स्त्री-पुरुष बडी श्रद्धा से देवी के चबूतरे पर जाते है, वहाँ बताशे, धूप-दीप, फूल-माला चढाते है। जब वर्णवाले हिन्दुओ को हरिजनो के इन देवताओ की उपासना करने और हरिजनो को अपना पुरोहित बनाने में शर्म नही आती ... तो हम नही समझते कि हरिजनो के हिन्दू मन्दिरो में आ जाने से कौन-सा अधर्म हो जायगा।'

कैसी बात करते है मुशीजी, सब आप जैसे विधर्मी नही है! और सो भी काशी मे! वर्णाश्रम स्वराज्य सघ की ओर से बाकायदा इसके खिलाफ आदोलन

चल रहा है, वाइसराय की सेवा में डेपुटेशन जा रहा है और मुशीजी खडे उनको ललकार रहे है —

● मगल के दिन सन्ध्या समय काशी की गर्दभरी सडको पर वह दृश्य देखने में आया जो हिन्दू जाति के लिए लज्जाजनक ही नही हास्यास्पद भी था। दो-ढाई सौ, सस्कृत पाठशालाओ के छात्र हाथो में लाल झण्डे लिये, एक जुलूस के रूप में यह हाँक लगाते चले आ रहे थे — अछूतो को मन्दिरो में जाने देना, पाप है।

हाँक का पहला अश एक आदमी के मुख से निकलता था, और दूसरा अश सैकडो कण्ठो से कोरस के रूप में निकल रहा था, लेकिन उन आवाजो में उत्साह न था, भक्ति न थी, अनुराग न था। ऐसा जान पडता था जैसे कोई जीर्ण रोगी मृत्यु-शैया पर पडा हुआ कराह रहा है। जुलूस के पीछे एक जोडी थी, जिस पर कई वाचस्पति और मार्तण्ड फूलो के हारो से लदे, विद्या के निर्जीव भार से दबे, गर्वोन्नत भाव से बैठे हुए थे। विद्या का अभिमान उन्हे धरती पर पाँव न रखने देता था, जैसे कोई सेनापति अपने सैनिको को पहली पक्ति में खडा करके आप सबके पीछे निश्चिन्त बैठा हुआ हो। या यो कहिए कि ये महानुभाव उस बरात के दूल्हे थे, जिन्ह अपने पद की गरिमा जमीन पर पाँव न रखने देती थी। इस नाजुक मौके पर भी जब उनके विचार में हिन्दू धर्म पर चारो ओर से आक्रमण हो रहे है, वे अपनी महानता को नही भूल सकते। इधर महात्मा गाधी को देखिए। साबरमती से डाँडी की तरफ प्रस्थान कर रहे है। आगे आप है, पीछे उनके सिपाही है। अपने उत्सर्ग से अपने सैनिको में उत्सर्ग की शक्ति का सचार करते हुए चले जा रहे है। इन फिटन-आरोही मार्तण्डो में एक पुरी के श्री १०८ शकराचार्य भी थे। इस निवृत्ति की उस प्रवृत्ति से तुलना कीजिए! वह ससार की सबसे महान् शक्ति के सामने, न्याय के बल और आत्मा के विश्वास के साथ, एक जाति के उद्धार के लिए अग्रसर हो रही है, और यह न्याय को पैरो से कुचलती, आत्मा की आँखो पर पर्दा डाले हुए, जाति के दलित और पीडित अग को ठोकरें मार रही है। फिर क्यो न धर्म का ससार में ह्रास हो, क्यो न रूसवाले धर्म को अफीम का नशा समझे, क्यो न गिरजे ढाये जायँ और धर्म को कलंकित करने वाले इन स्तम्भो का समाज से बहिष्कार कर दिया जाय ....

हमारे पास अग्रेजी में छपा हुआ, वाइसराय के नाम एक मेमोरियल, वर्णाश्रम सघ का, आया है। उस पर बडे-बडे तर्कचूडामणियो और विद्यावाचस्पतियो के हस्ताक्षर है। वाइसराय से फरियाद की गयी है कि वह हिन्दू मन्दिरो की अछूतो से रक्षा करें। वाह रे मार्तण्डो, क्यो न हो, कितनी दूर की सूझी है! अब भी अगर वाइसराय की खुशनूदी का परवाना न मिले तो यह आप लोगो का दुर्भाग्य है! आपकी सेवा में दूसरे व्यवस्था लेने आया करते थे! आपका फतवा बडे-

बडे मसलो को हल कर दिया करता था और आज आप एक धर्म के विषय को लिये वाइसराय के पास, कुत्तो की तरह दुम हिलाते दौडे हुए चले जा रहे है। वह आपकी विद्या कहाँ गयी ? आपने आठ करोड हिन्दुओ को मुसलमान बना दिया। यह छ करोड अछूत भी आप ही के विद्या-बाण के बेधे हुए है, क्या आप हिन्दू धर्म को ससार से मिटाकर ही दम लेगे ?

क्या मन्दिरो के पुजारियो और मठो के महतो से हिन्दू जाति बनी हुई है ? पूजा करनेवाले भी रहेगे, या पूजा करानेवाले ही मदिरो को स्थायी रखेगे ?

एक वह जातियाँ है जो दूसरो को अपने में मिलाकर फूली नही समाती। आज एक चमार मुसलमान हो जाय, सारा मुसलिम समाज उसका स्वागत करेगा। लेकिन यह मेमोरियलबाज लोग, जो हिन्दू जाति के रक्षक होने का दावा करते है, यह भी नही सह सकते कि कोई बाहर का आदमी उनके देवताओ के दर्शन कर सके। अछूत के पैसे तो आप बेधडक ले लेते है, अछूत कोई मन्दिर बनावे, आप दल-बल के साथ जायँगे, मन्दिर में देवता की स्थापना करेगे, तर माल खायेगे — हाँ, अछूत ने उसे छुआ न हो — दक्षिणा लेगे, इसमें कोई पाप नही, न होना चाहिए, लेकिन अछूत मन्दिर में नही जा सकता, इससे देवता अपवित्र हो जायँगे। अगर आपके देवता ऐसे निर्बल है कि दूसरो के स्पर्श से ही अपवित्र हो जाते है तो उन्हे ... हमारा दूर ही से नमस्कार है।

कहा जाता है अछूतो की आदते गन्दी है, वे रोज़ स्नान नही करते, निषिद्ध कर्म करते है ... क्या जितने सछूत है वे रोज स्नान करते है ? क्या काश्मीर और अल्मोडा के ब्राह्मण रोज नहाते है ? हमने इसी काशी में ऐसे ब्राह्मणो को देखा है जो जाडो में महीने में एक बार स्नान करते है। फिर भी वे पवित्र है !

... फिर शराब क्या ब्राह्मण नही पीते ? इसी काशी में हजारो मदसेवी ब्राह्मण — और वह भी तिलकधारी — निकल आवेगे, फिर भी वे ब्राह्मण है ! ब्राह्मणो के घरो में चमारियाँ है, फिर भी उनके ब्राह्मणत्व में बाधा नही आती ! किन्तु अछूत नित्य स्नान करता हो, कितना ही आचारवान् हो, वह मन्दिरो में नही जा सकता। .. ●

मुशीजी को कुछ गम नही इसका कि लोग क्या कहेगें, कही वह बिलकुल अकेले तो नही पड जायँगे। उससे क्या ? हमारा अन्त करण निर्मल हो, असल चीज इतनी ही है। अभी पिछले ही सप्ताह १४ नवम्बर १९३२ को तो मुशीजी ने बनारसीदास जी को ढाढस देते हुए लिखा था —

' मै इस बात से इनकार नही करता कि साहित्यिको में कुछ ऐसे लोग है जो आपको बदनाम करते है ... लेकिन किसके बदनाम करनेवाले नही है। मै खुद निन्दको ने घिरा हुआ हूँ जो मुझ पर चोट करने का एक मौका हाथ से नही जाने दे सकते। एक वर्ग ऐसे लोगो का है जिन्हे दूसरो की वर्षो में अर्जित कीर्ति को मटियामेट करने में मजा आता है। मगर उससे क्या ? हमार अन्त करण

निर्मल हो, यही असल चीज है । ... जब नीयत में शुबहा किया जाने लगता है तब मामला सगीन हो जाता है । यह मै किसी तरह बर्दाश्त नही कर सकता । हँसी-दिल्लगी की चुटकियो का आपको बुरा न मानना चाहिए । अगर आप अपने को इतना तुनुकमिजाज बना लेंगे तो इससे आपके निन्दको को और शह मिलेगी । मुसकराता हुआ चेहरा लेकर उनका सामना कीजिए ।'

स्थितप्रज्ञता एक अपने ढग की ।

किसी दिलजले ने मुशीजी को एक बेहूदा-सी चिट्ठी लिखी है । मुशीजी बेझिझक उसे छपा देते हैं —

'शायद दो हफ्ते से ज्यादा हो गये होगे, मैंने आपके पास एक प्रार्थनापत्र भेजा था, यह आशा कर कि आप एक दुखी हृदय के उन सच्चे उद्गारो पर सच्ची सहानुभूति प्रदर्शित करके दो-चार बूँद आँसुओं की बहायेंगे । मगर सब व्यर्थ । मुझे बाल्यावस्था का भ्रम था । जिला हमीरपुर में आप गालिबन १९१६ में आये थे और मुझे इनाम में एक किताब दी थी । तब आप ऐसे दयालु और सहृदय थे, पर उन दिनो तो आप केवल धनपतराय, सब-डिप्टी-इसपेक्टर थे और दरिद्रता के दलदल से कुछ ही दिन पहले निकलकर आये थे । आपके दिमाग में उस समय वह समय के थपेडे — पिता का स्वर्गवास आदि — ताजे होगे । मगर अब जमीन-आसमान का फर्क है । कहाँ एक मामूली कर्मचारी, कहाँ उपन्यास-सम्राट् ! एक ही आदमी की दो सूरतें, राजा भोज और भोजवा तेली ! .. एक बात याद कर मुझे जरूर थोडा-सा खेद होता है, क्या हिन्दी साहित्य की उन्नति इसी प्रकार होगी ? यदि कोई दुखिया उपन्यास-सम्राट् से विनती करे तो उन्हे चूतड घुमा लेना चाहिए कि उस गदी चीज (प्रार्थी) पर नजर न पडे ... रगभूमि, काया-कल्प आदि की मेहरबानी से लाखो रुपये सेंढकर धर लिये । अब गुलछर्रे उडाते है और देशभक्त होने का दावा करते है । मै आपको स्वार्थी, पाषाण-हृदय और नास्तिक क्यो न कहूँ . आप जैसे हजारों प्रेमचन्द धूल में मिल गये और मिल जायेंगे ! .. '

बस इतना हाशिया मुशीजी ने उस पर लगाया —

'मेरे इस युवक मित्र को गलतफहमी हुई है । मैं न लखपती हूँ, न हजार-पती, न सौपती । मैं केवल एक मजदूर हूँ, उसी तरह जैसा पहले कभी था । जब धन ही नही तो अभिमान कहाँ से हो । अभिमान के लिए कोई आधार तो हो । मुझे अपने मित्र से सच्ची सहानुभूति है और मेरे हाथ में कोई अख्तियार होता तो मैं सबसे पहले उन्हे किसी पद पर आरूढ कर देता । लेकिन पीर खुद माँदे, इलाज किसका करें ?'

और जैसे उनकी बात की तसदीक के लिए सरस्वती प्रेस और जागरण से दो हजार की जमानत माँग ली गयी । पूरे चार महीने बन्द रहने के बाद हस ने

अभी-अभी फिर दर्शन दिये थे कि यह चोट पड़ी और ७ दिसम्बर १९३२ को मुंशीजी ने जैनेन्द्र को लिखा —

'...बहुत परेशान हुआ, भागा हुआ लखनऊ पहुँचा, वहाँ चीफ सेक्रेटरी (ममफोर्ड) से मिलकर कहानी का आशय समझाया। और भी अपनी लायल्टी के प्रमाण दिये। अब आशा है जमानत मसूख हो जायगी। जरा-जरा सी बात में गर्दन पर छुरी चल जाती है।'

३१

नया साल तीसरी गोलमेज सभा पर बडे चुलबुले अन्दाज की छीटेबाजी से शुरू हुआ —

● गोलमेज की महफिल का तीसरा दौर भी खत्म हो गया, लेकिन साकी ने शराब में कुछ ऐसी कारस्तानी की कि न कुछ रग जमा न सुरूर गठा। शायद ऐसे ही मौके के लिए स्वर्गवासी सुरूर ने यह शेर कहा था —

बजाय मै दिया पानी का एक गिलास मुझे
समझ लिया मेरे साकी ने बदहवास मुझे।

साकी ने तैयारियाँ तो ऐसी-ऐसी की थी कि पीनेवाले शायद समझे थे शैम्पेन न सही, जॉनी वॉकर तो कही नही गया। बडे-बडे खुम मँगवाये थे जिनकी खुशबू से दिमाग ताजा हो जाता था। साफ-सुथरी बोतलो में उनकी लाली देखकर पीनेवालो के मुँह में पानी भर-भर आता था। मैखाने के द्वार पर मैकशो की भीड लगी हुई थी। लोग बेकरार होकर मिन्नतें कर रहे थे — लिल्लाह, हमें भी अन्दर आने दो। बदमिज़ाज साकी बडी मुशकिलो से दरवाजा खोलता था। पहला दौर चला। लोग मुँह फीका करके एक-दूसरे का मुँह देखने लगे मानो कह रहे हो — यार, यह तो कुछ समझ में नही आती, कुछ फीकी-फीकी-सी है! साकी उनका रुख़ देखकर मुस्कराया और बोला — तुम लोग ठर्रा पीनेवाले हो, इसका मजा क्या जानो। इसका लुत्फ इसके फीकेपन में ही है। फिर दूसरा दौर शुरू हुआ। अबकी दो-एक मैकशो ने साफ-साफ कह दिया — हज़रत साकी, यह तो कुछ है नही, फीकी-फीकी-सी लगती है। साकी ने झिडका नही, त्योरियाँ नही बदली, सद्भाव से मुसकराकर बोला — इसके फीकेपन पर न जाओ, यह वो चीज है जो अपना सानी नही रखती। तीसरा दौर शुरू हुआ, बिलकुल पानी। पहले दोनो दौरो में कुछ गर्मी, कुछ तेजी, कुछ तल्खी थी, इस दौर में तो निखालिस पानी। पीनेवाले हैरान होकर कभी बोतल की ओर देखते है, कभी खुम की ओर, कभी साकी की ओर और कभी एक-दूसरे के मुँह की ओर। अगर यह पानी ही पिलाना था तो यह महफिल सजाने की, इस बोतल, खुम, सुराही और प्याले

की क्या जरूरत थी। मगर पीनेवालो का सुरूर गठे या न गठे यह तो कोई कह ही नही सकता कि महफिल नही जमी, दौर नही चले। साकी के दाम खडे हो गये। ●

लेकिन इतने से जी नही भरा तो बीस रोज बाद मुशीजी ने फिर उसका मर्सिया पढा —

● गोलमेज सभा ने अपने तीनो पन भोगकर जीवनलीला समाप्त कर दी। भारत को उससे पहले भी कोई आशा न थी . लेकिन वह इस हद तक वध्या होगी, इसका हमें ख़याल न था। हम समझ रहे थे पहाड खोदा जा रहा है तो कम से कम चुहिया तो निकलेगी ही। कितना तुम-तराक किया गया। सर साइमन आये। महीनो उसकी हलचल रही। फिर गोलमेजो का ताँता बँधा। राजे-महराजे, मैं-तू, ऐरा-गैरा-नत्थूख़ैरा सब जमा हुए और तीन साल की खुदाई के बाद निकला क्या कि कुछ नही। चुहिया भी निकल आती तो कुछ तमाशा तो होता, देखते कैसे दौडती हैं, कैसे उछलती हैं। लेकिन कुछ भी न हुआ। फेडरे-शन का हाथी जहाँ था, वही खडा झूम रहा है, बल्कि कई कदम पीछे हट गया। वाइसराय के अख्तियार ज्यो के त्यो, फौज का मामला ज्यो का त्यो, माल का विषय ज्यो का त्यो। हाँ पहाड खोदने से ख़दक अवश्य निकल आयी। और उस साम्प्रदायिकता के ख़दक में सारा देश-डूब गया। ●

यहाँ तक कि नगर का स्वराज्य भी जाता रहा। स्वय काशी की म्युनिसि-पैलिटी मुअत्तल कर दी गयी।

यह चीज 'काशी का कितना भयकर अपमान है, इस स्वराज्य के युग में नागरिकता की कैसी छीछालेदर है, . यह अभी काशीवासी नही समझ रहे है।' मुशीजी लोगो को सावधान करते है — 'जाग नगरिया यम है आया —' और नगर-स्वराज्य की प्राणरक्षा के सघर्ष में जी-जान से कूद पडते है।

उधर मार्च के जर्मन चुनाव में हिटलर विजयी हुआ। हिटलर कौन है, क्या है, उसकी जीत का क्या मतलब है, यह मुशीजी से छिपा न था। अन्त तक वह उम्मीद लगाये रहे कि हिटलर न जीतेगा। पर वह जीत गया। मुशीजी को धक्का लगा। लेकिन ऐसे मौको पर अक्सर उनकी व्यग्य-सरस्वती जाग उठती है। हिट-लर की नीति को वाइसराय की बढती हुई तानाशाही से मिलाकर उन्होने अपना व्यग्य का कोडा चलाया —

● प्रजातन्त्रवाद असफल हो गया। १५० वर्ष के बाद अब मालूम हुआ कि यह चलनेवाली चीज नही। रूस ने इसे धता बतलाया, इटली ने धता बताया, अब जर्मनी ने भी धता बता दिया। और आखिर में भारतवर्ष ने भी इसे धता बता दिया। समझ में नही आता, वाइसराय के अधिकार बढ जाने पर इस सिरे से उस

सिरे तक हाय-हाय क्यो हो रही है। कोई कहता है यह गुलामी का पट्टा है, कोई पुकारता है भारत में अंग्रेजी राज्य अनत तक जमे रहने की योजना है, कोई हाँक लगाता है यह भारत का अपमान है। हम समझते है श्वेतपत्र की रचना में जरूर विधि का हाथ है। आखिर डिक्टेटरशिप को एक न एक दिन आना ही है, जब पश्चिमी के देशो ने जनतत्र को ठुकरा दिया तो हिन्दुस्तान में भी एक न एक दिन उसे ठुकराया ही जायगा। हमारे त्रिकालदर्शी देवता तो एक ही सयाने। उन्होने सोचा, व्यर्थ भारत में खून-खच्चर क्यो हो, क्यो हिटलर और मुसोलिनी और स्टालिन पैदा हो। पहले ही से न डिक्टेटर बना दो। बस हमारे देवता अंग्रेज राजनीतिज्ञो के हृदय में अपने देव-बल से घुस गये और यह व्यवस्था बनवा ली। .... अब यही समझ लो कि चौकीदार से लेकर वाइसराय तक हमारे डिक्टेटर है। इसमे रोना-पीटना काहे का। हम तो कहते है, यह काउसिल और एसेम्बली सब व्यर्थ, व्यर्थ ही नही, विनाशकारी है। हजारो आदमी वहाँ सब काम-धधा छोडकर चिल्लाते हैं। क्या फायदा! सब तोड दो, वाइसराय को डिक्टेटर बना दो। तब कम से कम रुपये तो बचेंगे, किसानो का बोझ तो हलका होगा, टैक्स तो कम हो जायगा। कुछ न होगा तो इस हाय-हाय से तो छुट्टी मिलेगी। अभी जो मेम्बर और मिनिस्टर बने मूँछो पर ताव दे रहे हैं और दुनिया को दिखा रहे हैं कि मानो वह देश का उद्धार किये डाल रहे है, तब मजे से नोन-तेल बेचेंगे या लौडे पढा-येंगे! कोतल घोडो को बाँधकर खिलाने का खर्च तो जनता के सिर न पडेगा। मुफ्त की हाय हाय और बाय बाय। हम तो अपना डिक्टेटर वाइसराय चाहते है और उसी की जय मनाते है!●

पूत के पाँव पालने में, हिटलर ने आते ही यहूदियो पर धावा बोल दिया। मुशीजी ने तत्काल उसकी खबर लेते हुए कहा—

'युरोपियन सस्कृति की तारीफे सुनते-सुनते हमारे कान पक गये। हम एशिया-वाले तो मूर्ख है, बर्बर है, असभ्य है, लेकिन जब हम उन सभ्य देशो की पशुता देखते है तो जी में आता है कि यह उपाधियाँ सूद के साथ क्यो न उन्हे लौटा दी जायँ! जर्मनी में नाजी दल ने आते ही आते यहूदियो पर धावा बोल दिया है। यहूदियो की दूकानें लूटी जा रही है, यहूदियो की जायदादे जब्त की जा रही है, यहूदी विद्वानो और पदाधिकारियो का अपमान किया जा रहा है। मार-पीट, खून-खच्चर होना शुरू हो गया है, और यहूदियो को जर्मनी से भागने भी नही दिया जाता। चारो ओर नाकाबन्दी हो गयी है। वह अपने प्राणो की रक्षा नही कर सकते। यहूदियो ने वहाँ सकूनत अख्तियार कर ली है। कई पीढियो से वहाँ रहते आये है। जर्मनी की जो कुछ उन्नति है उसमें उन्होने कुछ कम भाग नही लिया है, लेकिन अब जर्मनी में उनके लिए स्थान नही है। . .. प्रोफेसर आइस्टाइन जैसे विद्वानो को केवल यहूदी होने के कारण देश से बहिष्कृत कर दिया गया

और उनकी सम्पत्ति छीन ली गयी ...'

सन् २९ की भयानक ससारव्यापी मन्दी ने सारी महाजनी दुनिया की चूलें हिला दी है। उनमें आपस में प्राणघाती आर्थिक सघर्ष छिडा हुआ है। महाजनी व्यवस्था के लिये सकट का समय उपस्थित है। प्रजातन्त्र का मुखौटा उतार फेको। आ जाओ अपने नगे, आक्रामक रूप में। जरूरी है। अस्तित्व-रक्षा के लिए जरूरी है। वही इस समय हो रहा है। जापान का सैनिकवाद, इटली का फासिज्म, जर्मनी का नाजीवाद, इगलैण्ड की कठोरतर साम्राज्यवादी नीतियाँ — सब का एक ही सकेत है। अपनी व्यवस्था के सकट को टालने के लिए सब हाथ-पैर फैलायेंगे। जिनके पास पहले से बडा साम्राज्य है, वह उसे किसी तरह अपने हाथ से खिसकने न देंगे, और भी मजबूती से चढकर बैठ जायेंगे; और जिनके पास नही है, वह साम्राज्य-विस्तार का आयोजन करेंगे। हिटलर ने कह दिया है कि उसे रहने को और जगह चाहिए। जापान ने चीन पर धावा बोल दिया है। दुनिया की शाति खतरे में है, एक नये महाभारत की तैयारी है। लीग ऑफ नेशन्स यानी राष्ट्र सघ का असल काम इसी शान्ति की रक्षा करना है। लेकिन वह सदस्य राष्ट्रो के आपसी झगडो के कारण दिन-ब-दिन नपुसक होता जा रहा है।

लेकिन उसकी इस नपुसकता का कारण महाजनी देशो के आपसी-झगडे ही नही है। उससे भी बडा कारण महाजनी दुनिया और समाजवादी रूस का परस्पर सघर्ष है।

और दुनिया तेजी से आत्मघात की ओर बढती रहती है। सोचने-विचारनेवाले चिन्तित है और इधर साल-डेढ साल से योरप में एक 'लीग अगेंस्ट इम्पीरियलिज्म, भी काम कर रही है जिसके पीछे रोमे रोलाँ और आँरी बारबुस जैसे लोग हैं। उसका एक मुखपत्र भी निकलता है, इसी नाम का, जो पता नही कहाँ से मुशीजी के पास भी आता है।

२८ नवबर १९३२ को एक टिप्पणी में उन्होने लिखा था —

'सोवियट रूस के पचसाला कार्यक्रम का फल आशातीत हो रहा है। .... व्यावसायिक उन्नति की यह रफ्तार ससार के इतिहास में विस्मयजनक है। जहाँ जनता पर जनता के हित के लिए शासन किया जाता है, वहाँ ऐसी ही सफलता प्राप्त होती है। साम्राज्यवादी यूरोप अभी तक यही नही तय कर पाया कि फौजी सामान घटाया जाय या नही, उधर रूस एकाग्र भाव से उन्नति के मार्ग पर बढता चला जा रहा है। न वहाँ बेकारी है न मन्दी।'

और यहाँ पूँजीवादी देशो में?

८ मई १९३३ को मुशीजी ने लिखा —

'कुछ अजीब दिल्लगी है कि राष्ट्र की सरकार तो निशशस्त्रीकरण की दुहाई देती है और उसी राष्ट्र के शस्त्र-व्यापारी लड़ाइयो को उत्तेजित करते है ..जिसमें

उनके माल की खूब खपत हो। इस तरह की आर्थिक खींचतान एक न एक दिन रग लायेगी। जब से ओटावा-सम्मेलन हुआ है, यह सघर्ष और भी प्रचण्ड हो गया है। इगलैड ने सोचा होगा हमी ने अपनी माँ का दूध पिया है, और राष्ट्रो में तो बुद्धू ही बसते है! अब अमेरिका ने सोने का बधन उठा दिया तो चारो ओर हाय हाय मची हुई है और मिस्टर रामजे मैकडोनल्ड दौडे हुए अमेरिका गये है। आर्थिक सम्मेलन की तैयारियाँ हो रही है। कान्फ्रेसे किये जाओ, जनता का धन फूँके जाओ, अवसर मिले तो दस-बीस लाख गरीबो को तोप का शिकार भी बना दो। लेकिन जब तक कृत्रिम साधनो से व्यापार को सँभालने की चेष्टा होती रहेगी और जब तक बडे-बडे मिल-मालिक और पूँजीपति बने रहेगे, शान्ति न होगी।'

उसी महीने 'हस' में उन्होने लिखा —

'दो-तीन साल पहले इगलैण्ड में मजूर पार्टी का अधिकार, रूस और चीन आदि में सोवियट की सफलता और अन्य देशो मे जनपक्ष की प्रधानता देखकर यह अनुमान किया जाने लगा था कि ससार से साम्राज्यवाद और व्यवसायवाद काप्रभुत्व उठनेवाला है, या बहुत थोडे दिनो का मेहमान है। लेकिन यकायक नक्शा जो पलटा तो इगलैड में साम्राज्यवादियो का फिर जोर हो गया, जर्मनी और इटली में पूँजीवाद ने एक नये रूप में अपना चमत्कार दिखाया, चीन पर जापानी साम्राज्यवाद ने धावा बोल दिया और ऐसा जान पडता है कि कई सालो तक ससार की यह दोरुखी चाल जारी रहेगी। एक ओर पूँजीवाद का जोर, दूसरी ओर समष्टिवाद का दौर-दौरा।...'

चीन पर जापान के हमले के बारे में लिखा —

'राष्ट्रसघ ची ची करता ही रह गया और जापान ने चीन के उत्तरीय भाग पर अपना सिक्का बिठा दिया।. उधर चीनी तुर्किस्तान में क्रान्ति हो गयी है और ऐसा मालूम होता है कि वहाँ जनता ने सोवियट शासन स्थापित कर लिया। इगलैड और अमेरिका आदि का इस अवसर पर चुप साध जाना एक रहस्य है। बात यह है कि चीन में बोलशेविज्म का असर बढता जाता था और सभव था कि दस-बीस साल में चीन और रूस दोनो ही एक सयुक्त सोवियट शासन स्थापित कर लेते। अलग-अलग रहने पर भी, एक ही आदर्श के अनुयायी होने के कारण उनमे विशेष आत्मीयता रहती ही। चीन जैसे आबाद और धनवान देश का सोवियट में आ जाना ससार में उथल-पुथल मचा देता। इगलैण्ड और फ्रास और जर्मनी के बूते की बात न थी कि वे इस प्रवाह को रोक लेते। जापान ने चीन पर आक्रमण करके उस समस्या को कम से कम पचास साल के लिए पीछे ढकेल दिया है। और यही कारण है कि योरप का कोई राष्ट्र चूँ नही कर रहा है! सब के सब दिल में जापान को दुआएँ दे रहे है कि उसने आगे आकर उन सबो की लाज रख ली। रहा रूस। उसे साम्राज्यवाद से तो कोई सबध है नही, न वह चीन को अपने राज्य

में मिलाने ही का इच्छुक है । वह तो यही चाहता है कि चीन पर चीन की जनता का अधिकार हो । जापान के साम्राज्यवाद ने पूर्व से चीन पर धावा किया है तो पच्छिम से तुर्किस्तान की क्रान्ति ने भी हमला कर दिया है । . '

गरज कि धरती जो नयी करवट ले रही है, जिस नये सघर्ष से दुनिया गुजर रही है और जिससे आनेवाली दशाब्दियो के नये इतिहास की सृष्टि हो रही है, उसकी नाडी पर मुशीजी का हाथ है और वह भी उस नाटक मे अपना छोटा-सा पार्ट अदा कर रहे है ।

रूसी साहित्य में उनकी दिलचस्पी पुरानी है । कहानी-उपन्यास में रूस का मुकाबला कोई देश नही कर सकता । चेखोव छोटी कहानियो का बादशाह है । तुर्गनेव के कलम में बडा दर्द है । गोर्की किसानो-मजदूरो का अपना लेखक है । टाल्सटाय सबके ऊपर है । उसकी हैसियत शहशाह की है । पचीस बरस पहले भी थी, आज भी है । बनारसीदास चतुर्वेदी की रुचि अस्थिर है । आजकल तुर्गनेव उनका चहेता है, लिहाजा मुशीजी से मनवाये बिना कैसे चले ! तो मुशीजी झल्लाकर कहते है — टाल्सटाय के आगे तुर्गनेव बौना (पिग्मी) है ।

मुशीजी को बहुत खुशी है कि पढनेवालो की रुचि डाके और जिना के किस्सो से हटकर अब रूसी साहित्य की ओर जा रही है । ठीक भी है । ' जिन लेखकों ने रूस को उस मार्ग पर लगाया, जिस पर चलकर आज वह दुखी ससार के लिए आदर्श बना हुआ है, उनकी रचनाएँ क्यो न आदर पायें ? '

इन्ही लिखनेवालो में कुप्रिन भी है । उस शुमार में तो नही आता, लेकिन बडा लेखक है । कम लिखा है पर जो लिखा है खूब लिखा है । खासकर यह ' यामा ' तो उसकी बहुत ही मशहूर किताब है । शायद चन्द्रभाल जौहरी ने मुशीजी को पढने के लिए दी है ।

चन्द्रभाल जौहरी — लबे, छरहरे, गोरे, थियोसोफिस्ट कृष्णमूर्ति-जैसा चेहरा और बाल और आँखे जिनमें हमेशा शराब की-सी एक मस्ती रहती है — उग्र राजनैतिक विचारो और गभीर साहित्यिक रुचि के आदमी है । मुशीजी के अन्तरग मित्र है । अकसर आया करते है । कभी-कभी मुशीजी भी उनके यहाँ जाते है । उनकी पत्नी बहुत ऊँची शिक्षा पायी हुई स्त्री है और थियोसोफिकल सोसाइटी के बसता कालेज में पढाती है । चन्द्रभाल जौहरी की बाकायदा शिक्षा कम ही हो पायी है क्योकि जेल जाने का सिलसिला बहुत जल्दी शुरू हो गया । लेकिन उस कमी को उन्होने स्वाध्याय से दूर कर दिया है । बहुत सुसस्कृत, मनस्वी व्यक्ति है, और मुशीजी के मन में इस दपती के लिए बडा आदर है ।

चन्द्रभाल कम आमदनी वालो के लिए मकान बनवाने की एक योजना मुंशीजी के सामने रखते है । मुशीजी की वह एक पुरानी कमजोरी है । कर्मभूमि

का अमरकात इसी 'हाउसिंग' का विशेषज्ञ है, कर्मभूमि की अतिम और सबसे जबर्दस्त लडाई गरीबो के इसी सवाल को लेकर होती है। मुशीजी फौरन उस हाउसिंग कम्पनी मे शरीक हो जाते है। कपनी कुछ मकान-वकान बनवाती भी है, लेकिन चल नही पाती। व्यावहारिक अनुभव, ऐसी चीजो का, चन्द्रभाल के पास भी नही है। खैर, वह एक अलग बात है।

'यामा' एक चकले की कहानी है मगर कितनी भिन्न इस तरह की दूसरी चीजो से! वासना नही, करुणा जगाती है उन पर जो बीच बजार अपना शरीर बेच रही है — और जगाती है घृणा उस समाज के प्रति जो उन्हें इसके लिए मजबूर करता है। बहुत डूबकर लिखी है।

अब आगे का किस्सा जैनेन्द्र से सुनिए जो उन्ही दिनों बनारस आये थे —

● सबेरे का वक्त था। जाडे ढल रहे थे। नीचे के कमरे में धूप की किरणे तिरछे पड रही थी। मैं जल्दी निवृत्त हो चुका था और उनकी एक पाण्डुलिपि देख रहा था। इतने ही में प्रेमचन्द जी ऊपर से आये। •

बात-बात में प्रेमचन्द जी बोले — भई जैनेन्द्र, वह किताब Powerful (जबर्दस्त) है।

कुछ दिन हुए रूसी उपन्यास 'यामा' उनके यहाँ देखा था, उसी की ओर सकेत था।

बोले — कही-कही तो जैनेन्द्र, मुझसे पढा नही गया। दिल इतना बेकाबू हो गया। एक जगह आँसू रुकना मुशकिल हुआ।...

देखता क्या हूँ कि जैसे वह प्रसग अब फिर उनके भीतर छिड गया है

बोले — उस जगह मुझसे आगे पढा ही न गया जैनेन्द्र, किताब हाथ से छूट गयी।

और पुस्तक के उस प्रसग का वह अनायास ही वर्णन करने लगे।

मैं सुनता रहा।

धूप कमरे में तिरछी आ रही थी। उनके चेहरे पर सीधी तो नही पड रही थी फिर भी वह चेहरा सामने पडता था और उजला दीखता था। मैं कानों से सुनने से अधिक उस कथा को आँखो से देख रहा था। प्रसग बेहद मार्मिक था। प्रेमचन्द जी मानो अवश भाव से, आपा खोये-से कहते जा रहे थे।

सहसा देखता हूँ, वाक्य अधूरा रह गया है। वाणी मूक हो गयी है। आँख उठाकर देखा — उनका चेहरा एकाएक मानो राख की भाँति सफेद हो आया है। क्षणभर में सन्नाटा हो गया। मुझे जाने क्या चीज छू गयी। .... और पल बीते-न-बीते मैंने देखा, प्रेमचन्द का सौम्य मुख एकाएक बिगड उठा है। जैसे

हिला गया। सारा चेहरा तुड-मरुडकर जाने कैसा हो चला, और फिर देखते-देखते उन आँखो से आँसू झर झर रहे थे। लडखडाती वाणी में बोले — जैनेन्द्र .. आगे उनसे बोला न गया। ●

उन आँसुओ से खुद मुशीजी के मन की कुछ गाँठें भी शायद खुली। वेश्याओ की समस्या उन्होने 'सेवासदन' में उठायी जरूर थी, लेकिन बिलकुल बाहर-बाहर से, रूखे-सूखे समाजसुधारक की तरह। कुप्रिन उन्हे उन अभागिनो के दिल की गहराइयो में ले गया — और मुशीजी का मन भीग गया, ऐसा कि बस ...

'यामा' ने बहुत गहरे पैठकर उनके मन पर असर किया था। कुछ रोज बाद जब उन्हे जनार्दन झा 'द्विज' के आग्रहवश (जो उन दिनो वही थे और अपनी पढाई करने के साथ-साथ मुशीजी पर अपनी किताब भी लिख रहे थे) विश्वविद्यालय के बिहारी असोसिएशन का न्योता स्वीकार करना पडा तो उस मौके पर उनके लिखित भाषण में उनकी यह नयी आर्द्र अनुभूति अपना रस घोल रही थी —

' बीस-पच्चीस साल पहले वेश्या साहित्य से बहिष्कृत थी। अगर कभी वह साहित्य में लायी जाती थी तो केवल अपमानित किये जाने के लिए। रचयिता की प्युरिटन-मनोवृत्ति बिना उसे मनमाना दण्ड दिये विश्राम न लेती थी। अब वह साहित्य में अपमान की वस्तु नही, आदर और प्रेम की वस्तु बन गयी है। गऊ को हत्या के लिए बेचनेवाला अगर दोषी है तो खरीदनेवाला कम दोषी नही है। खरीदनेवाले का अगर समाज में आदर है तो बेचनेवाले का क्यो अनादर हो? वेश्या में बेटीपन है, मातापन है, पत्नीपन है। उसमें भी भक्ति और श्रद्धा है, सहृदयता है।'

अपनो नयी सवेदना को तरग में मुशीजो बहते चले जा रहे है। उन्हे भी शायद खयाल नही है कि अब से चौदह-पन्द्रह बरस पहले उनकी दृष्टि भी किसी प्युरिटन से कम न थी। लेकिन तब से समय आगे बढ आया है। फ्रायड ने दुनिया की जड़ो को हिला दिया है, तमाम भारी-भारी मगर सडे हुए, बदबूदार पर्दे नोच-कर फेंक दिये है और जो चोज़ खुनो हवा और धूप की है उसको उसी खुली हवा और धूप में ला खडा किया है!

मुशोजी ने अपने इसो भाषण में लडको से कहा —

'प्युरिटन मनोवृत्ति जैसे इस ताक में रहती है कि किसका पाँव फिसले और वह तालियाँ बजाये। प्युरिटनिज्म और अनुदारता दो पर्याय-से हो गये है और जहाँ सेक्स का प्रश्न आ जाता है, वहाँ तो वह नगी तलवार, बारूद का ढेर है। यहाँ वह किसी तरह की नर्मी नही कर सकता। .. भोग उसकी दृष्टि में सबसे बडा पाप है। चोरी करके हम समाज में रह सकते है, धोखा देकर, झूठी गवाही देकर, निर्बलो को कुचलकर, मित्रो से विश्वासघात करके, अपनी स्त्री को डडो से

पीटकर हम समाज में रह सकते है, उसी शान और अकड के साथ, लेकिन भोग अक्षम्य अपराध है। उसके लिए कोई प्रायश्चित नही। पुरुषो के लिए तो चाहे किसी तरह क्षमा सुलभ भी हो जाय किन्तु स्त्रियो के लिए क्षमा के द्वार बन्द है और उन पर अलीगढवाला १२ लीवर का ताला पडा हुआ है। इसी का यह प्रसाद है कि हमारी बहने और बेटियाँ आये दिन तीर्थस्थानो में लाकर छोड दी जाती है।'

सेक्स ही नही, दूसरे निषेधो और वर्जनाओ से भी नये आदमी ने विद्रोह कर दिया है और इस वक्त मुशीजी से अच्छा वकील उसे नही मिल सकता —

'इन रूढियो ने, इन बधनो ने, इन असत्य बाधाओ ने ब्रह्माण्ड की व्यापक चेतना में जो दर्बे से बना दिये है, जिनमें बन्द होकर हम अपनी स्वच्छन्दता खो बैठे है, आज हमारी आत्मा उन दर्बो को तोडकर उस व्यापक चेतना से सामजस्य प्राप्त करने के लिए उतारू हो गयी है। सभव है, रस्सी को जोर से खीचकर इसके टूटने के साथ ही वह अपने ही जोर में गिर पडे। सभव है, पिंजरे में बन्द पक्षी की भाँति पिंजरे से निकलकर वह शिकारी चिडियो का ग्रास बन जाय, पर उसे गिरना मजूर है, ग्रास बन जाना मजूर है, उन दर्बो में रहना मजूर नहीं। ससार को जी भरकर भोगने की अबाध लालसा, जिसे सदियो की प्युरिटनिज्म ने खूँख्वार बना दिया है, सर्वभक्षी बन जाना चाहती है। निषेधो की उसे बिलकुल परवाह नही है। वह पाप को पुण्य, असत्य को सत्य और अपूर्ण को पूर्ण बना देना ठान बैठी है। झूठ बोलना पाप है! क्यो पाप है? अगर उस झूठ से समाज का अहित होता है तो वह बेशक पाप है। अगर उससे समाज का कल्याण होता है तो वह पुण्य है। निरपेक्ष सत्य के अस्तित्व को ही वह स्वीकार नही करती। चोरी को तुम पाप कहते हो? तुम चाहते हो कि ससार की सारी सपत्ति बटोरकर उस पर एकाधिपत्य जमा लो। कोई उसे छुए तो उसके लिए जेल है, फाँसी है! '

यही सपत्ति तो मुसीबत की जड है। 'धुंधले अतीत से आज तक का मानव इतिहास केवल सम्पत्ति-रक्षा का इतिहास है।'

मानव आत्मा ने अपनी जीवन-यात्रा मे बहुत बार मुक्ति के लिए विद्रोह किये, 'किन्तु उन विद्रोहो में कलह की जो मुख्य वस्तु थी, वह ज्यो की त्यो बनी रही। सम्पत्ति में हाथ लगाने का किसी को या तो साहस ही न हुआ, या किसी को सूझी ही नही। जो इन सारी दुर्व्यवस्थाओ का मूल था, वह इतने सौम्य वेश में धर्म और विद्या और नीति के आवरण में महान बना हुआ बैठा था कि किसी को उसकी ओर सन्देह करने की भी प्रेरणा न हुई, हालाँकि उसी के इशारे और सहयोग से समाज पर नित नये बधन लगाये जा रहे थे। यह बडे-बडे न्यायालय और यह साम्राज्यवाद और ये बडे-बडे व्यापार के केन्द्र उसी के रचे हुए खिलौने है। यह जात-पॉत, यह ऊँच-नीच का भेद उसी की छोडी हुई फुलझडियाँ है। यह चकले जो मानव समाज के कोढ है, उसके क्रूर विनोद है। ये हमारी असख्य

विधवाएँ, ये हमारे लाखो मजूर जो पशुओ की भाँति जीवन काट रहे है, उसी भानमती के छू मतर की विभूतियाँ है . '

याद रखने की जरूरत है कि यह भाषण अठारह और बीस और बाइस बरस के नौजवानो के सामने दिया जा रहा है। लेकिन यह सम्पूर्ण विद्रोह की बेला है, मुशीजी इस वक्त किसी को छोडेगे नही, ईश्वर को भी नही —

'साहित्य की नवीन प्रगति उनसे विमुख हो रही है। ईश्वर के नाम पर उनके उपासको ने भूमण्डल पर जो अनर्थ किये है, और कर रहे है, उनके देखते इस विद्रोह को बहुत पहले उठ खडा होना चाहिए था। आदमियो के रहने के लिए शहरो में स्थान नही है मगर ईश्वर और उनके मित्रो और कर्मचारियो के लिए बडे-बडे मदिर चाहिए। आदमी भूखो मर रहे है, मगर ईश्वर अच्छे से अच्छा खायेगा, अच्छे से अच्छा पहनेगा और खूब विहार करेगा ! ...'

३२

रात के नौ बजे से ही खाने के लिए मुशीजी को पुकार होने लगती, कभी एक लडका माँ का सँदेसा लेकर पहुँचता कभी दूसरा, और जब इन राजदूतो या यमदूतो से काम न चलता तो शिवरानी देवी खुद खटर-पटर करती नीचे उनके कमरे में पहुँचती और कुछ बडबडाती हुई कलम उनके हाथ से लेकर कलमदान में रख देती। मुशीजी कभी 'तुम चलो, मै अभी आया' का पाठ पढाने की कोशिश करते, कभी खिसियाकर मुस्कराते हुए कहते, 'क्या करती हो रानी, जुमला तो पूरा कर लेने दो!' लेकिन रानी इन सब बहानेबाजियो की क्या ताब लाती, मुशीजी गिरफ्तार करके ऊपर लाये जाते, बच्चे (जो बाबूजी के साथ बैठकर खाने के लोभ में अकसर बिना खाये ही सो गये रहते।) जगाये जाते और रात के खाने का प्रकरण शुरू होता।

मुशीजी खुद तो इस तरह जी तोडकर काम करते लेकिन बच्चो को ज्यादातर खेलने की ही नसीहत करते। एक रोज़ छोटे साहबज़ादे बैठे भूगोल का होमवर्क कर रहे थे। नक्शे बनाने में वह जरा ज्यादा ही कच्चे थे, लिहाजा बनाते-बिगाडते-बनाते शाम हो गयी। मुशीजी ने प्रेस से लौटकर जो यह हाल देखा तो फौरन उन्हे घर से बाहर निकालकर ही दम लिया।

इन्ही दिनो मुशीजी ने हेण्ड्रिक विलेम वान लून की 'स्टोरी आफ मैनकाइण्ड' का अनुवाद हिन्दी में किया। किताब लेकर लिपिक को बोलते जाते थे। पर खुद अपने लिखने का काम मुशीजी अपने हाथ से ही कर पाते थे और उन्हें ऐसे लोगों पर बड़ा ताज्जुब होता था जो कहानी-उपन्यास भी बोलकर लिखा लेते है।

बेटी को पहला बच्चा हुआ और चौथे रोज़ उसे बुखार आ गया। प्रसूत ज्वर। यहाँ तार आया और मुशीजी फौरन पत्नी के साथ सागर के लिए रवाना हो गये। मुशीजी तो चार छ: रोज़ रहकर लौट आये, शिवरानी देवी रुक गयी। बात भी घबराहट की थी। जान पर आ बनी थी।

उसी घबराहट की हालत में बेटी की अम्माँ ने कहना शुरू किया कि यहाँ इलाज ठीक नही हो रहा है, मैं बेटी को लेकर बनारस जाऊँगी। ससुरालवाले

इसके लिए राजी न थे। खासी बेलुत्फी हो गयी — यहाँ तक कि मामला मुशीजी के सामने पहुँचा, और उन्होने २७ मई १९३३ को अपनी पत्नी को बहुत समझाते हुए लिखा —

'.... तुम्हारा पत्र मिला। आज ही दशरथलाल जी का पत्र भी मिला। मैंने तो पहले भी लिखा था और अब भी लिखता हूँ कि अगर तुम बेटी को ला सकती हो तो लाओ। लेकिन यह खूब सोच लो कितनी बडी ज़िम्मेदारी है। इतनी लम्बी यात्रा है, जगह-जगह चढाव-उतार है। इसका क्या इन्तज़ाम होगा ? और तुमने यह कैसे समझ लिया कि बनारस आते ही सारा रोग दूर हो जायगा। बनारस तो दवा के लिए कोई मशहूर जगह नही है। यहाँ दो-एक होमियोपैथ डाक्टर है, मगर उस तरह के डाक्टर तो सागर में भी है। हाँ, अगर लखनऊ चलकर दवा कराने का इरादा हो तो ठीक है, लेकिन वही यात्रा की बात है। अगर सफर में बेटी की तबीयत ज्यादा खराब हो गयी तो क्या होगा। फिर कितनी शर्म आयेगी और कितना दुख होगा। इसलिए मेरे विचार में जो दवा हो रही है, वह होने दो। उससे अच्छा इलाज काशी में नही हो सकता और होमियोपैथिक दवा के लिए काशी आने की जरूरत नही। सागर में उस तरह के डाक्टर है। यह समझ लो कि यह प्रसूत ज्वर है और मुश्किल से जायगा। काशी में न कोई दूसरा ईश्वर है न दूसरा भाग्य। यहाँ गर्मी बहुत है और यहाँ का जलवायु भी सागर का सा नही है। इस तरह घबडाने से काम न चलेगा। राम का नाम लो और दवा होने दो। लखनऊ ले चलने का अर्थ है पाँच सौ रुपये महीने का ख़र्च उठाना जिसकी सामर्थ्य न मुझमें है न उन लोगो में। ..घर भर को नाराज करके यहाँ लाना मुनासिब नही है .'

और १७ जुलाई को अपनी तकलीफो को यह दास्तान जैनेन्द्र को लिखी —

'मैं तो इधर बहुत परीशान रहा। ... बेटी के पुत्र हुआ और उसे प्रसूत ज्वर ने पकड लिया। मरते मरते बची। अभी तक अधमरी सी है। बच्चा भी किसी तरह बच गया।[1] आज बीस दिन हुए यहाँ आ गयी है। उसकी माँ भी दो महीने उसके साथ रही। मैं अकेला रह गया था। बीमार पडा। दाँतो ने कष्ट दिया। महीनो उसमें लग गये। दस्त आये, और अभी तक कुछ न कुछ शिकायत बाकी है। दाँतो के दर्द से भी गला नही छूटा। बुढापा स्वय रोग है और अब मुझे उसने स्वीकार करा दिया कि अब मैं उसके पजे में आ गया हूँ।'

सब कहने की बाते है। यह कोई बुढापा नही है। इस बुढापे में तो एक उम्र गुज़र गयी मुशीजी की।

बुढापा वह है जब चित्त बुड्ढा हो जाता है और आदमी केवल साँस के आने-

---

१ यह बच्चा २६ बरस का होकर २ मई १९५९ को हवाई दुर्घटना में जाता रहा।

जाने को जिन्दगी समझने लगता है, जब निष्ठा के पैर डगमगाने लगते है और तरुणाई के आदर्श-सकल्प सब झूठे जान पडते है, जब अन्याय देखकर आँखो में खून नही उतरता और तलवार का हाथ काँपने लगता है, जब मेरुदण्ड ढीला हो जाता है और स्वाभिमान बुझ जाता है, जब समझौता, प्राणरक्षा के लिए प्राण-लेवा समझौता, कैसा भी समझौता, किसी से भी समझौता उसके जीवन की नयी गीता बन जाती है। बुढापा वह है।

यहाँ तो अभी वैसी कोई बात नही है।

पिछले हफ्ते हजरत मुहम्मद की पुण्य स्मृति में एक जलसा हुआ था। टाउन हाल में। बहुत-से उलेमाओ की तकरीरे हुई। और उन्ही के साथ-साथ बोले पडित सुन्दरलाल, और खूब बोले, सबसे अच्छा बोले। उनसे मुशी जी की अच्छी मुलाकात है, दोस्ती उसे नही कह सकते, दो अलग दुनियाओ के लोग है, बस एक चीज है और वह बडी चीज है जो दोनो को बाँधती है — दोनो एकता के यकसाँ पुजारी है, एक-जैसे पागल। कानपुर के पिछले दगे की, जिसमें गणेशशकर विद्यार्थी मारे गये, जाँच-पडताल के लिए काग्रेस की प्रेरणा से एक कमेटी बनी थी जिसके सभापति डा० भगवानदास थे और मत्री पडित सुन्दरलाल। इस कमेटी ने बडी हिम्मत, बडी मेहनत और बडी ईमानदारी से अपना काम किया था और उसका नतीजा था पाँच सौ पन्ने की एक रिपोर्ट जिसे सरकार ने घबराकर फौरन जब्त कर लिया था। उस चीज से सुन्दरलाल की इज्जत मुशीजी की आँखो में दसगुनी बढ गयी थी। आज भी पडित जी की स्पीच का मुशीजी पर बहुत गहरा असर हुआ और उन्होने १७ जुलाई को 'जागरण' की अपनी टिप्पणी में यहाँ से वहाँ तक उसी स्पीच का उल्था करने के बाद, सुन्दरलाल जी के शब्दो पर अपनी स्वीकृति की मुहर लगाते हुए लिखा —

' यह है उस ऋषि की जीवन-कथा जिसके नाम पर आज आधी दुनिया सिर झुकाती है। उसके त्याग की कथा अद्भुत है। जो एक राज्य का स्वामी था, वह खजूर की चटाई पर सोता था। . सचय का यह हाल था कि अतिम सस्कार के समय हज़रत की जिरह पौने दो मन जौ पर गिरो रक्खी गयी थी .. '

हो सकता है कि इसमें कुछ नमक-मिर्च भी हो। कोई बुराई नही उसमें।

नमक-मिर्च बुरी है वह जो दिलो में ज़हर घोलती है, भाई को भाई के खून का प्यासा बनाती है —

— जैसे कि यह किताब चतुरसेन शास्त्री की, इस्लाम का विषवृक्ष . .. हवा बेतरह बिगडी हुई है, बारूद का एक ढेर समझो, जब देखो कही न

कही फसाद खडा रहता है, उसमें आपसे और कुछ तो बना नही, उल्टे आग लगाने आ पहुँचे !

किसी करवट मुशोजी को चैन नही है, फौरन जैनेन्द्र को लिखा —

' इन चतुरसेन को क्या हो गया है कि इस्लाम का विषवृक्ष लिख डाला ? उसकी एक आलोचना तुम लिखो और वह पुस्तक मेरे पास भेजो। . . इस कम्युनल प्रोपेगण्डा का जोरो से मुकाबला करना होगा और यह ऋषभ भला आदमी भी इन चालो से धन कमाना चाहता है। '

और फिर बनारसीदास चतुर्वेदी को यही बात इसी तरह बिफरकर लिखी और उसी दिन लिखी।

अगले ही हफ्ते उन्होने ' जागरण ' में उस पर अपना दुहत्तड चलाया और ' हस ' में उसकी खबर लिवायी कृष्णदेवप्रसाद गौड से

मगर कुछ इसी की बात नही है। दूसरी भी कोई बात हो, छोटी हो बडी हो, अपनी हो परायी हो, जहाँ भी कोई अन्याय हो रहा हो, मुशीजी जूझने के लिए तैयार है।

ठाकुर श्रीनाथ सिंह ने जाने कैसा एक इण्टरव्यू बनारसीदासजी का लिया और उसमें अपनी तरफ से नमक-मिर्च लगाकर सरस्वती में छपाया तो बात ही कुछ की कुछ हो गयी। चतुर्वेदीजी ने बहुत दुखी होकर इसका रोना मुशीजी से रोया तो उन्होने लिखा —

' विश्वास कीजिए, मैंने एक क्षण के लिए उन तमाम बेहूदा बातो पर यकीन नही किया जो सरस्वती में लिखी है। मैं फौरन समझ गया कि यह शुरू से आखीर तक एक शरारत है। उस आदमी ने आप में और सारी दुनिया में रजिश पैदा करने की कोशिश की है। .. ' और ' साहित्यिक गुडापन ' शीर्षक से ' हस ' मे इस मामले की चर्चा करते हुए बनारसीदास जी की तरफ से मैदान में कूद पडे —

' इस होड युग में अन्य व्यवसायो की भाँति पत्र-पत्रिकाओ को अपने स्वामियो या सचालको को नफा देने या अपना अस्तित्व बनाये रखने के लिए तरह-तरह की चाले चलनी पडती है। यूरोपवाले तो शब्दजाल या पहेलियो या लाटरियो का लटका निकालते है . हिन्दी में धन के अभाव से और ढग की चाले चली जाती है। पत्र में किसी तरह का विवाद छेड दिया जाता है, या कला के नाम पर अर्द्ध-नग्न चित्र दिये जाते है। अदालती नोटिसो के लिए अहलकारो की खुशामदे की जाती है, उनके सामने नाक रगडी जाती है, भडाफोड की धमकी देकर रकमें सीधी की जाती है, और इसे सत्योद्घाटन का महान् नाम दिया जाता है। या कोई चौकानेवाली चीज छापी जाती है स्वामी नफा चाहता है और नफा न हुआ तो बेचारे सम्पादक की जान की कुशल नही, डेरा-डण्डा सँभालकर अपने घर की राह लेनी पडेगी। रोटी का सवाल तो बडा टेढा है। गरीब सम्पादक अपनी आत्मा की हत्या

करके सनसनी पैदा करने के लिए किसी भले आदमी की पगडी उछालता है।'

अदालत में कही कसर नही है —

'माना चतुर्वेदीजी ने कहा कि अमुक व्यक्ति को लिखने की तमीज नही या उन्होने अमुक व्यक्ति को साहित्य-क्षेत्र में आगे न बढाया होता तो वह अब तक गुमनाम पडा होता या यह कि मि० ऐड्रूज और महात्मा गाधी उनसे मित्र भाव रखते है, तो क्या यह बातें लिखने की है ? . आदमी मिलनेवाले की रुचि और झुकाव देखकर उसी ढग की बाते करता है। अगर मुझसे कोई शोहदा मिलने आये तो मैं उससे वेदान्त की बातें न करूँगा। अगर श्रीनाथ सिंह जरा और जोर लगाते तो चतुर्वेदीजी अपने अन्तरग का गुप्त भाग भी खोल देते। ऐसा कौन है जिसने कभी ताक-झाँक न की हो, कभी मनचलेपन के स्टेज पर दो-चार अभिनय न किये हों। फिर चतुर्वेदीजी तो खुदा के फजल से अभी बुढापे से बहुत दूर है और खुदा के कहर से रँडुए भी है! पर क्या यह सारी बेहूदगी एक प्रतिष्ठित पत्रिका के प्रतिष्ठित सम्पादक के योग्य है .. ?'

चतुर्वेदीजी शायद खुद भी अपनी वकालत इतने जोरदार शब्दो में न कर पाते। मैदान में उतरने पर मुशीजी फिर सुध-बुध खोकर लडते है, न आगे देखते है न पीछे।

श्रीनाथ सिंह तो पहलवान थे इसी अखाडे के, पीठ में मिट्टी कैसे लगने देते! बात तो कहाँ की कहाँ गयी, सीधे-सीधे गाली-गुफ्ते पर उतरते हुए उन्होने लिखा —

' . मुशी प्रेमचद जी ने चतुर्वेदी जी का पक्ष लेकर हम पर अपने हस में आक्रमण करने की जो अनधिकार चेष्टा की है और उसके द्वारा अपनी सठियाई बुद्धि का जो प्रदर्शन किया है .' यही बात उनको सबसे ज्यादा खल रही थी — कि ऐसा भी कोई ढीठ आदमी है जो उनके मुँह लग सकता है ? तो भोगें अब —

'उपन्यास-सम्राट् कहलवाने के रोगी और अपने बुजुर्ग होने की धाक जमानेवाले मुशी प्रेमचद आज लेखक से प्रकाशक भले ही बन गये हो, परन्तु सम्पादन-कार्य किस चिडिया का नाम है .. इसका उन्हे रत्ती भर ज्ञान नही . . मुशी प्रेमचद जी का हम आदर करते है क्योंकि हिन्दी के वे किसी समय एक ढगदार लेखक थे। इसके सिवा सबसे अधिक खयाल हमें सम्पादकीय सदाचार का है, नही तो नामधारी सम्पादक तथा नये पुस्तकविक्रेता मुशी प्रेमचद जी की भठियारियो की-सी गालियो का हम भी तुर्की-ब-तुर्की जवाब देते।'

मुशीजी ने फिर इसका कोई जवाब नही दिया — लेकिन धूल तो ठाकुर साहब की पीठ में लग ही गयी। 'कलकत्ते की साहित्यिक यात्रा' के नाम से जो लेखमाला उन्होने इसी महीने बडी धूमधाम से शुरू की थी, वह बद हो गयी।

ठाकुर साहब कैसे पी जाते अपमान की यह घूँट, उन्होने तीन महीने बाद दूसरे पहलू से वार किया — 'घृणा के प्रचारक प्रेमचद'। मुशीजी ब्राह्मणों के

खिलाफ घृणा का प्रचार करते है !

किस्सा यह हुआ कि इन्ही दिनो मुशीजी की एक कहानी छपी 'सद्गति' जो मुशीजी की सबसे अच्छी, सबसे सशक्त कहानियो मे है। उसका यथार्थ-चित्रण इतना निर्मम है कि कहानी पढते-पढते डर-सा मालूम होने लगता है।

दुक्खी चमार अपनी बिटिया की सगाई का साइत-सगुन बिचरवाने पडित घासीराम के पास पहुँचता है।

'प० घासीराम ईश्वर के परम भक्त थे। नीद खुलते ही ईशोपासन मे लग जाते। मुँह-हाथ धोते आठ बजते तब असली पूजा शुरू होती जिसका पहला भाग भग की तैयारी थी। उसके बाद आध घण्टे तक चन्दन रगडते, फिर आइने के सामने एक तिनके से माथे पर तिलक लगाते। चन्दन की दो रेखाओ के बीच में लाल रोरी की बिन्दी होती थी। फिर छाती पर, बाँहो पर, चन्दन की गोल-गोल मुद्रिकाएँ बनाते। फिर ठाकुर जी की मूर्ति निकालकर उसे नहलाते, चन्दन लगाते, फूल चढाते, आरती करते, घटी बजाते। दस बजते-बजते वह पूजन से उठते और भग छान कर बाहर आते। तब तक दो-चार जजमान द्वार पर आ जाते। ईशोपासन का तत्काल फल मिल जाता। वही उनकी खेती थी।'

सगुन बिचारने तो पडित जी दुक्खी के घर जब जायेगे तब जायेंगे, अभी वह उसे बहुत-सी बेगार बतला देते है।

उसमे सबसे बुरी बेगार है लकडी की एक मोटी-सी गाँठ को फाडना 'जिस पर पहले कितने ही भक्तो ने अपना जोर आजमा लिया था। वह उसी दमखम के साथ लोहे से लोहा लेने को तैयार थी। दुक्खी घास छीलकर बाजार ले जाता था, लकडी चीरने का उसे अभ्यास न था। घास उसके खुरपे के सामने सिर झुका देती थी, यहाँ कस-कसकर कुल्हाडी का भरपूर हाथ लगाता पर उस गाँठ पर निशान तक न पडता था, कुल्हाडी उचट जाती। पसीने में तर था। हाँफता था, थककर बैठ जाता था, फिर उठता था। हाथ उठाये न उठते थे, पाँव काँप रहे थे, कमर सीधी न होती थी, आँखो तले अँधेरा हो रहा था, सिर में चक्कर आ रहे थे, तितलियाँ उड रही थी। फिर भी अपना काम किये जाता था।'

न एक रोटी का सहारा न एक चिलम तमाखू का। तमाखू तो खैर, कही जाकर ले आया पर आग भी तो चाहिए।

जब आग लेने पडित जी के घर में पहुँचता है, बरौठे के द्वार पर, तो आग के बदले उसे पडिताइन जी से, जो धरम-करम में अपने पति से भी दो बाँस आगे थी, यह कोसना सुनने को मिला — 'तुम्हे तो जैसे पोथी-पत्रे के फेर में धरम-करम किसी बात की सुधि ही नही रही। चमार हो, धोबी हो, पासी हो, मुँह उठाये घर में चला आये ! हिन्दू का घर न हुआ, कोई सराय हुई। कह दो दाढीजार से चला जाय, नही तो इसी लुआठे से मुँह झुलस दूँगी ! ...'

आखिर दुक्खी उसी धूप में भूखे-प्यासे लकडी की उस गाँठ को चीरता-चीरता वही ढेर हो गया।

●एक क्षण में गाँव भर में खबर हो गयी। पूरे में ब्राह्मनो की ही बस्ती थी। केवल एक घर गोड का था। लोगो ने उधर का रास्ता छोड दिया। कुएँ का रास्ता उधर ही से था, पानी कैसे भरा जाय। चमार की लाश के पास से होकर पानी भरने कौन जाय। एक बुढिया ने पडितजी से कहा — अब मुर्दा फेंकवाते क्यो नही। कोई गाँव में पानी पियेगा या नही!

इधर गोड ने चमरौने में जाकर सबसे कह दिया — खबरदार, मुर्दा उठाने मत जाना। अभी पुलिस की तहकीकात होगी। दिल्लगी है कि एक गरीब की जान ले ली! पडित होगे तो अपने घर के होगे! लाश उठाओगे तो तुम भी पकडे जाओगे।

इसके बाद ही पडितजी पहुँचे, पर चमरौने का कोई आदमी लाश उठा लाने को तैयार न हुआ। हाँ, दुक्खी की स्त्री और कन्या दोनो हाय हाय करती वहाँ चली और पडितजी के द्वार पर सिर पीट-पीटकर रोने लगी।

आधी रात तक रोना-पीटना जारी रहा। देवताओ का सोना मुश्किल हो गया। पर लाश उठाने कोई चमार न आया और ब्राह्मन चमार की लाश कैसे उठाते! भला ऐसा किसी शास्त्र-पुराण में लिखा है? कही कोई दिखा दे।

रात तो किसी तरह कटी, मगर सबेरे भी कोई चमार न आया। चमारिनें भी रो-पीटकर चली गयी। दुर्गन्ध कुछ-कुछ फैलने लगी।

पडितजी ने एक रस्सी निकाली। उसका फन्दा बनाकर मुर्दे के पैर में डाला, और फन्दे को खीचकर कस दिया। अभी कुछ-कुछ धुँधलका था। पडितजी ने रस्सी पकडकर लाश को घसीटना शुरू किया और गाँव के बाहर घसीट ले गये। वहाँ से आकर तुरन्त स्नान किया, दुर्गापाठ पढा और घर में गगाजल छिडका। उधर दुक्खी की लाश को खेत में गीदड और गिद्ध, कुत्ते और कौए नोच रहे थे।●

इस लिखने में क्रोध था, घृणा थी, कालकूट घृणा — क्योकि वह रवीन्द्र नाथ की तरह चाण्डालो के लिए बुद्ध की करुणा की याचना नही कर रहे थे, सामाजिक न्याय माँग रहे थे जो कि बिलकुल दूसरी चीज है।

और सवर्ण हिन्दू अगर इस चीज को नही झेल या पचा सका तो उसका भी दोष नही है।

यो तो हर लिखनेवाले की कही पर बुराई कही पर तारीफ होती ही रहती है, लेकिन दिसम्बर १९३३ की सरस्वती में, इस कहानी के छपने के कुछ ही बाद, ठाकुर श्रीनाथ सिंह ने खास तौर पर इसी कहानी का हवाला देकर 'घृणा के प्रचारक प्रेमचद' शीर्षक से मुशीजी पर हमला किया —

●ग्राम्यजीवन का कितना अस्वाभाविक चित्रण है! ग्राम्य पडित चमारो से

कितनी घृणा करते है और उनकी स्त्रियाँ कितनी पत्थरहृदय होती है, इसका कुछ ठिकाना नही है। . . इलाहाबाद जिले का गाँव-गाँव हमारा देखा है। हमने देहात में एक भी पडित ऐसा नही देखा जो चमारो से इतनी घृणा करता हो और एक भी पडिताइन ऐसी नही देखी जो इस प्रकार पत्थरहृदय हो। खेद है प्रेमचद जी जैसे आदर्शवादी और राष्ट्रीयता का दभ करनेवाले लेखक ने भारत के ग्राम्य जीवन का ऐसा भद्दा चित्र उपस्थित किया, जो किपलिग के सिवा और किसी ने कभी नही किया।

प्रेमचन्द जी इधर बहुत दिनो से शहरो में रह रहे है और उपन्यास और कहानियाँ लिखने के लिए विदेशी उपन्यासकारो की रचनाएँ बराबर पढते रहते है। यही कारण है कि वे भारतीय सस्कृति से दिन पर दिन दूर होते जाते है। .

मिस मेयो की निन्दा हम इसलिए करते है कि उसने अपनी 'मदर इडिया' और बाद को 'देवताओ के गुलाम' नामक कहानी-सग्रह में हिन्दुओ का बडा ही गन्दा चित्र अकित किया है। वह एक विदेशी महिला है और उसका उद्देश्य राजनीतिक बताया जाता है। परन्तु प्रेमचन्द जी तो भारतीय है और इस प्रकार के अन्यायपूर्ण चित्रण का इनका उद्देश्य क्या हो सकता है?

प्रेमचन्द जी की रचनाओ से ऐसे सैकडो स्थल उद्धृत किये जा सकते है जहाँ उन्होने हिन्दुओ को, ख़ासकर पडितो को, अत्यन्त ही घृणित रूप में उपस्थित किया है। कहा जाता है कि लेखक अपने समय का प्रतिनिधि होता है। यदि प्रेमचन्द जी इस युग के प्रतिनिधि मान लिये जायँ तो अब से पचास वर्ष बाद उनकी रचनाएँ जो पढेगे वे सन् १९३२ के सामाजिक जीवन के बारे में क्या कहेगे? यही न कि उस समय हिन्दुओ का, ख़ासकर ब्राह्मणो का, जीवन घृणा का जीवन था। वे निर्दयी थे, ज़ालिम थे, कट्टर थे, दयाहीन थे और पाखडी थे। पर क्या यह सत्य है? ...●

मुशीजी इस हमले से सिटपिटा जानेवाले असामी नही है। उसी महीने उन्होने 'हस' में जवाब दिया, 'जीवन में घृणा का स्थान'—

● निन्दा, क्रोध और घृणा यह सभी दुर्गुण है लेकिन मानव जीवन में से अगर इन दुर्गुणो को निकाल दीजिए तो ससार नरक हो जायगा। यह निन्दा ही का भय है जो दुराचारियो पर अकुश का काम करता है, यह क्रोध ही है जो न्याय और सत्य की रक्षा करता है और यह घृणा ही है जो पाखड और धूर्तता का दमन करती है। इनका जब हम दुरुपयोग करते है तभी ये दुर्गुण हो जाते है। लेकिन दुरुपयोग तो अगर दया, करुणा, प्रशसा और भक्ति का भी किया जाय तो वह दुर्गुण हो जायँगे। अन्धी दया अपने पात्र को पुरुषार्थहीन बना देती है, अधी करुणा कायर, अधी प्रशसा घमडी और अधी भक्ति धूर्त। प्रकृति जो कुछ करती है, जीवन की रक्षा ही के लिए करती है। ... जिन प्राणियो में घृणा का भाव विकसित नही हुआ, उनकी रक्षा के लिए प्रकृति ने उनमें दुबकने, दम साध लेने या छिप जाने की

शक्ति डाल दी है। मनुष्य विकासक्षेत्र में उन्नति करते-करते इस पद को पहुँच गया है कि उसे हानिकर वस्तुओ से आप ही आप घृणा हो जाती है!

तो घृणा स्वाभाविक मनोवृत्ति है और प्रकृति द्वारा आत्मरक्षा के लिए सिरजी गयी है। . जिस वस्तु का जीवन में इतना मूल्य है उसे शिथिल होने देना अपने पाँव में कुल्हाडी मारना है। जरूरत केवल इस बात की है कि हम घृणा का परित्याग करके उसे विवेक बना दें। इसका अर्थ यही है कि हम व्यक्तियो से घृणा न करके उनके बुरे आचरण से घृणा करें। घृणा का उद्देश्य ही यह है कि उससे बुराइयो का परिष्कार हो। पाखड, धूर्तता, अन्याय, बलात्कार और ऐसी ही अन्य दुष्प्रवृत्तियो के प्रति हमारे अन्दर जितनी ही प्रचण्ड घृणा हो उतनी ही कल्याणकारी होगी।

जीवन में जब घृणा का इतना महत्व है तो साहित्य कैसे उसकी उपेक्षा कर सकता है प्राचीन साहित्य धर्म- और ईश्वर-द्रोहियो के प्रति घृणा और उनके अनुयायियो के प्रति श्रद्धा और भक्ति के भावो की सृष्टि करता रहा। नवीन साहित्य समाज का खून चूसनेवालो के विरुद्ध उतने ही जोर से आवाज़ उठा रहा है। वे व्यक्तियो के शत्रु नही है, न वे द्वेष या ईर्ष्या के कारण साहित्य की रचना करते है। वे उन परिस्थितियो और प्रवृत्तियो के शत्रु है जिनके हाथो ऐसे व्यक्ति उत्पन्न होते है। .. इन पक्तियो के लेखक ही के विषय में एक कृपालु आलोचक ने यह आक्षेप किया है कि उसने अपनी रचनाओ में ब्राह्मणो के प्रति घृणा का प्रचार किया है। अव्वल तो उसे किसी ब्राह्मण के हाथो कोई कष्ट नही पहुँचा और मान लो किसी ब्राह्मण ने उस पर डिग्री करके उसका घर नीलाम करा लिया हो, या उसे सरे बाजार गाली दे दी हो, तो इसलिए वह समस्त ब्राह्मण समुदाय का दुश्मन क्यो हो जायगा? ... चोरी, बदमाशी, रिश्वत, दगा, झूठ, इन सब दुर्गुणो का किसी समुदाय विशेष से सबध नही। एक जमाना था जब अधिकतर कायस्थ पटवारी और कानूनगो होते थे. लेकिन अब वह बात नही रही। इसलिए केवल कानूनगो और पटवारी कह देने से कायस्थ का बोध नही होता, न बनिया कह देने से किसी विशेष समुदाय का बोध होता है। केवल पडित या पुजारी ही ऐसा शब्द है, जिससे दुर्भाग्यवश ब्राह्मण का बोध हो जाता है और यह कहना बडी दूर की कौडी लाना है कि जो इस पाखडाचार के खिलाफ घृणा फैलाता है वह ब्राह्मण जाति का द्रोही है।... लेखक की दृष्टि में ब्राह्मण कोई समुदाय नही, एक महान् पद है जिस पर आदमी बहुत त्याग, सेवा और सदाचरण से पहुँचता है। हरेक टकेपथी पुजारी को ब्राह्मण कहकर मैं इस पद का अपमान नही कर सकता। . ●

ठाकुर साहब को अब भागते राह न मिली तो उनके परम मित्र प० ज्योतिप्रसाद मिश्र 'निर्मल' ने उसी महीने दूसरी तरफ से मुशीजी पर वार किया — उन्ही बातो की फुसफुसी पुनरावृत्ति। थोड़ी-सी लल्लो-चप्पो के साथ।

मुशीजी ने शेर की तरह दहाडते हुए फौरन 'जागरण' मे जवाब दिया —

'अभी हाल में भारत में एक लेख देखकर हमारी आँखे खुल गयी और यह अप्रिय अनुभव हुआ कि हम अभी तक केवल मुँह से राष्ट्र का गुल मचाते है, हमारे दिलो मे अभी वही जातिभेद का अधकार छाया हुआ है। यह लेख किन्ही निर्मल महाशय का है और यदि यह वही निर्मल है जिन्हे श्रीयुत ज्योतिप्रसाद जी के नाम से हम जानते है तो शायद वह ब्राह्मण है। हम अब तक उन्हे राष्ट्रवादी समझते थे पर हमें ज्ञात हुआ कि वह अब भी उन पुजारियो का, पुरोहितो का और जनेऊधारी लुटेरो का हिन्दू समाज पर प्रभुत्व बनाये रखना चाहते है जिन्हे वह ब्राह्मण कहते है, पर हम उन्हे ब्राह्मण क्या, ब्राह्मण के पाँव की धूल भी नही समझते। निर्मल की शिकायत है कि हमने अपनी तीन-चौथाई कहानियो में ब्राह्मणो को काले रगो में चित्रित करके अपनी सकीर्णता का परिचय दिया है, जो हमारी रचनाओ पर अमिट कलक है। हम कहते है कि अगर हममें इतनी शक्ति होती तो हम अपना सारा जीवन हिन्दू जाति को पुरोहितो, पुजारियो, पडो और धर्मोपजीवी कीटाणुओ से मुक्त कराने में अर्पण कर देते। हिन्दू जाति का सबसे घृणित कोढ, सबसे लज्जाजनक कलक यही टकेपथी दल है जो एक विशाल जोक की भाँति उसका खून चूस रहा है जब तक यहाँ एक दल, समाज की भक्ति, श्रद्धा, अज्ञान और अधविश्वास से अपना उल्लू सीधा करने के लिए बना रहेगा, तब तक हिन्दू समाज कभी सचेत न होगा। और यह दल दस-पाँच लाख व्यक्तियो का नही है, असख्य है। उसका उद्यम यही है कि वह हिन्दू जाति को अज्ञान की बेडियो में जकडे रखे, जिसमें वह जरा भी चूँ न कर सके। मानो आसुरी शक्तियो ने अधकार और अज्ञान का प्रचार करने के लिए स्वयसेवको की यह अनगिनत सेना नियत कर रखी है। अगर हिन्दू समाज को पृथ्वी से मिट नही जाना है तो उसे इस अधकार-शासन को मिटाना होगा। हिन्दू बालक जब से धरती पर आता है और जब तक वह धरती से प्रस्थान नही कर जाता, इसी अधविश्वास और अज्ञान के चक्कर में सम्मोहित पडा रहता है। और नाना प्रकार के दृष्टान्तो से, मनगढ त किस्से-कहानियो से, पुण्य और धर्म के गोरखधधो से, स्वर्ग और नरक की मिथ्या कल्पनाओ से यह उपजीवी दल उनकी सम्मोहनावस्था को बनाये रखता है।'

मुशीजी की लडाई उनके इसी धर्म-उपजीवी, धर्म-व्यवसायी रूप से है, ब्राह्मण जाति से लडाई करके क्या होगा। उनको तो मुशी जी ब्राह्मण ही नही मानते, जो "प्रात काल आपके द्वार आकर करताल बजाते हुए 'निर्मल पुत्र देहि भगवान' की हाँक लगाने लगते है, या गनेशपूजा और गौरीपूजा और अल्लम-गल्लम पूजा कर यजमानो से पैसे रखाते है, या विद्वान होकर ठाकुरजी और ठकुराइनजी के श्रृ गार में अपना कौशल दिखाते है, या मन्दिरो में मखमली गावतकिये लगाये वेश्याओ का नृत्य देखकर भगवान से लौ लगाते है। ..."

इस नीति के पालन में कही छल-कपट नही है, तभी तो उन्ही ब्राह्मणद्रोही कहानियो को, जिन पर निर्मल जी को आपत्ति है, कितने ही ब्राह्मण सपादको ने अपने पत्र में जगह दी ।

लेकिन हाँ, जिस तरह वहाँ कोई छल-कपट नही है उसी तरह कोई मेल-मुरौवत भी नही है । अपना तो एक ही दोस्त है — बेलाग सच्चाई । किसी को बुरी लगे, चाहे भली लगे । तो भी इसमें शक नही कि काशी में बैठकर इन पडो-पुजारियो की बखिया उधेडना मुशीजी का ही काम है । वर्ना कौन कह सकता है ऐसी खरी, बेलाग बात — 'हमारी समझ में मुसलमानो से हिन्दू जाति को उसकी शताश हानि नही पहुँची है जितनी इन पाखडियो के हाथो पहुँची और पहुँच रही है । ' यह सत्य और न्याय के लिए अपनी जाति और धर्म से विद्रोह है । और है विद्रोह अपने वर्ग से — ' हमारी कहानियो में आपको पदाधिकारी, महाजन, वकील और पुजारी गरीबो का खून चूसते हुए मिलेंगे, और गरीब किसान, मजदूर, अछूत और दरिद्र उनके आघात सहकर भी अपने धर्म और मनुष्यता को हाथ से न जाने देंगे, क्योकि हमने उन्ही में सबसे ज्यादा सच्चाई और सेवाभाव पाया है । '

उसी रौ में मुशीजी ने तीन रोज बाद बनारसीदास चतुर्वेदी को लिखा —

' .. यह निर्मल ऐसा आदमी है जिसका कोई भी सिद्धान्त नही है । पाक्षिक जागरण जब बाबू शिवपूजनसहाय के हाथो में था, मुझमें और जागरण में कुछ विवाद उठ खडा हुआ था । प० नददुलारे वाजपेयी ने कुछ लिखा था, उसी को लेकर । निर्मल ने तब एक लेख जागरण को भेजा जिसमें मेरे साहित्य को बहुत बुरा-भला कहा गया था और मुझको सलाह दी गयी थी कि मैं अब और कुछ न लिखूँ क्योकि मैं वक्त की दौड में बहुत पिछड गया हूँ, पुराना पड गया हूँ, और मेरे दिन अब बीत गये है । शिवपूजनसहाय ने यह लेख नही छापा । कुछ समय बाद, जब जागरण मेरे हाथ में आया तो इसी निर्मल ने एक लेख लिखा जिसमें मेरी प्रशस्ति में जमीन-आसमान के कुलाबे मिलाये गये थे, और मैंने उस लेख को छाप दिया । '

किसान की सरलता है तो कही उसी किसान का घाघपन भी है ! निरे भोदू नही है मुशीजी !

'. इससे पता चलता है कि यह आदमी किस धात का बना है । उसने मुझ पर इलजाम लगाया है कि मैंने समूचे ब्राह्मण वर्ग की निन्दा की है, जब कि मैंने सिर्फ इन पुजारियो और महन्तो और धार्मिक शोहदो-उचक्कों के कुछ पाखडो का मजाक उडाया है । वह उनको ब्राह्मण कहता है और जरा भी नही सोचता कि उनके कारण अच्छे ब्राह्मणो का कितना अपमान होता है । ब्राह्मण का मेरा आदर्श सेवा और त्याग है, वह कोई भी हो । पाखण्ड और रूढियो की जडता और सरल

हिन्दूजनो की भोली आस्था का अनुचित लाभ उठाना ... इन पुजारियो और पडो को मैं हिन्दू समाज का अभिशाप समझता हूँ, वही हमारे पतन के कारण है। वह इसी योग्य है कि उनका मजाक उडाया जाय और यही मैंने किया है। यह निर्मल और उसी थैली के चट्टे-बट्टे दूसरे लोग बडे राष्ट्रवादी बने फिरते है मगर उनके भीतर पुजारी-पण्डा वर्ग की तमाम खराबियाँ भरी हुई है और वह मन ही मन हम लोगो को, जो हालात को सुधारना चाहते है, कोसते रहते है।'

ऐसे और इन्ही के भाई-बद दूसरे लोगो से, जो अलग-अलग शक्लो में, अलग-अलग नामो से देश को तबाह और बरबाद कर रहे है, लडने के लिए ही तो अपने हाथ में दो-एक पत्र चाहिए। वर्ना कैसे लगाये जायँ, हफ्ते के हफ्ते ये नश्तर ? ये रद्दे ये दुहत्तड ? कैसे छोडे जायँ ये जहर के बुझे तीर ? कैसे ली जायँ ये चुटकियाँ ?

अच्छे सतरी की तरह मुशीजी की निगाह हर तरफ है।

कचहरी से तो जैसे उनकी पुरानी अदावत है — और फिर यह अँधेरी (आनरेरी) कचहरी !

'... मुकदमा एक बार गया, बस समझ लीजिए चार-छ महीने के लिए छुट्टी हो गयी। . . रोज गवाहो की सवारी और जलपान का खर्च और वकील का मेहनताना चाहिए। . इस तरह तो शैतान भी नही घुलाता। .... एक साहब तो चार बजे तक ताश खेलते है। उधर नीम के पेड के नीचे मुकदमेवाले और उनके वकील पडे ऊँघा करते है। .... '

सीमान्तप्रदेश की बमबारी पर जो इन दिनो बडे धडल्ले से हो रही थी, झल्लाकर लिखा —

'पुलिस का काम है जनता के जान और माल की रक्षा करना। बमो से ज्यादा कौन यह रक्षा कर सकता है ! और फिर कोई झझट नही। न पुलिस को वहाँ जाना पडेगा और न कोई जोखिम उठाना पडेगा। चुपके से एक हवाई जहाज़ जाकर सारा काम समाप्त कर सकता है। हमारा खयाल है अगर सरकार पुलिस विभाग तोडकर हर-एक जिले में एक-एक दो-दो हवाई जहाज रख दे, जो बम बरसाकर जनता की रक्षा किया करे, तो उसे एक बहुधधी पुलिस विभाग रखने की जरूरत न रहेगी ! .. सारा सत्याग्रह का बखेडा और जलसे और मुकदमे शान्त हो जायँगे। जहाँ कोई जलसे देखो, चट दो-चार छोटे-छोटे बम गिरा दो। फिर जो एक भी विद्रोही जलसे में रह जाय तो हमारा जिम्मा। सब के सब इस तरह भर्र हो जायँगे जैसे बदूक की आवाज सुनते ही चिडियाँ भर्र हो जाती है ... '

'राहु के शिकार' शीर्षक से धार्मिक स्नान की महामारी पर चोट की —

'साल मे दो-चार बार सूर्य और चन्द्र पर राहु के हमले होते है, पर जिन पर हमले होते है, उनका तो बाल भी बाँका नही होता, हाँ सौ दो सौ आदमियो पर उनका क्रोध उतर आता है । ग्रहण स्नान और सोमवती स्नान और लाखो तरह के स्नानो की बला हिन्दोस्तान के सर से कभी टलेगी भी या नही ... लाखो आदमी अपनी गाढे पसीने की कमाई खर्च करके, धक्के खाकर, पशुओ की भाँति रेल में लादे जाकर, रेले में जानें गँवाकर, नदी में डूबकर स्नान करते है, केवल अंधविश्वास में पडकर । कितने बच्चे और स्त्रियाँ खो जाती है, कितनी गुण्डो के हथकण्डो का शिकार हो जाती है, कितनो के गहने नुच जाते है . '

अंडमान जेल के बारे में यह लतीफा सुनिए जहाँ इन दिनो राजनैतिक क़ैदी अपनी हालत सुधारने के लिए जान की बाजी लगाकर लड रहे थे —

'हमें सर हैरी हेग की जबानी यह सुनकर महान् सतोष हुआ कि अंडमान सेलुलर जेल भारत के जेलो से कही बढिया है ! उसकी इमारत तो इतनी भव्य है कि सर हेनरी के शब्दो में — वह बडे-बडे मर्चेण्ट प्रिंसो के रहने योग्य है ! शायद वहाँ कैदियो का स्वास्थ्य इसीलिए नष्ट हो जाता है कि उन गरीबो को उससे कही ज्यादा आराम से रक्खा जाता है जिसके वे आदी है ! . क्या अच्छा हो अगर सेलुलर जेल को अधिकारियो के लिए सेनेटोरियम बना दिया जाय . । इसी के लिए उन्हे योरोप की यात्रा करनी पडती है, यहाँ थोडे ही खर्च में वही बात हासिल हो जायगी ! '

दाम चढाये रखने के लिए पैदावार कम करने की पूँजीवादी अर्थनैतिक विड-बना पर मुशीजी ने हाशिया लगाया —

'योरोप के अर्थशास्त्रज्ञो ने एक बडा ही आसान नुस्खा ढूँढ निकाला है । बस, जिस चीजका दाम गिर जाय उस चीजकी पैदावार कम कर दो । . पूँजीपति को सस्ती काले साँप-सी नजर आती है । वह तो मँहगी चाहता है जिसमें थोडी-सी चीज देकर थैलियाँ भर ले । काश्तकार चाहता है और ईश्वर से मनाता है कि खेतो में इतना अनाज हो जाय कि वह दोनो हाथ लुटाये । मगर जिसने खलि-हान का सारा माल अपने बखारो और खत्तियो में भर रखा है, वह प्रात:काल पसे-रियाँ लुढकाता है कि भाव तेज़ हो । वह सदैव अकाल की कामना किया करता है । अब इस सस्ती में भी गरीबो को भोजन नही मिल रहा है । सस्ती का कारण यह नही है कि फसल अच्छी हो रही है, बल्कि किसी के पास खरीदने को पैसा नही है और लोग भूखो मर रहे है । . . ससार में जो यह तबाही आयी हुई है, इसका कारण योरोप के पूँजीपति है . अगर पैदावार के घटाने की यही सनक कुछ दिन और रही तो ये लोग ससार को निर्जन बनाकर छोड देंगे । यह साम्राज्यवाद

की विपत्ति जिससे ससार त्राहि-त्राहि कर रहा है, यह किसकी बुलायी हुई है ? इन्ही कुबेर के गुलामो की । यह जो चुगियो की प्रत्येक देश ने दीवारे खडी कर ली है, यह किसकी कृपा है ? इन्ही पूँजीपतियो की । यह जो बडी-बडी लडाइया होती है जिनमें खून की नदियाँ बह जाती है, इनका जिम्मेदार कौन है ? यही लक्ष्मी के उपासक । ससार इनके भोग का क्षेत्र है । सारी राज्य-व्यवस्था, यह बडी-बडी सेनाएँ, ये जगी बेडे, ये हवाई जहाजो के परे इन्ही व्यापारियो के फायदे के लिए तो है ! वे ससार के स्वामी है, पार्लिमेण्ट और सेनेट-सिण्डिकेट तो उनके खिलौने है ! .... '

लेकिन पूँजीवाद का चेहरा सब जगह एक ही है, काले-गोरे का अन्तर बेकार है —

' पहले जब किसान निपट मूर्ख था, उसके लिए गोरे और काले पूँजीपति में कोई अ्रंतर न था । साँप और नाग दोनो ही उसके लिए समान थे । मि० बुल और सेठ पुनपुनवाला दोनो ही को देखकर वह काँप उठता था । तब धीरे-धीरे उसने कुछ राजनैतिक ज्ञान सीखा, राष्ट्र और जाति जैसे शब्दो से उसका परिचय हुआ और भोले बालको की भाँति, जो हरेक वस्तु को मुँह में डाल लेते है, इस सरल व्यक्ति ने भी सेठ पुनपुनवाला के वैष्णव तिलक और हिन्दू धर्म के प्रति असीम श्रद्धा और उनके नाम को उजागर करने वाले धर्मशालो, मन्दिरो और पाठशालो को देखकर उनको अपना उद्धारक समझा लेकिन जब पुनपुनवाला की मिलो में उसकी ऊख की खरीद होने लगी, जब उनकी आढतो में उसका अनाज या सन तौला जाने लगा तब उसे अनुभव हुआ कि सेठजी बाहर से जितने बडे धर्मात्मा और देश-भक्त हैं, भीतर से उतने ही लुटेरे और बधुद्रोही भी है और धन और देशप्रेम का यह सारा आडम्बर उन्होने केवल अपना स्वार्थ सिद्ध करने के लिए ही रच रक्खा है । पहले उसे सहसा अपनी आँखो पर विश्वास न आया । नही, सेठ पुनपुनवाला जिनके नाम से ऐसी-ऐसी धर्म-सस्थाएँ चलती है, कभी इतने पाषाण-हृदय नही हो सकते । यह उनके मुख्तारो और मुनीमो का चक्र है । उसने सेठजी से अपना दर्देदिल कहने की अनुमति चाही, लेकिन बेकार । सेठजी के उसे दर्शन न हुए, उनके दरबानो ने उसे धक्के देकर निकाल दिया, यहाँ तक कि जब उसने रोना शुरू किया तो धर्मात्मा सेठ पुनपुनवाला खुद हटर लेकर दौडे । तब अभागा कृषक समझ गया कि इन सेठजी से उसने व्यर्थ ही ऐसी आशाएँ बाँधी थी । वही उसे दूसरा अनुभव यह हुआ और जिससे उसे और अधिक मर्मवेदना हुई, कि मि० बुल इन सेठ पुनपुनवाला से कही खरे, सच्चे और सज्जन हैं । उनके मिल में उसकी ऊख चटपट तुल जाती है, और तुरन्त दाम मिल जाते है ।'

निष्कर्ष ?

'.. यह आशा करना कि पूंजीपति किसानो की दीन दशा से लाभ उठाना छोड देगे, कुत्ते से चमडे की रखवाली करने की आशा करना है। इस खूँखार जानवर से अपनी रक्षा करने के लिए हमें स्वय सशस्त्र होना पडेगा।'

। गाधी-दर्शन से कम ही साम्य है इसका।

आँखो के आगे से रहे-सहे पर्दे भी गिरते जा रहे है। समष्टि का आदर्श जो अब तक केवल एक भावना थी, अब उसे बुद्धि का पक्का आधार मिल रहा है। 'राष्ट्रीयता और अन्तर्राष्ट्रीयता' के शीर्षक से मुशीजी ने लिखा —

● राष्ट्रीयता वर्तमान का कोढ है, उसी तरह जैसे मध्यकालीन युग का कोढ साम्प्रदायिकता थी। .. लेकिन प्रश्न यह है कि उससे मुक्ति कैसे हो ?

. अर्थ के प्रश्न को हल कर देना ही राष्ट्रीयता के किले को ध्वस कर सकता है।

वेदान्त ने एकात्मवाद का प्रचार करके एक दूसरे ही मार्ग से इस लक्ष्य पर पहुँचने की चेष्टा की। उसने समझा, समाज के मनोभाव को बदल देने से ही यह प्रश्न आप ही आप हल हो जायगा, लेकिन इसमें उसे सफलता नही मिली। उसने कारण का निश्चय किये बिना ही कार्य का निर्णय कर लिया, जिसका परिणाम असफलता के सिवा और क्या हो सकता था।... उसकी असफलता का मुख्य कारण यही था कि उसने अर्थ को नगण्य समझा। . .

जब तक सम्पत्ति मानव समाज के सगठन का आधार है, ससार में अन्तर्राष्ट्रीयता का प्रादुर्भाव नही हो सकता। राष्ट्रो-राष्ट्रो की, भाई-भाई की, स्त्री-पुरुष की लडाई का कारण यही सम्पत्ति है। ससार में जितना अन्याय और अनाचार है, जितना द्वेष और मालिन्य है, जितनी मूर्खता और अज्ञानता है, उसका मूल रहस्य यही विष की गाँठ है। जब तक सम्पत्ति पर व्यक्तिगत अधिकार रहेगा, तब तक मानव समाज का उद्धार नही हो सकता। मज़दूरो के काम का समय घटाइए, बेकारो को गुजारा दीजिए, जमीदारो और पूंजीपतियों के अधिकारो को घटाइए, मजदूरो और किसानो के स्वत्वो को बढाइए, सिक्के का मूल्य घटाइए, इस तरह के चाहे जितने सुधार आप करे, लेकिन यह जीर्ण दीवार इस तरह के टीपटाप से नही खडी रह सकती। इसे नये सिरे से गिराकर उठाना होगा। ...

ससार आदि काल से लक्ष्मी की पूजा करता चला आता है।... लेकिन ससार का जितना अकल्याण लक्ष्मी ने किया है, उतना शैतान ने नही किया। यह देवी नही डायन है।

सम्पत्ति ने मनुष्य को क्रीतदास बना लिया है। उसकी सारी मानसिक, आत्मिक और दैहिक शक्ति केवल सपत्ति के सचय में बीत जाती है। मरते दम भी हमें यही हसरत रहती है कि हाय इस सम्पत्ति का क्या हाल होगा। हम सम्पत्ति के लिए जीते है, उसी के लिए मरते है। हम विद्वान् बनते है सम्पत्ति के लिए,

गेरुए वस्त्र धारण करते है सम्पत्ति के लिए। घी में आलू मिलाकर हम क्यो बेचते है ? दूध में पानी क्यो मिलाते है ? भाँति-भाँति के वैज्ञानिक हिंसा-यत्र क्यो बनाते है ? वेश्याएँ क्यो बनती है, और डाके क्यो पडते है ? इसका एकमात्र कारण सम्पत्ति है। जब तक सम्पत्तिहीन समाज का सगठन न होगा, जब तक सम्पत्ति-व्यक्तिवाद का अत न होगा, ससार को शान्ति न मिलेगी।

(आज यह कैसा भूत मुशीजी पर सवार है !)

कुछ लोग समाज के इस आदर्श को वर्गवाद या 'क्लास वार' कहकर उसका अपने मन में भीषण रूप खडा कर लिया करते है। जिनके पास धन है, जो लक्ष्मी-पुत्र है, जो बडी-बडी कपनियो के मालिक है, वे इसे हौआ समझकर आँखे बन्द करके गला फाडकर चिल्ला पडते है। लेकिन शान्त मन से देखा जाय तो असपत्तिवाद के शरण में आकर उन्हें भी वह शान्ति और विश्राम प्राप्त होगा, जिसके लिए वे सतो और सन्यासियो की सेवा किया करते है, और फिर भी वह उनके हाथ नही आती। क्या वे अपने ही भाइयो से, अपनी ही स्त्री से सशक नही रहते ? क्या वे अपनी ही छाया से चौक नही पडते ? यह करोडो का ढेर उनके किस काम आता है ? वे कुभकर्ण का पेट लेकर भी उसे अन्दर नही भर सकते। ऐन्द्रिक भोग की भी सीमा है। इसके सिवा कि उनके अहकार को यह सतोष हो कि उनके पास एक करोड जमा है, और तो उन्हे कोई सुख नही है। क्या ऐसे समाज मे रहना उनके लिए असह्य होगा, जहाँ उनका कोई शत्रु न होगा, जहाँ उन्हे किसी के सामने नाक रगडने की जरूरत न होगी, जहाँ उन्हे छल-कपट के व्यवहार से मुक्ति होगी, जहाँ उनके कुटुम्बवाले उनके मरने की राह न देखते होगे, जहाँ वे विष के भय के बगैर भोजन कर सकेगे ? क्या यह अवस्था उनके लिए असह्य होगी ? बेशक उनके पास बडे-बडे महल और नौकर-चाकर और हाथी-घोडे न होगे, लेकिन यह चिन्ता, सदेह और सघर्ष भी तो न होगा। ●

सम्पत्तिहीन, श्रेणीहीन, समष्टिमूलक समाज के विरुद्ध कोई युक्ति, कोई तर्क सुनने के लिए मुशीजी तैयार नही है, सब झूठे तर्क है, सम्पत्ति को बनाये रखने के —

'कुछ लोगो को सन्देह होता है कि व्यक्तिगत स्वार्थ के बिना मनुष्य में प्रेरक शक्ति कहाँ से आये। फिर विद्या, कला और विज्ञान की उन्नति कैसे होगी ? क्या गोसाईं तुलसीदास ने रामायण इसलिए लिखा था कि उस पर उन्हे रायल्टी मिलेगी ? आज भी हम हजारो आदमियो को देखते है जो उपदेशक है, लेखक है, कवि है, शिक्षक है, केवल इसलिए कि इससे उन्हे मानसिक सतोष मिलता है। अभी हम व्यक्ति की परिस्थिति से अपने को अलग नही कर सकते, इसलिए ऐसी शकाएँ हमारे मन में उठती है। समष्टि कल्पना के उदय होते ही यह स्वार्थ चेतना स्वय सस्कृत हो जायगी।'

कही कोई दुविधा नही, झिझक नही है। विचारो की बडी लबी और टेढी-मेढी यात्रा करके मुशीजी इस जगह पहुँचे है, जो कि एक ठहरने का मुकाम है।

अब तो एक दूरबीन आँख उन्हे मिल गयी है, एक समग्र विराट् दृष्टि, एक पक्की कसौटी जिसमे कोई धोखा नही है। 'साम्प्रदायिकता और सस्कृति' के उलझे हुए, सघर्षपूर्ण प्रश्न पर विचार करते हुए उन्होने १५ जनवरी १९३४ के 'जागरण' में लिखा —

'साम्प्रदायिकता सदैव सस्कृति की दुहाई दिया करती है। उसे अपने असली रूप मे निकलते शायद लज्जा आती है, इसलिए वह उस गधे की भाँति जो सिह की खाल ओढकर जगल के जानवरो पर रोब जमाता फिरता था, सस्कृति का खोल चढाकर आती है। हिन्दू अपनी सस्कृति को कयामत तक सुरक्षित रखना चाहता है, मुसलमान अपनी सस्कृति को। दोनो ही अभी तक अपनी-अपनी सस्कृति को अछूती समझ रहे है, यह भूल गये है कि अब न कही मुसलिम सस्कृति है न कही हिन्दू सस्कृति, न कोई अन्य सस्कृति, अब ससार में केवल एक सस्कृति है, और वह है आर्थिक सस्कृति, मगर हम आज भी हिन्दू और मुसलिम सस्कृति का रोना रोये चले जाते है, हालाँकि सस्कृति का धर्म से कोई सबध नही। आर्य सस्कृति है, ईरानी सस्कृति है, अरब सस्कृति है लेकिन ईसाई सस्कृति और मुसलिम या हिन्दू सस्कृति नाम की कोई चीज़ नही है। . '

यही सब तो बाते है बगावत से भरी हुई जो बाहर आने के लिए तडप रही है और तडपती रहती है वर्ना क्या पडी थी किसी को कि यह सब आफत मोल लेता— हाँ मोल लेता, अपनी किताबो की आमदनी फूँककर, अपनी जिन्दगी का आराम-चैन गँवाकर। कभी मुशीजी इश्तहारो के लिए जैनेन्द्र को लिखते है कि बिडला से मिलो, मेरी खातिर मिलो और उनको बात समझाओ, कभी दयानरायन निगम को लिखते है कि कानपुर में फ्लेक्स और लाल इमली के इश्तहार हासिल कीजिए, कभी बनारसीदास चतुर्वेदी को लिखते है कि बगाल केमिकल बहुत इश्तहार करता है, क्या हमको भी उसका इश्तहार नही मिल सकता ? छटपटाते है, हर तरफ हाथ-पैर मारते है। सब इसलिए कि कुछ कहना है, जिसे कहना जरूरी है।

लेकिन है पूरी फाँसी। १८ अगस्त १९३३ के खत में चतुर्वेदी जी को उन्होंने लिखा था —

'बडे दु ख की बात है कि मेरा कोई पत्र अभी तक अपने पैरो पर नही खडा हुआ। हस तो मुझे बहुत मँहगा नही पड रहा है लेकिन जागरण असह्य हो रहा है। मेरी अकल चकरा रही है कि कैसे इस स्थिति से बाहर निकलूँ। मुझे हर महीने करीब २००) का घाटा हो रहा है। आखिर कब तक यह हालत चल सकती है ? एक बार उसको शुरू करने की गलती करने के बाद अब अहकार उसे बन्द करने की राह में आडे आता है। लोग मुँह ही मुँह में कैसे हँसेगे, खिल्ली उडायेंगे।'

मगर वाह रे हिम्मत, अभी कुछ ही महीने पहले तो उन्होने निगम साहब को लिखा था —

'हाँ, रोजाना जागरण लखनऊ से निकालने का इतजाम हो रहा है। ... हफ्तेवार के नुकसान ने रोजाना पर आमादा किया है।' खैरियत हुई कि वह बात आयी-गयी हो गयी। . लेकिन इन छ -सात महीनो में अकल शायद कुछ ठिकाने आ गयी है। पहली सितम्बर को उन्होने जैनेन्द्र को लिखा —

'आजकल इतनी मदी है कि समझ मे नही आता, काम कैसे चलेगा। मजदूरो को वेतन चुकाने में कठिनाई पड रही है।'

फिर इसी खत में आगे चलकर —

' समाचारपत्रो की आमदनी का दारोमदार विज्ञापनो पर है। मैंने बिडला से मिलने को कहा था। अपनी गरज से मत मिलो, मेरी गरज से मिलो, पत्र दिखाओ, उसकी चर्चा करो। उनके पास कई मिले है, एकाध पृष्ठ का विज्ञापन उनके लिए तो कुछ नही है लेकिन मेरे और तुम्हारे लिए वह पचास रुपये महीने का सहारा है। भाई, यह ससार चुपके से रामभरोसे बैठनेवालो के लिए नही है। यहाँ झेंपू और मेरे जैसे शर्मीले आदमियो का गुजारा नही। तुम अपने में यह ऐब न आने दो। है भी नही। मै तो कौडी दाम का नही हूँ। . .'

अगले महीने और भी हताश होकर लिखा —

' जो कुछ आमदनी होती है वह ऊपर-ऊपर उड जाती है। वेतन तक को पूरी नही पडती। कागज के कई सौ रुपये बाकी पडे है। . मैं अपनी खामियो को समझ रहा हूँ, अपनी गलतियो को देख रहा हूँ। पर यह आशा है कि शायद कुछ हो जाय। हिम्मत बाँधे हुए हूँ। इधर एक महाशय फिर एक लिमिटेड प्रकाशक सघ खोलने का विचार कर रहे है। मैं भी शरीक हो गया। कुछ लोगो ने हिस्से लेने का वचन भी दिया। मगर वह ऐसे गायब हुए कि कुछ पता ही नही कहाँ है। हस में दम नही है, पर फिर भी शहीदो में शामिल होना चाहता है। मैने सोच लिया हे, जनवरी तक और देखूँगा। अगर उस वक्त तक जागरण कुछ ढग पर न आया तो इसे बन्द कर दूँगा। . शायद मेरी कामनाएँ सब यो ही रह जायँगी। मुशकिल तो यह है कि व्यवसाय में जितना मै कच्चा हूँ, उतने ही तुम भी कच्चे हो। वर्ना क्या बात है कि ऋषभचरण तो सफल हो और हम लोग असफल रहे। उपन्यास लिखता था, वह भी बन्द है लेकिन अब ज्यादा प्रतीक्षा न करूँगा। जनवरी तक और देखता हूँ। तुम्हारी सलाह न मानी, वर्ना इतना घाटा क्यो उठाता। लेकिन कोई काम बन्द करते बदनामी होती है और वही लाज ढो रहा हूँ। ... मै तुमसे सच कहता हूँ, प्रेस और पत्रो पर मैं मरा जा रहा हूँ। कुछ लेखो से, कुछ रायल्टियो से, कुछ उर्दू पुस्तको से अपनी गुज़र कर रहा हूँ। लेकिन बहुत देख चुका, अब यह तमाम बन्द कर दूँगा।'

अगले महीने लिखा —

'जागरण का भार मेरे सिर से उतरा जा रहा है। यहाँ से बाबू सपूर्णानन्दजी उसे अर्द्ध-साप्ताहिक रूप में निकालने जा रहे है। आशा है दो-तीन दिन मे सब बात तय हो जायगी।'

काश ! मगर वह अभी नही होना था।

अगले महीने १६ दिसबर १६३३ को मुशीजी ने लिखा — 'जागरण साबिक दस्तूर चल रहा है। बाबू सम्पूर्णानन्दजी को शायद उनके मित्रो ने मदद नही दी। अब मैं उसको बन्द करने की फिक्र में हूँ।'

१२ जनवरी १६३४ को बनारसीदासजी को लिखा —

'मेरी आर्थिक दशा ठीक नही है। इस साल २०००) का घाटा रहा। इसने मेरी कमर तोड दी। मैं प्रेस और प्रकाशन और पत्र सभी कुछ लीडर प्रेस के हवाले कर देने के लिए बातचीत कर रहा हूँ। देखूँ कैसा क्या होता है।'

हालत बराबर सगीन होती जा रही है।

आखिर १४ फरवरी १६३४ को उन्होने जैनेन्द्र को लिखा —

'काशी श्रक निकला। चार सौ वी० पी० गये, १७५ वसूल हुए, २२५ वापस आये। बस, बधिया बैठ गयी। .. इस वापसी का नतीजा यह कि कागजवाले को १३००) में कुल ३००) दे सका। एक हजार पूरे उसके सर पर सवार है। जागरण के कागजवाले का भी १०००) से कुछ ऊपर ही चढा हुआ है। जो-जो बातें सोची थी, सब गायब हो गयी। ऐसी माली हालत में क्या कोई प्रोग्राम बाँधूँ क्या करूँ। तुम्हे मालूम होगा कुछ दिनो से लीडर प्रेस वालो से इस सारे सकट को मिटा देने का प्रस्ताव था। बीच में वह प्रस्ताव स्थगित कर दिया था। पर जब ऐसी परिस्थिति आ पडी है तो अब इसके सिवा कोई राह नही है कि किसी तरह इस झगडे से गला छुडाकर भाग निकलूँ। लीडर को एक प्रस्ताव लिख भेजा है। वे यहाँ १८ को आनेवाले है। आशा करता हूँ कि उस दिन यह मामला तय हो जायगा। पहले इरादा था कि हस उन्हे दे दूँगा और प्रेस चलाता रहूँ लेकिन सारी विपत्ति की जड तो यह प्रेस है। न जाने किस बुरी साइत में उसकी बुनियाद पडी थी। दस हजार रुपये और ग्यारह साल की मेहनत और परेशानियाँ अकारथ हो गयी। इसी प्रेस के पीछे कितने मित्रो से बुरा बना, कितनो से वादाखिलाफी की, कितना बहुमूल्य समय जो लिखने-पढने में कटता, बेकार प्रूफ देखने में कटा। मेरी ज़िन्दगी की यह सबसे बडी गलती है।'

गम की इस तमाम दास्तान में 'एक खुशखबरी यही है कि सेवासदन का फिल्म हो रहा है। उस पर मुझे साढे सात सौ मिले' साढे सात सौ ! वल्लाह, आपने तो लूट लिया बेचारे को ! ! '. लेकिन तगी में जब कोई रकम हाथ आ जाती है तो वे सारी जरूरतें जो मुँह दबाये पडी थी, यकायक चीख मारने

लगती है। किसी के पास कपडे नही है, किसी के पास जूते नही है, किसी की लडकी की शादी के लिए कुछ देना चाहिए। गरज वह रुपये दो-चार दिन में हवा हो जाते है '

महालक्ष्मी मिनेटोन ने यह शानदार (!) रकम देकर 'सेवासदन' लिया था, और चित्र का निर्देशन किया नानूभाई वकील ने, जो घटिया तरह के एण्टरटेनर्स बनाने के लिए मशहूर थे। उन्होने किताब के उर्दू नाम को ज्यादा पसद किया और उसी 'बाजारे हुस्न' के नाम से वही घटिया नाच-गानेवाली ठेठ बबइया तसवीर बनाकर रख दी। मुशीजी ने उसको देखा तो अपने लडके को तार की जबान में बस इतना लिख सके — Sevasadan released Saw Fair but not satisfactory (सेवासदन रिलीज हो गया। देखा। अच्छा ही है पर सन्तोषजनक नही।)

लेकिन यही सेवासदन, लगभग इन्ही दिनो, तमिल में बना तो बात ही और थी। के० सुब्रह्मण्यम ने उसका निर्देशन किया और बाद की विख्यात गायिका एम० शुभलक्ष्मी ने जीवन में पहली बार रगमच पर उतरकर सुमन की भूमिका ग्रहण की। नटेश ऐयर ने गजाधर पाण्डे के रूप में बडा कमाल किया। सुब्रह्मण्यम अभी जीवित है और तमिल फिल्म-जगत् के चोटी के लोगो में गिने जाते है। अगर सफलता की कसौटी पैसा है तो न वह आज सबसे सफल लोगो में है और न तब थे, लेकिन अगर सफलता की कसौटी कला के इस अत्यन्त सामाजिक माध्यम को वस्तु और शिल्प के नये शिखरो पर ले जाना, अभिव्यक्ति के नये रास्ते खोलना हो तो सुब्रह्मण्यम् तमिल फिल्म जगत् का एक ऐसा नाम है जो कभी भूला नही जा सकता। कथाकार के सामाजिक सदेश और कहानी की आत्मा की पूरी तरह रक्षा करते हुए सुब्रह्मण्यम् ने 'सेवासदन' बनाया जो कि रुचि-सम्पन्न लोगो के बीच बहुत पसन्द किया गया।

लीडरवालो से बातचीत चल रही थी — इसी आधार पर कि हस का और पुस्तको का मूल्य जोड लिया जाय और उतने हिस्से मुशीजी को लीडर कपनी में मिल जायँ। हस के लिए मुशीजी ने दो हजार माँगे थे "हालाँकि इस पर मैं ४०००) से ज्यादा भेंट कर चुका हूँ। पुस्तको का मामला साफ है। पुस्तको की असली लागत निकाल ली जाय। जागरण को चलाना मजूर हो तो उसे चलाया जाय। अच्छा सोशलिस्ट पत्र बना दिया जाय। रहा यह प्रेस, यहाँ रहे या कही और मुझे इसमें कोई एतराज नही। हाँ काम ऐसे हाथो में हो जो महज 'ड्रीमर्स' न हो, जैसा मैं हूँ और तुम (जैनेन्द्र) हो, बल्कि कुछ व्यावसायिक बुद्धि भी रखते हो। .."

लेकिन सौदा पटता नही दिखायी देता था और उधर काग्रेस सोशलिस्ट पार्टी के सम्पूर्णानन्दजी और नरेन्द्र देव जी से भी बातें चल रही थी। हालत रोज़-ब-रोज दूभर होती जा रही थी, मगर पर्चा जब तक निकल रहा है उसकी वही

आनबान है और मुशीजी हर हफ्ते कभी इस पर रद्दे कभी उस पर कोडे लगाते चले जा रहे है।

यह तो खैर मुशीजी की तबीयत है। जीवट उसका एक खास जुज है, जिसे रोने-भीखने से कुछ वास्ता नही। लेकिन इसमें शक नही कि हिन्दी पत्रो, क्या दैनिक, क्या साप्ताहिक, क्या मासिक, सभी का हाल खराब है। पढनेवालो में रुचि की दरिद्रता, पत्रो में सामग्री की। और कैसे न हो पत्रो में सामग्री की दरिद्रता, कितने साधनहीन है बेचारे। मुशीजी से ज्यादा कौन जानता है इस बात को, जिनके पास भरोसे का प्रूफरीडर भी नही है। ढेरो प्रूफ खुद ही पढना पडता है। अजब दुष्ट चक्र है। लोग, जो पत्र खरीद सकते है और खरीदना चाहते है, हिन्दी पत्र नही खरीदते क्योकि उनका स्तर बहुत सतोषजनक नही है, और स्तर सतोष-जनक हो नही सकता जब तक लोग उन्हे अपनायें नही। इसी झमेले में गरीबो की मिट्टी खराब हो रही है। उनकी जिन्दगी भी कोई जिन्दगी है — कुत्ताघसीटी!

तो भी कही पर तो इस दुष्ट चक्र को काटना ही होगा। पत्रो को सामग्री की दृष्टि से अधिक सम्पन्न बनाओ। उसके लिए सबसे पहले देशी-विदेशी भाषाओ से अच्छे अनुवाद कराने की व्यवस्था होनी चाहिए। उसके बिना, केवल मौलिक लेखो से, पेट नही भर सकता।

और योजनाशूर तो मुशीजी पुराने है, मई १९३३ में दिल्ली के 'अर्जुन' में उन्होने एक अनुवादक-मडल के सबंध मे अपनी विस्तृत योजना पेश की।

यह हो वह हो, ऐसे हो वैसे हो — सरपट दौड चला मुशीजी का दिमाग। इलाहाबाद में रामचन्द्र टण्डन को उसमें बहुत दिलचस्पी हुई और चिट्ठियाँ दौडने लगी। अभी तक तो केवल रेखाएँ थी अब रग भरा जाने लगा।

मुशीजी को एक सहृदय समानधर्मा मिला तो रही-सही कसर भी पूरी हो गयी, गो मुशीजी कहे जाते थे (टण्डन को पत्र : २३।५।३३) कि—'मैं तो एक हर-कारा मात्र हूँ और सदा ऐसे कामो में हाथ डालने की चेष्टा करता रहता हूँ जिनके लिए मैं नही बनाया गया। पत्रकार कला से मेरा स्वभावगत विरोध है पर परि-स्थितियों से विवश होने के कारण मै उसे स्वीकार करने को बाध्य हुआ हूँ। मेरी यह भावना कि मै किसी क्षेत्र में कोई स्थायी चिह्न अकित करने में असमर्थ हूँ, मुझे मूर्खतापूर्ण कामो के लिए उकसाती रहती है। . .'

तय पाया कि कार्यालय इलाहाबाद में होगा। रामचन्द्र टण्डन उसकी देख-भाल करेंगे। समिति में इन्द्र वाचस्पति, बनारसीदास चतुर्वेदी, डा० हेमचन्द्र जोशी, श्रीप्रकाश, श्रीकृष्णदत्त पालीवाल होंगे। आमदनी का तखमीना, खर्च का बजट, लेखो की विषय-सूची, पत्र-पत्रिकाओ के नाम, क्लर्क, चपरासी, अनुवादक, उनके काम, उनके वेतन आदि सब कुछ तय हो गया। आफिस के पोस्टेज खर्च तक,

छोटी से छोटी चीज भी एक-एक समझ ली गयी, टाँक ली गयी। अब बस काम शुरू करने की देर थी, लेकिन सवाल था कि म्याऊँ का ठौर कौन पकडे ? वक्त न मुशीजी के पास था न टण्डन जी के पास और न शायद जमाने को अब तक इस चीजकी जरूरतका एहसासही हुआ था, बसख़याली पुलाव पककर रह गया।

कुछ-कुछ ऐसी ही चीज लेखक-सघ की उनकी स्कीम भी थी जिसे मुशीजी ने लगभग इन्ही दिनो इलाहाबाद के अपने एक और दोस्त सत्यजीवन वर्मा के जरिये आगे बढाने की, शक्ल देने की कोशिश की। लेकिन उसका भी कुछ वैसा ही हश्र हुआ, क्योकि जहाँ कथा-कहानी के क्षेत्र में विचारो का बीज छिडक देना काफी होता है, वहाँ इस मैदान में बीज छिडकने भर से कुछ नही होता। यहाँ तो जो राह दिखाये वह आगे आये वाली बात है — और उसके लिए पहले तो मुशीजी के पास समय ही न था और समय मान लीजिए किसी जादू से हो भी जाता तो सगठन-क्षमता कहाँ से आती, उसमें तो मुशीजी कोरे से भी कोरे थे।

मगर खैर, वह जो भी हो, इस लेखक सघ की एक अलग दास्तान है और उसमे सबसे दिलचस्प बात यह है कि रामचन्द्र टण्डन ने ही उसका सबसे डटकर विरोध किया।

निश्चय ही किसी अभागे क्षण मे इस विचार की उद्भावना हुई थी, क्योकि जब यह विचार सम्यक् रूप से एक प्रस्ताव के रूप में हिन्दी ससार के सामने आया तो उसके रूप, विधान, कर्म-सूची आदि को लेकर ऐसा बवडर उठा कि लेखक-सघ उसमे हवा हो गया। बीज रूप में वह लेखक और प्रकाशक का झगडा था। रामचन्द्रटण्डनने, जो इससघको लेखको के ट्रेडयूनियनके रूप में ही देखते थे, डटकर उसकी गोलमोलकल्पना का विरोध किया और अकेले ही लेखक-सघ के सयोजक और श्री रामनरेश त्रिपाठी और श्री किशोरीदास बाजपेयी आदि से मोर्चा लेते हुए लेखक-सघ को करीब-करीब दफना दिया। खुद मुशीजी भी, बावजूद एक भुक्तभोगी लेखक होने के, लेखक-सघ को लेखको के ट्रेड यूनियन के रूप में, जिसका अकेला काम प्रकाशको से टक्कर लेना हो, न देख पाते थे।

दिसबर सन् ३४ के 'हस' में लेखक-सघ पर टिप्पणी देते हुए मुशीजी ने लिखा था —

'...सघ लेखको के स्वत्व की रक्षा करेगा, लेकिन कैसे ? कुछ सज्जनों का विचार है कि लेखक सघ उसी तरह लेखको के हितो और अधिकारो की रक्षा करे जैसे अन्य मजूर-सघ अपने सदस्यों की रक्षा करते है, क्योकि लेखक भी मजूर ही हैं, यद्यपि वह हथौडे और बसूले से काम न करके कलम से काम करते है। और लेखक मजूर है तो प्रकाशक पूँजीपति हुए। इस तरह यह सघ लेखको को प्रकाशको की लूट से बचाये, और यही उसका मुख्य काम हो। कुछ अन्य सज्जनो

का मत है कि लेखक-सघ को पूंजी खडी करके एक विशाल सहकारी प्रकाशन-सस्था बनाना चाहिए, जिससे वह लेखक को उसकी मजदूरी की ज्यादा उजरत दे सके ...'

प्रश्न पर अपनी राय देते हुए मुशीजी ने लिखा — 'मौजूदा हालत ऐसी नही है कि प्रकाशको को लेखको के साथ ज्यादा न्यायसगत व्यवहार करने पर मजबूर किया जा सके। . इस समय एक भी ऐसा साहित्यग्रन्थ-प्रकाशक नही है जो नफे से काम कर रहा हो। जो प्रकाशक धर्मग्रन्थो या पाठ्य पुस्तको का व्यापार करते है, उनकी दशा इतनी बुरी नही है, कुछ तो ख़ासा लाभ उठा रहे है, लेकिन जो लोग मुख्यकर साहित्य ग्रन्थ ही निकाल रहे है, वे प्राय बडी मुश्किल से अपनी लागत निकाल पाते है। कारण है साधारण जनता की साहित्यिक अरुचि। जब प्रकाशक को यही विश्वास नही कि किसी पुस्तक के कागज और छपाई की लागत भी निकलेगी या नही, तो वह लेखको को पुरस्कार या रायल्टी कहाँ से दे सकता है? साहित्यिक रचनाओ का प्रकाशन प्राय बन्द-सा है पहले ऐसी परिस्थिति तो पैदा हो कि प्रकाशक को प्रकाशन से नफे की आशा हो ..'

हिन्दी प्रकाशन-व्यवसाय की घोर अविकसित स्थिति को देखते हुए मुशीजी की बात कुछ ऐसी भयानक न थी, काफी पते की थी, व्यावहारिक, दूरदर्शी, लेकिन टण्डन जी को अपने सैद्धान्तिक उत्साहवश उसमें कुछ दूसरी ही गध मिली और उन्होने ३१ दिसबर के अपने पत्र में काफी क्षुब्ध होकर लिखा —

'... अभी-अभी पत्र में इस विषय को लेकर पडित रामनरेश त्रिपाठी के साथ मेरा विवाद समाप्त हुआ है और मै फिर एक नये विवाद में, और सो भी आपके साथ, नही पडना चाहता। लेकिन मै आपके विचारो से अपनी पूर्ण असहमति व्यक्त करने के लिए आपकी अनुज्ञा चाहता हूँ। दुर्भाग्यवश ऐसा लगता है कि वे लेखक, जो प्रकाशक भी बन गये है, अपने पुराने सहधर्मियो के प्रति सहानुभूति की क्षमता खो बैठे है। आपकी भावधारा ठेठ प्रकाशको की भावधारा है।... प्रकाशक व्यापार की मदी का शोर क्यो मचाते है? खर्च की दूसरी मदो का भुगतान तो वह बडे मजे में करते है और जैसे ही लेखक को पैसा देने की बात आयी, बस वही बात, देखो, व्यापार कैसा मन्दा जा रहा है! मैं पूछता हूँ, क्या यह ईमानदारी की बात है? क्या आप नही मानते कि प्रकाशको में बडे-बडे मगरमच्छ पडे हुए है? .. मैं आपसे मदद पाने की आस लगाये हूँ, यह नही कि आप प्रकाशक के वकील बनकर सामने आयें। ..'

इसी सूत न कपास कोरियो में लट्ठमलट्ठा के पीछे वह चीज ठण्डी हो गयी — हाँ, उसका मुखपत्र 'लेखक' कुछ दिनो तक जैसे-तैसे चलता रहा।

३३

१५ जनवरी १९३४ को, सवा दो बजे दिन ऐसा जबर्दस्त भूचाल आया जैसा इस देश में इधर सदियो से नही आया था, जो 'नेपाल की तराई से उठकर बिहार का विध्वस करता, सयुक्त प्रान्त की जडे हिलाता, दक्षिण को ठोकर मारता, मद्रास के पेट में सिहरन डालता बगाल की खाडी में विलीन हो गया। . '

प्रकृति के इस ताण्डव को अधविश्वासी दैवी कोप कहते है और वैसा ही उसका उपचार करते है। मुशीजी को बेहद झुँझलाहट मालूम होती है इस चीज से —

'होम से और बकरे से भूकम्पवाला देवता प्रसन्न नही होता। इन रिश्वतो से तो हमारी छोटी-छोटी देवी-भवानी और देवतागण ही प्रसन्न होते है . साधु कहता है लोग साधु-सेवा भूल रहे थे इसीलिए दैवी कोप आया। वर्णाश्रम सघ शायद यह कहता हो कि मदिरो को हरिजनो के लिए खुलवाने से कोप आया। पडे भी फरमाते हो, देवताओ में लोगो की श्रद्धा कम हो गयी, इसलिए देवता कुपित हो गये। इसी तरह दफ्तरो के अमले कहते होगे, लोग अब दिल खोलकर उनकी पूजा नही करते, देते भी है तो बहुत रोकर, इसलिए कोप आया। यह सब स्वार्थियो की युक्तियाँ है। न दैवी कोप है न शेषनाग की करवट। यह एक प्राकृतिक विस्फोट है जो वैज्ञानिक कारणो से आया करता है। . '

लेकिन जो लोग ऐसा नही समझते और भूकम्प के पीछे ईश्वर की लीला देखते है और देश भर में यज्ञ और हवन की धूम मचाये है, उनकी खिल्ली उडाते हुए मुशीजी ने दो तीन हफ्ते बाद फिर लिखा —

'... देवता और ईश्वर तो एक प्रकार से नातेदार हैं। कोई ईश्वर का भाई है, कोई साला, कोई बहनोई। नातेदार की रक्षा तो सभी करते है। . भूकम्प तो आया था उन लोगो को दण्ड देने के लिए, जो महात्मा गाधी के मत से अछूतो पर अन्याय करते है, पोगापथियो के मत से, अछूतो के लिए मदिर खुलवाते है, अहलकारो के मत से, जो रिश्वत नही देते, मुल्लाओ के मत से, जो दाढी नही रखते। मगर ऐसा मालूम होता है कि देवताओ में भी दो दल हो गये है, क्योकि जहाँ नेपाल के देवमदिरो में एक को भी आँच नही आयी, वहाँ बिहार में कितने

ही देवालय लोप हो गये और मसजिदो का निशान मिट गया हमें तो यह देखकर दुख होता है कि अच्छे-खासे समझदार लोग इस तरह की बाते करते है। ससार में आदिकाल से भय का राज्य रहा है, समाज में भी, धर्म में भी। चोरी मत करो नही राजा दण्ड देगा। पाप मत करो नही ईश्वर दण्ड देगा। इस प्रकार ईश्वर की कल्पना भी एक बहुत बडे, तेजस्वी और भयकर राजा की थी। यह कभी नही कहा गया कि चोरी मत करो, इससे तुम्हारे भाई को कष्ट होगा, या पाप मत करो, इससे तुम्हारे समाज को कष्ट होगा।'

उन्ही दिनो की बात है, सर मालकम हेली बनारस आये। जमीदारो का एक डेपुटेशन झट उनकी ख़िदमत में जा पहुँचा। इससे झुँझलाकर मुशीजी ने अपने ख़ास अदाज में बडे बाँकपन के साथ उन पर फबती कसी —

● बेचारे जमीदारो की दशा उस रखेल स्त्री की-सी हो रही है जिसके यौवन की बहार अब चल-चलाव पर हो। एक समय था जब उसका आशिक उस पर प्राण न्योछावर करता था, उसकी एक-एक अदा पर जान क़ुर्बान करता था, एक-एक नख़रे पर लोट-पोट हो जाता था, एक-एक चितवन पर कलेजा थाम लेता था, लेकिन यौवन के उतार के साथ वह दिन और वह राते सपना हो गयो। अब बेचारी तरह-तरह के रग भरती है, आठों पहर मिस्सी-सुरमे के पीछे पडी रहती है, बसीकरन के जतर-मतर करती रहती है, लेकिन भौरा प्रेमी अब भागा-भागा फिरता है। न वह पराग रह गया, न वह रस, फिर नीरस फूल उसके किस काम का। अब तो यह जीवन है और पट्टी पर सिर रखकर रोना है। ...

यह बेचारियाँ उन पुराने दिनो की याद दिलाती है, अपनी वफादारी और निष्ठा और अनुराग की कथाएँ कहती है, लेकिन वह पट्ठा एक ही जवाब देता है — वैराग्य धारण करो। और यह विलास की उपासिकाएँ रोष और शोक में सिर धुनती हैं, छाती पीटती है, मगर वह कठकलेजिया, वह पाषाणहृदय नही पसीजता, नही पसीजता! धर्म का या प्रेम का बधन होता तो पुरानी गाँठ की भाँति दिन-दिन अभेद्य होता जाता .. लेकिन यहाँ तो सब कुछ रूप और यौवन का खेल था। पत्थर पर की दूब कै दिन टिकती। मगर उन्ही रमणियो की भाँति हमारे जमीदारान भी बराबर समय की गति को फेरने और बीते हुए दिनो को बुलाने की विफल कामना करते चले जाते है। जभी मौका मिला चटपट एक सघ, सभा, असोसिएशन बना लिया जाता है और लोग बडी-बडी पगडियाँ बाँध और नीची अचकनें पहन और कमर में वफादारी का पटका कस और गर्दनो में स्वामिभक्ति के तौक डालकर गवर्नरो की बारगाह में हाज़िर हो जाते है और अपनी लायल्टी और भक्ति के पचडे शुरू कर देते है। इन अक्ल के पुतलो को अब भी नही सूझता कि राजनीति की दुनिया में कल का शत्रु आज का मित्र

हो जाता है और कल का मित्र दूध की मक्खी की भाँति निकालकर फेक दिया जाता है। सरकार ज़मीदारो की पीठ तब ठोकती थी जब वह समझती थी कि ये प्रजा के स्वाभाविक नेता है, प्रजा पर इनकी धाक है, ये असतुष्ट होकर आग लगा सकते हैं और हमारी खेती को जला सकते हैं •

अब ऐसा कोई डर नही है क्योकि उनका भरपूर नैतिक पतन हो चुका है, ताहम 'वह पुराना आशिक अब भी प्रीति की रीति निभाये जाता है। अब उससे यह आशा तो नही की जा सकती कि वह खिचडी केशो को नागिन समझे और झरोखेदार बत्तीसियो की चमक से चौंधिया जाय और झुकी हुई कमर पर फिदा हो जाय। नही, यह वीभत्स लीला अब वह नही कर सकता। हाँ ऊपरी दिल से चिकनी मीठी बातें कर सकता है, अपने सुगध भरे रूमाल से उसके आँसू पोछ सकता है। और उसके नान-नफके का प्रबध कर सकता है। मखमली गद्दे न सही, फिर भी आगरे की दरी देने को तैयार है, लेकिन वह अज्ञान गतयौवना अभी तक वही हठ किये जाती है, मै तो जडाऊ गहने लूँगी और पानदान का खर्च लूँगी और लौंडियाँ लूँगी। मिल चुकी! यह ठस्से यौवन के साथ चले गये। अब तो उसी रोटी-कपडे पर दिन काटने पडेगे, हँस-हँसकर काटो या रो-रोकर ..'

अगले महीने आगरे मे जमीदारों का सम्मेलन हुआ तो अपने लिए सरक्षणो और रियायतो की उनकी हाँक सुनकर मुशीजी ने फिर बिफरकर लिखा —

' तुम जनता का क्या उपकार करते हो? तुम्हारी जात से समाज का क्या भला होता? तुममें से जो सम्पन्न है वे मजे से लखनऊ या इलाहाबाद में बँगलो में ऐश करते है, और जो इतने भाग्यवान नही है वे देहातो में ही मूसलचद बने घूमते है, जैसे गीदड मुर्दा जानवरो की खोज में रात को निकलते है। उनका उद्यम इसके सिवा और कुछ नही है कि किसी असामी को किसी बहाने फँसाकर, उसकी जमा-जथा डकार जायँ। कही दो असामियो में लडाई हो जाय, जमीदार साहब की चाँदी हो गयी। दोनो ही से कुछ न कुछ डाँड वसूल करेगे और चैन की बसी बजायेगे। या दाल गलती न देखी तो पुलिस की दलाली करने लगे और लूट में शरीक हो गये। ऐसी मुफ्तखोर, निकम्मी, लुटेरी, आरामतलब सस्था बहुत दिन जीवित नही रह सकती, चाहे वह अष्टधात के किले ही में क्यो न अपने को बद कर ले .'

किसानों की बदहाली के लिए उनकी निरक्षरता की दुहाई देनेवालो की बखिया उधेडते हुए मुशीजी ने लिखा —

'... किसान इसलिए तबाह नही है कि वह साक्षर नही है, बल्कि इसलिए कि उसे जिन दशाओ में जीवन का निर्वाह करना पडता है, उनमें बडा से बडा विद्वान भी सफल नही हो सकता। उनमें सबसे बडी कमी संगठन की है जिसके कारण जमीदार, साहूकार, अहलकार, सभी उस पर आतक जमाते है। लेकिन

अगर कोई उनमें सगठन करना चाहे, जिसमें वे इन भेडियो के नख और पजे से बचें, तो उस पर तुरन्त राजद्रोह का और हिज मैजेस्टी की प्रजा में विद्वेष पैदा करने का इलजाम लग जायगा और उसे जेल की हवा खानी पडेगी। किसान लाख साक्षर हो जाय, जब तक वह सगठित नही होता, जब तक उसे अपने अधिकारो का ज्ञान नही होता, जब तक वह इन समुदायो का मुकाबिला नही कर सकता, उसका जीवन कभी सुखी न होगा। उसके पास चार पैसे देखकर जमीदार और अहलकार सभी की राल टपकने लगती है और एक-न-एक खुचड निकालकर उसकी कमर खाली कर दी जाती है...'

सोवियत रूस मुशीजी के लिए एक बडा सामाजिक प्रयोग है। उसकी हिमायत में वह बराबर मुस्तैद रहते है—

'रूस को बदनाम करनेवाले अग्रेजी अखबारो में बराबर यही लिखा जाता है कि रूस में विवाह-प्रथा प्राय उठ-सी गयी है, पारिवारिक सगठन नष्ट हो गया है, स्त्री-पुरुष स्वेच्छा से सहवास करते रहते है लेकिन इधर दो-एक भारतीय सज्जनों ने वहाँ का जो आँखो देखा वृत्तान्त लिखा है, उससे तो मालूम होता है कि रूस ने और किसी विभाग में चाहे प्रगति की हो या नही, लेकिन नैतिक दृष्टि से तो वह पच्छिम की अन्य सभी उन्नत जातियो से आगे निकल गया है। वहाँ बाजारो में वेश्याएँ अपने शिकार की तलाश में चक्कर लगाती नही नजर आती, न होटलो और कहवाखानो में औरतो के नगे चित्र ही लटकते नजर आते है, जैसा यूरोप-अमेरिका के प्राय सभी देशो में देखा जाता है। यही नही सुजाक और उपदश आदि बीमारियाँ जो यूरोप में दिन-दिन बढ रही है, रूस में बहुत कम हो गयी हैं और वहाँ के डाक्टरो को आशा है कि कुछ दिनो में यह फिरगी बीमारियाँ नेस्तनाबूद हो जायँगी। वेश्यावृत्ति का मूल कारण आर्थिक सकट है जो बाद को मानसिक दुर्बलता का रूप धारण कर लेता है।'

मुशीजी एक सतरी है जिसका काम चोरो-डकैतों-शोबदेबाजो से न्याय और सत्य की रक्षा करना है। समाज में हर क्षण कुछ न कुछ हो रहा है, किसी न किसी रूप में यह न्याय और अन्याय की, सत्य और असत्य की लडाई चल रही है, और उन सब में मुशीजी का अपना एक पक्ष है। मुशीजी किसी दल या सप्रदाय के नातेदार नही हैं, लेकिन जिसके नातेदार है उससे कडा नियत्रण किसी दूसरे का नही होता — उनका अपना अतःकरण।

और अब तो यह परचा बन्द होने जा रहा है, लिहाजा मुशीजी चलते-चलाते और भी जोर-शोर से कुछ गोलियाँ दागते हैं। लगातार तीन हफ्ते तक उन्होने 'हिन्दू समाज के वीभत्स दृश्य' दिखलाये। पहला दृश्य लाश की दुर्गति का है, जो

कि रोज़ ही उन्हे देखने को मिलता था —

● ऐसा जान पडता है कि किसी हिन्दू के मरते ही उसके सगे-सबधियो को उससे लेशमात्र भी ममता नही रह जाती, चटपट बाँस का ठाठ बना, शव को रस्सी से कसकर बाँध लोग किसी नदी या मरघट की ओर भाग चलते है। अगर किसी अमीर की लाश है तो उस पर रेशमी या शाल का कफन है, गरीब की है तो मामूली नैनसुख का, और अनाथ है तो चिथडे ही उसके कफन के लिए काफी है, मगर बाँस का ठाठ और रस्सियो का बन्धन अवश्य रहना चाहिए। और लाश को लेकर लोग कितनी तेजकदमी दिखाते है कि उसके झोके में लाश गरदन हिलाती, हाथ मटकाती और पाँव उछालती चलती है .

और रास्ते में 'राम नाम सत्य है' का वह शोर मचता है कि कुछ न पूछिए। अगर रात का समय हुआ तो सारे मुहल्ले की नीद खुल जाती है। क्या यह शोर इसलिए मचाया जाता है कि जनता को जीवन की क्षणभगुरता की याद दिला दी जाय — यह आदमी मर गया, इसी तरह एक दिन तुम भी और तुम्हारे अपने भी राम नाम सत्य हो जायँगे! मृत्यु एक ऐसा कठोर सत्य है जिसको बार-बार याद दिलाने की जरूरत नही। सब जानते है हम एक दिन मरेंगे। ... इस शोर-गुल से हमारी धार्मिकता का नही, हमारी हृदयशून्यता का बोध होता है। यह समय इतना गम्भीर और यह लीला इतनी मर्मस्पर्शी होती है कि चित्त को कम से कम कुछ देर के लिए अन्तर्मुखी हो जाना चाहिए। ईसाइयो और मुसलमानो को देखिए। उनकी अन्त्येष्टि-क्रिया कितनी शान्त, गम्भीर, कोमल और सौजन्यपूर्ण होती है। बाँस की टिकठी की जगह या तो लकडी का ताबूत होता है या पलग। शव उस पर बहुत धीरे से लिटा दिया जाता है और ताबूत ले जाने वाले सिर झुकाये बहुत ही आहिस्ता-आहिस्ता कब्रिस्तान की तरफ जाते है। मातम करनेवाले भी उसी शाति से जनाजे के पीछे चलते है। . . उसके विपरीत हिन्दू शव की कितनी छीछालेदर

श्मशान का दृश्य तो और भी घृणोत्पादक होता है। वह लकडी की चिता, शव का उस पर लिटाया जाना, वह आग का लगना, वह चिराँध, वह नग-धडग लोगो का डडे लिये चिता की लकडियो को उकसाना और शव को उलटना-पलटना, वह कपालक्रिया, वह आँतो का फूटकर बाहर निकलना

जिस माता के स्तन से हम पले, जिन अगो के स्पर्श से हमने अपार सुख का अनुभव किया, जिस बालक को हमने गोद मे खिलाया और जिन मित्रो के गले लिपटकर हमने सुख के दिन काटे, उन्ही को यो जलते, चिटकते, फटते देखना हृदय को कोमल भावनाओ से शून्य कर देता है, और शायद यही कारण है कि जीवन में हमारी चाहे जितनी दुर्दशा हो, कितना ही अपमान सहना पडे, हम सब कुछ 'शीरे मादर' (माँ के दूध — अ०) की तरह पी जाते है। ●

अगले हफ्ते साधू-महात्मा लोगो की खबर ली गयी—

● हिन्दू समाज में पूजने के लिए केवल एक लँगोटी बाँध लेने और देह में राख मल लेने की जरूरत है, अगर गाँजा और चरस उडाने का अभ्यास हो जाय तो और भी उत्तम। यह स्वाँग भर लेने के बाद फिर बाबाजी देवता बन जाते है। मूर्ख है, धूर्त है, नीच है, पर इससे कोई प्रयोजन नही, वह बाबा है। बाबा ने ससार को त्याग दिया, माया पर लात मार दी, और क्या चाहिए। अव वह ज्ञान के भण्डार है, पहुँचे हुए फकीर, हम उनकी पागलपन की बातो मे मनमानी बारीकियाँ ढूँढते है, उनको सिद्धियो का आगार समझते है। फिर क्या है, बाबाजी के पास मुराद माँगनेवालो की भीड जमा होने लगती है। सेठ-साहूकार, अमले-फैले, बडे-बडे घरो की देवियाँ उनके दर्शनो को आने लगती है

. ये लोग रूप भरना खूब जानते है, बाबाओ की पेटेण्ट शैली मे बातचीत करने का और नये-नये हथकण्डे खेलने का इन्हे खूब अभ्यास होता है। एक सिद्ध बन जाता है, कई उसके चेले बन जाते हैं, और किसी उजाड स्थान पर डेरा डाल देते है .. किसी तरह यह अफवाह उडा दी जाती है कि बाबाजी फौहारी है, केवल एक बार तोला भर दूध पी लेते है। एक दिन दो दिन यह मण्डली निष्काम भाव से ऊजड में घात लगाये पडी रहती है। बस भक्तो का आना शुरू हो जाता है। बाबाजी ससार मिथ्या है का उपदेश देने लगते है, उधर घी-शक्कर और आटे की झडी लग जाती है, लकडियो के कुन्दे गिरने लगते है . और मर्द भक्तो से कही अधिक सख्या स्त्री भक्तो की होती है। कोई लडके की मुराद लेकर आती है, कोई अपने पति को किसी सौतिन के रूप-फाँस से छुडाने के लिए। जिन लफगो को दो आने रोज मजूरी भी न लगती, वे ही हिन्दुओ के इस अधविश्वास के कारण खूब तर मल उडाते है, खूब नशा पीते है और खूब मौज उडाते है जिस समाज पर इतने मुफ्तखोरो का भार लदा हुआ है, वह कैसे पनप सकता है, कैसे जाग सकता है। ये लोग बराबर यही प्रयत्न करते रहते है, कि समाज अध-विश्वास के गर्त में मूर्छित पडा रहे, चेतने न पावे। हमें खूब चकाचक माल खिलाओ, स्वर्ग में तुम्हे इससे भी बढिया माल मिलेगा, इस हाथ दो उस हाथ लो . . ●

और फिर, उसके अगले हफ्ते, मन्दिरो का नम्बर आया जिनके भीतर चलनेवाले छल-कपट और व्यभिचार की कहानी से ही मुशीजी के साहित्य का मगलाचरण हुआ था।

इन्ही दिनो की बात है, अप्रैल १९३४ में मुशीजी दिल्ली पहुँचे। हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन का अधिवेशन था। मुशीजी को सम्मेलन के जलसों में कभी कोई दिलचस्पी नही रही। लेकिन इस बार जैनेन्द्र के आग्रह से पकड़ ही गये,

और जब गये ही तो फिर साहित्य परिषद् मे भी बोले गल्प सम्मेलन में भी, और घर लौटकर 'जागरण' में लिखा —

'उत्थान-पतन की राजधानी दिल्ली नगर का बहुज्ञापित सम्मेलन, प्रति वर्ष के समान सानन्द समाप्त हो गया। निराकार परमात्मा जब साकार होते हैं तब शायद ससार के ईश्वरार्थियो को ऐसी ही निराशा हुआ करती है। . सम्मेलन के लिए हिन्दी ससार के हृदय में पहले ही से बहुतेरी धारणाएँ थी, जो यो तो हास्यास्पद मालूम होती थी, परन्तु आज जब पाटोदी हाउस प्रतिनिधियो की हाहा-हीही से शून्य और धीरे-धीरे रिक्त हो रहा है, तब बिखेरी जाती प्रदर्शिनी की पुस्तको से उनकी वे आशकाएँ बोलती-सी प्रतीत हो रही है। जो कुछ भी हो, सम्मेलन हो गया, बहुतेरे प्रस्ताव स्वीकृत कर लिये गये, परिषदें हो गयी — यानी बिल्ले चमक गये। सम्मेलन ने चार दिन तक गैस जलाकर, फूल बरसाकर और मगलगान गा-गाकर हमे यह सुझाने की चेष्टा की कि शीघ्र हिन्दी उन्नति कर ले '

और फिर हर रोज की कार्रवाई पर अपनी नन्ही-नन्ही फुलझडियाँ छोडी — 'थके हुए प्रतिनिधियो और गण्यमान्य गणो के साथ सूचनानुसार जुलूस निकला भोजनोत्तर विषय-निर्वाचिनी की बैठक हुई। इस बैठक में वह जोश दिखता था जो भोजनोपरान्त किसी प्रस्ताव को बनाने में प्रकट होता है '

मुख्य सम्मेलन की कार्रवाई पर लिखा —

'कैसे सम्भव है कि केसरिये रग से रँगी हुई साडियाँ पहने हुए बालिकाओ का मगलगान उन स्वयसेवको को न मोह सका हो जो पास देखने में उतना ही उत्साह दिखा रहे थे जितना उत्साह एक सार्जण्ट वारण्ट दिखाने में प्रकट करता है। पण्डाल में लगी हुइ विगत सभापतियो की तसवीरे, मोटे-मोटे अक्षरो में लिखे हुए आदर्श-वाक्य और प्रतिनिधियो, विशिष्ट व्यक्तियो के कुर्तों, कोटो पर लगे हुए लाल-आसमानी फूल सब कोई मानों मुग्ध-सा हो उठे।

लेकिन मुशीजी न प्रतिनिधि थे, न विशिष्ट व्यक्ति और न उनके कुर्ते पर कोई लाल या आसमानी फूल ही टँका था। फिर भला कैसे कोई उन्हे पहचानता या उनके प्रति कुछ खास रुचि या उत्साह दिखलाता। लिहाजा जैनेन्द्र के शब्दो में, 'वह आ गये और जैसे ठहरा दिया गया ठहर गये। यानी पचासेक खाटो की लम्बी कतार के बीच एक खाट उन्हे भी मयस्सर हुई! खासा रिफ्यूजी अस्पताल का-सा दृश्य था। अब रह रहे है तो रह रहे है। कौन किसकी शक्ल को याद रखता है। आखिर नहाये-धोये और जहाँ मालूम हुआ कि खाने-पीने का इन्तज़ाम है उधर बढकर गये तो वालटियर ने कहा — टिकट ? पर प्रेमचन्द के पास टिकट न था। उन्होंने पूछा — कहाँ से मिलता है भई टिकट ?

— पैसे से लेना हो तो उस खिडकी से मिलता है, वैसे दफ्तर से।'

प्रेमचद खिडकी से टिकट ले आये और क्यू में खड़े हो गये।

मुशीजी किसी काम से इलाहाबाद आये। महादेवीजी से मिलने पहुँचे, महिला विद्यापीठ से लगी हुई उनकी बँगलिया में, १ नम्बर एलगिन रोड।

महादेवी अन्दर थी। बाहर भगतिन मिली, महादेवी की परिचारिका। प्रेमचन्द ने पूछा — महादेवीजी है ?

भगतिन ने लम्बी-लम्बी मूँछोवाले, मटमैली-सी धोती-कुर्ता पहने इस व्यक्ति को यों ही सा कोई उफरफट्टू आदमी समझकर शायद नाक कुछ ऊँची करके जवाब दिया — काम कर रही है।

मुशीजी ने आकर्ण मुस्कराते हुए पूछा — तुम तो खाली हो ? आओ, घडी-दो-घडी कुछ बोलें-बतियाये ....

प्रगल्भ भगतिन के लिए इससे अच्छा न्योता और क्या हो सकता था।

करीब घण्टे भर बाद महादेवीजी बाहर निकली तो क्या देखती है कि घर के बिलकुल बाहर, नीम के पेड के नीचे बेंच पर मुशीजी भगतिन, माली और घर के और भी दो-एक नौकरो को लिये चौपाल जमाये बैठे है और घुल-घुलकर बाते कर रहे है ...

लिहाजा मुशीजी को इसका गिला नही है कि उन्हे अस्पताल के एक मरीज की तरह एक लम्बे-चौडे हाल में तमाम ऐरे-गैरो के साथ ठहरा दिया गया और न इसका कि वालटियरो ने उन्हे पहचाना नही। वैसे तो और भी कितने ही मौके आये, पहले भी और बाद को भी।

जनार्दन राय नागर, जो मुशीजी को मुँह से ही नही हृदय से 'बाबूजी' कहकर पुकारते थे और जिन्हे मुशीजी ने भी बराबर पुत्र जैसा स्नेह दिया, उस बार दिल्ली गये थे। वह लिखते है कि "पडाल के द्वार पर एक स्वयसेवक ने उनको भूल से रोक दिया, आप दर्शको में जा बैठे। मीटिंग खतम होने पर जब लोग 'ये प्रेमचन्द ! ये प्रेमचन्द !' कहकर आपस में अँगुलियाँ बताते, आप जैसे जन-नही मार्ग पर चले जा रहे हो। जैसे खोये रहते हो अपने काम में, ये चीजे व्यापती ही नही उनको। और जब उस अखिल भारतीय साहित्य के मच पर उनको लेकर एक खासा वैयक्तिक विवाद चल पडा, यह व्यक्ति सुदूर कनकौओ की लडाई देखने में मग्न था ." एक नितान्त सहज-सी गरिमा जो बहन है उतने ही सहज विनय की। जनार्दन ने उनके नहाने के बाद चाहा कि धोती धोकर डाल दें सूखने को। मुशीजी ने 'शेर की तरह झपटकर मेरे हाथ से अपनी धोती ले ली।' घर के नौकर तक को जो आदमी शायद ही कभी अपनी धोती छाँटने का मौका देता हो, वह कैसे न छीन लेता जनार्दन के हाथ से अपनी धोती। ऐसा कोई सेवा-सत्कार वह किसी से नही ले पाते, यहाँ तक कि पत्नी का बदन

दबा देने का प्रस्ताव भी उन्हे कभी मजूर नही होता। उसमें शायद उन्हें कुछ ऊँच-नीच के भाव की गध मिलती है। उनका मन केवल समानता के धरातल को स्वीकार करता है और इसी में उन्हे सुख मिलता है। जनार्दन लिखते है —

'रात को उस निर्जन सडक पर प्रेमचन्द का वह तरग-विनिंदित मुक्त-हास आज भी मेरे कानो में गूंज रहा है हम लोग — मोदी, मै और वे — एक बजे रात कवि सम्मेलन के हुडदग की ठेलमठेल देख लौट रहे थे, आवास पर। एक-एक तुक्कड के नाज-नखरे ले-लेकर यह दुखी प्रेमचन्द हँस रहा था, हँस रहा था . विजन विजन चाँद दूधिया आकाश मे और एक कातर स्वप्न की भाँति किले की काली-काली दीवारे। हम हँसते जा रहे थे, पर यह तो देखो, प्रेमचन्द मारे हँसी के टेढे हो रहे है, लक्कड ...'

आडम्बर से ही उन्हे सब से ज्यादा चिढ है — और यहाँ हर तरफ उसी का बोलबाला है।

कोई बात नही अगर मुझे नही पहचाना। किसी का उससे कुछ नही बिगडा। मेरा भी नही। पर अपने कर्त्तव्य को तो पहचानना चाहिए।। इसका गिला मुशी जी को है। साहित्य सम्मेलन में यह जो झूठा आडम्बर है और व्यर्थ का अहकार, खोखला दर्प हिन्दी का, वह जो अपने असल काम को नही देखता और लिथडा हुआ है छोटे-छोटे रगडो-झगडो में — इसके लिए मुशीजी के मन मे शिकायत है, गुस्सा है। मगर सम्मेलन से अब तक वह इतना कुछ नाउम्मीद हो चुके है कि वह गुस्सा भी तेज गुस्सा नही रह गया है, बस एक हलका-सा आक्रोश जो व्यग की छीटेबाजी के रूप में बाहर आता है।

दिल्ली से मुशीजी सीधे अलीगढ गये और तीन दिन अपने नौजवान दोस्त अशफाकहुसेन के मेहमान रहे। उनको भी मुशीजी ने साहित्य सम्मेलन की रिपोर्ट उसी रग में, अपने जोरदार ठहाको के साथ दी। तीन दिन न जाने कैसे इधर-उधर की गप-शप में ही बीत गये — न मुशीजी ने किसी से मिलने की इच्छा दिखलायी और न अशफाकहुसेन बराबर उन्हे अपने पास रखने का लोभ सवरण कर सके। काम की बात बस इतनी हुई कि मुशीजी और अशफाक हुसेन ने मिलकर कौमी जबान के बारे में एक अपील का मसविदा अंग्रेजी में तैयार किया। इन दिनो वही चीज मुशीजी के दिमाग पर छायी हुई थी। उन्हे इसमें कोई शक न था कि राष्ट्रभाषा हिन्दी ही हो सकती है, लेकिन सम्मेलन की पडिताऊ हिन्दी नही, सरल हिन्दी, हिन्दुस्तानी, जो उर्दू को खुलकर गले लगाती है।

घर लौटकर मुशीजी ने १६ अप्रैल को जैनेन्द्र को लिखा —

'अलीगढ में दावते खाने के सिवाय और कुछ न हुआ। हमारी स्कीम* को

---

* हिन्दुस्तानी सभा बनाने के बारे में — अ०

लोगो ने पसद तो बहुत किया मगर उन दिनों युनिवर्सिटी बन्द थी और ओल्ड ब्वायज असोसिएशन के जल्से हो रहे थे। इससे कुछ बोलने का अवसर न मिला। उन लोगो ने जिस तरह मेरा स्वागत किया, उससे मेरा चित्त बहुत प्रसन्न हुआ। मुझे आश्चर्य हुआ कि वहाँ कितनी ही मुसलिम लडकियाँ पर्दा नही करती और वे सब मेरी नयी से नयी प्रकाशित उर्दू किताब 'गबन' पढ चुकी थी। मैंने पुलाव और गोश्त खाया, उन्ही के दस्तरखान पर, और यहाँ आकर दो-तीन दिन चूरन खाना पडा। ..'

इस खत को अभी एक पखवारा भी नही होने पाया था कि जैनेन्द्र से सलाह करने की एक खास जरूरत आ पडी। पहले तो मुशीजी ने थोडा लुका-छिपी का मजा लेना चाहा, 'अभी न बताऊँगा। जब आओगे तभी इस विषय में बाते होगी।' लेकिन फिर अपना ही जी नही माना, 'मगर अब तुम्हे क्यो सस्पेस की हालत में रखूँ। बम्बई की एक फिल्म कपनी मुझे बुला रही है। वेतन की बात नही, कट्रैक्ट की बात है, आठ हजार रुपया साल। मै उस अवस्था को पहुँच गया हूँ जब मेरे लिए हाँ के सिवाय और कोई उपाय नही रह गया। या तो वहाँ चला जाऊँ या अपने उपन्यास को बाजार में बेचूँ। मै इस विषय में तुम्हारी राय जरूरी समझता हूँ। कम्पनीवाले हाजिरी की कोई कैद नही रखते। मै जो चाहे लिखूँ, जहाँ चाहे लिखूँ, इनके लिए चार-पाँच सिनेरियो तैयार कर दूँ। मै सोचता हूँ, क्यो न एक साल के लिए चला जाऊँ। वहाँ साल भर रहने के बाद कुछ ऐसा कन्ट्रैक्ट कर लूँगा कि मैं यही बैठे-बैठे तीन-चार कहानियाँ लिख दिया करूँ और चार-पाँच हजार रुपये मिल जाया करे। उससे जागरण और हस दोनो मजे से चलेगे और पैसो का सकट कट जायगा।'

जैनेन्द्र का जवाब नही आया और अपना मन कुछ तय नही कर पा रहा था। लिहाजा आठवें रोज फिर खत दौडाया—'मुझे एक बम्बई की कम्पनी बुला है। क्या सलाह है ? मुझे तो कोई हर्ज नही मालूम होता, अगर वेतन सात-आठ सौ मिले। साल-दो साल करके चला आऊँगा। मगर अभी मैंने जवाब नही दिया है। उसके दो तार आ चुके हैं। प्रसाद जी की सलाह है आप बबई न जायँ। तुम्हारी भी अगर यही राय है तो मैं न जाऊँगा। जौहरी जी कहते है, जरूर जाइए और चिरसगिनी दरिद्रता भी कहती है, चलो। जीवन का यह भी एक अनुभव है।'

आखिरकार मन चलने के लिए राजी हो गया। अब यहाँ के सब काम निपटाने थे, सामाजिक, पारिवारिक।

जिस स्वराज्य आन्दोलन के सन्दर्भ में जागरण निकला था और जिसके लिए प्रतिकूल परिस्थितियो में भी उसने दो साल तक अविराम सघर्ष किया था, वह आज बिखरा पड़ा था और जिन्होने यह लडाई छेड़ी थी और लड़ी थी वह उसकी

नाकामी की जिम्मेदारी एक दूसरे पर ठेल रहे थे। मुशीजी को यह स्थिति बहुत विरक्तिकर लगती है। उन्हे न तो जीत मे बगले बजाना अच्छा मालूम होता है और न हार में छाती कूटना। और हार इसे क्यो कहो ? क्यो किसी ने यह कहा या समझा कि आजादी इतनी आसानी से मिल जायगी ? यह तो देश को जगाने का एक आयोजन था, और उसमें वह सफल हुआ।

बहरहाल अब तो यह आवाज़ शायद हमेशा के लिए बन्द हो रही है और मुशीजी के मन की विरक्ति इन शब्दो में फूट पडी —

● कायदा है कि हमसे कोई बात बिगड जाती है तो हम एक दूसरे को इलज़ाम देकर अपने मन को समझा लिया करते है। एक कहता है, तुम्हारी गलती थी। दूसरा कहता है, जी नही, यह आपकी हिमाकत थी। अगर अच्छी दुलहिन घर में आ गयी है तो दूल्हा भी खुश, ससुर भी खुश, टोले-पडोस के लोग भी खुश। दहेज कुछ कम भी मिला तो क्या गम, बरातियो का सत्कार जैसा चाहिए वैसा नही हुआ, वैसा क्या उसका आधा भी नही हुआ, तो क्या गम, बहू अच्छी है सुशीला है। लेकिन खुदा न खास्ता बहू काली हुई या कानी हुई या लँगडी हुई (क्योकि ब्याह तकदीर का खेल है और तकदीर मे तदबीर का क्या बस !) तो कुछ न पूछिए, बस समझ लीजिए कि गज़ब हो गया। सास अपने पति को इलजाम देती है, पति पडित जी के सिर इस जिम्मेदारी को ठेलते है, पडितजी लालाजी के सिर, जो बीच में पडे। चारो तरफ से ठेलमठेल शुरू हो जाती है। इलज़ाम का बोझ खुदा जाने कितना भारी होता है कि कोई उसे अपने ऊपर एक क्षण भी नही रखना चाहता। टेनिस के गेद की तरह उसे सामने आते ही दूसरे की तरफ ठेल देना ही हमारा धर्म है। यह बात नही कि इस इलजाम को कही आश्रय नही मिलता। मिलता है, लेकिन वही जहाँ उसे ठेलने की शक्ति नही होती। किसी गरीब के सर सारी जिम्मेदारी डालकर हम अपना दिल हलका कर लेते है। बहू में कोई फर्क नही हुआ। उसका रग ज़रा भी नही खुला, न वह मृगनयनी बनी, न हसगामिनी। बेचारा दूल्हा एकान्त में बैठा अपना नसीब ठोक रहा है, घर से भाग जाने का मसूबा बाँध रहा है, लेकिन घर में लोगो ने नाई पर इलजाम रखकर शान्ति प्राप्त कर ली।

काग्रेस में भी आजकल कुछ वैसी ही ठेलमठाल हो रही है। महात्मा गाधी सत्याग्रह के असफल होने की सारी जिम्मेदारी कार्यकर्ताओ पर रखते है। कार्यकर्ता इसे उनकी ज्यादती बताकर अपनी जिम्मेदारी को उन पर ठेलते है। अगर स्वराज्य की सुघड सुशीला बहू घर में आ जाती तो आज सब के सब बगलें बजाते, महात्मा जी घर-घर राम और कृष्ण की तरह पूजे जाते, कार्यकर्ताओ को बधाइयाँ मिलती। मगर बहू आयी अवगुणो का सागर, कलह की खान, तमाखू का पिण्डा। फिर क्यो न ठेलमठेल मचे . . . ●

यह सब तो चल ही रहा था कि इन्ही दिनो मुशीजी को एक अच्छे दोस्त के उठ जाने का सदमा पहुँचा, एक ऐसा दोस्त जो खास उनके अपने रग का आदमी था, उतना ही ज़िन्दादिल, उतना ही हँसोड, उतना ही खुशमजाक — पडित बदरीनाथ भट्ट। अभी पिछले साल प० पद्मसिंह शर्मा नही रहे, और अब भट्टजी का परवाना आ पहुँचा। अभी तो बेचारे की ऐसी कुछ उम्र भी न थी।

जाना-आना मुशीजी का किसी के यहाँ भी कम ही होता था, अपने काम में डूबे रहते थे, लेकिन दोस्ती और मुहब्बत जो जहाँ पर थी उसको जिन्दा रखने के लिए बहुत आना-जाना ज़रूरी नही था, कभी नही रहा। बहुत भरे हुए दिल से मुशीजी ने लिखा —

● पडित बदरीनाथ भट्ट आज इस ससार में नही है। बीमार तो वह दो-ढाई साल से थे लेकिन जिस आदमी के पोर-पोर में जानदारी भरी हुई थी, जो रोग-शैया पर पड़ा हुआ भी हँसता और हँसाता रहा हो, जिसके समीप जाते ही मुरझाया हुआ मन लहलहा उठता हो, जो मानो अपनी वाणी और स्नेह से जीवन बिखेरता रहा हो, वह मौत के इतने समीप है, यह हम न समझते थे। साल भर से अधिक हुआ हमने लखनऊ में उनके दर्शन किये थे। आरामकुर्सी पर लेटे हुए थे। देह क्षीण हो गयी थी, चेहरे पर जर्दी छायी हुई, आँखो के नीचे गड्ढे पडे हुए, ओठ सूखे हुए, लेकिन बीमारी आत्मा तक न पहुँच सकी थी। बातो मे तब भी वही शोखी वही जिन्दादिली थी। अपनी बीमारी का ज़िक्र करते रहे, मगर उसमे असाध्य रोगी की निराशा या करुणा न थी, न वह मोह न वह हसरत, बल्कि एक जीवन से भरे हुए हृदय का चुहल और विनोद था, जो मानो मृत्यु को सामने खडी देखकर भी नि शक भाव से कह रहा था — जब मरूँगा तब मर जाऊँगा, मरने के पहले नही मर सकता . .

भट्टजी मिताहारी थे, मितव्ययी थे, सयमी थे, स्पष्टवादी थे, व्यवहार में खरे थे, उनमें कही भी वह नफासत और नज़ाकत न थी जो हम उदीयमान कवियो में देखते है, वह सैलानीपन न था जो साहित्यिको की विशेषता समझी जाती है। उन्होने दुनिया देखी थी, दुनिया की कठिनाइयो का सामना किया था और उन पर विजय पायी थी, उन फूलो में न थे जो हवा के एक झोके से मुरझा जाते है। वह मनुष्य पहले थे, कवि ड्रामेटिस्ट और हास्यकार पीछे। उनकी भावुकता कभी सयम से बाहर न जाती थी। वह उन लोगों में न थे जो इस बात पर गर्व करते है कि उनके पास कौडी कफन को नही है, जो मित्रो की मेहमानी पर जीवन बिताकर बेफिक्री का दम भरते है। वह स्वय अपना भोजन पकाते थे, पैसे की जगह धेला खर्च करते थे, और हिसाब साफ रखते थे ; बड़ी-बडी कठिनाइयाँ झेली, पर किसी का एहसान नही लिया। उन्हे कोई व्यसन न था। (साहित्यिक व्यक्तियो के लिए कोई न कोई व्यसन पाल लेना आजकल आईन में दाखिल है!) उनकी कल्पना

लकडी टेकती हुई न चलती थी, उनमें जो ओज था और सयम था, उसी से रचना-शक्ति उत्पन्न होती थी, उसी तरह जैसे बाहुबल से दया और क्षमा उत्पन्न होती है। .●

मुशीजी यह किसका गुणगान कर रहे है !

कहाँ की बात ! जब मरूँगा तब मर जाऊँगा, मरने के पहले नही मर सकता ।

शरीर थोडा छीज रहा है जरूर लेकिन शरीर का छीजना मन का छीजना तो नही। उसमे तो आज भी वही जोश है, हौसला है, गुस्सा है, मुहब्बत है, नफरत है, झुँझलाहट है, दर्द है, सब कुछ तो वही है। कही तो कोई बासीपन नज़र नही आता, वही तडप, वही भूख नयी बातो के लिए, वही अम्लान जिज्ञासा सत्य की, वही विद्रोह जड पुरातन से .

भगवान है, नही है — न जाने कब से यह सवाल मन को मथता रहा है। लेकिन अब तो दिनोदिन मन निषेध की ओर ही झुकता जा रहा है, अतिम रूप से। नही है। है तो क्यो नही रोकता यह सब अत्याचार, अनाचार ? सब झूठ है। ऐसे निर्दयी भगवान के होने से उसका न होना ही ज्यादा अच्छा है, एक झूठ से छुटकारा तो मिल जायगा, व्यर्थ के एक सबल से जो कोई सबल नही है। तब शायद आदमी की अधिक सहज प्रवृत्ति अपने सुन्दर आचरण की ओर हो सकेगी, क्योकि दूसरी कोई जगह सिर छिपाने को न होगी।

मान-मनौती के एक प्रस्तावित भोज से विद्रोह करता हुआ दीनानाथ इन्ही दिनो की 'बासीभात में खुदा का साझा' नामक कहानी में कहता है —

'उससे बडा निर्दयी कोई ससार में न होगा। जो अपने रचे हुए खिलौनो को उनकी भूलो और बेवकूफियो की सजा अग्निकुण्ड में ढकेलकर दे, वह भगवान दयालु नही हो सकता। भगवान जितना दयालु है उससे असख्य गुना निर्दयी है और ऐसे भगवान की कल्पना से मुझे घृणा होती है। प्रेम सबसे बडी शक्ति कही गयी है मगर तुम्हारा ईश्वर दण्ड-भय से सृष्टि का सचालन करता है। ... ऐसे ईश्वर की उपासना मैं नही करना चाहता, नही कर सकता। जो मोटे है, उनके लिए ईश्वर दयालु होगा, क्योकि वे दुनिया को लूटते है। हम जैसो को तो ईश्वर की दया कही नज़र नही आती। हाँ, भय पग-पग पर खडा घूरा करता है। यह मत करो नही तो ईश्वर दण्ड देगा, वह मत करो नही तो ईश्वर दण्ड देगा। प्रेम से शासन करना मानवता है, आतक से शासन करना बर्बरता है। आतक-वादी ईश्वर से तो ईश्वर का न रहना ही अच्छा है। उसे हृदय से निकालकर मैं उसकी दया और दण्ड दोनों से मुक्त हो जाना चाहता हूँ। ... '

और उसी महीने 'हसवाणी' में लिखा —

'विद्वानो की दुनिया में आजकल आस्तिक और नास्तिक का पुराना झगडा फिर उठ खडा हुआ है ।... हमारे जैसे साधारण कोटि के मनुष्यो के लिए तो ईश्वर का अस्तित्व कभी विवाद का विषय हो ही नही सकता । विवाद का विषय केवल यह है कि वह दुनियावी मामलो में कुछ दिलचस्पी लेता है या नही । एक दल तो कहता है, और इस दल में बडे-बडे लोग शामिल है, कि बिना उसकी मर्जी के पत्ती भी नही हिलती और वह सुख-दुख, जीवन-मरण, स्वर्ग-नरक की व्यवस्था करता रहता है, और एक अनुत्तरदायी राजा की भाँति ससार पर शासन करता है । . दूसरा दल कहता है कि नही, ईश्वर ने ससार को बनाकर उसे पूर्ण स्वराज्य दे दिया है । डोमिनियन स्टेटस का वह कायल नही । उसने तो पूर्ण से भी कही पूर्ण स्वराज्य दे दिया है । मनुष्य जो चाहे करे, उसे मतलब नही ।... यह मनुष्य की हिमाकत या अभिमान है कि वह अपने को अन्य जीवो से ऊँचा समझता है । वृक्ष और खटमल भी जीव है । वृक्ष को हम लगाते है, लग जाता है, काटते है, कट जाता है । खटमल हमें काटता है, हम उसे मारते है, हमें न काटे तो हमें उससे कोई मतलब नही, अपने पडा रहे । ईश्वर को जिस तरह पौधो और खटमलो के मरने-जीने से कोई मतलब नही, उसी तरह मनुष्यरूपी कीटो से भी उसे कोई प्रयोजन नही । आपस में कटो, मरो, समष्टि की उपासना करो चाहे व्यक्ति की, चाहे गऊ की पूजा करो या गऊ की हत्या करो, ईश्वर को इससे कोई प्रयोजन नही । मनुष्य की भलाई या बुराई की परख उसकी सामाजिक या असामाजिक कृतियो में है । . .'

इसी महीने की अगली टिप्पणी इस सवाल पर उनके मन को और भी खोलती है । भगवान ने अपनी आकृति में ढालकर आदमी की सृष्टि नही की, जैसा कि बाइबिल कहती है । सच्चाई यह है कि आदमी ने अपनी आकृति मे ढालकर भगवान की सृष्टि की —

'... मैक्सिम गोर्की के कथनानुसार मजदूरो ने ईश्वर को एक सफल, सहृदय मजदूर के रूप में देखा . . इसके बाद जब ईश्वर और देवताओ की सृष्टि का गौरव मजदूर सेवको के हाथ से निकलकर धनी स्वामियो के हाथ में आ गया तो ईश्वर और देवता भी मजदूरो की श्रेणी से निकलकर महाजनो और राजाओ की श्रेणी में जा पहुँचे जिनका काम अप्सराओ के साथ विहार करना, स्वर्ग के सुख लूटना और दुखियो पर दया करना था । भारत में तो मजदूर देवताओ का कही पता नही है । यहाँ के देवता तो शख, चक्र, गदा, पद्म धारण करते है । कोई फरसा लिये पापियो का कत्ले आम करता फिरता है, कोई बैल पर चढा, भग चढाये, भभूत रमाये ऊल-जलूल फिरता नजर आता है । जाहिर है कि ऐसे ऐशपसद या सैलानी देवताओ की सृष्टि करनेवाले मजदूर नही हो सकते । ये देवता तो उस वक्त बने है जब मजदूरो पर धन का प्रभुत्व हो चुका था और

जमीन पर कुछ लोग अधिकार जमाकर राजा बन बैठे थे। ..'

इन्ही ३३–३४ के दिनो में मुशीजी ने 'मनोवृत्ति', 'दूध का दाम', 'बालक' 'नया विवाह' और 'मुफ्त का यश' जैसी कहानियाँ लिखी जो वस्तु और शिल्प दोनो ही की दृष्टि से बिलकुल नयी है। अपने पुराने रग की एक बहुत खूबसूरत कहानी 'ईदगाह' भी उन्होने इन्ही दिनो लिखी जिसका बीज शायद गोरखपुर में ही उनके मन में पडा था, जहाँ उनके घर के बगल में ही ईदगाह थी और मेला भरता था।

मार्च १९३४ की 'हसवाणी' में रोमें रोलाँ की कला के प्रसग में मुशीजी ने लिखा —

● .. . उनके प्रसिद्ध उपन्यास 'जान क्रिस्टोफर' के विषय में तो हम कह सकते है कि एक कलाकार की आत्मा का इससे सुन्दर चित्र उपन्यास-साहित्य में नही है। . .. आपने क्रिस्टोफर के मुख से एक जगह साहित्य के विषय में ये विचार प्रकट किये है —

'आजकल के लेखक अनोखे चरित्रो के वर्णन में अपनी शक्ति नष्ट करते है। उन्होने स्वय अपने को जीवन से पृथक् कर लिया है। उनको छोडो और वहाँ जाओ जहाँ स्त्री और पुरुष रहते है। रोज का जीवन रोज मिलनेवाले मनुष्यो को दिखाओ। वह जीवन गहरे समुद्र से भी गहरा और प्रशस्त है। हममें जो सबसे तुच्छ है, उसकी आत्मा भी अनत है। यह अनत प्रत्येक मनुष्य में है जो अपने को सीधा-सादा मनुष्य समझता है। प्रेमी में, मित्र में, उस नारी में जो शिशु-जन्म के उज्ज्वल गौरव का मूल्य प्रसव-वेदना से चुकाती है, हरेक स्त्री और हरेक पुरुष में जो अज्ञात बलिदानो में अपना जीवन व्यतीत करते है — यही जीवन की धारा है जो प्राणो में प्रवाहित होती है, घूमती है, चक्कर लगाती है। इन्ही सीधे-सादे मनुष्यो की सीधी-सादी कथा लिखो, उनके आनेवाले दिनो और रातो के सुखद काव्य की रचना करो। जीवन का विकास जैसा सरल होता है, वैसी ही सरल तुम्हारी कथा होनी चाहिए। . तुम सर्वसाधारण के लिए लिखते हो, सर्वसाधारण की भाषा में लिखो। शब्दो में अच्छे-बुरे, शिष्ट और बाजारी का भेद नही है, न शैली में सौम्य और असौम्य का भेद है। हाँ, ऐसे शब्द और ऐसी शैलियाँ अवश्य है जो उन भावो को नही खोलती जो वह खोलना चाहती है। जो कुछ लिखो, एकचित्त होकर लिखो। वही लिखो जो तुम सोचते हो। वही कहो, जो तुम्हारे मन को लगता है। अपने हृदय के सामजस्य को अपनी रचनाओ में दर्साओ। शैली ही आत्मा है। ●

'मनोवृत्ति' मन की गुत्थियों के भीतर पैठने की ऐसी ही एक सीधी-सादी कहानी है।

और 'मुफ्त का यश' में तो मुशीजी खुद अपने दिल को नगा करते दिखायी देते है। बेहद सादगी और बेहद सच्चाई के साथ। अपने साथ भी कोई मुरौवत

करने को वह तैयार नही है ।

बिल्कुल आप बीती के रग मे यह कहानी कही गयी है और कुछ अजब नही कि इसका बीज कहानी लिखने के करीब साल भर पहले की एक चिट्ठी में हो ।

मुशीजी 'हस' का काशी अक निकालने जा रहे थे, उसके लिए उन्होने पन्नालाल आई० सी० एस० से भी, जो इतिहास और पुरातत्व मे रुचि रखते थे, एक लेख मांगा । पन्नालाल उन दिनो बनारस के कमिश्नर थे । उन्होने १९ सितम्बर १९३३ के अपने खत में सारनाथ पर एक लेख देने का वादा तो किया ही, मुशीजी को अपने यहाँ आने की दावत भी दी — '.. मै नही जानता था कि आप इस बीच बराबर यही थे । न जाने क्यो मुझे ऐसा कुछ खयाल था कि आप लखनऊ चले गये है, वर्ना ऐसा क्योकर हुआ कि आपने इतने महीनो दर्शन नही दिया ? किसी शाम आइए न, यो ही गपशप रहेगी ।'

कहानी शुरू होती है —

● उन दिनो सयोग से हाकिम जिला एक रसिक सज्जन थे । इतिहास और पुराने सिक्को की खोज मे उन्होने अच्छी ख्याति प्राप्त कर ली थी । जब एक दिन हाकिम जिला ने खुद मेरे नाम एक रुक्का भेजा कि मैं आपसे मिलना चाहता हूँ, क्या आप मेरे बँगले पर आने का कष्ट स्वीकार करेंगे, तो मैं बडे दुबधे में पड गया, क्या जवाब दूँ । अपने दो-एक मित्रो से सलाह ली । उन्होने कहा — साफ लिख दीजिए, मुझे फुर्सत नही । वह हाकिम जिला होगे तो अपने घर के होगे । निजी मुलाकात के लिए जाना आपकी शान के खिलाफ है । आखिर वह खुद आपके मकान पर क्यो नही आये ? इससे क्या उनकी शान में बट्टा लगा जाता था ? और फिर तुम्हे हाकिम ज़िला से लेना ही क्या है । अगर तुम कोई विद्रोहात्मक गल्प या लेख लिखोगे तो फौरन गिरफ्तार कर लिये जाओगे । हाकिम जिला जरा भी मुरौवत न करेंगे ।

लेकिन मुझे मित्रो की यह सलाह पसद न आयी । एक भला आदमी जब निमत्रण देता है तो उसे केवल इसलिए स्वीकार कर देना कि वह हाकिम जिला है, मुटमर्दी है । बेशक हाकिम साहब मेरे घर आ जाते तो शान कम न होती । लेकिन भाई ज़िले की अफसरी बडी चीज है और एक उपन्यासकार की हस्ती ही क्या है । इगलैण्ड या अमेरिका में गल्पलेखको और उपन्यासकारों की मेज पर निमन्त्रित होने में प्रधान मत्री भी अपना गौरव समझे, हाकिम जिला की तो गिनती ही क्या है । लेकिन यह भारतवर्ष है, जहाँ हरेक रईस के दरबार में कवि-सम्राटो का एक जत्था रईस के कीर्तिगान के लिए जमा रहता था और आज भी ताजपोशी में हमारे लेखक-वृन्द बिना बुलाये राजाओ की खिदमत में हाजिर होते है, कसीदे पेश करते है और इनाम के लिए हाथ पसारते है । तुम ऐसे कहाँ के बड़े वह हो कि हाकिम

जिला तुम्हारे घर चला आवे

और मै तो कहता हूँ, ईश्वर को धन्यवाद दो कि हाकिम जिला तुम्हारे घर नही आये, वर्ना तुम्हारी कितनी भद होती। गत की एक कुर्सी भी तो नही है। उन्हे क्या तीन टॉगोवाले सिहासन पर बैठाते या मटमैले जाजिम पर? तीन पैसे की चौबीस बीडियाँ पीकर दिल खुश कर लेते हो, है सामर्थ्य रुपये के दो सिगार खरीदने की? अपना भाग्य सराहो कि अफसर साहब तुम्हारे घर नही आये और तुम्हे बुला लिया। चार-पॉच रुपये बिगड भी जाते और लज्जित भी होना पडता और कही तुम्हारे परम दुर्भाग्य और पापो के दण्डस्वरूप उनकी धर्मपत्नी भी उनके साथ होती, तब तो तुम्हे धरती मे समा जाने के सिवा और कोई ठिकाना न था। तुम या तुम्हारी धर्मपत्नी उस महिला का सत्कार कर सकती थी? तुम्हारी तो घिग्घी बँध जाती साहब, बदहवास हो जाते। वह तुम्हारे घर में केवल तुम्हारे दीवानखाने तक ही न रहती, जिसे तुमने गरीबामऊ ढग से सजा रखा है। वहाॅ तुम्हारी गरीबी अवश्य है, पर फूहडपन नही। अन्दर तो पग-पग पर फूहडपन के दृश्य नजर आते

चुनाचे मैने हाकिम जिला का निमत्रण स्वीकार कर लिया .. चला गया। कुछ गपशप किया और लौट आया। किसी से इसका जिक्र करने की जरूरत ही क्या?

लेकिन टोहियो ने जाने कैसे टोह लगा लिया। विशेष समुदायो में यह चर्चा होने लगी कि हाकिम जिला से मेरी बडी गहरी मैत्री है, और वह मेरा बडा सम्मान करते है। अतिशयोक्ति ने मेरा सम्मान और भी बढा दिया। यहाँ तक मशहूर हुआ कि वह मुझसे सलाह लिये बगैर कोई फैसला या रिपोर्ट नही लिखते। . .

एक दिन मै अपने कमरे में बैठा था कि मेरे बचपन के एक सहपाठी मित्र आ टपके। हम दोनो एक ही मकतब में पढने जाया करते थे। कोई ४५ साल की पुरानी बात है। मेरी उम्र आठ-नौ साल से अधिक न थी। वह भी लगभग इसी उम्र के रहे होगे, लेकिन मुझसे कही बलवान और हृष्ट-पुष्ट। मै जहीन था, वह निरे कौदन। मौलवी साहब उनसे हार गये थे और उन्हे सबक पढाने का भार मुझ पर डाल दिया था। ●

इन महाशय ने पुराने ताल्लुकात का वास्ता दिलाते हुए अपने बेटे के खिलाफ पुलिस के एक झूठे केस को लेकर कुछ ऐसी जबर्दस्त पैरवी की कि इन उपन्यास-कार महोदय को भागते राह न मिली और उन्हे झख मारकर वादा करना पडा कि वह जाकर इस मामले के बारे में हाकिम जिला से बात करेंगे।

और अब वह चीज आती है जो इस कहानी का बीज है, उसकी जान, नयी आत्मा कहानी की —

● बलदेव सिह को बिदा करके मैंने अपना लेख समाप्त किया और आराम

से भोजन करके लेटा। मैंने उससे गला छुडाने के लिए झूठा वादा कर दिया था। मेरा इरादा हाकिम जिला से कुछ कहने का नही था। मैंने पेशबदी के तौर पर पहले ही जता दिया था कि हुक्काम आम तौर पर पुलिस के मुआमलो मे दखल नही देते। इसलिए सजा हो भी गयी तो मुझे यह कहने की काफी गुजाइश थी कि साहब ने मेरी बात स्वीकार नही की।

कई दिन गुजर गये थे। मैं इस वाकये को बिलकुल भूल गया था कि एक दिन बलदेव सिंह अपने पहलवान बेटे के साथ मेरे कमरे में दाखिल हुए। बेटे ने मेरे चरणो पर सिर रख दिया और अदब से एक किनारे खडा हो गया। बलदेव सिंह बोले—बिलकुल बरी हो गया, भैया। दारोगा को साहब ने बुलाकर खूब डाँटा कि तुम भले आदमियो को सताते और बदनाम करते हो। अगर फिर ऐसा झूठा मुकदमा लाये तो बर्खास्त कर दिये जाओगे। दारोगा जी बहुत झेंपे। मैंने उन्हे झुककर सलाम किया। बचा पर घडो पानी पड गया। यह तुम्हारी सिफारिश का चमत्कार है भाईजान। अगर तुमने मदद न की होती तो हम तबाह हो गये थे। यह समझ लो कि तुमने चार प्राणियो की जान बचा ली। मैं तुम्हारे पास बहुत डरते-डरते आया था। लोगो ने कहा था — उसके पास नाहक जाते हो, वह बडा बेमुरौवत आदमी है, उसकी जात से किसी का उपकार नही हो सकता .... लेकिन भाईजान, मैंने किसी की बात न मानी। मेरे दिल में मेरा राम बैठा कह रहा था — तुम चाहे कितने ही रूखे और बेलाग हो, लेकिन मुझ पर अवश्य दया करोगे।

यह कहकर बलदेव सिंह ने अपने बेटे को इशारा किया। वह बाहर गया और एक बडा-सा गट्ठर उठा लाया, जिसमें भाँति-भाँति की देहाती सौगाते बँधी हुई थीं। हालाँकि मै बराबर कहे जाता था — तुम यह चीजें नाहक लाये, इनकी क्या जरूरत थी, कितने गँवार हो, आखिर तो देहाती ठहरे, मैंने कुछ नही कहा, मैं तो साहब के पास गया भी नही। लेकिन कौन सुनता है। खोआ, दही, मटर की फलियाँ, अमावट, ताजा गुड और जाने क्या-क्या आ गया।

मैंने कहने को तो एक तरह से कह दिया — मैं साहब के पास गया ही नही, जो कुछ हुआ, खुद हुआ, मेरा कोई एहसान नही है, लेकिन उसका मतलब यह निकाला गया कि मै केवल नम्रता से और सौगातो को लौटा देने का कोई बहाना ढूँढने के लिए ऐसा कह रहा हूँ। मुझे इतनी हिम्मत न हुई कि मैं इस बात का विश्वास दिलाता। इसका जो अर्थ निकाला गया, वही मै चाहता था। मुफ्त का एहसान छोडने को जी न चाहता था। अंत में जब मैंने जोर देकर कहा कि किसी से इस बात का जिक्र न करना, मेरे पास फरियादियो का मेला लग जायगा, तो मानों मैंने स्वीकार कर लिया कि मैने सिफारिश की — और जोरो से की। ●

ऐसी ही नये ढग की, नयी कथावस्तु और नये शिल्प की कहानियाँ मुशीजी ने कई लिखी, जिनमें उनकी पहले की कहानियो जैसा घना और मजबूती से

बुना हुआ कथा का जाल नही है, बस एक कोई नन्ही-सी बात है, कोई हल्का-सा नुक्ता, कोई यो ही सी मन स्थिति, किसी चीज को देखने का अपना एक ढग, सौन्दर्य की सत्य की कोई उडती-सी झलक, जिसे कथानक की बहुत चिन्ता किये बगैर यो ही बातचीत के अदाज में कह दिया गया है। मुशीजी के लिए यह कोई नयी और अनहोनी बात नही है, पहले भी उन्होने ऐसी कहानियाँ लिखी है, पर भावनाओ में एक नयी प्रौढता जरूर आ गयी है कि जैसे यथार्थ का रग और गहरा हो गया हो, ईंट और पक गयी हो।

'दूध का दाम' यो तो वही छूत-अछूत, ऊँच-नीच की कहानी है लेकिन अब गुस्से की जगह दिल को मसोस देनेवाले, चीर देनेवाले एक दर्द ने ले ली है। 'मदिर'-जैसी कहानी में जो आक्रोश की एक चीख थी वह यहाँ दर्द की एक मीड बन गयी है।

एक गरीब भगी माँ अपने दूधपीते बच्चे को भूखा रखकर एक बाबू साहब के बच्चे को, जिसकी माँ को दूध नही उतरा, दूध पिलाने पर नौकर रखी जाती है। साल भर यह सिलसिला चलता है, फिर समाज के देवतागण आपत्ति करते है और भगिन इस काम से छुडा दी जाती है। आगे चलकर ऐसा कुछ सयोग होता है कि यह भगिन का बच्चा मगल अनाथ हो जाता है — बाप प्लेग का शिकार होता है और माँ को परनाला साफ करते समय साँप काट खाता है। अब मगल उन्ही बाबू साहब के यहाँ रहता है और उनके टुकडो पर पलता है।

● मकान के सामने एक नीम का पेड था। इसी के नीचे मगल का डेरा था। एक फटा-सा टाट का टुकडा, दो मिट्टी के सकोरे और एक धोती, जो सुरेश बाबू की उतारन थी। जाडा, गर्मी, बरसात, हरेक मौसम में वह जगह एक-सी आराम-देह थी और भाग्य का बली मगल झुलसती हुई लू, गलते हुए जाडे और मूसला-धार वर्षा में भी जिन्दा और पहले से कही स्वस्थ था। बस उसका कोई अपना था तो गाँव का एक कुत्ता ..दोनो एक ही खाना खाते, एक ही टाट पर सोते, तबीयत भी दोनो की एक-सी थी और दोनो एक दूसरे के स्वभाव को जान गये थे ..

मगल और टामी में गहरी छनती थी। मगल कहता — देखो भाई टामी, ज़रा और खिसककर सोओ। आखिर मैं कहाँ लेटूं? सारा टाट तो तुमने घेर लिया!

टामी कूँ कूँ करता, दुम हिलाता और खिसक जाने के बदले और ऊपर चढ आता और मगल का मुँह चाटने लगता!

शाम को वह एक बार रोज अपना घर देखने और थोडी देर रोने जाता ....

एक दिन कई लडके खेल रहे थे। मगल भी पहुँचकर दूर खडा हो गया ... क्यो रे मगल, खेलेगा?

मगल बोला — ना भैया, कही मालिक देख ले तो मेरी चमडी उधेड दी जाय। तुम्हे क्या, तुम तो अलग हो जाओगे।

सुरेश ने कहा — तो यहाँ कौन आता है देखने, बे ? चल हम लोग सवार सवार खेलेंगे , तू घोडा बनेगा, हम लोग तेरे ऊपर सवारी करके दौडायेंगे ।

मगल ने शका की — मै बराबर घोडा ही रहूँगा कि सवारी भी करूँगा ? ●

मगल के मुँह से इस समय इतिहास बोल रहा है, दलित अछूतो का नया, दृप्त स्वर—बहुत दिन चड्डी गाँठ ली उनके ऊपर ऊँची जातवालो ने !

● यह प्रश्न टेढा था । किसी ने इस पर विचार न किया था । सुरेश ने एक क्षण विचार करके कहा — तुझे कौन अपनी पीठ पर बिठायेगा, सोच ? आखिर तू भगी है कि नही ?

मगल भी कडा हो गया। बोला — मै कब कहता हूँ कि मै भगी नही हूँ, लेकिन तुम्हे मेरी ही माँ ने अपना दूध पिलाकर पाला है । जब तक मुझे भी सवारी करने को न मिलेगी, मै घोडा न बनूँगा । तुम लोग बडे चघड हो । आप तो मजे से सवारी करोगे और मैं घोडा ही बना रहूँगा ! ●

अधिकारो के इस बुनियादी सवाल पर झगडा हो जाता हैं और होते-हवाते नौबत यहाँ तक पहुँचती हैं कि सुरेश बाबू 'छोटी लाइन के इजन' की तरह भोपू बजाने लगते हैं ।

मगल को बुरी तरह फटकार पडती है और वह मर्माहत होकर सकल्प करता है कि मैं अब इस घर में नही रहूँगा, इस घर का खाना नही खाऊँगा । लेकिन भूख की मार विकट होती है और वह फिर हारकर जूठी पत्तल चाटने पहुँचता है ।

अब आखिरी दृश्य —

● उसने पत्तल को ऊपर उठाकर मगल के फैले हुए हाथो में डाल दिया । मगल ने उसकी ओर ऐसी आँखो से देखा जिनमें दीन कृतज्ञता भरी हुई थी ।

टामी भी अदर से निकल आया था। दोनो वही नीम के नीचे पत्तल में खाने लगे ।

मगल ने एक हाथ से टामी का सिर सहलाकर कहा — देखा, पेट की आग ऐसी होती है ! यह लात की मारी हुई रोटियाँ भी न मिलती तो क्या करते ?

टामी ने दुम हिला दी ।

'सुरेश को अम्माँ ने पाला था ।'

टामी ने फिर दुम हिलायी ।

'लोग कहते है दूध का दाम कोई नही चुका सकता और मुझे दूध का यह दाम मिल रहा है !'

टामी ने फिर दुम हिलायी । ●

हमारा समाज बर्बरता की सीमा तक कठोर है उस स्त्री के प्रति जिसका दूसरे किसी पुरुष से सबध हो जाता है । 'बालक' इस रक्तचक्षु वातावरण में एक नयी

उदारता, एक नयी कोमलता, एक नयी सवेदना की सृष्टि करता है ।

एक सीधा-सच्चा ब्राह्मण गगू अच्छी तरह आँख खोलकर, सब कुछ जान-समझकर विधवा आश्रम से निकाली हुई एक चचल 'कुलटा' स्त्री से विवाह करता है ।

आखिर एक दिन वह औरत गगू के घर से भी भाग जाती है । मगर गगू के चेहरे पर एक शिकन नही आती । उसके दिल में रत्ती भर मैल नही है । और वह उसकी तलाश में दर-दर की खाक छानने निकल जाता है ।

भागने की वजह पीछे खुलती है । उसके बच्चा होनेवाला है और वह लाज के मारे भाग जाती है, क्योकि वह बच्चा गगू का नही, शादी के पहले का है ।

मगर गगू को उसे वापस अपने आलिंगन मे ले लेने मे कोई बाधा नही होती और इसके लिए वह जो युक्ति देता है वह तो स्त्री-पुरुष के सबध की नैतिकता का एक नया धरातल, एक नया आयाम है —

'मैने तुमसे इसलिए विवाह नही किया कि तुम देवी हो, बल्कि इसलिए कि मै तुम्हे चाहता था और सोचता था कि तुम भी मुझे चाहती हो । यह बच्चा मेरा बच्चा है । मेरा अपना बच्चा है । मैने एक बोया हुआ खेत लिया तो क्या उसकी फसल को इसलिए छोड दूँगा कि उसे किसी दूसरे ने बोया था ?' और कहानी कहनेवाले की आँखें न जाने क्यो भीग जाती है

'नया विवाह' लाला डगामल के नये विवाह की कहानी है । अधेड लालाजी ने अपनी पहली पत्नी, उनके सात बच्चो की माँ, को अपनी निष्ठुर उपेक्षा से मारकर एक जवान लडकी से, जो उनकी बेटी हो सकती थी, अपना नया विवाह किया है । उन्हे अपनी मुर्दा रगो में एक नयी सनसनाहट, एक नयी थरथरी की चाह है । लेकिन उस जवान लडकी के दिल में भी कोई चाह, कोई उमग हो सकती है, यह उनके लिए एक बद किताब है और हमारा पुरुष-शासित पुरुष-प्रधान समाज इसी में अपनी खैरियत समझता है कि वह किताब बद रही आये ।

नयी पत्नी के आ जाने से 'जीवन के उपभोग की जो शक्ति दिन-दिन क्षीण होती जाती थी, अब वह छींटे पाकर सजीव हो गयी थी, सूखा पेड हरा हो गया था, उसमें नयी-नयी कोपले फूटने लगी थी । लालाजी की बूढी जवानी जवानो की जवानी से भी प्रखर हो गयी थी, उसी तरह जैसे बिजली का प्रकाश चन्द्रमा के प्रकाश से ' वह अपने को किसी गबरू जवान से जौ भर घटकर नही समझते और बहुत घमण्ड से कहते है, 'जवानी का उम्र से उतना ही सबध है जितना धर्म का आचार से, रुपये का ईमानदारी से, रूप का शृगार से . '

लेकिन उनकी नवेली बीवी ऐसा नही सोचती, उसका खयाल है कि जवानी का सबध उम्र से होता है । वह किसी तरह उनकी सोहबत में खुश नही हो पाती,

उसका दिल बुझा-बुझा-सा रहता है। लाला जी तरह-तरह के स्वाँग भरते है, तरह-तरह की सौगाते लाते है, लेकिन उसके दिल की कली नही खिलती।

वह कली खिलती है घर के जवान रसोइये जुगल की सगत में, ऐसी कि हाँ। जवान खून जवान खून को पुकारता है।

पातिव्रत हवा में नही रह सकता। उसको भी मिट्टी चाहिए, पानी चाहिए। जिन्दगी अपना मोल चुकाये बिना नही रहती। उसको झुठलाओगे तो तुम्हारा आदर्श खुद झूठा हो जायगा, खोखला। रक्खे रहो अपने खोखले आदर्श, चाटो उन्हे शहद लगाकर !

और एक दिन आता है जब जुगल के मुँह से अपनी सुन्दरता का बखान सुनकर लालाजी की नवेली के बदन में झुरझुरी दौड जाती है ! और उनमें सकेतो के हल्के-से, झीने आवरण में खुली-खुली बातें होने लगती है, जो अपने इसी अर्थ-गम्भीर ढँकेपन के कारण और भी खुली मालूम होती है।

जुगल और भी आगे बढकर लालाजी के लिए कहता है — आपके साथ चलते है तो आपके बाप-से लगते है।

● तुम बडे मुँहफट हो। खबरदार, जबान सम्हालकर बाते किया करो।

किन्तु अप्रसन्नता का यह झीना आवरण उसके मनोरहस्य को न छिपा सका।

जुगल ने फिर उसी निर्भीकता से कहा — मेरा मुँह कोई बद कर ले, यहाँ तो सभी यही कहते है। मेरा ब्याह कोई पचास साल की बुढिया से कर दे तो मै घर छोडकर भाग जाऊँ। या तो खुद जहर खा लूं या उसे जहर देकर मार डालूं। फाँसी ही तो होगी।

आशा उस कृत्रिम क्रोध को कायम न रख सकी। जुगल ने उसकी हृदयवीणा के तारो पर मिजराब की ऐसी चोट मारी थी कि उसके बहुत जब्त करने पर भी मन की व्यथा बाहर निकल आयी। उसने कहा — भाग्य भी तो कोई चीज है !

— ऐसा भाग्य जाय भाड में !

— तुम्हारा ब्याह किसी बुढिया से ही करूँगी, देख लेना।

— तो मैं भी जहर खा लूंगा, देख लीजिएगा।

— क्यो, बुढिया तुम्हे जवान स्त्री से ज्यादा प्यार करेगी, ज्यादा सेवा करेगी। तुम्हे सीधे रास्ते पर रखेगी।

— यह सब माँ का काम है। बीवी जिस काम के लिए है, उसी काम के लिए है।

— आखिर बीवी किस काम के लिए है ?

मोटर की आवाज आयी। न जाने कैसे आशा के सिर का आँचल खिसककर कधे पर आ गया। उसने जल्दी से आँचल खीचकर सिर पर कर लिया और यह कहती हुई अपने कमरे की ओर लपकी कि लाला भोजन करके चले जायँ, तब आना। ●

कहानी का पर्दा यही गिर जाता है। चाहिए भी। मगर ताज्जुब है कि मुशीजी का कलम कही ठिठका क्यो नही ? कैसे लिख सके वह ऐसी उच्छृखल कहानी . . .

अभी तो बहरहाल जीवन का सबसे बडा सत्य यह है कि अब यहाँ निर्वाह नही हो रहा है, बबई शायद जाना ही होगा।

तो लिख क्यो नही देते भवनानी को, बेचारा मरा जा रहा है चिट्ठी लिख-लिखकर, तार दे-देकर ....

हर बार मुशीजी कलम उठाते है मगर —

और २१ मई १९३४ को उन्होने 'जागरण' को सुलाते हुए मीर का शेर पढा —

> अब तो जाते है मैकदे से मीर,
> फिर मिलेगे अगर खुदा लाया।

अभी 'जागरण' की समाधि को लेकर मुशीजी की खटपट विनोदशकर व्यास से चल ही रही थी कि भवनानी ने दो रोज बाद २३ मई को लिखा —

'. . मेरी दृष्टि से यह मुआमला बेहद जरूरी है क्योकि और भी कुछ लोगो से बातचीत चल रही है। बहरकैफ मेरी बहुत ख्वाहिश है कि आप हमारे यहाँ आयें। कहानियो की सख्या से डरने की जरूरत नही है क्योकि मैं आपसे उतनी ही कहानियाँ और डायलाग लूंगा जितने की मुझे अपने प्रोडक्शन के लिए वाकई जरूरत होगी। फौरन जवाब देने की कृपा करें ताकि मुझे अपनी स्थिति का ठीक-ठीक पता चले।'

अब ज्यादा सोच-विचार के लिए गुजायश न थी। मुशी जी अपना बोरिया-बकचा सँभालने लगे।

'डूबते को सहारा मिला। चल खडा हुआ।' — मुशीजी ने निगम साहब को लिखा।

३४

'मैं ३१ को यहाँ पहुँच गया था। तब से एक मित्र का मेहमान हूँ। कई मकान देखे। ५०) के मकान में तीन कमरे मिलते है। ७५) में पाँच कमरे। अभी कोई मकान ठीक नही किया। लेकिन आजकल में कुछ न कुछ इतजाम कर लेना पडेगा। अभी मैं नही कह सकता कि मै यहाँ रह भी सकूंगा या नही। जगह बहुत अच्छी है, साफ-सुथरी सडकें, हवादार मकान, लेकिन जी नही लगता। जैसी कहानियाँ मैं लिखता हूँ उन्हे खेलने के लिए यहाँ कोई ऐक्ट्रेस ही नही है। मेरी एक कहानी यहाँ सब को अच्छी लगी लेकिन यहाँ की ऐक्ट्रेसे उसे खेल नही सकती। उसे खेलने के लिए कोई पढी-लिखी ऐक्ट्रेस रखनी पडेगी। मैं तो ऐसी ही कहानियाँ लिखूंगा। इन लोगो की इच्छानुसार तो लिख नही सकता।' — मुशीजी ने बबई पहुँचते ही पत्नी को लिखा।

बेचारे यहाँ अकेले पडे थे, नयी जगह, नये लोग, और बाल-बच्चे इलाहाबाद से चौदह मील दूर तहसील सोराम में अपनी मौसी के घर चैन की बसी बजा रहे थे। शादी-ब्याह का मौसम था और पत्नी का इरादा जल्दी बबई की ओर रुख़ करने का नही जान पडता था। उधर सवा सोलह आने गृहस्थ मुशीजी को अकेलापन बुरी तरह काट रहा था। पन्द्रह रोज बाद उन्होने कुछ झुँझलाकर लिखा —

'तुम लिखती हो कि २२ जून को शादी है और दूसरी बहन के यहाँ जो शादी है, वह २८ जून की है। मेरी समझ में नही आता कि ये शादियाँ उन लोगो के घर हो तो उसका तावान अकेला मैं दूँ। मै समझता हूँ कि तुम जुलाई से पहले आने का शायद नाम भी न लोगी। अच्छा, बेटी और ज्ञानू आ गया है, यह सुनकर मुझे खुशी हुई। तुम तो इन सबो के साथ खुश हो। इधर मै सोचता हूँ कि एक-डेढ महीने कैसे बीतेंगे। इसे समझ ही नही पाता हूँ। आखिर काम भी करूँ तो कितना करूँ, बैल तो नही हूँ, फिर आदमी के लिए मनोरजन भी तो कोई चीज होती है। मेरा मनोरजन तो सबसे अधिक घर पर बाल-बच्चों से ही हो सकता है। मेरे लिए दूसरा कोई मनोरजन ही नही है। खाना भी खाने बैठता हूँ तो अच्छा नही मालूम होता क्योकि यहाँ साहबी ठाट-बाट है और साहब बनने में मेरी तबियत घबराती है। वहाँ होता, ज्ञानू आया था, उसको खेलाता। .. मेरी तो यह समझ

मे नही आता कि जो लोग घर-बार से अलग रहते होगे, वह कैसे रहते है । मुझे तो यह महीना डेढ महीना याद करके मेरी नानी मरती है कि किस तरह यह दिन कटेंगे । '

उसी दिन जैनेन्द्र को उन्होने लिखा —

'पहली को आ गया । मकान ले लिया । दादर में होटल में खाता हूँ और पडा हूँ । यहाँ दुनिया दूसरी है, यहाँ की कसौटी दूसरी है । अभी तो समझने की कोशिश कर रहा हूँ ।'

फिर २४ जून को अपनी पत्नी को लिखा —

' . मेरा खयाल है कि पहली जुलाई को तुम्हारे यहाँ पहुँच जाऊँगा । तुम्हारे यहाँ तो काफी चहल-पहल होगी और धुन्नू* तो फेल हो गया । खैर, कोई अफसोस की बात नही है , फेल-पास तो लगा ही रहता है, फिर भी अपने बच्चो का फेल होना अच्छा नही मालूम होता । रजीदा हो तो समझा देना, गलती उसी की है ।'

और फिर खुद भी उसको समझाते हुए लिखा —

'इस फेल होने की चिन्ता मत करो । मुझे तो पहले ही आशका थी । कभी-कभी असफलता सफलता से ज्यादा फल देनेवाली होती है । अपने जीवन को सयम में बाँधो, कसरत करो, नियमित रूप से काम करो, सफल होगे ।'

श्रीपत इलाहाबाद जाकर पढना चाहते थे, छोटा लडका क्या करे, कुछ तय नही हो पा रहा था । नवी में गया था । बम्बई ले जाने का खयाल आता था, मगर बेकार-सी बात थी क्योकि दोनो प्रान्तो का कोर्स बिलकुल अलहदा था और मुशीजी का इरादा वहाँ साल भर से ज्यादा रहने का नही था । फिर क्या, होगा, बेचारा न इधर का रहेगा न उधर का । लिहाजा मुशीजी की तो यही इच्छा थी कि दोनो बच्चे वही बनारस में रहकर ही पढे, कोई कहा आये-जाये नही, क्या फायदा खर्च बढाने से, साल भर बाद क्या होगा, कहाँ से आयेगा सौ रुपया महीना

यही बात मुशीजी ने लिखी और लिखा कि मैने तीन कमरे का मकान ले लिया है, जरूरी फर्नीचर खरीद लिया है यानी पाँच कुर्सियाँ, एक मेज, नौकर अभी नही मिला है, बारह रुपये और खाने पर मिलता है, गेहूँ आठ सेर का है, दूध आठ आने सेर, आम ढेरो मिलते है और बहुत मीठे, दो आने का एक या सवा रुपये दर्जन, अडे बहुत सस्ते है, छ आने दर्जन ।

अपने काम के बारे में लिखा —

'... यह एक बिलकुल नयी दुनिया है । साहित्य से इसको बहुत कम सरोकार है । इन्हे तो रोमाचकारी सनसनीखेज तस्वीरे चाहिए । अपनी ख्याति को

---

* बडा लडका श्रीपत

खतरे में डाले बगैर मै जितनी दूर तक डाइरेक्टरो की इच्छा पूरी कर सकूँगा उतनी दूर तक करूँगा, मुझे करना पडेगा। जिन्दगी में समझौता करना ही पडता है। आदर्शवाद महँगी चीज है और बाज औकात उसको दबाना पडता है।' बम्बई की आबहवा रास न आने, पेट को खराबी और कब्ज की शिकायतें भी इसी खत मे आ गयी।

पहली जुलाई तक गिरस्ती का नक्शा मुशीजी के मन में साफ हो गया था —

'मुझे उम्मीद है कि मैं १५ जुलाई को तुम्हारे पास पहुँच जाऊँगा। बेटी को अभी बिदा न करना। मैं उसको अपने साथ लेता आऊँगा। बच्चो को पढने के लिए मेरे खयाल से प्रयाग में अच्छा होगा। बच्चो का वहाँ नाम लिखा देना। वह दोनो आराम से वहाँ पढेंगे। बच्चो के यहाँ नाम लिखने से मैं यहाँ बँध जाऊँगा और मैं कही बँधना नही चाहता। अभी मैं यहाँ रहने का निश्चय नही कर सका हूँ, इसलिए यहाँ लडको का नाम लिखाना ठीक नही होगा। उनका वही रहना ज्यादा ठीक है। बाद को उनकी पढाई में गडबडी हो जाने का डर है। तुम अपने खत में यह लिखोगी कि मैं खुद रह करके बच्चो को यही पढाऊँ। उसके लिए मैं यह लिखता हूँ कि बच्चो को सबसे ज्यादा रुपये की ख्वाहिश होती है। मै उनको सौ रुपया महीना देता रहूँगा। वह आराम से वहाँ रहेंगे। उनको ज़रूरत न मेरी है न तुम्हारी।'

कहने की जरूरत नही, यह मुशीजी का दुखी हृदय बोल रहा है। बच्चो की इलाहाबाद जाने की बेजा जिद...

बहरहाल, जुलाई खत्म होते-होते शिवरानी देवी बेटी और उसके बच्चे के साथ बम्बई पहुँच गयी और मुशीजी की गिरस्ती जम गयी।

मगर महानगरियो की हवा में शायद कुछ जादू होता है (मुशीजी के लिए तो था ही) कि आदमी काम कुछ नही करता मगर व्यस्त हरदम रहता है। 'गोदान' पर काम चल रहा था, मगर चोटी की चाल से। उधर 'मजदूर' बनना शुरू हो गया था। जैसा कि जियाउद्दीन बर्नी साहब कहते हैं, जो उन दिनो बम्बई में ही थे और मुशीजी से अक्सर मिलते रहते थे, और जिसकी तसदीक उस फिल्म के निर्देशक मोहन भवनानी ने भी की, 'इस फिल्म की कहानी का ढाँचा कम्पनी ने तैयार किया था और उस पर चमडी-गोश्त मुशीजी साहब ने मढ दिया था।' काफी अतिनाटकीय-सी कहानी थी जिसका उद्देश्य यह दर्साना था कि पूँजीपति उदार और उन्नत विचारो का होकर देश का, जनता का कितना भला कर सकता है। बात थोडी-सी मुशीजी के मन की थी भी और बहुत कुछ नही भी थी। बहरहाल ढाँचा तो यहाँ पहले से तैयार ही था, बस गोश्त चढाना बाकी था और उसमें मुशीजी ने कोताही नही की। डायलाग में जितनी जान डाल सकते थे, डाली, जितनी तेज़ी ला सकते थे, लाये। भवनानी ने भी, जिनकी फिल्मी ज़िन्दगी

शुरू ही हो रही थी, खूब जी तोडकर काम किया। एक मिल-मालिक दोस्त की कपडा मिल में तस्वीर 'शूट' की गयी, बगैर पूरी बात उस दोस्त पर खोले। बम्बई की फिल्मी दुनिया में 'लोकेशन शूटिंग' आज भी कम ही देखने में आती है। रुपये में पन्द्रह आना तसवीरे आज भी पूरी की पूरी नकली सेट बनाकर स्टूडियो में ही बना ली जाती है, उस वक्त तो हिन्दी फिलमो के उस आरम्भिक युग में यह एक बिलकुल नयी और अनहोनी बात थी। लिहाज़ा मिल के हजारो मजदूरो समेत वह सीन चित्रपट पर बहुत ही सजीव उतरे, और गो कहानी काफी लचर-सी थी, डायलाग ने उसमें काफी जान फूंक दी थी। और तसवीर जब सेसर बोर्ड के सामने पहुँची तो बम्बई के बडे पूँजीपति और मिल-ओनर्स असोसिएशन के सभापति सर जीजीभाई ने, जो बोर्ड के भी सदस्य थे और बहुत प्रभावशाली सदस्य थे, डटकर उसका विरोध किया और तसवीर सेसर बोर्ड से पास नही हो सकी। तब भवनानी और अजता सिनेटोन के दूसरे लोगो ने बोर्ड के सभापति और बबई के पुलिस कमिश्नर किन्ही मिस्टर विलसन से अपील की। मिस्टर विलसन ने कुछ दृश्य काट देने के लिए कहा। कम्पनी ने उनकी सलाह पर अमल किया लेकिन तब भी बम्बई के सेंसर बोर्ड ने, जिसमें बहुत से बडे-बडे पूँजीपति भरे थे, फिल्म को पास नही किया।

लेकिन पजाब में सेसर बोर्ड ने फिल्म को पास कर दिया और लाहौर के इम्पीरियल सिनेमा में राम राम करके उसके दिखाये जाने की बारी आयी। बम्बई के सेसर बोर्ड ने फिल्म को पास नही किया, यह बात फैल ही चुकी थी। पहले ही रोज, भवनानी साहब का कहना है, साठ हजार मजदूरो की भीड सिनेमा के फाटक पर जमा हुई — और सात रोज तक कुछ इसी तरह का हाल रहा, फाटक पर भीड की रोक-थाम के लिए पुलिस और मिलिटरी का बन्दोबस्त करना पडा। आखिरकार पजाब सरकार ने भी घबराकर उस पर रोक लगा दी।

लाहौर के बाद वह फिल्म दिल्ली में रिलीज हुई। वहाँ भी अनिष्टकारी ग्रहो ने उसका पीछा नही छोडा। कोई मजदूर फिल्म के एक सीन की ही तरह, किसी मिल मालिक की मोटर के आगे लेट गया और एक अच्छा-खासा हगामा खडा हो गया। नतीजा दिल्ली की प्रान्तीय सरकार ने भी उस पर रोक लगा दी।

यू० पी०, सी० पी० में जहाँ-तहाँ यह तसवीर दिखायी गयी पर कुछ अर्से के बाद जब भारत सरकार ने उस पर रोक लगा दी तो बात खत्म हो गयी। बाद को सन् ३७ में एक बार फिर उसके मामले को उभाडा गया और किसी प्रकार उसके और भी कुछ हिंसात्मक दृश्य काट-कूट करके उसके ऊपर लगी हुई रोक हटाने का उपाय किया गया — लेकिन तब तक लोहा ठडा पड चुका था और लोग दिलचस्पी खो चुके थे।

मगर फिल्म को दूसरी नजर से देखनेवाले लोग भी थे और उसकी बहुत

अच्छी रिव्यू अमेरिका की मशहूर पत्रिका 'एशिया' मे निकली ।

लेकिन यह तो जरा अभी आगे की बात है। अभी तो तसवीर बन रही है और भवनानी ने बहुत कह-सुनकर मुशीजी को इसके लिए राजी कर लिया है कि वह खुद एक-दो मिनट के लिए पर्दे पर आये। मुशीजी को न जाने कैसी लगती है यह बात, लेकिन भवनानी का हठ देखकर वह राजी हो जाते है, शर्त एक ही है कि वह अपने रोज के कपडो में ही रहेगे और किसी तरह का कोई मेक-अप नही करायेगे। भवनानी इसको भी मजूर कर लेते है — और तब मुशीजी अपनी उटग धोती और कुर्ते में, जरा-सी देर के लिए, मिलवालो और मजदूरो के झगडे में सरपच बनकर रजत पट पर आते है।

और उधर खुद उनके कारखाने मे मजदूरो ने हडताल कर दी। मुशीजी को इस बात से बडी चोट लगी और उन्होने २५ सितम्बर १९३४ को 'भारत' में सम्पादक के नाम एक चिट्ठी छपायी जो खुद अपनी दर्दनाक कहानी कह रही है ——

● सरस्वती प्रेस के प्रोप्राइटर होने के नाते हडताल की कितनी जिम्मेदारी मुझ पर आती है उसे स्पष्ट करना आवश्यक है ताकि आपके पाठको को उससे मेरे बारे में जो गलतफहमी हो सकती है वह दूर हो जाय।

सरस्वती प्रेस लगातार कई साल से घाटे पर चल रहा है। पहले 'हस' निकला और उससे तीन साल तक बराबर घाटा होता रहा। . इसके बाद प्रेस में काम की कमी को पूरा करने और जाति की कुछ सेवा करने के लिए मैंने 'जागरण' निकालने का भार भी ले लिया . और दो साल अपने समय का बहुत बडा भाग खर्च करके उसे चलाता रहा लेकिन उसमें भी बराबर घाटा ही रहा, यहाँ तक कि प्रेस पर कोई चार हजार का ऋण हो गया जिसमें कर्मचारियो का देना और कागजवालो का बकाया दोनो शामिल है। फिर भी मैंने हिम्मत नही हारी और जब अपनी बिगडी आर्थिक दशा से तग आकर मैं काशी से चलने लगा तो मैने 'जागरण' का सम्पादन-भार बाबू सम्पूर्णानन्द को सौपा मगर घाटा बराबर होता रहा। मेरी पुस्तको की बिक्री के रुपये भी प्रेस के खर्च में आते रहे फिर भी खर्च पूरा न पडता था क्योकि इधर पुस्तको की बिक्री भी घट गयी है। बाबू सम्पूर्णानन्द जी के हाथो में 'जागरण' ने सोशलिस्ट नीति की जैसी जोरदार वकालत की, वह हिन्दी ससार भलीभाँति जानता है। मै खुद सोशलिस्ट विचारो का आदमी हूँ और मेरी सारी जिन्दगी गरीबो और दलितो की वकालत करते गुजरी है। हिन्दी में 'जागरण' एक ऐसा पत्र था जिसने घाटे की परवाह न करते हुए वीरता के साथ सोशलिज्म का प्रचार किया। जब प्रेस की आमदनी का यह हाल था तो कर्मचारियो का वेतन कहाँ से पाबन्दी के साथ दिया जा सकता

था ? मेरी किताबो से जो कुछ आमदनी होती है, वह इतनी भी नही है कि उससे मेरा निबाह हो सकता। न मुझमें यह फन है कि धनिको से अपील करके कुछ धन सग्रह कर सकता। ...

मुझे ऐसी दशा में 'जागरण' को अवश्य बन्द कर देना चाहिए था, जैसा मेरे अनेक मित्रो ने कहा, लेकिन दुनिया उम्मीद पर कायम है और मै बराबर यही सोचता रहा कि शायद अब पत्र का प्रचार बढे। उसके पीछे कई हजार का नुकसान उठा चुकने के बाद उसे बन्द करते मोह आता था। मेरे कई मित्रो ने प्रेस को ही बन्द करने की सलाह दी क्योकि प्रेस के बन्धन से मुक्त होकर मै अपनी पुस्तको और लेखो से लस्टम-पस्टम अपना निर्वाह कर सकता हूँ। कम से कम उस दशा में मुझ पर किसी का कर्ज तो न रहता लेकिन मुझे यही सकोच होता था कि ये पचीस-तीस आदमी बेकार होकर कहाँ जायँगे। बला से मुझे कुछ नही मिलता, मेहनत भी मुफ्त में करनी पडती है मगर इतने आदमियो की रोजी तो लगी हुई है। इस खयाल से मैं हर तरह की जेरबारी उठाकर प्रेस और पत्र चलाता रहा। दिल में समझता था, कर्मचारियो को प्रेस का ज्ञान है ही, क्या वह मेरी मजबूरी नही समझते ? जब उन्हे मालूम है कि मैंने आज तक प्रेस से एक पैसे का लाभ नही उठाया और अपनी जायज कमाई से कम से कम दस हज़ार रुपये प्रेस और पत्रो के पीछे फूँक दिये तो उनको मेरे नादिहन्द होने की कोई शिकायत नही होनी चाहिए। मै तो उल्टे अपने को उनकी हमदर्दी का पात्र समझता था। मै मानता हूँ कि गरीबो को समय पर वेतन न मिलने से बडा कष्ट होता है, लेकिन क्या वे खुद ही इस प्रेस के मालिक होते तो वे भी मेरी ही तरह सिर पीटकर न रह जाते ? क्या उन्हे किसानी में घाटा नही हो रहा है और वे प्रेस की मजदूरी करके लगान नही अदा कर रहे है ? कर्मचारी को मालिक से असतोष तब होता है जब मालिक खुद तो आमदनी हजम कर जाता है और उन्हे भूखा रखता है। जब उन्हे मालूम है कि मालिक खुद बेगार में रात-दिन पिस रहा है, उसकी जेब में एक पाई भी नही जाती, तो उनको मालिक से शिकायत करने का कोई जायज मौका नही है। फिर भी, इन परिस्थितियो पर जरा भी विचार न करके प्रेस सघ ने प्रेस में हडताल करवा दी। मैंने खबर पाते ही सघ के सभापति महोदय को सारा हाल समझा दिया लेकिन उन्हे तो अपनी शानदार फतेह की पडी थी, मेरी गुज़ारिशो पर क्यो ध्यान देते ! उन्हे यहाँ तक विचार न हुआ कि इस प्रेस को साहित्य या समाज की सेवा ही के कारण यह घाटा हो रहा है। और यही प्रेस है जो मजदूरो की वकालत कर रहा है, और इस लिहाज से मजदूरो की हमदर्दी का हकदार है, ऐसी कोशिश करें कि वह सफल हो और ज्यादा एकाग्रता से उनकी वकालत कर सके। उनके सोशलिज्म में ऐसे तुच्छ विचारो के लिए स्थान ही नही था। वहाँ तो सीधा-सादा खुला हुआ सिद्धान्त था कि प्रेस ने

मजदूरी बाकी लगा रक्खी है, इसलिए हडताल करवा दो। मैं अब भी प्रेस को बन्द कर सकता था क्योकि मैं पहले ही कई बार कह चुका हूँ कि प्रेस से मुझे कोई आर्थिक लाभ नही है, बल्कि हमेशा कुछ न कुछ घर से देना पडता है, लेकिन फिर यह खयाल करके कि इतने आदमी उसी प्रेस से कुछ न कुछ पा रहे हैं, उसे बन्द कर देने से उन्ही का नुकसान होगा और उन्हे अपने बाकी वेतन के लिए कई महीने का इन्तजार करना पडेगा, प्रेस को जारी कर दिया। यह है उस शानदार विजय का वृत्तान्त जो सघ को सरस्वती प्रेस पर प्राप्त हुई है। अपने वकील का गला घोटना अगर विजय है तो बेशक उसे विजय हुई, क्योकि इस झमेले में 'जागरण' बन्द हो गया। जिन मजदूरो के लिए वह सैकडो का माहवार घाटा सह रहा था, जब उन्ही मजदूरो को उस पर दया नही आती तो फिर उसका बन्द हो जाना ही अच्छा था।

रह गयी अन्य शर्तें। वे सब अच्छी है और मै हमेशा से उनकी पाबन्दी करता आया हूँ। मेरे कर्मचारियो में से किसी का साहस नही है कि वह मेरे विरुद्ध अपशब्द या डाँट-डपट का आक्षेप कर सके। मैं खुद मजदूर हूँ और मज़दूरो का दोस्त हूँ। उनके साथ किसी तरह का अन्याय या सख्ती देखकर मुझे दुख होता है। और मेरे मैनेजर ने मारपीट की थी तो कर्मचारियो को मुझसे कहना चाहिए था, अगर मैं मैनेजर की तम्बीह न करता तो उनका जो जी चाहता करते।.. इन शर्तो में एक भी ऐसी नही है जो मैं सच्चे हृदय से न मान लेता, बल्कि मै तो मजदूरो को आधे महीने की पेशगी देने की शर्त भी मानता, अगर कोष में रुपये होते। मैं खुद चाहता हूँ कि वह समय आये जब मजदूरो को (जिनमें मैं भी हूँ) कम से कम काम करके अधिक से अधिक मजदूरी मिले, खूब छुट्टियाँ मिलें, और जितनी सुविधाएँ दी जा सके दी जायें, मगर शर्त यही है कि आमदनी काफी हो। घाटे पर चलनेवाले उद्योग को बडी-बडी सदिच्छाएँ रखने पर भी बदनाम होना पडता है और उस पर कोई भी बडी आसानी से शानदार फतेह पा सकता है। ●

जिसके लिए अपना पेट काटा और सारी ज़िन्दगी आराम नही जाना, वही कहे कि तुम मेरा पेट काट रहे हो, मेरा खून चूस रहे हो! बडी गहरी पीडा हुई मुशीजी को और उसी तैश में उन्होने दो-तीन जगह चिट्ठियाँ दौडा दी। उसके चौथे रोज़ २६ तारीख़ को उन्होने जैनेन्द्र को लिखा — 'मैंने सोचा तीन महीने की मजदूरी एक हज़ार रुपये से कम न होगी। कागज़वालो के भी दो हजार देने हैं। क्यों न हस और स्टाक किसी को देकर उससे रुपये ले लो और सब बकाया चुकाकर प्रेस से हमेशा के लिए पिण्ड छुडा लो। तभी दो-तीन जगह पत्र लिखे। एक पत्र ऋषभ जी को भी लिखा। स्टाक लेना तो सबने स्वीकार किया, पर हस पर कोई न खडा हुआ। इस बीच में हडताल टूट गयी। एक महीने का

वेतन लेकर सब काम करने आ गये।'

मुशीजी की जिन्दगी का नक्शा यहाँ भी वही था जो बनारस में या लखनऊ में या कानपुर में या गोरखपुर में — 'न किसी से दोस्ती न किसी से मुलाकात। मुल्ला की दौड मसजिद तक। स्टूडियो गये, घर आ गये,' ७ फरवरी १९३५ के ख़त में मुशीजी ने जैनेन्द्र को लिखा। 'सात बजे उठता हूँ। साढे आठ पर घूम कर आता हूँ। नाश्ता करता हूँ। नौ बजे अखबार पढता हूँ। कभी घण्टा भर, कभी इससे ज्यादा समय लग जाता है। कभी कोई मिलने आ जाता है। ग्यारह बज जाता है। नहा-खाकर स्टूडियो जाता हूँ। कुछ काम हुआ तो किया नही उपन्यास पढा। पाँच बजे लौटता हूँ। हिन्दी के पत्र-पत्रिकाओ को उलटता-पलटता हूँ, चिट्ठी-पत्तर लिखता हूँ, खाता हूँ, और सो जाता हूँ। यही दिनचर्या है।'

शब्द-शब्द में अपनी व्यर्थता का आक्रोश बोल रहा है .

नाटककार हरिकृष्ण प्रेमी वही दादर की हिन्दू कॉलोनी में मुशीजी के पडोसी थे। वह भी फिल्मो में किस्मत आजमाने आये थे। अक्सर गपशप के लिए चले आते। एक रोज उन्होंने मुशीजी से पूछा — आप कैसे आ फँसे यहाँ ?

मुशीजी ने जवाब दिया — प्रेस के ऊपर कुछ कर्ज हो गया है, उसी को पटाने के लिए आया हूँ। मगर तुम, तुम क्यो अपने को बर्बाद करने आ गये ?

प्रेमी ने कहा — जी, कुछ पैसा कमाकर प्रेस लगा लेना चाहता हूँ। .

मुशीजी ने जोर का एक कहकहा लगाया और फिर कुछ उदास होते हुए कहा — आज प्रेस लगाने को पैसा कमाने फिल्म कम्पनी में आये हो, कल प्रेस के कर्ज को अदा करने के लिए आओगे . .

एक बार प्रेमी जी के एक दोस्त दिल्ली से बम्बई आये। उनकी सुन्दरी, सलोनी, युवती पत्नी साथ थी। प्रेमी जी की कहानी पर फिल्म बन रहा था। वही स्टूडियो में जाकर उन्होने प्रेमी जी से मुलाकात की। सारा दिन बडी दिलचस्पी से शूटिंग देखा। शाम को प्रेमचन्दजी से मिलने की ख्वाहिश जाहिर की तो प्रेमी उनको लेकर मुशीजी के घर पहुँचे। पत्नी भीतर चली गयी। मर्दो में बातें होने लगी।

मित्र ने कुछ इधर-उधर की बातो के बाद पूछा — मुशीजी, क्या भले घर की महिलाएँ फिल्मो में काम कर सकती हैं ?

मुशीजी ने तपाक से कहा — क्यो नही

मित्र का चेहरा खिल उठा लेकिन तभी मुशीजी ने अपनी बात पूरी करते हुए कहा — लेकिन उन्हे अपनी नाक अपने घर रख आनी होगी।...

हर रोज स्टूडियो जाना ज़रूरी नही है लेकिन कुछ यही तबीयत का उखडा-पन है कि पहुँच जाते है, घर रहकर ही ऐसा क्या कर लूँगा ! सिगरेट पीना भी बहुत बढ गया है — नही तो बस दिन-रात में तीन बीडी पीते थे। अब यो ही धुआँ उडाते दोपहर गुज़र जाती है।

कम्पनी के लोग, ऐक्टर वग़ैरह मुशीजी की बहुत इज्ज़त करते है, खासकर पराशर और नवीन याज्ञिक। मगर बोर्ड ऑफ डाइरेक्टर्स में कुछ लोग काफी खरदिमाग है। ठेठ पूँजीपति लोग है, न उनके पास कोई सस्कार न सस्कृति। कभी-कभी मुशीजी से खोद-खोदकर पूछा जाता है — फलाँ कहानी कितनी हुई ? कब तक पूरी होगी ? और वह डायलाग उस तसवीर का ? कुछ देर तक तो मुशीजी का सतुलन कायम रहता है और वह बडे शान्त भाव से जवाब दे देते है, लेकिन कभी-कभी जब बहुत ज्यादा छानबीन की जाने लगती है तो मुशीजी का पारा चढ जाता है और उनके तैश या झुँझलाहट का कुछ अक्स उनके चेहरे पर भी उतर आता है — क्या मतलब इस जाँच-पडताल का ? मेरा कहना काफी नही है कि मैं फलाँ कहानी पर काम कर रहा हूँ

सच पूछिए तो उस मतलब में मुशीजी कम्पनी के नौकर भी नहीं है, उनका तो साल भर का ठेका है कहानियाँ लिखकर देने का, और लिखने का काम घर पर भी किया जा सकता है, ज्यादा अच्छी तरह किया जा सकता है। मगर मुशीजी खुद कम्पनी का काम कम्पनी में बैठकर करना पसन्द करते है, इसी-लिए तो रोज़ बिला नागा पहुँच जाते है अपने वक्त से। घर अपने लिखने के लिए है, जो कि ढग से हो नही पा रहा है ....

१३ नवम्बर को मुशीजी ने हैदराबाद के हशमउद्दीन गोरी साहब के एक फिल्म-सम्बन्धी लेख पर, जिसमें उन्होने जन-रुचि के सस्कार के लिए फिल्म की उपयोगिता की बात उठायी थी, लेखक को बधाई देते हुए कहा —

' .. मुझे आपके खयाल से लफ्ज-ब-लफ्ज इत्तफाक है। मगर जिन हाथो में फिल्म की किस्मत है वह बदकिस्मती से इसे इडस्ट्री समझ बैठे है। इडस्ट्री को मजाक[1] और इसलाह[2] से क्या निस्बत ? वह तो एक्सप्लायट करना जानती है और यहाँ इसान के मुकद्दसतरीन[3] जज़बात[4] को एक्सप्लायट कर रही है। बरहना[5] और नीमबरहना[6] तसवीरें, कत्ल-ओ-खून और जब्र की वारदातें, मार-पीट, गुस्सा और गजब और नफ्सानियत ही इस इडस्ट्री के औज़ार है और इन्ही से वह इन्सानियत का खून कर रही है।'

---

१ रुचि २ परिष्कार ३ पवित्रतम ४ भावनाओ ५ नग्न
६ अर्द्ध-नग्न

और २६ दिसम्बर को इन्द्रनाथ मदान को लिखा —'सिनेमा साहित्यिक आदमी के लिए ठीक जगह नही है। मैं इस लाइन में यह सोचकर आया था कि आर्थिक रूप से स्वतन्त्र हो सकने की कुछ सभावनाएँ इसमें दिखायी देती थी लेकिन अब मैं देख रहा हूँ कि यह मेरा भ्रम था और अब मैं फिर साहित्य की ओर लौट रहा हूँ। सच तो यह है कि मैंने लिखना कभी बन्द नही किया। मै उसे अपने जीवन का लक्ष्य समझता हूँ। सिनेमा मेरे लिए वैसा ही है जैसी कि वकालत होती, अन्तर बस इतना है कि यह अधिक स्वस्थ है।'

पन्द्रह रोज बाद फिर जैनेन्द्र को लिखा —

"फिल्मी हाल क्या लिखूं। 'मिल' यहाँ पास न हुआ। लाहौर में पास हो गया और दिखाया जा रहा है। मै जिन इरादो से आया था उनमें एक भी पूरा होता नजर नही आता। ये प्रोड्यूसर जिस ढग की कहानियाँ बनाते आये है, उसकी लीक से जौ भर भी नही हट सकते। वल्गैरिटी को ये लोग एण्टरटेनमेण्ट वैल्यू कहते हैं। अद्भुत ही में इनका विश्वास है। राजा-रानी, उनके मन्त्रियो के षड्यन्त्र, नकली लडाई, बोसेबाजी, यही उनके मुख्य साधन हैं। मैने सामाजिक कहानियाँ लिखी है जिन्हे शिक्षित समाज भी देखना चाहे, लेकिन उनको फिल्म करते इन लोगो को सन्देह होता है कि चले या न चले। यह साल तो पूरा करना है ही। कर्ज़दार हो गया था, कर्जा पटा दूँगा, मगर और कोई लाभ नही। उपन्यास के अंतिम पृष्ठ लिखने बाकी है, उधर मन ही नही जाता। यहाँ से छुट्टी पाकर अपने पुराने अड्डे पर जा बैठूं। वहाँ धन नही है मगर सन्तोष अवश्य है। यहाँ तो जान पडता है कि जीवन नष्ट कर रहा हूँ।"

इसके अभी दो ही महीने पहले मुशीजी ने बनारसीदास को लिखा था —

'यहाँ स्थिति मेरे लिए काफी अनुकूल है क्योकि अब इस उम्र मे मेरे बहकने का अंदेशा कम है। दूसरी ओर मेरा इस लाइन में रहना ब्रेक का काम कर सकता है।' लेकिन इसी बीच जी खट्टा हो गया था, उम्मीदे बुझ गयी थी।

शायद इन्ही दिनो, जियाउद्दीन बर्नी साहब बयान करते है — "बम्बई टाकीज़ के डाइरेक्टर मिस्टर हिमाशु राय, जो 'लाइट आफ एशिया' और 'कर्म'-जैसी कामयाब फिल्में बना चुके है, यह चाहते थे कि मुशी साहब किसी तरह उनकी कम्पनी से सम्बद्ध हो जायँ। चुनाचे जब उन्होने मुझसे अपनी इच्छा व्यक्त की तो मैंने मुशी साहब से उनकी मुलाकात करा दी। लेकिन मुलाकात के वक्त उन्होने बम्बई की खराब आबहवा की बात कही और फरमाया कि मै अजन्ता सिनेटोन से अलग होने के बाद बनारस जाना चाहता हूँ। मुझे उनकी बातचीत से ऐसा मालूम होता था कि फिल्मी काम से उनका जी उचाट हो चुका है, इसलिए कि जब मिस्टर हिमाशु राय ने उनसे दर्ख़ास्त की कि वह बनारस ही से उनकी कम्पनी के लिए कहानियाँ लिखकर भेज दिया करें, तब

भी उन्होने अपनी असमर्थता बतलायी और अपनी जगह पर मिस्टर कश्यप[1] की सिफारिश कर दी ''

जिन्दगी अपने इसी रग मे चली जा रही थी। सेहत गिरती जा रही थी। पेट की तमाम पुरानी बीमारियाँ, जो न जाने कब से शरीर में अड्डा जमाये बैठी थी, अब फिर सिर उठाने लगी थी।

राजनीति बिलकुल ठण्डी थी। २६ सितम्बर को मुशीजी ने जैनेन्द्र को लिखा था — 'यहाँ काग्रेस में आ रहे हो न ? काग्रेस तो बेजान-सी चीज होती जा रही है। मगर तमाशा तो रहेगा ही '

हाँ, राष्ट्रभाषा का आन्दोलन एक ऐसी चीज थी जो आजकल मुशीजी की चेतना पर पूरी तरह छायी हुई थी।

२७ अक्तूबर को बम्बई में ही राष्ट्रभाषा सम्मेलन के स्वागताध्यक्ष की हैसियत से भाषण करते हुए मुशीजी ने कहा —

● यह दो पैरोवाला जीव उसी वक्त आदमी बना जब उसने बोलना सीखा। .. समाज की बुनियाद भाषा है। . भाषा का सीधा सम्बन्ध हमारी आत्मा से है।... भाषा हमारी आत्मा का बाहरी रूप है। उसके एक-एक अक्षर में हमारी आत्मा का प्रकाश है। भाषा सदियो तक हमारा साथ देती रहती है और जितने लोग हमजबान है, उनमे एक अपनापन, एक आत्मीयता, एक निकटता का भाव जगाती रहती है। मनुष्य में मेल डालनेवाला रिश्ता भाषा का है। ...

हमारे मुल्की फैलाव के साथ हमें एक ऐसी भाषा की जरूरत पड गयी जो सारे हिन्दुस्तान में समझी और बोली जाय ..

हम सूबे की भाषाओ के विरोधी नही है, आप उनमें जितनी उन्नति कर सकें, करें, लेकिन एक कौमी भाषा का मरकजी सहारा लिये बगैर आपके राष्ट्र की जड मजबूत नही हो सकती। . . अगर हमने कौमियत की सबसे बडी शर्त, यानी कौमी जबान की तरफ़ से लापरवाही की तो इसका अर्थ यह होगा कि आपकी कौम को जिन्दा रखने के लिए अग्रेजी की मरकजी हुकूमत का कायम रहना लाजिमी होगा, वर्ना कोई मिलानेवाली ताकत न होने के कारण हम सब बिखर जायँगे और प्रान्तीयता जोर पकडकर राष्ट्र का गला घोट देगी ....

इस कौमी जबान के रास्ते में सबसे बडी रुकावट अग्रेजी है, उसका बढता हुआ प्रचार और हममें आत्म-सम्मान की वह कमी जो गुलामी की शर्म को नही महसूस करती। ●

---

१ जमुना स्वरूप, (जे० एस०) कश्यप जिन्होने बम्बई टाकीज के लिए बरसों काम किया और आजकल शायद मद्रास की किसी कपनी में है।

अंग्रेज़ी की इस नागफाँस को तोडना होगा, हिन्दुस्तान की किसी जबान से। वह ज़बान हिन्दी या हिन्दुस्तानी ही हो सकती है। नाम से मुंशीजी को कोई झगडा नही है, हिन्दी कहिए, उर्दू कहिए, हिन्दुस्तानी कहिए, कुछ भी कहिए, तत्व की बात यह है कि उसका रूप क्या होगा? वह हिन्दी-उर्दू का मिला-जुला रूप होगा। तो क्यो न उसे हिन्दुस्तानी कहो, हिन्दुस्तान की भाषा हिन्दुस्तानी।

● ऐसी भाषा न पडिताऊ होगी न मौलवियो की। यह ज़ाहिर है कि अभी इस तरह की भाषा में इबारत की चुस्ती और शब्दो के विन्यास की बहुत थोडी गुजाइश है। और जिसे हिन्दी या उर्दू पर अधिकार है, उसके लिए चुस्त और सजीली भाषा लिखने का लालच बडा ज़ोरदार होता है। अगर हमें राष्ट्रभाषा का प्रचार करना है तो हमें इस लालच को दबाना पडेगा। हमें इबारत की चुस्ती पर नही, अपनी भाषा को सलीस बनाने पर खास तौर से ध्यान रखना होगा। इस वक्त ऐसी भाषा कानो और आँखो को खटकेगी ज़रूर, कही गगा-मदार का जोडा नज़र आयेगा, कही एक उर्दू शब्द हिन्दी के बीच मे इस तरह डटा मालूम होगा जैसे कौओ के बीच में हस आ गया हो। कही उर्दू के बीच में हिन्दी शब्द हलुए में नमक के डले की तरह मजा बिगाड देंगे। पडितजी खिलखिलायेंगे और मौलवी साहब भी नाक सिकोडेंगे और चारो तरफ से शोर मचेगा कि हमारी भाषा का गला रेता जा रहा है, कुन्द छुरी से उसे ज़िबह किया जा रहा है। उर्दू को मिटाने के लिए यह साजिश की गयी है, हिन्दी को डुबोने के लिए यह माया रची गयी है। लेकिन हमें इन बातो को कलेजा मजबूत करके सहना पडेगा। राष्ट्रभाषा केवल रईसो और अमीरो की भाषा नही हो सकती। उसे किसानो और मजदूरो की भाषा बनना पडेगा। ... इधर तो हम राष्ट्र राष्ट्र का गुल मचाते है, उधर अपनी-अपनी जबानो के दरवाजो पर सगीनें लिये खडे रहते हैं कि कोई उसकी तरफ आँख न उठा सके। . ●

दिसबर में मद्रास की तैयारी हो गयी। हिन्दी प्रचार सभा ने दीक्षान्त भाषण करने के लिए आमन्त्रित किया था। एक अहिन्दी प्रदेश में जाकर हिन्दी के प्रचार का सुयोग उनके मन की चीज थी और 'मन मन भाये मुडिया हिलाये' वाली बात उनके लिए बिलकुल बिरानी थी। लिहाजा मुंशीजी ने न्योता पाकर तुरन्त उसे स्वीकार किया और अपनी पत्नी, नाथूराम जी प्रेमी और बम्बई हिन्दी प्रचार सभा के शकरन जी के साथ '२७ दिसम्बर को बबई से चलकर २८ की शाम को मद्रास जा पहुँचे। तीसरे दर्जे का सफर था मगर रास्ते में कोई खास तकलीफ नही हुई। प्रेमी जी अपने साथ मगदल के लड्डू और पूरियाँ रख लाये थे। . . हमने खूब लड्डू खाये ....'

मद्रास में इन लोगो को रामनाथ गोयनका के यहाँ ठहराया गया।

'पदवी-दान का जलसा गोखले हाल में था। मेरा खयाल था कि बहुत बड़ा

जमघट होगा लेकिन मालूम हुआ कि छुट्टियो के कारण बहुत से हिन्दी प्रेमी बाहर चले गये है। मगर तमाशाइयो की तादाद चाहे कम हो, यहाँ जितने लोग थे प्राय सभी हिन्दी प्रचार से सबध रखते थे और हिन्दी प्रचारको के इस मिशनरी दल को देखकर मन मे आशा और गर्व की गुदगुदी होने लगती थी। कुछ लोग तो कई-कई सौ मील तय करके आये थे और उसमे देवियो की भी खासी तादाद थी।'

यहाँ भी मुशीजी ने अपने भाषण में अग्रेजी पर अपना दुहत्तड चलाने के बाद उनसे कहा —

● यह समझ लीजिए कि जिस दिन आप अग्रेंजी भाषा का प्रभुत्व तोड देंगे और अपनी एक कौमी भाषा बना लेंगे, उसी दिन आपको स्वराज्य के दर्शन हो जायँगे।[1] मुझे याद नही आता कि कोई भी राष्ट्र विदेशी भाषा के बल पर स्वाधीनता प्राप्त कर सका हो। राष्ट्र की बुनियाद राष्ट्र की भाषा है। .. आप उसी राष्ट्रभाषा के भिक्षु है और इस नाते आप राष्ट्र का निर्माण कर रहे है आप एक बिखरी हुई कौम को मिला रहे है, आप हमारे बधुत्व की सीमाओ को फैला रहे है, भूले हुए भाइयो को गले मिला रहे है।

. जीवित भाषा तो जीवित देह की तरह बराबर बनती रहती है। 'शुद्ध हिन्दी' तो निरर्थक शब्द है। जब भारत शुद्ध हिन्दू होता तो उसकी भाषा शुद्ध हिन्दी होती। जब तक यहाँ मुसलमान, ईसाई, पारसी, अफगानी, सभी जातियाँ मौजूद है, हमारी भाषा भी व्यापक रहेगी। अगर हिन्दी भाषा प्रान्तीय रहना चाहती है और केवल हिन्दुओ की भाषा रहना चाहती है, तब तो वह शुद्ध बनायी जा सकती है। उसका अग-भग करके उसका कायाकल्प करना होगा। प्रौढ से वह फिर शिशु बनेगी यह असम्भव है, हास्यास्पद है। यह गलत है कि फारसी शब्दो से भाषा कठिन हो जाती है। शुद्ध हिन्दी के ऐसे पदो के उदाहरण दिये जा सकते है जिनका अर्थ निकालना पडितो के लिए भी लोहे के चने चबाना है। वही शब्द सरल है जो व्यवहार में आ रहा है। इससे कोई बहस नही है कि वह तुर्की है या अरबी या पुर्तगाली। उर्दू और हिन्दी में क्यो इतना सौतिया डाह है, यह मेरी समझ में नही आता। मै अपने अनुभव से इतना अवश्य कह सकता हूँ कि उर्दू को राष्ट्रभाषा के स्टैण्डर्ड पर लाने में हमारे मुसलमान भाई हिन्दुओ से कम इच्छुक नही है। मेरा मतलब उन हिन्दू-मुसलमानो से है जो कौमियत के मतवाले है। कट्टरपथियों से मेरा कोई प्रयोजन नही। उर्दू का और मुसलिम

---

१ हिन्दी बहुत दिनो तक स्वराज्य-भाषा और हिन्दी की परीक्षाएँ स्वराज्य-परीक्षाओ के नाम से पुकारी जाती रही। यह नाम खुद राजगोपालाचारी ने दिया था।

सस्कृति का केन्द्र आज अलीगढ है। वहाँ उर्दू और फारसी के प्रोफेसरों और अन्य विषयो के प्रोफेसरो से मेरी जो बातचीत हुई उससे मुझे मालूम हुआ कि मौलवियाऊ भाषा से वे लोग भी उतने ही बेजार है जितने पडिताऊ भाषा से . मै यह भी माने लेता हूँ कि मुसलमानो का एक गिरोह हिन्दुओ से अलग रहने मे ही अपना हित समझता है ●

ऐसे मौलवी लोगो को मुखातिब करते हुए मुशीजी ने अपने इस अधिकार से कि 'मेरा सारा जीवन उर्दू की सेवकाई करते गुजरा है और आज भी मैं जितनी उर्दू लिखता हूँ उतनी हिन्दी नही लिखता, और कायस्थ होने और बचपन से फारसी का अभ्यास करने के कारण उर्दू मेरे लिए जितनी स्वाभाविक है उतनी हिन्दी नही है' कहा —

● मै पूछता हूँ आप हिन्दी को क्यो गर्दन-जदनी समझते है ? क्या आपको मालूम है और नही है तो होना चाहिए, कि हिन्दी का सबसे पहला शायर जिसने हिन्दी का साहित्यिक बीज बोया, . वह अमीर खुसरो था ? क्या आपको मालूम है, कम से कम पाँच सौ मुसलमान शायरो ने हिन्दी को अपनी कविता से धनी बनाया है जिनमें कई तो चोटी के शायर है ? क्या आपको मालूम है अकबर और जहाँगीर और औरगजेब तक हिन्दी कविता का जौक रखते थे और औरगजेब ने ही आमो के नाम 'रसना-विलास' और 'सुधारस' रक्खे थे ? क्या आपको मालूम है, आज भी हसरत और हफीज जालधरी जैसे कवि कभी-कभी हिन्दी में तबा-आजमाई करते है ? क्या आपको मालूम है, हिन्दी में हजारो शब्द हजारो क्रियाएँ अरबी और फारसी से आयी है और ससुराल में आकर घर की देवी हो गयी हैं ? अगर यह मालूम होने पर भी आप हिन्दी को उर्दू से अलग समझते है तो आप देश के साथ और अपने साथ बेइसाफी करते है। मुझे अपने मुसलिम दोस्तो से यह शिकायत है कि वह हिन्दी के आमफहम शब्दो से भी परहेज करते है . ●

यहाँ-वहाँ, गोष्ठियो, सभाओ, लोगो से मिलने-जुलने और ट्रिप्लीकेन समुद्रतट और अडयार की सैर में चार रोज देखते-देखते निकल गये। पाँचवें रोज़ मुशीजी का इरादा सीधे बबई लौट जाने का था, लेकिन जब मैसूर के हिन्दी प्रचारक हिरएमय जी ने वहाँ की प्राकृतिक सुषमा का बखान किया तो मुशीजी ललचा गये, और छोटी लाइन के तीसरे दर्जे की ठेलमठाल झेलते हुए अगले रोज सबेरे मैसूर पहुँचे। बडे प्यार से लोगो ने उनका स्वागत किया और 'कृष्ण भवन' नाम के एक बहुत अच्छे, बहुत साफ-सुथरे बोर्डिंग लाज में ठहराया, जिसके मालिक उत्तर भारत के ही एक सज्जन थे। उनसे मिलकर मुशीजी बहुत प्रभावित हुए, खासकर इस बात से कि आदमी चाहे तो अपने पुरुषार्थ से क्या नही कर सकता। उनका बचपन बडी मुसीबतो में कटा था, ऐसी कि बारह साल की उम्र में उन्हें अपना घर छोड़कर भागना पड़ा। भागकर वह बगलोर आये और एक होटल में झाडू-

बुहारू और प्याला-तश्तरी धोने का काम करने लगे। होते-करते यह दिन आया कि अब वह मैसूर और बगलोर के कई होटलो के मालिक सेठ शिवप्रसाद थे।

बम्बई पहुँचकर मुशीजी ने अपनी इस यात्रा के बारे मे ७ फरवरी १६३५ को जैनेन्द्र को लिखा —

'मद्रास गया था, वहाँ से मैसूर और बगलोर भी गया। अपना यात्रा-वृत्तान्त लिख रहा हूँ। कुछ नोट तो किया नही। जो कुछ याद है, वही लिखता हूँ। हिन्दी का प्रचार बढ रहा है, यह देखकर खुशी हुई। जो लोग राष्ट्र की और कोई सेवा नही कर सकते थे, वे इसी खयाल में मगन है कि वे राष्ट्रभाषा सीख रहे है। मुझे वह प्रदेश बडा सुन्दर लगा। गाने-बजाने का घर-घर प्रचार है, मुहल्ले-मुहल्ले स्त्रियो के समाज है और प्राय सभी में हिन्दी की क्लासे है। मै बुद्धू की तरह माला पहनकर रह गया। बोल न सकने की कमी उस वक्त मालूम हुई। जनता कहती है कि हिन्दी का एक बडा लेखक है, जाने क्या-क्या मोती उगलेगा, और यहाँ है कि कुछ समझ मे नही आता क्या कहे। खैर, ट्रिप अच्छा रहा। प्रेमी जी भी साथ थे। वे बेचारे भी इसी मरज में मुबतिला है।'

अपने यात्रा-वृत्तान्त मे उन्होने मैसूर का बखान करते हुए अगले महीने लिखा—

'मैसूर बडा ही साफ-सुथरा, सुन्दर उद्यानो से सजा हुआ, रमणीक स्थान है। जिधर जाइए उधर पार्क, यहाँ तक कि रेलवे लाइन के किनारे भी फूलो की लाइन नजर आती है। सडकें चौडी है, गर्द-गुबार से पाक, चौरस्ते पर बेलो और पौदो से सजे हुए स्क्वायर बने हुए है। बिजली-शक्ति की तो यहाँ इतनी इफरात है कि देहातो में भी बिजली की रोशनी है। और . . . बेहद सस्ती। देहातो में तो केवल दो आने यूनिट। '

मुशीजी के पास समय कम था इसलिए बस मैसूर शहर से लगी हुई और आसपास की चीज़ें देखना मुमकिन था, जैसे चामुण्डाँ पहाडी और उसकी चोटी पर बना हुआ, मैसूर राज्य की कुलदेवी चामुण्डा का मदिर, और शहर से दस-बारह मील दूर, सेरिंगापटम, मैसूर की पुरानी राजधानी, हैदर और टीपू की।

● सेरिंगापटम से हम कृष्णराजसागर देखने आये। यह एक बहुत बडा सागर है जो कावेरी नदी को एक बाँध से रोककर बनाया गया है। बाँध कोई दो मील लंबा और जमीन से कोई १५० फीट ऊँचा होगा। चौडा इतना है कि उस पर मोटरें बडी आसानी से आ-जा सकती है। . . इस सागर से नहर निकाली गयी है जो लगभग पचास मील तक की भूमि की सिंचाई करती है। इसका फल यह हुआ है कि अब यहाँ धान और ऊख की पैदावार कसरत से होने लगी है। .. इसी पानी से बिजली भी निकाली जाती है। इस निर्माण में रियासत के लगभग पाँच करोड खर्च हो गये है। भारत में इससे बडा दूसरा बाँध नही है। बाँध के नीचे एक रमणीक स्थान है जिसे वृन्दावन कहते हैं। यहाँ फौवारों की विचित्र लीला

देखने में आती है। एक नाली से दरिया का पानी लाकर एक ढालू नहर में बडे वेग से प्रवाहित किया गया है। दोनो तरफ फौवारो की छटा है, जिनके पास रग-बिरगे शीशो में बिजली का प्रकाश किया जाता है। उछलते पानी पर जब इस रगीन प्रकाश का प्रतिबिम्ब पडता है तो ऐसा मालूम होता है, फौवारो से रगीन पानी निकल रहा है। दूर से देखने पर इन्द्रधनुष का-सा दृश्य ऑखो को मुग्ध कर देता है।

मैसूर का राजभवन भी देखने लायक है, मगर यह कोई उल्लेखनीय बात नही . ●

कैसे नही।

हिरण्मय लिखते है —

'एक दिन सबेरे मै उन्हे राजमहल और वहाँ की चित्रकला दिखाने ले गया। उन दिनो राजमहल देखने जाने वालो को राजमहल द्वारा नियत दरबार-ड्रेस पहनना पडता था — अचकन, जरी का कमरबद, मैसूर की खास अपने ढग की पगडी। नीचे चाहे धोती पहनो चाहे पतलून, ऊपर के लिए यह पोशाक जरूरी थी, और बाजार मे किराये पर मिलती थी। औरतो के लिए पोशाक की कोई कैद नही थी। लिहाजा हमने तीन पोशाकें किराये पर ली। प्रेमचद जी ने अचकन चढाकर, कमरबद कसकर, पगडी सिर पर रखकर फौरन पूछा — क्यो भाई, यहाँ कही आईना नही है? मैने करीब ही एक बडे से आईने की तरफ इशारा कर दिया। प्रेमचद जी उसके सामने जाकर खडे हुए और पगड के साथ अपना वह बेढब हुलिया देखते ही बरबस हँस पडे, जोर से हँस पडे और कभी इधर से कभी उधर से अपने को निहारकर अपनी उसी बच्चो-जैसी खुशी में नाचते हुए बोले — अख्वाह, मै किस महाराजा से कम हूँ! . '

छोटी-बडी बहुत-सी पार्टियाँ मुशीजी के सम्मान में आयोजित हुईं। उनमें मरिमलप्पा हाई स्कूल के भवन में सम्पन्न चायपार्टी सबसे बडी और महत्वपूर्ण थी। मैसूर के तमाम हिन्दी-प्रेमी और प्रचारक उपस्थित थे। चाय के बाद मुशीजी ने हिन्दी में व्याख्यान दिया, और फिर प्रश्नोत्तर का सिलसिला चला। 'इस प्रश्नोत्तर की एक बात मुझे अच्छी तरह याद है। किसी ने पूछा — आपको अपनी कहानियो में कौन-सी कहानी अधिक प्रिय है? उन्होने उत्तर दिया — माँ-बाप को जैसे अपनी सभी सतानें प्यारी होती है वैसे ही मुझे अपनी सभी कहानियाँ प्रिय लगती है। जब यह पूछा गया कि जिस तरह माँ-बाप को उनकी संतानो में से कोई एक सबसे ज्यादा प्यारी होती है, उसी तरह आपको अपनी कौन-सी कहानी सबसे ज्यादा पसंद है? तो उन्होने तुरन्त उत्तर दिया — बडे घर की बेटी '
— हिरण्मय जी ने बतलाया।

मुशीजी को लोग कुछ विद्वानो से मिलाने के लिए भी ले गये। उनमें से एक

के यहाँ मुशीजी को एक अत्यन्त मनोरजक और अत्यन्त कष्टकर स्थिति का सामना करना पडा। एक रोज शाम को हिरएमय मुशीजी को प्रोफेसर सी० आर० नरसिंह शास्त्री के यहाँ ले गये। प्रोफेसर शास्त्री उन दिनो मैसूर विश्वविद्यालय मे सस्कृत-विभाग के प्रधान थे, और बडे धुरंधर पण्डित थे। मुशीजी से मिलने के लिए उन्होने अपने और भी कुछ मित्रो को बुला लिया था। परिचय और कुशलक्षेम के बाद जैसे ही बातचीत शुरू हुई, शास्त्री जी ने सस्कृत में काव्य-चर्चा छेड दी। मुशीजी बडी विपत्ति में फँसे, सस्कृत से उनकी भेंट न थी, लेकिन इतने लोगो और बिलकुल अनजान लोगो के आगे (जो खुद अपने सस्कारो की रोशनी में सोच भी न सकते थे कि इतना बडा साहित्यकार सस्कृत न जानता होगा) अपनी अज्ञता खोलते भी न बनती थी। बडी मुसीबत का सामना था। भीतर ही भीतर मुशीजी के पसीना छूट रहा था लेकिन ऊपर से शान्त-सौम्य बने हुए वह हाँ-हूँ और जब-तब एक दो गोल-मोल वाक्यो से बातचीत में योग देकर जैसे-तैसे अपनी लाज बचा रहे थे। और शास्त्री जी थे कि श्लोक पर श्लोक पढ-पढकर धुँआधार बोले जा रहे थे।

आखिर जब लौटने का वक्त हुआ और ये दोनो आकर ताँगे मे बैठे और जरा आगे निकल गये तो मुशीजी ने झूठा गुस्सा दिखलाकर हिरएमय से कहा — क्यो जी, क्या तुम मुझे उल्लू बनाने के लिए इन सस्कृत पण्डित के यहाँ ले आये थे! मेरे बाप-दादो ने सस्कृत नही पढी, मै करता भी तो क्या करता! बुरा फँसा आज। चलो खुदा खुदा करके बला टल गयी! अब आगे से तुम मुझे कहीं ले जाओ तो मुझे पहले ही बता देना कि हम लोग किस आदमी से और कैसे आदमी से मिलने जा रहे हैं!

... और एक जोर का ठहाका लगाया।

● . मैसूर से बगलोर कोई चार घण्टे का सफर है। बीच का प्राकृतिक दृश्य बडा ही रमणीक है। कही हरे-भरे खेत है, कही आम, नारियल और सुपारी के बाग और कही हरियाली से ढँकी हुई ऊँची-ऊँची पहाडियाँ। आकाश में कुछ बादल थे और उस मद प्रकाश में यह पर्वतीय शोभा स्वप्निल हो गयी थी। बीच बीच में घाटियो की गोद में विश्राम करते हुए ग्राम नजर आ जाते थे जिनकी कल-से पुती हुई दीवारें गाँववालो की सफाई और सुरुचि का पता दे रही थी। यहाँ की मिट्टी लाल है जिससे खेतों की छटा और भी सुहावनी हो जाती है।

पहले दिन प्रात काल हम लालबाग की सैर करने गये। इसका रकबा सौ एकड है। बाग की सजावट और सफाई और सुन्दरता — साफ-सुथरी रविशे, फूलो की क्यारियाँ, शीशमण्डप ...

. बगलोर से तीन मील पर विज्ञान का वह प्रसिद्ध विद्यालय है जिसे जमशेद-जी नौशेरवाँजी ताता ने स्थापित किया था। बगलोर आकर इस विज्ञान-मदिर

के दर्शन न करना दुर्भाग्य की बात होती। रविवार के दिन हम कोई तीन बजे वहाँ पहुँचे। विद्यालय बन्द था, पर डा० सर सी० वी० रमन ने बडी खुशी से हमारा स्वागत किया मै दो-चार वैज्ञानिको से पहले भी मिल चुका हूँ। यह सम्प्रदाय बडा ही अनाकर्षक, गूढ, शुष्क, और अपनी धुन में मस्त होता है .. लेकिन वैज्ञानिको के इस प्रिंस को देखकर मै चकित हो गया। ऐसा प्रसन्न-चित्त व्यक्ति, जिसका पोर-पोर बालको के सरल उछाह से उबला पडता हो, मैंने दूसरा नही देखा। वह विज्ञान के आशिक है और वह इश्क उनकी आँखो में, उनके कपोलो पर, एक-एक अग में रमा हुआ है। वह इस तरह दौड-दौडकर एक-एक चीज हमें दिखा रहे थे, मानो कोई बालक अपने किसी सखा को अपने खिलौने और कनकौवे और नये कपडे दिखाने के लिए अधीर हो रहा हो, और चाहता हो कि एक ही साँस में सारी विभूतियाँ दिखा दूँ, जिसमें कुछ बाकी न रह जाय। सर रमन ने हमें एक मजे का तमाशा दिखाया, जो हमारे लिए तो खेल था पर बुद्धिमानो के लिए तात्विक छानबीन की चीज है। तबले के चर्मभाग पर चुटकी भर बालू बिखेर दो, और तबले पर एक थाप मारो। बालू कभी सीधी रेखा का रूप धारण कर लेती है, कभी वृत्त का। तबले की अलग-अलग ध्वनि भिन्न-भिन्न आकार में प्रकट होती है। सर रमन जिस जिन्दादिली और जोश से तबले पर बालू बिखेरते और थाप लगाते थे, वह देखकर कौन ऐसा मुर्दादिल होगा जो गद्‌गद न हो उठता।

चार बजे हम डाक्टर साहब से बिदा हुए और यह सोचते हुए निकले कि काश बडे लोग अपने बडप्पन को अपनी कब्र न बनाकर ज्योति बना सकते .. ●

मैसूर से चलते समय हिरण्मय और दूसरे हिन्दी-प्रचारको ने मुशीजी से कहा था कि बगलोर में मैसूर के दीवान सर मिर्जा इस्माइल से जरूर मिलिएगा — बहुत अच्छा हो अगर हिन्दी के प्रचार में उनसे कुछ मदद मिल सके, अगर हिन्दी भी एक अनिवार्य विषय बनायी जा सके।

लिहाजा मुशीजी उनसे मिले और बबई लौटकर उन्होने हिरण्मय को लिखा— 'हाँ, मै बगलोर में तीन दिन रहा और दीवान साहब से भी मिला। हिन्दी के विषय में उनसे देर तक बाते हुईं। लेकिन रुख से ऐसा मालूम हुआ कि वह सरकारी तौर पर कुछ करना नही चाहते। जब तक जनता मे खुद हिन्दी के प्रति काफी प्रेम न हो जाय और यह माँग उनकी तरफ से न हो, वह अपनी तरफ से कुछ न करेंगे। उर्दू में उन्होने बहुत अच्छी तरह बाते की और साधारण शिक्षित मुसलमानो की तरह उर्दू की प्रगति का भी उन्हे ज्ञान है। आपका हिन्दू बडा आदमी हिन्दी से कोरा रहता है। आप सत्यमूर्ति के पास जाइए और हिन्दी के किसी अच्छे लेखक का नाम लीजिए। वह आपकी तरफ इस तरह ताकेंगे मानो आपने किसी विचित्र जन्तु का नाम ले लिया। मैंने तो मालवीय जी, पडित जवाहरलाल जी को देखा,

और भी कितनो ही को देखा। ये लोग कुछ जानते ही नही उनके साहित्य में क्या हो रहा है। मुसलमान आमतौर पर उर्दू साहित्य से परिचित होता है, चाहे वह कन्नड-तमिल-भाषी ही क्यो न हो। शिक्षित मुसलमान से मेरा मतलब है।'

मुशीजी की तबीयत बबई से उखड चुकी थी। अब बस दिन गिन रहे थे।

जैनेन्द्र ने 'मजदूर' दिल्ली में देखा। पसद न आया। मुशीजी से शिकायत की। मुशीजी ने अपनी सफाई देते हुए लिखा —

● 'मजदूर' तुम्हे पसन्द न आया। यह मै जानता था। मैं इसे अपना कह भी सकता हूँ, नही भी कह सकता। इसके बाद एक रोमास जा रहा है। वह भी मेरा नही है। मै उसमें बहुत थोडा-सा हूँ। 'मजदूर' में भी मै इतना थोडा-सा हूँ कि नही के बराबर। फिल्म में डायरेक्टर सब कुछ है। लेखक कलम का बादशाह क्यो न हो, यहाँ डायरेक्टर की अमलदारी है और उसके राज्य में उसकी (लेखक की — अ०) हुकूमत नही चल सकती। हुकूमत माने तभी वह रह सकता है। वह यह कहने का साहस नही रखता, मै जनरुचि को जानता हूँ। इसके विरुद्ध डायरेक्टर जोर से कहता है, मै जानता हूँ, जनता क्या चाहती है, और हम जनता की इसलाह करने नही आये हैं। हमने व्यवसाय खोला है, धन कमाना हमारी गरज है। जो चीज जनता माँगेगी, वह हम देगे। इसका जवाब यही है — अच्छा साहब, हमारा सलाम लीजिए। हम घर जाते है। वही मै कर रहा हूँ। मई के अंत में बदा काशी में उपन्यास लिख रहा होगा। और कुछ मुझमें नयी कला न सीख सकने की भी सिफत है। फिल्म में मेरे मन को सन्तोष नही मिला। सतोष डायरेक्टरो को भी नही मिलता, लेकिन वे और कुछ नही कर सकते, झख मारकर पडे हुए है। मैं और कुछ कर सकता हूँ, चाहे वह बेगार ही क्यो न हो, इसलिए चला जा रहा हूँ। मैं जो प्लाट सोचता हूँ उसमें आदर्शवाद घुस आता है और कहा जाता है उसमें एण्टरटेनमेंट वैल्यू नही होता। इसे मै स्वीकार करता हूँ। .. मेरे लिए अपनी वही पुरानी लाइन मजे की है, जो चाहा लिखा .●

हफ्ते भर बाद १४ फरवरी को गोरी साहब को लिखा —

'मै तो जिन्दगी में एक नया तजुर्बा हासिल करने के लिए यहाँ साल भर के लिए आया था। मई में वह मुद्दत खत्म हो जायगी और मैं अपने वतन बनारस लौट जाऊँगा और हस्बे साबिक अदबी मशागिल में बकिया जिन्दगी सर्फ कर दूँगा।'

१६ मार्च १६३५ को फिर अपने इन्ही नये दोस्त गोरी साहब को बबई से अपना यह आखिरी खत लिखा —

'मेरा तस्फिया हो गया। मैं २५ तारीख को बनारस अपने वतन जा रहा हूँ। अजता कपनी अपना कारोबार बंद कर रही है। मेरा कट्रैक्ट तो साल भर

का था और अभी तीन महीने बाकी है। लेकिन मैं उनकी जेरबारी में इज़ाफा नही करना चाहता '

कट्रैक्ट खत्म होने से भी पहले और अपना दो हजार रुपया फेककर मुशीजी यकबयक बबई से चल खडे हुए। कही कोई नयी वारदात तो नही हो गयी ? शायद हुई। शिवपूजन बाबू कहते है कि मुशीजी ने उन्हे बतलाया।

एक रोज़ एक्स्ट्रा लडकियो का इन्टरव्यू लिया जा रहा था और किन्ही डायरेक्टर साहब ने किसी लडकी के कुछ कम उभरे हुए सीने को अपने हाथ की छडी से छूते हुए कुछ कहा .

इस खत में गुस्सा जो उबला पड़ रहा है, उसके पीछे भी तो यही बेशर्मी नही है —

'सिनेमा में किसी इसलाह की तवक्को[1] करना बेकार है। यह सनअत[2] भी उसी तरह सरमायादारो के हाथ में है जैसे शराबफरोशी। इन्हे इससे बहस नही कि पब्लिक के मजाक[3] पर क्या असर पडता है। इन्हे तो अपने पैसे से मतलब। बरहना[4] रक्स[5], बोसाबाजी[6], और मर्दों का औरतो पर हमला — यह सब उनकी नज़रों में जायज है। पब्लिक का मजाक इतना गिर गया है कि जब तक ये मुख़रिब[7] और हयासोज[8] नजारे न हो, उन्हे तसवीर में मजा नही आता। मजाक की इसलाह का बीडा कौन उठाये ? सिनेमा के ज़रिये मगरिब[9] की सारी बेहूदगियाँ हमारे अदर दाखिल की जा रही है, और हम बेबस है। पब्लिक में तजीम[10] नही, न नेक-ओ-बद[11] का इम्तियाज[12] है। आप अख़बारो में कितनी ही फरियाद कीजिए, वह बेकार है... जब ऐक्ट्रेसो और ऐक्टरों की तसवीरें धडाधड छपें और उनके कमाल के कसीदे गाये जायँ तो क्यो न हमारे नौजवानो पर उसका असर हो। साइस एक बरकते-एज़दी[13] है, मगर नाअहलो[14] के हाथो में पडकर लानत[15] हो रहा है। मैने खूब सोच लिया और इस दायरे से निकल जाना ही मुनासिब समझता हूँ।'

कितने दुखी मन से मुशीजी ने निगम साहब को लिखा था —

'जिन्दगी मे कभी फरागत[16] नसीब न हुई, अब क्या नसीब होगी।. जब ख़ानानशीनी[17] का जमाना है तो यहाँ बबई मे हूँ।'

मगर बबई जिस चीज के लिए गये थे, वह भी तो हाथ नही लगी। १४ मई १९३५ को उन्होने जैनेन्द्र को लिखा —

---

१ आशा २ व्यवसाय ३ रुचि ४ नगा ५ नाच ६ चूमाचाटी ७ घातक ८ निर्लज्ज ९ पश्चिम १० सगठन ११ भले-बुरे १२ विवेक १३ ईश्वरीय वरदान १४ अयोग्य लोगो १५ अभिशाप १६ निश्चितता १७ घर बैठने

'बंबई से क्या लाया ? कुल ६३००) मिले । इसमें १५००) लडकों ने लिये, ४००) लडकी ने, ५००) प्रेस ने । दस महीने मे बबई का ख़र्च बडी किफायत से भी २५००) से कम न हो सका । वहाँ से कुल १४००) लेकर अपना-सा मुँह लिये चले आये । '

उँह, अभी तो मुशीजी घर जा रहे है ।

हाँ घर, मगर कितने रोज को ? दो घडी रहे फिर अगले सफर की तैयारी । यही तो सारी जिन्दगी हुआ है ।

गालिब ने शेर पढा —

जे मन बजुर्मे तपीदन किनारा मी कर्दी,
बिया ब ख़ाके मन ओ आरमीदनम बिनिगर ।

(तू मेरे तडपने के जुर्म में मुझसे किनाराकश थी । अब आ मेरी ख़ाक पर और मुझे आराम करते देख ।)

३५

मगर आराम कहाँ ऐसे आदमी को, वह तो खुद सबसे बडा दुश्मन है अपने आराम का ।

मुशीजी बबई से लौट आये है और बनारस में चित्रकूट पर मकान लेकर रह रहे है ।

शिवरानी देवी लिखती है —

● रात भर आपको बुखार चढा हुआ था । यहाँ तक कि दूध भी नही ले सके । सुबह को चार बजे बुखार उतरा । सुबह के समय रोजाना की तरह हाथ-मुँह धोकर नाश्ता भी नही किया था कि 'हस' के लिए सम्पादकीय लिखने बैठ गये । दूध जब गरम हो गया तो मैने जाकर देखा कि आप कमरे में बैठे लिख रहे है ।

मैं बोली — यह आप क्या कर रहे है ?

'क्या कर रहा हूँ, हस के लिए सम्पादकीय लिख रहा हूँ, कल ही लिखना चाहिए था ।'

मैं बोली — आप भी खूब है, कल दिन भर और रात भर पडे रहे और सुबह हुई कि लिखने बैठ गये ....

आप बोले — पाँच मिनट का समय और दो, कपोजिग करनेवाले आ गये है ।

मैं बोली — अब एक सेकेण्ड का समय भी मैं आपको नही दूँगी, और हाथ से कलम छीनकर बोली — अब उठिए चुपके से ।

आप बोले — अरे भाई, मेरी समझ में नही आता कि फिर वह क्या कम्पोज़ करेंगे ।

मैं बोली — मै कपोज वगैरह का ठेका नही लिये हूँ ।

'अरे भाई, तुम ठेका नही लिये हो पर मैं तो ठेका लिये हूँ । फिर हस कैसे छपेगा ? समय पर अगर हस नही छपेगा तो ग्राहक यह थोडे ही समझेगा कि मैं बीमार हो गया था, वह तो समय पर हस चाहता है, उसने रुपये दिये है ।

मै बोली — यह बकवास पीछें कीजिएगा । अगर आप लिखेंगे तो मैं फाड़ दूँगी, चलिए उठिए !

इस धमकी पर उठकर आये और नाश्ता किया। वह नाश्ता कर ही रहे थे जब नीचे से आदमी आया और बोला — हस के लिए मैटर दीजिए।

मै बोली — चलो एक घण्टे में देते है मैटर।

आदमी चला गया तो बोले — तुमने मुझे लिखने नही दिया, आदमी व्यर्थ बैठे है।

मै बोली — तो कौन हस मोती उगल रहा है!

आप हँसकर बोले — साहब, हस मोती उगलता नही चुगता है!

मैं बोली — हाँ खाता है। जब देखो एक न एक बला अपनी जान को पाले रहते है। आपको आराम से रहना ही नही आता। सूखकर हड्डी रह गये हे। वही मसल है, दाना न घास खरहरा दिन रात! परसो रात भर बुखार चढा रहा, कल दिन-रात पडे रहे, आज जब बुखार उतरा तो बस, सबेरे से हस का चरखा लेकर बैठ गये, और काम ऐसा कि जिसका कन छूटे न भूसी

आप बोले — तुम व्यर्थ ही क्रोध करती हो।

— मैंने उसी दिन आपसे कह दिया था, ऐसे काम से बाज आये, इसको छोडो। मगर आप तो उसके पीछे हाथ धोकर पडे हैं। मैं कहती हूँ ऐसे कामो से क्या फायदा जिनके पीछे तन-मन की आहुति चढानी पडे?

तब आप मेरे क्रोध को शान्त करते हुए बोले — रानी, तुम भूलती हो, मै इसमें कोई त्याग नही कर रहा हूँ, न कोई तपस्या। जब कोई त्याग-तपस्या न करता हो और अपने शौक से करता हो तो उसे आहुति चढाना न कहना चाहिए। जैसे जुआरी को जुआ, शराबी को शराब, अफीमची को अफीम में मजा मिलता है और अगर उसको यह चीज़े न मिले तो वह परेशान होता है — इसमें उसका कोई त्याग थोडे ही है....

मैं बोली — तब कहिए आपको भी नशा है!

आप बोले — हाँ नशा है, मगर अच्छा नशा है, शायद मेरे इस नशे से किसी आदमी का फायदा हो जाय।

मैं बोली — पहले आप अपना फायदा तो कर लीजिए . खुद तो सूखकर काँटा हो गये है और दूसरो की फिक्र में दीवाने है!

तब आप बोले — दिया होता है, उसका काम है रोशनी करना, सो वह करता है। उससे किसी का फायदा होता है या नुकसान इससे उसको कोई बहस नही। उसमें जब तक तेल और बत्ती रहेगी, तब तक वह अपना काम करता रहेगा। जब तेल खत्म हो जायेगा, तब ठण्डा हो जायेगा...

न आत्मश्लाघा न अपने प्रति करुणा, कुछ भी नही, केवल निर्वेद, एक स्थित-प्रज्ञ कर्मयोगी का ....

मगर यह तो अभी कुछ महीने आगे की बातें है।

४ अप्रैल १९३५ को मुशीजी ने इन्द्रपुरी बबई को अतिम नमस्कार किया।

खँडवा रास्ते में पडता था। माखनलाल जी का पुराना आग्रह था। लिहाजा पहला पडाव वही हुआ। चार-पाँच दिन रहे, खूब गपशप हुई, खूब सभाएँ और गोष्ठियाँ हुई, और खूब घूमे-फिरे। शिवरानी देवी लिखती है —

● दूसरे दिन सुबह पडित जी हम लोगो को जगल में लिवा ले गये, नदी का किनारा था, खँडवा से पन्द्रह-बीस मील की दूरी पर .. वहाँ पडित जी ने हम दोनो आदमियो को डाल पर बिठाला और खुद भी बैठ गये। हम दोनो के हाथ में एक-एक सन्तरा रखते हुए बोले — अच्छा, आप लोग इसको छीलकर खाइए। हम इसी तरह फोटो लेना चाहते है।

मैं बोली — मै सन्तरा न लूँगी, न खाऊँगी।

आप हँसकर बोले — सारे सन्तरे, टोकरी की टोकरी, इनके सामने रख दीजिए। तब ऐसा मालूम होगा कि यह बेच रही है और हम लोग खरीदकर खा रहे है! ●

जेलखाने से छूटकर कैदी खुली हवा में आया है और अब अपने घर जा रहा है। बहुत हलका-सा लग रहा है, कि जैसे एक बोझ उतर गया हो सीने पर से। सन्तरा-वन्तरा खाकर मुशीजी ने वही पडी हुई एक लकडी में से जैसा-तैसा गुल्ली-डडा बनाकर दो-चार हाथ उसके भी सर किये .

और फिर वहाँ से सागर, बेटी की ससुराल होते, सबसे मिलते-जुलते इलाहाबाद पहुँचे। यहाँ भी पाँच रोज रहे, अपनी ससुराल के रिश्तेदारो से मिले, ढूंढ-ढूंढकर एक-एक दोस्त से रिश्तेदार से मिले।

बनारस पहुँचते-पहुँचते अप्रैल का तीसरा हफ्ता हो गया। मुशीजी का इरादा १७ तारीख़ को इन्दौर के हिन्दी-साहित्य सम्मेलन में जाने का था — वहाँ राष्ट्र-भाषा और राष्ट्रीय-साहित्य-मण्डल का प्रश्न उठनेवाला था, और इन दिनो मुशीजी के मन पर यही भूत सवार था। जरूर कोई न कोई तदबीर इसकी निकलनी चाहिए कि हिन्दुस्तान में लोगो को अपने ही देश की विभिन्न भाषाओ में रचे जाने-वाले साहित्य का परिचय हो। कितनी शर्मनाक बात है, जैसा कि मुशीजी ने १६ जुलाई १९३५ को निगम साहब को लिखा था कि 'हम अंग्रेजी बाकमालो से वाकिफ है, जर्मनी, फ्रास, इगलैण्ड के अदीबो के असमाये-गराँ[1] हमारी नोके जबान पर है लेकिन हिन्दोस्तान में सूबेजाती जबानों में कौन-कौन से बाकमाल पडे हुए है, इसकी हमें बिलकुल खबर नही।' साहित्य की एकता के बिना लोगो में एकता-बोध जागे भी तो कैसे? इन्दौर में, जहाँ गाधीजी के सभापतित्व में सम्मेलन का

१ भारी-भारी नाम

अधिवेशन होने जा रहा था, इस प्रश्न का कुछ अच्छा समाधान निकल सकेगा, इसी उम्मीद को लेकर मुशीजी इन्दौर जाने के लिए सचमुच उत्सुक थे।

जैनेन्द्र ने लिखा था —

'मेरे खयाल से सम्मेलन ठीक-ठीक रूप में अब की पहली बार अपने राष्ट्र-भाषा सम्मेलन के रूप को अनुभव कर सका है। जैसे और प्रान्तीय भाषाएँ है, हिन्दी को अब वैसा ही नही रहना है, हिन्दी अखिल राष्ट्र की होगी। . यह काम गाधीजी के सभापतित्व के तले न हो तो और कैसे हो ?' बहरहाल मुशीजी का इन्दौर जाना नही हो सका। ४ मई को उन्होने इलाहाबाद से जैनेन्द्र को लिखा —

'मै तो इन्दौर जाते-जाते रह गया। सबसे वायदे कर लिये थे, एक भी पूरा न कर सका। इस उम्मीद से कि तुमसे इन्दौर में गपशप होगी, तुम्हे खत भी नही लिखा। जब पूरा भोजन मिलने की आशा हो तो पानी पी-पीकर क्यो भूख को दुर्बल बनाया जाय। लेकिन कुछ तो प्रेमी जी के न आने और कुछ नातेदारियो मे जाकर मिलने-मिलाने के कारण सारा प्रोग्राम भ्रष्ट हो गया। अब धुन्नू को चेचक निकल आयी है और २७ से वह पडे हुए है। हम भी उसके साथ है।'

जैनेन्द्र ने उसका जवाब देते हुए लिखा —

'इन्दौर में मैने पहली बात यह पूछी कि आप आये है ? पता लगा नही आये। . हाँ, मुशीजी वहाँ मिले थे। बातें भी हुई। जो सोचा था, वह तो न हुआ। उसका भी इतिहास है। एक सीधा-सादा-सा प्रस्ताव अवश्य हुआ है। कमेटी बनी है जिसमें मुंशीजी सयोजक है। अब सब उन पर है।

'काम का क्या ढग हो। आने-जाने से खर्च तो बहुत पडता है लेकिन पाँच आदमियो को मिल लेना चाहिए, तब काम आगे बढ सकता है। गाधीजी, मुशीजी, कालेलकर, आप और मैं, ये सब लोग वर्धा में ही यथाशीघ्र सुविधानुसार मिल ले, लेकिन यह मुशी पर है।

'यह भी बात हुई थी कि अपना अलग पत्र न निकालकर आपसे हस ही देने के लिए कहा जाय। मै समझता हूँ, इसमें आपके लिए भी अयुक्त कुछ नही है। '

कन्हैयालाल माणिकलाल मुशी ने टूटी-फूटी गुजराती हिन्दी में खत लिखा —

'आप तो इदोर नही आये। लेकिन भाई जीनेन्द्र प्रसाद (जैनेन्द्र कुमार — अ०) आदि ने मील के योजना को आगे बढाई। इसका परिणाम एक प्रस्ताव से आया जीससे आतरप्रान्तीय परिषद् बुलाने में सुगमता होगी। अब सवाल रहा मासिक पत्र का। जीनेन्द्र कुमार ने कहा था के आप हस को इस काम में दे देंगे। यदि आप हस को इस प्रवृत्ति का मुखपत्र बना सकते हो तो हमारा काम बहूत ही सरल हो जायेगा। आप मुझे शीघ्र लीखीयेगा कि इस बारे में आपकी क्या राय है। गाधीजी भी इस बाबत में बडे प्रसन्न है, और अच्छा

सहकार दे देंगे, ऐसी मुझे आशा है '

अधा क्या माँगे, दो आँखें। मुशी प्रेमचद का अपना स्वप्न यही था, बहुत पुराना स्वप्न, उम्मीद की शायद अकेली किरन इस अँधेरे वक्त में।

जहाँ गाधीजी का आशीर्वाद ही नही सीधा सहयोग मिल रहा हो एकता के इस नये यज्ञ में, वहाँ सोचना-बिचारना कैसा। लेकिन हाँ, थोडा मोह ज़रूर लगता था 'हस' किसी को देते। अब तक वह पूरी तरह अपना था, कैसी-कैसी मुसीबतो से उसको पाला था, मोह कैसे न हो। लेकिन उसी पर चोट करते हुए तो जैनेन्द्र ने पहले ही, मई के आखिरी दिनो में लिखा था — मेरा तो ख़याल है कि मुशी की स्कीम कुछ बने तो 'हस' छोडकर आप छूटिए, छूटना मात्र झझट से होगा, क्योकि तब भी पत्र तो सपादन के लिहाज से आपका ही होगा।

लेनेवाले और देनेवाले दोनो के सामने एक ही लक्ष्य था, व्यवसाय की कही गन्ध भी न थी, बाते तय होने में ज्यादा देर नही लगी और गाधी जी के आशीर्वाद के साथ जुलाई में हस लिमिटेड की रजिस्ट्री हो गयी और अक्तूबर से 'हस' भारतीय साहित्य परिषद् के मुखपत्र के रूप में निकलने लगा।

'गोदान' अभी पूरा नही हुआ था। बम्बई से लौटकर मुशीजी उसी में जी-जान से जुट गये और उसको पूरा करके ही लमही छोडा। शहर में मकान लिया — अगस्त के महीने में। लडके दोनो इलाहाबाद में पढ ही रहे थे और मुशीजी का खुद भी इरादा अब इलाहाबाद में ही बसने का था। ४ मई १९३५ को उन्होने जैनेन्द्र को लिखा था —

'मैने इरादा किया है कि जून से हस को और प्रेस को प्रयाग लाऊँ और खुद भी वही रहूँ। काशी में न तो काम है और न साहित्यकारो का सहयोग। वहाँ जितने है वह सभी सम्राट है। कोई कवि-सम्राट, कोई आलोचना-सम्राट, कोई प्रहसन-सम्राट। यह गौरव तो काशी ही को है कि वहाँ सभी सम्राट मौजूद है, मगर सम्राटो की सम्राटो से पटेगी ? शिष्टाचार की बात और है, हार्दिक सहयोग की बात और। मुझे डर लग रहा है कि कही तुम भी साल-छ महीने मे सम्राट हो जाओ तो मेरा काम ही तमाम हो जाय ! फिर तुमसे कोई लेख माँगने का साहस भी न कर सकूँ। इसलिए अब प्रयाग आ रहा हूँ जहाँ सम्राट कम है।'

मुशीजी के बनारस से तबू-खेमा उखाडने की भनक पाकर लखनऊ से कालिदास कपूर ने वहाँ आकर बसने की दावत दी, जैनेन्द्र ने दिल्ली बुलाया, मुशीजी के बडे बेटे ने इलाहाबाद में मकान - वकान भी ढूँढ लिया, मगर मुशीजी न कही आये न गये, वक्ती उबाल था जो जिस तरह आया था उसी तरह खतम भी हो गया और मुशीजी बदस्तूर बनारस मे जमे रहे।

यही इसी नये मकान में उर्दू के मशहूर विद्वान् मुहम्मद आकिल साहब

मुशीजी से पहली बार मिले —

'प्रेमचद जी का मकान क्वीस कालेज के पीछे एक मुहल्ले में था। प्रेमचद जी जिस मकान में रहते थे वह दोमंजिला और खासे पुख्ता किस्म का था। इसके गिर्द एक अहाता भी था, लेकिन बनारस के इस हिस्से की आबादी कुछ ज्यादा गुजान न थी और आसपास की फिजा और माहौल में भो कुछ कस्बातो कैफियत पायी जाती थी। प्रेमचद जी के अहाते में सब्जी, फूल-फुलवारी कुछ न थी, मकान में कुछ ठाट या शान नजर न आती थी। प्रेमचद जी मकान के बालाई हिस्से मे रहते थे। नीचे के हिस्से में प्रेस का काम होता था जिसके सबूत के लिए टाइप के हुरूफ इधर-उधर देखे जा सकते थे। नीचे के हिस्से में शायद किसी तरफ एक गाय रहती थी। मैंने दरवाजे पर दस्तक दी। दो दफे कुण्डी बजाने पर एक आदमी निकला जो मुझे जीने के रास्ते से ऊपर प्रेमचद जी के कमरे में ले गया। उनकी मुलाकात का खास कमरा या दफ्तर, जिसमें कुर्सियाँ और मेज लगी हुई थी, इस वक्त बन्द था। उस कमरे का पता मुझे दूसरे रोज लगा था जब मैं मिस फिल्सबोर्न और डाक्टर अलीम के साथ दोबारा उनसे मिलने गया था। इस रोज जिस कमरे में मेरी उनसे मुलाकात हुई वह खासा बडा, खुला हुआ, साफ और हवादार कमरा था। जमीन पर सफेद चाँदनी का एक फर्श बिछा हुआ था। एक कोने में एक नेवाडी पलग था जिसके करीब एक पीकदान रखा हुआ था। प्रेमचद जी फर्श पर बैठे हुए थे और एक कापी पर हिन्दी में अपने किसी नाविल के मसविदे को, जिसको वह जल्द छपवाना चाहते थे, लिख रहे थे।'

मुशीजी से अपनी बातचीत का ज़िक्र करते हुए आकिल साहब ने लिखा —

● खास तौर पर बातचीत हिन्दू-मुसलमान के ताल्लुकात के बारे में थी। इसी जमाने में 'हस' में मैंने एक मजमून 'हिन्दू-मुसलमान किधर जा रहे है ?' के उनवान से लिखा था। इसी जमाने में बहुत सी तनकीदे उर्दू के मुख्तलिफ अखबारो और रिसालो में छपी थी, खासकर डाक्टर अशरफ की तनकीद जो अलीगढ के रिसाले 'सुहेल' में निकली थी, जिसमें प्रेमचद जी से खास तौर पर शिकायत की गयी थी कि वह उर्दू के बेहतरीन अदीब होने के बावजूद बहुत कठिन हिन्दी लिखते है। फिर सरहदी सूबे में हिन्दी के बारे में जो सर्कुलर निकला था, उसका भी तजकिरा हुआ। गरज यह कि ऐसी ही और बहुत सी बातें मेरे और उनके सामने थी। और एक ऐसी जबान के पैदा करने का सवाल भी था जो एक तरफ अरबी और फारसी की ठूँस-ठाँस से आजाद हो और दूसरी तरफ सस्कृत और भाषा के अल्फाज उसमें बहुत ज्यादा न हो। मेरा कहना था कि अगर आपस का इख्तिलाफ[1] और फर्क इस तरह बढता गया, जैसा कि दोनो तरफ के इतिहा-

---

१ विरोध

पसन्द[1] कोशिश कर रहे है तो लाजिमन यह नतीजा निकलेगा कि हिन्दुस्तान में एक तमद्दुन[2], तहजीब[3] और जबान की जगह दो मुख्तलिफ, तमद्दुन, तहजीवे और जबानें पैदा हो जायेगी सस्कृतियो का इख्तिलाफ मुमकिन है बढकर कौमी तफरीक[4] का बाइस[5] बन जाय और हिन्दुस्तान में एक हुकूमत और कौम की जगह दो मुख्तलिफ हुकूमते और कौमें पैदा हो जायँ।

प्रेमचन्द जी मौजूदा हालात पर अफसोस कर रहे थे और इसको जिम्मेदारी मजहब की गलत ताबीर[6] पर रख रहे थे। प्रेमचन्द जी ने मुझसे कहा कि मुझे रस्मी मजहब पर कोई एतकाद[7] नही है, पूजा-पाठ और मदिरो में जाने का भी मुझे शौक नही। शुरू से मेरी तबीयत का यही रग है। बाज लोगो की तबीयत मजहबी होती है, बाज लोगो की ला-मजहबी। मै मजहबी तबीयत रखनेवालो को बुरा नही कहता, लेकिन मेरी तबीयत रस्मी मजहब की पाबदी को बिलकुल गवारा नही करती। उन्होने कहा कि मेरी सस्कृति और तर्जे-मआशरत[8] भी मिला-जुला है। बल्कि मुझ पर मुसलमानो की तहजीब का हिन्दुओ की तहजीब से ज्यादा असर पडा है। मैने मकतब में मियाँजी से फारसी-उर्दू पढी। हिन्दी से बहुत पहले मैने उर्दू में लिखना शुरू किया, हिन्दी जबान मैने बाद में सीखी। इस सिलसिले मे देहली के रिसाले 'साकी' ने जो तनकीद[9] की थी कि प्रेमचन्द जी उर्दू के लिए मरहूम हो चुके है, उसके बारे में हँसकर कहने लगे कि 'साकी' के एडीटर को मैने लिखा है कि मै उर्दू के लिए न सिर्फ जिन्दा हूँ, बल्कि ज्यादा जोरो से जी रहा हूँ। ●

यह सब झगडा-तकरार तो जिन्दगी की एक जरूरी अलामत है। बबई से आते ही आते मुशीजो की एक छोटी-मोटी बहस फिल्म को लेकर नरोत्तम नागर से हो गयी जो उन दिनो दिल्ली से एक सिनेमा-पत्रिका का सपादन कर रहे थे।

हुआ यह कि मुशीजी ने इलाहाबाद के 'लेखक' में 'सिनेमा और साहित्य' शीर्षक एक लेख लिखा—

●. साहित्य में भावो की जो उच्चता, भाषा की जो प्रौढता और स्पष्टता, सुन्दरता की जो साधना होती है वह हमें वहाँ नही मिलती।... उनका उद्देश्य केवल पैसा कमाना है, सुरुचि या सुन्दर से उन्हे कोई प्रयोजन नही। . व्यापार, व्यापार है। वहाँ अपने नफे के सिवा और किसी बात पर ध्यान करना ही वर्जित है। व्यापार में भावुकता आयी और व्यापार नष्ट हुआ। वहाँ तो जनता की रुचि पर निगाह रखनी पडती है, और चाहे ससार का सचालन देवताओ ही के हाथो में क्यो न हो, मनुष्य पर निम्न मनोवृत्तियो ही का राज्य होता है। अगर आप

---

१ कट्टरपथी २ सस्कृति ३ सभ्यता ४ फूट ५ कारण ६ व्याख्या ७ विश्वास ८ रहन-सहन ९ आलोचना

एक साथ दा तमाशो की व्यवस्था करे — एक तो किसी महात्मा का व्याख्यान हो दूसरा किसी वेश्या का नग्न नृत्य, तो आप यही देखेंगे कि महात्मा जी तो खाली कुर्सियो को अपना भाषरण सुना रहे है और वेश्या के पडाल में तिल रखने की जगह नही । . वही भोला-भाला ईमानदार ग्वाला, जो अभी ठाकुरद्वारे से चरणामृत लेकर आया है, बिना किसी झिझक के दूध में पानी मिला देता है । वही बाबूजी जो अभी किसी कवि की एक सूक्ति पर सिर धुन रहे थे, अवसर पाते ही एक बेकस विधवा से रिश्वत के दो रुपये बिना किसी झिझक के लेकर जेब में दाखिल कर लेते है। उपन्यासो में भी ज्यादा प्रचार डाके और हत्या से भरी हुई पुस्तको का होता है ।... सिनेमा मे भी वही तमाशे खूब चलते है जिनसे निम्न भावनाओ की विशेष तृप्ति हो । . जिस शौक से लोग ताडी और शराब पीते है, उसके आधे शौक से दूध नही पीते । इसकी दवा प्रोड्यूसर के पास नही । जब तक एक चीज की माँग है, वह बाजार में आयेगी । कोई उसे रोक नही सकता । अभी वह जमाना बहुत दूर है जब सिनेमा और साहित्य का एक रूप होगा । लोक-रुचि जब इतनी परिष्कृत हो जायगी कि वह नीचे ले आनेवाली चीजो से घृणा करेगी, तभी सिनेमा में साहित्य की सुरुचि दिखायी पड सकती है । ●

नागर ने मुशी जी की बातो से अधिकतर सहमत और उनके कहने के ढग से असहमत होते हुए एक तेज चिट्ठी लिखी जिसे मुशीजी ने अपने विवादास्पद लेख के साथ अविकल छापते हुए, अपनी सफाई में लिखा —

● नागर जी ने हमारे सिनेमा-सबधी विचारो को ठीक माना है, केवल हमारा, जेनरेलाइज करना अर्थात् सभी को एक लाठी से हाँकना उन्हे अनुचित जान पडता है । क्या वेश्याओ में शरीफ औरतें नही है ? लेकिन इससे वेश्यावृत्ति पर जो दाग है वह नही मिटता ।

सिनेमा की क्षमता से मुझे इकार नही । अच्छे विचारो और आदर्शो के प्रचार में सिनेमा से बढकर कोई दूसरी शक्ति नही है, मगर जैसा नागर जी खुद स्वीकार करते है, वह कुपात्रो के हाथ में है । यही तो मैं कहना चाहता हूँ । सिनेमा जिनके हाथ में है उन्हे आप कुपात्र कहे, मै तो उन्हे उसी तरह व्यापारी समझता हूँ, जैसे कोई दूसरा व्यापारी । और व्यापारी का काम जनरुचि का पथ-प्रदर्शन करना नही, धन कमाना है । . . एक फिल्म बनाने में पचास हजार से एक लाख तक बल्कि इससे भी ज्यादा खर्च हो जाते है । व्यापारी इतना बडा खतरा नही ले सकता । गरीब का दीवाला निकल जाय ... [...]

आप फरमाते है, सिनेमा में जानेवाले साहित्यिको में ऐसा कौन था जिसका मुख्य उद्देश्य सिनेमा को अपने रग में रँगना रहा हो ? हम जोरो से कह सक्ते है, कोई भी नही । वहाँ का जलवायु ही ऐसा है कि बडे से बडा आदर्शवादी भी जाय तो नमक की खान में नमक बनकर रह जायगा । वही लोग जो साहित्य में आदर्श

की सृष्टि करते है, सिनेमा में दो-दो सौ वेश्याओ का नगा नाच करवाते है। क्यों ? इसीलिए कि वे ऐसे धधे में पड गये है जहाँ बिना नगा नाच नचाये धन से भेट नही होती। मै आदर्शो को लेकर गया था, लेकिन मुझे मालूम हुआ कि सिनेमावालो के पास बने-बनाये नुस्खे है और आप उस नुस्खे के बाहर नही जा सकते। . सिनेमा में एएटरटेनमेएट वैल्यू साहित्य के इसी अग से बिलकुल अलग है। साहित्य में यह काम शब्दो, सूक्तियो, या विनोदो से लिया जाता है। सिनेमा में वही काम नाच, मारपीट, धर-पकड, मुँह चिढाने और जिस्म को मटकाने से लिया जाता है।

.. रही उपयोगिता की बात। इस विषय में मेरा पक्का मत है कि परोच्च या अपरोच्च रूप से सभी कला उपयोगिता के सामने घुटना टेकती है। प्रोपेगेंडा बदनाम शब्द है, लेकिन आज का विचारोत्पादक, बलदायक, स्वास्थ्यवर्द्धक साहित्य प्रोपेगेंडा के सिवा न कुछ है, न हो सकता है, न होना चाहिए, और इस तरह के प्रोपेगेंडे के लिए साहित्य से प्रभावशाली कोई साधन ब्रह्मा ने नही रचा, वर्ना उपनिषद और बाइबिल दृष्टातो से न भरे होते।

सेक्स अपील को हम हौवा नही समझते। दुनिया उसी धुरी पर कायम है .. सेक्स अपील की निन्दा तब होती है जब वह विकृत रूप धारण कर लेता है। सुई कपडे मे चुभती है तो हमारा तन ढँकती है, लेकिन देह में चुभे तो उसे जख़्मीकर देगी।

हम भी सिनेमा को उसके परिष्कृत रूप में देखने के इच्छुक है . मगर इसका सुधार तभी होगा जब हमारे हाथ में अधिकार होगा और सिनेमा जैसी प्रभावशाली सद्विचार और सद्व्यवहार की मशीन कला-मर्मज्ञो के हाथ में होगी, धन कमाने के लिए नही, जनता को आदमी बनाने के लिए, जैसा रूस में हो रहा है। ●

दूसरी झडप, दुबारा, श्रीनाथ सिंह से हुई।

श्रीनाथ सिंह ने, जिनका पुराना घाव शायद अभी हरा था, अगस्त १६३५ की 'सरस्वती' में मुशीजी पर चोट करते हुए एक लेख लिखा — 'प्रेमचद जी की रचना-चातुरी का नमूना' — और उसमें यह दिखाने की कोशिश की कि मुशीजी ने अपनी कहानी 'जीवन का शाप' उनके उपन्यास 'उलझन' से चुरायी है और अपनी समझ मे जुर्म साबित करके ठाकुर साहब ने अपना बयान खत्म करते हुए लिखा —

' .. दूसरो की चीजो को अपनाते समय प्रेमचद जी उन्हे इतना भद्दा बना देते है कि अर्थ का अनर्थ हो जाता है। अपनी इस कहानी में भी चोरी के अपराध से बचने के लिए उन्होने मेरे उपन्यास के प्लाट, पात्रो, तर्कों और भावो की इतनी छीछालेदर की है कि पढकर दुख होता है। दूसरे की चीजो को अपनी करके जनता के सामने उपस्थित करने और इस प्रकार वाहवाही लूटने की धुन में वे उनमें जो परिवर्तन और परिवर्द्धन कर देते है उससे उनका सारा सौन्दर्य नष्ट

हो जाता है और जिस लेखक का कृतिमहल ढहाकर उसी जमीन पर, उसी की नीव पर, उसी मसाले से वे अपना महल खडा करते है, उसके उद्देश्य, भाव और सदेश की हत्या हो जाती है .'

मुशीजी ने कहानी चुरायी हो या न चुरायी हो, इसमे शक नही कि ठाकुर साहब ने साहित्यिक चोरी की यह एक नयी और अपूर्व सुविधाजनक कसौटी कायम कर दी थी, जिसमें कोई भी व्यक्ति, किसी भी रचना पर, चोरी का अभियोग लगा सकता है — अब यह कैद भी नही रही कि प्लाट, पात्रो, तर्कों, और भावो, उद्देश्य और सन्देश में समानता हो, सब कुछ भिन्न होने पर भी चोरी हो सकती है क्योकि वह भिन्नता चोरी को छिपाने के लिए है। इसके बाद तो फिर कही त्राण नही।

बहरहाल मुशीजी कब सहनेवाले थे यह बेहूदगी। उन्होने पलटकर हमला किया — 'हल्दी की गाँठवाला पसारी' —

● एक आदमी को हल्दी की कही एक गाँठ मिल गयी तो उसने समझा अब मै पंसारी हो गया। ...आपने जिन्दगी में ले-देकर एक उपन्यास लिखा 'उलझन' और अब उन्हे यह वहम हो गया है कि लोग उनके इस उपन्यास के आधार पर कहानियाँ, नाटक, ड्रामे लिखने लगे है। .. मुझे कुछ दिनो से श्रीनाथ सिह की ऊल-जलूल बाते सुन-सुनकर यह भय होने लगा है कि उन्हे खफकान या माली-खूलिया हो गया है। मैं उनसे नम्रता से अर्ज करूँगा कि वह जल्दी किसी होशियार चिकित्सक से परामर्श करे वर्ना शायद रोग और भी भयकर रूप धारण कर ले। मालीखूलिया के लक्षण यही है कि उसका रोगी समझता है, लोग उसका माल-असबाब ढोये लिये जाते है और वह अधे कुत्ते की भाँति बतासे भूँकने लगता है। .

'सरस्वती' में यह लेख लिखने का मंशा यह मालूम होता है कि 'सरस्वती' के भोले-भाले पाठको के सामने 'उलझन' की भरपेट प्रशसा की जाय और यह दिखाया जाय कि यह रचना इतने ऊँचे दर्जे की है कि प्रेमचद जी ने भी इसे पढा और पढा ही नही इससे इतना प्रभावित हुए कि उसके आधार पर कहानी लिख डाली। मै उन्ही लेखको की रचनाएँ पढता हूँ जिनकी प्रतिभा का मैं कायल हूँ या जो अपनी रचनाएँ मुझे भेंट करते है और उन पर मेरी सम्मति माँगते है। ठाकुर साहब ने अपनी रचनाएँ मुझे भेंट नही की, और उनकी प्रतिभा का मै कभी कायल नही रहा। मैं उन्हे कलाकार समझता ही नही। .. हरेक ऐरे गैरे नत्थू खैरे की रचना पढने के लिए मेरे पास समय नहीं है।

'जीवन का शाप' और 'उलझन' में आपने जो सादृश्य दिखाया है, उसे पढकर हँसी आती है। अगर दोनो में यही बात है कि दोनो के हीरो गरीब, विद्वान्, मेहनती और सतोषी है, और उनकी पत्नियाँ कटुभाषिणी है, और दोनो के उपनायक धनी

व्यापारी है और उनकी महिलाएँ पति से असतुष्ट है, तो मैं कहूँगा कि ठाकुर साहब ने मेरे 'सेवासदन' से प्लाट भी उडाया है, चरित्र भी और समस्या भी।

लेकिन मैने 'उलझन' पढा होता तब भी यह आक्षेप न कर सकता क्योकि ऐसे प्रसग आये दिन के जीवन की बाते है, रोज देखने में आती है और उन पर किसी लेखक की मुहर नही है। मगर हमारे ठाकुर साहब बेचारे इस मालीखूलिया से मजबूर है, क्या करे। पार्क का दृश्य 'सेवासदन' में भी है 'उलझन' में भी, नायिका को 'सेवासदन' में भी बेच पर बैठाया गया है, 'उलझन' में भी ●

इस तरह की फिजूल बातो का सादृश्य दिखलाकर ठाकुर साहब ने मुशीजी को चोरी का मुजरिम ठहराया, और जो तत्व की बात थी, कहानी की आत्मा, कहानी का प्राण, उसके बारे मे यह कहकर छुट्टी पा ली कि उसे मुशीजी ने तोड-मरोडकर कुछ का कुछ कर डाला! चोरी साबित करना कितना आसान हो जाता है इससे!

कहानी की आत्मा के बारे में मुशी जी ने लिखा—

● 'जीवन का शाप' में जो समस्या पेश की गयी है वह हमारे ठाकुर साहब की पकड में न आयी। 'उलझन' में विवाह की बेजोडता की समस्या होगी जैसी 'सेवासदन' में है जिसकी वह नकल है, लेकिन 'जीवन का शाप' में बिलकुल नयी समस्या है, जिसे ठाकुर साहब समझ तक नही सके, उसका आविष्कार क्या करते! समस्या जो है वह कटुभाषिणी के इन शब्दो में है—'चुपके से जाकर शीरी बानू (धनवान की पत्नी) से कहो कि जाकर आराम से अपने घर में बैठे। सुख कभी संपूर्ण नही मिलता। विधि इतना घोर पक्षपात नही कर सकती। गुलाब में काँटे होते ही है। अगर सुख भोगना है तो उसे उसके दोषो के साथ भोगना पडेगा।... मुफ्त का माल उडानेवालो को ऐयाशी के सिवा और क्या सूझेगी। धन अगर सारी दुनिया का विलास न मोल लेना चाहे तो वह धन ही कैसा? शीरी के लिए भी क्या वह द्वार नही खुले है जो शापूरजी (धनवान पति) के लिए खुले है? उससे कहो शापूर के घर में रहे, उनके धन को भोगे और भूल जाय कि वह शापूर की स्त्री है, उसी तरह जैसे शापूर भूल गया है कि वह शीरी का पति है। जलना और कुढना छोडकर आनन्द लूटे।... यही धन का प्रसाद है। ऐयाश मर्द की स्त्री अगर ऐयाश न हो तो यह उसकी कायरता है, लतखोरपन है।' ●

यह आमूल विद्रोह है महाजनी यौन-नैतिकता से जो सदाचार का कुल ठेका स्त्री को देकर पुरुष को अबाध व्यभिचार की आजादी देती है और यही कहानी की जान है। ठाकुर साहब को और उनकी रचना को उससे दूर का भी वास्ता नही है। उनको यह चीज इतनी बुरी लगी कि उन्होने उस पर हाशिया लगाया —'खेद है कि गाधी और टैगोर के युग में रहते हुए भी प्रेमचद जी घृणा का यह बीज बोते चले जा रहे है .' ताहम लुत्फ यह है कि मुशीजी ने चोरी की!

और यह एक ऐसा अभियोग है जिसे सुनकर मुशीजी गुस्से से आगबबूला हो

जाते हैं, फिर उन्हे किसी बात का होश नही रहता और तैश में बेकार कच्ची बाते भी मुँह से निकल जातो है। यह उनकी इसानी कमजोरी है। इस पर उनका कोई बस नही है। कितनी ही बार वह अपनी लानत-मलामत इस चीज के लिए कर चुके हैं, लेकिन हर बार जब इम्तहान का कोई मौका आता है तो वही बात।

आप उनके विचारो का विरोध कीजिए, कसकर विरोध कीजिए, मुशीजी के माथे पर शिकन नही आयेगी। आप उनको रचना को घटिया कहे, वह मुस्कराते रहेगे, अपनी-अपनो रुचि है। मगर भूलकर भी चोर या नक्काल न कहियेगा, वरना खैर नही। ईमान ही तो कुल पूँजी है गरीब की!

इस लेख को पढकर बनारसीदास जी ने शायद लिखा कि आप इन सब झगडो में क्यो पडते है, तो मुशीजी ने उसी चोट खाये हुए अदाज में १७ अगस्त १९३५ को जवाब दिया —

'मुझे खुद ऐसे झगडो में पडना पसद नही लेकिन जब कोई गुण्डा तुम्हारा गला घोट रहा हो तो तुम्हे अपना बचाव करना ही पडेगा, भले तुम बडे दार्शनिक हो। मुझे अब यकीन हो गया कि इस आदमी का मन अपनी अतिशय भाव-प्रवणता में रोग की सीमा तक पहुँचा हुआ (मार्बिडली सेसिटिव) है, भाव-प्रवण नही द्वेषपूर्ण। उसको शायद लगता है कि उसे दुनिया से अपना प्राप्य नही मिल रहा है, इसलिए जरूरी है कि वह जब-तब अपनी इयत्ता प्रमाणित करता रहा करे और अपनी श्रेष्ठता घोषित करे। मुझे तो जैसा कुछ लगा मैने सीधे-सीधे लिख दिया है लेकिन अगर वह चुप नही हो जाता तो मै उसका सर तोड दूँगा।'

चतुर्वेदी जी न जाने कब से और कैसे-कैसे बहानो से मुशीजी को कलकत्ते बुला रहे थे, लेकिन मुशीजी थे कि हर बार बचा जाते। अबकी चतुर्वेदी जी ने मुशीजी को ज्यादा उलझाने के ख़याल से उन्हे तुलसी जयन्तो के साथ नत्थी करना चाहा, मगर मुशीजी उससे भी निकल भागे —

'जहाँ तक तुलसी जयन्ती की बात है, मै इस काम के लिए सबसे कम योग्य हूँ। एक ऐसे समारोह का सभापतित्व करना जिसमें मुझे कभी कोई रुचि नही रही, बिलकुल मजाक की बात होगी। मुझे बडा डर लगता है। सच तो यह है कि मैंने रामायण आद्योपान्त पढी भी नही। यह एक लज्जा की बात हैं, मगर सच बात है।'

पन्द्रह दिन बाद फिर १७ अगस्त के पत्र में इस चीज के बारे में उन्होने लिखा —

'मैं वहाँ पहुँचा नही, इसके लिए आप मुझे बुरा-भला मत कहिएगा। आपने अगर तुलसी-जयन्ती की कैद मेरे ऊपर न लगायी होती तो मैं आ जाता। लेकिन तुलसी जयन्ती का सभापतित्व एक ऐसा व्यक्ति करे जिसने कभी तुलसी का

अध्ययन नही किया और जो उनके नाम के साथ जुडी हुई अतिमानव बातो में विश्वास नही करता, यह बात ही मुझे हास्यास्पद जान पडती है। उन्होने राम का दर्शन किया और हनुमान का दर्शन किया, वह बदरवाली घटना, सब ऊलजलूल बाते है। लेकिन तुलसी-भक्त लोग क्या मेरी यह सब नास्तिकताभरी बातें पसन्द करेगे ? इससे क्या आता-जाता है कि उनका जन्म विक्रम सम्वत् १० में हुआ या २० में या ४० मे ? बुद्धि का इतना अपव्यय क्यो जब इतना कुछ करने को है ? वह एक महान् कवि थे, उनकी व्याख्या करो, दार्शनिक, मनोवैज्ञानिक, प्राणिशास्त्रीय, शरीरशास्त्रीय (कैसी भी) व्याख्या करो, पर उन्हे भगवान क्यो बनाते हो ?'

साल के साल लोग उन्हें कलकत्ते बुलाते रहे, शान्तिनिकेतन बुलाते रहे, कभी यो ही अपने मन से, कभी गुरुदेव रवीन्द्रनाथ के सकेत पर, लेकिन मुशीजी नही गये तो नही गये।

चतुर्वेदीजी पिछले करीब दस सालो से इस कोशिश मे थे। उनकी बडी तमन्ना थी कि मुशीजी को गुरुदेव रवीन्द्रनाथ से मिलावें। इसके लिए उन्होने कुछ भी उठा नही रखा। योने नोगूची शान्तिनिकेतन आये तो एक बार फिर उन्होने ज़ोर लगाया। थोडी देर को शायद मुशीजी का आसन डोल गया, लेकिन फिर जी कतरा गया और ९ दिसबर १९३५ को उन्होने जैनेन्द्र को लिखा —

चतुर्वेदीजी ने कलकत्ते बुलाया था कि आकर नोगूची, जापानी कवि, का भाषण सुन जाओ। यहाँ नोगूची हिन्दू युनिवर्सिटी आये, उनका व्याख्यान भी हो गया, मगर मै न जा सका। अक्ल की बाते सुनते और पढते उम्र बीत गयी। ईश्वर पर विश्वास नही आता, कैसे श्रद्धा होती। तुम आस्तिकता की ओर जा रहे हो, जा नही रहे बल्कि पक्के भगत बन रहे हो, मैं सन्देह से पक्का नास्तिक होता जा रहा हूँ।'

तीन महीने बाद फिर किसी प्रसग में शान्तिनिकेतन का निमत्रण मिला। वह भी निष्फल हुआ और १८ मार्च १९३६ को मुशीजी ने चतुर्वेदीजी को लिखा —

'मै शान्तिनिकेतन न जा सका। मेरे लिए उसमें कोई आकर्षण नही है। वह लोग मुझसे विद्वत्तापूर्ण व्याख्यान की आशा करेंगे, और वह मेरे बस का रोग नही। मैं कोई विद्वान् आदमी नही हूँ। तो भी अगर वह लोग मुझे पहले से आमत्रित करे तो मैं आने का प्रयत्न करूँगा। तार से दी गयी एक मिनट की सूचना पर मैं तैयारी नही कर सकता।'

यह बादवाला टुकडा सरासर झूठ है, कोरा बहाना, क्योकि इससे साल भर पहले, २६ मार्च १९३५ को हजारीप्रसाद जी द्विवेदी ने मुशीजी को समय से काफी पहले इस प्रशस्ति के साथ आमत्रित किया था किन्तु निष्फल —

● भजन्मोहमहान्धकार वसतिं सद्वृत्तमुच्चैर्भजन्
वैदग्ध्य प्रथयन् सुसज्जनमनोवारानिधिं ह्लादयन्।

ध्वान्तोद्भ्रान्त जनान् दिशन्ननुदिश ध्वान्तप्रियान् शोभयन्
चन्द्र कोऽपि चकास्त्यसावभिनव श्री प्रेमचन्द्र सुधी ॥
प्रेमचन्द्रश्च चन्द्रश्च न कदापि समावुभौ।
एक पूर्णकलो नित्यमपरस्तु यदा कदा ॥

मान्यवर, उस दिन पडित बनारसीदास जी के साथ गुरुदेव (कविवर रवीन्द्र नाथ ठाकुर) से मिलने गया था। बातो ही बातो वर्तमान हिन्दी साहित्य के सबध में चर्चा चली। ऐसे अवसरो पर आपका नाम सबसे पहले आता है। उस दिन भो आपके रचे साहित्य की चर्चा बडी देर तक चलती रही। हम लोगो की इच्छा थी कि नववर्ष के अवसर पर आप जैसे आदरणीय साहित्यिको को निमंत्रित करे और गुरुदेव से परिचित करायें। गुरुदेव ने हम लोगो के विचार का उत्साह के साथ स्वागत किया। इसीलिए हम लोगो ने निश्चित किया कि स्थानीय हिन्दी समाज का वार्षिकोत्सव नव वर्ष (१४ अप्रैल १६३५) को मनाया जाय। उस दिन गुरुदेव का प्रवचन होता है। उसके पहले दिन भी, जिस दिन वर्ष समाप्त होता है उनका व्याख्यान होता है। कुछ और भी समारोह रहता है। गुरुदेव और आश्रम की ओर से निमत्रण तो यथासमय जाएगा ही, इसके पहले ही हम हिन्दी समाज की ओर से आपको निमत्रित करते हैं। इस बार आप जरूर पधारें। हमारे आग्रहपूर्ण निमत्रण को आप अस्वीकार न करे। आपको गुरुदेव से मिलाकर हम गर्व अनुभव करेगे।

आपके साहित्य ने हिन्दी को समृद्ध किया है और हिन्दीभाषियो को दुनिया में मुँह दिखाने लायक। इसीलिए आपके यश को हम लोग निर्विचार बाँट लिया करते है। जब हम रगभूमि या कर्मभूमि को दूसरे को दिखाते है तो मन ही मन गर्वपूर्वक पूछा करते हैं—है तुम्हारे पास कोई ऐसी चीज! और इस प्रकार का गर्व करते समय हमें प्रेमचन्द नामक किसी अज्ञात अपरिचित व्यक्ति की याद भी नही रहती — मानो सब कुछ हमारी ही कृति है। आज उस व्यक्ति को पत्र लिखते समय उसकी अनुमति के बिना उसके सम्पूर्ण यश को स्वायत्त कर लेने के अपराध के लिए जो हम क्षमा नही माँगते, वह भी गर्व का ही एक दूसरा रूप है। ●

इस निमत्रण पर भी जो आदमी न जाये वह शायद किसी दूसरी मिट्टी का ही बना है। और कुछ हो न हो, कीर्ति के विज्ञापन का लोभी वह नही है।

जाने का प्रलोभन अगर उसके लिए कही है तो वही जहाँ उसका जाना उसके बृहत्तर जीवन-लक्ष्य के लिए उपयोगी है। केवल फूल-माला पहनने के लिए दौडने को उसके पैर उठते ही नही ...

और सब बातो में, जिन्हे मुशीजी काम की बाते समझते है, वह पूरी तरह मुस्तैद है। मुल्कराज आनन्द और सज्जाद ज़हीर ने जैसे ही कुछ अपने नौजवान हिन्दोस्तानी दोस्तो के साथ मिलकर लदन में भारतीय प्रगतिशील लेखक सघ

की स्थापना की, मुशीजी ने यहाँ पर उसका स्वागत करते हुए जनवरी १९३६ में लिखा —

'हमें यह जानकर सच्चा आनन्द हुआ कि हमारे सुशिक्षित और विचारशील युवको में भी साहित्य में एक नयी स्फूर्ति और जागृति लाने की धुन पैदा हो गयी है। लदन में दि इडियन प्रोग्रेसिव राइटर्स असोसिएशन की इसी उद्देश्य से बुनियाद डाली गयी है, और उसने जो अपना मैनिफेस्टो भेजा है, उसे देखकर यह आशा होती है कि अगर यह सभा अपने इस नये मार्ग पर जमी रही तो साहित्य में नवयुग का उदय होगा।'

उस मैनिफेस्टो का कुछ ग्रश मुशीजी ने आशयरूप में इस प्रकार दिया —

'भारतीय समाज में बडे-बडे परिवर्तन हो रहे हैं। पुराने विचारो और विश्वासो की जडें हिलती जा रही है और एक नये समाज का जन्म हो रहा है। भारतीय साहित्यकारो का धर्म है कि वह भारतीय जीवन में पैदा होनेवाली क्रान्ति को शब्द और रूप दे और राष्ट्र को उन्नति के मार्ग पर चलाने में सहायक हो। भारतीय साहित्य, पुरानी सभ्यता के नष्ट हो जाने के बाद से, जीवन की यथार्थताओ से भागकर उपासना और भक्ति की शरण में जा छिपा है। नतीजा यह हुआ है कि वह निस्तेज और निष्प्राण हो गया है, रूप में भी, अर्थ में भी। . . हम भारतीय सभ्यता की परम्पराओ की रक्षा करते हुए, अपने देश की पतनोन्मुख प्रवृत्तियो की बडी निर्दयता से आलोचना करेगे . हमारी धारणा है कि भारत के नये साहित्य को हमारे वर्तमान जीवन के मौलिक तथ्यो का समन्वय करना चाहिए, और वह है हमारी रोटी का, हमारी दरिद्रता का, हमारी सामाजिक अवनति का और हमारी राजनीतिक पराधीनता का प्रश्न। तभी हम इन समस्याओ को समझ सकेगे और तभी हममें क्रियात्मक शक्ति आयेगी। वह सब कुछ जो हमें निष्क्रियता, अकर्मण्यता, और अधविश्वास की ओर ले जाता है, हेय है; वह सब कुछ जो हममें समीक्षा की मनोवृत्ति लाता है, जो हमें प्रियतम रूढियो को भी बुद्धि की कसौटी पर कसने के लिए प्रोत्साहित करता है, जो हमें कर्मण्य बनाता है और हममें सगठन की शक्ति लाता है, उसी को हम प्रगतिशील समझते है।'

उसी महीने, १२, १३, १४ जनवरी को युनिवर्सिटी के विजयनगरम हाल मे हिन्दुस्तानी एकेडेमी का सालाना जलसा हुआ। मुशीजी भी उसमें शरीक हुए। .

'सभापति बिहार के प्रसिद्ध नेता, साहित्यकार और हिन्दुस्तान रिव्यू के यशस्वी सम्पादक श्री सच्चिदानन्द सिनहा थे। साहित्यकारो का अच्छा सम्मेलन था। उन्हे उर्दू और हिन्दी दो विभागो में कर दिया गया था। उर्दू विभाग के सद्र मौलाना अब्दुल हक साहब और हिन्दी विभाग के सद्र डा० गगानाथ झा थे। दोनो विभागो में कई अच्छे-अच्छे, विद्वत्ता और गवेषणा और खोज से भरे हुए लेख पढे गये, मगर

दोनो सम्मेलनो के अलग-अलग होने के कारण श्रोताओ को सारे निबधो को सुनने का अवसर न मिला। और हानि यह हुई कि उर्दू और हिन्दी के बीच मे जो दीवार खडी होती जा रही है, वह और भी ऊँची हो गयी। अगर दोनो समुदाय मिल नही सकते, तो न मिलें। अपनी डफली अलग बजाना चाहते हैं तो बजाते जायँ, लेकिन क्या इसमें भी कोई बुराई है कि दोनो एक दूसरे को सुन भी नही सकते।'

कैसी बेतुकी हालत है इन बेचारे मुशीजी की जो न पूरी तरह हिन्दी के है न पूरी तरह उर्दू के, जो बीच में खडे है, सगम पर

सज्जाद जहीर इस बीच विलायत से लौट आये थे और यहाँ पर इस नये आन्दोलन का श्रीगणेश करने के सिलसिले में इलाहाबाद को ही अपना केन्द्र बनाकर रह रहे थे। और उनको सफलता भी मिली। हिन्दी कवियो के अग्रणी सुमित्रा-नन्दन पन्त ने उनको अपना पूरा सहयोग दिया। युनिर्वसिटी मे भी फिराक गोरखपुरी, डाक्टर एजाज हुसेन और अहमद अली की वजह से पैर टिकाने को जगह मिली और धीरे-धीरे काम चल निकला। सगठन तो अभी कही था नही (सज्जाद जहीर का जेब ही उसका केन्द्रीय कार्यालय था!) लेकिन हाँ, कुछ समानधर्मा लोग आपस में मिलने-बैठने लगे थे।

अहमद अली और सज्जाद जहीर की पहली मुलाकात मुशीजी से इसी एकेडेमी के जलसे में हुई। अपनी उस दिलचस्प मुलाकात के बारे में अहमद अली कहते हैं—

"पुराने कवियो से सबध रखनेवाले बहुत लबे-चौडे निबध सुनते-सुनते हम लोग उकता गये थे और हममें से कुछ लोग अपनी टाँगें सीधी करने के लिए और थोडी_सी ताजी हवा खाने के लिए उस पडिताऊ वातावरण से निकलकर बाहर बरामदे में आ गये थे। मुझे याद आता है कि उस वक्त मेरे दोस्त रघुपति सहाय 'फिराक' और मुशी दयानरायन निगम भी वहाँ मौजूद थे। उस वक्त मुशी दयानरायन निगम के साथ मेरी पहले पहल मुलाकात हुई थी और हम लोग 'अगारे' नाम की अपनी किताब के बारे में बात कर रहे थे। शाम हो चली थी और म्योर सेण्ट्रल कालेज के इमली के दरख्तो में करीब-करीब आधा सूरज उतर आया था। उसकी पीली पडी हुई किरणे हम लोगो के पैरो पर नाच रही थी और बढिया ठडी हवा चल रही थी। उस वक्त अचानक बरामदे की ओर से एक ऐसे दुबले-पतले सज्जन आते हुए दिखायी दिये जिनका कद कुछ ज्यादा लबा नही था, लेकिन फिर भी वे जितने लबे थे, उसके मुकाबिले में अपने दुबलेपन के कारण कुछ ज्यादा लबे मालूम होते थे। उनके चेहरे से प्रसन्नता झलकती थी और आँखें करुणापूर्ण थी और उनमें एक ऐसी कोमलता दिखायी देती थी जो जीवन की समस्याओ पर गभीर विचार करने और अनेक प्रकार के कष्ट सहने से उत्पन्न होती

है। वे एक शेरवानी और चुस्त पाजामा पहने हुए थे और उनकी गाधी टोपी मे से दोनो तरफ, आगे और पीछे, गर्दन पर निकले हुए कुछ लबे बाल दिखायी देते थे। उनकी घनी और बडी-बडी मूछो में काले बालो की बनिस्बत सफेद बाल ही ज्यादा थे और उनका तौर-तरीका बहुत ही भले आदमियो का सा था। मेरे दोस्त रघुपतिसहायजी ने उनसे मेरा परिचय कराया। मुझे मालूम हुआ कि यही मुशी प्रेमचद है। वे खूब मजे में खुलकर बाते करते थे। और लोग खूब खुले दिल से खुश हो-होकर उनकी बाते सुनते थे। उनके सीधे-सादे तौर-तरीको का मुझ पर बहुत अच्छा असर पडा था। वे बहुत मजाकपसन्द आदमी थे और मौके पर फौरन ही एक से एक बढकर मजेदार बात कहते थे और सिगरेट पीते थे। ढलते हुए सूरज की पीली किरणें हम लोगो के पैरो पर खेल रही थी। उस वक्त मुझे ख्वाब में भी इस बात का खयाल नही होता था कि प्रेमचन्द जी के जीवन का सूर्य भी अब बहुत जल्दी अस्त होना चाहता है।''

दो रोज बाद ये सब लोग प्रगतिशील लेखको के आन्दोलन का सगठन करने के सिलसिले में सज्जाद ज़हीर के मकान पर इकट्ठा हुए। मौलवी अब्दुल हक और जोश मलीहाबादी भी मौजूद थे। मुशी दयानरायन निगम तो बहुत उत्साहित न अनुभव कर रहे थे, पर मुशी प्रेमचन्द का मन उमग से भरा हुआ था और सघ के ड्राफ्ट मैनिफेस्टो पर दस्तखत करते हुए मुशीजी ने हँसकर कहा —

'मैं तो ठहरा बुड्ढा आदमी और तुम लोग हो कि सरपट भाग रहे हो। मै कहाँ दौड सकता हूँ तुम्हारे साथ, मेरा तो घुटना-वुटना फूट जायेगा '

हिन्दुस्तानी एकेडेमी का जलसा तो हो गया लेकिन हिन्दी और उर्दू को पास लाने का जो सपना मुशीजी को उससे बाँधे हुए था, वह मृगजल की भाँति दूर से दूरतर सरकता जा रहा था और मुशीजी को इसकी गहरी मनोव्यथा थी।

उसी पीडा में से ये शब्द निकले —

'जलसा समाप्त हो जाने के बाद पत्रो मे पृथकता के समर्थन में बार-बार लेख लिखे जा रहे है और यह सिद्ध किया जा रहा है कि उर्दू और हिन्दी अब अलग-अलग रास्ते पर चलकर एक दूसरे से इतनी दूर निकल गयी है, कि उनका समीप आना असम्भव है और यह कि उनको मिलाने की कोशिश दोनो ही भाषाओ को मटियामेट कर देगी। एकतावादियो को बार-बार चुनौती दी जा रही है कि वे कोई ऐसी रचना करके दिखा दें जिसमें एकता का आदर्श निभाया गया हो और वह किस्से कहानी की पुस्तक न हो बल्कि कोई ऐतिहासिक या वैज्ञानिक या दार्शनिक या आलोचनात्मक कृति हो। हम अपने पृथकतावादी भाइयो से बडे अदब के साथ पूछेंगे कि अगर ऐसी कोई जबान मौजूद होती तो इस सस्था की जरूरत ही क्यों पडती . . '

यह नया साल अच्छा पैर में सनीचर लेकर आया ह, पैर टिकते ही नही घर पर। कहाँ तो साहित्यिक आयोजन से भागे-भागे फिरते थे, अब जहाँ देखो वही पहुँचे हुए है। कौन जाने वह कौन सी अदृश्य प्रेरणा है जो उन्हे हर जगह खीच ले जाती है—मिल लो सबसे, देख लो सब कुछ, बाँट दो सबको जो कुछ एक जीवन की यातना में से पाया है, सुख-दुख, अनुभव, ज्ञान, विवेक ..

.... या शायद बात इससे छोटी है, बस इतनी कि तबीयत उन जगहो में जाने से भागती है जहाँ बस पूजा-पुजैया है, या अपना तमाशा बनता है, लेकिन जहाँ नयी पौध है वहाँ जाने को तबीयत खुद ब खुद भागती है।

और फिर अब ज्यादा आजादी भी तो है। लडके दोनो इलाहाबाद में पढ रहे है। घर में बस पति-पत्नी है, कही जाने की राय बनी और दोनो जने चल खड़े हुए।

जो भी बात रही हो, नया साल मुशीजी के पैर में सनीचर लेकर आया है।

अभी हिन्दोस्तानी एकेडेमी के जलसे से लौटे और दस रोज़ बाद २६ जनवरी को इलाहाबाद में महिला-गल्प-लेखक सम्मेलन था जिसकी सभानेत्री शिवरानी देवी थी। २८ को बनारस लौटे। ३१ को आगरे के लिए रवाना हो गये। अगले रोज आगरे पहुँचे। हरिहरनाथ टण्डन के घर ठहरे। नाश्ता-वाश्ता करके किला और ताज देखने गये। दिन में सेन्ट जॉन्स कालेज में उत्सव था। मुशीजी को अभिनन्दनपत्र दिया गया। शाम को नागरी प्रचारिणी सभा के वार्षिक अधिवेशन का सभापतित्व किया।

अगले दिन फतेहपुर सीकरी देखने की ठहरी और उसी रात इलाहाबाद के लिए रवाना हो गये।

यहाँ पर महादेवी वर्मा से मिलना कभी न भूलते। और घर आकर अपनी डायरी में टाँका, 'महादेवी वर्मा से मिला और उनकी खुशदिल बातचीत से जी खुश हुआ। उनका मधुर शील-सौजन्य और उनकी निश्छल हँसी बडी मोहक है।'

पत्नी अपने भाई के साथ रुकना चाहती थी। उनको वही छोडकर मुंशीजी उसी रोज बनारस चले गये। सूना घर काटे खाता था।

ऐसे ही कभी पत्नी को इलाहाबाद छोड आने पर मुशीजी ने एक रोज उकताकर, बहुत खिन्न होकर उन्हे उलाहना देते हुए लिखा था—

'मै तुम्हे छोडकर काशी आया। मगर यहाँ तुम्हारे बिना सूना-सूना लग रहा है। क्या कहूँ, तुम्हारी बहन की बात कैसे न मानता। न मानने पर तुम्हे भी बुरा लगता। जिस समय पर तुम्हे उन्होने रोका, मैं जी मसोसकर रह गया। तुम तो अपनी बहन के साथ वहाँ खुश होगी मगर मैं यहाँ परीशान हूँ—जैसे एक घोसले में दो पची रह रहे हो और उनमें एक के न रहने पर एक परेशान

हो । तुम्हारा यही न्याय है कि तुम वहाँ मौज करो और मै तुम्हारे नाम की माला फेरूँ ! तुम मेरे पास रहती हो तो मैं भरसक कही बाहर जाने का नाम नही लेता, तुम आने का नाम नही लेती ...'

मगर काम की भीड हर सूनेपन को मार देती है । १८ फरवरी को उन्होने अपनी डायरी में टाँका —

'तार मिला कि रानी आ रही है और मै उन्हे स्टेशन पर मिलूं । दिन का काम खतम करने के बाद मैं जागा तो एकाएक लगा कि वह कही रात की गाडी से न आती हो । मै बारह बजे रात पैदल ही भागा-भागा स्टेशन गया — सवारी नही मिली — पर रानी नही आयी ।'

वह अगले रोज आयी, और उसके अगले रोज़ मुशीजी सबेरे ही इलाहाबाद के लिए रवाना हो गये — युइग क्रिश्चियन कालेज के जलसे में शरीक होने के लिए । 'दस बजे पहुँचा । हिन्दुस्तानी एकेडेमी गया । दोस्तो से मिला । तीन बजे मिस्टर सज्जाद जहीर के यहाँ पहुँचा मगर वह युनिवर्सिटी से लौटे न थे । पाँच बजे शाम मैं युइग कालेज पहुँचा । बडी शानदार इमारत है — जमुना किनारे कैसी खूबसूरत नजर आती है । बडे लम्बे-चौडे मैदान उससे लगे हुए है । जलसा गार्डेन पार्टी के बाद सात बजे शाम शुरू हुआ । धीरेन्द्र जी, बाबूराम सक्सेना बोले । मैने भी मजाकिया अंदाज़ में कुछ कहा । सत्यजीवन वर्मा के साथ स्टेशन लौट आया और दो बजे रात बनारस पहुँच गया ।'

इस जल्दबाजी की वजह शायद यह थी कि अगले रोज़ बनारस में क्षत्रिय कालेज में एक कहानी प्रतियोगिता थी । 'कोई दस कहानियाँ पढी गयी, मगर उनमें से एक भी उल्लेखनीय नही । सब में वही यौन-ग्रंथि '

२२-२३ को पूर्णिया में बिहार प्रान्तीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन का अधिवेशन हो रहा था । उसके लिए मुशीजी २२ को साढे ग्यारह बजे दिन रवाना हुए । चौबीस घटे का बहुत लबा और उबानेवाला सफर करके अगले दिन बारह बजे पहुँचे और मुशकिल से आठ-नौ घटे रहकर फिर उसी चौबीस घटे के सफर के लिए रवाना हो गये ! यह हो क्या गया है मुशीजी को ? मुशीजी जो इतने यात्रा-भीरु थे, यकबयक ऐसे यात्रा-शूर कैसे हो गये !

हिन्दुस्तानी और प्रगतिशील साहित्य का भूत सवार है आजकल सर पर । जहाँ जिस मंच से अपनी बात कह सकें ...

भाषा को एकता का वाहन बनाकर एक नयी क्रान्ति का आवाहन .

जैसा कि पूर्णिया से लौटकर उन्होने लिखा —

● कविता में अगर जागृति पैदा करने की शक्ति नही है तो वह बेजान है । आप हाला बाँधे या तन्त्री के तार या बुलबुल और कफस, उसमें जीवन को तडपाने-वाली शक्ति होनी चाहिए । प्रेमिकाओ के सामने बैठकर आँसू बहाने का

यह ज़माना नहीं है। उस व्यापार में हमने कई सदियाँ खो दी, विरह का रोना रोते-रोते हम कही के न रहे। अब हमें ऐसे कवि चाहिए जो हजरते इकबाल की तरह हमारी मरी हुई हड्डियो में जान डालें। देखिए, इस कवि ने लेनिन को खुदा के सामने ले जाकर क्या फरियाद करायी है और उसका खुदा पर इतना असर होता है कि वह अपने फरिश्तो को हुक्म देता है —

उट्ठो मेरी दुनिया के गरीबो को जगा दो,
काख़े[१] उमरा के दरो-दीवार हिला दो।
गरमाओ गुलामो का लहू सोज़े यकी से,
कुजिश्क[२] फरोमाया[३] को शाही[४] से लडा दो।
सुलतानिये[५] जमहूर[६] का आता है जमाना,
जो नक्शे कोहन[७] तुमको नज़र आये, मिटा दो।
जिस खेत से देहक़ाँ[८] को मयस्सर नही रोजी,
उस खेत के हर ख़ोशए[९] गदुम को जला दो।
क्यो ख़ालिको[१०] मख़लूक[११] में हायल रहे पर्दे,
पीराने[१२] कलीसा को कलीसा[१३] से उठा दो। ●

---

१ महल २ चिडा ३ तुच्छ ४ शिक्रा ५-६ प्रजा-राज्य ७ पुराना ८ किसान ९ गेहूँ की बाल १० स्रष्टा ११ सृष्टि १२ मठधारी १३ गिरजे-मंदिर-मसजिद

३६

पूर्णिया से लौटते ही दस रोज के अन्दर दिल्ली का प्रोग्राम बन गया। जैनेन्द्र बहुत जोर देकर बुला रहे थे — हिन्दुस्तानी सभा कायम करने के सिलसिले में। और यह एक ऐसी चीज थी जिसके लिए मुशीजी दिल्ली तो क्या टिम्बकटू तक दौडते चले जा सकते थे।

होली गले मिलने का दिन है, मेल-मिलाप का दिन। हिन्दी और उर्दू के मेल-मिलाप के लिए, सगम के लिए, इससे अच्छा दिन और कौन हो सकता था।

लिहाजा मुशीजी मार्च की चौथी तारीख को सियालदा एक्सप्रेस से दिल्ली के लिए रवाना हो गये — रास्ते में पढने के लिए हजरत राशिद-उल-खैरी की किताबे ले ली। राशिद-उल-खैरी बहुत कुछ मुशीजी के अपने रग और मिजाज के लिखनेवाले थे, बडे लिखनेवाले थे, और इसी महीने उनका देहान्त हुआ था। उन पर कुछ लिखना है।

होली का दिन दरियागज में जैनेन्द्र के मकान पर गुजरा — 'प्रेमचन्द जी नीम की सीक से दाँत कुरेदते हुए धूप में खाट पर बैठे थे। नाश्ता हो चुका था और पूरी निश्चिन्तता थी। बदन पर धोती के अलावा बस एक बनियान थी जिसमें उनकी दुबली और लाल-पीली देह छिपती न थी। वक्त साढे नौ का होगा। ऐसे ही समय होलीवालो का एक दल घर में अनायास घुस आया और बीसियों पिचकारियो की धार से और गुलाल से उस दल ने उनका ऐसा सम्मान किया कि एक बार तो प्रेमचन्द चौंक गये। पलक मारने में वह तो सिर से पाँव तक कई रंग के पानी से भीग चुके थे। हडबडाकर उठे, क्षण इक रुके, स्थिति पहचानी और फिर वह कहकहा लगाया कि मुझे अब तक याद है। बोले — अरे भाई जैनेन्द्र, हम तो मेहमान है! ....'

लेकिन जब आगत टोली ने आनेवाली टोलियो की ओर से 'मेहमान' को किसी प्रकार का अभय का आश्वासन नही दिया तो मुशीजी ने कहा — तो फिर कौन कपडे बदले। हम तो यही बैठते है खाट पर, आये जिसका जी चाहे!

उसी रोज शाम को उन्होने जामिया मिल्लिया में हिन्दुस्तानी सभा का

उद्घाटन किया । काफी अच्छी उपस्थिति थी । मुशीजी के मन में बडा सन्तोष हुआ । अगले महीने उन्होने ' हस ' में लिखा —

' हिन्दुस्तान में शायद यह पहला मौका था कि ८ मार्च को देहली की जामिया मिल्लिया में देहली के उर्दू और हिन्दी के अदीबो और साहित्यकारो ने मिलकर एक हिन्दुस्तानी सभा की बुनियाद डाली, जिसका उद्देश्य यह होगा कि वह दोनो साहित्यिको को एक-दूसरे के समीप लाये, उनके अदीबों में मुहब्बत, हमदर्दी और एकता पैदा करे, उन्हे एक दूसरे के विचारो और भावो के जानने और समझने का मौका दे, और हिन्दुस्तानी भाषा के विकास का आयोजन करे । एक समय था, जब इल्म और फन की इतनी उन्नति और राजनीति में इतनी जागृति न होने पर भी आपस में बहुत कुछ मुहब्बत थी .. मगर जमाने ने कुछ ऐसा पलटा खाया कि हिन्दी हिन्दुओ की जबान हो गयी और उर्दू मुसलमानो की । हिन्दुओ ने उर्दू से मुँह मोडना शुरू किया, मुसलमानो ने हिन्दी से । अलग-अलग दो कैम्प हो गये और दोनो जबानें और साहित्य राजनीति के चक्कर में पड गये । हालाँकि अदब को राजनीति से कोई सबध नही, उसका विषय तो इसान है, और इसान चाहे अपने माथे पर कोई लेबल लगाये, वह इसान ही है, मगर यह राजनीति का युग है और कोई उद्योग ऐसा नही जिस पर राजनीतिक सकीर्णता का रग न चढाया जा सके ।... इस तरह दोनो जबाने अलग होती जा रही है, और जिनसे हम अपनी जबान में बेतकल्लुफ बातचीत न कर सकें, उनसे दिल क्योकर मिलेगा । हिन्दी और उर्दू साहित्य बदकिस्मती से ऐसे जमाने से गुजरे जब साहित्य ने आम जिन्दगी से नाता तोड-सा लिया था और उनकी सारी ताकत विरह और विलाप के दुखडे रोने में कटती थी, या बहुत हुआ तो शराब की तारीफ की और दुनिया की अनित्यता पर फिलासफी बघारी, लेकिन दुनिया में जो साहित्य जीते-जागते है, उन्होने कौम की तारीख बनायी है, उसकी सस्कृति बनायी है । अदीब ही कौम का पथदर्शक होता है । उसका दिल प्रेम की ज्योति से भरा होता है । उसमें तास्सुब और तगखयाली के लिए जगह नही होती '

मुशीजी के लिए यह केवल भाषा का शास्त्रीय प्रश्न नही है और न केवल साहित्य का, यह राष्ट्र की एकता का प्रश्न है । जिस काम को राजनीति के धुरधर नही कर सके, बल्कि यो कहे कि जिस काम को राजनीति के धुरधरो ने बिगाडने में कोई कसर नही उठा रखी उसको बनाने की यह एक कोशिश है, जिसकी सफलता में न जाने कितनी सुख-शान्ति और विफलता में न जाने कितना विध्वस और विनाश छिपा हुआ है । इसीलिए तो मुशीजी इस चीज के पीछे इस तरह पागल है — एक काम जिसके लिए वह विशेषरूप से उपयुक्त है क्योकि वह दुभाषिए है और समझते है कि एक की बात दूसरे का समझा सकते है । यह एक बडा काम है, राष्ट्र-निर्माणकारी काम जिसका बीडा मुशीजी ने अपनी सीमित

शक्तियो से, जिन्दगी के इस आख़िरी दौर में उठाया है । भारतीय साहित्य परिषद् जवाब है उस प्रान्तीयता की भावना का जो जगह-जगह सिर उठा रही है, और हिन्दुस्तानी का आन्दोलन जवाब है भारतीय इतिहास और भारतीय समाज के उस अनोखे हिन्दू-मुस्लिम सवाल का जिससे कावा काटकर निकल जाना किसी तरह मुमकिन नही । जिन्दगी भर उसी भाषा, उसी सस्कृति को मुशीजी ने बरता है, लेकिन उतना शायद काफी नही, मुँडेर चढकर गुहार लगाना भी कभी-कभी जरूरी हो जाता है और इधर साल दो बरस से मुशीजी यही तो कर रहे है, दौडे चले जाते है, काले कोस, यही एक बात कहने के लिए, जिसके बारे में पडित बनारसीदास चतुर्वेदी को बतलाते हुए मुशीजी ने ३१ मार्च को लिखा —

'इस बढती हुई खाई को कैसे पाटा जाय । इन राजनीतिवालो से कुछ भी उम्मीद करना बेकार है । उनसे उदारमनस्क होने की आशा करना ही व्यर्थ है । लेखको को ही अगुवई करनी होगी । और वे शत्रु से अधिक मित्र के रूप मे अगुवई कर सकते है । '

१० तारीख की रात को मुशीजी बनारस लौटे तो इलाहाबाद से आया हुआ सज्जाद जहीर का ख़त उनकी राह देख रहा था । लखनऊ में काग्रेस अधिवेशन के ही अवसर पर, प्रगतिशील लेखक सम्मेलन करने का प्रस्ताव था और उसका सभापतित्व करने के लिए मुशीजी से अनुरोध किया गया था ।

मुशीजी ने लिखा —

● सभापतित्व की बात । मै इसके योग्य नही । नम्रतावश नही कहता, मैं अपने में कमजोरी पाता हूँ । मिस्टर कन्हैयालाल मुशी मुझसे बेहतर होगे या डाक्टर ज़ाकिर हुसेन । पडित जवाहरलाल नेहरू तो बडे व्यस्त होगे, नही वे एकदम उपयुक्त होते । इस अवसर पर सभी राजनीति के नशे में चूर होगे, साहित्य से शायद ही किसी को दिलचस्पी हो । लेकिन हमें कुछ न कुछ तो करना है । अगर जवाहरलाल ने दिलचस्पी ली तो अधिवेशन सफल हो जायगा ।

मेरे पास इस वक्त भी सभापतित्व के लिए दो जगह के निमत्रण पडे है — एक लाहौर के हिन्दी-सम्मेलन का, दूसरा हैदराबाद (दकन) की हिन्दी प्रचार सभा का । मैं इनकार कर रहा हूँ पर वह लोग इसरार कर रहे हैं । कहाँ-कहाँ प्रिसाइड करूँ । हमारी सस्था में कोई बाहर का आदमी सभापति बने तो ज्यादा अच्छा हो । मजबूरी दर्जा मै तो हूँ ही । कुछ रो-गा लूंगा ।

. और क्या लिखूं । तुम जरा पडित अमरनाथ झा को तो आजमाओ । उन्हें उर्दू साहित्य से दिलचस्पी भी है और शायद वे सभापति होना स्वीकार कर लें । ●

पडित अमरनाथ झा की लाइब्रेरी में बराबर स्थानीय शाखा की बैठकें होती थी, ज़ोर दिया जाता तो शायद वह राज़ी भी हो जाते । पर उन लोगो को सबसे

ज्यादा मुशीजी का नाम आता था और वह इतनी आसानी से मुशीजी को छोडने के लिए तैयार न थे। सज्जाद जहीर ने फिर लिखा, फिर फिर लिखा। आखिर-कार १९ मार्च को मुशीजी ने रज़ामद होते हुए जवाब दिया —

'अगर हमारे लिए कोई योग्य सभापति नही मिलता तो मुझी को रख लीजिए। मुशकिल यही है कि मुझे पूरे का पूरा भाषण लिखना पडेगा .. मेरे भाषण में आप किन समस्याओ पर बहस चाहते हैं, इसका कुछ इशारा कर दीजिए। मैं तो डरता हूँ मेरा भाषण जरूरत से ज्यादा निराशाप्रद न हो। आज ही लिख दो ताकि वहाँ जाने से पहले तैयार कर लूँ।'

भारतीय साहित्य परिषद् की बैठक ३-४ अप्रैल को वर्धा में होने की बात थी, उसी की तरफ मुशीजी का इशारा था, लेकिन फिर वह बैठक स्थगित हो गयी और हिन्दी साहित्य सम्मेलन के नागपुर अधिवेशन के साथ-साथ २४ अप्रैल को हुई।

प्रगतिशील लेखक सम्मेलन ९-१० अप्रैल को था। सगठन की जो हालत थी, उसके बारे में खुद सज्जाद जहीर का बयान सुनिए —

● ज्यो-ज्यो कान्फ्रेस का दिन निकट आता, हमारी घबराहट बढती जाती। रुपयों की कमी के कारण हम अपने प्रतिनिधियो को ठहराने और उनके खाने-पीने का प्रबध भी न कर सकते थे। कुछ को हमने अपने मित्रो और रिश्तेदारो के यहाँ ठहराने की व्यवस्था की थी। बहुत से काग्रेस के कैम्प में जाकर टिक गये थे, जहाँ एक झोपडी चन्द रुपयो के किराये पर मिल जाती थी और खाना सस्ता था। कुछ युनिवर्सिटी के होस्टल के खाली कमरो मे ठहरे...

बाहर से आनेवाले लोगो का स्वागत रेलवे स्टेशन पर करना भी हमारे बस का नही था। तीन-चार आदमी आखिर क्या-क्या करते ? तो भी अपनी कान्फ्रेस के प्रधान मुशी प्रेमचन्द को स्टेशन से लेने के लिए जाने का फैसला हमने किया था। महमूद किसी और काम में लगे हुए थे, इसलिए रशीदा और मैंने तय किया कि हम दोनो स्टेशन पर जायँगे। कही से थोडी देर के लिए हमने एक कार भी माँग ली थी।

सुबह का समय था। गाडी नौ बजे के लगभग आने को थी। हमने सोचा कि साढे आठ बजे घर से रवाना होगे। हम आठ बजे के करीब बैठे चाय पी रहे थे कि घर में एक ताँगे के दाखिल होने की आवाज आयी और साथ ही साथ एक नौकर ने आकर मुझे इत्तिला दी कि बाहर कोई साहब मुझे बुला रहे हैं। मैं बाहर निकला तो देखा प्रेमचन्द जी ...

लेकिन इससे पहले कि मैं कुछ कहूँ, प्रेमचन्द हँसते हुए बोले — भाई, तुम्हारा घर बडी मुशकिल से मिला। बडी देर से इधर-उधर चक्कर लगा रहे हैं।

इतने में रशीदा भी बाहर निकल आयी और हम दोनो अपनी सफाई देने लगे। पता चला कि हमें ट्रेन के समय की सूचना गलत मिली थी।. . पहली अप्रैल से वक्त बदल गया। लेकिन अब उलटे प्रेमचन्द जी अपनी सफाई देने

लगे — हाँ, मुझे चाहिए था कि चलने से पहले तुम लोगो को तार भेज देता लेकिन मैंने सोचा, क्या जरूरत है, अगर स्टेशन पर कोई न मिला तो ताँगा लेकर सीधा तुम्हारे घर चला आऊँगा ...

और मैं दिल में सोच रहा था कि दूसरे सम्मेलनो के सभापतियो का बडा शानदार स्वागत किया जाता है, उन्हे प्लेटफार्म पर हार पहनाये जाते है, उनके जुलूस निकलते है और उनकी जय-जयकार होती है, और एक हमारे सभापति मुशी प्रेमचद है कि खुद अपनी जेब से रेल का टिकट खरीदकर चुपके से आ गये है, स्टेशन पर स्वागत करनेवाला तो क्या, राह बतानेवाला भी उन्हे कोई न मिला। एक मामूली से ताँगे पर बैठकर खुद ही बडी बेतकल्लुफी से सम्मेलन के मुतजिमो के घर चले आये है और शिकायत करना तो दूर की बात है, उनके माथे पर एक बल नही पडा ●

नाश्ते-वाश्ते के बाद, जहीर ने उनके भाषण के बारे में पूछा तो मुशीजी ने निकालकर दे दिया और एक जोर का कहकहा लगाया। जहीर ने यहाँ-वहाँ उलट-पलटकर देखा और कहा — जबान तो आपकी जरा सकील हो गयी है।

मुशीजी ने दुबारा कहकहा लगाया और कहा — मैने कहा लाओ, ऐसी जबान लिख दूँ कि यह लोग भी याद करें ....

और फिर ज़रा रुककर — आखिर कायस्थ का बेटा हूँ।

इसमें शक नही कि वह काफी गरिष्ठ उर्दू थी, जो गैर-उर्दूदाँ लोगो के कम ही पल्ले पडी होगी और ठीक ही था कि उन्होने इसके लिए मुशीजी की अच्छी खबर ली।

अहमद अली, सज्जाद ज़हीर, अब्दुल हक, जोश मलीहाबादी, फिराक गोरख-पुरी, एजाज़ हुसेन — इस तहरीक के सिलसिले में अब तक मुशीजी का उठना-बैठना, चिट्ठी-पत्री इन्ही लोगो से हुई थी और शायद कुछ ऐसा खयाल उनके दिल में बैठ गया था कि यह उर्दू लेखको का सम्मेलन होने जा रहा है। फिर क्या था, मुशीजी फारसी के रग में डूबी हुई, परिष्कृत-परिमार्जित उर्दू मे अपना अभिभाषण लिखकर ले गये।

मगर बाते जो कही वह बहुत सादा, बहुत साफ, बहुत सच्ची और बडे जोश और बडी गर्मी के साथ —

● भाषा साधन है, साध्य नही। ....

निस्सदेह काव्य और साहित्य का उद्देश्य हमारी अनुभूतियो की तीव्रता को बढाना है, पर मनुष्य का जीवन केवल स्त्री-पुरुष प्रेम का जीवन नही है।

... नीतिशास्त्र और साहित्यशास्त्र का लक्ष्य एक ही है — केवल उपदेश की विधि में अतर है। नीतिशास्त्र तर्को और उपदेशों के द्वारा बुद्धि और मन पर प्रभाव डालने का यत्न करता है, साहित्य ने अपने लिए मानसिक अवस्थाओं

और भावो का क्षेत्र चुन लिया है...

पुराने जमाने मे समाज की लगाम मजहब के हाथ मे थी ... पुण्य-पाप के ममले उसके साधन थे .. अब साहित्य ने यह काम अपने जिम्मे ले लिया है और उसका साधन सौन्दर्य-प्रेम है . ●

डेढ-दो घटे के इस व्याख्यान में साहित्य के सत्य शिव और सुन्दर तत्व की ही व्याख्या की गयी थी, पर यह ग्राथिक या निरी शास्त्रीय व्याख्या न थी — उसके एक–एक शब्द के पीछे एक कृती साहित्यकार का अपना जीवन-अनुभव बोल रहा था, उसके एक-एक शब्द में उनके हृदय का आवेग था, उनकी निष्ठा का बल था।

सौन्दर्य की चर्चा करते हुए मुशीजी ने अपने ध्यानमग्न श्रोताओ से कहा —

'प्रश्न यह है कि सौन्दर्य है क्या वस्तु ? हमने सूरज का उगना और डूबना देखा है, ऊषा और सन्ध्या की लालिमा देखी है, सुन्दर सुगधि भरे फूल देखे है, मीठी बोलियाँ बोलनेवाली चिडियाँ देखी है, कलकलनिनादिनी नदियाँ देखी है, नाचते हुए झरने देखे है — यही सौन्दर्य है। इन दृश्यो को देखकर हमारा अत करण क्यो खिल उठता है ? इसलिए कि इनमें रग या ध्वनि का सामजस्य है। बाजो का स्वरसाम्य अथवा मेल ही सगीत की मोहकता का कारण है। हमारी रचना ही तत्वो के समानुपात के संयोग से हुई है, इसलिए हमारी आत्मा सदा उसी साम्य तथा सामंजस्य की खोज में रहती है '

और जब जहाँ उसको यह चीज मिल जाती है, वही रोये भुरभुरा उठते है, आँखें गीली हो जाती है। वही रस है, प्रकृति और पुरुष का आलिगन, आत्मा की अंतहीन यात्रा में आत्मा और विश्वास का क्षणिक मिलन, आत्मा की आत्म-उपलब्धि, ओर फिर वियोग और फिर यात्रा उसी एक खोज में जिसे इकबाल ने इस तरह कहा है —

रम्जे हयात जोई जुज दर तपिश न याबी,
दर कुल्जुम आरमीदन नगस्त आबे जूरा।
ब आशियाँ न नशीनम जे लज्जते परवाज़,
गहे बशाखे गुलम गहे बर लबे जूयम।

(अगर तुझे जीवन के रहस्य की खोज है तो वह तुझे संघर्ष के सिवा और कही नही मिलने का — सागर में जाकर विश्राम करना नदी के लिए लज्जा की बात है। उडने में मुझे जो आनन्द मिलता है, उसके मारे मै कभी घोसले में नही बैठता — कभी फूलो की टहनियो पर तो कभी नदी किनारे होता हूँ।)

इकबाल मुशीजी को बेहद पसन्द है। उन्हे जहाँ अपनी किसी बडी बात के लिए सनद की जरूरत होती है, वह फौरन इकबाल के पास दौडते है। अशेष गति के अपने इसी जीवनदर्शन को मुशीजी ने इकबाल के शब्दो में यों रखा —

चूँ मौज साजे वजूदम जे सैल बेपरवास्त,
गुमाँ मबर कि दरी बह्र साहिले जोयम ।

(तरग की भाँति मेरे जीवन की तरी भी लहरो की तरफ से बेपरवाह है, यह न समझो कि मै इस समुद्र में किनारा ढूंढ रहा हूँ ।)

उद्दाम पौरुष को वाणी दी —

अज दस्ते जुनूने मन जिब्रील जबूँ सैदे,
यजदाँ बकमन्द आवर, ऐ हिम्मते मर्दाना ।

(मेरे उन्मत्त हाथो के लिए जिब्रील एक घटिया शिकार है । ऐ हिम्मते मर्दाना, क्यो न अपनी कमन्द मे तू खुदा को ही फाँस लाये ?)

और अपने स्वाभिमान की ललकार सुनायी —

मर्दुम आजादम ओ गूना गयूरम कि मरा,
मी तवाँ कुश्त बयक जामे जुलाले दीगराँ ।

(मै आजाद आदमी हूँ और इतना हयादार, इतना गैरतमद हूँ कि मुझे दूसरो के निथारे हुए पानी के एक प्याले से मारा जा सकता है — यानी कि मै पानी भी वही पी सकता हूँ जिसे मैंने खुद निथारा हो ।)

जीवन की कठोर पाठशाला में रहकर सारी उम्र में जो कुछ सीखा, जो कुछ पाया, वह सब मुशीजी ने निचोडकर अपने इस व्याख्यान में डाल दिया — यकीन जानिए, वह बडी तेज दो-आतिशा शराब थी जिसका मजा उन्ही को मालूम है जो उस जलसे मे मौजूद थे ।

यहाँ कही कोई छिपाव-दुराव नही, लाग-लपेट नही, बस निर्भीक घोषणा अपने जीवन के सत्य की —

‘ मुझे यह कहने में हिचक नही कि मै और चीज़ो की तरह कला को भी उपयोगिता की तुला पर तोलता हूँ । हमें सुन्दरता की कसौटो बदलनी होगी ... कला नाम था और अब भी है सकुचित रूप-पूजा का .... उसकी दृष्टि अभी इतनी व्यापक नही, कि जीवन-सग्राम मे सौन्दर्य का परमोत्कर्ष देखे .... उसके लिए सौन्दर्य सुन्दर स्त्री में है — उस बच्चोवाली, गरीब, रूपहीन स्त्री में नही जो बच्चे को खेत की मेड पर सुलाये पसीना बहा रही है । पर यह सकीर्ण दृष्टि का दोष है । अगर उसको सौन्दर्य देखनेवाली दृष्टि मे विस्तृति आ जाय तो वह देखेगा कि रँगे होठो और कपालो को आड में अगर रूप-गर्व और निष्ठुरता छिपो है तो इन मुरझाये हुए होठो और कुम्हलाये हुए गालो के आँसुओ में त्याग, श्रद्धा और कष्ट-सहिष्णुता है । ’

सत्य की, सुन्दर की यह एक नयी, सामजस्यपूर्ण, जीवन-सवलित दृष्टि है जिसकी ऐसी स्पष्ट व्याख्या शायद पहली बार इस देश की धरती पर हो रही थी।

और फिर अत में, वह चीज जो शायद कभी मन में करकती थी, लेकिन अब जरा नही करकती, जीवन की उदात्त दृष्टि में उसे अपना शान्त समाहार मिल गया है —

'जिन्हे धन-वैभव प्यारा है, साहित्य-मदिर में उनके लिए स्थान नही है। यहाँ तो उन उपासको की जरूरत है जिन्होने सेवा को ही अपने जीवन की सार्थकता मान लिया हो, जिनके दिल में दर्द की तडप हो और मुहब्बत का जोश हो। अपनी इज्जत तो अपने हाथ है। अगर हम सच्चे दिल से समाज की सेवा करेंगे तो मान, प्रतिष्ठा और प्रसिद्धि, सभी हमारे पाँव चूमेंगी। फिर मान-प्रतिष्ठा की चिन्ता हमें क्यो सताये ? और उसके न मिलने से हम निराश क्यो हो ? सेवा में जो आध्यात्मिक आनन्द है, वही हमारा पुरस्कार है — हमें समाज पर अपना बडप्पन जताने, उस पर रोब जमाने की हवस क्यों हो ? दूसरो से ज्यादा आराम के साथ रहने की इच्छा भी हमें क्यो सतावे ? हम अमीरो की श्रेणी मे अपनी गिनती क्यो कराये ? हम तो समाज का झण्डा लेकर चलनेवाले सिपाही है '

रिफाहे आम हॉल में तिल रखने को जगह न थी और सन्नाटा छाया हुआ था। यह एक नयी जमीन थी और एक नयी जबान।

पहली अप्रैल को मुशीजी ने दयानरायन निगम को लिखा था —

"मैंने तो इधर तीन माह से एक अफसाना भी नही लिखा। बस 'जामिया' में 'कफन' लिखा था। इसके बाद लिखने की नौबत ही न आयी। हाँ, यार, इन सदारतो के मारे परेशान हूँ। मैने मिस्टर सज्जाद जहीर से बहुतेरा कहा, भई, मुआफ करो, मुझे अपना काम करने दो। मगर न माने। १० को लखनऊ, और लाहौर में आर्यसमाज की जुबली के साथ एक आर्यभाषा सम्मेलन हो रहा है, वहाँ ११ को मुझे सम्मेलन का सदर बनना है और वहाँ जाऊँगा तो चार-पाँच दिन लग ही जायँगे। मैंने अपनी मजबूरी लिख दी है। अगर मान गये तो ठीक वर्ना वहाँ भी जाना ही पडेगा। अगर मुझे बोलने का शऊर होता तो ऐसे न्योते बडी खुशी से मजूर कर लिया करता, मगर यहाँ तो वह गुन ही नही। इसलिए जान बचाता फिरता हूँ। मुफ्त की परेशानी होती है और जिस काम से रोजी मिलती है उसमें खलल पडता है। इरादा तो यही था कि लखनऊ से एक-दो रोज के लिए कानपुर जाऊँगा मगर अब तो लखनऊ से १० की शब को लाहौर भागना पडेगा।"

निगम साहब बहरसूरत लखनऊ पहुँच गये थे, दोनो दोस्त मिल लिये, निगम साहब ने मुशीजी का वह सदारती खुतबा, जिसने सब पर एक जादू सा फेर दिया था, उसी वक्त 'जमाना' के लिए ले लिया और मुशीजी १० की रात को लाहौर चले गये।

लाहौर में मुशीजी का स्वागत बडे जोर-शोर से हुआ । 'अमृतधारा' वालो के यहाँ उनको ठहराया गया । बीसियो लोग मिलने आये, दर्जनो मीटिंगें हुईं और पहली बार मुशीजी को इसका एहसास हुआ कि पजाब में, औरतो और मर्दो सबके बीच, उनके पढनेवाले और उनके चाहनेवाले कितने है ।

मुशीजी ने अपने भाषण में सबसे पहले आर्यसमाज का बखान करते हुए कहा—

' ..मै तो आर्यसमाज को जितनी धार्मिक सस्था समझता हूँ उतनी तहज़ीबी (सास्कृतिक) सस्था भी समझता हूँ । बल्कि आप क्षमा करे तो मैं कहूँगा कि उसके तहजीबी कारनामे उसके धार्मिक कारनामो से ज्यादा प्रसिद्ध और रौशन है । . हरिजनो के उद्धार में सबसे पहले आर्यसमाज ने कदम उठाया । लडकियो की शिक्षा की जरूरत को सबसे पहले उसने समझा । वर्ण-व्यवस्था को जन्मगत न मानकर कर्मगत सिद्ध करने का सेहरा उसके सर है । जातिभेद-भाव और खान-पान में छूत-छात और चौके-चूल्हे की बाधाओ को मिटाने का गौरव उसी को प्राप्त है । यह ठीक हे कि ब्रह्म समाज ने इस दिशा में पहले कदम रखा, पर वह थोडे से अग्रेज़ी पढे-लिखो तक ही रह गया । इन विचारो को जनता तक पहुँचाने का बीडा आर्यसमाज ही ने उठाया । अधविश्वास और धर्म के नाम पर किये जाने वाले हजारो अनाचारो की कब्र उसने खोदी, हालाँकि मुर्दे को उसमें दफ़न न कर सका और अभी तक उसका जहरीला दुर्गन्ध उड-उडकर समाज को दूषित कर रहा है ..'

जिसके खिलाफ आर्यसमाज की अब एक नही चलती क्योकि उसने चलते-चलते कुछ नयी रूढियो से अपने को जकड लिया है । लेकिन वह बात इस समय यहाँ कहने की नही है, क्या फायदा । हर बात हर वक्त कहने की नही होती ।

'...उसके उपदेशको ने वेदो और वेदागो के गहन विषयो को जनसाधारण की सम्पत्ति बना दिया, जिन पर विद्वानो और आचार्यों के कई-कई लीवरवाले ताले लगे हुए थे ।...गुरुकुलाश्रम को नया जन्म देकर आर्यसमाज ने शिक्षा को सपूर्ण बनाने का महान उद्योग किया है । सपूर्ण से मेरा आशय उस शिक्षा का है जो सर्वांग पूर्ण हो, जिसमें मन, बुद्धि, चरित्र और देह सभी के विकास का अवसर मिले । ... वह शिक्षा जो सिर्फ अक्ल तक ही रह जाय, अधूरी है । जिन सस्थाओ में युवको में समाज से पृथक रहनेवाली मनोवृत्ति पैदा हो, जो अमीर और गरीब के भेद को न सिर्फ कायम रखे, बल्कि और मजबूत करे, जहाँ पुरुषार्थ इतना कोमल बना दिया जाय कि उसमें मुशकिलो का सामना करने की शक्ति न रह जाय, जहाँ कला और सयम में कोई मेल न हो .... उस शिक्षा का मैं कायल नही हूँ ।'

फिर अपने असल विषय 'हिन्दी-उर्द की एकता' पर आते हुए मुशीजी ने कहा —

● मै यहाँ हिन्दी भाषा की उत्पत्ति और विकास की कथा नही कहना चाहता, वह सारी कथा भाषा-विज्ञान की पोथियो में लिखी हुई है। हमारे लिए इतना ही जानना काफी है कि आज हिन्दुस्तान के पन्द्रह-सोलह करोड लोगो के सभ्य व्यवहार और साहित्य की यही भाषा है। हाँ, वह लिखी जाती है दो लिपियो में और उसी एतबार से हम उसे हिन्दी या उर्दू कहते है। पर है वह एक ही। बोल-चाल में तो उसमें बहुत कम फर्क है। हाँ, लिखने में वह फर्क बढ जाता है।

... भाषा के विकास में हमारी सस्कृति की छाप होती है और जहाँ सस्कृति में भेद होगा वहाँ भाषा मे भेद होना स्वाभाविक है। जिस भाषा का हम और आप व्यवहार कर रहे है वह दिल्ली प्रान्त की भाषा है। मुसलमानो ही ने दिल्ली प्रान्त की इस बोलो को, जिसको उस वक्त तक भाषा का पद न मिला था, व्यवहार में लाकर उसे दरबार की भाषा बना दिया और दिल्ली के उमरा और सामत जिन प्रान्तो में गये, हिन्दी भाषा को साथ लेते गये। उन्ही के साथ वह दक्खिन में पहुँची और उसका बचपन दक्खिन ही में गुजरा ... आपको शायद मालूम होगा कि हिन्दी की सबसे पहली रचना खुसरो ने की है जो मुगलो से भी पहले खिलजी राज्यकाल मे हुए —

जब यार देखा नैन भर, दिल की गयी चिन्ता उतर।
ऐसा नही कोई अजब, राखे उसे समझाय कर।
जब आँख से ओझल भया, तडपन लगा मेरा जिया
हक्का इलाही क्या किया आँसू चले भर लाय कर।
तूँ तो हमारा यार है, तुम पर हमारा प्यार है,
तुझ दोस्ती बिसियार है, यक शब मिलो तुम आय कर। ●

कौन कहेगा कि यह हिन्दी नही है मगर दुर्भाग्य से यह चीज़ चली नही और घटनाओ का कुछ ऐसा चक्र चला कि एक ही माँ के पेट से पैदा होनेवाली ये दोनो बहनें सौतें बन गयी। 'और यह सारी करामात फोर्ट विलियम की है जिसने एक ही ज़बान के दो रूप मान लिये। इसमें भी उस वक्त कोई राजनीति काम कर रही थी या उस वक्त भी दोनो ज़बानो में काफी फर्क आ गया था, यह हम नही कह सकते। लेकिन जिन हाथों ने यहाँ की जबान के उस वक्त दो टुकडे कर दिये, उसने हमारी कौमी जिन्दगी के दो टुकडे कर दिये।'

यह अलगाव का रास्ता, एक तरफ सस्कृत और दूसरी तरफ फारसी-अरबी की ठूँस-ठाँस का रास्ता गलत है, दोनो ही जबानो के लिए घातक है —

'दोनों तरफ से इस अलगौझे का सबब शायद यही है कि हमारा पढा-लिखा समाज जनता से अलग-थलग होता जा रहा है और उसे इसकी खबर ही नही कि जनता किस तरह अपने भावो और विचारो को अदा करती है। ऐसी ज़बान जिसके

लिखने ओर समझनेवाले थोडे से पढे-लिखे लोग ही हो, मसनुई, बेजान और बोझल हो जाती है। जनता का मर्म स्पर्श करने की, उन तक अपना पैगाम पहुँचाने की उसमें कोई शक्ति नही रहती। वह उम तालाब की तरह है जिसके घाट सगमर्मर के बने हो, जिसमें कमल खिले हो लेकिन उसका पानी बद हो। क्या उस पानी में वह मजा, वह सेहत देनेवाली ताकत, वह सफाई है जो खुली हुई धारा में होती है ? कौम की जबान वह है जिसे कौम समझे, जिसमें कौम की आत्मा हो, जिसमें कौम के जजबात हो। अगर पढे-लिखे समाज की जबान ही कौम की जबान है तो क्यो न हम अग्रेजी को कौम की जबान समझे, क्योकि मेरा तजरबा है कि आज पढा-लिखा समाज जिस बेतकल्लुफी से अग्रेजी बोल सकता है, और जिस रवानी के साथ अँग्रेजी लिख सकता है, उर्दू या हिन्दी बोल या लिख नही सकता। बडे-बडे दफ्तरो में और ऊँचे दायरे में आज भी किसी को उर्द-हिन्दी बोलने की महीनो, बरसो जरूरत नही होती। खानसामे और बैरे भी ऐसे रखे जाते है जो अग्रेजी बोलते और समझते है। जो लोग इस तरह की जिन्दगी बसर करने के शौकीन है उनके लिए तो उर्दू-हिन्दी-हिन्दुस्तानी का कोई झगडा ही नही। वह इतनी बुलदी पर पहुँच गये है कि नीचे की धूल और गर्मी उन पर कोई असर नही कर सकती। वह मुअल्लक हवा में लटके रह सकते है। लेकिन हम सब तो हजार कोशिश करने पर भी वहाँ तक नही पहुँच सकते। हमें तो इसी धूल और गर्मी में जीना और मरना है।'

हवा में लटके हुए उन अग्रेजी के शैदाइयो को मुखातिब करके मुशीजी ने इकबाल का शेर पढा —

ता कुजा दर तहे बाले दिगराँ मी बाशी,
दर हवाये चमन आजाद परीदन आमोज।
दर जहाँ बालो-परे खेश कुशूदन आमोज,
कि परीदन न तवाँ बा परो-बाले दिगराँ।

(दूसरो के डैनों का आश्रय तुम कब तक लोगे ? चमन की हवा में आजाद होकर उडना सीखो। दुनिया मे अपने डैने-पखे को फैलाना सीखो, क्योकि दूसरे के डैने-पखे के सहारे उडना सम्भव नही है।)

और अपने जैसे साधारण लोगो से कहा —

'... दिलो की दूरी भाषा की दूरी का मुख्य कारण है। आपस में हेलमेल से उस दूरी को दूर करना होगा। ... हम दोनो ही के लिए दोनो लिपियो का और दोनो भाषाओ का ज्ञान लाजिमी है। और जब हम जिन्दगी के पन्द्रह साल अग्रेजी हासिल करने में कुर्बान करते है तो क्या महीने दो महीने भी उस लिपि और साहित्य का ज्ञान प्राप्त करने में नही लगा सकते जिस पर हमारी कौमी

तरक्की ही नही, कौमी जिन्दगी का दारोमदार है ?'

यह एक जिन्दगी का सपना है, जिसे मुशीजी ने खुद अपने अमल के भीतर से पाया है, और जो अपनी आँखो के आगे बिखरा जा रहा है। कैसे बचायें उसको ?

और मुशीजी, जो यात्रा के नाम से कान पर हाथ रखते आये है, अपने इस एकता के स्वप्न की रक्षा में अब तक बम्बई, मद्रास, दिल्ली, लाहौर, मैसूर, बेंगलूर, इलाहाबाद, पूर्णिया, दूर-पास कहाँ-कहाँ की खाक नही छान चुके है .

इस बार मुशीजी दस-बारह रोज़ लाहौर रहे और दर्जनो मीटिंगो में बोले, कही प्रगतिशील साहित्य के आन्दोलन के बारे में, जिसकी सदारत करके वह सीधे चले आ रहे थे, और कही हिन्दुस्तानी सभा के बारे में जिसके वह बानी थे, सस्थापक थे।

एक मीटिंग में, जिसके सभापति बख्शी टेकचद थे और जिसमें इम्तयाज अली 'ताज' और मियाँ बशीर अहमद जैसे लोग भी मौजूद थे, प्रेमचद ने हिन्दुस्तानी आन्दोलन के बारे में विस्तार से बतलाया। उनकी बातो का इतना असर पडा या यो कहिए कुछ ऐसी फिजा बन गयी कि सच्चे मन से लोग दोनो ज़बानो की एकता की तरफ एक कदम बढे, जिसका एक छोटा सा मगर मार्मिक लक्षण यह था कि उसी मीटिंग में उर्दू लेखको ने अपने भाषण में हिन्दी शब्दो का और हिन्दी लेखको ने उर्दू शब्दो का प्रयोग किया और चाहे यहाँ-वहाँ प्रयोग में कुछ गलती भी हुई हो (जैसे कि ताज साहब ने खुद अपने आने के लिए 'पधारा' कहा और चन्द्रगुप्त विद्यालकार ने कहा, इसके पहले कि आप बर्खास्त हों .) लेकिन उसके पीछे जो भावना काम कर रही थी उसमें कोई गलती न थी, वह आदर करने की चीज़ थी।

हिन्दुस्तानी सभा बन गयी, उसकी कार्यकारिणी भी चुन ली गयी — मगर कै दिन को ?

अगले हफ्ते, नागपुर में काग्रेस अधिवेशन हो रहा था और उसी मौके पर हिन्दी साहित्य सम्मेलन और भारतीय साहित्य परिषद् के अधिवेशन भी रखे गये थे।

२४ अप्रैल सन् ३६ को सबेरे नौ बजे नागपुर युनिवर्सिटी के कन्वोकेशन हाल में भारतीय साहित्य परिषद् का पहला (और अतिम) अधिवेशन गाधीजी की अध्यक्षता में शुरू हुआ। प० जवाहर लाल नेहरू, सम्मेलन के सभापति बाबू राजेन्द्र प्रसाद, सरदार वल्लभ भाई पटेल, सेठ जमनालाल बजाज, चक्रवर्ती राजगोपालाचारी, पुरुषोत्तमदास जी टण्डन, कन्हैयालाल माणिकलाल मुशी, कस्तूरबा गाधी, श्रीमती कमलाबाई किबे, मुशी प्रेमचद (जो लाहौर से शायद

सीधे भागे हुए आये थे), मौलाना अब्दुल हक, काका कालेकर, जैनेन्द्रकुमार, माखनलाल चतुर्वेदी, जयचन्द्र विद्यालकार, शकरराव देव — साहित्य और राजनीति की दुनिया के एक से एक बडे दिग्गज बैठे थे ।

गाधीजी ने अपने खास हलके-फुलके, घरेलू अदाज में कहना शुरू किया —

"अगर मैने जो लिखा है उसे व्याख्यान कहा जाय, तो वह आपको छपा हुआ बाँटा जा चुका है, उसे आप पढ ही लेंगे । काका साहब ने कहा है कि हमारा मकसद देहातियो में देशसेवा का प्रचार करना है, और भिन्न-भिन्न प्रान्तो में जो साहित्य पैदा हो रहा है, उसका प्रचार अन्य प्रान्तो में करना है । इसका अर्थ यह है कि घरेलू परिभाषा हमें प्रचलित करना है, इसलिए अपने घरेलू सभापति को, मुझे, यहाँ बैठा दिया है । मुझे मालूम नही है कि मुझे किसने सभापति चुन लिया । . मेरा साहित्यिको में क्या स्थान हो सकता है ? मुझे हिन्दी साहित्य का तो क्या गुजराती साहित्य का भी अच्छा ज्ञान नही है । कुछ लोगो ने कहा है और मैं भी मानता हूँ कि मुझे गुजराती व्याकरण तक का पूरा ज्ञान नही है, तब मै यहाँ क्यो आया ? मुझे काका साहब और मुशीजी (कन्हैयालाल मुशी) यहाँ लाये है । मुशीजी ने मुझे बताया कि आप ही से यह काम हो सकेगा क्योकि साहित्यिक तो बडे-बडे सिह-से है । वे अपने पिंजडे में सुरक्षित है । अगर वे इकट्ठे हो जायँ तो लड भी पडें । इसलिए उनमें से किसी को नियुक्त करने से कोई लाभ नही है, आपही उनको एकत्रित कर सकते है । मैं तो 'महात्मा' ही रहा । उन्होने मान लिया कि 'महात्मा' से सब कुछ हो सकता है ..."

लोगो का ऐसा मानना कुछ गलत नही था, लेकिन नियति या परिस्थिति का कुछ ऐसा व्यग्य रहा कि उन्ही के श्रीमुख से एक ऐसी बात सामने आयी जिसने लडाई का सूत्रपात किया — और जिससे कुछ ही महीने मे, भारतीय साहित्य परिषद् हमेशा के लिए ठण्डा हो गया ।

हुआ यह कि उसी रोज उसी हाल में जब विषय-निर्वाचनी की बैठक हुई तो उसमें (पण्डित जवाहरलाल भी मौजूद थे) सबसे पहले बडी देर तक इसी बात पर चर्चा होती रही कि परिषद् की कारंवाई का माध्यम कौन-सी भाषा हो । गाधीजी ने कहा कि वह भाषा 'हिन्दी या हिन्दुस्तानी' इस नाम से ही पहचानी जाय । केवल 'हिन्दी' कहने से सस्कृत शब्दो से भरी हुई हिन्दी का ही बोध होता है और हिन्दुस्तानी से अरबी-फारसी शब्दोवाली उर्दू का बोध होता है । इसलिए 'हिन्दी या हिन्दुस्तानी' इस पद का प्रयोग परिषद के माध्यम के लिए किया जाय ।

गाधीजी तो अपनी बात कहकर उठ गये, लेकिन झगडा चलता ही रहा और वह झगडा विषय-निर्वाचनी तक ही सीमित न रहा, अगले रोज़ खुले अधिवेशन में भी पहुँचा । झगडा क्या था ?

प्रेमचद के शब्दो में —

● 'हिन्दी ' शब्द से उर्दू को उतनी ही चिढ है जितनी ' उर्दू ' से हिन्दी को है। और यह भेद केवल नाम का नही है । हिन्दी जिस रूप में लिखी जा रही है, उसमे सस्कृत के शब्द बेतकल्लुफ आते है। उर्दू जिस रूप में लिखी जाती हे उसमे फारसी और अरबी के शब्द बेतकल्लुफ आते है । इन दोनो का बिचला रूप हिन्दुस्तानी है, जिसका दावा है कि वह साधारण बोलचाल की जबान है, जिसमें किसी भाषा के शब्दो का त्याग नही किया जाता, अगर वह बोलचाल में आते है । हिन्दी को ' हिन्दुस्तानी ' चाहे उतना प्रिय न हो पर उर्दू को ' हिन्दुस्तानी ' के स्वीकार करने में कोई बाधा नही है क्योकि उसे वह अपनी परिचित-सी लगती है । मगर परिषद् ने ' हिन्दुस्तानी ' को अपना माध्यम बनाना न स्वीकार करके ' हिन्दी-हिन्दुस्तानी ' को स्वीकार किया । उर्दूवालो को ' हिन्दी-हिन्दुस्तानी ' का मतलब समझ में न आया, शायद वह समझे कि ' हिन्दो-हिन्दुस्तानो ' केवल हिन्दी का ही दूसरा नाम है । ●

लिहाजा अगले रोज़ जब यह प्रस्ताव खुले अधिवेशन में आया तो मौलवी अब्दुल हक ने और उर्दू एकेडमी के मुहम्मद आकिल साहब ने, जो ऐग्रिकल्चर कालेज के बोर्डिंग हाउस में मुशीजी के बगल के कमरे में ठहरे हुए थे, उसका विरोध करते हुए कहा कि ● ' हिन्दुस्तानी ' का लफ्ज़ एक दरमियानी लफ्ज है जो न हिन्दी वालो को नागवार होना चाहिए न उर्दूवालो को । लेकिन यह बात तसलीम नही की गयी । उस मौके पर मामला कुछ ऐसा आ पडा था कि महात्मा-जी की बात की मुख़ालिफत करने की किसी की हिम्मत न होती थी । लेकिन प्रेमचद जी खडे हुए और उन्होने ' हिन्दुस्तानी ' के द्वारा भारतीय साहित्य परिषद् की कार्रवाई की जाने पर एक निहायत ज़ोरदार तकरीर की । उर्दू के हलके में यह बात मशहूर है कि इसकी वजह से प्रेमचद जी हिन्दी लिखनेवालो मे बहुत बदनाम भी हो गये । पता नही यह कहाँ तक सही है । लेकिन यह काम उन्होने बहुत दिलेरी और हिम्मत का किया था, जिससे उर्दूवाले उनसे बहुत खुश थे । ●

मौलवी अब्दुल हक ने भी, जैसा कि उनके हैदराबाद के दोस्त गुलाम रब्बानी साहब ने बतलाया, नागपुरवाले इस प्रसग के बारे में कही पर लिखा था कि मुशी प्रेमचन्द आखिर तक हमारे साथ रहे, जब कि काग्रेस के बहुत से बडे-बडे लोग गाधी जी की बात के बाद खामोश हो गये ।

ताहम एक गाँठ जो मौलवी अब्दुल हक के दिल में पड गयी थी वह ढीली नही पडी, और उन्होने अपने रिसाले ' उर्दू ' में लिखा —

● एक दिन वह था कि महात्मा गाधी ने हिन्दुस्तानी यानी उर्दू जबान और फ़ारसी हुरूफ में अपने दस्तेख़ास से हकीम अजमल खाँ को ख़त लिखा था और

आज यह वक्त आ गया है कि उर्दू तो उर्दू, वह तनहा 'हिन्दुस्तानी' का लफ्ज भी लिखना और सुनना पसद नही करते। उन्होने अपनी गुफ्तगू में एक बार नही, कई बार फरमाया कि अगर रेजोल्यूशन में तनहा 'हिन्दुस्तानी' का लफ्ज रखा गया तो उसका मतलब उर्दू समझा जायगा, लेकिन उनको नेशनल काग्रेस के रेजोल्यूशन में तनहा 'हिन्दुस्तानी' का लफ्ज रखते हुए यह खयाल न आया। आखिर इसकी क्या वजह है? कौन से ऐसे असबाब पैदा हो गये है जो इस हैरत-अगेज इकलाब के बाइस हुए? गौर करने के बाद मालूम हुआ कि इस तमाम तगैयुर व तबद्दुल, जोड-तोड, दाव-पेंच का बाइस हमारे मुल्क का बदनसीब पालिटिक्स है। जब तक महात्मा गाधी और उनके रफका (सहकारियो) को यह तवक्को (आशा) थी कि मुसलमानो से कोई सियासी समझौता हो जायगा, उस वक्त तक वह 'हिन्दुस्तानी हिन्दुस्तानी' पुकारते रहे, जो थपककर सुलाने के लिए अच्छी खासी लोरी थी। लेकिन जब उन्हे इसकी तवक्को न रही या उन्होने ऐसे समझौते की जरूरत न समझी तो रिया (फरेब) की चादर उतार फेकी और असली रग में नजर आने लगे। वह शौक से हिन्दी का प्रचार करे। वह हिन्दी नही छोड सकते तो हम भी उर्दू नही छोड सकते। उनको अगर अपने वसीअ जराये और वसायल (विशाल साधनो) पर घमण्ड है तो हम भी कुछ ऐसे हेठे नही है।●

खुदा ने बाबाए उर्दू मौलवी अब्दुल हक साहब को लबी उम्र दी और उन्होंने भी यकीनन महात्मा गाधी को एक फिरका-परस्त हिन्दू के हाथो शहीद होते देखा होगा — उन्ही चीजो की हिमायत में जिन्हे मौलवी साहब ने गाधीजी का फरेब समझा था! मगर उसको तो अभी बारह बरस की देर है और अभी तो मौलवी साहब ने एकता के उस सपने में पलीता लगा ही दिया। कैसी-कैसी मुश्किलो से यह दिन आया था और खुद मुशीजी का उसमें किस कदर हाथ था — और अब उम्मीदों के उस हसीन रगमहल को बारूद से उडाने की तदबीरे हो रही थी! कैसे छिपा ले दामन में अपने उस बच्चे को!

मुशीजी मौलवी साहब को जवाब देने बैठे, लेकिन स्वर में क्रोध नही है, केवल ममता की पीडा, केवल याचना, भीख, छोड दो, मत मारो इस नन्हे से बच्चे को —

● हमें मौलाना अब्दुल हक जैसे वयोवृद्ध, विचारशील और नीतिचतुर बुजुर्ग के कलम से ये शब्द देखकर दुःख हुआ। जिस सभा में वह बैठे हुए थे, उसमें हिन्दीवालो की कसरत थी। उर्दू के प्रतिनिधि तीन से ज्यादा न थे। फिर भी जब 'हिन्दी-हिन्दुस्तानी' और अकेले 'हिन्दुस्तानी' पर वोट लिये गये तो 'हिन्दुस्तानी' के पक्ष मे आधी से कुछ ही कम रायें आयी। अगर मेरी याद गलती नही कर रही है तो शायद पन्द्रह और पच्चीस का बटवारा था। एक हिन्दी-प्रधान जलसे में जहाँ उर्दू के प्रतिनिधि कुल तीन हो, पन्द्रह रायो का 'हिन्दुस्तानी' के पक्ष

में मिल जाना हार होने पर भी जीत ही है। बहुत सभव है कि दूसरे जलसे में 'हिन्दुस्तानी' का पक्ष और मजबूत हो जाता। और जो 'हिन्दुस्तानी' अभी व्यवहार में नही आयी, उसके और ज्यादा हिमायती नही निकले तो कोई ताज्जुब नही। जो लोग 'हिन्दुस्तानी' का वकालतनामा लिये हुए है, और उनमें एक इन पक्तियो का लेखक भी है, वह भी अभी तक 'हिन्दुस्तानी' का कोई रूप नही खडा कर सके। ●

और अत मे वही कातर स्वर—

'हम मौलाना साहब से प्रार्थना करेगे कि .. नीयतो पर शुबहा न करें। मुमकिन है आज जो बात मुश्किल नजर आ रही है, वह साल दो साल में आसान हो जाय।'

जून आते-आते 'गोदान' की छपाई पूरी हो गयी थी। १० तारीख को मुशीजी ने उमँगकर जैनेन्द्र को लिखा—'गोदान निकल गया। कल तुम्हारे पास चला जायगा।' और फिर २२ तारीख को—

'आज गोदान भेज रहा हूँ। पढना और अच्छा लगे तो कही अर्जुन या विशाल भारत या हस में आलोचना करना। अच्छा न लगे तो मुझे लिख देना, आलोचना मत लिखना।'

कैसा औघड आदमी है! कहनी-अनकहनी सब कह जाता है!

अपने मसीहाई जोश में मुशीजी ने कुछ खयाल नही किया लेकिन जरा सोचो तो कैसी धुआँधार यात्राएँ रही है पिछली!

शरीर (और मन भी) बहुत थका-थका सा, टूटा-टूटा सा लग रहा है। तबीयत मुर्झायी हुई सी रहती है और पेट की हालत ठीक नही है। इस तरह नही चलेगा।

अब तो गोदान भी हो गया। अब जरा डटकर आराम करो . ..

३७

१६ जून १६३६

कितनी सख्त धूप है ! खोपडी चिटकी जाती है । हवा में लपटो के तमाचे-से लगते है । लगता है खाल झुलस जायेगी ।

तीन बजे हैं । मुशीजी प्रेस के लिए कागज़ का इन्तजाम करने शहर गये हुए हैं ।

लौटते-लौटते छ बज गये ।

पत्नी ने पूछा — कहाँ गये थे ?

मुशीजी ने कहा — शहर चला गया था । कल छपाई के लिए कागज़ नही था ।

पत्नी ने कहा — मुझसे तो कह जाते, भले आदमी ! इसी लू और घाम में बिना कहे चल दिये !

मुशीजी बोले — मैं आया था । तुम सो रही थी । जगाना ठीक न समझा ...

पत्नी ने कहा — इस वक्त जाते । उस लू और घाम से तो शाम ही अच्छी थी ।

मुशीजी ने कहा — यह सब अमीरो के नखरे है । क्या कोई काम बन्द रहता है ?

चिराग जलने का वक्त हो गया था । पत्नी के डिब्बे से पान निकालकर खाते हुए मुशीजी अपनी बैठक में चले गये और नौ बजे रात तक काम करते रहे ।

खाना खाने बैठे तो मुशकिल से एक रोटी खायी होगी । बोले — मुझे बिलकुल भूख नही है ।

पत्नी ने कहा — आम का पना है, उसे खा लीजिए . ..

मुशीजी बोले — नही जी, अब कुछ खाने की तबीयत नही होती ।

पत्नी ने आग्रह करते हुए कहा — गर्मी बहुत पड रही है, फायदा करता . .. खैर, मत खाइए ।

थोडी देर बाद शिवरानी देवी उनके कमरे में पानी देने पहुँची तो देखा कि वह मसनद के सहारे बैठे कुछ लिख रहे है ।

पत्नी को देखकर बोले — न मालूम क्यो, पेट में दर्द हो रहा है।

पत्नी ने पूछा — कब से ?

बोले — जब से खाना खाकर आया हूँ, तभी से।

पत्नी ने थोडा हैरान होते हुए कहा — क्या बात है ? आपने आज कुछ खाना भी नही खाया, फिर क्यो दर्द होने लगा ?

पत्नी अभी उसी जगह खडी थी कि मुशीजी को कै आने लगी। पत्नी दौडी। उनको पीठ और गर्दन पर हाथ फेरने लगी . . फिर उनको पान और इलायची दी। पान मुँह में डालने को थे कि फिर तिबारा जब कै होने लगी तो पत्नी घबरा गयी। बोली — कैसी तबीयत है ?

मुशीजी बोले — पेट में दर्द है। हाँ, कै अब नही मालूम होती।

उसी दिन उन्हे खून के दस्त आने लगे। उस दिन से उन्होने न भरपेट खाया, न भर नीद सोये .

१८ जून

गोर्की की मृत्यु। दो रोज बाद यहाँ खबर पहुँची है।

'आज' कार्यालय में अगले दिन शोक-सभा है। मुशीजी को नीद नही आ रही है। सोयी रात उठकर वह अपना भाषण लिख रहे हैं।

दूसरे दिन मीटिंग में जाने को तैयार हुए तो पत्नी ने कहा — आप चल तो सकते नही, नाहक जा रहे है।

मुशीजी ने कहा — पैदल तो जा नही रहा हूँ। ताँगे पर जाना है।

पत्नी ने कहा — जीने पर तो चढना-उतरना है ?

मुशीजी किसी तरह रुकने के लिए तैयार नहीं है। बोले — यह तो लगा ही रहता है

मीटिंग से घर लौटे और ऊपर चढने लगे तो बहुत बचाने पर भी उनके पैर लडखडा गये। किसी तरह ऊपर पहुँचे और लेट गये। थोडा सुस्ता लिये तो बोले — भाषण पढना तो दूर रहा, मैं वहाँ खडा भी न हो सका। एक और महाशय से पढवाया

२५ जून, ढाई बजे रात

मुशीजी ने कहा — बेटा धुन्नू, जरा पखा खोल दो। बडी गर्मी हो रही है।

छोटा लडका भागा हुआ अपनी माँ के कमरे में गया और बोला — अम्माँ, बाबूजी को कै हुई है ....

अम्मा चौक पडी, झपटकर वहाँ पहुँची और खून की कै देखी तो सिहर उठी। 'मानो किसी ने मेरी देह में बिजली छुलाकर घाव कर दिया हो!'

मुशीजी धीमे से बुदबुदाये — रानी, अब मै चला ..

रानी ने अपने स्वाभाविक शासन-स्वर में कहा — चुप रहो! तुम मुझे छोडकर नही जा सकते!

मुशीजी ने गिरे हुए खून की तरफ इशारा किया और कहा — जिसके मुँह से इतना खून गिरे, क्या तुम उससे भी जीने की आशा करती हो!

रानी ने कहा — क्यो न करूँ? मैंने किसी का कुछ नही बिगाडा है!

मुशीजी ने मुँह फेर लिया।

उस दिन के बाद नीद एक बिरानी चीज़ हो गयी। रात की रात जागते पडे रहते, बीमार की रात, न सोने की न जागने की .

और उस बीहड बियाबान सन्नाटे में जिसका कही ओर-छोर न था और साथी सब पीछे छूट गये थे और सामने एक लबा, तनहा सफर था जहाँ न तुम किसी को आवाज देते थे न कोई तुमको आवाज़ देता था, बस तुम थे और वह सन्नाटा था जो तुम्हारे कानो में बज रहा था और तुम्हारी आँखो के आगे रात के अँधेरे पर्दे पर एक के बाद एक तसवीरे आ रही थी ओर जा रही थी और तुम अपने सीने में मुँह गडाये अपने किसी अन्तरग सखा से बातें कर रहे थे, खुद अपनी नेक और मुफलिस जिन्दगी की और उस चमकती-दमकती दुनिया की जिसे तुमने झूठ और दगा पर पनपते देखा, वह खबीस सूरते जिन्होने इस दुनिया को जहन्नुम बना रखा है, एक दुनिया जो मर रही है और एक दुनिया जो पैदा होने के लिए मौत की ताकतो से लड रही है।

सब कुछ झर गया, चुक गया, अब तो बस वह अतिम सग्राम बचा है, महाभारत वह, जिसे तुम अपनी कोठरी में पडे हुए रात के उस घुप अँधेरे और सन्नाटे में देखते रहते हो।

जिगर पत्थर की तरह सख्त होता जा रहा है, पेट में पानी भर रहा है, बडा दर्द होता है रह-रहकर और बेइतहा बेचैनी जब पेट फूलने लगता है। लेटे नही रहा जाता तो उठ बैठते हो और बैठना दूभर हो जाता है तो फिर लेट जाते हो, पेट पकड लेते हो, ज़ोर से दबाते हो, मगर चैन किसी करवट नही मिलता। तो भी वसीयत तो लिखनी ही है ताकि बातें जो कहनी है वह बिनकही न रह जायँ, जो निचोड है एक उम्र के तजरबे का, जिसमें पीडा भी है और उस पीडा का अभिमान भी।

और मुशीजी अपनी उस तकलीफ में भी बिस्तर छोडकर नीचे फर्श पर आ बैठते है और 'मगलसूत्र' उठा लेते हैं जिसके नायक देवकुमार वह खुद है, एक

नामी-गरामी, सच्चे, ईमानदार, स्वाभिमानी और गरीब लेखक —

' साहित्य सेवा के सिवा उन्हे और किसी काम में रुचि न हुई और यहाँ धन कहाँ ? हाँ, यश मिला, और उनके आत्मसतोष के लिए इतना काफी था। सचय में उनका विश्वास भी न था, सभव है परिस्थिति ने इस विश्वास को दृढ किया हो .... '

अभी छ महीना पहले जब बनारसीदास जी ने बहुत जोर देकर उन्हे कलकत्ता बुलाया था, नोगूची का भाषण सुनने के लिए, उस वक्त उन्होने अपनी मजबूरी बतलाते हुए और बातो के साथ-साथ यह भी लिखा था —

' दुनिया में बडे-बडे दिमागवाले ढेरो है। कौन असली बडा आदमी है और कौन नकली, इसकी परख करने के लिए बडी गहरी न्यायबुद्धि की जरूरत है। मैं कल्पना ही नही कर सकता कि कोई बडा आदमी बडा धनपति हो। जैसे ही मैं किसी आदमी को बहुत अमीर देखता हूँ, उसकी तमाम कला और ज्ञान की बातो का नशा मेरे ऊपर से उतर जाता है। मैं उसे कुछ इस तरह देखने लगता हूँ कि उसने इस वर्तमान-व्यवस्था के आगे घुटना टेक दिया है जो अमीरो द्वारा गरीबो के शोषण पर आधारित है। लिहाजा ऐसा कोई बडा नाम, जो लक्ष्मी से असपृक्त नही है, मुझे आकर्षित नही करता। यह बिलकुल मुमकिन है कि इस दिमागी ढाँचे के पीछे जीवन में मेरी अपनी असफलता हो। बैंक में अच्छी मोटी रकम रखकर मैं भी शायद औरो जैसा ही हो जाता — मैं भी उस लोभ के सामने टिक न पाता। मगर मैं खुश हूँ कि प्रकृति और भाग्य ने मेरी सहायता की है और मुझे गरीबो के साथ डाल दिया है। इससे मुझे आध्यात्मिक शान्ति मिलती है। '

' सम्मान के साथ अपना निबाह होता जाय, इससे ज्यादा वह और कुछ न चाहते थे। साहित्य-रसिको में जो एक अकड होती है, चाहे उसे शेखी ही क्यो न कह लो, वह उनमें भी थी। कितने ही रईस और राजे इच्छुक थे कि वह उनके दरबार में जायँ, अपनी रचनाएँ सुनाये, उनको भेंट करे, लेकिन देवकुमार ने आत्मसम्मान को कभी हाथ से न जाने दिया। किसी ने बुलाया भी तो धन्यवाद देकर टाल गये ... '

बडे नीतिवान, सदाचारी आदमी है। उनका लडका सतू अपने पिता की इन नीति और आदर्श की बातो से बेहद चिढता है और जायदाद को बचाने के लिए अदालत में उन्हें पागल साबित करने तक के लिए तैयार है, मगर देवकुमार अपनी जगह से नही हिलते।

' देवकुमार कभी कानून के जाल में न फँसे थे। प्रकाशकों और बुकसेलरो ने उन्हे बारहा धोखे दिये, मगर उन्होने कभी कानून की शरण न ली। उनके

जीवन की नीति थी — आप भला तो जग भला, और उन्होने हमेशा इसी नीति का पालन किया था। मगर वह दब्बू या डरपोक न थे। ख़ासकर सिद्धान्त के मामले में तो वह समझौता करना जानते ही न थे।'

मगर दुनिया का रग-ढग देखकर कभी-कभी उनका आसन डोल भी जाता है, बेतरह डोल जाता है —

'इन दिनो वह यही पहेली सोचते रहते थे कि ससार की कुव्यवस्था क्यो है? कर्म और सस्कार लेकर वह कही न पहुँच पाते थे। सर्वात्मवाद से भी उनकी गुत्थी न सुलझती थी। अगर सारा विश्व एकात्म है तो फिर यह भेद क्यो है? क्यो एक आदमी जिन्दगी भर बडी से बडी मेहनत करके भी भूखो मरता है, और दूसरा आदमी हाथ-पाँव न हिलाने पर भी फूलो की सेज पर सोता है। यह सर्वात्म है या घोर अनात्म?'

अन्दर कही एक आवाज़ है जो मुशीजी से बराबर कहती रहती है कि यह तुम्हारी आख़िरी बीमारी है, इससे उठना नही है तुमको, ताहम इस वक्त भी जो सवाल उनको तंग कर रहे है वह आत्मा और परमात्मा, स्वर्ग और नरक, जिन्दगी और मौत के दार्शनिक सवाल नही है, समाज के न्याय और अन्याय के सवाल है।

'बुद्धि जवाब देती — यहाँ सभी स्वाधीन है, सभी को अपनी शक्ति और साधना के हिसाब से उन्नति करने का अवसर है। मगर शका पूछती — सब को समान अवसर कहाँ है? बाजार लगा हुआ है, जो चाहे वहाँ से अपनी इच्छा की चीज ख़रीद सकता है, मगर ख़रीदेगा तो वही जिसके पास पैसे है? और जब सबके पास पैसे नही है तो सब का बराबर अधिकार कैसे माना जाय? इस तरह का आत्ममथन उनके जीवन में कभी न हुआ था .. इस वक्त उनकी दशा उस आदमी की सी थी जो रोज मार्ग में ईंटे पडी देखता है और बचाकर निकल जाता है। रात में कितने लोगो को ठोकर लगती होगी, कितनो के हाथ-पैर टूटते होगे, इसका ध्यान उसे नही आता। मगर एक दिन जब वह ख़ुद रात को ठोकर खाकर अपने घुटने फोड लेता है तो उसकी निवारण-शक्ति हठ करने लगती है और वह उस सारे ढेर को मार्ग से हटाने पर तैयार हो जाता है। देवकुमार को वही ठोकर लगी थी। कहाँ है न्याय? कहाँ? एक गरीब आदमी किसी खेत से बालें नोचकर खा लेता है, कानून उसे सजा देता है। दूसरा, अमीर आदमी दिनदहाडे दूसरो को लूटता है और उसे पदवी मिलती है, सम्मान मिलता है। कुछ आदमी तरह-तरह के हथियार बाँधकर आते है और निरीह, दुर्बल मजदूरो पर आतक जमाकर अपना गुलाम बना लेते है। लगान और टैक्स और महसूल और कितने ही नाम से उसे लूटना शुरू करते है और आप लबा-लबा वेतन

उडाते है, शिकार खेलते है, नाचते है, रँगरेलियाँ मनाते है। यही है ईश्वर का रचा हुआ ससार ? यही न्याय है ?'

और फिर शायद खुद को ही लताड बतायी —

'हाँ, देवता हमेशा रहेगे और हमेशा रहे है। उन्हे अब भी ससार धर्म और नीति पर चलता हुआ नजर आता है। वे अपने जीवन की आहुति देकर ससार से विदा हो जाते है। लेकिन उन्हे देवता क्यो कहो ? कायर कहो, आत्मसेवी कहो। देवता वह है जो न्याय की रक्षा करे और उसके लिए प्राण दे दे। अगर वह जानकर अनजान बनता है तो धर्म से गिरता है, और अगर उसकी आँखो में यह कुव्यवस्था खटकती ही नही तो वह अधा भी है और मूर्ख भी, देवता किसी तरह नही। और यहाँ देवता बनने की जरूरत भी नही। देवताओ ने ही भाग्य और ईश्वर और भक्ति की मिथ्याएँ फैलाकर इस अनीति को अमर बनाया है। मनुष्य ने अब तक इसका अत कर दिया होता या समाज का ही अत कर दिया होता जो इस दशा में जिन्दा रहने से कही अच्छा होता। नही, मनुष्यो में मनुष्य बनना पडेगा। दरिन्दो के बीच में उनसे लडने के लिए हथियार बाँधना पडेगा। उनके पजो का शिकार बनना देवतापन नही जडता है।'

जबान बन्द होने के पहले कह दो जो-जो कुछ कहना है, जो-जो कुछ देखा है, सहा है, सीखा है।

और मुशीजी ने उसी वसीयतनामे के तौर पर उन्ही विनिद्र रातो में, उन्ही दैहिक और मानसिक कष्टो के बीच महाजनी सभ्यता के माया-अवगुठन को हटाकर उसका नगा रूप लोगो के सामने रखा —

'इस महाजनी सभ्यता में सारे कामो की गरज महज पैसा होती है। इस दृष्टि से मानो आज महाजनो का ही राज्य है। मनुष्य समाज दो भागो में बँट गया है। बडा हिस्सा तो मरने और खपनेवालो का है, और बहुत ही छोटा हिस्सा उन लोगो का है, जो अपनी शक्ति और प्रभाव से बडे सम्प्रदाय को अपने बस में किये हुए है। उन्हे इस बडे भाग के साथ किसी तरह की हमदर्दी नही, जरा भी रू-रियायत नही। उसका अस्तित्व केवल इसलिए है कि अपने मालिको के लिए पसीना बहाये, खून गिराये और एक दिन चुपचाप इस दुनिया से विदा हो जाय . .'

जीवन भर दीन-दुखियो का, शोषितो का पक्ष लेकर लडे, लेकिन कभी माना नही कि समाज दो वर्गो में बँटा है। चलते-चलते वह भी मान लिया।

२५ जुलाई, ढाई बजे रात

बेहद कमज़ोर हो गये थे। कहते थे, मैं चलता हूँ तो पैर थर्राने लगते है।

आँखो के नीचे अँधेरा छा जाता है।

ताहम वह एक दिन नही बैठे। बराबर कुछ न कुछ करते रहे। ताकत न होने पर भी वह जैसे इस बात को अपने तई स्वीकार न करना चाहते थे और अपनी इच्छाशक्ति से अपने आप को घसीटते रहे।

लेकिन शरीर के अपने नियम है और पिछली खून की कै के ठीक एक महीने बाद, और ठीक उसी समय, दुबारा उनके मुँह से उसी तरह खून गिरा। शिवरानी देवी लिखती है —

'उन्हे नीद लाने के लिए मैं तलवे और सिर की मालिश करती थी। मैं रात को एक बजे उनका सर सहला रही थी '

तभी मुशीजी ने कहा — अब तुम सो रहो। कब तक बैठो रहोगी।

पत्नी ने कहा — मै तो आपकी फिक्र में हूँ, और आप मेरी।

मुशीजी बोले — तुम सो जाओगी तो मै भी सो जाऊँगा।

● मै उसी कमरे में एक तख्ते पर लेट गयी। आप धीरे से उठे। पाखाने जाने लगे। पाखाने में बैठते ही आपको फिर कै आ गयी। आवाज सुनकर दौडी गयी। उस समय इतनी शिथिलता उनमें आ गयी थी कि वे उठ-बैठ भी नही पा रहे थे। फिर दुबारा कै का खून हम दोनो पर तैर गया.... उस समय तक तीनो बच्चे भी जाग गये थे। मैं धुन्नू से बोली — जाकर डाक्टर को बुला लाओ। आप बोले — लडके को इस वक्त मत परेशान करो। डाक्टर ईश्वर नही। सुबह जायगा। जाकर कलम-दवात और कागज लाओ।... अब मैं नही बचने का। कम से कम कागज तो दो।

मै बोली — क्या होगा ?

— तुमको बैठने का तो ठिकाना करता जाऊँ।

मै बोली — घबराइए नही। आप अच्छे हो जायेंगे।

बोले — उठो, लाओ।

मैं बोली — अन्दर चलिए।

वे मेरे मुँह की तरफ देखकर रो पडे।.... ●

तीन-चार रोज़ बनारस में ही इलाज हुआ। एक्सरे कराने की बात उठी तो मालूम हुआ कि नही हो सकता, एक ही मशीन यहाँ पर है, और वह भी इस वक्त खराब है।

लखनऊ जाने के शायद दो ही एक रोज पहले मुशीजी ने २८ जुलाई के अपने खत में अख्तर हुसेन रायपुरी को लिखा था —

● अब मेरा किस्सा सुनो। मैं करीब एक माह से बीमार हूँ। मेदे में गैस्ट्रिक अल्सर की शिकायत है। मुँह से खून आ जाता है, इसलिए काम कुछ नही करता। दवा कर रहा हूँ मगर अभी तक कोई इफ़ाका नही। बच गया तो 'बीसवी सदी'

नाम का रिसाला अपने लोगो के ख़यालात की इशाअत के लिए जरूर निकालूँगा। 'हस' से तो मेरा ताल्लुक टूट गया। मुफ्त की सरमग्जी। बनियो के साथ काम करके शुक्रिये की जगह यह सिला मिला कि तुमने 'हस' में ज्यादा रुपया सर्फ कर दिया। इसके लिए मैंने दिलोजान से काम किया, बिल्कुल अकेला, अपने वक्त और मेहनत का कितना खून किया, इसका किसी ने लिहाज न किया। मैने 'हस' उन लोगो को इस ख़याल से दिया था कि वह मेरे प्रेस में छपता रहेगा और मुझे उसकी जानिब से गूना बेफिक्री रहेगी। लेकिन अब वह दिल्ली में सस्ता साहित्य मडल की जानिब से निकलेगा और इस तबादले में परिषद् को अदाजन पचास रुपये महीने की बचत हो जायगी। मैं भी खुश हूँ। 'हस' जिस लिटरेचर की इशाअत कर रहा था, वह हमारा लिटरेचर नही है। यह तो वही भक्तिवाला महाजनी लिटरेचर है जो हिन्दी जबान मे काफी है . ●

मगर ख़ैर, 'हस' के दिल्ली जाने की नौबत नही आयी। अगस्त में 'हंस' से जमानत माँगी गयी — गोविन्ददास के नाटक 'सिद्धान्त स्वातन्त्र्य' को लेकर। परिषद् ने जमानत भरने से इन्कार किया। मुशीजी ने जमानत भर दी और अपना पत्र उनसे वापस ले लिया। लेकिन यह सब अगले महीने की बाते है और अभी तो मुशीजी अपना इलाज कराने या तकदीर आजमाने, जो भी कहो, लखनऊ जा रहे है।

शरीर टूटा हुआ है, मन भी टूटा हुआ है, और बचने की उम्मीद कम ही है मगर लोग कहते है, बार-बार कहते हैं कि लखनऊ जाओ, वहाँ बहुत बडे-बडे डाक्टर है।

और मुशीजी लखनऊ पहुँचे — बडा बेटा जो इलाहाबाद में बी० ए० फाइनल में पढ रहा था, छुट्टी लेकर घर आ गया था और मुशीजी के साथ लखनऊ गया।

पहले मुशीजी सीधे अपने पुराने दोस्त कृपाशकर निगम के घर पहुँचे और दो-तीन रोज लाटूश रोड के उसी मकान में रहे, जहाँ न जाने कितनी दिलचस्प शामें दोस्तो की सोहबत में गुजरी थी।

फिर शायद उन्हे इस हालत में अपने एक दोस्त के यहाँ पडा रहना कुछ नागवार लगा और मुशीजी वहाँ से उठकर अमीनाबाद के सूर्या होटल में पहुँच गये।

डाक्टर हरगोविन्द सहाय बुलाये गये। इसकी जाँच और उसकी जाँच का सिलसिला शुरू हुआ, एक्सरे लिया गया — और अत में निदान हुआ, जलोदर और जिगर का सख्त पड जाना, सिरोसिस ऑफ लिवर।

उम्मीद किसे थी ठीक होने की, मर्ज़ बहुत आगे बढ चुका था, तबीयत भी इलाज से उखड चुकी थी। तो भी कुछ तो करना ही था। और भी दो-एक डाक्टरो को दिखाया गया। किन्ही दो लोगो की राय न मिलती थी। इलाज

चल रहा था, पैसा पानी की तरह बह रहा था और कमजोरी बडे ज़ोर से बढ रही थी। रुपये जो साथ लेकर आये थे वह भी चुक गये थे — और मुशीजी ने सौ रुपये निगम साहब से मँगाये।

एक दिन का जिक्र है, बेटे ने खिचडी पकायी। मूँग की पतली मरीजू खिचडी थी।

बेटे ने कहा — बाबूजी, खिचडी तैयार हो गयी है।

बाबूजी ने कहा — ऐसे खिचडी क्या खाये! खिचडी के साथ तो पापड होता, हरी मिर्च होती, अदरक होती, नीबू का अचार होता, तब तो खिचडी खाने का कुछ आनन्द भी आता!

कहानीकार गगाप्रसाद मिश्र ने, जो उस वक्त वहाँ मौजूद थे, फौरन बडे तपाक से कहा, 'मै अभी सब चीजे लेकर आता हूँ,' और लोगो के मना करते-करते भी वहाँ से भाग चले।

करीब ही झाऊलाल के पुल पर उनका मकान था, और गगाप्रसाद दौडे चले जा रहे थे ताकि मुशीजी को ठण्डी खिचडी न खानी पडे .

एक रोज़ मुशीजी ने गगा से कहा — आजकल तबीयत बडी सुस्त रहती है। 'पिकविक पेपर्स' कही से पढने को मिले तो ज़रा तबीयत बहले।

शाम को अपने एक दोस्त के यहाँ से वह किताब लेकर गगाप्रसाद मुशीजी के पास पहुँचे तो उन्होने बनावटी नाराजगी दिखलाते हुए कहा — आज मै तुमसे बहुत नाराज हूँ। .. तुम कहानियाँ लिखते हो और आज तक तुमने यह बात मुझे नही बतायी!

मुशीजी ने बहुत आग्रह किया तो गगाप्रसाद घर जाकर अपनी 'महराजिन' कहानी ले आये। उस दिन को याद करके वह लिखते है —

● कहानी मे एक स्थल पर शादी के बीच में मनमुटाव हो जाने के कारण बहू को बिदा करवाये बिना ही बरात चल दी। बरात के चले जाने पर जनवासे का चित्र कुछ ऐसा था — 'शामियाना उखड चुका था। बैलो के बाँधने के खूंटे भी उखाड लिये गये थे। चारो तरफ गड्ढे और मिट्टी दिखायी दे रही थी। जिस चौपाल में कुछ देर पहले बडी चहल-पहल थी, वहाँ एक कोने में बैठा हुआ कुत्ता हाँफ रहा था और दूसरी ओर उखारी की फसल के बारे में बात करते हुए बुद्धू और पैला ने अपनी चिलम सुलगा ली।'

मुशीजी बडे तकिये के सहारे अधलेटे हुए कहानी सुन रहे थे। यह टुकडा सुनते ही अपनी उस हालत में भी उठ बैठे और मेरी पीठ ठोकते हुए बोले — वाह, तुमने तो मेरी कलम छीन ली! क्या चित्र खीचा है! ....

कहाँ यह दिल खोलकर दूसरे का दिल बढाना और कहाँ दूसरो की शब्द-कृपणता, हाँ . अच्छी है लेकिन .. ! ●

आर्टिस्ट अब्दुल हकीम साहब का घर बहुत छोटा मगर दिल बहुत बडा था। एक दिन वह जबरन् मुशीजी को सूर्या होटल से अपने यहाँ उठा लाये, वही उसी गली के नुक्कड पर जो लाटूश रोड से फूटती है और मारवाडी गली को जाती है। अब मुशीजी को ज्यादा दिन लखनऊ नही रहना था, मगर हकीम नही माने और अपने घर उठा लाये। बिलकुल सगे भाई की तरह उनकी सेवा की, कमोड तक साफ किया, धुन्नू को सुला देते और खुद रात-रात भर जागते, मगर चेहरे पर शिकन नही। लेकिन उससे क्या होता है।

मुशीजी की हालत दिनोदिन बिगडती जा रही थी। एक शाम गगाप्रसाद मिलने के लिए पहुँचे तो मुशीजी उदास लेटे थे। इधर-उधर की दो-एक बातो के बाद उन्होने शून्य की ओर ताकते हुए कहा — गगाप्रसाद, मुझे लगता है अब मै न बचूँगा, और मैं सोचता हूँ कि मरना ही है तो अपने बच्चो के बीच मे जाकर क्यो न मरूँ !

हड्डी-हड्डी निकल आयी थी, चेहरा बिलकुल ज़र्द, जैसे पुराना कागज़, आँखें गड्ढो में धँसी हुई

पत्नी ने सहारा देकर ऊपर पहुँचाते हुए पूछा — कैसी तबीयत है ?

मुशीजी ने बुझी हुई आवाज में कहा — ठीक है

ऊपर पहुँचकर बिस्तर पर लेट गये। बुरी तरह हाँफ रहे थे। थोडी देर बाद, फँसते हुए गले से आवाज निकली — मै अब नही बचने का। .. मैंने सोचा कही मर गया तो देख भी न पाऊँगा।

१७ अगस्त

डाक्टरो ने ज्यादा खुले हुए, ज्यादा हवादार मकान में रहने की सलाह दी। सयोग से भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का विलास-भवन रामकटोरा बाग खाली मिल गया, जहाँ कभी उनकी भङ्ग-बूटी छनती थी, अगूरी के दौर चलते थे, तबले ठनकते थे, घूँघरू खनकते थे।

अगस्त की सत्रह तारीख थी। पानी जोरो से बरस रहा था। घर का सामान ढोया जा रहा था। पडित ने नये घर में जाने के लिए वही दिन शुभ बतलाया था।

मुशीजी के कमरे में कुछ किताबें बिखरी पडी थी। सब सामान अस्त-व्यस्त था। उन्होंने एक बार उठने की कोशिश की। पत्नी को देखा तो लेट रहे।

पत्नी ने पूछा — आप यह क्या कर रहे है ?

अंतिम बीमारी

शिवरानी प्रेमचंद १९६२

बोले — कुछ नही । दोनो लडके कहाँ गये ?

पत्नी ने जवाब दिया — कही सामान वगैरह ठीक कर रहे होगे ।

बोले — किताबो का बण्डल क्यो नही बँधवा देती ?

और कमरे से बाहर जाते-जाते शिवरानी देवी के कान में एक मद्धिम-सी आवाज पडो — कोई ठीक करे या न करे, अपने को क्या !

थोडी देर बाद वह फिर उसी कमरे में आयी । कुछ ही मिनट पहले पानी की बूँदे थमी थी । ताँगा आ गया था ।

मुशीजी बोले — चलती क्यो नही तुम ? पानी में भीग जाऊँगा, नही तो ! (जैसे बच्चे ने ठुनकते हुए माँ कहा !)

'मै थोडा-सा दही और शक्कर लाकर सामने रखकर बोली — जरा इसे जबान पर लगा लीजिए ।

मेरे कहने से उन्होने जबान पर तो जरूर 'लगाया लेकिन कुल्ला करते हुए मेरी ओर देखकर मुस्करा दिये '

रामकटोरा पहुँचे तो चारपाई पहले से बिछी हुई थी — उत्तर-दक्खिन । मुशीजी लेट गये तब पत्नी का ध्यान इस पर गया ।

बोली — जरा चारपाई को ठीक करने दीजिए ।

मुशीजी ने कहा — इससे क्या होगा जी ! जो होना है वही होगा ।

२५ अगस्त ढाई बजे रात

शिवरानी देवी लिखती है —

'अगस्त महीने की २५ तारीख को दो बजे मैं जाग रही थी । उस दिन सुबह ही से चिन्तित थी । रात को आप सोये हुए थे । मै खामोश पडी सिर दबा रही थी । सामने घडी थी । बार-बार उसी पर निगाह जाती । बार-बार ईश्वर से प्रार्थना करती कि ईश्वर दया कर ।'

दो या सवा दो का समय था । मुझसे बोले — रानी, मुझे गर्मी मालूम हो रही है । शायद मुझे फिर खून की कै होगी । आज २५ तारीख है न ?

मैंने कहा — नही आज २४ है ।

आप बोले — मुझे बडी गर्मी लग रही है । देखो घडी में ढाई तो नही बज रहे है !'

इन्ही दिनो जैनेन्द्रजी आये — 'प्रेमचद खाट पर पडे थे । रोग बढ गया था । उठ-चल न सकते थे । देह पीली, पेट बढा था, पर चेहरे पर शान्ति थी । मैं तब उनकी खाट के बराबर काफी-काफी देर तक बैठा रहा हूँ । उनके मन के भीतर

कोई खीझ, कोई कडवाहट, कोई मैल उस समय करकराता मैंने नही देखा।'

क्यो करकराये मन में कुछ भी।

करकराते है वह झूठ जो आदमी बोला, वह बेईमानियाँ जो उसने की, वह छोटे-बडे अत्याचार जो उसने कभी इस कभी उस बहाने से अपने अन्त करण के ऊपर किये।

करकराती है वह लिप्साएँ जो पूरी नही हुईं। यहाँ तो वह सब कुछ भी नही। एक जिन्दगी मिली थी — झीनी झीनी बीनी एक चादर जिसे कबीरदास ने जतन से ओढकर ज्यो की त्यो धर दिया था।

फिर क्या है जो करकराये ?

करकराती तो है वह रेत जिसे तुमने जिन्दगी के रेगिस्तानी सफर में धोखे से पानी समझकर पी लिया था और जो अब, जुगाली करते वक्त, दाँतो के नीचे आ-आ जाती है।

यहाँ तो जिन्दगी सूने खेतो और चरागाहो को जानेवाली एक लबी, सीधी, सँकरी पगडडी थी जिसके चारो तरफ खुले मैदान थे और रास्ते में मीठे पानी के छोटे-मोटे कच्चे कुओ की भी कमी न थी। रोज़ सबेरे, निहार मुँह, एक किसान अपने हल-बैल लेकर उसी पगडडी से अपने उन खेतो को जाता था और दिन भर उस तपी हुई कडी धरती को जोतता था, घास-फूस की निराई करता था, बीज छिडकता था — और दोपहर को, सूरज जब सिर पर होता था, उसकी धनिया रस-गुड और जौ के मोटे-मोटे लिट्टे लेकर पहुँच जाती थी ...

रोज वही पगडडी, उन्ही कुँओ का पानी, अपने वही खेत-हार

और कभी एक सूखा-सा हास्य जिसकी आर्द्रता उसके सूखेपन में है —

● होरी ने उसकी ओर आँखें तरेरकर कहा — क्या ससुराल जाना है जो पाँचो पोसाक लायी है ? ससुराल में कोई जवान साली-सलहज,भी तो नही बैठी है जिसे जाकर दिखाऊँ !

होरी के गहरे साँवले, पिचके हुए चेहरे पर मुस्कराहट की मृदुता झलक पडी। धनिया ने लजाते हुए कहा — ऐसे ही तो बडे सजीले जवान हो कि साली-सलहजे तुम्हे देखकर रीझ जायेंगी !

होरी ने फटी हुई मिर्जई को बडी सावधानी से तह करके खाट पर रखते हुए कहा — तो क्या तू समझती है मै बूढा हो गया ? अभी तो चालीस भी नही हुए। मर्द साठे पर पाठे होते है।

'जाकर सीसे में मुँह देखो। तुम जैसे मर्द साठे पर पाठे नही होते। दूध-घी आँजन लगाने तक को तो मिलता नही, पाठे होगे। तुम्हारी दसा देख-देखकर तो मैं और भी सूखी जाती हूँ कि भगवान यह बुढापा कैसे कटेगा। किसके द्वार भीख माँगेंगे।'

होरी की वह क्षणिक मृदुता यथार्थ की इस आँच मे जैसे झुलस गयी। लकडी सँभालता हुआ बोला — साठे तक पहुँचने की नौबत न आने पायेगी धनिया, इसके पहले ही चल देगे। ●

यम की रहस्यमयी प्रेरणा .

सब को जाना है एक दिन। अमरित की घरिया पीकर कोई नही आया है।

कही कोई अतृप्ति नही है, जो कुछ करना था कर चुके, कहना था कह चुके।

'नारकीय महाजनवाद' को लक्ष्य करके वह शापवाणी भी हो गयी जो भीतर ही भीतर हड्डी को जला रही थी।

और मुशीजी बिलकुल शान्त, निर्विकार मन से, रामकटोरा बाग की उस नन्ही-सी कोठरी में पडे हुए अपने मन के आकाश में उस पुरानी महाजनी सभ्यता के सूरज का डूबना और एक नयी सभ्यता के सूरज का उगना देखते रहते है।

एक प्राकृतिक-सी अनिवार्यता है इसके पीछे। जो व्यवस्था समाज के प्रश्नो का उत्तर नही दे पाती उसका मिट जाना निश्चित है। कोई उसको बचा नही सकता।

महाजनी सभ्यता के पास 'ईर्ष्या, जोर-ज़बर्दस्ती, बेईमानी, झूठ, मिथ्या अभियोग-आरोप, वेश्यावृत्ति, व्यभिचार, चोरी-डाके' आदि का कोई इलाज नही है। ये सारी बुराइयाँ 'दौलत की देन है, पैसे के प्रसाद है, महाजनी सभ्यता ने इनकी सृष्टि की है। वही इनको पालती है और वही यह भी चाहती है कि जो दलित पीडित और विजित है, वे इसे ईश्वरीय विधान समझकर अपनी स्थिति पर सन्तुष्ट रहे'

सारा खेल यहाँ से वहाँ तक, उनके सामने आइने की तरह साफ है। कही कोई दुविधा नही, मोह नही, सशय नही, दु ख नही, ताप नही, खीझ नही, पछ-तावा नही। मन बिलकुल पक्का है — अच्छी तपायी हुई खजर ईंट की तरह।

तभी एक रात उन्होंने जैनेन्द्र से कहा — जैनेन्द्र, लोग ऐसे समय ईश्वर को याद किया करते है। मुझे भी याद दिलायी जाती है। पर अभी तक मुझे ईश्वर को कष्ट देने की जरूरत नही मालूम हुई।

'शब्द हौले-हौले, थिरता से कहे गये थे और मैं इस अत्यन्त शान्त, नास्तिक सन्त की शक्ति पर विस्मित था।' (जैनेन्द्रकुमार)

बिस्मय की ऐसी कोई बात नही। इस नास्तिक सन्त के पास अपना एक ईश्वर है जिसका स्मरण, जिसका अभिनन्दन करते हुए वह कहता है —

मुजद ऐ दिल कि मसीहा नफसे भी आयद,
कि जे अनफास खुशश बूए कसे मी आयद ।

उसका हृदय प्रसन्न है कि पीयूषपाणि मसीहा सशरीर उसकी ओर आ रहा है । उसे लोगो की साँसो से किसी की सुगध आ रही है ।

यह 'पीयूषपाणि मसीहा' नयी सभ्यता का वही सूर्य है, जिसके प्रति अपने हृदय की, चरित्र की सारी निष्ठा उँडेलते हुए मुशीजी अपने इस वसीयतनामे में कहते है —

'हाँ, महाजनी सभ्यता और उसके गुर्गे अपनी शक्ति भर उसका विरोध करेगे, उसके बारे में भ्रमजनक बातो का प्रचार करेगे, जनसाधारण को बहकायेगे, उनकी आँखो में धूल झोकेगे, पर जो सत्य है, एक न एक दिन उसकी विजय होगी और अवश्य होगी ।'

जहाँ मन में इतने गहरे विश्वास का पाथेय हो वहाँ यात्रा से फिर भय कैसा । जनम भर के यात्रा-भीरु प्रेमचद को अपनी इस अन्तिम यात्रा से तनिक भय नही लग रहा है ।

भय है तो उनके लिए जिन्हे छोडकर वह जा रहे है । युद्ध की छाया गहरी होती जा रही है । सारे ससार के शिल्पी और विचारक उद्विग्न है, कैसे इस विकराल दैत्य को रोके । रोमें रोलाँ और आँरी बारबुस उस शान्ति-महायज्ञ के अग्निहोत्र है । पेरिस में सस्कृति-रक्षा-सम्मेलन हो रहा है । ब्रसेल्स में विश्वशाति सम्मेलन हो रहा है ।

जवाहरलाल नेहरू ने ब्रसेल्स में हिन्द की आत्मा को वाणी दी । भारत के शिल्पी और विचारक भी पीछे नही रहे । उनकी ओर से एक घोषणापत्र ब्रसेल्स और पेरिस दोनो जगह भेजा गया, जिस पर दूसरे कुछ लोगो के साथ-साथ रवीन्द्र-नाथ ठाकुर, रामानद चट्टोपाध्याय, नदलाल बसु, प्रफुल्लचद्र राय, जवाहरलाल नेहरू और मृत्यु शैया पर लेटे हुए प्रेमचद के हस्ताक्षर थे ।

सिडनी और बियेट्रिस वेब की किताब 'सोवियत कम्युनिज़म', रवीन्द्रनाथ ठाकुर की 'रुशियार चिठि' के अग्रेजी अनुवाद, अग्रेज कार्टूनिस्ट डेविड लो की 'रूसी स्केचबुक' और ऐसीं ही और भी न जाने कितनी किताबो और अखबारो की जब्ती का सिलसिला जो सेसर और कस्टम्सवालो ने चला रखा था, उसकी तीव्र भर्त्सना करने के बाद घोषणापत्र में कहा गया था —

● महायुद्ध की प्रेतछाया सारी पृथ्वी पर मँडरा रही है । फासिस्ट तानाशाही खाने के बदले अस्त्र-सग्रह करके और संस्कृति के सुयोग के बदले साम्राज्य गठन के प्रलोभन को पकड़कर अपना सैनिकवादी रूप दिखला रही है । एबिसिनिया को

पदानत करने के लिए इटली ने जिन सब पद्धतियो का सहारा लिया है, उनसे बुद्धि और सभ्यता के प्रति विश्वासी सब लोगो को गहरा धक्का लगा है। बडी-बडी साम्राज्यवादी शक्तियो की प्रतिद्वद्विता और परस्पर विरोध, सकीर्ण राष्ट्रीयतावादी मनोवृत्ति को मनचाहा बढावा, लडाई के सामानो की तेज वृद्धि — ये सब सकटमय परिस्थिति की पूर्व सूचना है। इस समय हम अपनी ओर से और अपने सभी देशवासियो की ओर से दूसरे देशो के जनसाधारण के स्वर में स्वर मिलाकर कहना चाहते है कि हम युद्ध से घृणा करते है और चाहते है कि युद्ध का रास्ता छोडा जाय, युद्ध में हमारा कोई भी हित नही है। किसी भी साम्राज्यवादी युद्ध में भारतवर्ष के योगदान के हम घोर विरोधी है क्योकि हम जानते है कि आगामी युद्ध में सभ्यता का विध्वस हो जायगा।●

और कुछ हो अपनी मृत्यु की छाया मन पर नही है। एक रोज पडित नन्ददुलारे वाजपेयी मिलने आये —

'अपरान्ह के प्राय चार बजे होगे। उनकी पत्नी शिवरानी जी उनके पास आती-जाती रहती थी। मैं उनके सिरहाने बैठा उन्हे आश्वासन दे रहा था। इसी समय हकीम साहब आ गये जो उन दिनो उनका इलाज कर रहे थे। मुझे ऐसा जान पडा कि प्रेमचद जी को अब जीवन की आशा नही रह गयी है लेकिन हकीम साहब से उन्होने जिस विनोद के साथ बातचीत शुरू की उसे देखकर मुझे आश्चर्य हुआ। मैने देखा कि हकीम जी से बातें करते-करते ठहाका लगाने की स्थिति आ गयी। उन्होने हकीम जी से कुछ इस प्रकार कहा — खाँ साहब, आपकी बडी इनायत है, अब दवा देना बन्द कर दीजिए, अतिम घडी नजदीक आ गयी है, अब तो आप भी आराम कीजिए और मुझे भी आराम करने दीजिए। थोडे दिनों के लिए इतना पचडा क्यो ? और जब हकीम साहब अपनी दवा के गुणों का बखान करने लगे तो प्रेमचद जी मेरी ओर देखकर ठहाका मारकर हँस पडे .. '

पडित रामनरेश त्रिपाठी का भी यही अनुभव रहा —

'मैं एक इच्छा लेकर गया था कि यदि उनमें चलने-फिरने की शक्ति हो तो उन्हे सुलतानपुर ले जाता, जहाँ की आबहवा उनके बहुत मुआफिक पडती। पर वह तो करवट बदलने से भी लाचार थे। मुझे देखकर वह मुस्कराये और धीरे से बोले — किनारे लग चुका हूँ, पता नही कब नाव छोड दूँ।'

और एक शेर पढा जो त्रिपाठी जी सुन नही सके मगर जो शायद वही शेर था जिसे मुशीजी इन दिनो अक्सर गुनगुनाया करते थे —

दरो दीवार पे हसरत से नज़र करते है,
खुश रहो, अहले वतन, हम तो सफर करते है।

जीने की अब शायद उन्हे कोई उम्मीद न रह गयी थी, लेकिन यह बात कह-कर किसी का जी दुखाने से क्या फायदा। लिहाज़ा १८ सितम्बर को उन्होने वीरेश्वर सिंह को एक छोटा सा ख़त अपने छोटे बेटे के हाथ से लिखवाया —

'मैं तो अब बेहद कमजोर हो गया हूँ। उठ-बैठ भी नही सकता। लेकिन मर्ज घट रहा है। डाक्टर का कहना है कि पन्द्रह दिन में मर्ज़ बिल्कुल घट जायगा। फिर भी अच्छा होने में बडा समय लगेगा '

और किसी अज्ञात प्रेरणा से अपना 'आशीर्वाद' भी टाँक दिया, जो कि वीरेश्वरसिंह कहते है उनके लिए एक नयी चीज थी।

मौत से पन्द्रह दिन पहले उन्होने मुशी दयानरायन निगम को तार देकर बुलाया —

'सुबह को आखिरी मुलाकात का समाँ उम्र भर न भूलेगा। वही प्रेमचद जो जो अपनी सुर्ख़-सफेद सूरत के लिहाज से हजारो में एक थे, ऐसे पीले और कमज़ोर हो गये थे कि मुश्किल से पहचान पडते थे। धँसी हुई आँखे, बैठे हुए गाल, काँटे की तरह सूखे हुए हाथ-पाँव देखकर आँखो के सामने अँधेरा छा गया। उनके न थमनेवाले कहकहे बात करने की भी मुहलत न देते थे, मगर अब आँसुओ का तार बँधा हुआ था।'

यह अपने जाने का गम न था, दोस्त के बिछुडने का दर्द था —

'न उठने की ताकत थी न बैठने की सकत। लेटे ही लेटे हाथ पकड लिया और गले से चिमटा लिया, जैसे कोई डरा हुआ बच्चा बिलख-बिलखकर सीने से चिपटने की कोशिश करे। इतने कमजोर हो गये थे कि बात करने में भी थकन होती थी, ताहम दम ले-लेकर आहिस्ता-आहिस्ता बातें करते ही रहे। मैने मना करना चाहा तो कहने लगे कि दुबारा मुलाकात की उम्मीद नही, वर्ना तुम्हारा कहना न टालता '

इन्ही आखिरी दिनो में निराला जी कई बार मिलने के लिए आये और अपनी उन मुलाकातो के बारे में बहुत भरे हुए दिल से पहली अक्तूबर १९३६ को 'भारत' में लिखते हुए मुशीजी की ये आखिरी झलकियाँ पेश की —

● हिन्दी के युगान्तर-साहित्य के सर्वश्रेष्ठ रत्न, अन्तर्प्रान्तीय ख्याति के हिन्दी के प्रथम साहित्यिक, प्रतिकूल परिस्थितियो से निर्भीक वीर की तरह लडनेवाले, उपन्यास-ससार के एकछत्र-सम्राट्, रचना-प्रतियोगिता में विश्व के अधिक से अधिक लिखनेवाले मनीषियो के समकक्ष, आदरणीय श्रीमान् प्रेमचन्दजी आज महाव्याधि से ग्रस्त होकर शय्याशायी हो रहे है। कितने दु ख की बात है, हिन्दी के जिन पत्रो में हम राजनीतिक नेताओ के मामूली बुख़ार का तापमान प्रतिदिन पढते रहते है उनमें श्री प्रेमचन्दजी की, हिन्दी का महान उपकार करनेवाले प्रेमचन्दजी की अवस्था की साप्ताहिक ख़बर भी हमें पढने को नही मिलती। दुख नही, यह

लज्जा की बात है, हिन्दी-भाषियो के लिए मर जाने की बात है। उन्होने अपने साहित्यिको की ऐसी दशा नहो होने दी कि वे हँसते हुए जीते और आशीर्वाद देते हुए मरते। इसी अभिशाप के कारण हिन्दी महारानी होकर अपनी प्रान्तीय सखियो की भी दासी है।

मैं जब बाबू राजेन्द्र प्रसाद और प० जवाहरलाल नेहरू जैसे राष्ट्र के समादृत नेताओ को देखता हूँ और साथ-साथ मुझे श्री प्रेमचन्दजी की याद आती है, मेरा हृदय आनन्द और भक्ति से पूर्ण हो जाता है। मैं देखता हूँ, राजनीति के सामने साहित्य का सर नही झुका, बल्कि और ऊँचा है, केवल देखनेवाले नही है। हिन्दी-भाषी मुझे अच्छी तरह जानते है। वे यह भी जानते होगे, मेरे कानो में डके की आवाज कम जाती है। जिस साधना से आदमी आदमी है, जिसके कारण नेता सम्मान पाते है, मैं उसी की जाँच करता हूँ। वहाँ प्रेमचन्दजी, दरिद्र प्रेम-चन्दजी, अपने अध्यवसाय से शिक्षा प्राप्त करनेवाले प्रेमचन्दजी, साहित्य की साधना में यहाँ-वहाँ भटकते फिरनेवाले प्रेमचन्दजी, फिर भी एकनिष्ठ होकर दिन पर दिन, महोने पर महीने, वर्ष पर वर्ष साधना करते रहनेवाने प्रेमचन्दजी, बडे, बडे, बहुत बडे है।

इस बार प्राय साढे तीन महीने मैं बनारस रहा। प्रेमचन्दजी के सरस्वती प्रेस में मेरी 'गीतिका' छप रही थी। प्रकाशक भारती भण्डार। एक दिन प० वाचस्पति पाठक, जिनका मै अतिथि था, बोले — 'प्रेमचन्दजी से मिल लीजिए।' उस समय, प्राय आधा जून, दुपहर की लू चलती थी। प्रेमचन्दजी के नाम से मैने चलना स्वीकार कर लिया। प्रेस पहुँचकर दोमजिले पर चलकर देखा, प्रेमचन्दजी बैठे है। मैं उनके परिवार भर से परिचित था। श्रीमती शिवरानी जी भी आयी। मैंने प्रणाम किया। फिर एक ग्लास पानी माँगा। बहुत दिनो बाद प्रेमचन्दजी को देखा था। मालूम होता था, वे और दुबले हो गये है। उनसे कहा। उन्होने कहा, जैसा कहा करते है, 'नही, यह तो मेरी काठी है।' कुछ देर तक साहित्यिक बातचीत हुई। फिर मैं विदा हुआ। उस दुर्बल देह में शक्ति और ओज पूर्ण मात्रा में थे।

कुछ दिन बीत गये। प्रेमचन्दजी के 'गोदान' की काफी चर्चा हो रही थी। एक दिन सुना, 'प्रसाद' जी प्रेमचन्दजी से मिलने गये थे, वे सख्त बीमार है। फिर सुना, प्रेमचन्दजी एक्स-रे कराने के लिए लखनऊ गये है। फिर मालूम हुआ, वे लखनऊ से वापस आ गये है। एक दिन प० नन्ददुलारे जी बाजपेयी के साथ उन्हे देखने गया। वे उसी कमरे में बैठे हुए थे। पर इस बार फर्श पर न थे, बिछे पलग पर बैठे हुए थे। श्रीमती शिवरानी देवी उनके लिए दवा तैयार कर रही थी। उनकी लडकी अपने लडको को लेकर आ गयी थी, एक ओर खडी थी, मुझे देखकर नमस्ते किया, मैं प्रेमचन्दजी की बीमारी की चिन्ता में था, कुछ कहा नही, सिर्फ

हाथ उठाकर नमस्कार किया। वह खडी हँस रही थी। मेरी दृष्टि की सियाही उसके मुख पर पडी — उसके मुख पर मुझे झाई सी दिखी। अगर नीचे उसके अत्यन्त सुन्दर बडे लडके को खेलते हुए मैंने न देखा होता, उसका परिचय मालूम कर उसे डरवा न चुका होता तो पहचान न पाता कि यह लडकी है। फिर भी मैंने प्रेमचन्दजी से पूछा। लडकी ने लडकी की खुली आवाज से कहा, क्या आपने मुझे पहचाना नही ? मैंने तो आपको पहचान लिया। मैने कहा, मुझमें तो कोई परिवर्तन हुआ नही, पर तुम पहले लडकी थी, अब माँ हो गयी हो। लडकी झेप गयी। प्रेमचन्दजी खुलकर हँसे। देवी शिवरानी जी दवा तैयार करती हुई मुस्करायी।. प्रेमचन्दजी दुर्बल थे, जलोदर का पूरा प्रकोप था, फिर भी एक वीर की तरह बैठे हुए वार्तालाप करते रहे। बडी जिन्दादिली, सुननेवालो पर उसका असर पडता हुआ, जैसे सुननेवालो को ही वे स्वास्थ्य पहुँचा रहे हो। मैं उस विजयिनी ध्वनि को तोल रहा था जिसका सर नीचा नही हुआ, जो हिन्दी की महाशक्ति है, और रह-रहकर दुर्बल अस्थिशेष प्रेमचन्दजी को देख रहा था। दूसरे प्रसग पर पूछा, 'आप लखनऊ गये थे, वहाँ क्या कहा डाक्टरो ने ?' 'कुछ नही, सतोषजनक उत्तर नही मिला। कहा कुछ नही, ठहरने के लिए कहा, पर कुछ डिसेन्ट्री की शिकायत मालूम दी, परदेश, देख-भालवाला कोई नही, लडके को ले गया था, कौन तीमारदारी करे, लौट आया।' बाजपेयीजी से लेख आदि के लिए प्रेमचन्दजी ने कहा। कुछ देर तक बातचीत करके फिर हम लोगों ने उनसे बिदा ली।

कुछ दिन और बीते। 'गीतिका' छप चुकी थी। अन्तिम दो-एक फार्म थे। मैं प्रेस गया हुआ था। प्रेमचदजी के बडे लडके मिले। प्रेस की आवश्यक बाते कहकर मैंने उनसे प्रेमचदजी से मिलने की इच्छा प्रकट की। उन्होने कहा, अब तो वह यहाँ नही रहते। मुझे उनका मुकाम बतलाया। मेरे रास्ते में ही मकान पडता था। मैं चला। बादल घिरे थे। चलते-चलते पानी गिरने लगा। छाता नही था। भीगते हुए आनन्द आने लगा। मकान के पास आकर अनिश्चय में पड गया कि कौन-सा मकान होगा। फाटक बतलाया था, यहाँ फाटक न दिखा, एक दरवाजा सिर्फ देख पडा। डरते हुए खोला। भीतर लम्बा मैदान देखा। किनारे से रास्ता गया था। मैदान के उस तरफ मकान था। कोई था नही जिससे पूछता। हिम्मत बाँधकर बढा। किनारे चमेली की झाड, कही-कही अपराजिता लिपटी हुई। दोनो खिले। चमेली के रात के खिले कोमल फूल बूँदो के थपेडो से व्याकुल थे। देखता हुआ एक फूल छुआ। फूल वक्ष पर रखे थे। उठा लिया। लिये हुए उनकी दशा पर विचार करता हुआ मकान के सामने आया। दूर से दो-एक एक अपरिचित देवियाँ देख पडी। एक जोडी छोटे जूते पडे थे। सोचा ये उसी लडकी के लडके के जूते होगे। एक बगल चिक पडी हुई देख पडी। उधर चला, तब तक शिवरानी जी देख पडी। उनसे पूछा। क्षीण स्वर से उन्होने कहा, सोये

है, जाइए । मैं गया । देखा, प्रेमचदजी अत्यन्त दुर्बल हो गये है ।

पेट फूला हुआ है। प्रेमचदजी ने आँखें खोली, मुझे देखा। बडी करुण दृष्टि । मैंने प्रणाम किया। पूछा आप कैसे है ? दोनो बाँहो की ओर दृष्टि फेरकर उन्होने कहा, देखिए। बडा करुण स्वर। अत्यन्त दुर्बल बाँहे। मुझे शका हो चली । सिह को गोली भरपूर लग गयी है । अब वह आवाज नही रही । मैं चुप-चाप कुर्सी पर बैठ गया । कैसे सँभलेगा ? प्रेमचदजी बोले । उन्हें अपने बच्चों की चिन्ता हो रही थी । मैं भरसक अपने को सँभाल रहा था । मेरे हाथ का फूल वही छूटकर गिर गया । .

कुछ दिन और बीते । नन्ददुलारे जी के हाथ एक गीत मैने 'हस' कार्यालय को भेज दिया । बडी कविता लिख रहा था, वह तैयार न हुई थी, फिर भेजने के लिए कहला भेजा । नन्ददुलारे जो अपना लेख लेकर जानेवाले थे, प्रेमचदजी को देखने के उद्देश्य से । इसके कुछ दिन बाद वाचस्पति जी पाठक और पद्मनारायण जी आचार्य के साथ, काशी छोडने से पहले प्रेमचन्दजी के दर्शनो के लिए चला। पद्मनारायण जी 'गीता धर्म' के सपादक है, अभी तक प्रेमचदजी से व्यक्तिगत रूप से परिचित नही हो सके । 'मैथिली-मान' के लिए उनकी कुछ आज्ञा है । हम लोग एक्के से चले । रास्ते भर गुप्तजी के अभिनन्दन की बात होती रही । मुझे बार-बार प्रेमचंदजी की याद आती रही। गुप्तजी को आदर की दृष्टि से देखता हूँ, उसके अनेक प्रमाण दे चुका हूँ, सोच रहा था, प्रेमचन्दजी को न तो मगलाप्रसाद पारितोषिक मिला, न कोई अभिनन्दन । वे हिन्दी साहित्य सम्मेलन के सभापति भी नही चुने गये । मन ने कहा — 'तुम्हारे लिए भी यही फैसला है, जिसने जैसा दिया वैसा पाया ।' मैंने कहा, 'मैं इसी तरह गुज़रूँगा । अगर कुछ काम कर सका तो नाम-यश मुझे नही चाहिए ।'

अब तक प्रेमचन्दजी का मकान आ गया । हम लोग एक्के से उतरकर भीतर चले । मकान के सामने पहुँचे तो दो नवागन्तुक बैठे देख पडे । पर ऐसे बैठे थे जैसे घर के आदमी हो । मैंने सोचा, ये भैयाचार होगे या रिश्तेदार । साथियो के साथ भीतर गया । सन्नाटा था । बडी धीमी आवाज में एक आगन्तुक ने कहा, बैठिए । मैं चप्पल उतारकर चारपाई पर बैठ गया । इधर-उधर देखा, पहचान का कोई न देख पडा । तब उन्ही महाशय से कहा, हम लोग प्रेमचन्दजी को देखने के लिए आये है । नवागन्तुक ने मेरा नाम पूछा । मैंने अपना नाम बतलाया। इस समय देवी शिवरानीजी बाहर आयी । प्रेमचदजी वही चारपाई पर थे। रस्सी बाँधकर पर्दा कर रखा गया था । पर्दा हटाने लगी । मै प्रेमचन्दजी के सामने-वाली चारपाई की ओर बढा तो आगन्तुक महोदय ने कहा, ज्यादा बातचीत मना है । मैं अपने लक्ष्य पर चलकर बैठ गया। देखते ही मेरे होश उड़ गये । प्रेमचन्दजी ने हाथ जोडकर कहा — 'अब तो अन्तिम बिदा है ।' ●

लेख समाप्त करते हुए निरालाजी ने अपने ईश्वर से प्रार्थना की — हे ईश्वर ! केवल दस वर्ष !

लेकिन दस वर्ष की कौन कहे, दस दिन की भी मजूरी वहाँ से नही मिली और वह आँखे हमेशा के लिए मुँद गयी जिनके बारे मे निरालाजी ने कभी अपने घर की बैसवाडी बोली में कहा था — आँखि कौनो के पास आय तो यहि के पास आय !

मौत से पहली रात की बात है —

● मैं उनकी खटिया के बराबर बैठा था। सबेरे सात बजे उन्हे इस दुनिया पर आँख मीच लेनी थी। उसी सबेरे तीन बजे मुझसे बाते होती थी। चारो ओर सन्नाटा था। कमरा छोटा और अँधेरा था। सब सोये पडे थे। शब्द उनके मुँह से फुसफुसाहट में निकलकर खो जाते थे। उन्हे कान से अधिक मन से सुनना पडता था।

तभी उन्होंने अपना दाहिना हाथ मेरे सामने कर दिया। बोले — दाब दो।

हाथ पीला क्या, सफेद था, और फूला हुआ था। मै दबाने लगा .

इतने में प्रेमचन्दजी बोले — जैनेन्द्र !

बोलकर चुप, मुझे देखते रहे। मैंने उनके हाथ को अपने दोनो हाथों में दबाया। उनको देखते हुए कहा — आप कुछ फिक्र न कीजिए बाबूजी। आप अब अच्छे हुए। और काम के लिए हम सब लोग है ही।

वह मुझे देखते रहे, देखते रहे। फिर बोले — आदर्श से काम नही चलेगा

मैंने कहना चाहा — आदर्श ...

बोले — बहस न करो कहकर करवट लेकर आँखे मीच ली। ..

थोडी देर में बोले — गर्मी बहुत है, पखा करो।

मैं पखा करने लगा। उन्हे नीद न आती थी, तकलीफ बेहद थी ! पर कराहते न थे, चुपचाप आँखें खोलकर पडे थे।

दस-पन्द्रह मिनट बाद बोले — जाओ, सोओ। ●

और पत्नी से कहा — रानी, तुम मेरे पास से कही मत जाया करो। तुम पास बैठी रहती हो तो मुझे ढाढस रहता है। कल तुमने गोश्त की यखनी जो खिला दी थी वह मुझे नही पची। तुम ऐसी चीजे मुझे क्यो खिलाती हो ?

पत्नी ने कहा — डाक्टर की राय से मैंने वह चीज आपको खिलायी है। डाक्टर की राय मानूँ कि आपकी ?

मुंशीजी ने हँसकर कर — डाक्टर को तो तकलीफ नही है, तकलीफ तो मुझे है !

पत्नी ने कहा — उससे आपको कुछ नुकसान हुआ क्या ?

मुशीजी बोले — देखा नही तुमने, कितनी जोर का दस्त मुझे हुआ था।
पत्नी ने कहा — इससे फायदा ही है, सब पानी निकल जायगा।
मुशीजी ने कहा — पानी के साथ सब कुछ निकला जा रहा है रानी!

आठ अक्तूबर। सुबह हुई। जाडे की सुबह। सात-साढे सात का वक्त होगा।

मुँह धुलाने के लिए शिवरानी गरम पानी लेकर आयी। मुंशीजी ने दाँत माँजने के लिए खरिया मिट्टी मुँह में ली, दो-एक बार मुँह चलाया और दाँत बैठ गये। कुल्ला करने के लिए इशारा किया पर मुँह नही फैल सका। पत्नी ने उनको जोर लगाते देखा, कुछ कहने के लिए .

पाँव तले जमीन खिसक गयी। कान में कोई कुछ कह गया।

घबराकर बोली — कुल्ला भी नही कीजिएगा क्या?

वहाँ तो उल्टी साँस चल रही थी।

नवाब ने बेबस आँखो से रानी को देखा और दम उखडते-उखडते, रुकती-अटकती, कुएँ के भीतर से आती हुई-सी, भारी, गूँजती आवाज़ में डूबते आदमी की तरह पुकारा — रानी

रानी लपकी — कि शायद मेरे हाथ से कुल्ला करना चाहते है। रामकिशोर ने बीच में ही पकड लिया — बहन, अब वहाँ क्या रखा है!

लमही खबर पहुँची। बिरादरीवाले जुटने लगे।

अरथी बनी। ग्यारह बजते-बजते बीस-पचीस लोग किसी गुमनाम आदमी की लाश लेकर मणिकर्णिका की ओर चले।

रास्ते में एक राह चलते ने दूसरे से पूछा — के रहल?

दूसरे ने जवाब दिया — कोई मास्टर था!

उधर, बोलपुर मे, रवीन्द्रनाथ ने धीमे से कहा — एक रतन मिला था तुमको, तुमने खो दिया!

• • •

परिशिष्ट १

उपन्यासों का काल-निर्देश

असरारे मआबिद उर्फ देवस्थान-रहस्य

८ अक्तूबर १९०३ से १ फर्वरी १९०५ तक बनारस के उर्दू साप्ताहिक 'आवाजए खल्क' में क्रमश प्रकाशित ।

हम खुर्मा व हम सवाब

दो सस्करण हुए । पहला सस्करण बाबू महादेव प्रसाद वर्मा के यहाँ से और दूसरा नवलकिशोर प्रेम से प्रकाशित हुआ । प्रकाशन की तिथि किसी पर नही है । इम्तयाज अली 'ताज' के नाम २९ जनवरी १९२१ के अपने खत मे प्रेमचद ने इसको १९०० की तसनीफ कहा है । कहना मुशकिल है पर हो सकता है कि यह किस्सा लिखा इतने ही पहले गया हो, पर इसका प्रकाशन १९०६ में ही मानना सगत जान पडता है । इस अनुमान का आधार यह है कि इसका पहला विज्ञापन सितबर १९०६ के 'जमाना' में मिलता है और फिर बराबर मिलता है ।

प्रेमा

'हमखुर्मा व हमसवाब' का हिन्दी रूपान्तर । जैसा कि उपलब्ध पुस्तक से स्पष्ट है, उसका प्रकाशन १९०७ में इण्डियन प्रेस से हुआ । दयानरायन निगम के नाम १७ जुलाई १९२६ के अपने खत में प्रेमचद ने लिखा है —'१९०४ में एक हिन्दी नाविल प्रेमा लिखकर इण्डियन प्रेस से शाया कराया ।' अब इस बात का यही आशय लेना ठीक होगा कि यह उपन्यास लिखा गया १९०४ में पर छपा १९०७ में, जिसके बारे में अब कोई सदेह नही ।

किशना

सभवत १९०७ में बनारस मेडिकल हॉल प्रेस से प्रकाशित हुआ । इस अनुमान का आधार इतना ही है कि उसकी

समालोचना अक्तूबर-नवबर १६०७ के 'जमाना' में निकली। 'जमाना' के साथ प्रेमचद के गहरे आत्मीय सबधो को देखते हुए, पुस्तक के प्रकाशन का समय उसके आसपास मानना बहुत असंगत न होगा। पुस्तक की प्रति अब तक नही मिली।

रूठी रानी अप्रैल १६०७ से अगस्त १६०७ तक 'जमाना' में क्रमश प्रकाशित।

जलवए ईसार १६१२ में इण्डियन प्रेस, इलाहाबाद से प्रकाशित।

सेवासदन (बाज़ारे हुस्न) लिखा पहले उर्दू में गया, छपा पहले हिन्दी में। दयानरायन निगम के नाम पत्रो के आधार पर मूल उर्दू पाण्डुलिपि का लेखन-काल जनवरी १६१७ से जनवरी १६१८ तक ठहरता है। कुछ ही समय बाद उसका हिन्दीकरण हुआ और 'सेवा-सदन' को प्रेस में देने के लिए प्रेमचद ११ जून १६१८ को कलकत्ता गये।

पुस्तक का प्रकाशन १६१६ के मध्य में किसी महीने हुआ। उसकी पहली समालोचनाओ में पडित पद्मसिंह शर्मा और श्री रामदास गौड की लिखी हुई समालोचना है जो दोनो के हस्ताक्षर से ८ सितबर १६१६ के 'स्वदेश' में निकली।

प्रेमाश्रम (गोशए आफ़ियत) लिखा पहले उर्दू में गया, छपा पहले हिन्दी में। मूल उर्दू पाण्डुलिपि का लेखन-काल २ मई १६१८ से २५ फ़र्वरी १६२० तक है, जो कि पाण्डुलिपि पर ही अकित है। प्रकाशन १६२१ के पूर्वार्द्ध में हुआ। लेखक ने शुरू में इसके दो नाम सोचे थे — 'नाकाम' और 'नेकनाम'।

वरदान 'जलवए ईसार' का हिन्दी रूपान्तर। इसका प्रकाशन उर्दू सस्करण के लगभग नौ बरस बाद १६२१ में ग्रंथ भण्डार, बबई से हुआ। लेखक की ओर से प्रकाशक को दिये गये अधिकार-पत्र पर १८ अक्तूबर १६२० की तिथि अकित है। मई १६२१ में प्रकाशित एक पुस्तक के पीछे उसका विज्ञापन भी मिलता है।

रंगभूमि (चौगाने हस्ती)	लिखा पहले उर्दू में गया, छपा पहले हिन्दी में। मूल उर्दू पाण्डुलिपि का लेखन-काल — १ अक्तूबर १६२२ से १ अप्रैल १६२४ तक जो कि पाण्डुलिपि पर ही अकित है। इसी पाण्डुलिपि पर मुशी जी के अपने अक्षरो में यह भी टँका हुआ है — Hindi finished dated August 12, 1924 पुस्तक के प्रथम सस्करण पर बसत पचमी १६८१ छपा है, लेकिन शिवपूजन सहाय के नाम चिट्ठी से प्रकट है कि पुस्तक शुरू जनवरी १६२५ में ही निकल गयी थी।
कायाकल्प (पर्दए मजाज़)	मूल पाण्डुलिपि हिन्दी में। उसको देखने से पता चलता है कि आरभ में पुस्तक के तीन नाम रखे गये थे — असाध्य साधना, माया स्वप्न, आर्तनाद। इसका लेखन १० अप्रैल १६२४ को शुरू हुआ। यह तिथि पाण्डुलिपि के प्रथम पृष्ठ पर ही अकित है। प्रकाशन १६२६ में हुआ।
अहंकार	अनातोल फ्रास के 'थायस' का भारतीय परिवेश में रूपान्तर। रूपान्तर और प्रकाशन का काम साथ-साथ चलता रहा। 'कायाकल्प' के साथ ही १६२६ में सरस्वती प्रेस से प्रकाशित।
निर्मला	नवबर १६२५ से नवबर १६२६ तक 'चाँद' में क्रमश' प्रकाशित।
प्रतिज्ञा (बेवा)	जनवरी १६२७ से नवबर १६२७ तक 'चाँद' में क्रमश. प्रकाशित। 'प्रेमा' के ही कथानक को लेखक ने फिर से उठाया, पर कथा के विकास में महत्वपूर्ण अतर आ गया।
ग़बन	१६३१ के आरभ में सरस्वती प्रेस से प्रकाशित।
कर्मभूमि (मैदाने अमल)	पाण्डुलिपि के उपलब्ध अश के आधार पर इसका लेखन १६ अप्रैल १६३१ को आरंभ हुआ। प्रकाशन अगस्त १६३२ में हुआ।

गोदान **(गऊदान)**	पत्रो के आधार पर इसका लिखना १६३२ में ही शुरू हो गया था पर ' हस ' और ' जागरण ' की अनेक कठिनाइयो और बाद को साल भर के बबई-प्रवास के कारण इसकी गति बहुत धीमी रही । पुस्तक का प्रकाशन जून १६३६ में हुआ ।
मगलसूत्र	अपूर्ण उपन्यास जो अधिकतर अतिम बीमारी के दिनो में लिखा गया । प्रकाशन लेखक के देहान्त के अनेक वर्ष बाद १६४८ में हुआ ।

परिशिष्ट २

कहानियों का काल-निर्देश

क्रम	नाम कहानी	कहाँ प्रकाशित	कब प्रकाशित
१	अंधेर	जमाना	जुलाई १९१३
२	अग्निसमाधि	विशालभारत	जनवरी १९२८
३	अधिकार-चिन्ता	माधुरी	अगस्त १९२२
४	अनाथ लड़की	जमाना	जून १९१४
५	अपनी करनी	जमाना	अक्तूबर १९१४
६	अभिलाषा	माधुरी	अक्तूबर १९२८
७	अमावस की रात	जमाना	अप्रैल १९१३
८	अमृत	उर्दू प्रेमपचीसी	१९१४ से पूर्व
९	अलग्योझा	माधुरी	अक्तूबर १९२९
१०	आखिरी तोहफा	चंदन	अगस्त १९३१
११	आखिरी मंजिल	जमाना	सितंबर १९११
१२	आखिरी हीला	हंस	अप्रैल १९३१
१३	आगा-पीछा	माधुरी	दिसंबर १९२८
१४	आत्म-संगीत	माधुरी	अगस्त १९२७
१५	आत्माराम	जमाना	जनवरी १९२०
१६	आदर्श विरोध		जुलाई १९२१
१७	आपबीती	माधुरी	जुलाई १९२३
१८	आभूषण	माधुरी	अगस्त १९२३
१९	आल्हा	जमाना	जनवरी १९१२
२०	आहुति	हंस	नवंबर १९३०
२१	इज्जत का खून		अप्रैल १९२०
२२	इस्तीफा	भारतेन्दु	दिसंबर १९२८
२३	ईदगाह	चाँद	अगस्त १९३३
२४	ईश्वरीय न्याय	सरस्वती	जुलाई १९१७

क्रम	नाम कहानी	कहाँ प्रकाशित	कब प्रकाशित
२५	उद्धार	चाँद	सितबर १९२४
२६	उन्माद	माधुरी	जनवरी १९३१
२७	उपदेश	जमाना	मई १९१७
२८	ऐक्ट्रेस	माधुरी	अक्तूबर १९२७
२९	क्षमा	माधुरी	जून १९२४
३०	कजाकी	माधुरी	अप्रैल १९२६
३१	कप्तान साहब	ज़माना	दिसबर १९१७
३२	कफन	जामिया	१९३६
३३	कर्मों का फल	उर्दू प्रेमपचीसी	१९१४ से पूर्व
३४	कवच	विशालभारत	दिसबर १९२९
३५	कानूनी कुमार	माधुरी	अगस्त १९२९
३६	कामना-तरु	माधुरी	अप्रैल १९२७
३७	कायर	विशालभारत	जनवरी १९३३
३८	कुत्सा	जागरण	जुलाई १९३२
३९	कुसुम	चाँद	अक्तूबर १९३२
४०	कैदी	हस	जुलाई १९३३
४१	कौशल	चाँद	अगस्त १९२३
४२	क्रिकेट मैच	जमाना	जुलाई १९३७
४३	खुचड	माधुरी	फर्वरी १९२९
४४	खुदाई फौजदार	चाँद	नवम्बर १९३४
४५	खून सफेद	ज़माना	जुलाई १९१४
४६	गरीब की हाय	जमाना	अक्तूबर १९११
४७	गिला	हस	अप्रैल १९३२
४८	गुल्ली डडा	हस	फर्वरी १९२९
४९	गैरत की कटार	जमाना	जुलाई १९१५
५०	गृहदाह		जून १९२३
५१	गृहनीति	चाँद	अगस्त १९३५
५२	घमड का पुतला	ज़माना	अगस्त १९१६
५३	घरजमाई	माधुरी	नवबर १९२९
५४	घासवाली	माधुरी	दिसबर १९२९
५५	चकमा		नवबर १९२२

क्रम	नाम कहानी	कहाँ प्रकाशित	कब प्रकाशित
५६	चमत्कार	माधुरी	मार्च १९३२
५७	चोरी	माधुरी	सितबर १९२५
५८	जादू	हस	मई १९३४
५९	जीवन का शाप	हस	जून १९३५
६०	जुगनू की चमक	जमाना	अक्तूबर १९१६
६१	जुलूस	हस	मार्च १९३०
६२	जेल	हस	फर्वरी १९३१
६३	ज्योति	चाँद	मई १९३३
६४	ज्वालामुखी	जमाना	मार्च १९१७
६५	झाँकी	जागरण	अगस्त १९३२
६६	ठाकुर का कुआँ	जागरण	अगस्त १९३२
६७	डामुल का कैदी	हस	नवबर १९३२
६८	डिक्री के रुपये	माधुरी	जनवरी १९२५
६९	डिमास्ट्रेशन	प्रेमा	अप्रैल १९३१
७०	ढपोरशख	हस	मार्च १९३१
७१	ताँगेवाले की बड	जमाना	सितबर १९२६
७२	तावान	हस	सितबर १९३१
७३	तिरिया-चरित्तर	जमाना	जनवरी १९१३
७४	तेंतर	चाँद	दिसबर १९२४
७५	त्यागी का प्रेम	मर्यादा	नवबर १९२१
७६	दण्ड	चाँद	अक्तूबर १९२५
७७	दफ्तरी	कहकशाँ	जनवरी १९२०
७८	दारोगा जी	माधुरी	अगस्त १९२८
७९	दिल कीरानी	चाँद	नवबर १९३३
८०	दीक्षा	माधुरी	सितंबर १९२४
८१	दुनिया का सबसे अनमोल रतन	जमाना	१९०७
८२	दुर्गा का मन्दिर	सरस्वती	दिसबर १९१७
८३	दूध का दाम	हंस	जुलाई १९३४
८४	दूसरी शादी	चदन	सितबर १९३१
८५	देवी	चाँद	अप्रैल १९३५
८६	दो कब्रें	माया	जनवरी १९३०

क्रम	नाम कहानी	कहाँ प्रकाशित	कब प्रकाशित
८७	दो बहने	माधुरी	अगस्त १९३६
८८	दो बैलो की कथा	हस	अक्तूबर १९३१
८९	दो भाई	जमाना	जनवरी १९१६
९०	दो सखियाँ	माधुरी	मई १९२८
९१	धर्मसकट	जमाना	मई १९१३
९२	धिक्कार १	माधुरी	फर्वरी १९३०
९३	धिक्कार २	चाँद	फर्वरी १९२५
९४	धोखा	जमाना	नवबर १९१६
९५	नबी का नीति-निर्वाह	सरस्वती	मार्च १९२४
९६	नमक का दारोगा	उर्दू प्रेमपचीसी	१९१४ से पूर्व
९७	नरक का मार्ग	चाँद	मार्च १९२५
९८	नशा	चाँद	फर्वरी १९३४
९९	नसीहतो का दफ्तर	जमाना	जून १९१२
१००	निमत्रण	सरस्वती	नवबर १९२६
१०१	निर्वासिन	चाँद	जून १९२४
१०२	नेउर	हस	जनवरी १९३३
१०३	नेकी	उर्दू प्रेमपचीसी	१९१४ से पूर्व
१०४	नैराश्य	चाँद	जुलाई १९२४
१०५	नैराश्य-लीला	चाँद	अप्रैल १९२३
१०६	न्याय	माधुरी	मार्च १९२९
१०७	पच परमेश्वर	सरस्वती	जून १९१६
१०८	पडित मोटेराम की डायरी	जागरण	जुलाई १९३४
१०९	पछतावा	जमाना	नवबर १९१४
११०	पत्नी से पति	माधुरी	अप्रैल १९३०
१११	पर्वत-यात्रा	माधुरी	अप्रैल १९२९
११२	परीक्षा	चाँद	जनवरी १९२३
११३	पशु से मनुष्य	—	फर्वरी १९२०
११४	पाप का अग्निकुण्ड	जमाना	मार्च १९१०
११५	पिसनहारी का कुआँ	माधुरी	जून १९२८
११६	पुत्र प्रेम	सरस्वती	जून १९२०
११७	पूर्व-सस्कार	माधुरी	दिसंबर १९२२

क्रम	नाम कहानी	कहाँ प्रकाशित	कब प्रकाशित
११८	पूस की रात	माधुरी	मई १९३०
११९	पैंपुजी	माधुरी	अक्तूबर १९३५
१२०	प्रायश्चित्त	सरस्वती	जनवरी १९२९
१२१	प्रारब्ध	—	अक्तूबर १९२१
१२२	प्रेम का उदय .	हस	जून १९३१
१२३	प्रेमसूत्र	सरस्वती	अप्रैल १९२६
१२४	प्रेरणा	विशालभारत	मई १९३१
१२५	फतेह	जमाना	अप्रैल १९१८
१२६	फातिहा	विशालभारत	मार्च १९२९
१२७	बडे घर की बेटी	जमाना	दिसबर १९१०
१२८	बडें बाबू	बहारिस्तान	फर्वरी १९२७
१२९	बडे भाई साहब	हस	नवबर १९३४
१३०	बलिदान	सरस्वती	मई १९१८
१३१	बहिष्कार	चाँद	दिसबर १९२६
१३२	बाँका जमीन्दार	जमाना	अक्तूबर १९१३
१३३	बालक	हंस	अप्रैल १९३३
१३४	बासी भात में खुदा का साझा	हंस	अक्तूबर १९३४
१३५	बूढी काकी	—	१९२१
१३६	बेटोवाली विधवा	चाँद	नवंबर १९३२
१३७	बेटी का धन	जमाना	नवबर १९१५
१३८	बोहनी	भारत	१९२८
१३९	बौडम		अप्रैल १९२३
१४०	ब्रह्मा का स्वाँग	—	मई १९२०
१४१	भाडे का टट्टू	माधुरी	जुलाई १९२५
१४२	भूत	माधुरी	अगस्त १९२४
१४३	मन्दिर	चाँद	मई १९२७
१४४	मदिर और मसजिद	माधुरी	अप्रैल १९२५
१४५	मनुष्य का परम धर्म	स्वदेश	मार्च १९२०
१४६	मनोवृत्ति	हस	मार्च १९३४
१४७	मत्र : १	माधुरी	फर्वरी १९२६
१४८	मत्र . २	विशालभारत	मार्च १९२८

क्रम	नाम कहानी	कहाँ प्रकाशित	कब प्रकाशित
१४९	ममता	जमाना	फर्वरी १९१२
१५०	मर्यादा की वेदी	जमाना	जनवरी १९१७
१५१	महातीर्थ	जमाना	सितम्बर १९१७
१५२	माँ	माधुरी	जुलाई १९२९
१५३	माँगे की घडी	माधुरी	जुलाई १९२७
१५४	माता का हृदय	चाँद	जुलाई १९२५
१५५	मिलाप	जमाना	जून १९१३
१५६	मुक्तिधन	माधुरी	मई १९२४
१५७	मुक्तिमार्ग	माधुरी	अप्रैल १९२४
१५८	मुफ्त का यश	हस	अगस्त १९३४
१५९	मूठ	मर्यादा	जनवरी १९२२
१६०	मैकू	हस	जून १९३०
१६१	मोटेराम शास्त्री	माधुरी	जनवरी १९२८
१६२	मृत्यु के पीछे	सुबहे उम्मीद	सितबर १९२०
१६३	रसिक सम्पादक	जागरण	मार्च १९३३
१६४	रहस्य	हस	सितबर १९३६
१६५	राजा हरदौल	जमाना	अप्रैल १९११
१६६	राज्य भक्त	माधुरी	फर्वरी १९२३
१६७	राजहठ	जमाना	सितबर १९१२
१६८	रानी सारधा	जमाना	सितबर १९१०
१६९	रामलीला	माधुरी	अक्तूबर १९२६
१७०	रियासत का दीवान	हस	मई १९३४
१७१	लाछन १	माधुरी	अगस्त १९२६
१७२	लाछन : २	माधुरी	फर्वरी १९३१
१७३	लाग-डाट	—	जुलाई १९२१
१७४	लाटरी	हस	अक्तूबर १९३५
१७५	लाल फीता	जमाना	जुलाई १९२१
१७६	लेखक	हस	नवबर १९३१
१७७	लैला	सरस्वती	जनवरी १९२६
१७८	वज्रपात	माधुरी	मार्च १९२४
१७९	वफा का खजर	जमाना	नवबर १९१८

क्रम	नाम कहानी	कहाँ प्रकाशित	कब प्रकाशित
१८०	विक्रमादित्य का तेगा	जमाना	जनवरी १६११
१८१	विचित्र होली	स्वदेश	मार्च १६२१
१८२	विद्रोही	माधुरी	नवबर १६२८
१८३	विनोद	माधुरी	नवबर १६२४
१८४	विमाता	—	अप्रैल १६२१
१८५	विश्वास	चाँद	अप्रैल १६२५
१८६	विषम समस्या	जमाना	मार्च १६२१
१८७	विस्मृति	जमाना	फर्वरी १६१५
१८८	वेश्या	चाँद	फर्वरी १६३३
१८६	शतरज के खिलाडी	माधुरी	अक्तूबर १६२४
१६०	शराब की दूकान	हस	मई १६३०
१६१	शादी की वजह	जमाना	मार्च १६२७
१६२	शान्ति १	प्रेमबत्तीसी	१६२१ से पूर्व
१६३	शान्ति २	भारती	फर्वरी १६३४
१६४	शाप (सैरे दरवेश)	हस	अगस्त १६३१
१६५	शिकार	जमाना	जून १६१०
१६६	शिकारी राजकुमार	जमाना	अगस्त १६१४
१६७	शेख़ मखमूर	सोजे वतन	१६०६ से पूर्व
१६८	शूद्रा	चाँद	जनवरी १६२६
१६६	शोक का पुरस्कार	सोजे वतन	१६०६ से पूर्व
२००	सज्जनता का दण्ड	सरस्वती	मार्च १६१६
२०१	सती	माधुरी	मार्च १६२७
२०२	सत्याग्रह	माधुरी	दिसबर १६२३
२०३	सद्गति	मानसरोवर	अक्तूबर १६३१
२०४	सभ्यता का रहस्य	माधुरी	मार्च १६२५
२०५	समर यात्रा	हस	अप्रैल १६३०
२०६	सवा सेर गेहूँ	चाँद	नवबर १६२४
२०७	सासारिक प्रेम और देशप्रेम	जमाना	अप्रैल १६०८
२०८	सिर्फ एक आवाज	ज़माना	सितबर १६१३
२०६	सुजान भगत	माधुरी	मई १६२७
२१०	सुभागी	माधुरी	मार्च १६३०

क्रम	नाम कहानी	कहाँ प्रकाशित	कब प्रकाशित
२११	सुहाग का शव	माधुरी	जुलाई १९२८
२१२	सेवामार्ग	स्वदेश	फर्वरी १९१९
२१३	सैलानी बदर	माधुरी	फर्वरी १९२४
२१४	सौत १	सरस्वती	दिसबर १९१५
२१५	सौत २	विशालभारत	दिसबर १९३१
२१६	सौभाग्य के कोडे	—	जून १९२४
२१७	स्मृति का पुजारी	हस	अप्रैल १९३५
२१८	स्वत्व-रक्षा	माधुरी	जुलाई १९२२
२१९	स्वर्ग की देवी	—	सितबर १९२५
२२०	स्वामिनी	विशालभारत	सितबर १९३१
२२१	हजरत अली	प्रभा	जुलाई १९२३
२२२	हार की जीत	मर्यादा	मई १९२२
२२३	हिंसा परमोधर्म	माधुरी	दिसबर १९२६
२२४	होली का उपहार	माधुरी	अप्रैल १९३१

अनुक्रमणिका

'अंगारे' ५७४
अचल ४६१
अकबर इलाहाबादी १११, ४५७
'अकसीरे सुखन' १४२
अकाली ३२५
अछूत आन्दोलन ४७६-४७६
अजता सिनेटोन ५४१, ५४७, ५५६
अजीज लखनवी ५६
अज्ञेय ४६१
'अत्तहकीक' २४१
'अदीब' १००
'अनारकली' १७४
अन्नपूर्णानन्द ३६७, ४६१
अब्दुल्ला १८२
अब्दुस्सत्तार, मौलवी १३७
अमिया ४०२
अरविंद ८७
'अर्जुन' ५९४
अर्विन, लार्ड २६९, ४२०, ४३८, ४४०, ४४२
अली, अमीर २६८
अली, अहमद ५७४, ५८३
अली, इब्ने ४०
अलीपुर षड्यन्त्र केस ८६
अलीम, डाक्टर ५६४
अली, मौलाना शौकत १८४, २५६, २६०, २६४
'अवध अखबार' १२४, २२१
अवध उपाध्याय ३२१, ३६०-६२, ३६६-६७, ३९६
अवस्थी, सद्गुरुशरण ४६०
अशरफ, डाक्टर ५६४
अश्क, उपेन्द्रनाथ ४६२
असगर २६८
असहयोग आन्दोलन २१५-२१८, २३२, २४०-२४१, २४४-४८
असहयोग (पुस्तक) माला २४४
अस्करी, मिर्जा मुहम्मद ३८६
अहमद, बशीर ५९०
अहमद, नजीर १८३
आँरी बारबुस ४८५
आइन्स्टाइन ४८४
'आईना' २६८
आकिल, मुहम्मद ५६३, ५६४, ५९२
'आँख की किरकिरी' ३६१
'आजाद' १०८, ११७, १२४, १२८-३०, १४५, ३४९
आतिश ५६
'आनदमठ' ७७
आनद, मुल्कराज ५७२
आर्यभाषा सम्मेलन, ५८६
आर्य महिला विद्यालय, ४०८
आर्य समाज ४४, ४७, ८९, १४४, २५९, २८८, ५८६-८७
आलिवर लाज ३५३
'आवाजए खल्क' ५०, ५३
आस्कर वाइल्ड ४६१
इकबाल १६९, १८८, ५७८ ५८४, ५८९
इण्डियन एसोसिएशन ७७
इडियन प्रेस ५८, १००, १०९
'इडियन रिव्यू' ११७
'इटर्नल सिटी' ३६०, ३६६
इबरत, गोरखप्रसाद १६५
इस्माइल, मिर्ज़ा ५५५
'इस्लाम का विषवृक्ष' ४९४, ४९५
इसहाक खाँ, मुहम्मद १३६
उग्र ३९, ४६०

'उर्दू' ५६२
'उर्दूए मुअल्ला' ६६
'ऋतु सहार' १४२
एकता सम्मेलन २६४
एज आफ कन्सेएट बिल ७६
'एशिया' ५४२
ऐडिसन ३७७
ऐएड्रयूज ३६१, ४६६
'ऐना करेनिना' १६५
ऐयर, नटेश ५११
ओटावा सम्मेलन ४८६
ओ'डायर, माइकेल १६३
ओलकाट, कर्नल १६६
औरगजेब ८२, २६६, ५५१
'ककाल' ४५८, ४७३
कपूर, कालिदास ५६३
कबीरदास २४४
कमला (प्रेमचद की बेटी) १२०, २२५, २८७, ३८८, ४०८-११, ४१४, ४१५, ४६२, ५४०
कर्जन ८३, ८५
कश्यप, जमुनास्वरूप ५४८
'कहकशाँ' १७३, १७५
क्वीस कालेज ३४, ४१, ४७२, ५६४
'कृष्णकुँवर' ५६
'कृष्णबीती' २६८
'कामरेड' १०६, १४५
'कारवाँ' ४६१
कालिदास १४२-४३
कालेलकर, काका ५६२, ५६०, ५६१
काशीनाथ २४७, २७०
'काइजो' ३६३
किंग्सफर्ड ८६
किचलू, डा० २०४, २६१
किबे, श्रीमती कमलाबाई ५६०
कुप्रिन ४८७, ४८६
कुमार, जैनेन्द्र २८६, २६७, ३४३-४५, ४२३, ४२६, ४२७, ४३७, ४४०, ४४३, ४४४, ४४६, ४४७, ४४८, ४४६, ४५०, ४७३, ४८१, ४८८, ४८६, ४६३, ५०८, ५०६, ५१०, ५११, ५२०, ५२१, ५२३, ५२४, ५३६, ५४४, ५४७, ५४८, ५५६, ५६२, ५६३, ५७१, ५७६, ५६१, ५६४, ६०५, ६०७, ६१४
कुमार, वीरेन्द्र ४६१
कुरैशी, मुनीर हैदर २६७
केन, विलियम ८२
केम्प्स्टर ५३
केशरी किशोर ३३६, ४५१, ४५२,
केशव १४२
'केसरी' ८७
कौशिक, विश्वभरनाथ ४६१
खाँ, अजमल ५६२
खापर्डे १५५
खुसरो, अमीर ५५१, ५८८
गफ्फार खाँ, अब्दुल ४५४
गहमरी जी ४७२
गाधी-अर्विन पैक्ट ४४२
गाधी, कस्तूरबा ५६०
गाधी जी ८१, ८२, ८४, ८६, १५४, १५५, १८५, १६२, १६३, १६६, २०४-२०८, २०६, २१२-२१७, २३२, २३६, २४४, २४७, २५१, २५६, २६१, २६४, २६६, २८१, २६६, ३०७, ३११, ३१८, ३२०, ३२५, ४२०, ४२१, ४२७-४३१, ४३४, ४३६, ४४०-४४३, ४५४,

४६४, ४७६-७८, ४९६, ५१५, ५२५, ५६२, ५६३, ५६९, ५९०-९३
गाल्सवर्दी ४१६, ४६८
गालिब ५६, १६९
गार्थ, सर रिचर्ड ८२
गिरजाकिशोर ५४
'गीतिका' ६११-१२
गुप्त, बालमुकुन्द १४४
गुप्त, मन्मथनाथ २५१
गुप्त, शिवप्रसाद २७१, २७३, ३६१
गुप्त, सियारामशरण ४६१
गुप्त, हीरालाल ४१२
गुरसहाय ५, ६, ७
गुलाम रब्बानी ५९२
गैरीबाल्डी ९३
गोखले ४८, ७८, ७९, ८१, ८२, ८३, ८४, ८९, ९०, ९१, ९२, १५२
गोयनका, रामनाथ ५४९
गोरी, हशमउद्दीन ५४६, ५५६, ५५७
गोर्की १९१, ४८७, ५२८, ५९६
गोलमेज़ कान्फ्रेंस ४३७, ४४०, ४५३, ४५५, ४७६, ४८२, ४८३
गोविन्ददास, सेठ ६०२
गौड, कृष्णदेवप्रसाद ४९५
गौड, रामदास १८२, ३३२, ३९२
ग्लैडस्टन ९०
घोष, चिन्तामणि १००
घोष, बारीन ८६
घोष, रास बिहारी ८५, १५५
चकबस्त ९६, २१९, ३३२
चक्रवर्ती, श्यामसुन्दर ८६
चटर्जी, अशोक ३९१
चट्टोपाध्याय, रामानंद ३९१, ६०८
चतुर्वेदी, बनारसीदास ३३३, ३४१, ३४४, ३९१, ३९३, ४३३, ४३४, ४६०, ४७३, ४७९, ४८७, ४९५, ४९६, ५०२, ५०८, ५१०, ५१२, ५४७, ५७०, ५७१, ५७२ ५८१, ५९८
चतुर्वेदी, माखनलाल ५६१, ५९१
चद्रगुप्त ४४९, ४६१
चन्द्रहासन १
चाकी, प्रफुल्ल ८६
चापेकर बन्धु ८२
चिन्तामणि, सी० वाई० १८४, १९०
चित्तरजनदास २०५, २१७, ३०७, ३०८, ३२५, ३२६
चिपलूणकर, विष्णुशास्त्री ८०
चेम्सफर्ड १८४, १८६
चेखोव १९१, ३९३
चौरीचौरा २५१, २५५, २९८
जकाउल्ला, मौलवी ५९
जतीनदास ४२०
जलियाँवाला बाग १९३, १९८, २०३, २०४, २१५, २२०
जमाना ५३, ५६, ५९, ६५, ८९, ९३, ९९, १०५, १०९, १२१, १२४, १२६, १२८, १३२, १३४, १६३, १७४, १७९, १९०, २१८, २५१, २५९, २६५, २६७, ३६४, ३९३, ४४५, ५८६
जमीन्दार सम्मेलन ५१७
जहाँगीर ५५१
सज्जाद जहीर ५७२, ५७४, ५७५, ५७७, ५८१, ५८२, ५८३, ५८६
जार्ज पचम १५२
'जॉन क्रिस्टोफर' ५२९

'जापान टाइम्स' ४२१
जाफर अली खाँ ५७
'जामिया' ५८६
जिन्ना, मुहम्मद अली १५५
जीजीभाई, सर ५४१
जैन, ऋषभचरण ४४७, ४४८, ४४६,
४५६, ४६५, ५४४
जोश मलीहाबादी ५७५, ५८३
जोशी, इलाचद्र ४६६
जोशी, हेमचद्र ५१२
जौहरी, चद्रभाल ४८५, ५२४
ज्ञानमण्डल २३१, २४३, २७१, २७३,
२७४, २८६
झा, अमरनाथ ३३२, ५८१
झा, गगानाथ ५७३
टडन, रामचद्र ३३३, ३३४, ३५८,
३६३, ५१२-५१४
टडन, हरिहरनाथ ५७६
टाल्सटाय ८४, १५६, १५८, १६५,
१६१, २०४, २०६, २१७, २४७,
३११, ३६०, ३६३, ३६२, ३६३,
४६३, ४८७
टीकाराम, लाला ५
टेकचद, बख्शी ५६०
ठाकुर, रवीन्द्रनाथ ५६, १७५, ३४३-
४५, ३६१, ३६२, ३६५, ४२७,
४६३, ४६८, ५७१, ५७२, ६०८,
६१५
ठाकुर, प० आद्यादत्त ३७५
डफरिन, लार्ड ७६
डाँडी यात्रा ४२८, ४३०, ४४१, ४७८
डिकेन्स ६७, ३८०
डेविड लो ६०८
'तलिस्मे होशरुबा' १४७
'ताज', इम्तयाज अली ५६, ५८, ६१,
१६१, १७३, १७४, १८३, १६४,
२२१, २२२, २२६, २३१, २५०,
२७५, २८५, २६६, ४४६, ५६०
तिलक, बाल गगाधर ७६-८५, ८७-
८६, ६१, ६३, ६५, ११५, १४४,
१५१-१५६, १८५, १८६, २१६,
४१२, ४१३
तुर्गनेव १६१, ४८७
तुलसीदास, गोसाइँ ३१२, ३६७, ४६४,
५०७
त्रिपाठी, रामनरेश ५१३, ५१४, ६०६
'थायस' ३३४
थैकरे ३२१, ३६०
थोरो ८४
दत्त, अश्विनी कुमार ८६
दत्त, बटुकेश्वर ४२०
दत्त, रमेश चद्र ८२, ८६
दत्त, भूपेन्द्रनाथ ८७
दाग १११
दारुल इशाअत १७३, १७४, २३१
'दि ऐस्पेक्ट्स ऑफ अ नावेल' ४६३
दीनदयाल वाणीभूषण ४१२
देव, शकर राव ५६१
'देवताओ के गुलाम' ४६६
देवी, शिवरानी १०४, १०८-११, १३०,
१३६, १४०, १६६, २२२-२२५,
२२७, २३२, २३३, २५०, ३४१,
३५६, ३८५, ३८८-३६०, ४०२,
४०३, ४०६, ४१०, ४१४, ४१५,
४३६, ४३७, ४४०, ४६२, ४६३,
५३८, ५३६, ५४६, ५५६, ५७३,
५७६, ५६५-६७, ६००, ६०१, ६०४,
६०५, ६०६, ६१०, ६११, ६१२,

६१४-१५
देवी प्रसाद, मुशी ७०, ७१, ७४
'देश' ११६
द्विज, जनार्दन झा ४६१, ४८६
द्विवेदी, दशरथ प्रसाद २०६, २२४, २४१, २४३, २४४
द्विवेदी, मन्नन ११७, १४३
द्विवेदी, हजारी प्रसाद ३४५, ५७१
धीरेन्द्र वर्मा ५७७
'नजर', नौबतराय, ६४, ७०, ६६, १२७, १६६, ३८८
नमक आन्दोलन ४३०-३१
नरेन्द्र देव ५११
नवल किशोर प्रेस ५८, ३२६, ३८५, ३८६, ३६१, ४४४, ४४५
नवीन, बालकृष्ण शर्मा २६४
नसीम, दयाशकर ३३२
नागर, जनार्दन राय ५५२
नागर, नरोत्तम ५६५-६६
नार्मल स्कूल, गोरखपुर १४६-५०
नाशाद, ताराशकर १
निगम, दयानरायन ४७, ५३, ५६, ५८, ५६, ६५, ६६, ६८, ७५, ६२, १०६, १०७, १०६, ११३, ११५,-१७, ११६-२५ १२७-३६, १४२ -४५, १४६, १५५, १६६, १७०-७२, १८१, १८२, १८६-८८, १६०, २०४, २०८, २१८,-२०, २२२, २२७, २३०-३२, २३४, २४७, २४८, २५६, २६०, २६४, २६५, २६७, २७१, २७३, २७४, २८३, २८४, २८६-६३, ३०४, ३०५, ३०८, ३२६, ३३०, ३४३, ३४८, ३५७, ३८८, ४१५, ४२८, ४३१, ४३५, ४४२, ४४६, ४५४, ४६८, ४६६, ५०८, ५०६, ५३७, ५७, ५६१, ५७५, ५८६, ६१०
निजाम सरकार ४६८
निजामी, ख्वाजा हसन २६८
निर्मल, ज्योतिप्रसाद मिश्र ५००, ५०२
निराला, सूर्यकात त्रिपाठी ४६१, ६१०-१४
नेहरू, उमा ४४६
नेहरू, जवाहरलाल २१४, २५१, २५५, २५६, ३२४-२६, ३८२, ४२०, ४३८, ४४०, ४५४, ५५५ ५८१, ५६०-६१ ६०८, ६११
नेहरू, मोतीलाल २१७, २४४, ३०७, ३०८, ३२५, ३२६, ४४०
नेहरू, स्वरूपरानी ४३६, ४५४
नोगूची, योने ३४४, ५७१, ५६८
'नौबहार' ३४६
नौरोजी, दादाभाई, ७८, ८२, ८४
पटेल, विट्ठल भाई ३२५
पटेल, सरदार वल्लभभाई, ४५४, ५६०
पन्नालाल, आई० सी० एस० ५३०
पत, गोविन्दवल्लभ ३८४
पत, सुमित्रानदन ५७४
पद्मनारायण ६१३
'परख' ४५८-५६
पराशर ५४६
पाठक, वाचस्पति ६११, ६१३
पाण्डेय, रूपनारायण ३७५
पाल, बिपिन चद्र १८५
पालीवाल, श्रीकृष्ण दत्त ३६६, ५१२
'पिकविक पेपर्स' ३७७, ६०३
पोद्दार, महावीर प्रसाद १५०, १६४,

१७१, २२० २२४
प्रगतिशील लेखक सघ ५७२-७५,
५८१-८३
'प्रताप' ११७, १४३, १४४, २६४,
प्रभुदयाल ४०६, ४१०
'प्रसाद', जयशकर ४५८, ४६१,
४७२, ४७३, ५२४
प्रसाद, मुशी भवानी ४११-१३
प्रसाद, भुवनेश्वर ४६१, ४६३
प्रसाद, राजेन्द्र २४४,
प्रसाद, वासुदेव (प्रेमचद के दामाद)
२८७, ४०९, ४११
प्रेमचद (धनपत राय, नवाब राय)
वश-बेल ५-११, जन्म ११,
बचपन १२-३२, शिक्षा १५, १६,
३१, ३२, ३४-३६, ४६, ५३,
१३५, १४२, १४७, १६४, २०८,
२२०, २२६, पहली रचना २६-
२९, पहली शादी ३२-३४, ६४,
६६, ६७, ६९, पहली नौकरी ३७;
सरकारी नौकरी ४१, ५३, ६५,
१००, १०१, १२३, १४६, १४७,
१८६, २१८, २३२, २३३, पहला
उपन्यास ५०, ५१, ५२, ६०,
३८०, दूसरी शादी ७०, ७५, पहली
गल्प ५९, ९१, १००, सरकार का
कोप १००, १०४-१०६, १४४,
प्रेमचन्द नाम-ग्रहण १०६, १०७,
नये नाम से पहली कहानी १०७,
१६३-१६४, ५५३, उर्दू से हिन्दी
में १४२-१४४, १५०, सरकारी
नौकरी से इस्तीफा ३२, ३३, ३४,
२४८, मारवाडी स्कूल कानपुर २१९
२४७, २७०, २९९, मर्यादा २७१,
२७३, २९९, काशी विद्यापीठ
२५१, २७३, २८९, २९९, ३०८,
३५१, सरस्वती प्रेस २७४, २८२,
२८३, २८८-२९८, ३०४, ३२९,
३३१, ३८६, ४३५, ४६९, ४७०,
४७१, ४७२; गगा पुस्तक माला
लखनऊ ३३१, ३६१, ३७५, माधुरी
२६५, ३३२, ३३३, ३६८, ३७५,
३७६, ३७७, ३८५, ३८६, ३९५,
३९७, ४०९, ४२३, ४२४, ४४५,
४५८, ४७३, हस ४२८, ४३५,
४५५, ४५८, ४५९, ४६३, ४७०
४७३, ४८०, ४८६, ४९५,
४९६, ४९९, ५०८-१०, ५१३,
५२४, ५३०, ५४२, ५४४, ५५६,
५६०, ५६२-६४, ५८०, ५९४,
६०२, ६१३, जागरण ४७४,
४७५, ४८०, ४९४, ४९५, ५०१,
५०८-१०, ५११, ५२१, ५२४,
५३७, ५४२-४३, फिल्मी दुनिया
५२४, ५३७-४२, ५४३-४८,
५५६-५८, बीमारी ५९५-९७,
६००, ६१५, मृत्यु ६१५
अगर तुम क्षत्रिय हो ४३८,
४३९ अधिकार चिन्ता १८४-
१८६ अहकार ३५८ आज़ाद
कथा ३३४ आदर्श विरोध २२५
आप बीती ४०४ आभूषण
३६३-३६५, ३६८ आल्हा ११५
इश्के दुनिया और हुब्बे वतन ९३
ईदगाह ५२९ उपदेश १५७ एक ही
आवाज़ १८६ ऐक्ट्रेस ३९२ कज़ाकी
१३-१४ कफन ५८६ कर्बला २६५-
२६९, ३०९, ३१८-३२०, ३३१,

३३२, ३३३ कर्मभूमि ४३०, ४५६, ४८७, ४८८, ५७२ कह्-तुर्रिजाल २६०-२६५, २६७ कायाकल्प ३३१, ३३४, ३३७, ३३८, ३४२, ३४६, ३५०, ३५३-३५६, ३६० ३६३, ३६६, ४८० किशना ५६, ६६, १०० खून सफेद ४७ गबन ३८६, ४१६-४२० गुरुमत्र ३७८ गोदान ५४०, ५४७ ५६३, ५६४, ६११ चकमा २८१ जलवए ईसार (वरदान) ११३-११५, १४२, १४४, १५६, ३७८ जीवन का शाप ५६८-६६ जीवन में घृणा का स्थान ४६६ जुलूस ४३० टालस्टाय की कहानियाँ १५० डडाशास्त्र ४३४, ४३५ ढपोर-शख ४०३ तारा ३६२ त्यागी का प्रेम २७१ दफ्तरी १६१ दमन की सीमा ४५५ दु:साहस २८१ दूध का दाम ५२६, ५३३ दौरे कदीम दौरे जदीद (पुराना जमाना नया जमाना) १७६, २१४ नबी का नीति निर्वाह २६५ नया विवाह ५२६, ५३५ निमत्रण ३७८ निर्मला ३६६-७३, ३७८, ३८६ पच परमेश्वर १४१, १५७, २१७, २४४ पत्नी से पति ४३० पशु से मनुष्य २०८ पूस की रात २२३, ४६६ प्रतिज्ञा ३७३, ३८६ प्रेमा (हम खुर्मा व हमसवाब) ५८, ५६, ६१, ६२, १८२, प्रेमाश्रम (गोशए आफियत) १६२ २००-२०२, २०८, २१५, २१७, २२४, २७४, ३०४, ३०५, ३०८, ३१५, ३३१, ३५६, ३६०, ३६३, ३६४, ३६५, ३६७ बलिदान १६६, बाद अज मर्ग (मृत्यु के पीछे) २१६, २८२, बालक ५२६, ५३४ बासी भात में खुदा का साझा ५२७ बोध २१६ २८२ बौडम २६५, २८१ भूत ३७३ मगलसूत्र ५६७-६०० मत्र ३६३, ४०७, ४५१ मन्दिर ५३३ मन्दिर ओर मस्जिद ३३६, मनुष्य का परम धर्म २१५, २१६, ३७८ मनोवृत्ति ५२६ मर्यादा की वेदी ३६२ महाजनी सभ्यता ६००, ६०७ महातीर्थ १५७ महान तप ४७६ मानसिक पराधीनता ४४१ मुक्तिधन ३४० मुक्तिमार्ग ३६३ मैंकू ४३० मोटे राम शास्त्री ३७५-३७८ रगभूमि (चौगाने हस्ती) २५८, २६५, २८५ ३०५, ३०६, ३०७, ३०६-३२१, ३२४, ३३१, ३३२, ३४५, ३५४, ३५५, ३५६, ३५६-३६२, ३६४, ३६५, ३६६, ४२३, ४८०, ५७२ राजा हरदौल ११५ रानी सारधा ११५ राष्ट्रीयता और अन्तरराष्ट्रीयता ५०६ राहु के शिकार ५०३ रूठी रानी ५६, ६६ रोमें रोलाँ की कला ५२६ लाग डाँट २४४ लाटरी १४१ लाल फीता २४४ वर्तमान आदोलन के रास्ते में रुकावटें २५०-२५४ विक्रमादित्य का तेगा ३४२ विचित्र होली २३७-२३६ विद्रोही ३६८ विध्वस २७७, २७८ विश्वास ३६६ विस्मृति (मरहम) १२५, १४१ शखनाद १५७ शतरज के

खिलाडी ३३५-३७ शरर और सरशार ३८० शराब की दूकान ४३० शाति ४०६ शेख मखमूर ६१ शेखसादी १५० सग्राम २५२, २७७, २९९-३०३, ३०८ सत्याग्रह ३७८ सद्‌गति ४९७, ५०० सभ्यता का रहस्य ३३४, ३३५ समरयात्रा ४३० सयुक्त प्रात में आरम्भिक शिक्षा १०१ सवा सेर गेहूँ ३३४ स्वत्व-रक्षा २७७, २७८ स्वराज्य के फायदे २४४-२४६, ३०६ साम्प्रदायिकता और सस्कृति ५०८ साहित्यिक गुडापन ४६५, सिनेमा और साहित्य ५६५-६७ सेवामार्ग १५७ सेवासदन (बाजारे हुस्न) १७०-१७३, १८२, २५८, ३३१, ४५७, ४८६, ५११, ५६९ सोजे वतन १००, १०५-१०६, १४४ हजरत अली २६५ हल्दी की गाँठ-वाला पसारी ५६८ हँसी ३६४ हार की जीत २७६ हिन्दू समाज के वीभत्स दृश्य ५१८-५१९ हिंसा परमोधर्म ३३८ होली की छुट्टी १८०
प्रेमी, नाथूराम ५४६, ५५२
प्रेमी, हरिकृष्ण ४६१, ५४५
फडके जी २७०
फसानए आजाद ३३४
फ्रास, अनातोल ३३४, ४००
फ्रास की राज्यक्राति २०७
फ्रायड ४८९
'फिरदौस' १००
फिराक गोरखपुरी ५५, १६३-१६६, १६९, २७३, २९०, २९३, २९६, ३५३, ५७४, ५८३
फोर्ट विलियम ५८८
बकिम ७७, १५१
बग-भग आन्दोलन ४१२
बबई टाकीज़ ५४७
बजाज, जमना लाल ५९०
बर्नी, जियाउद्दीन ५४०, ५४७
बर्मन, शिवव्रत लाल १२५
बलदेव लाल ७, २७२, २७३, २९३, ४१४
बली, राय उमानाथ ४६९
बसु, आनन्दमोहन ७७
बसु, नदलाल ६०८
बसु, शचीन्द्र प्रसाद ८६
बिहार प्रान्तीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन ५७७
बिहारी १४२
बिन्देसरी ९
बुअर युद्ध १८६
बुग्गन जान २४२
बेकन ४१
बेचनलाल १४६-४७, १६१, १६७, १६९
बेढब जी ४७२
बेदार साहब ३८८
बेसेएट, ऐनी १५३-५५, १८४-८५, १९३, ३२५, ३६७
बैनर्जी, सुरेन्द्रनाथ ७७, १५३, १५५
बोस, अजित कुमार ४०२
बोस, खुदीराम ८६, ९२, ९३
बोल्शेविज्म १९०, २७५, ३०२, ४३४, ४८६
ब्रजरत्नदास ३६५

ब्रह्म समाज ५८७
ब्रैडले ४१६
ब्लैक होल १५६
भगत सिह ३८३, ४२०, ४४२-४३
भगवानदीन ४४६
भगवानदास २७४, ४६४
भट्ट, बद्रीनाथ ३७५, ५२६
भट्ट हरिनदन ३८७, ४०६, ४१४
भवनानी, मोहन ५३७, ५४०-४२
भार्गव, दुलारे लाल २६६, ३३१, ३६०, ३६६
भार्गव, बिशुन नरायन ३२६, ३७४, ४४४-४५
'भारत' ४६३, ४६६, ५०१, ५४२, ६१०
भारतीय साहित्य परिषद् ५८२, ५६०-६१
भारतेन्दु हरिश्चंद्र १४२, ६०४
भीखन लाल १३६, १३६, १४६
म्योर कालेज, इलाहाबाद १६४
'मदर इडिया' ४६६
मदान, इन्द्रनाथ ५६, २८६, ३४६, ३८४, ५४७
मदाम ब्लवात्स्की १६६, ३५३
ममफोर्ड ४८१
मलकाना शुद्धि २५६
मल्लिक, राजा सुबोध ८६
महमूद (महमूदुज्जफर) ५८२
महराज सिंह, लाला ५
महाबीर लाल ६-८
महायुद्ध, प्रथम २०६-०७, २४७, ४१६
महालक्ष्मी सिनेटोन ५११
महिला विद्यापीठ, इलाहाबाद ५२२
महेश प्रसाद, मौलवी ४७
'मॉडर्न रिव्यू' ११७, ३६१
मॉण्टेग्यू-चेम्सफर्ड रिफॉर्म्स ६२, १८४, १८६, १८८-८६, २०५, २७६
मालवीय, मदनमोहन ७८, ५५५
मिण्टो-मॉर्ले रिफॉर्म्स ८७, १४४-४५
मित्र, कृष्ण कुमार ८६
मित्रा, उषादेवी ४६१, ४६३
'मिल' या 'मजदूर' ५४०-४२, ५४७, ५५६
मिलिन्द ४६१
मिश्र, कृष्ण बिहारी ३७६
मिश्र, गगा प्रसाद ६०३, ६०४
मिश्र, ज्वाला प्रसाद ४१२
मिश्र, प्रताप नारायण ४६१
मिश्र, राजनारायण १०५
मिश्र, लक्ष्मीनारायण ४६१
मुखोपाध्याय, कृष्ण कुमार ३६७-४०४
मुशी, कन्हैयालाल माणिकलाल ५६२, ५८१, ५६०-६१
मुसलिम लीग १५४-५५
मुहम्मद (दफ्तरी) १६१
मुहम्मद अली, मौलाना १४५, १८४, २५४, २६१
मुहम्मद इकराम २३६
'मेघदूत' १४२
मेडिकल हॉल बनारस ५८,६६
मेरठ षड्यत्र केस ४१६, ४१६-२०
मेहता, फीरोजशाह ८५, ६२, १५२, १५४
मैकडोनल्ड, रैम्जे ४८६
मैकाले ८०
मैकेन्जी १६७
मैक्समूलर ८२

मैजिनी ९३, ९४
मैसूर विश्व विद्यालय ५५४
मोपला २५४-५५
मोहानी, हसरत २१४, ५५१
'यग इडिया' ८४
याज्ञिक, नवीन ५४६
यामा (कुप्रिन) ४८७-८९
युङ्ग क्रिश्चियन कालेज ५७७
युनिवर्सिटी, उस्मानिया १८८, २१८, २१९
युनिवर्सिटी, नागपुर ५९०
योगेन्द्र विद्याभूषण ७७
'रँगीला रसूल' २५९, २६९
रत्नाकर जी ३७५
रमन, सी० वी० ५५५
रशीद ३४२
रशीदा (रशीद जहाँ) ५८२
रसूल, एजाज १५५
राजगुरु ४४२
राजगोपालाचारी, चक्रवर्ती ५९०
राजबहादुर, मुशी ३६६
'राजर डी कावर्ली' ३७७
राधाकृष्ण, बाबू ४१-४२
राधाकृष्णन ४६३
रानाडे ४८, ८९
रामकिशोर, चौधरी ६१५
रामकृष्ण, स्वामी ९४
रामजी ४६
'रामायण' ४६४, ५०७
राय, अमृत (बन्नू — प्रेमचद के छोटे लडके) १६७, १६८, २४९, ३४१, ४७२, ४९२, ५३९, ५४०
राय, ताराचद, ३९२-९४
राय, प्रफुल्लचद्र ६०८
राय, महताब (प्रेमचद के भाई) ७५, १३६, १४९-५१ २२०, २२६-२३१, २४७, २७३, २८९-९७
राय, लाला लाजपत ८४, ८५, २१७, ३८२-८३
राय, श्रीपत (धुन्नू — प्रेमचद के बडे लडके) १४६, १६३, २२५-२८, २४९, ३४०-४१, ३८८, ४७२, ५३९-४०, ५६३, ५९६, ६०२, ६०३, ६१२
रायपुरी, अख्तर हुसेन ६०१
रावत पाठशाला १४७
राशिद-उल-खैरी ५७९
राष्ट्रभाषा ५२३, ५४८-५१, ५७५, ५८०, ५८८-५९४
राष्ट्र सघ ४८५-८६
राष्ट्रीय आन्दोलन और उसकी पृष्ठ-भूमि ७६-८८
'रिज़रेक्शन' ३६०-६५
रुसवा, मिर्जा १८३
'रूसी स्केचबुक' ६०८
'रूशियार चिठि' ६०८
रैंण्ड और एयर्स्ट हत्याकाण्ड ८३
रोमें रोलाँ ३४६, ४६३, ४८५, ५२९, ६०८
रौलट ऐक्ट १८६, १९२, ३४२
लाल, अजायब ६, ८, २२, २३, ३१, ३३, ३४
लालकिशन ५४
लाल, गुलहजारी २२८
लाल, दशरथ २८७, ४०९-११, ४९३
लाहौर षड्यत्र केस ४१९
लिकन, अब्राहम १६४
लिटन, लॉर्ड ८३

लीग अगेस्ट इम्पीरियलिज्म ४८५
'लीडर' ११७, २१८, २२१, ३९२
लीडर प्रेस ५१०-११
लुई कूने २२४
'लेखक' ५१४, ५६५
लेखक सघ ५१३-१४
लेडबीटर ३५३
लेनिन ५७८
'ले मिज़राब्ल' १८१
'वकील' ११७
वकील, नानूभाई ५११
वर्जिल ४००
वजीर हुसन, लेडी ४३६
'वतन' ११७
'वर्तमान' २५९
'वन्देमातरम्' ८७
वर्मा, ब्रजमोहन ४६१
वर्मा, भगवती चरण ४६१
वर्मा, महादेवी ५२२, ५७६
वर्मा, वृन्दावनलाल ४६१
वर्मा, सत्यजीवन ४६१, ५१३, ५७७
वर्मा, सीताराम २३६
वाचस्पति, इद्र ५१२
वाजपेयी, नद दुलारे ४६३-६४, ४६६, ५०२, ६०९, ६११-१३
'वॉर जर्नल' १८६, १८७
'विक्रमोर्वशी' १४२
विजय बहादुर २७, ३८, १३०
'विदुर नीति' ९८, ९९
विवेकानद ७८, ८७
'विवेकानद' ४६३
विश्व शाति सम्मेलन, पेरिस ६०८
'विशाल भारत' ३९३, ३९५
विद्यार्थी, गणेश शकर २५३, ४४४, ४९४
विद्यालकार, जयचद्र ५९१
ह्विटले कमीशन ४१५
वेब, बियेट्रिस ६०८
'वैनिटी फेयर' ३२१, ३६०-६४, ३६६
व्यास, नरोत्तम ३३२
व्यास, विनोद शकर ४२२, ५३७
'व्हाट इज आर्ट' ४६३
शर्मा, पद्म सिंह १८२, ३७५, ४५७, ५२६
शरत् ४२७
शरर, मौलाना ९६
शॉ, बर्नर्ड ४६१
शातिनिकेतन ३४३-४४, ५७१-७२
शाकिर, प्यारेलाल ६५, १००, १४२
शास्त्री, गया प्रसाद ३७८
शास्त्री, चतुर सेन ४९४-९५
शास्त्री, जयराम ४२
शास्त्री, प्रो० सी० आर० नरसिंह ५५४
शास्त्री, प० शालिग्राम ३७५-७९
शिबली नोमानी १४५
शिलीमुख ३६६
शिवाजी ८२
शुक्ल, मातादीन ३७५
शुक्ल, प० रामचद्र ४६१
शुद्धि आन्दोलन ३४२
शुभलक्ष्मी ५११
शेक्सपियर १६५, ४००
शोलापुर ४३४
श्रद्धानद, स्वामी १९३, २०४, ३४२-४३
श्रीप्रकाश ५१२
श्रीवास्तव, जी० पी० ४६१
श्रोत्रिय, शकर लाल ७०

सक्सेना, बाबू राम ५७७
सक्सेना, मोहन लाल ४३७
सक्सेना, हरप्रसाद ४६६
सत्यमूर्ति ५५५
सत्यपाल, डाक्टर २०४
'सत्यार्थ प्रकाश' ४१२
सब्बरवाल, केशोराम ३६२-६५, ४२०-२१
'समालोचक' ३६०, ३६३, ३६५
सम्पूर्णानन्द २७१, ५१०-११, ५४२
सरशार, रतन नाथ ६६-६८, १८३, ३३२, ३३४-३५, ३८०
'सरस्वती' १४१, २१७, ३६०, ३६२, ३७८, ४६५, ४६८, ५६७-६८
सरस्वती प्रेस २८२-८३, २८८, ४८०, ५४२-४५, ६११
सरूर, दुर्गा सहाय ६५, ३८८, ४८२
सर्व धर्म सम्मेलन, अमरीका ७८
सहगल, रामरख ३६८
सहाय, गनपत १६६, ३५३
सहाय, शिवपूजन ३६४, ५०२, ५५७
सहाय, डाक्टर हरगोविंद ६०२
साइमन कमीशन ३८२-८४, ३८६, ४१५, ४१६
'साकी' ५६५
साण्डर्स-वध ४१६
सादी ४४६
साम्यवाद २७६, ३२१, ३२८
सिख आन्दोलन ३२५
सिनहा, सच्चिदानद ५७३
सिराजुद्दौला १५६
सिंह, राजेश्वर प्रसाद ३५०, ३६२, ४३७, ४६०
सिंह, वीरेश्वर ४६२, ६१०
सिंह, श्रीनाथ ४६५-६६, ४६८, ५६७-६८
सीतारमैय्या, पट्टाभि ७८
सीताराम, सर ३६०
सुखदेव ४४२
सुग्गी १०-१२
सुदर्शन ४६०
सुन्दरलाल, पडित ४४६, ४६४
'सुधा' ३६६, ३८७
'सुबहे उम्मीद' २२०
सुब्रह्मण्यम, के० ५११
सुभद्रा ४६१
'सुहेल' ५६४
सेण्ट जॉन्स कालेज ५७६
'सेहर हथगामी' इकबाल वर्मा ३६६
'सैरे कोहसार' ३८५
'सोवियत कम्युनिज्म' ६०८
सोशल रिफॉर्म लीग ८६
संस्कृति-रक्षा-सम्मेलन, ब्रसेल्स ६०८
स्टालिन ४८४
'स्टेट्समैन' ११७
'स्टोरी ऑफ मैनकाइण्ड' ४६२
'स्ट्राइफ' ४१६
स्पेंसर २२६
स्मर्ना फण्ड २८२
'स्वदेश' १८२, २०६, २२४, २४३, २४४
स्वदेशी आन्दोलन ६०, ८३
स्वराज्य आन्दोलन १५१-२, २१५-१७, २४०-४१, २८१, ३०६-३०८, ३२०, ३५७, ४३४-३७, ४४२-४३ ५२५
हसस्वरूप, स्वामी ४१२
हक, अब्दुल ५७३, ५७५, ५८३,

५६१-६४
हक, मज़रुल १५८-५६, २३४
हकीम, अब्दुल ३८७, ६०४
हकीम बरहम ५६, ६६-६८
हचिसन ४१६
'हजारदास्ताँ' ३४६
हण्टर, सर विलियम ८२
हण्टर कमेटी १६४
हनीफ खाँ, मुहम्मद १६२, १६८-६६
हफीज जालधरी ५५१
'हमदर्द' ११७, १२१, १४५, ३४६
हरिहर नाथ ३४०
हाफिज ४४६
हार्डिज १५३
हार्डी ३६३, ३६५
हार्डीकर, डाक्टर ३२४
हार्नो, सातो ३६३
हाली १११
हालकेन ३६०, ३६६
हिटलर ४८३-८५
हिन्दी पुस्तक एजेंसी २४४
हिन्दी प्रचार सभा ५४६, ५८१
हिन्दी सभा, दिल्ली ४५०
हिन्दी समाज, शान्तिनिकेतन ३४५, ५७२
हिन्दी साहित्य परिषद् पटना ४५१
हिन्दी साहित्य सम्मेलन ५२०-२१, ५६१, ५८१, ५६०, ६१३
हिन्दुस्तानी एकेडमी ३६७, ४१६, ५७३-७७
हिन्दुस्तानी सभा ५८०, ५६०
हिरण्मय ५५१-५५
'हुमायूँ' ३४६
हुसेन, अशफाक ४३२
हुसेन, एजाज ५७४, ५८३
हुसेन, जाकिर ५८१
हेण्ड्रिक विलेम वान लून ४६२
हेनरी, सर ५०४
हेली, मैल्कम ३६०, ५१६
हैदरी, सर अकबर १८८
होमरूल १५४-५५
ह्यूगो, विक्टर १८१
ह्यूम, ऐलेन ऑक्टेवियन ७६

●